गीता दर्शन, भाग दो

अनुक्रम

अध्याय 4
1. सत्य एक--जानने वाले अनेक..3
2. भागवत चेतना का करुणावश अवतरण..20
3. दिव्य जीवन, समर्पित जीवन...41
4. परमात्मा के स्वर...58
5. जीवन एक लीला..79
6. वर्ण-व्यवस्था का मनोविज्ञान...96
7. कामना-शून्य चेतना...115
8. मैं मिटा, तो ब्रह्म...135
9. यज्ञ का रहस्य...155 10...संन्यास की नई अवधारणा
.... 171
11...स्वाध्याय-यज्ञ की कीमिया
.... 190
12...अंतर्वाणी-विद्या
.... 206
13..मृत्यु का साक्षात
.... 226
14..चरण-स्पर्श और गुरु-सेवा
.... 241
15...मोह का टूटना
.... 256
16...ज्ञान पवित्र करता है
.... 272
17..इंद्रियजय और श्रद्धा
.... 288
18...संशयात्मा विनश्यति
.... 304

अध्याय 5
1. संन्यास की घोषणा...322 19..निष्काम कर्म
.... 340
20..सम्यक दृष्टि
.... 358

1

21..वासना अशुद्धि है
....375
22...मन का ढांचा --जन्मों -जन्मों का
....392
23..अहंकार की छाया है ममत्व
....409
24...माया अर्थात सम्मोहन
....427
25..तीन -सूत्र --आत्म -ज्ञान के लिए
....445
26..अकंप चेतना
....461
27..काम से राम तक
....477
28..काम-क्रोध से मुक्ति
....495

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
पहला प्रवचन

सत्य एक--जानने वाले अनेक

श्रीमद्भगवद्गीता
अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। 1।।
श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे अर्जुन, मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था और सूर्य ने अपने पुत्र मनु के प्रति कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा।

सत्य न तो नया है, न पुराना। जो नया है, वह पुराना हो जाता है। जो पुराना है, वह कभी नया था। जो नए से पुराना होता है, वह जन्म से मृत्यु की ओर जाता है। सत्य का न कोई जन्म है, न कोई मृत्यु है। इसलिए सत्य न नया हो सकता है, न पुराना हो सकता है। सत्य सनातन है।
सनातन का अर्थ, सत्य समय के बाहर है, बियांड टाइम है। वस्तुतः समय के भीतर जो भी है, वह नया भी होगा और पुराना भी होगा। समय के भीतर जो है, वह पैदा भी होगा और मरेगा भी; जवान भी होगा और बूढ़ा भी होगा। कभी स्वस्थ भी होगा और कभी अस्वस्थ भी होगा। समय के भीतर जो है, वह परिवर्तनमय होगा; समय के बाहर जो है, वही अपरिवर्तित हो सकता है।
कृष्ण ने इस सूत्र में बहुत थोड़ी-सी बात में बहुत-सी बात कही है। एक तो उन्होंने यह कहा कि यह जो मैं तुझसे कहता हूं अर्जुन, वही मैंने सूर्य से भी कहा था, समय के प्रारंभ में, आदि में। इसमें दो-तीन बातें समझ लेनी जरूरी हैं।
समय के प्रारंभ का क्या अर्थ हो सकता है? सच तो यह है कि जहां भी प्रारंभ होगा, वहां समय पहले से ही मौजूद हो जाएगा। सब प्रारंभ समय के भीतर होते हैं, समय के बाहर कोई प्रारंभ नहीं हो सकता, क्योंकि सब अंत समय के भीतर होते हैं। कृष्ण जब कहते हैं, समय के प्रारंभ में, तो उसका अर्थ ही यही होता है, समय के बाहर। समय के भीतर अगर कोई प्रारंभ होगा, तो वह शाश्वत सत्य की घोषणा नहीं कर सकता है।
जब समय नहीं था, तब मैंने सूर्य को भी यही कहा है। इस बात को भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है कि सूर्य को भी यही कहा है, इस मेटाफर का, इस प्रतीक का क्या अर्थ हो सकता है?
जो भी अध्यात्म की गहराइयों में उतरे हैं, उन सबका एक सुनिश्चित अनुभव है और वह यह कि अध्यात्म की आखिरी गहराई में प्रकाश ही शेष रह जाता है और सब खो जाता है। जब व्यक्ति अध्यात्म में शून्य होता है, अहंकार विलीन होता है, तो प्रकाश ही रह जाता है, और सब खो जाता है। व्यक्ति जब अध्यात्म की गहराई में उतरता है, तो वह वहीं पहुंच जाता है, जब समय के पहले सब कुछ था। गहरे अनुभव, प्रथम और अंतिम, समान होते हैं।
यही मैंने सूर्य को कहा था, कृष्ण जब यह कहते हैं, तो वे यह कहते हैं, यही मैंने प्रकाश की पहली घटना को कहा था।
इस जगत के प्रारंभ की पहली घटना प्रकाश है और इस जगत के अंत की अंतिम घटना भी प्रकाश है। व्यक्ति के आध्यात्मिक जन्म का भी प्रारंभ प्रकाश है और आध्यात्मिक समारोप भी प्रकाश है।
कुरान कहता है, परमात्मा प्रकाश-स्वरूप है। बाइबिल कहती है, परमात्मा प्रकाश ही है। कृष्ण यहां प्रकाश को सूर्य कहते हैं। सूर्य को कहा था सबसे पहले, क्योंकि सबसे पहले प्रकाश था; और फिर जो भी जन्मा है, वह प्रकाश से ही जन्मा है। फिर प्रकाश के पुत्र को कहा था, फिर उसके पुत्र को कहा था।

इसमें यह भी समझ लेने जैसा है कि कृष्ण कहते हैं, मैंने। निश्चित ही,
यह मैं, वह जो कृष्ण की देह थी अर्जुन के सामने खड़ी, उसके संबंध में नहीं हो सकता। वह देह तो अभी कुछ वर्ष पहले पैदा हुई थी और कुछ वर्ष बाद विदा हो जाएगी। कृष्ण जिस मैं की बात कर रहे हैं, वह कोई और ही मैं होना चाहिए। जीसस ने अपने एक वक्तव्य में कहा है--किसी ने जीसस को पूछा, अब्राहम के संबंध में आपका क्या ख्याल है? अब्राहम एक पुराना पैगंबर हुआ यहूदियों का। पूछा जीसस से किसी ने, अब्राहम के संबंध में आपका क्या ख्याल है? तो जीसस ने कहा, बिफोर अब्राहम वा.ज, आई वा.ज। इसके पहले कि अब्राहम था, मैं था। अब्राहम के पहले भी मैं था।
निश्चित ही, यह मरियम के बेटे जीसस के संबंध में कही गई बात नहीं है। अब्राहम के पहले! अब्राहम को हुए तो हजारों साल हुए!
कृष्ण सूर्य की--जगत की पहली घटना की--फिर मनु की, इक्ष्वाकु की, इनकी बात कर रहे हैं। उन्हें हुए हजारों वर्ष हुए। कृष्ण तो अभी हुए हैं। अभी अर्जुन के सामने खड़े हैं। जिस कृष्ण की यह बात है, वह किसी और कृष्ण की बात है।
एक घड़ी है जीवन की ऐसी, जब व्यक्ति अपने अहंकार को छोड़ देता, तो उसके भीतर से परमात्मा ही बोलना शुरू हो जाता है। जैसे ही मैं की आवाज बंद होती है, वैसे ही परमात्मा की आवाज शुरू हो जाती है। जैसे ही मैं मिटता हूं, वैसे ही परमात्मा ही शेष रह जाता है।
यहां जब कृष्ण कहते हैं, मैंने ही कहा था सूर्य से, तो यहां वे व्यक्ति
की तरह नहीं बोलते, समष्टि की भांति बोलते हैं। और कृष्ण के व्यक्तित्व में इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है कि बहुत क्षणों में वे अर्जुन के मित्र की भांति बोलते हैं, जो कि समय के भीतर घटी हुई एक घटना है। और बहुत क्षणों में वे परमात्मा की तरह बोलते हैं, जो समय के बाहर घटी घटना है। कृष्ण पूरे समय दो तलों पर, दो डायमेंशंस में जी रहे हैं। इसलिए कृष्ण
के बहुत-से वक्तव्य समय के भीतर हैं, और कृष्ण के बहुत-से वक्तव्य समय के बाहर हैं। जो वक्तव्य समय के बाहर हैं, वहां कृष्ण सीधे परमात्मा की तरह बोल रहे हैं। और जो वक्तव्य समय के भीतर हैं, वहां वे अर्जुन के सारथी की तरह बोल रहे हैं। इसलिए जब वे अर्जुन से कहते हैं, हे महाबाहो! तब वे अर्जुन के मित्र की तरह बोल रहे हैं। लेकिन जब वे अर्जुन से कहते हैं, सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज--सब छोड़, तू मेरी शरण में आ--तब वे अर्जुन के सारथी की तरह नहीं बोल रहे हैं।
इसलिए गीता, और गीता ही नहीं, बाइबिल या कुरान या बुद्ध और महावीर के वचन दोहरे तलों पर हैं। और कब बीच में परमात्मा बोलने लगता है, इसे बारीकी से समझ लेना जरूरी है, अन्यथा समझना मुश्किल हो जाता है।
जब कृष्ण कहते हैं, सब छोड़कर मेरी शरण आ जा, तब इस मेरी शरण से कृष्ण का कोई भी संबंध नहीं है। तब इस मेरी शरण से परमात्मा की शरण की ही बात है। इस सूत्र में जहां कृष्ण कह रहे हैं कि यही बात मैंने सूर्य से भी कही थी--मैंने। इस मैं का संबंध जीवन की परम ऊर्जा, परम शक्ति से है। और यही बात! इसे भी समझ लेना जरूरी है।
सत्य अलग-अलग नहीं हो सकता। बोलने वाले बदल जाते हैं, सुनने वाले बदल जाते हैं; बोलने की भाषा बदल जाती है; बोलने के रूप बदल जाते हैं, आकार बदल जाते हैं, सत्य नहीं बदल जाता। अनेक शब्दों में, अनेक बोलने वालों ने, अनेक सुनने वालों से वही कहा है।
उपनिषद जो कहते हैं, बुद्ध उससे भिन्न नहीं कहते; लेकिन बिल्कुल भिन्न कहते मालूम पड़ते हैं। बोलने वाला बदल गया, सुनने वाला बदल गया और युग के साथ भाषा बदल गई।
महावीर जो कहते हैं, वह वही कहते हैं, जो वेदों ने कहा है; पर भाषा बदल गई, बोलने वाला बदल गया, सुनने वाले बदल गए। और कई बार शब्दों और भाषा की बदलाहट इतनी हो जाती है कि दो अलग-अलग युगों में प्रकट सत्य विपरीत और विरोधी भी मालूम पड़ने लगते हैं।
मनुष्य जाति के इतिहास में इससे बड़ी दुर्घटना पैदा हुई है। इस्लाम या ईसाइयत या हिंदू या बौद्ध या जैन, ऐसा मालूम पड़ते हैं कि विरोधी हैं,

राइवल्स हैं, शत्रु हैं। ऐसा प्रतीत होता है, इन सबके सत्य अलग-अलग हैं। इन सबके युग अलग-अलग हैं, इन सबके बोलने वाले अलग-अलग हैं, इन सबके सुनने वाले अलग-अलग हैं, इनकी भाषा अलग-अलग है; लेकिन सत्य जरा भी अलग नहीं है। और धार्मिक व्यक्ति वही है, जो इतने विपरीत शब्दों में कहे गए सत्य की एकता को पहचान पाता है; अन्यथा जो व्यक्ति विरोध देखता है, वह व्यक्ति धार्मिक नहीं है।
तो कृष्ण यहां एक बहुत महत्वपूर्ण बात भी कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि यही सत्य, ठीक यही बात पहले भी कही गई है। यहां एक बात और भी ख्याल में ले लेनी जरूरी है।
कृष्ण ओरिजिनल होने का, मौलिक होने का दावा नहीं कर रहे हैं। वे यह नहीं कह रहे हैं कि यह मैं ही पहली बार कह रहा हूं; यह नहीं कह रहे हैं कि मैंने ही कुछ खोज लिया है। वे यह भी नहीं कह रहे हैं कि अर्जुन, तू सौभाग्यशाली है, क्योंकि सत्य को तू ही पहली बार सुन रहा है। न तो बोलने वाला मौलिक है, न सुनने वाला मौलिक है; न जो बात कही जा रही है, वह मौलिक है। इसका यह मतलब नहीं है कि पुरानी है।
अंग्रेजी में जो शब्द है ओरिजिनल और हिंदी में भी जो शब्द है मौलिक, उसका मतलब भी नया नहीं होता। अगर ठीक से समझें, तो ओरिजिनल का मतलब होता है, मूल-स्रोत से। मौलिक का भी अर्थ होता है, मूल-स्रोत से। मौलिक का अर्थ भी नया नहीं होता। ओरिजिनल का अर्थ भी नया नहीं होता।
अगर इस अर्थों में हम समझें मौलिक को, तो कृष्ण बड़ी मौलिक बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, समय के मूल में यही बात मैंने सूर्य से भी कही थी; वही सूर्य ने अपने पुत्र को कही थी; वही सूर्य के पुत्र ने अपने पुत्र को कही थी। यह बात मौलिक है। मौलिक अर्थात मूल से संबंधित, नई नहीं। ओरिजिनल, कंसर्न्ड विद दि ओरिजिन; वह जो मूल-स्रोत है, जहां से सब पैदा हुआ, वहीं से संबंधित है।
लेकिन आज के युग में मौलिक का कुछ और ही अर्थ हो गया है। मौलिक का अर्थ है, कोई आदमी कोई नई बात कह रहा है। मूल की बात कह रहा है। नए अर्थों में कृष्ण की बात नई नहीं है; मूल के अर्थों में मौलिक है, ओरिजिनल है। वह जो सभी चीजों का मूल है, सभी अस्तित्व का, वहीं से इस बात का भी जन्म हुआ है। मौलिक का जो आग्रह है नए के अर्थों में, अहंकार का आग्रह है, ईगोइस्टिक है। जब भी कोई आदमी कहता है, यह मैं ही कह रहा हूं पहली बार, तो पागलपन की बात कह रहा है।
लेकिन ऐसे पागलपन के पैदा होने का कारण है। इस बार वसंत आएगा, फूल खिलेंगे। उन फूलों को कुछ भी पता नहीं होगा कि वसंत सदा ही आता रहा है। उन फूलों का पुराने फूलों से कोई परिचय भी तो नहीं होगा; उन फूलों को पुराने फूल भी नहीं मिलेंगे। वे फूल अगर खिलकर घोषणा करें कि हम पहली बार ही खिल रहे हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है; स्वाभाविक है। लेकिन सभी स्वाभाविक, सत्य नहीं होता। स्वाभाविक भूलें भी होती हैं। यह स्वाभाविक भूल है, नेचरल इरर है।
जब कोई युवा पहली दफा प्रेम में पड़ता है या कोई युवती पहली बार प्रेम में पड़ती है, तो ऐसा लगता है, शायद ऐसा प्रेम पृथ्वी पर पहली बार ही घटित हो रहा है। प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं से कहते हैं कि चांद-तारों ने ऐसा प्रेम कभी नहीं देखा। और ऐसा नहीं कि वे झूठ कहते हैं। ऐसा भी नहीं कि वे धोखा देते हैं। नेचरल इरर है, बिल्कुल स्वाभाविक भूल करते हैं। उन्हें पता भी तो नहीं कि इसी तरह यही बात अरबों-खरबों बार न मालूम कितने लोगों ने, न मालूम कितने लोगों से कही है।
हर प्रेमी को ऐसा ही लगता है कि उसका प्रेम मौलिक है। और हर प्रेमी को ऐसा लगता है, ऐसी घटना न कभी पहले घटी और न कभी घटेगी। और उसका लगना बिल्कुल आथेंटिक है, प्रामाणिक है। उसे बिल्कुल ही लगता है; उसके लगने में कहीं भी कोई धोखा नहीं है। फिर भी बात गलत है।
सत्य का अनुभव भी जब व्यक्ति को होता है, तो ऐसा ही लगता है कि शायद इस सत्य को और किसी ने कभी नहीं जाना। ऐसा ही लगता है कि जो मुझे प्रतीत हुआ है, वह मुझे ही प्रतीत हुआ है। यह स्वाभाविक भूल है।

कृष्ण इस स्वाभाविक भूल में नहीं हैं।
ध्यान रहे, की गई भूलों के ऊपर उठना बहुत आसान है; हो गई भूलों के ऊपर उठना बहुत कठिन है। जानकर की गई भूल बहुत गहरी नहीं होती। जानने वाले को, करने वाले को पता ही होता है। जो भूलें सहज घटित होती हैं, बहुत गहरी होती हैं।
अगर हम प्लेटो से पूछें, तो वह कहेगा, जो मैं कह रहा हूं, वह मैं ही कह रहा हूं। अगर हम कांट से पूछें, तो कांट कहेगा, जो मैं कह रहा हूं, वह मैं ही कह रहा हूं। अगर हम हीगल से पूछें, तो हीगल भी कहेगा कि जो मैं कह रहा हूं, वह मैं ही कह रहा हूं। अगर हम कृष्णमूर्ति से पूछें, तो वे भी कहेंगे, जो मैं कह रहा हूं, मैं ही कह रहा हूं। यह बड़ी स्वाभाविक भूल है।
कृष्ण कह रहे हैं, यही बात--नई नहीं; पुरानी नहीं-- अनंत-अनंत बार अनंत-अनंत ढंगों से अनंत-अनंत रूपों में कही गई है।
सत्य के संबंध में इतना निराग्रह होना अति कठिन है। इतना गैर-दावेदार होना, यह दावा छोड़ना है।
ध्यान रहे, हम सब को सत्य से कम मतलब होता है, मेरे सत्य से ज्यादा मतलब होता है। पृथ्वी पर चारों ओर चौबीस घंटे इतने विवाद चलते हैं, उन विवादों में सत्य का कोई भी आधार नहीं होता, मेरे सत्य का आधार होता है। अगर मैं आपसे विवाद में पडूं, तो इसलिए विवाद में नहीं पड़ता कि सत्य क्या है, इसलिए विवाद में पड़ता हूं कि मेरा सत्य ही सत्य है और तुम्हारा सत्य सत्य नहीं है।
समस्त विवाद मैं और तू के विवाद हैं, सत्य का कोई विवाद नहीं है। जहां
भी विवाद है, गहरे में मैं और तू आधार में होते हैं। इससे बहुत प्रयोजन नहीं होता है कि सत्य क्या है? इससे ही प्रयोजन होता है कि मेरा जो है, वह सत्य है। असल में सत्य के पीछे हम कोई भी खड़े नहीं होना चाहते, क्योंकि सत्य के पीछे जो खड़ा होगा, वह मिट जाएगा। हम सब सत्य को अपने पीछे खड़ा करना चाहते हैं।
लेकिन ध्यान रहे, सत्य जब हमारे पीछे खड़ा होता है, तो झूठ हो जाता है। हमारे पीछे सत्य खड़ा ही नहीं हो सकता, सिर्फ झूठ ही खड़ा हो सकता है। सत्य के तो सदा ही हमें ही पीछे खड़ा होना पड़ता है। सत्य हमारी छाया नहीं बन सकता, हमको ही सत्य की छाया बनना पड़ता है। लेकिन जब विवाद होते हैं, तो ध्यान से सुनेंगे तो पता चलेगा, जोर इस बात पर है कि जो मैं कहता हूं, वह सत्य है। जोर इस बात पर नहीं है कि सत्य जो है, वही मैं कहता हूं।
कृष्ण का जोर देखने लायक है। वे कहते हैं, जो सत्य है, वही मैं तुझसे
कह रहा हूं। मैं जो कहता हूं, वह सत्य है। ऐसा उनका आग्रह नहीं। और इसलिए मुझसे पहले भी कही गई है यही बात।
नए युग में एक फर्क पड़ा है। नया युग बहुत आग्रहपूर्ण है। महावीर नहीं कहेंगे कि मैं जो कह रहा हूं, वह मैं ही कह रहा हूं। वे कहते हैं, मुझसे भी पहले पार्श्वनाथ ने भी यही कहा है। मुझसे पहले ऋषभदेव ने भी यही कहा है। मुझसे पहले नेमीनाथ ने भी यही कहा है। बुद्ध नहीं कहते कि जो मैं कह रहा हूं, वह मैं ही कह रहा हूं। वे कहते हैं, मुझसे भी पहले जो बुद्ध हुए, जिन्होंने भी जाना और देखा है, उन्होंने यही कहा है।
ऐसी भ्रांति हो सकती है कि ये सारे लोग पुरानी लीक को पीट रहे हैं। नहीं, पर वे यह नहीं कह रहे कि सत्य पुराना है। क्योंकि ध्यान रहे, जो चीज भी पुरानी हो सकती है, उसके नए होने का भी दावा किया जा सकता है। नए होने का दावा किया ही उसका जा सकता है, जो पुरानी हो सकती है, जिसकी पासिबिलिटी पुरानी होने की है। ये दावा यह कर रहे हैं कि सत्य पुराना और नया नहीं है; सत्य सत्य है। हम नए और पुराने होते हैं, यह दूसरी बात है; लेकिन सत्य में इससे कोई भी अंतर नहीं पड़ता है।
यह सूर्य निकला, यह प्रकाश है। हम नए हैं। हम नहीं थे, तब भी सूर्य था;
हम नहीं होंगे, तब भी सूर्य होगा। यह सूर्य नया और पुराना नहीं है। हम नए और पुराने हो जाते हैं। हम आते हैं और चले जाते हैं।
लेकिन हमारी दृष्टि सदा ही यही होती है कि हम नहीं जाते और सब चीजें
नई और पुरानी होती रहती हैं। हम कहते हैं, रोज समय बीत रहा है। सचाई उलटी

है, समय नहीं बीतता, सिर्फ हम बीतते हैं। हम आते हैं, जाते हैं; होते हैं, नहीं हो जाते हैं। समय अपनी जगह है। समय नहीं बीतता। लेकिन लगता है हमें कि समय बीत रहा है। इसलिए हमने घड़ियां बनाई हैं, जो बताती हैं कि समय बीत रहा है। सौभाग्य होगा वह दिन, जिस दिन हम घड़ियां बना लेंगे, जो हमारी कलाइयों में बंधी हुई बताएंगी कि हम बीत रहे हैं।
वस्तुतः हम बीतते हैं, समय नहीं बीतता है। समय अपनी जगह है। हम नहीं
थे तब भी था, हम नहीं होंगे तब भी होगा। हम समय को न चुका पाएंगे, समय हमें चुका देगा, समय हमें रिता देगा। समय अपनी जगह है, हम आते और जाते हैं। समय खड़ा है; हम दौड़ते हैं। दौड़-दौड़कर थकते हैं, गिरते हैं, समाप्त हो जाते हैं; सत्य वहीं है।
जिस दिन, कृष्ण कहते हैं, मैंने सूर्य को कहा था; सत्य जहां था, वहीं है। जिस दिन सूर्य ने अपने बेटे मनु को कहा; सत्य जहां था, वहीं है। जिस दिन मनु ने अपने बेटे इक्ष्वाकु को कहा; सत्य जहां था, वहीं है। और कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, तब भी सत्य वहीं है। और अगर मैं आपसे कहूं, तो भी सत्य वहीं है। कल हम भी न होंगे, फिर कोई कहेगा, और सत्य वहीं होगा। हम आएंगे और जाएंगे, बदलेंगे, समाप्त होंगे, नए होंगे, विदा होंगे--सत्य, सत्य अपनी जगह है। इस सूत्र में इन सब बातों पर ध्यान दे सकेंगे, तो आगे की बात समझनी आसान है।
कोई सवाल हो, तो पूछ लें!

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।। 2।।
इस प्रकार परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना।
परंतु हे अर्जुन, वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी-लोक में लुप्तप्राय हो गया है।

परंपरा से ऋषियों ने इसे जाना, लेकिन फिर वह लुप्तप्राय हो गया--ये दो बातें। पहली बात तो आपसे यह कह दूं कि परंपरा का अर्थ ट्रेडीशन नहीं है। साधारणतः हम परंपरा का अर्थ ट्रेडीशन करते हैं। ट्रेडीशन का अर्थ होता है, रीति। ट्रेडीशन का अर्थ होता है, रूढ़ि। ट्रेडीशन का अर्थ होता है, प्रचलित। परंपरा का अर्थ और है। परंपरा शब्द के लिए सच में अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।
गंगा निकलती है गंगोत्री से; फिर बहती है; फिर गिरती है सागर में। जब गंगा सागर में गिरती है, और गंगोत्री से निकलती है, तो बीच में लंबा फासला तय होता है। इस गंगा को हम क्या कहें? यह गंगा वही है, जो गंगोत्री से निकली? ठीक वही तो नहीं है; क्योंकि बीच में और न मालूम कितनी नदियां, और न मालूम कितने झरने उसमें आकर मिल गए। लेकिन फिर भी बिल्कुल दूसरी नहीं हो गई है; है तो वही, जो गंगोत्री से निकली।
तो ठीक परंपरा का अर्थ होता है कि यह गंगा, परंपरा से गंगा है। परंपरा
का अर्थ है कि गंगोत्री से निकली, वही है; लेकिन बीच में समय की धारा में बहुत कुछ आया और मिला।
ऐसा समझें कि सांझ आपने एक दीया जलाया। सुबह आप कहते हैं, अब दीए को बुझा दो; उस दीए को बुझा दो, जिसे सांझ जलाया था। लेकिन जिसे सांझ जलाया था, वह दीए की ज्योति अब कहां है? वह तो प्रतिपल बुझती गई और धुआं होती गई और नई ज्योति आती गई। जिस ज्योति को आपने जलाया था सांझ, वह ज्योति तो हर पल बुझती गई और धुआं होती गई, और नई ज्योति उसकी जगह रिप्लेस होती गई। वह ज्योति तो छलांग लगाकर शून्य में खोती गई, और नई ज्योति का आविर्भाव होता गया। जिस ज्योति को सुबह आप बुझाते हैं, यह वही ज्योति है, जिसको सांझ आपने जलाया था?
यह वही ज्योति तो नहीं है। वह तो कई बार बुझ गई। लेकिन फिर भी यह दूसरी ज्योति भी नहीं है, जिसको आपने नहीं जलाया था। परंपरा से यह वही ज्योति है। यह उसी ज्योति का सिलसिला है; यह उसी ज्योति की परंपरा है; यह उसी ज्योति की संतति है।

आप आज हैं; कल आप नहीं थे, लेकिन आपके पिता थे। परसों आपके पिता भी नहीं थे, उनके पिता थे। कल आप भी नहीं होंगे, आपका बेटा होगा। परसों बेटा भी नहीं होगा, उसका बेटा होगा। ठीक से समझें, तो जैसे ज्योति जली और बुझी, ठीक ऐसे ही व्यक्ति जलते और बुझते हैं, लेकिन फिर भी एक परंपरा है।
मां और बाप अपने बेटे को ज्योति दे जाते हैं। ज्योति जलती है, फिर नई संतति। अगर हम ठीक से देखें, तो आप हो नहीं सकते थे, अगर हजारों-लाखों वर्ष पहले एक व्यक्ति भी आपकी परंपरा में न हुआ होता। अगर लाखों वर्ष पहले एक व्यक्ति जो आपकी पिता की पीढ़ियों में रहा हो, न होता, तो आप कभी न हो सकते थे। वह गंगोत्री अगर वहां न होती, तो आज आप न होते। आप उसी धारा के सिलसिले हैं, शरीर की दृष्टि से आप उसी के सिलसिले हैं।
और आत्मा की दृष्टि से भी आप सिलसिला हैं, एक परंपरा हैं। यह आत्मा कल
भी थी, परसों भी थी--किसी और देह में, किसी और देह में। अरबों-खरबों वर्षों में इस आत्मा की भी एक परंपरा है; शरीर की भी एक परंपरा है। परंपरा का अर्थ है, संतति प्रवाह, कंटिन्युटी।
वैज्ञानिक एक शब्द का प्रयोग करते हैं, कंटीनम। अगर ठीक करीब लाना चाहें, तो परंपरा का अर्थ होगा, कंटीनम--संतति प्रवाह, सिलसिला।
कृष्ण कह रहे हैं, परंपरा से इसी सत्य को ऋषियों ने एक-दूसरे से कहा। इसमें दूसरी बात भी ध्यान रखें। जोर कहने पर है; जोर सुनने पर नहीं है। इसमें कृष्ण कह रहे हैं, परंपरा से ऋषियों ने कहा। कृष्ण यह भी नहीं कह रहे कि परंपरा से ऋषियों ने सुना। जब भी कहा गया होगा, तो सुना तो गया ही होगा, लेकिन जोर कहने पर है। कहने वाले का अनिवार्य रूप से ऋषि होना जरूरी है; सुनने वाले का ऋषि होना जरूरी नहीं है। जिसने सुना, उसने समझा हो, जरूरी नहीं है। लेकिन जिसने कहा, उसने न समझा हो, तो कहना व्यर्थ है, कहा नहीं जा सकता।
यह भी ध्यान देने योग्य है कि कृष्ण कहते हैं कि ऋषियों ने परंपरा से
इस सत्य को कहा, परंपरा से पाया नहीं। किसी ने उनसे कहा हो और उनको मिल गया हो, ऐसा नहीं। जाना होगा। जानना और बात है, सुन लेना और बात है।
इसलिए हम पुराने शास्त्रों को कहते हैं, श्रुति, सुने गए। या कहते हैं, स्मृति, मेमोराइज्ड, स्मरण किए गए। ध्यान रहे, शास्त्र जानने वालों ने नहीं लिखे, सुनने वालों ने लिखे हैं।
इस पृथ्वी का कोई भी महत्वपूर्ण शास्त्र लिखा नहीं गया है। सुना गया
है और लिखा गया है। गीता भी सुनी गई और लिखी गई। जिसने लिखी, जरूरी नहीं कि वह जानता हो। बाइबिल लिखी गई, कुरान लिखा गया, वेद लिखे गए, महावीर-बुद्ध के वचन लिखे गए। महावीर और बुद्ध ने लिखे नहीं हैं, कहे। जिन्होंने लिखे, उनके लिए वह ज्ञान नहीं था, श्रुति थी। उसे उन्होंने सुना था, उसे उन्होंने स्मरण किया था, उसे उन्होंने लिखा था; संजोया, सम्हाला। कहना चाहिए, शास्त्र एक अर्थ में डेड प्रोडक्ट है। कहना चाहिए, मरे हुए का संग्रह है। जिन्होंने कहा, उन्होंने परंपरा से जाना।
परंपरा से जानने के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ, जैसा साधारणतः लिया जाता है, जिससे मैं राजी नहीं हूं। एक अर्थ तो यह लिया जाता है कि हम शास्त्र को पढ़ लें और जान लें, तो जो हमने जाना, वह हमने परंपरा से जाना। नहीं; वह हमने परंपरा से नहीं जाना। वह हमने केवल रूढ़ि से जाना, रीति से जाना, व्यवस्था से जाना। और उस तरह का जानना ज्ञान नहीं बन सकता। सिर्फ इन्फर्मेशन ही होगा; नालेज नहीं बन सकता। उस तरह का जानना मात्र सूचना का संग्रह होगा, ज्ञान नहीं।
शास्त्र पढ़कर कोई सत्य को नहीं जान सकता है। हां, सत्य को जान ले तो शास्त्र में पहचान सकता है, रिकग्नाइज कर सकता है। शास्त्र पढ़कर ही कोई सत्य को जान ले, तो सत्य बड़ी सस्ती बात हो जाएगी। फिर तो शास्त्र की जितनी कीमत है, उतनी ही कीमत सत्य की भी हो जाएगी। शास्त्र पढ़कर सत्य जाना नहीं जा सकता, सिर्फ पहचाना जा सकता है।
लेकिन पहचान तो वही सकता है, जिसने जान लिया हो, अन्यथा पहचानना मुश्किल है। आप मुझे जानते हैं, तो पहचान सकते हैं कि मैं कौन हूं। और आप मुझे नहीं जानते हैं, तो आप पहचान नहीं सकते। इसलिए सत्य शास्त्रों में

सिर्फ रिकग्नाइज होता है, कग्नाइज नहीं होता। जाना नहीं जाता, पुनः जाना जाता है। जानने का मार्ग तो कुछ और है।
इसलिए कृष्ण जिस परंपरा की बात कर रहे हैं, वह परंपरा शास्त्र की परंपरा नहीं है; वह परंपरा जानने वालों की परंपरा है। जैसे परमात्मा ने सूर्य को कहा। लेकिन इसमें स्मरणीय है यह बात कि परमात्मा ने सूर्य को कहा। बीच में किताब नहीं है, बीच में शास्त्र नहीं है। डाइरेक्ट कम्युनिकेशन है। सत्य सदा ही डाइरेक्ट कम्युनिकेशन है। सत्य सदा ही परमात्मा से व्यक्ति में सीधा संवाद है। शास्त्र, शब्द बीच में नहीं है। मोहम्मद पहाड़ पर हैं। बेपढ़े-लिखे, मोहम्मद जैसे बेपढ़े-लिखे लोग बहुत
कम हुए हैं। लेकिन अचानक उदघाटन हुआ; डाइरेक्ट कम्युनिकेशन हुआ। जिसे इस्लाम कहता है, इलहाम। ईसाइयत कहती है, रिवीलेशन। सत्य दिखाई पड़ा। इसलिए हम ऋषियों को द्रष्टा कहते हैं। सत्य देखा गया। पढ़ा नहीं गया, सुना नहीं गया, देखा गया।
पश्चिम में भी ऋषियों को सीअर्स ही कहते हैं। देखा गया; देखने वाले। इसलिए हमने तो पूरे तत्व को दर्शन कहा। दिखाई जो पड़े सत्य, सीधा दिखाई पड़े; सीधा सुनाई पड़े, सीधा परमात्मा से मिले।
लेकिन परमात्मा से मिलने की भी परंपरा है। परमात्मा से आपको ही पहली दफा नहीं मिल रहा है। परमात्मा से अनेकों को और भी पहले मिल चुका है।
मिलने वालों की भी परंपरा है। दो परंपराएं हैं, एक लिखने वालों की परंपरा है--लेखकों की। और एक जानने वालों की परंपरा है--ऋषियों की।
इसलिए कृष्ण कह रहे हैं, परंपरा से ऋषियों ने जाना। यह परंपरा का बोध
कि मुझसे पहले भी सत्य औरों को मिलता रहा है इसी भांति।
आपने आंख खोली और सूरज को जाना। जहां तक आपका संबंध है, आप पहली बार जान रहे हैं। लेकिन आपके पहले इस पृथ्वी पर जब भी आंख खोली गई है, सूरज जाना गया है। सूरज को इस भांति जानने की भी एक परंपरा है। आप पहले आदमी नहीं हैं।
और ध्यान रहे, जिस आदमी को भी भ्रम पैदा हो जाता है कि सत्य को मैं जानने वाला पहला आदमी हूं, उसको दूसरा भ्रम भी पैदा हो जाता है कि मैं अंतिम आदमी भी हूं। भ्रम भी जोड़े से जीते हैं, पेअर्स में जीते हैं। भ्रम भी अकेले नहीं होते। जिस आदमी को भी यह ख्याल पैदा हो जाएगा कि सत्य को जानने वाला मैं पहला आदमी हूं, मुझसे पहले किसी ने भी नहीं जाना, उस आदमी को दूसरा भ्रम भी अनिवार्य पैदा होगा कि मैं आखिरी आदमी हूं। मेरे बाद अब सत्य को कोई नहीं जान सकेगा। क्योंकि जो कारण पहले भ्रम का है, वही कारण दूसरे भ्रम में भी कारण बन जाएगा। पहले भ्रम का कारण अहंकार है। और ध्यान रहे, जिसका अभी अहंकार नहीं मिटा, उसको सत्य से कोई सीधा संबंध नहीं हो सकता। अहंकार बीच में बाधा है।
इसलिए कृष्ण बहुत जोर देकर कहते हैं कि परंपरा से ऋषियों ने जाना। लेकिन ध्यान रखना आप, परंपरा इस तरह की नहीं कि एक ने दूसरे से जान लिया हो। परंपरा इस तरह की कि जब भी एक ने जाना, उसने यह भी जाना कि मैं जानने वाला पहला आदमी नहीं हूं; न ही मैं अंतिम आदमी हूं। अनंत ने पहले भी जाना है, अनंत बाद में भी जानेंगे। मैं जानने वालों की इस अनंतशृंखला में एक छोटी-सी कड़ी, एक छोटी-सी बूंद से ज्यादा नहीं हूं। यह सूरज मेरी बूंद में ही झलका, ऐसा नहीं; यह सूरज सब बूंदों में झलका है और सब बूंदों में झलकता रहेगा। जब कोई बूंद इतनी विनम्र हो जाती है, तो उसके सागर होने में कोई बाधा नहीं रह जाती।
इसलिए परंपरा का ठीक से अर्थ समझ लेना। अन्यथा हम परंपरा का जो अर्थ लेते हैं, वह एकदम गलत, एकदम झूठ और खतरनाक है। परंपरा का ऐसा अर्थ नहीं है कि मैं सत्य आपको दे दूंगा, तो आपको मिल जाएगा। और आप किसी और को दे देंगे, तो उसको मिल जाएगा। परंपरा का इतना ही अर्थ है कि मैं पहला आदमी नहीं, आखिरी नहीं; जानने वालों की अनंतशृंखला में एक छोटी-सी कड़ी हूं। यह सूर्य सदा ही चमकता रहा है; जिन्होंने भी आंख खोली, उन्होंने जाना है। ऐसी विनम्रता का भाव सत्य के जानने वाले की अनिवार्य लक्षणा है।
दूसरी बात कृष्ण कहते हैं, लुप्तप्राय हो गया वह सत्य।

सत्य लुप्तप्राय कैसे हो जाता है? दो बातें इसमें ध्यान देने जैसी हैं। कृष्ण यह नहीं कहते कि लुप्त हो गया, लुप्तप्राय। करीब-करीब लुप्त हो गया। कृष्ण यह नहीं कहते कि लुप्त हो गया। क्योंकि सत्य यदि बिल्कुल लुप्त हो जाए, तो उसका पुनआर्विष्कार असंभव है। उसको खोजने का फिर कोई रास्ता नहीं है।
जैसे एक चिकित्सक किसी आदमी को कहे, मृतप्राय; तो अभी जीवित होने की संभावना है। लेकिन कहे, मर गया, मृत हो गया, तो फिर कोई उपाय नहीं है। मृतप्राय का अर्थ है कि मरने के करीब है; मर ही नहीं गया। लुप्तप्राय का अर्थ है, लुप्त होने के करीब है, लुप्त हो ही नहीं गया।
सत्य सदा ही लुप्तप्राय होता है। क्योंकि एक दफे लुप्त हो जाए, तो फिर मनुष्य की सीमित क्षमता के बाहर है यह बात कि वह सत्य को खोज सके। एक किरण तो बनी ही रहती है सदा। चाहे पूरा सूरज न दिखाई पड़े, लेकिन एक किरण तो सदा ही किसी कोने से हमारे अंधकारपूर्ण मन में कहीं झांकती रहती है। जैसे कि मकान के अंधेरे में द्वार-दरवाजे बंद करके हम बैठे हैं, और खपड़ों के छेद से, कहीं एक छोटी-सी रंध्र से, छोटी-सी किरण भीतर आती हो। इतना सूर्य से हमारा संबंध बना ही रहता है। वही संभावना है कि हम सूर्य को पुनः खोज पाएं, उसी किरण के मार्ग से।
सत्य लुप्तप्राय ही होता है, लुप्त कभी नहीं होता। लुप्तप्राय का अर्थ है कि हर युग में, हर क्षण में, हर व्यक्ति के जीवन में वह किनारा और वह किरण मौजूद रहती है, जहां से सूर्य को खोजा जा सकता है। यही आशा है। अगर इतना भी विलीन हो जाए, तो फिर खोजने का कोई उपाय आदमी के हाथ में नहीं है। दूसरी बात, लुप्तप्राय सत्य क्यों हो जाता है? जैसे कोई नदी रेगिस्तान में खो जाए; लुप्त नहीं हो जाती, लुप्तप्राय हो जाती है। रेत को खोदें, तो नदी के जल को खोजा जा सकता है। ठीक ऐसे ही, जाने गए सत्य की परंपरा, सुने गए सत्य की परंपरा की रेत में खो जाती है। जाने गए सत्य की परंपरा, द्रष्टा के सत्य की परंपरा, शास्त्रों की, शब्दों की परंपरा की रेत में खो जाती है। धीरे-धीरे शास्त्र इकट्ठे होते चले जाते हैं, ढेर लग जाता है। और वह जो किरण थी ज्ञान की, वह दब जाती है। फिर धीरे-धीरे हम शास्त्रों को ही कंठस्थ करते चले जाते हैं। फिर धीरे-धीरे हम सोचने लगते हैं, इन शास्त्रों को कंठस्थ कर लेने से ही सत्य मिल जाएगा। और सत्य की सीधी खोज बंद हो जाती है। फिर हम उधार सत्यों में जीने लगते हैं। फिर राख ही हमारे हाथ में रह जाती है।
लेकिन शास्त्रों के रेगिस्तान में भी सत्य सिर्फ लुप्तप्राय होता है, लुप्त नहीं हो जाता। अगर कोई शास्त्रों के शब्दों को भी खोदकर खोज सके, तो वहां भी सत्य खोजा जा सकता है। लेकिन पहचान बड़ी मुश्किल है। पहचान इसलिए मुश्किल है कि जिस सत्य से हम अपरिचित हैं, उसे हम शास्त्रों के शब्दों के रेगिस्तान में खोज न पाएंगे। संभावना यही है कि सत्य तो न मिलेगा, हम भी भटक जाएंगे। ऐसा ही हुआ है।
हिंदू, हिंदू शास्त्रों में खो जाता है। मुसलमान, मुसलमान के शास्त्रों में खो जाता है। जैन, जैन के शास्त्रों में खो जाता है। और कोई यह नहीं पूछता कि जब महावीर को ज्ञान हुआ, तो उनके पास कितने शास्त्र थे! शास्त्र थे ही नहीं। महावीर के हाथ बिल्कुल खाली थे। कोई नहीं पूछता कि जब मोहम्मद को इलहाम हुआ, तो कौन-सी किताबें उनके पास थीं! किताबें थीं ही नहीं। कोई नहीं पूछता कि जीसस ने जब जाना, तो किस विश्वविद्यालय में शिक्षा लेकर वे जानने गए थे!
जानने की घटना सदा ही निपट मौन और शून्य में घटी है। और हम सब जानने के लिए शब्द के मार्ग से यात्रा करते हैं। बड़ी उलटी यात्रा है। एक ही लाभ हो सकता है, और वह यह कि खोजते-खोजते इतने थक जाएं, इतने ऊब जाएं, कि शास्त्र को बंद कर दें। इतना ही लाभ हो सकता है। शब्द से इतने परेशान हो जाएं कि शब्द से हाथ जोड़ लें। पढ़ते-पढ़ते इतना समझ में आ जाए कि पढ़ने से कुछ न होगा, इतना ही लाभ हो सकता है।
सत्य के लुप्तप्राय होने की प्रक्रिया को थोड़ा समझ लेना जरूरी है। वह उपयोगी है सदा। सत्य के लुप्त होने की एक व्यवस्था है। वह व्यवस्था कैसी

है? वह व्यवस्था ऐसी है कि महावीर ने जाना। स्वभावतः, जिसने जाना, वह उससे कहेगा, जिसने नहीं जाना है। क्योंकि दूसरा अगर जानता ही हो, तो कहना फिजूल है।
इसलिए एक बार ऐसा भी हुआ कि महावीर और बुद्ध एक ही गांव में ठहरे, लेकिन मिले नहीं। एक ही गांव में भी कहना ठीक नहीं, एक ही धर्मशाला के दो हिस्सों में ठहरे; एक कोने पर बुद्ध ठहरे, एक पर महावीर ठहरे, एक ही धर्मशाला में। मिलना नहीं हुआ! लोग सोचते हैं, बड़े अहंकारी रहे होंगे। मिलना तो था!
नहीं; अहंकार का कारण नहीं है। मिलना बिल्कुल बेमानी, मीनिंगलेस था। कोई अर्थ ही न था मिलने का। मिलना ठीक ऐसे ही था, जैसे दो आईनों को कोई एक-दूसरे के सामने रख दे। बिल्कुल बेकार है। आईने के सामने आप खड़े हों, तो सार्थक, कुछ दिखाई पड़ता है। आईने के सामने आईना ही रख दें, तो बिल्कुल बेकार है। आईना आईने को रिफ्लेक्ट करता रहता, कुछ नहीं अर्थ होता। आईने आपस में बातचीत नहीं करते। आईने सिर्फ चेहरों से बातचीत करते हैं।
बुद्ध और महावीर को अगर पास बिठा दें, तो जैसे दो शून्य पास बिठा दिए; उनका कोई अर्थ नहीं होता। शून्य को किसी अंक के पास बिठाएं, तो अर्थ होता है। एक के पीछे शून्य रख दें, तो दस हो जाते हैं। दो के पीछे रख दें, तो बीस हो जाते हैं। और दो शून्यों को आस-पास रख दें, तो कुछ मतलब नहीं होता। दो शून्य भी नहीं होते जुड़कर। शून्य दो नहीं होते; शून्य एक ही रहता है। शून्य का कोई जोड़ नहीं होता। बुद्ध और महावीर नहीं मिले, क्योंकि दो शून्य के जुड़ने का कोई अर्थ नहीं था। बात क्या होती? कहने को क्या था? बोलने को क्या था? बताने को क्या था?
इसलिए सत्य को जब भी कोई जानता है, तो जो नहीं जानते, उनसे बोलता है। बस, उपद्रव शुरू हो जाता है। जो नहीं जानता, वह सुनता है। स्वभावतः, जो कहा जाता है, वह कभी नहीं सुना जाता; कुछ और ही सुना जाता है। हम वही सुन सकते हैं, जो हम जानते हैं। अब यह बड़ी कठिनाई हो गई। यह पैराडाक्स हो गया!
हम वही सुन सकते हैं, जो हम जानते हैं। जो हम नहीं जानते, वह हम सुन नहीं सकते। नहीं; सुन तो लेंगे। कान सुनने का काम पूरा कर देंगे। लेकिन भीतर वह जो मन है, वह समझ नहीं पाएगा। नहीं; समझ भी लेगा, लेकिन कुछ और समझ लेगा, जो कहा नहीं गया है। हम वही समझते हैं, जो हम समझ सकते हैं।
कृष्ण अर्जुन से बोल रहे हैं। स्वभावतः, अर्जुन वही समझेगा, जो अर्जुन समझ सकता है। वह तो अर्जुन कभी नहीं समझ सकता, जो कृष्ण बोल रहे हैं। क्योंकि अगर अर्जुन वह समझ सकता, तो कृष्ण का बोलना फिजूल हो जाता, बेकार हो जाता।
गुरु और शिष्य के बीच फासला न हो, तब बातचीत हो सकती है, लेकिन तब बातचीत बेकार हो जाती है। और गुरु और शिष्य के बीच फासला हो, तब बातचीत हो नहीं सकती, हालांकि तब बातचीत की जरूरत होती है! ऐसी स्वाभाविक कठिनाई है। तो महावीर बोलते हैं उनसे, जो नहीं जानते। बुद्ध बोलते हैं उनसे, जो नहीं जानते। जो नहीं जानते हैं, वे सुनते हैं; सुनकर अर्थ निकालते हैं। अर्थ उनके अपने होते हैं। बुद्ध अगर हजार लोगों में बोलते हैं, तो हजार अर्थ होते हैं। मैं आपसे जो कुछ कहूंगा; इस भूल में मैं नहीं हो सकता कि आप सब उससे एक ही अर्थ निकाल लेंगे। यह असंभव है। जितने यहां मित्र इकट्ठे हैं, उतने ही अर्थ लेकर जाएंगे। उतने अर्थ मेरे बोलने में नहीं हैं, मेरे बोलने में सुनिश्चित एक ही अर्थ है। लेकिन आप अपने अर्थ लेकर जाएंगे। एडमंड बर्क दुनिया का इतिहास लिख रहा था। कोई पंद्रह साल उसने मेहनत
की थी और आधा इतिहास लिख चुका था। पंद्रह साल और, तीस साल; करीब अपनी पूरी जिंदगी की समझदारी का समय वह इतिहास पर लगा रहा था। सुबह से उठता था, तो रात आधी रात तक लिखता ही रहता था। क्योंकि बड़ा था काम और जिंदगी थी छोटी। और भरोसा नहीं था कि किताब पूरी हो सके।
आधी किताब जब पूरी हो गई थी, एक दिन दोपहर को घर के आस-पास जोर से शोरगुल मचा। लेकिन वह तो अपने काम में लगा रहा। शोरगुल बढ़ता चला गया। तब वह उठकर बाहर आया, उसने कहा, बात क्या है! लोग भाग रहे थे। पूछा, बात क्या है? किसी ने कहा, हत्या हो गई। तुम्हारे मकान के पीछे मर्डर हो गया। एक से

पूछा; उसने कुछ कहा कि किस तरह हुआ। दूसरे से पूछा; उसने कुछ कहा। वे सब आंखों देखे हुए, चश्मदीद गवाह थे।
बर्क भागा हुआ अपने मकान के पीछे पहुंचा। वहां लोग मौजूद थे। भीड़ लगी थी। लाश सामने पड़ी थी। हत्यारा पकड़ लिया गया था। लेकिन सबके वर्सन अलग थे। देखने वाला कोई कह रहा था कि जिम्मेवार कौन है। कोई कह रहा था कि जो मारा गया, वह ठीक ही मारा गया। कोई कह रहा था, जिसने मारा, उसने बहुत बुरा किया। कोई कह रहा था, हत्यारा जिम्मेवार नहीं है। कोई कह रहा था कि हत्यारा जिम्मेवार है। बर्क ने सबसे पूछा और लौटकर पंद्रह साल जो किताब में मेहनत लगाई थी, उसमें आग लगा दी। उसने लिखा कि जब मेरे घर के पीछे हत्या हो जाए, और आंखों देखने वाले लोगों की गवाहियां अलग हों, तो पांच हजार साल पहले क्या हुआ था, इसको पांच हजार साल बाद मैं लिखूं, यह व्यर्थ है। इस झंझट में मैं नहीं पडूंगा। बर्क ने अपने पत्र में लिखा है कि इतिहास सरासर झूठ है। सच्चा इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता।
जैसे ही कृष्ण बोलते हैं, सत्य बदलने लगा। जैसे ही पहुंचा दूसरे के पास, रूप बदला, लुप्त होना शुरू हुआ। लेकिन यह तो मैंने बाहर की बात कही। अगर हम थोड़े और भीतर पहुंचें, तो और भी एक कठिनाई है। सत्य बोला गया, तब तो लुप्त होता ही है, सुनने वाले के कारण; लेकिन जब बोला जाता है, तो बोलने की प्रक्रिया के कारण भी लुप्त होता है।
असल में सत्य है विराट, और शब्द है संकीर्ण। शब्द बहुत छोटा है, सत्य बहुत बड़ा है। उस सत्य को जैसे ही शब्द में रखने की कोई चेष्टा करता है, कठिनाई शुरू हो जाती है। इसलिए सभी जानने वाले निरंतर कहने के बाद, यह कहते चले जाते हैं कि जो कहना था, वह कहा नहीं जा सका। जो कहना चाहा था, वह अनकहा छूट गया।
रवींद्रनाथ मर रहे थे। एक मित्र आया और उसने कहा कि धन्यभागी हो तुम! तुमने तो छह हजार गीत लिखे। तुम्हें तो तृप्त हो जाना चाहिए, फुलफिल्ड। इतने गीत किसी एक आदमी ने नहीं गाए।
रवींद्रनाथ ने आंख खोली और कहा कि बंद करो यह बातचीत। मैं तो परमात्मा से और कुछ कह रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं कि जो गीत मैं गाना चाहता था, वह अभी तक गा नहीं पाया। उसी गीत को गाने की कोशिश में छह हजार गीत लिखे जा चुके हैं। लेकिन जो गीत मैं गाना चाहता था वह अब भी अनगाया, अनसंग, अभी भी मेरे भीतर पड़ा है। ये छह हजार असफल चेष्टाएं हैं; छह हजार फेल्योर्स। छह हजार बार कोशिश कर चुका। जो कहना था, वह अभी भी अनकहा है। परमात्मा से प्रार्थना कर रहा हूं कि अभी तो मैं साज ही बिठा पाया था, अभी गाया कहां! और यह तो जाने का वक्त आ गया। यह तो ठोंक-पीटकर अभी साज बिठा पाया था; अभी गाया कहां था! अब कहीं लगता था कि गाने के करीब आ रहा हूं, तो यह जाने का वक्त आ गया!
कबीर से पूछें, नानक से पूछें, मीरा से पूछें, किसी से भी पूछें, वे यही कहेंगे कि जो कहना था, वह हम कह नहीं पाए। वह अनकहा रह गया है। बड़े आश्चर्य की बात है। फिर भी कहा तो है। कबीर ने कहा तो है। मीरा गाई तो। और जो कहना था, वह अनकहा रह गया। बात क्या है?
बात यह है, बात ठीक ऐसी ही है, जैसे कि आप देखें सुबह सूरज को उगते; पक्षियों को गीत गाते; वृक्षों को खिलते, फूलते। फिर घर जाएं, और कोई आपसे पूछे कि थोड़ा वर्णन करें, थोड़ा बताएं, कैसा था सूरज? आप कहें, बहुत कुछ कहें। फिर भी आप पाएंगे कि जो भी आपने कहा, वह धुंधली तस्वीर भी नहीं है, जो आपने देखा था। क्योंकि जो आप कहेंगे, उसमें सूरज की जरा भी गर्मी नहीं होगी। उसमें पक्षियों के गीतों का संगीत नहीं होगा। उसमें हरियाली भी नहीं होगी सुबह की। उसमें सुबह की ठंडी हवाओं की ताजगी भी नहीं होगी। उसमें फूलों के खिलने का आनंदभाव भी नहीं होगा। वह जो सुबह की एक्सटैसी थी, वह जो सुबह की समाधिस्थ अवस्था थी प्रकृति की, वह जो सुबह का ध्यानमग्न रूप था, वह कहीं भी नहीं होगा। और जब आप वर्णन करके चुक चुके होंगे, तो आप कहेंगे कि कहा तो जरूर, लेकिन जो मैंने देखा था, वह इसमें कहीं आया नहीं। फिर वह आदमी सुनकर किसी और को बताएगा। सत्य लुप्त होना शुरू हुआ। कुछ
तो आपने लुप्त किया। क्योंकि कहने में ही, कहने की प्रक्रिया में ही भूल

हुई। फिर वह आदमी सुनेगा; फिर वह कहेगा, और सत्य लुप्त होना शुरू हो जाएगा। नदी चली और रेगिस्तान में खोनी शुरू हुई। यात्रा उठी भी नहीं, पहला कदम उठा भी नहीं, कि भटकाव शुरू हुआ। ऐसा है। और अब तक इसके लिए कोई उपाय खोजा नहीं जा सका। आगे भी खोजा नहीं जा सकता है। सदा ऐसा ही रहेगा।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि सत्य लुप्तप्राय है। लेकिन लुप्तप्राय! मैं सुबह के सूरज का वर्णन करूं; बिल्कुल वर्णन न हो पाए, फिर भी मैं वर्णन सुबह के सूरज का ही कर रहा हूं। आप बिल्कुल न समझ पाएं, फिर भी आप थोड़ा तो समझ ही जाएंगे कि सुबह का वर्णन कर रहा हूं। पक्षियों के गीत मेरे वर्णन में सुनाई नहीं पड़ेंगे; लेकिन फिर भी पक्षियों ने गीत गाए हैं, इतना तो मैं कह ही पाऊंगा। सूरज की गर्मी मेरे शब्दों में न होगी; लेकिन सूरज गर्म था, उत्तप्त था, सुखद था, इतनी खबर तो मैं दे ही पाऊंगा। और आप कितना ही गलत समझें, जब आप किसी को कुछ कहेंगे इस संबंध में फिर, बात और बिगड़ जाएगी, लेकिन फिर भी सुबह के सूरज से ही संबंधित होगी।
कितनी ही भूल-चूक होती चली जाए, रेगिस्तान में नदी कितनी ही खोती चली जाए, उसका खोजना भी मुश्किल हो जाए, लेकिन कहीं रेत को उखाड़ने से उसकी बूंदें पकड़ में आ ही जाएंगी। और अगर किसी ने सुबह का सूरज देखा हो, तो हजारवें आदमी की बात को सुनकर भी वह समझ जाएगा कि मालूम होता है, सुबह के सूरज की बात करते हैं। रिकग्नाइज कर सकेगा।
सत्य इतना तो सदा बच जाता है कि रिकग्नाइज किया जा सकता है। उसकी प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। सत्य सदा ही लुप्तप्राय हो जाता है, लेकिन लुप्तप्राय होकर भी सत्य मौजूद होता है।
दूसरी बात ध्यान रखने जैसी है कि सत्य कितना ही लुप्तप्राय हो जाए, असत्य नहीं हो जाता है। तभी तो लुप्तप्राय है। अगर असत्य हो जाए, तो सत्य मर गया; फिर बचा नहीं, फिर बिल्कुल नहीं बचा।
मेरी तस्वीर उतारी जाए। फिर मेरी तस्वीर की तस्वीर उतारी जाए। फिर उस तस्वीर की तस्वीर उतारी जाए। हर निगेटिव फेंट और फीका होता चला जाएगा। फिर भी तस्वीर मेरी ही रहेगी। और ऐसा भी वक्त आ सकता है हजारवें निगेटिव पर कि बिल्कुल पहचानना मुश्किल हो जाए। मैं भी न पहचान सकूं कि यह मेरा निगेटिव है। लेकिन फिर भी निगेटिव मेरा ही रहेगा; कितना ही फीका, कितना ही दूर, कितनी ही दूर की प्रतिध्वनि, लेकिन मेरी ही रहेगी। हो सकता है, मैं भी न पहचान पाऊं, तो भी, तो भी मेरी ही परंपरा में वह तस्वीर होगी।
सत्य के लुप्तप्राय होने का यही अर्थ है कि कितना ही लुप्त हो जाए, फिर भी असत्य नहीं हो जाता है। सत्य की फीकी प्रतिध्वनि उसमें शेष रहती है। जो जानते हैं, वे उस प्रतिध्वनि को पुनः पहचान सकते हैं। जो जानते हैं, वे उस प्रतिध्वनि की प्रत्यभिज्ञा कर सकते हैं।

प्रश्नः ओशो, दो बातें समझनी हैं। आपने सत्य शब्द का उपयोग किया है;
और प्रथम दो श्लोक में योग शब्द का उपयोग है। कृपया योग शब्द की परिभाषा व अर्थ समझाएं। और दूसरी बात, ऋषि शब्द के साथ राज शब्द भी जुड़ा हुआ है। ऋषि के बदले राजर्षि शब्द का क्या विशेष अर्थ है?

सत्य है अनुभूति; योग है अनुभूति की प्रक्रिया। सत्य है दर्शन; योग है द्वार। सत्य जाना जाता है; जिससे जाना जाता है, वह है योग। योग और सत्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिस मार्ग से यात्रा करनी पड़ती है, वह है योग; और जिस मंजिल पर मार्ग पहुंच जाता है, वह है सत्य। और मंजिल और मार्ग अलग-अलग नहीं हैं। मंजिल मार्ग का ही आखिरी छोर है; मार्ग मंजिल की ही शुरुआत है। पहला कदम भी आखिरी कदम है, क्योंकि पहला कदम आखिरी कदम का प्रारंभ है। और आखिरी कदम भी पहला कदम है, क्योंकि पहले कदम के बिना आखिरी कदम हो नहीं सकता है।
इसलिए मैंने सत्य की बात कही, समझनी ज्यादा आसान होगी। और योग की बात जानकर छोड़ी, क्योंकि आगे योग के संबंध में बहुत बात आएगी और तब योग को विस्तार से समझा जा सकता है।
दूसरी बात पूछी है, राजऋषि कहा है।

साधारणतः जो गलत अर्थ प्रचलित है, वह तो यही है कि अगर कोई राजा ऋषि हो जाए, तो राजऋषि है। गलत है अर्थ; प्रचलित है जरूर। सच तो यह है कि जो भी प्रचलित होता है, उसके सौ में निन्यानबे मौके गलत होने के होते हैं। प्रचलित होने के कारण ही गलत होने के मौके होते हैं। राजऋषि का मेरे लिए तीन दिशाओं से अर्थ है, वह मैं आपको कहूं।
पहला तो यह, जो भी ऋषि होता, वह राजा हो जाता है। राजा ऋषि हो जाता है, ऐसा नहीं। जो भी ऋषि हो जाता है, वह एक तरह की बादशाहत पा लेता है। जो भी ऋषि हो जाता है, वह राजा हो ही जाता है।
सच तो यह है कि बिना ऋषि हुए राजा होने का सिर्फ धोखा होता है, राजा कोई होता नहीं। बिना ऋषि हुए तो भिखारी ही होते हैं, राजा भी। पात्र बड़ा होता है भिक्षा का, इसलिए सबको दिखाई नहीं पड़ता; बहुत बड़ा पात्र होता है, इसलिए दिखाई नहीं पड़ता। या इसलिए भी दिखाई नहीं पड़ता कि बाकी भिखारी जरा छोटे भिखारी होते हैं। भिखारियों में भी हायरेरकी होती है! छोटे भिखारी, बड़े भिखारी, पहुंचे हुए भिखारी! ऐसी उनकी हायरेरकी होती है।
तो राजा जो है, वह भिखारियों के ऊपर सबसे ऊपर है, भिखारियों की धारा में सबसे ऊपर है। पद उसका भिखारियों में परम है। इसलिए भिखारियों की बड़ी दुनिया में राजा भी राजा मालूम पड़ता है; है तो भिखारी ही। जहां तक मांग है, वहां तक भिखारीपन है; जहां तक हम कुछ मांगते हैं और चाहते हैं, वहां तक भिखारी हैं।
स्वामी राम अमेरिका गए, तो वे अपने को बादशाह ही कहते थे। वे जब भी बोलते थे, तो वे राम बादशाह कहते थे--खुद को ही। वे कहते थे कि आज राम बादशाह किसी के घर भोजन करने गए थे। अमेरिका का तत्कालीन राष्ट्रपति राम से मिलने आया था। उसे बड़ा हास्यास्पद लगा यह कि एक फकीर, जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह अपने को बादशाह कहे! तो उसने पूछा कि मुझे थोड़ी हैरानी होती है। और सब तो ठीक है, लेकिन यह बादशाह आप अपने को क्यों कहते हैं?
तो राम ने कहा, इसलिए कि अब ऐसी कोई भी चीज नहीं है, जिसकी मांग मेरे भीतर बची हो। अब मैं भिखमंगा नहीं हूं। अब ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे तुम मुझमें लालच पैदा कर सको, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें मुझे तुम लोभ में फंसा सको। इसलिए अपने को बादशाह कहता हूं। और इसलिए भी अपने को बादशाह कहता हूं कि जिस दिन से अपना ख्याल छोड़ा, उस दिन से सभी अपना हो गया है। जिस दिन से यह ख्याल छूटा कि मेरा है यह, उसी दिन से तेरा का ख्याल भी विदा हो गया। सारी दुनिया अब मेरी है। चांद-तारे मेरे हैं। अब सब मेरा है, क्योंकि अब कुछ भी मेरा नहीं है।
जिस दिन कोई आदमी अपने छोटे-से घर को छोड़ देता है, उस दिन सारी पृथ्वी उसकी अपनी हो जाती है। असल में छोटे-से घर को इतना कसकर पकड़ता है कि पूरी पृथ्वी उसकी अपनी हो कैसे सकती है? हाथ फैले हुए चाहिए पूरी पृथ्वी को पकड़ने के लिए। तब छोटी चीज को कोई पकड़ेगा, तो फिर बड़े के लिए फैलाव नहीं रह जाता।
राम ने कहा, इसलिए भी अपने को बादशाह कहता हूं कि जब भी भीतर देखता हूं, जब भी अपने भीतर झांकता हूं, तभी पाता हूं कि अनंत खजाने, अनंत साम्राज्य, सब मेरा है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो मेरा न हो।
तो राजऋषि का मैं तो अर्थ करता हूं, ऋषि राजा हो जाता है। सभी ऋषि राजऋषि हैं। एक दिशा से ऐसा अर्थ करना चाहूं। दूसरी दिशा से एक और अर्थ करना चाहूं।
योग की दो प्रक्रियाएं प्रचलित रही हैं। या ज्ञान की या जानने की दो निष्ठाएं हैं। एक निष्ठा का नाम सांख्य है, और एक निष्ठा का नाम योग है। कृष्ण ने गीता में बहुत-बहुत बार इन दो निष्ठाओं को स्पर्श किया है। सांख्य-निष्ठा का अर्थ है, करना कुछ भी नहीं है, केवल जानना है। करने योग्य कुछ भी नहीं है; सिर्फ जानने योग्य है। रत्तीभर भी कुछ करने की जरूरत नहीं है; सिर्फ जानने की जरूरत है। जानने से ही सब मिल जाएगा। जानने से ही सब हो जाएगा; करने का कोई भी कारण नहीं है।
सांख्य से जो आदमी ज्ञान को उपलब्ध होता है; उसने हाथ भी नहीं हिलाया है। वह राजा की तरह अपने सिंहासन पर ही बैठा रहा है। उसने कुछ किया ही नहीं

है। सच तो, उसके बिना कुछ किए सब हुआ है, होता रहा है। राजा का अर्थ ही यही है, उसके बिना कुछ किए सब हो जाए। अगर करना पड़े, तो फिर राजा नहीं है। राजा का जो भीतरी मौलिक अर्थ है, वह यही है कि जिसके बिना किए सब होता हो; जिसके भीतर इच्छा भी पैदा न हो पाए कि पूर्ति सामने मौजूद हो जाए। ठीक इन अर्थों में राजा कभी पृथ्वी पर होते नहीं। लेकिन सांख्य ऐसा ही राजयोग है, बिना कुछ किए सब मिल जाता है।
सांख्य का कहना ही यही है कि तुम करते हो, इसीलिए नहीं मिलता है। सांख्य का कहना यही है कि जिसे तुम खोज रहे हो, वह तुम्हारे भीतर मौजूद है। तुम खोज रहे हो, इसलिए भीतर नहीं देख पाते, क्योंकि खोज में बाहर उलझे रहते हो। करो खोज बंद; रुक जाओ; बैठ जाओ। जैसे सिंहासन पर राजा बैठा हो, ऐसे बैठ जाओ। कुछ मत करो। आंख करो बंद; सब छोड़ो; और पा लो उसे, जो भीतर मौजूद है।
वह सदा से मौजूद है, लेकिन तुम इतने दौड़ रहे हो कि तुम्हारी दौड़ की वजह
से तुम वहां न पहुंच पाओगे, जो भीतर है। दौड़ने वाला सदा बाहर जाता है। खोजने वाला बाहर खोजता है। करने वाला बाहर करता है।
ध्यान रहे, सब करना बाह्य है; भीतर कुछ भी नहीं किया जा सकता। भीतर तो वही जाता है, जो नान-डूइंग में, अक्रिया में उतरता है; अकर्म में। जो नहीं करता कुछ, वह भीतर चला जाता है। जो कुछ करता है, वह बाहर भटक जाता है।
तो सांख्य कहता है, भीतर रखी है संपदा। तुम कुछ मत करो, तो पा लो।
लाओत्से ने चीन में कहा है, सीक, एंड यू विल लूज; खोजो, और तुमने खोया। सीक, एंड यू विल नाट फाइंड; खोजो, और तुम कभी न पा सकोगे। डू नाट सीक, एंड फाइंड; मत खोजो, और पा लो।
अब यह सांख्य की निष्ठा है लाओत्से में। खोजो मत, और पा लो। बड़ी उलटी बात है। करीब-करीब ऐसे ही, जैसा मैंने सुना कि एक मछली ने जाकर मछलियों की रानी से पूछा कि सागर के संबंध में बहुत सुनती हूं, कहां है यह सागर? कहां खोजूं कि मिल जाए? कहां जाऊं कि पा लूं? कौन-सा है मार्ग? क्या है विधि? क्या है उपाय? कौन है गुरु, जिससे मैं सीखूं? यह सागर क्या है? यह सागर कहां है? यह सागर कौन है?
वह रानी मछली हंसने लगी। उसने कहा, खोजा, तो भटक जाओगी। गुरु से पूछा,
कि उलझन हुई। विधि खोजी, तो विडंबना है। खोजो मत; पूछो मत। उस मछली ने कहा, लेकिन फिर यह सागर मिलेगा कैसे? तो उस रानी मछली ने कहा, सागर के मिलने की बात ही गलत है, क्योंकि सागर को तूने कभी खोया ही नहीं है। तू सागर ही है। सागर में ही पैदा होती है; सागर में ही बनती है; सागर में ही जीती है; सागर में ही विदा होती है; सागर में ही लीन। जो कुछ है, सागर ही है चारों तरफ। लेकिन उस मछली ने कहा, मुझे तो दिखाई नहीं पड़ता!
मछली को सागर दिखाई नहीं पड़ सकता, क्योंकि हम सिर्फ उसी को देख पाते हैं, जो कभी मौजूद होता है और कभी गैर-मौजूद हो जाता है। हम उसको नहीं देख पाते, जो सदा मौजूद है। सदा मौजूद दिखाई नहीं पड़ता।
जैसे हमें हवा दिखाई नहीं पड़ती, ऐसे ही मछली को सागर दिखाई नहीं पड़ता।
न दिखाई पड़ने का कारण सिर्फ यही है कि सदा मौजूद है। हम जब आंख खोले, तब भी मौजूद था। जब हम आंख बंद करेंगे, तब भी मौजूद होगा। जो सदा मौजूद है, एवरप्रेजेंट है, वह अदृश्य हो जाता है। इसलिए परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता है। जो सदा मौजूद है, वह दिखाई नहीं पड़ सकता। दिखाई वही पड़ सकता है, जो कभी मौजूद है, और कभी गैर-मौजूद हो जाता है।
सांख्य की निष्ठा कहती है, कुछ मत करो। करने के भ्रम में ही मत पड़ो। न ध्यान, न धारणा, न योग--कुछ नहीं। कुछ करो ही मत। लेकिन न करना बहुत बड़ा करना है। बाकी सब करना बहुत छोटे-छोटे करना है। बाकी करना सब कर सकते हैं हम। न करना! प्राण कंप जाते हैं। कैसे न करो?
सबसे कठिन करना, न करना है। इसलिए सांख्य सबसे कठिन योग है। सांख्य के मार्ग से जो जाते हैं, वे राजऋषि हैं। जो उस योग को साध लेते हैं, न करने को, निश्चित ही वे ऋषियों में राजा हैं।
लेकिन जो नहीं साध पाते, उनके लिए फिर योग है--यह करो, यह करो, यह करो। ऐसा नहीं कि उस करने से उनको मिल जाएगा। लेकिन करने से थकेंगे, परेशान होंगे, कर-करके मुश्किल में पड़ेंगे; जन्म-जन्म भटकेंगे। आखिर में करने से

इतने ऊब जाएंगे कि छोड़कर पटक देंगे और बैठ जाएंगे कि अब बहुत कर लिया; अब नहीं करते। और जब नहीं करेंगे, तब पा लेंगे।
लेकिन करने से गुजरना पड़ेगा उन्हें। उनका योग हठयोग है--जिद्द से, कर-करके। मिलता तो तब है, जब न करना ही फलित होता है, चाहे वह न करने से आया हो, और चाहे करने से आया हो। मिलता तो तभी है, जब न करना फलित होता है। पूर्ण अकर्म, तभी। और अकर्म में जो मिलता है, वह राजा जैसा मिलना है।
मजदूर को करना पड़ता है, तब भोजन मिलता है। दुकानदार को कुछ करना पड़ता है, तब भोजन मिलता है। राजा बैठा है अपने सिंहासन पर; कुछ करता नहीं; सब मिलता है। ऐसा कोई राजा होता नहीं। राजा को भी बहुत कुछ करना पड़ता है। लेकिन यह राजा की चरम धारणा है। राजऋषि का यहां जो अर्थ है, वह यही है कि जिसने बिना कुछ किए सब पा लिया, वह ऋषियों में राजा है।
और तीसरी बात, फिर हम सांझ बात करेंगे।
राजऋषि का एक तीसरा अर्थ भी ख्याल में लेना जरूरी है। व्यक्ति में दो तरह के जीवन हो सकते हैंः तनाव से भरा, टेंस लिविंग; और रिलैक्स्ड, विश्रामपूर्ण, सहज। फूल देखें वृक्षों पर खिले, तो राजयोगी हैं। खिलने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता; खिल जाते हैं। आकाश में बादल देखें, तो राजयोगी हैं। कुछ करते नहीं; डोलते रहते हैं। कभी आकाश में देखी हो चील, परों को तिराकर रह जाती है थिर; पर भी नहीं हिलाती! डोलती है हवा पर। उड़ती नहीं, तिरती है। तैरती भी नहीं, तिरती है। बस, पंखों को फैलाकर रह जाती है। हवा जहां ले जाए; डोलती रहती है।
राजयोग उस बात का नाम है, उस प्रक्रिया का, जहां व्यक्ति पूर्ण विश्राम में जीता है; कुछ करता नहीं, तिरता है। श्वास भी नहीं लेता अपनी तरफ से। भविष्य का विचार नहीं करता, क्योंकि भविष्य का जो विचार करेगा, वह तैरना शुरू कर देगा; उसके तनाव शुरू हो जाएंगे। अतीत का विचार नहीं करता, क्योंकि जो अतीत का विचार करेगा, वह टेंस हो जाएगा, वह रिलैक्स नहीं हो सकता, वह विश्राम में नहीं हो सकता। पूर्ण वर्तमान में होता है, अभी और यहीं, हिअर एंड नाउ। जो हो रहा है, उसमें है। और चील की तरह तिरता है।
जीसस एक गांव से गुजरे, और अपने शिष्यों से उन्होंने कहा कि देखो इन लिली के फूलों को। खेत में लिली के फूल खिले हैं। जीसस ने कहा, देखो इन लिली के फूलों को। सम्राट सोलोमन अपने पूर्ण वैभव में भी इतना शानदार न था, जितने ये लिली के गरीब फूल शानदार हैं। इनके शानदार होने का राज क्या है?
शिष्य क्या कहते! उन्हें तो राज का कुछ पता नहीं था। जीसस उन लिली के फूलों को दिखाकर यह कह रहे हैं कि लिली के छोटे-छोटे फूल सम्राट सोलोमन से भी ज्यादा शानदार हैं। क्या बात है? सम्राट सोलोमन भी तनाव में जीएगा, लेकिन लिली के फूलों को कोई तनाव नहीं है। न मौत की चिंता है, जो कल होगी; न जन्म की फिक्र है, जो कल हो चुका। कुछ भी करना नहीं है; हो रहा है सब। परमात्मा के हाथ में समर्पित हैं। जो परमात्मा करा रहा है, वह हो रहा है। राजऋषि का अर्थ है, समर्पित; विश्राम को उपलब्ध व्यक्ति; जो कुछ करता नहीं; जो हो रहा है, उसे होने देता है। स्पांटेनियस, सहज जिसकी जिंदगी है; सहज जिसका जीना है। मौत आ जाए, तो इतनी ही सहजता से मर जाएगा। सम्मान कोई दे, तो इतनी ही सहजता से ले लेगा। और अपमान कोई करे, तो इतनी ही सहजता से पी जाएगा। दुख आए, तो इतनी ही सहजता से स्वीकृत है। और सुख आए, तो इतनी ही सहजता से। कहीं कोई असहजता नहीं है, कोई तनाव नहीं है। जीवन जो भी ले आए, उसके लिए राजी है। यह राजीपन, टोटल एक्सेप्टिबिलिटी, समग्र स्वीकार।
अगर ठीक से समझें, तो आस्तिकता का भी यही अर्थ है, समग्र स्वीकार। ऐसी चित्त दशा राजऋषि की है। इसलिए कृष्ण राजऋषि शब्द का उपयोग कर रहे हैं।
फिर शेष सांझ।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
दूसरा प्रवचन

भागवत चेतना का करुणावश अवतरण

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।। 3।।
वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए वर्णन किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है इसलिए। यह योग बहुत उत्तम और रहस्य अर्थात अति मर्म का विषय है।

जीवन रोज बदल जाता है, ऋतुओं की भांति। जीवन परिवर्तन का एक क्रम है, गाड़ी के चाक की भांति घूमता चला जाता है। लेकिन चाक का घूमना भी एक न घूमने वाली कील पर ठहरा होता है। घूमता है चाक गाड़ी का, लेकिन किसी कील के सहारे, जो सदा खड़ी रहती है। कील भी घूम जाए, तो चाक का घूमना बंद हो जाए। कील नहीं घूमती, इसलिए चाक घूम पाता है।
सारा परिवर्तन किसी अपरिवर्तित के ऊपर निर्भर होता है।
जीवन के परम नियमों में से एक नियम यह है कि दृश्य अदृश्य पर निर्भर होता है, मृत्यु अमृत पर निर्भर होती है; पदार्थ परमात्मा पर निर्भर होता है। घूमने वाला परिवर्तित जगत, संसार, न घूमने वाले अपरिवर्तित सत्य पर निर्भर होता है। विपरीत पर निर्भर होती हैं चीजें।

इसलिए जो दिखाई पड़ता है, उस पर ही जो रुक जाता है, वह रहस्य से वंचित रह जाता है। जो दिखाई पड़ता है, उसके भीतर जो न दिखाई पड़ने वाले को खोज लेता है, वह रहस्य को उपलब्ध हो जाता है।
कृष्ण कहते हैं, वही योग, वही सत्य पुरातन है, सदा से चला आता है जो। या कहें कि सदा से ठहरा हुआ है जो; वही जो पहले भी ऋषियों ने कहा था, वही मैं तुझसे पुनः कहता हूं। लेकिन पुनः कहता हूं वही, जो सदा से है। कुछ नया नहीं है। कुछ अपनी ओर से नहीं है।
सत्य में अपनी ओर से कुछ जोड़ा भी नहीं जा सकता। सत्य को नया करने का भी कोई उपाय नहीं है। सत्य है। सत्य के साथ सिर्फ एक ही काम किया जा सकता है और वह यह कि हम उसकी तरफ मुंह करके खड़े हो सकते हैं, या पीठ करके खड़े हो सकते हैं। और हम सत्य के साथ कुछ भी नहीं कर सकते हैं। एक ही काम कर सकते हैं, या तो हम जानें उसे, या हम न जानने की जिद करें और अज्ञान में खड़े रहें। लेकिन हम न जानें, तो भी सत्य बदलता नहीं हमारे न जानने से। और हम जान लें, तो भी सत्य बदलता नहीं हमारे जानने से।
हां, बदलते हम जरूर हैं। सत्य को न जानें, तो हम एक तरह के होते हैं। सत्य को जान लें, तो हम दूसरे तरह के हो जाते हैं। सत्य वही है--जब हम नहीं जानते हैं, तब भी; और जब हम जानते हैं, तब भी। ऐसा अगर सत्य न हो, तो फिर सत्य और असत्य में कोई अंतर न रहेगा।
यह बहुत मजे की बात है कि असत्य हमारा इनवेंशन है, हमारा आविष्कार है।
सत्य हमारा इनवेंशन नहीं है। सत्य को हम निर्मित नहीं करते, बनाते नहीं। असत्य को हम निर्मित करते हैं और बनाते हैं।
जो मेरे द्वारा बनाया जा सकता है, वह असत्य होगा। और जिसके द्वारा मैं
भी बनाया गया, और जिसमें मैं भी लीन हो जाऊंगा, वह सत्य है। कृष्ण नहीं थे, तब भी जो था; कृष्ण नहीं होंगे, तब भी जो होगा; औरों ने भी जिसे कहा, और भी आगे जिसे कहेंगे--वह सत्य है।
सत्य नित्य है। इस नित्य सत्य को अर्जुन से कृष्ण कहते हैं, मैं पुनः तुझसे कहता हूं। और क्यों कहता हूं, उसका कारण बताते हैं। वह कारण समझ लेने जैसा है। वह कहते हैं, क्योंकि तू मेरा सखा है, मेरा मित्र है, मेरा प्रिय है।
ऊपर से देखने पर यह बात बड़ी अजीब-सी लगेगी कि क्या कृष्ण भी किसी शर्त
के आधार पर सत्य को बताते हैं--मित्र है, सखा है, प्रिय है! मित्र न हो, सखा

न हो, प्रिय न हो, तो कृष्ण फिर सत्य को नहीं बताएंगे? क्या सत्य को बताने की भी कोई शर्त, कोई कंडीशन है? क्या कृष्ण उसको नहीं बताएंगे जो प्रिय नहीं, मित्र नहीं, सखा नहीं? तब तो कृष्ण भी पक्षपात करते हुए मालूम पड़ेंगे। ऊपर से जो देखेगा, ऐसा ही लगेगा। लेकिन और थोड़ा गहरा देखना जरूरी है। और कृष्ण जैसे व्यक्तियों के साथ ऊपर से देखना खतरनाक है।
कृष्ण जब यह कहते हैं कि मैं तुझे सत्य की यह बात बताता हूं, क्योंकि
तू मेरा प्रिय है, क्योंकि तू मेरा सखा है, मेरा मित्र है। इसके पीछे कारण यह नहीं है कि कृष्ण उसे न बताएंगे जो मित्र नहीं, सखा नहीं, प्रिय नहीं। कारण यह है कि जो मित्र नहीं, प्रिय नहीं, सखा नहीं, वह पीठ करके खड़ा हो जाता है सत्य की ओर। प्रिय होने, सखा होने, मित्र होने का कुल प्रयोजन इतना ही है कि अर्जुन मुंह करके खड़ा हो सकता है।
सत्य को जानने की, सत्य को समझने की तैयारी मैत्री में संभव है। शत्रु
के साथ हम पीठ करके खड़े हो जाते हैं; द्वार बंद कर लेते हैं। शत्रु का हम स्वागत नहीं कर पाते। कृष्ण तो बताने को राजी हो जाएंगे शत्रु को भी; लेकिन शत्रु अपने द्वार बंद करके खड़ा हो जाएगा। यह शर्त कृष्ण की तरफ से नहीं है।
सत्य तो सभी को उपलब्ध है। सूर्य निकला है, सभी को उपलब्ध है। लेकिन जिसे नहीं उपलब्ध करना है, वह आंख बंद करके खड़ा हो सकता है। नदी बही जाती है, सभी को उपलब्ध है। लेकिन जिसे नहीं नदी के पानी को देखना है, नहीं पानी को पीना है, वह पीठ करके खड़ा हो सकता है। नदी कुछ भी न कर सकेगी। पीठ करके खड़े होने में आपकी स्वतंत्रता है।
इसलिए सत्य को जब भी किसी के पास समझने कोई गया हो, तो एक मैत्री का संबंध अनिवार्य है। अन्यथा सत्य को पहचाना नहीं जा सकता, समझा नहीं जा सकता, सुना भी नहीं जा सकता।
जिसके प्रति मैत्री का भाव नहीं, उसे हम अपने भीतर प्रवेश नहीं देते हैं। और सत्य बड़ा सूक्ष्म प्रवेश है। उसके लिए एक रिसेप्टिविटी, एक ग्राहकता चाहिए।
जब आप अपरिचित आदमी के पास होते हैं, तो शायद आपने ख्याल किया हो, न किया हो; न किया हो, तो अब करें; जब आप अपरिचित, अजनबी आदमी के पास होते हैं, तो क्लोज्ड हो जाते हैं, बंद हो जाते हैं। आपके सब द्वार-दरवाजे चेतना के बंद हो जाते हैं। आप संभलकर बैठ जाते हैं; किसी हमले का डर है। अनजान आदमी से किसी आक्रमण का भय है। न हो आक्रमण, तो भी अनजान आदमी अनप्रेडिक्टिबल है। पता नहीं क्या करे! इसलिए तैयार होना जरूरी है। इसलिए अजनबी आदमी के साथ बेचैनी अनुभव होती है। मित्र है, प्रिय है, तो आप अनआर्म्ड हो जाते हैं। सब शस्त्र छोड़ देते हैं रक्षा के। फिर भय नहीं करते। फिर सजग नहीं होते। फिर रक्षा को तत्पर नहीं होते। फिर द्वार-दरवाजे खुले छोड़ देते हैं।
मित्र है, तो अतिथि हो सकता है आपके भीतर। मित्र नहीं है, तो अतिथि नहीं हो सकता। सत्य तो बहुत बड़ा अतिथि है। उसके लिए हृदय के सब द्वार खुले होने चाहिए। इसलिए एक इंटिमेट ट्रस्ट, एक मैत्रीपूर्ण श्रद्धा अगर बीच में न हो, एक भरोसा अगर बीच में न हो, तो सत्य की बात कही तो जा सकती है, लेकिन सुनी नहीं जा सकती। और कहने वाला पागल है, अगर उससे कहे, जो सुनने में समर्थ न हो।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि तू मित्र है, प्रिय है, सखा है, इसलिए तुझे मैं यह पुनः उस सत्य की बात कहता हूं, जो सदा है, चिरस्थाई है, सनातन है, नित्य है।
एक और भी बात ध्यान रख लेनी जरूरी है। कृष्ण यह याद क्यों दिलाते हैं अर्जुन को कि तू सखा है, प्रिय है, मित्र है? इस बात को याद दिलाने की जरूरत क्या है? अर्जुन मित्र है, सखा है, याद दिलाने की क्या जरूरत है? यहां भी एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य ख्याल में ले लेना जरूरी है।
हम इतने विस्मरण से भरे हुए लोग हैं कि अगर हमें निरंतर चीजें याद न दिलाई जाएं, तो हमें याद ही नहीं रह जाती। हम प्रतिपल भूल जाते हैं। हमारी स्मृति बड़ी दीन है, और हमारा विवेक अत्यंत रुग्ण है। मित्र को भी हम भूल

जाते हैं कि वह मित्र है; प्रिय को भी हम भूल जाते हैं कि वह प्रिय है; निकट को भी हम भूल जाते हैं कि वह निकट है।
दूसरे को भूल जाना तो बहुत आसान है। हम अपने को ही भूल जाते हैं। हमें अपना ही कोई स्मरण नहीं रह जाता है। हम कौन हैं, यही स्मरण नहीं रह जाता है। हम किस स्थिति में हैं, यह भी स्मरण नहीं रह जाता है। हम करीब-करीब एक बेहोशी में जीते हैं। एक नींद जैसे हमें पकड़े रहती है। क्रोध आ जाता है, तब हमें पता चलता है कि क्रोध आ गया। आ गया, तब भी पता बहुत मुश्किल से चलता है। सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें पता चल जाता है। हो गया, तब पता चलता है। लेकिन तब कुछ किया नहीं जा सकता। पक्षी हाथ के बाहर उड़ गया होता है। लोग क्रोध कर लेते हैं, फिर कहते हैं कि हमें पता नहीं, कैसे हो गया! आपने ही किया, आपको ही पता नहीं? होश में थे, बेहोश थे? नींद में थे? लेकिन हम करीब-करीब नींद में होते हैं।
कृष्ण अर्जुन को गीता में बहुत बार याद दिलाते हैं कि तू मेरा मित्र है। बहुत बार, परोक्ष-अपरोक्ष, सीधे भी, कभी घूम-फिर कर भी वे अर्जुन को याद दिलाए चले जाते हैं कि तू मेरा मित्र है। जब भी कृष्ण को लगता होगा, अर्जुन बंद हो रहा है, खुल नहीं रहा है, तभी वे कहते हैं, तू मेरा मित्र है; स्मरण कर। प्रिय है। और इसलिए ही तो तुझसे मैं सत्य की बात कह रहा हूं। यह सुनकर शायद क्षणभर को अर्जुन की स्मृति लौट आए और वह खुला हो जाए, निकट हो जाए, ओपेन हो जाए, और कृष्ण जिस सत्य के संबंध में उसे जगाना चाहते हैं, उस जगाने की कोई किरण उसके भीतर पहुंच जाए। इसलिए कृष्ण बहुत बार गीता में बार-बार कहते हैं उसे कि तू मेरा मित्र है, तू मेरा प्रिय है, तू मेरा सखा है, इसलिए कहता हूं।
यह, जब भी हम किसी के भी प्रति एक इंटिमेसी, एक आंतरिकता से भरे होते हैं, तो एक क्षण में हमारी चेतना का तल बदल जाता है। हम कुछ और हो जाते हैं। जब हम किसी के प्रति बहुत मैत्री और प्रेम से भरे होते हैं, तो हम बड़ी ऊंचाइयों पर होते हैं। और जब हम किसी के प्रति घृणा और शत्रुता से भरे होते हैं, तो हम बड़ी नीचाइयों में होते हैं। और जब हम किसी के प्रति उपेक्षा से भरे होते हैं, तो हम समतल भूमि पर होते हैं।
सत्य के दर्शन तो वहीं हो सकते हैं, जब हम शिखर पर होते हैं, अपनी चेतना की ऊंचाई पर। कृष्ण जो बात कह रहे हैं, अर्जुन छलांग लगाए, तो ही समझ सकता है। अर्जुन अपनी जगह खड़ा रहे, तो नहीं समझ सकेगा। अर्जुन उछले थोड़ा, छलांग लगाए, तो शायद जो सूर्य उसे दिखाई नहीं पड़ रहा अपनी जगह से, उसकी एक झलक मिल जाए। कोई हर्ज नहीं, झलक के बाद वह अपनी जगह पर वापस लौट आएगा। लेकिन एक झलक भी जीवन को रूपांतरित करने का आधार बन जाती है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, तू मित्र मेरा, प्रिय मेरा, इसलिए तुझसे सत्य की बात कहता हूं। यह मित्रता की स्मृति अर्जुन को एक छलांग लगाने के लिए है, ताकि अर्जुन किसी तरह कृष्ण के पास आ जाए।
ध्यान रहे, दो ही उपाय हैं संवाद के। या तो कृष्ण अर्जुन के पास खड़े हो जाएं उसी चित्त-दशा में, जिसमें अर्जुन है, तो संवाद हो सकता है। लेकिन तब सत्य का संवाद मुश्किल होगा। और या फिर अर्जुन कृष्ण की चित्त-दशा में पहुंच जाए, तो फिर संवाद हो सकता है। तब संवाद सत्य का हो सकता है। दोनों के बीच पहाड़ और खाई का फासला है।
यह चर्चा एक पर्वत के शिखर की और एक गहन खाई से चर्चा है। पीक टाकिंग
टु दि एबिस। एक पर्वत का शिखर गौरीशंकर, पास में पहाड़ों के गड्ढ में अंधेरे में दबी हुई खाई से बात करता है। कठिन है चर्चा। भाषा एक नहीं, निकटता नहीं, बहुत मुश्किल है। लेकिन खाई डर न जाए, अन्यथा और अंधेरे में छिप जाएगी और सिकुड़ जाएगी। तो शिखर पुकारता है कि मित्र हूं तेरा, निकट हूं तेरे। खुल; भय मत कर, सिकुड़ मत, संकोच मत कर। द्वार बंद मत कर। जो कहता हूं, उसे भीतर आ जाने दे।
अर्जुन को सब तरह का भरोसा दिलाने के लिए कृष्ण बहुत-सी बात कहते हैं।
पहली बात तो उन्होंने यह कही कि यह सत्य अति प्राचीन है अर्जुन, अति पुरातन है, सनातन, अनादि, सबसे पहले, समय नहीं हुआ, तब भी यह सत्य था।
क्यों? इसे याद न दिलाते, तो चल सकता था।

लेकिन अर्जुन से अगर कृष्ण कहें कि यह सत्य मैं ही दे रहा हूं, तो शायद अर्जुन ज्यादा खुल न पाए, शायद बंद हो जाए। शायद इतना भरोसा न कर पाए; शायद इतना ट्रस्ट पैदा न हो। तो कृष्ण शुरू करते हैं अनादि से, किस-किस ने किस-किस से कहा। ऐसे वे अर्जुन को राजी करते हैं, खुलने के लिए, ओपनिंग के लिए, द्वार खुला रखने के लिए।
फिर याद दिलाते हैं कि मित्र है, प्रिय है। और जब अर्जुन को वे पाएंगे
कि वह ठीक ट्यूनिंग, ठीक उस क्षण में आ गया है, जहां मिलन हो सकता है, वहीं वे सत्य कहेंगे। इसलिए गीता में कुछ क्षणों में ट्यूनिंग घटित हुई है। किसी जगह अर्जुन बिल्कुल कृष्ण के करीब आ गया, तब कृष्ण एक वचन बोलते हैं, जो बहुमूल्य है, जिसका फिर मूल्य नहीं चुकाया जा सकता।
लेकिन वह उसी समय, जब अर्जुन और कृष्ण की चेतना तादात्म्य को उपलब्ध होती है, तभी। जब बोलने वाला और सुनने वाला एक हो जाते हैं, एक रस हो जाते हैं, तभी--मैं आपको कहूंगा, याद दिलाऊंगा कि किन क्षणों में--तब महावाक्य गीता में उत्पन्न होते हैं; तब जो कृष्ण बोलते हैं, वह महावाक्य है। उसके पहले नहीं बोला जा सकता। प्रतीक्षा करनी पड़ती है।
सत्य को बोलना हो, तो प्रतीक्षा करनी पड़ती है। सत्य को सुनना हो, तो भी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। आज की दुनिया तो बहुत जल्दी में है। इसलिए शायद, शायद इसीलिए सत्य की चर्चा बहुत मुश्किल हो गई है।
मैंने सुना है, एक फकीर के पास एक युवक सत्य की शिक्षा के लिए आया। पर उसने कहा, मुझे जल्दी है, मेरे पिता बूढ़े हो गए हैं। और घर मुझे जल्दी लौट जाना है। यह सत्य मैं कब तक जान लूंगा? उस गुरु ने उसे देखा नीचे से ऊपर तक और कहा, कम से कम तीन वर्ष तो लग ही जाएंगे। उस युवक ने कहा, तीन वर्ष! भरोसा नहीं, मेरे पिता बचें या न बचें। कुछ और जल्दी नहीं हो सकता है? मैं जितना आप कहेंगे, उतना श्रम करूंगा; सुबह से सांझ तक। गुरु ने कहा, तब तो शायद दस वर्ष लग जाएंगे। उस शिष्य ने कहा, आप पागल तो नहीं हो गए? मैं कहता हूं, मैं बहुत श्रम करूंगा। रात सोऊंगा भी नहीं, जब तक आप जगाएंगे जागूंगा। रात-दिन सतत, कभी इनकार न करूंगा। जो भी करने को कहेंगे, करूंगा। लेकिन कुछ जल्दी न हो सकेगा? गुरु ने कहा, बहुत मुश्किल है। तीस वर्ष से कम में होना मुश्किल है।
उस युवक ने कहा, आप क्या कह रहे हैं! मेरे पिता वृद्ध हैं और मैं जल्दी में हूं। इसके पहले कि वे जगत से विदा हों, मुझे घर लौट जाना है। उस गुरु ने कहा, फिर तू लौट ही जा अभी। क्योंकि पिता वृद्ध हैं, उनके लिए तो मैं कुछ नहीं कह सकता। लेकिन तू जब तक वृद्ध न हो जाए, तब तक यह सत्य नहीं मिलेगा। इसमें साठ-सत्तर वर्ष लग जाएंगे। उस युवक ने कहा, पुरानी बात पर वापस लौट आएं। वह तीन वर्ष वाली योजना ठीक है। गुरु ने कहा, अब लौटना बहुत मुश्किल है, क्योंकि जो इतनी जल्दी में है, उसे बहुत देर लग जाएगी।
वह शिष्य पूछने लगा, इतनी देर क्यों लग जाएगी जो जल्दी में है? तो गुरु
ने कहा, जो जल्दी में है, उसके साथ ट्यूनिंग बिठानी बहुत मुश्किल है; उसके साथ तालमेल, उसके साथ एक आंतरिक संबंध बिठाना बहुत मुश्किल है। और संबंध न बैठे, तो मैं कह ही न सकूंगा। क्योंकि जो मुझे कहना है, वह तो एक क्षण में भी हो सकता है। लेकिन वह क्षण कब आएगा, सवाल यह है। वह क्षण--तीन वर्ष भी लग सकते हैं, तीस वर्ष भी लग सकते हैं। और अगर तू विश्राम चित्त से, सहजता से, चुपचाप प्रतीक्षा से मेरे पास है, तो शायद वह क्षण जल्दी आ जाए। और तू जल्दी में है, तो तू इतने तनाव और इतनी बेचैनी में है कि वह क्षण कभी भी न आए। क्योंकि बेचैन चित्त के साथ संबंध जोड़ना बहुत कठिन है।
निश्चित ही, कृष्ण को तो अर्जुन के साथ संबंध जोड़ना जितना कठिन हुआ होगा, इतना कठिन बुद्ध को अपने किसी शिष्य के साथ कभी नहीं हुआ; महावीर को अपने किसी शिष्य के साथ कभी नहीं हुआ; जीसस को, मोहम्मद को, कंफ्यूशियस को, लाओत्से को--किसी को अपने शिष्य के साथ इतना कठिन कभी न हुआ होगा। क्योंकि युद्ध के मैदान पर सत्य को सिखाने का मौका कृष्ण के अलावा और किसी को आया नहीं।
कितनी जल्दी न रही होगी! भेरियां बज गईं युद्ध की, शंख-ध्वनियां हो गई हैं, घोड़े बेताब हैं दौड़ पड़ने को; अस्त्र-शस्त्र सम्हल गए हैं; योद्धा

तैयार हैं जीवनभर की उनकी साधना आज कसौटी पर कसने को; दुश्मन आमने-सामने खड़े हैं। और अर्जुन ने सवाल उठाए। ऐसी क्राइसिस, ऐसे संकट के क्षण में सत्य की शिक्षा बड़ी ही कठिन पड़ी होगी, बड़ी मुश्किल गई होगी।
इसलिए कृष्ण बहुत बार जो बातें कह रहे हैं अर्जुन से, वह सिर्फ निकट लाने के लिए है, उसे आश्वस्त करने के लिए है। वह भूल जाए, युद्ध है चारों तरफ; वह भूल जाए, जल्दी है; वह भूल जाए, संकट है; और वह सत्य के इस संवाद को सुनने को अंतस से तैयार हो जाए। इस आंतरिक तैयारी के लिए वे बहुत-सी बातें कहेंगे। और जब अर्जुन तैयार होता है, तब वे एक महावाक्य कहते हैं। थोड़े-से महावाक्य गीता में हैं, जिनका सारा फैलाव है।

अर्जुन उवाच
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।। 4।।
अर्जुन ने पूछा, हे भगवान! आपका जन्म तो आधुनिक अर्थात अब हुआ है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है। इसलिए इस योग को कल्प के आदि में आपने कहा था, यह मैं कैसे जानूं?

कृष्ण ने कहा है कि मैंने ही समय के पहले, सृष्टि के पूर्व में, आदि में सूर्य को कही थी यही बात। फिर सूर्य ने मनु को कही, मनु ने इक्ष्वाकु को कही और ऐसे अनंत-अनंत लोगों ने अनंत-अनंत लोगों से कही। स्वभावतः, अर्जुन के मन में सवाल उठे, आश्चर्य नहीं है। वह पूछता है, आपका जन्म तो अभी हुआ; सूर्य का जन्म तो बहुत पहले हुआ। आपने कैसे कही होगी सूर्य से यह बात?
कृष्ण खींचने की कोशिश करते हैं अर्जुन को, कि छलांग ले। अर्जुन सिकुड़कर अपनी खाई में समा जाता है। वह जो सवाल उठाता है, वे सब सिकुड़ने वाले हैं। वह कहता है, मैं कैसे भरोसा करूं?
अब यह बड़े मजे की बात है। यह ध्यान रहे कि जो आदमी पूछता है, मैं कैसे भरोसा करूं, उसे भरोसा करना बहुत मुश्किल है। या तो भरोसा होता है या नहीं होता है। कैसे भरोसा बहुत मुश्किल है।
जो आदमी कहता है, कैसे भरोसा करूं? दूसरी बात के उत्तर में भी वह कहेगा, कैसे भरोसा करूं? यह कैसे भरोसे का सवाल, इनफिनिट रिग्रेस है। इसका कोई अंत नहीं है।
भरोसा किया जा सकता, नहीं किया जा सकता। लेकिन अगर किसी ने पूछा, कैसे भरोसा करूं, हाउ टु बिलीव, कैसे करूं विश्वास? फिर कठिन है। कठिन इसलिए है कि कैसे का सवाल ही अविश्वास में और गैर-भरोसे में ले जाता है।
अर्जुन संदिग्ध हो गया। यह कैसे हो सकता है? एब्सर्ड, बिल्कुल व्यर्थ
की बात है; असंगत। संगति भी नहीं, तर्क भी नहीं। कहते हैं, सूर्य को कही थी मैंने यही बात।
देखें, कैसा मजा है! कृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन को भरोसा आ जाए, इसलिए
वे कहते हैं, सूर्य को भी मैंने कहा था, तुझसे भी वही कहता हूं। कृष्ण चाहते हैं जिससे भरोसा आ जाए; अर्जुन के लिए वही गैर-भरोसे का कारण हो जाता है।
पूछता है, सूर्य से, आपने? आप अभी पैदा हुए, सूर्य कब का पैदा हुआ! जो बात कृष्ण ने कही है, अर्जुन उसके संबंध में सवाल नहीं उठा रहा। वह सत्य क्या है, जो सूर्य से कहा था आपने, वह यह नहीं पूछता। कंटेंट के बाबत उसका सवाल नहीं है। उसका सवाल उस व्यवस्था और कंटेनर के बाबत है, जो कृष्ण ने मौजूद किया। वह कहता है कि कैसे मानूं?
यह ध्यान देने की बात है कि आज तक जगत में सत्य को जानने वाले लोगों ने
न जानने वाले लोगों के मन में भरोसे के लिए जितने उपाय किए हैं, न जानने वाले भी कमजोर नहीं हैं, उन्होंने उन सब उपायों को भरोसा न करने का उपाय बना लिया।
जानने वालों ने जितने भी उपाय किए हैं कि न जानने वालों और उनके बीच में भरोसे का एक सेतु, ए ब्रिज आफ ट्रस्ट पैदा हो जाए कि जिसके आधार पर

सत्य कहा जा सके; लेकिन न जानने वाले भी अपने न जानने की जिद्द में उस सेतु को टिकने ही नहीं देते। उस सेतु से जो आएगा, उसकी तो बात ही नहीं है। पहले तो वे उस सेतु पर ही संदेह खड़ा करते हैं कि यह सेतु हो कैसे सकता है? कृष्ण तो कहते हैं, मैं सखा, मित्र, प्रिय! अर्जुन जो सवाल उठाता है, वह बहुत प्रेमपूर्ण नहीं है। क्योंकि प्रेम भरोसा है। प्रेम भरोसा है, निष्प्रश्न भरोसा। जहां सवाल है भरोसे पर, कि क्यों? वहां प्रेम नहीं है। वहां प्रेम का अभाव है।
कभी आपने ख्याल किया है कि जब भी जीवन में प्रेम की घड़ी होती है, तब आप क्यों, कैसे, क्या--सब भूल जाते हैं। प्रेम एकदम भरोसा ले आता है। और अगर प्रेम भरोसा न ला पाए, तो फिर प्रेम कुछ भी नहीं ला सकता। और अगर प्रेम भरोसा न ला पाए, तो प्रेम है ही नहीं।
अर्जुन पूछता है, मानने योग्य नहीं लगती यह बात! यह भी समझ लेने जैसा जरूरी है कि कृष्ण ने क्या कहा था!
सुबह मैंने आपको कहा था, कृष्ण जब कह रहे हैं कि यही मैंने कहा था, तो
यह तो कृष्ण भी जानते हैं कि यह शरीर तो अभी पैदा हुआ। यह अर्जुन ही पूछे, तब कृष्ण जानेंगे, ऐसा नहीं है। यह कृष्ण भी जानते हैं कि यह शरीर तो अभी पैदा हुआ है। और अगर इतना भी कृष्ण नहीं जानते, तो बाकी और कुछ पूछना उनसे व्यर्थ है।
एक बार ऐसा हुआ। रामकृष्ण का चित्र किसी ने उतारा। फिर फोटोग्राफर चित्र को लेकर आया, तो रामकृष्ण उस चित्र के पैर पड़ने लगे। पास-पड़ोस बैठे शिष्यों ने कहा, क्या करते हैं परमहंस देव? लोग पागल कहेंगे! अपने ही चित्र के, और पैर पड़ते हैं? रामकृष्ण खूब हंसने लगे। उन्होंने कहा, तुम क्या सोचते हो कि मुझे इतना भी पता नहीं कि यह मेरा ही चित्र है? और अगर इतना भी मुझे पता नहीं है, तो लोग पागल कहेंगे, तो ठीक ही कहेंगे। अगर इतना भी मुझे पता नहीं, तो लोग जो कहेंगे, ठीक ही कहेंगे।
बहुत बार जिन्होंने जाना है, उन्होंने न जानने वालों को तो सलाह दी ही है; जो नहीं जानते हैं, वे भी जानने वालों को सलाह देने पहुंच जाते हैं। इस बात को भी भूलकर कि जब जानने वालों को भी आपकी सलाह की जरूरत पड़ती है, तो फिर अब उसकी सलाह की आपको कोई जरूरत नहीं रह गई।
रामकृष्ण ने कहा कि यह तो मुझे भी पता है कि तस्वीर मेरी है। और यह कहकर फिर भी पैर पड़े और खड़े होकर तस्वीर को लेकर नाचने लगे। एक शिष्य ने कहा, आप क्या कर रहे हैं? रामकृष्ण ने कहा, कुछ समझने की कोशिश करो। यह चित्र मेरा ही है, इतना ही नहीं, यह चित्र साथ किसी और चीज का भी है। उन्होंने कहा, वह हमें दिखाई नहीं पड़ती, आपका ही चित्र है। रामकृष्ण ने कहा, यह मेरे शरीर की आकृति है, सो तो ठीक; लेकिन जब यह चित्र लिया गया, तब मैं गहरी समाधि में था। यह समाधि का भी चित्र है, मेरा ही नहीं। मैं तो सिर्फ रूप हूं। और मेरी जगह और भी रूप हो सकता था। लेकिन भीतर जो घटना घट रही थी, उसका भी चित्र है। मैं उसी को नमस्कार कर रहा हूं।
लेकिन वह भीतर की घटना तो हमारी बाहर की आंखों को दिखाई नहीं पड़ती। अर्जुन को भी न दिखाई पड़ी, तो आश्चर्य नहीं है।
अर्जुन ठीक हमारे जैसा सोचने वाला आदमी है, ठीक तर्क से, गणित से, हिसाब से। वह कहता है, आप? स्वभावतः, जो सामने तस्वीर दिखाई पड़ रही है कृष्ण की, वह सोचता है, यही आदमी कहता है? तो इसकी तो जन्म-तारीख पता है।
सूर्य की तो जन्म-तारीख कुछ पता नहीं है। और यह आदमी जिस दिन पैदा हुआ, उस दिन भी सूरज निकला था। उसके पहले भी निकलता रहा है।
उसका सवाल ठीक मालूम पड़ता है। हमें भी ठीक मालूम पड़ेगा। लेकिन वह इस भीतर के आदमी को देखने में असमर्थ है; हम भी असमर्थ हैं।
कृष्ण जिसकी बात कर रहे हैं, वह इस शरीर की बात नहीं है। वह उस आत्मा
की बात है, जो न मालूम कितने शरीर ले चुकी और छोड़ चुकी, वस्त्रों की भांति।
न मालूम कितने शरीर जरा-जीर्ण हुए, पुराने पड़े और छूटे! वह उस आत्मा की बात है, जो मूलतः परमात्मा से एक है। वह सूर्य के पहले भी थी। सूर्य बुझ जाएगा, उसके बाद भी होगी।

जहां तक शरीरों का संबंध है, यह सूर्य हमारे जैसे न मालूम कितने करोड़ों शरीरों को बुझा देगा और नहीं बुझेगा। लेकिन जहां तक भीतर के तत्व का संबंध है, ऐसे सूरज जैसे करोड़ों सूरज बुझ जाएंगे और वह भीतर का तत्व नहीं बुझेगा।
लेकिन उसका अर्जुन को कोई ख्याल नहीं है, इसलिए वह सवाल उठाता है। उसका सवाल, अर्जुन की तरफ से संगत, कृष्ण की तरफ से बिल्कुल असंगत। अर्जुन की तरफ से बिल्कुल तर्कयुक्त, कृष्ण की तरफ से बिल्कुल अंधा। अर्जुन की तरफ से बड़ा सार्थक, कृष्ण की तरफ से अत्यंत मूढ़तापूर्ण। लेकिन अर्जुन क्या कर सकता है! कृष्ण की तरफ से होगा मूढ़तापूर्ण, उसकी तरफ से तो बहुत तर्कपूर्ण है। यद्यपि अंततः सभी तर्क अत्यंत मूर्खतापूर्ण सिद्ध होते हैं, लेकिन जब तक वे ऊंचाइयां नहीं मिलीं, तब तक अर्जुन की भी मजबूरी है। और उसका सवाल उसकी तरफ से बिल्कुल संगत है।

श्री भगवानुवाच
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।। 5।।
भगवान बोलेः हे अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, परंतु
हे परंतप! उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूं।

कृष्ण ने अर्जुन से कहा, मेरे और तेरे, हे परंतप! बहुत-बहुत अनेक जन्म
हो चुके हैं, लेकिन उन्हें तू नहीं जानता और मैं जानता हूं।
इस संबंध में दो-तीन बातें स्मरणीय हैं।
एक तो, जो हम नहीं जानते, वह नहीं है, ऐसा मानने की जल्दी नहीं कर लेनी चाहिए। अर्जुन जो नहीं जानता है, वह नहीं है, ऐसी निष्पत्ति निकाल लेनी बहुत चाइल्डिश, जुवेनाइल है, बचकानी है। बहुत कुछ है जो हम नहीं जानते हैं, फिर भी है। हमारे न जानने से नहीं नहीं हो जाता। लेकिन अर्जुन की जो भूल है, वह नेचरल फैलेसी है, बड़ी प्राकृतिक भूल है। हम भी यही भूल करते हैं। मनुष्य की सहज भूलों में एक भूल है, जो नहीं जानते, हम मानते हैं, वह नहीं है। न मालूम किस भ्रांति के कारण हम ऐसा सोचते हैं कि हमारा जानना ही सब कुछ है।
अगर हमारा जानना ही सब कुछ है--अगर मैं आपसे पूछूं कि उन्नीस सौ इकसठ,
एक जनवरी थी या नहीं? आप कहेंगे, थी; मैं था। लेकिन अगर मैं पूछूं कि एक जनवरी, उन्नीस सौ इकसठ की कोई याददाश्त बताइए, अगर थी! तो क्या किया था सुबह उठकर? दोपहर क्या किया था? सांझ क्या बोले थे? रात नींद आई थी, नहीं आई थी? स्वप्न कौन-सा आया था? आप कहेंगे, कुछ भी याद नहीं है। अगर एक जनवरी, उन्नीस सौ इकसठ की कोई भी याद नहीं है, तो एक जनवरी, उन्नीस सौ इकसठ थी, इसके कहने का हक क्या है? आप कहेंगे, थी तो जरूर, मैं था, लेकिन याद! याद बिल्कुल नहीं है।
याद दिलाई जा सकती है। क्योंकि एक गहरा नियम है मन का कि जो भी जाना जाता है, वह कभी भूलता नहीं। विस्मृति असंभव है। जिस बात को हम कहते हैं विस्मृति हो गई, उसका भी इतना ही मतलब है कि हम उसे पकड़ नहीं पा रहे हैं। हम नहीं पकड़ पा रहे हैं, कहां रख गई वह याद, किस कोने-कातर में मन के समा गई! छोटा मन है, करोड़ों स्मृतियां हैं। मन को छांटना पड़ता है स्मृतियों को। छांट-छांटकर काम की बचा लेता है, बाकी को कचरेघर में डाल देता है। लेकिन कचराघर भी भीतर ही है। जैसे अपने घर में कोई नीचे, तहखाने में चीजों को डालता चला जाता है, जो बेकार हैं। लेकिन बिल्कुल बेकार नहीं है, कभी काम में आ सकती हैं, इसलिए इकट्ठी भी करता चला जाता है।
हम भी अपने मन में सब इकट्ठा करते चले जाते हैं। इसलिए जो आपको एक जनवरी उन्नीस सौ इकसठ याद न आती हो, वह आपको सम्मोहित करके, बेहोश किया जाए, तो याद आ जाती है। आप एक जनवरी उन्नीस सौ इकसठ का ऐसे ही वर्णन कर देंगे, जैसे एक जनवरी उन्नीस सौ इकहत्तर का भी करना मुश्किल पड़ेगा। बिल्कुल कर देंगे। बेहोशी की, सम्मोहन की अवस्था में सब याद आ जाएगा, सब उठ आएगा।

अभी मनोवैज्ञानिक सम्मोहन के द्वारा जन्म के पहले दिन तक की स्मृति
तक ले जाने में समर्थ हो गए हैं। पहले दिन जब आपका जन्म हुआ था, कुछ भी तो याद न होगी उसकी। लोग कहते हैं, इसलिए मान लेते हैं कि हुआ था। अगर कोई दिक्कत आ जाए और सारे प्रमाण पूछे जाएं, तो सिवाय उधार प्रमाणों के कोई प्रमाण न मिलेगा आपके पास। कोई कहता है, इसलिए आप कहते हैं कि मैं पैदा हुआ था। लेकिन आपको कोई याद है? आप विटनेस हैं? उस घटना के गवाह हैं? आप कहेंगे, मैं तो गवाह नहीं हूं। तब बड़ी मुश्किल है। आपके जन्म की गवाही आप न दे सकें, तो दूसरों की गवाही का भरोसा क्या है? जन्म है आपका, गवाही है दूसरे की!
लेकिन पहले दिन जन्म की स्मृति भी भीतर है। और जिन्होंने और गहरे प्रयोग किए हैं, जैसे तिब्बत में लामाओं ने और गहरे प्रयोग किए हैं, तो मां के पेट में भी नौ महीने आप रहे। जन्म का ठीक दिन वह नहीं है, जिसको हम जन्म-दिन कहते हैं। उसके ठीक नौ महीने पहले असली जन्म हो चुका। जिसे हम जन्म-दिन कहते हैं, वह तो मां के शरीर से मुक्त होने का दिन है, जन्म का दिन नहीं। नौ महीने तक सेटेलाइट था आपका शरीर; मां के शरीर के साथ घूमता था, उपग्रह था। अभी इतना समर्थ न था कि स्वयं ग्रह हो सके। इसलिए घूमता था; सेटेलाइट था। अब इस योग्य हो गया कि मां से मुक्त हो जाए, अब अलग जीवन शुरू करे। लेकिन जन्म तो उसी दिन हो गया, जिस दिन गर्भ धारण हुआ है।
तो लामाओं ने इस पर और गहरे प्रयोग किए हैं और नौ महीने की स्मृतियां
भी उठाने में सफल हुए हैं। जब मां क्रोध में होती है, तब भी बच्चे की पेट में स्मृति बनती है। जब मां दुखी होती है, तब भी बच्चे की स्मृति बनती है। जब मां बीमार होती है, तब भी बच्चे की स्मृति बनती है। क्योंकि बच्चे की देह मां की देह के साथ संयुक्त होती है। और मां के मन और देह पर जो भी पड़ता है, वह संस्कारित हो जाता है बच्चे में।
इसलिए अक्सर तो माताएं जब बाद में बच्चों के लिए रोती हैं और पीड़ित और परेशान होती हैं, उनको शायद पता नहीं कि उसमें कोई पचास प्रतिशत हिस्सा तो उन्हीं का है, जो उन्होंने जन्म के पहले ही बच्चे को संस्कारित कर दिया है। अगर बच्चा क्रोध कर रहा है, और गालियां बक रहा है, और दुखी हो रहा है, और दुष्टता बरत रहा है, तो मां सोचती है कि यह कहां से, कैसे ये सब कहां सीख गया! दिखता है, कहीं दुष्ट-संग में पड़ गया है।
दुष्ट-संग में बहुत बाद में पड़ा होगा; दुष्ट-संग में बहुत पहले नौ महीने तक पड़ चुका है। और नौ महीने बहुत संस्कार संस्कारित हो गए हैं। उनकी भी स्मृतियां हैं। लेकिन और भी गहरे लोग गए हैं। पिछले जन्मों की स्मृतियों में भी गए हैं।
कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, जो तुझे पता नहीं है, वह मुझे पता है। वे इतनी सरलता से कहते हैं कि जो तुझे पता नहीं है, वह मुझे पता है। वे इतनी सहजता से कहते हैं कि उनका वचन बड़ा प्रामाणिक और आथेंटिक मालूम पड़ता है। ध्यान रहे, झिझक कृष्ण में जरा भी नहीं है। जरा-सी भी झिझक बताती है कि आदमी को खुद पता नहीं है। किसी और से पता होगा; सेकेंड हैंड पता होगा। कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, जो तुझे पता नहीं है, वह मुझे पता है। हमारे
और भी जन्म हुए हैं। मैं इसी जन्म की बात नहीं कर रहा हूं। लेकिन वे इतनी सरलता से कहते हैं, जरा भी झिझक नहीं।
और एक बात और ध्यान देने योग्य है। दार्शनिकों और ऋषियों के वचनों में एक फर्क दिखाई पड़ेगा। दार्शनिक जब भी बोलेंगे, तो हाइपोथेटिकल बोलेंगे। वे बोलेंगे, इफ, यदि ऐसा हो, तो ऐसा होगा। ऋषि जब बोलेंगे, तो उनका बोलना स्टेटमेंट का होगा, वक्तव्य का होगा। वे कहेंगे, ऐसा है।
इसलिए जब पहली बार उपनिषद का अनुवाद हुआ पश्चिम में, तो पश्चिम के विचारक बहुत मुश्किल में पड़े कि उपनिषद के लोग कैसे हैं! ये सीधा कह देते हैं कि ब्रह्म है। पहले बताना चाहिए, क्यों, क्या कारण है, क्या दलील है, क्या प्रमाण है; फिर निष्कर्ष देना चाहिए कि ब्रह्म है। ये तो सीधा कह देते हैं, कैटेगोरिकल, हाइपोथेटिकल नहीं। सीधा वक्तव्य दे देते हैं कि ब्रह्म है। इसके आगे-पीछे कुछ भी नहीं। ये वक्तव्य ऐसे दे देते हैं, जैसे कोई कहे, सूरज है।

पश्चिम के जिन लोगों को यह चकित होने का कारण बना, उसका आधार है। पश्चिम में ऋषियों की वाणी बहुत कम पैदा हुई। पश्चिम में दार्शनिक बोलते रहे, फिलासफर्स बोलते रहे। वे जो भी कहते हैं, उसको दलील, आर्ग्युमेंट से कहते हैं। लेकिन ध्यान रहे, दलील और तर्क इस बात की खबर देते हैं कि यह एक निष्कर्ष है, अनुभव नहीं। और सत्य एक अनुभव है, निष्कर्ष नहीं। ट्रुथ इ.ज नाट ए कनक्लूजन, बट एन एक्सपीरिएंस। निष्कर्ष नहीं है सत्य। वह दो और दो चार होते हैं, ऐसा जोड़ा गया हिसाब नहीं है, जाना गया अनुभव है।
इसलिए कृष्ण जब कहते हैं कि अर्जुन, तुझे पता नहीं और मुझे पता है। और
जब मैं कहता हूं कि सूर्य को मैंने कहा था, तो मैं किसी और जन्म की बात कर रहा हूं। यह इस जन्म की बात नहीं है।
एक और ध्यान देने की बात है, कि ज्ञान कृष्ण के समय या बुद्ध के समय या महावीर के समय में इतना झिझकता हुआ नहीं था, जितना आज है। बहुत बोल्ड था, बहुत साहसी था। जो कहना है, कहता था। आज ज्ञान बहुत झिझकता हुआ है। जो भी कहना है, वह सीधा कहना मुश्किल है। क्या कारण होगा? कारण एक ही है। आज जिसे हम ज्ञान कहते हैं, सौ में निन्यानबे मौके पर उधार होता है, इसलिए झिझकता है।
एक साध्वी ने योग पर एक किताब लिखी, मुझे भेजी। देखा, किताब मुझे बहुत पसंद पड़ी; बहुत अच्छी लिखी। लेकिन दो-चार जगह मुझे ऐसा लगा कि उस साध्वी को योग का या ध्यान का कोई भी अनुभव नहीं है। क्योंकि जो फिजूल बातें थीं, वह तो उसने बड़े बलपूर्वक कहीं, और जो सार्थक बातें थीं, उनमें बड़ी झिझक थी। फिर दो-चार वर्ष के बाद वह साध्वी मुझे मिली। मैंने कुछ बात न की उस किताब की। थोड़ी देर के बाद उसने कहा, मुझे अकेले में कुछ बात करनी है। मैंने कहा, पूछें। उसने कहा, मुझे ध्यान के संबंध में कुछ बताएं कि कैसे करूं? मैंने कहा, चार वर्ष हुए तुम्हारी किताब देखी थी, तब भी मुझे लगा था कि ध्यान का तुम्हें कुछ पता नहीं होना चाहिए। क्योंकि जो-जो गहरी बात थी, उसमें झिझक थी। और जो-जो बेकार बात थी, बहुत बोल्ड, बहुत साहस से कही गई थी! उसने कहा, मुझे तो कुछ भी पता नहीं। फिर, मैंने कहा, वह किताब क्यों लिखी? उसने कहा, वह तो मैंने दस-पचास किताबें पढ़कर लिखी--लोगों के लाभ के लिए। मैंने कहा, जिस किताब को लिखने से भी तुम्हें लाभ नहीं हुआ, उस किताब को पढ़ने से लोगों को लाभ होगा? तुम लिखने के चार साल बाद भी अभी ध्यान कैसे करें, यह पूछती हो; और तुमने उसमें ध्यान के चार प्रकार होते हैं और क्या- क्या होता है, सब गिनाया हुआ है! उसने कहा, वह सब शास्त्रों में लिखा है। पर ध्यान को शास्त्रों से जो जानेगा, उसने सूरज नहीं देखा, सूरज की तस्वीर देखी। तस्वीर को हाथ में रखा जा सकता है, सूरज को हाथ में नहीं रखा सकता। तस्वीर जला नहीं सकती, सूरज के पास जाना बड़ा कठिन है। जिसने शास्त्र से ध्यान सीखा, उसने कागज की नाव में यात्रा करने का विचार किया है। खतरनाक है वह यात्रा।
उधार है ज्ञान, इसलिए झिझकता हुआ है। ज्ञान ने साहस खो दिया। बल्कि और मजे की बात है, अज्ञान बहुत साहसी है आज। अज्ञान इतना साहसी कभी भी न था। ध्यान रहे, अगर चार्वाक को कहना पड़ता था कि ईश्वर नहीं है, तो हजार दलीलें देनी पड़ती थीं, तब चार्वाक कहता था, ईश्वर नहीं है। ईश्वर नहीं है, एक कनक्लूजन था, एक निष्पत्ति थी। हजार दलील देता था और फिर कहता था, देखो, यह दलील, यह दलील, यह दलील; तब मैं कहता हूं कि ईश्वर नहीं है। हजार दलील देता था, तब कहता था कि देखो, मैं कहता हूं, आत्मा नहीं है। ज्ञान बहुत शक्तिशाली था, वह कहता था, ब्रह्म है--बिना दलील के। और अज्ञान बहुत कमजोर था; वह हजार दलील जुटाता था, तब कहता था कि शक होता है आत्मा पर।
आज हालत बिल्कुल उलटी है। आज जिसको कहना है, आत्मा नहीं है, बिना दलील
के कहता है, आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है; कोई दलील देने की जरूरत नहीं है। और जिसको कहना है, ईश्वर है, वह हजार दलीलें इकट्ठी करता है कि यह कारण, यह कारण, इसलिए। जैसे कि कुम्हार घड़े को बनाता है, ऐसे भगवान जगत को बनाता है।
कुम्हार, भगवान को सिद्ध करने के लिए दलील है। बेचारा कुम्हार, उसका कोई हाथ नहीं! इतनी कमजोर दलीलों पर कहीं ज्ञान खड़ा हुआ है?
ज्ञान अनुभव है।

जब कृष्ण कहते हैं, बिना दलील; कृष्ण आर्ग्युमेंट नहीं दे रहे हैं। कोई आर्ग्युमेंट ही नहीं देते। वे कहते हैं, अर्जुन तुझे पता नहीं और मुझे पता है, इसलिए मैं कहता हूं। वे दलील नहीं जुटाते।
यह वक्तव्य सीधा और साफ है। और सीधा और साफ जब भी वक्तव्य होता है, तो
वह प्राणों के अंतस्तल को छेद पाता है। दलीलें जहां नहीं पहुंचती हैं, वहां सीधे वक्तव्य पहुंच जाते हैं। प्रमाण जहां नहीं पहुंचते, वहां आंखों की गवाही पहुंच जाती है।
अर्जुन दलील मांग रहा है। कृष्ण दलील नहीं दे रहे। अर्जुन दलील ही मांग रहा है, कि कोई सर्टिफिकेट दिखाओ कि तुम थे। तुम सूरज के पहले थे? कहीं किसी कारपोरेशन के दफ्तर में कहीं कोई जन्म-तारीख? कहीं कुछ लिखा- पढ़ी है? नहीं; वे इतना ही कहते हैं कि अर्जुन, तू जानता नहीं और मैं जानता हूं।
इतना साहस था जब सत्य में, तब अगर सत्य परिणाम लाता था, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। और आज अगर अज्ञान साहसी है, तो अज्ञान दुष्परिणाम लाता है, तो भी कुछ आश्चर्य नहीं है।
आज नास्तिक सारे जगत में जिस भाषा में बोलता है, वह उसी ताकत की भाषा है, जिस ताकत में कभी कृष्ण, महावीर और बुद्ध बोले। आज उस ताकत की भाषा में मार्क्स, स्टैलिन और माओत्से तुंग बोलते हैं। उसी ताकत की भाषा में। आज अगर पुरी के शंकराचार्य को बोलना है, तो ताकत नहीं है; तो फिर शास्त्र, वेद, पुराण, उन सबसे इकट्ठा करके बोलना है।
पुरी के शंकराचार्य कहते हैं कि कोई अगर सिद्ध कर दे कि शास्त्रों में लिखा है कि गौवध होता था यज्ञों में, कोई अगर सिद्ध कर दे कि शास्त्रों में लिखा है, तो मैं गौवध का विरोध छोड़ दूंगा। बड़ी कमजोर दुनिया है। कोई अगर सिद्ध कर दे कि शास्त्रों में लिखा है कि गौवध होता था, तो पुरी के शंकराचार्य, गौवध बंद हो, ऐसा आंदोलन छोड़ने को तैयार हैं! दलील और प्रमाण कोई दे दे।
लेकिन इतना साहस नहीं सत्य में कि वह सीधा कहे कि सब शास्त्रों में लिखा हो कि गौवध होता था, तो भी गौवध नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा हमारी आत्मा कहती है कि यह गलत है--ऐसा। ऐसा नहीं कह सकता कोई हिम्मतवर आज, तब फिर अर्थ नहीं है। कोई ऐसा नहीं कह सकता कि तुम नहीं जानते और मैं जानता हूं। लेकिन ऐसा कोई कहना चाहे, तो नहीं कह सकता। कहना चाहे, तो बहुत मुश्किल में पड़ेगा।
ठीक ऐसी मुश्किल में पड़ेगा, मैंने सुना है, एक साधक एक गुरु के पास बहुत दिन तक था। गुरु उससे कहता कि इस तरह ध्यान करो कि तुम बचो ही न, बिल्कुल मर जाओ, तभी परमात्मा मिलेगा। उसने कई तरह की कोशिशें कीं, लेकिन मर कैसे जाए? रोज गुरु के पास आता और गुरु कहता कि तुम अभी भी हो! फिर ध्यान क्या खाक होगा? मिटोगे नहीं, मरोगे नहीं, ध्यान नहीं होगा। वह बेचारा रोज लौट जाता। फिर दूसरे दिन सुबह आता कि फिर अपनी खबर कर दे कि अभी तक ध्यान हुआ नहीं। गुरु उसे देखते से ही कहता, अरे! तुम अभी भी जिंदा हो?
एक दिन उसने सोचा, यह कब तक चलेगा! सुबह वह पहुंचा, गुरु के दरवाजे पर खड़ा ही हुआ था; गुरु ने कहा, अरे! उसने कहा, मत कहो। और एकदम गिरा और मर गया। वहीं गिरा और मर गया। आंखें बंद कर लीं, सांस रोककर पड़ रहा। गुरु पास आया, उसने कहा कि बिल्कुल ठीक। अच्छा, मैंने तुम्हें कल एक सवाल दिया था, उसका जवाब तो दो। उस आदमी ने एक आंख खोली और कहा, उसका जवाब तो अभी तक नहीं मिला। उसके गुरु ने कहा, मूरख, मरे हुए लोग जवाब नहीं देते। उठ, और अपने घर जा! मर गया था, तो मर जाना था। जवाब देने की इतनी क्या जल्दी थी? लेकिन मरने का कोई नाटक नहीं हो सकता है।
अब यह जो गुरु कह रहा है कि मर जा, वह समझ ही नहीं पा रहा है, किस मृत्यु
की बात हो रही है। जब गुरु कह रहा है, अरे, फिर तू आ गया, तब भी वह नहीं समझ पा रहा है कि किसके आने की बात हो रही है। जिस अहंकार के मरने के लिए वह गुरु बात कर रहा है, वह उसके ख्याल में नहीं आता। ज्यादा से ज्यादा उसे ख्याल में आया कि इस शरीर को गिरा दो, आंख बंद करके पड़े रह जाओ। और क्या हो सकता है?

शरीर केंद्रित दृष्टि शरीर के बाहर की बातों को सुन नहीं पाती। अर्जुन भी शरीर केंद्रित है। उसकी सारी चिंतना, उसका सारा संताप शरीर केंद्रित, बाडी ओरिएंटेड है। वह कहता है, ये मेरे प्रियजन मर जाएंगे। कृष्ण कहते हैं, ये कोई नहीं मरने वाले हैं। ये पहले भी थे और फिर भी रहेंगे। वही-वही सवाल लौट-लौटकर चला आता है। अभी कृष्ण पहले समझाते हैं कि कोई ये मरेंगे नहीं। ये पहले भी थे, पीछे भी रहेंगे। तू इनकी फिक्र मत कर। कुछ समझता नहीं है अर्जुन। अब वह फिर वही पूछता है, आप! आप सूर्य के पहले कहां थे? आप तो अभी पैदा हुए हैं!
वही शरीर से बंधी हुई दृष्टि! लेकिन कृष्ण एक सीधा वक्तव्य देते हैं। दलील दे सकते थे। लेकिन जिनके पास अनुभव है, वे दलील हमेशा पीछे देते हैं, वक्तव्य पहले दे देते हैं। जिनके पास अनुभव नहीं है, वे दलील पहले देते हैं, वक्तव्य पीछे देते हैं। जिनके पास अनुभव है, वे दलील का उपयोग सिद्ध करने के लिए नहीं करते। वे दलील का उपयोग ज्यादा से ज्यादा समझाने के लिए करते हैं।
तो पहली तो बात यह समझ लें कि कृष्ण ने बेझिझक कहा कि तू नहीं जानता और मैं जानता हूं। इतना बेझिझक अनुभव ही हो सकता है। लेकिन गुरु भी झिझकते हुए हो सकते हैं। और तब अगर शिष्य झिझकते हुए हो जाएं, तो बहुत कठिनाई क्या है? गुरु भी सोच-विचार करके उत्तर देते हों, तो फिर शिष्य भी उत्तर से वंचित रह जाएं, तो हैरानी क्या है?
यह सोच-विचार नहीं है कृष्ण की तरफ, यह सीधी प्रतीति है कि तू नहीं जानता। यह ठीक वैसे ही है जैसे एक अंधे आदमी से कोई आंख वाला कहे कि सूरज है; मैं जानता हूं और तू नहीं जानता। यह इतनी ही सरल और सीधी बात उन्होंने कही है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।। 6।।
मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूं।

कृष्ण यहां चेतना कैसे प्रकट होती है पदार्थ में, परमात्मा कैसे आविर्भूत होता है प्रकृति में, अदृश्य कैसे दृश्य के शरीर को ग्रहण करता है, अलौकिक कैसे लौकिक बन जाता है, अज्ञात असीम अनंत कैसे सीमा और सांत में बंधता है, उसका सूत्र कहते हैं।
वे कहते हैं, मैं और लोगों की भांति जन्मा हुआ नहीं हूं।
यहां एक बात तो सबसे पहले ठीक से समझ लें कि जब वे कहते हैं, मैं और लोगों की भांति जन्मा हुआ नहीं हूं, तो इसका जैसा अब तक मतलब लिया जाता रहा है, वैसा मतलब नहीं है। लोग कहेंगे कि यहां वे कह रहे हैं कि मैं भगवान का अवतार हूं, बाकी लोग नहीं है। ऐसा नहीं कह रहे हैं। यहां वे इतना ही कह रहे हैं कि जन्मता तो कोई भी नहीं है, लेकिन दूसरे मानते हैं कि वे जन्मते हैं; और जब तक वे मानते हैं कि जन्मते हैं, तब तक मरते हैं। उनकी मान्यता ही उनकी सीमा है। यहां वे कह रहे हैं, मैं औरों की भांति जन्मा हुआ नहीं हूं। यहां उनका प्रयोजन है कि मैं जानता हूं भलीभांति, जैसा कि और नहीं जानते-- कि मैं अजन्मा हूं, मेरा कभी जन्म नहीं हुआ।
एक बहुत सोचने और ख्याल में और कभी भीतर खोजने जैसी बात है। कितना ही
मन में सोचें, आप यह कभी सोच न पाएंगे, इनकंसीवेबल है, इसकी कल्पना नहीं बनती कि मैं मर जाऊंगा। कितनी ही कोशिश करें इसकी कल्पना बनाने की, कल्पना भी नहीं बनती कि मैं मर जाऊंगा। इसका ख्याल ही भीतर नहीं पकड़ में आता कि मैं मर जाऊंगा। इसीलिए तो इतने लोग चारों तरफ मरते हैं, फिर भी आपको ख्याल नहीं आता कि मैं मर जाऊंगा। भीतर सोचने जाओ, तो ऐसा लगता ही नहीं कि मैं मरूंगा। भीतर मृत्यु के साथ कोई संबंध ही नहीं जुड़ता।
कल्पना करें, अगर आपको ऐसी जगह रखा जाए जहां कोई न मरा हो और आपने कभी मरने की कोई घटना न देखी हो, आपने मृत्यु शब्द न सुना हो, आपको किसी ने मौत के बाबत कुछ न बताया हो, क्या आप अपने ही तौर अकेले ही कभी भी सोच पाएंगे कि

आप मर सकते हैं? नहीं सोच पाएंगे। यह निजी एकांत में आप न खोज पाएंगे कि आप मर सकते हैं, क्योंकि मृत्यु की कल्पना ही भीतर नहीं बनती।
भीतर जो है, वह मरणधर्मा नहीं है। भीतर जो है, वह मरणधर्मा नहीं है; वह अजन्मा भी है। असल में वही मरता है, जो जन्मता है। जो नहीं जन्मता, वही नहीं मरता है।
कृष्ण कहते हैं, मैं अजन्मा हूं, अजात, जो कभी जन्मा नहीं, अनबॉर्न। और इसलिए अनडाइंग हूं, मरूंगा भी नहीं। औरों की भांति मैं जन्मा हुआ नहीं हूं, अर्जुन!
और तो सभी मानते हैं कि उनका जन्मदिन है। उनके मानने में ही उनकी भ्रांति है। ऐसा नहीं है कि वे जन्मे हैं, जन्मे तो वे भी नहीं हैं। लेकिन जिस दिन वे जान लेंगे कि वे जन्मे नहीं हैं, वे भी मेरे ही भांति हो जाएंगे, वे भी मेरे ही रूप हो जाएंगे।
यह जो अजन्मा है, जो कभी जन्मता नहीं है, वह भी तो आया है। वह भी तो उतरा है, आविर्भूत हुआ है। वह भी तो पैदा हुआ है। वह भी तो जन्मा ही है। कृष्ण भी तो जन्मे ही हैं।
कहानी है कि जरथुस्त्र पैदा हुआ, तो जैसे कि और बच्चे रोते हैं, जरथुस्त्र रोया नहीं, हंसा। अब जरथुस्त्र वैसे ही थोड़े-से लोगों में एक है, जैसे कृष्ण। शायद पृथ्वी पर अकेला एक ही बच्चा जन्म के साथ हंसा है, वह जरथुस्त्र। घबड़ा गए लोग। घबड़ा ही जाएंगे। बच्चा पैदा हो और हंसने लगे खिलखिलाकर, तो घबड़ा ही जाएंगे। क्योंकि हंसना बच्चे के लिए स्वाभाविक नहीं है, रोना बिल्कुल स्वाभाविक है।
लेकिन कभी आपने सोचा कि बच्चे के लिए अगर रोना स्वाभाविक है, तो बूढ़े
के लिए रोते हुए मरना स्वाभाविक नहीं होना चाहिए। क्योंकि जो बच्चे के लिए स्वाभाविक है, बूढ़े को कम से कम अनुभव से इतना तो हो जाना चाहिए कि वह बच्चे के पार चला जाए।
बच्चा रोता हुआ पैदा हो, माफ किया जा सकता है। बूढ़ा रोता हुआ मरे, तो माफ नहीं किया जा सकता। जिंदगी इतना भी न सिखा पाई कि बचपन में जन्म के साथ जो हुआ था, वह कम से कम मृत्यु के साथ न हो!
लेकिन बच्चे रोते हुए पैदा होते हैं और बूढ़े रोते हुए मरते हैं। असल में दोनों छोर हमेशा मिल जाते हैं। असल में दोनों छोर बराबर एक से हो जाते हैं। बूढ़ा रोता हुआ मरता है, तो हमारी समझ में आता है कि क्यों मरता है रोता हुआ, जिंदगी छूट रही है इसलिए। इसलिए हम सोचते हैं, रो रहा है। जिसे हम जिंदगी जानते थे, वह हाथ से जा रही है, इसलिए रो रहा है। लेकिन बच्चा क्यों रोता है? ठीक वही बात जो बूढ़े की है। उसकी भी कोई जिंदगी छूटती है। हमें दूसरा छोर दिखाई पड़ रहा है उसके छूटने का। बूढ़े का पहला छोर दिखाई पड़ रहा है छूटने का; बच्चे का दूसरा छोर दिखाई पड़ रहा है छूटने का।
असल में बूढ़ा जो रोता है, वही रोना बच्चे के जन्म तक जारी रहता है। वे
एक ही चीज के दो छोर हैं। इधर बूढ़ा रोता है, यह एक पर्दा गिरा नाटक का। यह आदमी पर्दे के पीछे गया, रोता हुआ पर्दे के पीछे गया। पर्दे के पीछे उतरा, रोता हुआ उतरा। उधर उसका जन्म हो रहा है, इधर उसकी मौत हुई थी। इधर एक आदमी मरा, उधर जन्मा। रोता हुआ मरता है, रोता हुआ जन्मता है।
जरथुस्त्र से किसी ने बाद में पूछा कि हमने सुना है, तुम हंसते हुए पैदा हुए! तो जरथुस्त्र ने कहा कि ठीक सुना है, क्योंकि मैं उसके पहले हंसता हुआ मरा। हम हंसते हुए चले आ रहे थे पर्दे के पीछे से। लोगों ने पूछा, तुम हंसते हुए क्यों मरे? तो जरथुस्त्र ने कहा, हंसते हुए इसलिए मरे कि लोग रो रहे थे और हम समझ रहे थे कि हम मर ही नहीं रहे हैं, वे व्यर्थ रो रहे हैं; तो हंसी आ गई।
कृष्ण कहते हैं, अजन्मा हूं मैं। यहां जिस मैं की बात कर रहे हैं, वह परम मैं, परमात्मा का मैं। मेरा कोई जन्म नहीं; फिर भी उतरा हूं इस शरीर में। तो फिर इस शरीर में उतरना क्या है? उसको वे कहते हैं, योगमाया से।
इस शब्द को समझना जरूरी होगा, क्योंकि यह बहुत की, बहुत कुंजी जैसे शब्दों में से एक है, योगमाया। योगमाया से, इसका क्या अर्थ है? इसका क्या अर्थ है? थोड़ा-सा सम्मोहन की दो-एक बातें समझ लें, तो यह समझ में आ सकेगा।

योगमाया का अर्थ है--या ब्रह्ममाया कहें या कोई और नाम दें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता--अर्थ यही है कि अगर आत्मा चाहे, आकांक्षा करे, तो वह किसी भी चीज में प्रवेश कर सकती है। आकांक्षा करे, तो किसी भी चीज के साथ संयुक्त हो सकती है। आकांक्षा करे, तो जो नहीं होना चाहिए वस्तुतः, वह भी हो सकता है। संकल्प से ही हो जाता है।
सम्मोहन के मैंने कहा एक-दो सूत्र समझें, तो योगमाया समझ में आ सके।
वह भी एक ग्रेटर हिप्नोसिस है। कहें कि स्वयं परमात्मा अपने को सम्मोहित करता है, तो संसार में उतरता है, अन्यथा नहीं उतर सकता। परमात्मा को भी संसार में उतरना है--हम भी उतरते हैं, तो सम्मोहित होकर ही उतरते हैं। एक गहरी तंद्रा में उतरें, तो ही पदार्थ में प्रवेश हो सकता है, अन्यथा प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए जाग जाएं, तो पदार्थ के बाहर हो जाते हैं। और सम्मोहन में डूब जाएं, तो पदार्थ के भीतर हो जाते हैं।
अगर किसी व्यक्ति को सम्मोहित किया जाए--जो कि दुनिया में हजारों जगह प्रयोग किए गए हैं, खुद मैंने भी प्रयोग किए हैं और पाया कि सही हैं--आपको अगर सम्मोहित करके बेहोश किया जाए, फिर आपके हाथ में एक कंकड़ रख दिया जाए साधारण सड़क का उठाकर और कहा जाए, अंगारा रखा है आपके हाथ में। आप चीख मारकर उस कंकड़ को--मेरे लिए--और आपके लिए उस अंगारे को फेंक देंगे और चीख मारेंगे, जैसे अंगारे में हाथ जल गया।
यहां तक तो हम कहेंगे, ठीक है। आदमी गहरी बेहोशी में है। उसे भ्रम हुआ
कि अंगारा है। लेकिन बड़ा मजा तो यह है कि उस बेहोश आदमी के हाथ पर फफोला भी आ जाएगा। फफोला होश में आने पर भी रहेगा, उतनी ही देर, जितनी देर असली अंगारे से पड़ा हुआ फफोला रहता है। यह फफोला क्या है? यह योगमाया है। यह फफोला सिर्फ संकल्प से पैदा हुआ है, क्योंकि अंगारा हाथ पर रखा नहीं गया था, सिर्फ सोचा गया था।
ठीक इससे उलटा भी हो जाता है। अलाव भरे जाते हैं और लोग अंगारों पर कूद जाते हैं और जलते नहीं। वह भी संकल्प है। वह भी गहरा संकल्प है, इससे उलटा। सम्मोहन में अंगारा हाथ पर रख दिया जाए और कहा जाए, ठंडा कंकड़ रखा है, तो फफोला नहीं पड़ेगा। भीतर हमारी चेतना जो मान ले, वही हो जाता है। कृष्ण कहते हैं कि मैं--परमात्मा की तरफ से बोल रहे हैं कि मैं--अपनी योगमाया से शरीर में उतरता हूं।
शरीर में उतरना तो सदा ही सम्मोहन से होता है। लेकिन सम्मोहन दो तरह
के हो सकते हैं। और यही फर्क अवतार और साधारण आदमी का फर्क है। अगर आप जानते हुए, कांशसली, सचेत, शरीर में उतरें--जानते हुए--तो आप अवतार हो जाते हैं। और अगर आप न जानते हुए शरीर में उतरें, तो आप साधारण व्यक्ति हो जाते हैं। सम्मोहन दोनों में काम करता है। लेकिन एक स्थिति में आप सम्मोहित होते हैं प्रकृति से और दूसरी स्थिति में आप आत्म-सम्मोहित होते हैं, आटो- हिप्नोटाइज्ड होते हैं। आप खुद ही अपने को सम्मोहित करके उतरते हैं। कोई दूसरा नहीं, कोई प्रकृति आपको सम्मोहित नहीं करती।
साधारणतः हमारा जन्म इच्छाओं के सम्मोहन में होता है। मैं मरूंगा। हजार इच्छाएं मुझे पकड़े होंगी, वे पूरी नहीं हो पाई हैं। वे मेरे मन-प्राण पर अपने घोंसले बनाए हुए बैठी हैं। वे मेरे मन-प्राण को कहती हैं कि और शरीर मांगो, और शरीर लो; शीघ्र शरीर लो, क्योंकि हम अतृप्त हैं; तृप्ति चाहिए। जैसे रात आप सोते हैं। और अगर आप सोचते हुए सोए हैं कि एक बड़ा मकान बनाना है, तो सुबह आप पुनः बड़ा मकान बनाना है, यह सोचते हुए उठते हैं। रातभर आकांक्षा प्रतीक्षा करती है कि ठीक है, सो लो। उठो, तो वापस द्वार पर खड़ी है कि बड़ा मकान बनाओ।
रात आखिरी समय, सोते समय जो आखिरी विचार होता है, वह सुबह के समय, उठते वक्त पहला विचार होता है। ख्याल करना तो पता चलेगा। अंतिम विचार, सुबह का पहला विचार होता है। मरते समय आखिरी विचार, जन्म के समय पहला विचार बन जाता है। बीच में नींद का थोड़ा-सा वक्त है। वह खड़ा रहता है; इच्छा पकड़े रहती है। और वह इच्छा आपको सम्मोहित करती है और नए जन्म में यात्रा करवा देती है।

जब कृष्ण कह रहे हैं, औरों की भांति, तो फर्क इतना ही है कि और अपनी- अपनी इच्छाओं के सम्मोहन में नए जन्म में प्रविष्ट हुए हैं। उन्हें कुछ पता नहीं है। जानवरों की तरह गलों में रस्सियां बंधी हों, ऐसे बंधे हुए खींचे गए हैं इच्छाओं से। इच्छाओं के पाश में बंधे पशुओं की भांति बेहोश, मूर्च्छित वे नए जन्मों में प्रविष्ट हुए हैं। न उन्हें याद है मरने की, न उन्हें याद है नए जन्म की; उन्हें सिर्फ याद हैं अंधी इच्छाएं। और वे फिर जैसे ही शक्ति मिलेगी, शरीर मिलेगा, अपनी इच्छाओं को पूरा करने में लग जाएंगे। उन्हीं इच्छाओं को, जिन्हें उन्होंने पिछले जन्म में भी पूरा करना चाहा था और पूरा नहीं कर पाए। उन्हीं इच्छाओं को, जिन्हें उन्होंने और भी पिछले जन्मों में पूरा करना चाहा था और पूरा नहीं कर पाए। उन्हीं इच्छाओं को, जिन्हें उन्होंने जन्मों-जन्मों में पूरा करना चाहा था और पूरा नहीं कर पाए। उन्हीं को वे पुनः पूरा करने में लग जाएंगे। एक वर्तुल की भांति, एक विसियस सर्कल की भांति, दुष्टचक्र घूमता रहेगा।
कृष्ण जैसे व्यक्ति जानते हुए जन्मते हैं, किसी इच्छा के कारण नहीं, कोई अंधी इच्छा के कारण नहीं। फिर किसलिए जन्मते होंगे? जब इच्छा न बचे, तो कोई किसलिए जन्मेगा? जब इच्छा न बचे, तो नए जन्म को धारण करने का कारण क्या रह जाएगा? इच्छा तो मूर्च्छित-जन्म का कारण है। फिर क्या कारण रहेगा? अकारण तो कोई पैदा नहीं हो सकता। इसलिए अकारण कोई पैदा होता भी नहीं। लेकिन जब इच्छा विलीन हो जाती है--और जब इच्छा विलीन हो जाती है तभी--करुणा का जन्म होता है, कम्पैशन का जन्म होता है।
कृष्ण, बुद्ध या महावीर जैसे व्यक्ति करुणा के कारण पैदा होते हैं।
जो उन्होंने जाना, जो उनके पास है, उसे बांट देने को पैदा होते हैं। लेकिन यह जन्म कांशस बर्थ, सचेष्ट जन्म है। इसलिए उनकी पिछली मृत्यु जानी हुई होती है; यह जन्म जाना हुआ होता है। और जो व्यक्ति अपनी एक मृत्यु और एक जन्म को जान लेता है, उसे अपने समस्त जन्मों की स्मृति वापस उपलब्ध हो जाती है। वह अपने समस्त जन्मों की अनंतशृंखला को जान लेता है।
इसलिए जब कृष्ण कह रहे हैं कि तुझे पता नहीं, मुझे पता है। और मैं औरों
की भांति मूर्च्छित नहीं जन्मा हूं; सचेष्ट, अपनी ही योगमाया से, अपने को ही जन्माने की शक्ति का स्वयं ही सचेतन रूप से प्रयोग करके इस शरीर में उपस्थित हुआ हूं। तो वे एक बहुत आकल्ट, एक बहुत गुह्य-विज्ञान की बात कह रहे हैं।
इस रहस्य की बात को ऊपर से समझा ही जा सकता है। जानना हो, तब तो भीतर ही प्रवेश करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। और कठिन नहीं है यह बात कि आप औरों की भांति की दुनिया से हटकर कृष्ण की भांति दुनिया में प्रवेश कर जाएं। औरों से हटने और कृष्ण के निकट आने का एक ही रास्ता है।
इस सत्य को पहचान लेना है कि भीतर जो है, वह अजन्मा है, उसका कोई जन्म नहीं है। पहचान लेना, दोहराना नहीं। नहीं तो दोहराने की तो कोई कठिनाई नहीं है। सुबह बैठकर हम दोहरा सकते हैं कि आत्मा अजर-अमर है, आत्मा अजर-अमर है। दोहराते रहें, उससे कुछ भी न होगा। जानना पड़ेगा कि मेरे भीतर जो है, वह कभी नहीं जन्मा है।
कैसे जानेंगे? पीछे लौटना पड़ेगा; भीतर, चेतना में, एक-एक कदम पीछे जाना पड़ेगा। याद करनी पड़ेगी लौटकर। अभी अगर लौटकर याद करेंगे, तो आमतौर से पांच साल तक की याद आ पाएगी, पांच साल की उम्र तक की, उसके पहले की याददाश्त खो गई होगी। बहुत बुद्धिमान और बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति होंगे, तो तीन साल तक की याद आ पाएगी, उसके पहले की याद खो गई होगी।
वह जो आखिरी याद है आपकी--समझ लें कि तीन साल की उम्र की आखिरी याद आपको आती है कि वह मेरी आखिरी याद है, उसके बाद शून्य हो जाता है--तो रोज रात को उस आखिरी याद को ही याद करते हुए, करते हुए सो जाएं, उसी को याद करते हुए सो जाएं। पता न चले कि कब आप याद करते रहे और कब नींद आ गई। उसको ही याद करते रहें, याद करते रहें, करते रहें, और नींद को आ जाने दें। आपकी याद करने की प्रक्रिया चलती ही रहे, जब तक कि आप सो ही न जाएं। जब तक होश रहे, चलाए रखें। तो वही याद हुक का काम करती है। जैसे कि कोई मछली को पकड़ता है कांटा डालकर। वह आखिरी याद आपके अचेतन चित्त में अंदर उतर जाती है। और किसी और

याद को पकड़कर सुबह तक वापस आ जाती है। सुबह आपको एकाध और याद आएगी, जो तीन साल से भी पीछे की है। फिर उसका उपयोग करें।
और रोज ऐसा उपयोग करते रहें और रोज आप पाएंगे कि आप जन्म के करीब सरक रहे हैं। फिर आपको एक दिन वह भी याद आ जाएगी, जिस दिन आपका जन्म हुआ। फिर उसको पकड़कर ध्यान करते रहें रात सोते वक्त, और तब आपको मां के पेट की याद आनी शुरू हो जाएगी। और तब आपको गर्भ-धारण की याद आएगी। फिर उसको पकड़ लें, उस पर प्रयोग करते रहें। और तब आपको पिछले जन्म की मृत्यु की याद आएगी। फिल्म उलटी चलेगी निश्चित ही, फिल्म उलटी चलेगी। पिछले जन्म की याद में पहले मृत्यु की याद आएगी, फिर आप बूढ़े होंगे, फिर जवान होंगे, फिर बच्चे होंगे, फिर जन्म होगा। याद उलटी होगी, जैसे फिल्म की रील को हम उलटा चला रहे हों। इसलिए पहचानने में थोड़ी कठिनाई होगी, वैसी कठिनाई होगी कि जैसे अगर फिल्म को हम उलटा चला दें या किसी उपन्यास को उलटा पढ़ना शुरू करें, तो कठिनाई हो। लेकिन अगर दो-चार दफे पढ़ें, तो उलटे पढ़ने का भी अभ्यास हो जाएगा। और एक दफा उलटा पढ़ लें, तो फिर सीधा भी पढ़ सकते हैं।
पहली दफा बहुत कठिनाई होगी, क्योंकि कुछ समझ में नहीं आएगा। उलटा- उलटा लगेगा सब। कैसा उलटा नहीं हो जाएगा! पहले मरेंगे, फिर बूढ़े होंगे, कठिनाई मालूम पड़ेगी। फिर जवान होंगे, बहुत कठिनाई मालूम पड़ेगी। फिर बच्चे होंगे, बहुत कठिनाई मालूम पड़ेगी। सब उलटा होगा।
लेकिन एक बार स्मृति आ जाए, तो कृष्ण जो कह रहे हैं, औरों में आपकी गिनती न रह जाएगी। और औरों में गिनती न रह जाए, यही लक्ष्य है। औरों में गिनती रही आए, तो जीवन व्यर्थ है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। 7।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। 8।।
हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूं, अर्थात प्रकट करता हूं।
साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म स्थापन करने के लिए युग-युग में प्रकट होता हूं।

अंतिम श्लोक की बात कर लें, फिर कल सुबह। मैंने कहा, कृष्ण जैसे लोग करुणा से पैदा होते हैं। वासना से नहीं, करुणा से। वासना और करुणा का थोड़ा भेद समझें, तो यह सूत्र समझ में आ जाएगा।
वासना होती है स्वयं के लिए, करुणा होती है औरों के लिए। वासना का लक्ष्य होता हूं मैं, करुणा का लक्ष्य होता है कोई और। वासना अहंकार केंद्रित होती है, करुणा अहंकार विकेंद्रित होती है। ऐसा समझें कि वासना मैं को केंद्र बनाकर भीतर की तरफ दौड़ती है; करुणा पर को परिधि बनाकर बाहर की तरफ दौड़ती है।
करुणा, जैसे फूल खिले और उसकी सुवास चारों ओर बिखर जाए। करुणा ऐसी होती है, जैसे हम पत्थर फेंकें झील में; वर्तुल बने, लहर उठे और दूर किनारों तक फैलती चली जाए।
करुणा एक फैलाव है, वासना एक सिकुड़ाव है। वासना संकोच है, करुणा विस्तार है।
कृष्ण कहते हैं, करुणा से; युगों-युगों में जब धर्म विनष्ट होता है, तब धर्म की पुनर्संस्थापना के लिए; जब अधर्म प्रभावी होता है, तब अधर्म को विदा देने के लिए मैं आता हूं।
यहां ध्यान रखें कि यहां कृष्ण जब कहते हैं, मैं आता हूं, तो यहां वे सदा ही इस मैं का ऐसा उपयोग कर रहे हैं कि उस मैं में बुद्ध भी समा जाएं, महावीर भी समा जाएं, जीसस भी समा जाएं, मोहम्मद भी समा जाएं। यह मैं व्यक्तिवाची नहीं है। असल में वे यह कह रहे हैं कि जब भी धर्म के जन्म के लिए और जब भी अधर्म के विनाश के लिए कोई आता है, तो मैं ही आता हूं। इसे ऐसा

समझें, जब भी कहीं प्रकाश के लिए और अंधकार के विरोध में कोई आता है, तो मैं ही आता हूं। यहां इस मैं से उस परम चेतना का ही प्रयोजन है।
जो भी व्यक्ति अपनी वासनाओं को क्षीण कर लेता है, तब वह करुणा के कारण लौट आ सकता है; युगों-युगों में, कभी भी, जब भी जरूरत हो उसकी करुणा की, कोई लौट आ सकता है। उस व्यक्ति का कोई नाम नहीं रह जाता, कि वह कौन है। क्योंकि सब नाम वासनाओं के नाम हैं। जब तक मेरी वासना है, तब तक मेरा नाम है, तब तक मेरी एक आइडेंटिटी है।
इसलिए कृष्ण मुझसे नहीं कह सकते कि तुम कृष्ण हो। लेकिन अगर मेरे भीतर कोई वासना न रह जाए, निर्वासना हो जाए, तो कोई अहंकार भी नहीं रह जाएगा, मेरा कोई नाम भी नहीं रह जाएगा। तब मेरा जन्म भी कृष्ण का ही जन्म है। अगर आपके भीतर कोई वासना न रह जाए, तो आपका जन्म भी कृष्ण का ही जन्म है।
असल में ठीक से समझें, तो हमारी अशुद्धियां, हमारे व्यक्तित्व हैं।
और जब हम शुद्धतम रह जाते हैं, तो हमारा कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता।
इसलिए कहीं भी कोई पैदा हो... ।
मोहम्मद ने कहा है कि मुझसे पहले भी आए परमात्मा के भेजे हुए लोग और उन्होंने वही कहा। उनके ही वक्तव्य को पूरा करने मैं भी आया हूं।
जब जीसस का जन्म हुआ, तो सारी दुनिया से बुद्धिमान लोग जीसस के गांव पहुंचे, बड़ी हजारों मील की यात्रा करके। क्योंकि जो भी इस पृथ्वी पर बुद्धिमान थे और जानते थे, उनको तत्काल अनुभव हुआ कि कोई करुणा से प्रेरित आत्मा फिर जन्म गई। इसकी ध्वनियां उन तक पहुंचीं, इसकी लहरें उन तक पहुंचीं।
जब बुद्ध का जन्म हुआ, तो हिमालय से एक महायोगी उतरकर बुद्ध के गांव आया। बुद्ध के द्वार पर खड़ा हुआ। बुद्ध के पिता बुद्ध को लेकर योगी के चरणों में रख दिए और कहा कि आशीर्वाद दें, शुभ वचन कहें, शुभ कामनाएं करें। लेकिन वह योगी रोने लगा। तो बुद्ध के पिता बहुत चिंतित हुए। उन्होंने कहा, कोई अपशगुन है? आप रोते हैं! उस योगी ने कहा, मेरे रोने का कारण दूसरा है। अपशगुन नहीं, महाशगुन है। मैं रोता हूं इसलिए कि उस आदमी का जन्म हुआ फिर, जिसकी कोई वासना नहीं है, जो करुणा से आया है। लेकिन मैं उसके चरणों में बैठने से वंचित रह जाऊंगा, क्योंकि मेरी तो मौत की घड़ी करीब आ रही है। उसके लिए नहीं रोता, अपने लिए रोता हूं। क्योंकि ऐसी चेतना जन्मी है, उसी को खोजते मैं हिमालय से यहां तक आया हूं।
जब भी कोई महाकरुणावान चेतना पृथ्वी पर उतरती है, तो जिनके हृदय भी पवित्र हैं, उनके हृदयों में कंपन शुरू हो जाते हैं। उन तक खबरें पहुंच जाती हैं। वह लहर, वह झील पर पड़ा हुआ पत्थर उन तक लहरें ले जाता है। वे उस ध्वनि तरंग को समझ पाते हैं, वे भागे हुए चले आते हैं।
रोने लगा वह महायोगी। उसने कहा, दुखी हूं, क्योंकि मैं मर जाऊंगा। मेरी तो मौत करीब आ गई, और मैं बुद्ध के चरणों में न बैठ पाऊंगा। अभी ही नमस्कार कर लेता हूं। उस बच्चे के पैरों में सिर रखकर वह योगी चला गया। जब कृष्ण कहते हैं, तो आमतौर से लोग भूल समझ लेते हैं। वे समझ लेते हैं
कि अगर आज अधर्म होगा, दुष्ट होंगे, साधु कष्ट में होंगे, तो कृष्ण लौट आएंगे। कृष्ण नहीं लौटेंगे। जो भी लौटेगा, वही कृष्ण है। कृष्ण कोई व्यक्ति नहीं है। जहां भी कोई लौटेगा, वही कृष्ण है। लेकिन जब भी जरूरत होती है, अंधेरा घना होता है, तो कोई प्रकाश किरण लौट आती है। क्यों लौट आती है? करुणा के कारण। जरूरत हो तो ही लौटती है, अन्यथा कोई जरूरत नहीं। आपके घर में कोई बीमार हो तो डाक्टर आता है, न हो तो कोई जरूरत नहीं। अंधेरा हो तो ठीक, अंधेरा न हो तो कोई जरूरत नहीं। अगर पिछली पीढ़ी में ऐसी आत्माएं मरी हों जो कि वासना से मुक्त हो गई हों, लेकिन पृथ्वी पर कोई जरूरत न हो, तो वे न लौटेंगी। लेकिन अगर जरूरत हो, तो लौट आ सकती हैं।
जरूरत सदा है। अब तक तो ऐसा कोई समय नहीं आया, जब जरूरत न रही हो।
जरूरत सदा है। पृथ्वी सदा ही अंधेरे से भरी है। पृथ्वी सदा ही अधर्म से भरी है। लौटना ही पड़ता है। लेकिन लौटने का प्रयोजन स्वयं की कोई वासना नहीं है। लौटने का प्रयोजन दूसरों पर करुणा है।

इस करुणा के दो कारण उन्होंने कहे, असाधुओं के विनाश के लिए, दुष्टों
के विनाश के लिए; साधुओं के उद्धार के लिए। ये जरा कठिन हैं दोनों बातें।
इन्हें थोड़ा-सा ख्याल में ले लेना जरूरी है।
दुष्टों के विनाश के लिए! क्या दुष्टों की हत्या कर देंगे? मार डालेंगे दुष्टों को? तब तो खुद ही दुष्ट हो जाएंगे। फिर वह करुणा न हुई। दुष्टों के विनाश का क्या अर्थ होता है? दुष्टों के विनाश का एक ही अर्थ होता है कि दुष्टों में दुष्टता न रह जाए, तो दुष्टों का विनाश हो जाता है। दुष्टों के विनाश का अर्थ यह नहीं कि तलवार से दो टुकड़े कर देंगे। क्योंकि तलवार से दो टुकड़े करने में दुष्ट का तो कुछ विनाश न होगा, जिसने विनाश किया वह भी दुष्ट हो जाएगा। दुष्ट के विनाश का क्या अर्थ है? दुष्ट के विनाश का अर्थ है, दुष्ट की दुष्टता खो जाए। दुष्टता मिट जाए, तो ही दुष्ट का विनाश हुआ।
साधुओं के उद्धार के लिए! यह और कठिन बात है। साधु का तो अर्थ ही यही
है कि जिसके उद्धार की किसी को जरूरत न हो। साधु अगर अपना उद्धार न कर सके, तो साधु कैसा? दुष्ट न कर सके, समझ में आता है। कृष्ण कहें कि दुष्टों के उद्धार के लिए, चलेगा। लेकिन कृष्ण कहते हैं, दुष्टों के विनाश के लिए और साधुओं के उद्धार के लिए। तो साधारणतः हम सोचते हैं, शायद साधुओं को दुष्ट सताते होंगे, तो उनके उद्धार के लिए।
साधु बड़ा कमजोर है, अगर दुष्ट उसे सता पाए। असल में दुष्ट अगर साधु को सताए, तो दुष्ट को ही बदलना पड़ता है; साधु को नहीं बदलना पड़ता। दुष्ट साधु को सताकर अपनी ही बदलाहट के उपाय में लग रहा है। साधु को नहीं सता पाता। साधु को दुनिया में कोई भी नहीं सता पाता। और अगर साधु को दुष्ट सता पाते हैं, तो साधु के नाम से दूसरे ढंग के दुष्ट ही बैठे होंगे, अन्यथा नहीं। साधु नहीं होंगे। साधु को सताने का उपाय नहीं है। इसलिए भी उपाय नहीं है कि साधु का मतलब ही यही है कि जिसे अब सताओ और चाहे सम्मान करो, दोनों बराबर हो गए। उसे सताओगे कैसे? उसे जूते की माला पहना दो कि फूल की माला पहना दो, वह दोनों के लिए धन्यवाद देकर अपने रास्ते पर चल पड़ेगा। साधु को सताने का उपाय नहीं है। जिसे हम नहीं सता सकते, वही साधु है।
फिर यह कृष्ण कहते हैं, साधु के उद्धार के लिए! और यह भी बड़े मजे की बात
है कि जिस युग में साधु हों, उसमें भी दुष्टों को साधु न सुधार पाएं और कृष्ण को आना पड़े, तो साधु बिल्कुल नपुंसक हैं, इम्पोटेंट हैं। फिर साधु किसलिए हैं?
नहीं; जिस युग में दुष्ट होते हैं, उस युग में साधु भी साधु नहीं होते। असल में दुष्टता से भरे हुए युग दुष्टों के युग होते हैं और पाखंडी साधुओं के युग होते हैं। साधु के उद्धार के लिए अर्थात पाखंड से उद्धार के लिए। और मजा यह है कि दुष्ट का विनाश करना पड़ता है। क्योंकि दुष्टता कुछ है, जिसका विनाश किया जा सके। पाखंड कुछ है नहीं, जिसका विनाश किया जा सके। पाखंड से सिर्फ उद्धार किया जा सकता है। दुष्टता का विनाश किया जा सकता है। दुष्टता का पाजिटिव अर्थ है। पाखंड सिर्फ एक चेहरा है, जिससे उद्धार किया जा सकता है। जिसे उतारकर रख दिया नीचे, तो पीछे का आदमी प्रकट हो जाता है।
साधु के उद्धार के लिए और दुष्ट के विनाश के लिए! और जिस युग में साधु नहीं होते, उस युग में दुष्ट होते हैं। लेकिन साधु सदा होते हैं, तो फिर साधु पाखंडी होते हैं।
पाखंडी साधु के उद्धार के लिए! अन्यथा साधु अगर सच में साधु है, तो कृष्ण से कहेगा, क्षमा करें। आप कष्ट न करें, मैं उद्धार कर लूंगा। अपना उद्धार तो कर ही लूंगा। आपको नाहक कष्ट न दूंगा। आप क्यों परेशान होते हैं!
अगर साधु सच में साधु होगा, तो दुष्ट उसे दुश्मन नहीं मालूम पड़ेगा। दुष्ट उसे सताता हुआ भी मालूम नहीं पड़ेगा। लेकिन साधु के भीतर भी दुष्ट ही छिपा रहता है। फर्क, साधु और दुष्ट के बीच, चेहरों का होता है। और इस अर्थ में दुष्ट कहीं ज्यादा ईमानदार, और साधु कहीं ज्यादा बेईमान होता है।

बेईमानी से उद्धार करना पड़े। धर्म का जब विनाश होता है, तो साधु होंगे कहां? क्योंकि अगर साधु होंगे, तो धर्म का विनाश कैसे होगा? धर्म का विनाश तभी होता है, जब साधु नहीं होते। जब साधु नहीं होते, तभी धर्म का विनाश होता है। और जब धर्म का विनाश होता है, तभी अधर्म प्रभावी होता है।
मैं एक सभा में था। एक बड़े साधु करपात्री जी बोले। बोलने के बाद उन्होंने जनता से कुछ नारे लगवाए। उन्होंने पहला नारा लगवाया, धर्म की जय हो। तीन बार लोग चिल्लाए, धर्म की जय हो। फिर पीछे उन्होंने नारा लगवाया, अधर्म का नाश हो।
मैंने उनके साथ बैठे साधु से कहा, जब धर्म की जय हो गई, तो अधर्म बचेगा कैसे? धर्म की जय हो गई, अधर्म का नाश हो गया। यह तो ऐसे ही हुआ कि लोगों से हम कहें कि दीए जलाओ, और फिर कहें, अंधेरा हटाओ। दोनों बातें बेमानी हैं। दीया जल गया, तो बात खतम हो गई। जब धर्म की जय हो गई तीन बार, अब कृपा करके अधर्म का नाश मत करवाएं। अधर्म नाश हो गया। और अगर धर्म की जय से नाश नहीं हुआ, तो अधर्म के नाश के नारे लगाने से नाश होने वाला नहीं है।
धर्म नहीं होता, क्योंकि धर्म के लिए भी पृथ्वी पर पैर रखने की जगह चाहिए। धर्म को भी पृथ्वी पर पैर रखने की जगह चाहिए। वह जगह साधुओं के हृदय हैं। अगर साधु न हों, तो धर्म को पैर रखने की जगह नहीं मिलती। धर्म तब अटक जाता है, त्रिशंकु हो जाता है, आकाश में भटक जाता है।
धर्म को पैर रखने के लिए साधुओं के हृदय चाहिए, अधर्म को पैर रखने के लिए असाधुओं के हृदय चाहिए। अधर्म भी खड़ा नहीं हो सकता; अधर्म भी हमारे सहारे खड़ा होता है, हमारे सहारे प्रकट होता है। धर्म भी हमारे सहारे प्रकट होता है। साधु हों, तो धर्म होता है, उसके लिए सहारे होते हैं। असाधु हों, अधर्म होता है, उसके लिए सहारे होते हैं। और जब अधर्म होता है, दुष्ट होते हैं; साधु नहीं होते, धर्म नहीं होता; तो कृष्ण कहते हैं कि मैं, अर्थात कोई भी चेतना जो अपनी सब वासनाओं से मुक्त हो जाती है, लौट आती है करुणावश-- साधुओं के उद्धार के लिए, असाधुओं के विनाश के लिए।
शेष कल सुबह हम बात करेंगे।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
तीसरा प्रवचन

दिव्य जीवन, समर्पित जीवन

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। 9।।
हे अर्जुन! मेरा यह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात अलौकिक है। इस प्रकार
जो पुरुष तत्व से जानता है, वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है,
किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।

जीवन विपरीत ध्रुवों का संगम है, अपोजिट पोलेरेटीज का। यहां प्रत्येक चीज अपने विपरीत के साथ मौजूद है; अन्यथा संभव भी नहीं है। अंधेरा है, तो साथ में जुड़ा हुआ प्रकाश है। जन्म है, तो साथ में जुड़ी हुई मृत्यु है। जो विपरीत हैं, वे सदा साथ मौजूद हैं।
जो हमें दिखाई पड़ता है, वह लौकिक है। जो हमारी इंद्रियों की पकड़ में आता है, वह लौकिक है। जिसे हमारी आंख देखती और कान सुनते और हाथ स्पर्श करते हैं, वह लौकिक है। हमारी इंद्रियों के जगत का नाम लोक है। लेकिन इंद्रियों की पकड़ के बाहर भी कुछ सदा मौजूद है, वह अलौकिक है।
इंद्रियां जिसे नहीं पकड़तीं, हाथ जिसे स्पर्श नहीं कर पाते, वाणी जिसे प्रकट नहीं करती, मन जिसे समझ नहीं पाता, वह भी सदा मौजूद है; उस मौजूद का नाम अलौकिक है। वह लोक के साथ ही निरंतर उपस्थित है।
जो व्यक्ति इंद्रियों पर ही अपने को समाप्त कर लेता है, उसे अलौकिक का कोई संस्पर्श नहीं हो पाता। जो ऐसा मानकर बैठ जाता है कि इंद्रियां ही सब कुछ हैं, वह अलौकिक से वंचित रह जाता है।
कृष्ण कहते हैं, मेरा यह जीवन अलौकिक है।
जीवन सभी का अलौकिक है। जन्म और मृत्यु लौकिक है, जीवन अलौकिक है।
शरीर में जीवन है, लेकिन शरीर जीवन नहीं है। फूल में सौंदर्य है, लेकिन सौंदर्य फूल नहीं है। दीए में ज्योति है, लेकिन ज्योति दीया नहीं है।
यद्यपि ज्योति दीए के बिना प्रकट न हो सकेगी; इंद्रियों की पकड़ में न आ सकेगी। सौंदर्य फूल के बिना तिरोहित हो जाएगा, खोजे से भी मिलेगा नहीं। जीवन भी जन्म और मृत्यु के दो तटों के बीच बहती हुई धारा है। दोनों तट
न होंगे, धारा दिखाई पड़नी बंद हो जाएगी। लेकिन फिर भी स्मरण रखें, तट धारा नहीं है। और ऐसा भी हो सकता है कि धारा सूख जाए; तट बने रहें और धारा न हो। तट बिना धारा के भी हो सकते हैं। तट स्थूल हैं, दिखाई पड़ते हैं; धारा सूक्ष्म है, अगर तट न हों तो दिखाई पड़नी बंद हो जाएगी।
जीवन सभी का अलौकिक है, लेकिन कृष्ण जोर देकर कहते हैं, मेरा जीवन अलौकिक है। इस जोर का कारण क्या है? इस जोर के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि दूसरों का जीवन अलौकिक नहीं है, कृष्ण का जीवन अलौकिक है; ऐसा जो अर्थ लेंगे, वे भूल में पड़ेंगे। जीवन तो सभी का अलौकिक है, कृष्ण का ही नहीं। फिर कृष्ण क्यों जोर देकर कहते हैं कि मेरा जीवन अलौकिक है?
वे इसलिए जोर देकर कहते हैं कि जिस दिन कोई अपने भीतर के अलौकिक जीवन
को जानेगा, उस दिन वह मुझसे भिन्न नहीं रह जाता; वह मुझसे एक ही हो जाता है। उस दिन से उसका जीवन उसका नहीं रह जाता, परमात्मा का ही हो जाता है। मेरा जीवन अलौकिक है, ऐसा जानते ही, जीवन मेरा नहीं रह जाता। इस तथ्य को ठीक से समझ लेना जरूरी है।
जैसे ही बूंद ने जाना कि वह सागर है, वैसे ही बूंद बूंद नहीं रह जाती; सागर ही हो जाती है। जैसे ही व्यक्ति ने जाना कि मेरे भीतर कुछ असीम भी मौजूद है, वैसे ही वह व्यक्ति नहीं रह जाता, असीम हो जाता है।
यहां कृष्ण उस असीम की तरफ से ही कहते हैं कि मेरा जीवन अलौकिक है।
इसलिए जो भी इस अलौकिक का दर्शन कर लेता है, वह मुझे उपलब्ध हो जाता है।

इसलिए वे कहते हैं, मरकर वह व्यक्ति नए जन्म को नहीं उपलब्ध होता, वह मुझे उपलब्ध हो जाता है।
जन्म का अर्थ है, बूंद अभी अपने को बूंद ही मानती है; बूंद अभी अपने को सीमा में बंधा हुआ मानती है। न जन्म होने का अर्थ है कि बूंद ने अब सीमाओं के बाहर अतिक्रमण किया, ट्रांसेंडेंस हुआ। अब बूंद अपने को बूंद नहीं मानती; अब बूंद अपने को सागर ही जानती है।
कृष्ण कहते हैं, जो भी अलौकिक जीवन के अनुभव को उपलब्ध हो जाता है, वह फिर मुझे ही उपलब्ध हो जाता है। फिर उसका जन्म नहीं होता; फिर उसका जीवन ही होता है।
जन्म और मृत्यु का भ्रम जिन्हें है, उन्हें जीवन का अनुभव नहीं है। जिन्हें जीवन का अनुभव है, उन्हें जन्म और मृत्यु का भ्रम नहीं है। जब तक हमें लगता है, मैं जन्मा और मैं मरा, तब तक मुझे उसका पता नहीं चलेगा, जो जन्म और मृत्यु के तट के बीच अदृश्य बहता था, जो जीवन था। मुझे किनारों का पता है, बीच की धारा का कोई भी पता नहीं है। इन दोनों किनारों के बीच में तीसरी चीज भी थी; जीवन भी था। जन्म से शुरू हुआ, मृत्यु से तिरोहित हुआ, लेकिन इन दोनों के बीच में जीवन भी था। वह जीवन, उसका हमें कोई पता नहीं है, वह अलौकिक है।
अलौकिक का अर्थ यह हुआ, इंद्रियों से पकड़ में आने योग्य नहीं है। अलौकिक का अर्थ यह हुआ कि पदार्थ को जिस भांति हम जानते हैं, उस भांति उसे जानने का उपाय नहीं है।
पत्थर को मुझे हाथ में उठाकर देखना है, तो मैं स्पर्श करके देख सकता हूं। आपको अगर मुझे देखना है, तो आपके शरीर के स्पर्श से मैं आपको नहीं जानता; केवल आपके गृह को, आपके घर को जानता हूं। आप भीतर अछूते, अनटच्ड छूट जाते हैं। शरीर छू जाता है, आपको नहीं छू पाता हूं। स्पर्श की सीमा है; वह पदार्थ के पार नहीं जाती।
इसलिए विज्ञान कठिनाई में पड़ गया है। क्योंकि विज्ञान का ख्याल है,
जो इंद्रियों के भीतर है, वही रियलिटी है, वही यथार्थ है; जो इंद्रियों के भीतर नहीं है, वह यथार्थ नहीं है। लेकिन अब विज्ञान को रोज-रोज उन चीजों का पता चल रहा है, जो इंद्रियों की सीमा के भीतर नहीं हैं।
जैसे आज तक किसी ने भी इलेक्ट्रिसिटी नहीं देखी। आप कहेंगे, हम रोज देखते हैं। घर हमारे बल्ब जलता है, पंखा चलता है, रेडियो बजता है; हम रोज देखते हैं। लेकिन जो आप देख रहे हैं, वह सिर्फ परिणाम है, विद्युत नहीं है। वह सिर्फ कांसिक्वेंस है, रिजल्ट है, का.ज नहीं है। आप जो देख रहे हैं, वह विद्युत का परिणाम है, काम है; विद्युत नहीं है। जब आप बल्ब को फोड़ देते हैं, तो विद्युत नहीं फूटती, सिर्फ विद्युत को प्रकट करने वाला उपकरण टूट जाता है, इंस्ट्रूमेंट टूट जाता है; विद्युत नहीं टूट जाती। आप बिजली के तार को काट देते हैं, तब बिजली नहीं कटती; सिर्फ बिजली का तार कटता है, जिससे बिजली बहती थी। जब आप बिजली के तार को पकड़ लेते हैं, तो जो झटका, जो शॉक आपको लगता है, वह भी बिजली नहीं है; वह भी बिजली का परिणाम है। हम सिर्फ बिजली का परिणाम जानते हैं, बिजली को नहीं जानते; वह अदृश्य है।
अगर हम जीवन को इसी तरह खोजें, तो हम पाएंगे कि हम सिर्फ परिणाम जानते हैं। मूल कारण भीतर अदृश्य रह जाता है। जड़ें दिखाई नहीं पड़तीं, शाखाएं दिखाई पड़ती हैं। जड़ें अदृश्य में रह जाती हैं। उस अदृश्य का नाम अलौकिक है।
इस अलौकिक को जो पुरुष जान लेता है, कृष्ण कहते हैं, वह फिर शरीर में जन्म नहीं लेता। क्योंकि वह विराट शरीर के साथ एक हो जाता है। फिर उसे छोटे-छोटे शरीरों में जन्म लेने की जरूरत नहीं रह जाती। फिर वह मेरे साथ ही एक हो जाता है। यहां जब कहते हैं कृष्ण, मेरे साथ, तो उसका अर्थ है अस्तित्व के साथ। वन विद दि एक्झिस्टेंस; वह जो समस्त अस्तित्व है, उसके साथ एक हो जाता है। फिर उसे अलग-अलग छोटे-छोटे घर बनाने की जरूरत नहीं पड़ती।
बुद्ध को ज्ञान हुआ, तो ज्ञान की घड़ी के बाद आनंदमग्न हो उन्होंने जोर
से कहा, मेरे मन! मेरे अहंकार! अब तक तुझे मेरे लिए छोटे-छोटे घर बनाने पड़े;

लेकिन अब तुझे मैं काम से मुक्त करता हूं। अब तुझे मेरे लिए छोटे-छोटे घर न बनाने पड़ेंगे।
कृष्ण उसी का दूसरा हिस्सा कह रहे हैं। कह रहे हैं, छोटे घर इसलिए नहीं बनाने पड़ेंगे कि घर नहीं रहेगा; छोटे घर इसलिए नहीं बनाने पड़ेंगे कि सारा विश्व, सारा अस्तित्व, वैसी चेतना का घर हो जाता है। फिर छोटे की जरूरत नहीं रह जाती।
स्वभावतः, जिसे हीरे मिल जाएं, वह कंकड़-पत्थर मुट्ठी से छोड़ देता है;
और जिसे महल मिल जाएं, वह झोपड़ियों को भूल जाता है। जिसे अलौकिक का दर्शन हो जाए, लौकिक कंकड़-पत्थर जैसा हो जाता है; फिर उसमें प्रवेश की आकांक्षा नहीं रह जाती।
यहां कृष्ण का यह जोर कि मेरा जीवन दिव्य और अलौकिक है, इस बात का ही जोर है कि जीवन दिव्य और अलौकिक है। यहां कृष्ण जीवन के प्रतिनिधि की तरह बोलते हैं। और इससे बड़ी भ्रांति होती है। उनकी भी मजबूरी है।
जीसस भी इसी तरह बोलते हैं, और इसीलिए जीसस को सूली पर लटका दिया। क्योंकि समझने वालों ने समझा कि यह तो गलत बात बोलते हैं। जीसस ने कहा कि वह परमात्मा जो आकाश में है और मैं, हम दोनों एक हैं। लोगों ने कहा, यह तो कुफ्र हो गया, यह आदमी तो काफिर मालूम होता है! परमात्मा के साथ अपने को एक बताता है! यह तो बड़ा अहंकारी मालूम होता है।
नहीं; वे नहीं समझ सके, नहीं समझ पाए।
जब जीसस ने कहा कि मैं और परमात्मा एक है, तो जीसस यही कह रहे हैं कि मैं अब कहां हूं? परमात्मा ही है। सूली पर लटका दिया लोगों ने। सूली पर लटके आखिरी क्षण में जीसस ने कहा, हे प्रभु! इन्हें माफ कर देना, क्योंकि ये नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं! क्या कर रहे हैं, यह तो जानते ही नहीं; क्या समझ रहे हैं, यह भी नहीं जानते। गलत ही समझ रहे हैं।
कृष्ण को हमने सूली नहीं लगाई; उसका कारण था। कृष्ण के पीछे कोई पांच-
दस हजार साल की ऐसे लोगों की परंपरा थी, जिन्होंने बहुत बार यह कहा था कि हम परमात्मा हैं। हम इसे सुनने के आदी हो गए थे। जीसस ने पहली दफा, पहली दफा यहूदी जगत में घोषणा की कि मैं और परमात्मा एक हैं। लोगों की बर्दाश्त के बाहर हो गया। ऐसा नहीं कि हम समझ गए कृष्ण की बात, हम भी नहीं समझे। हमने नासमझी और तरह की की। जीसस को सुनने वालों ने नासमझी और तरह की की।
जीसस को सुनने वालों ने पहली दफा यह बात सुनी कि कोई आदमी कहता है, मैं परमात्मा हूं, मैं दिव्य हूं, मैं डिवाइन हूं। उन्होंने कहा, यह तो ज्यादती हो गई! यह आदमी अहंकारी है, सूली पर लटका दो!
हमने बहुत बार यह बात सुनी थी। उपनिषद कह गए थे; वेद कह गए थे; कृष्ण की बात हमें नई नहीं थी। लेकिन हमने भी भूल की। हमने कहा, यह आदमी भगवान है; इसकी पूजा करो।
सूली पर लटकाओ या पूजा करो, दोनों में ही भूल हो गई। उन्होंने भूल की
कि यह आदमी अपने को भगवान कह रहा है, सूली पर लगा दो। हमने भूल की कि यह आदमी अपने को भगवान कहता है, पूजा करो। हम दोनों नहीं समझे।
जीसस का भी मतलब यही था कि जिस दिन तुम भी जानोगे कि तुम कौन हो, तब तुम जानोगे कि तुम भी परमात्मा हो। और कृष्ण का भी मतलब यही है कि अगर तुम खोजोगे, झांकोगे भीतर, तो पाओगे कि तुम भी परमात्मा हो। मैं तुम्हारी संभावनाओं की आहट हूं। मैं तुम्हारी संभावनाओं की सूचना हूं। मैं तुम्हारी पोटेंशियलिटीज की तरफ से बोलता हूं। तुम जो हो सकते हो, मैं उसका प्रतिनिधि हूं।
इस बात को ठीक से समझ लें। कृष्ण कहते हैं, तुम जो हो सकते हो, मैं उसका प्रतिनिधि हूं। तुम जो हो सकते हो, वह मैं हो गया हूं। तुम जो कल होओगे, वह मैं आज हूं। मैं तुम्हारा कल हूं। मैं तुम्हारा भविष्य हूं। मैं तुम्हारे भविष्य की तरफ से बोलता हूं।
लेकिन यह हम न समझे। हम समझे कि कृष्ण कह रहे हैं, वे भगवान हैं; ठीक है; पूजा करो। हम यह न समझे कि वे हमारे भविष्य के प्रतिनिधि हैं, वे हमारी तरफ से बोल रहे हैं। जो हमारे बीज में छिपा है, वह उनका वृक्ष हो गया है। जो हमारे भीतर अभी अप्रगट है, वह उनके भीतर प्रगट हो गया है। जो अभी हम नहीं

जानते अपने ही खजाने को, वह उन्होंने जान लिया है। वे हमारे सारे भविष्य, हमारी सारी संभावनाओं की आवाज हैं।
हमने पूजा की; हम भी गलत समझे। जीसस को सूली लगाई; वे भी गलत समझे। मंसूर को मुसलमानों ने काट डाला; वे भी न समझे। क्योंकि मंसूर ने कहा, अनलहक! मैं ही ब्रह्म हूं। लोगों ने कहा, यह तो ज्यादती है; यह आदमी अहंकारी है।
हमने आज तक दुनिया में दो तरह की भूलें की हैं। न समझे, तो सूली लगा दी। न समझे, तो पूजा कर ली। पूजा में हम सिंहासन पर बिठा देते हैं और दूर कर देते हैं। सूली पर हम सूली पर लटका देते हैं और दूर कर देते हैं। लेकिन दोनों हालत में हम यह बात मानने को राजी नहीं होते कि यह आदमी हमारे भीतर की छिपी हुई संभावनाओं की आवाज है।
इसलिए कृष्ण दूसरे ही वचन में कहते हैं कि जो यह अनुभव कर लेगा, फिर उसे जन्म की जरूरत नहीं; वह फिर मुझको उपलब्ध हो जाता है।
बड़ी कठिनाई है। उनकी कठिनाई भी है। आदमी के पास जो भाषा है, उसी भाषा में बोलना पड़ता है। उस भाषा में मैं के बिना बोले काम नहीं चल सकता, या फिर हमारी समझ में कुछ भी न आएगा।
अगर परमात्मा भी जमीन पर उतरकर खड़ा हो, तो भी हमारी भाषा में ही उसे बोलना पड़ेगा। अगर वह अपनी भाषा में बोलेगा, तो हमें पागल मालूम पड़ेगा। उसे हमारी भाषा में ही बोलना पड़ेगा।
और मजा यह है कि हमारी भाषा में बोले, तो भी हम नहीं समझ पाते; अपनी भाषा में बोले, तो भी नहीं समझ सकते। हमारी भाषा में भी बोले, तो भी हम नहीं समझ पाते; लेकिन अपनी भाषा में बोले, तब तो हम बिल्कुल ही न समझ पाएंगे। हमारी भाषा में बोले, तो कम से कम हम नासमझी कर पाते हैं। वह भी समझने का एक गलत ढंग है। लेकिन कोई शायद समझ ले, इसलिए कृष्ण हमारी भाषा में बोलते हैं, मैं का प्रयोग करते हैं।
कृष्ण जैसे व्यक्तियों के भीतर मैं बचता नहीं। बचे, तो गीता बेकार है; फिर गीता पैदा नहीं हो सकती। लेकिन कृष्ण बार-बार मैं शब्द का प्रयोग करते हैं।
हमारी भी कठिनाई है। जब वे मैं का प्रयोग करते हैं, तो हम समझते हैं, जिस भांति हम मैं का प्रयोग करते हैं, उसी भांति वे भी करते होंगे। हमारे और उनके प्रयोग में बिल्कुल ही कोई साम्य नहीं है।
कृष्ण जब कहते हैं मैं, तो उनके मैं में सब तू समाए हुए हैं। और जब हम कहते हैं मैं, तो हमारे मैं में सब तू अलग हैं, बाहर हैं; कोई भी समाया हुआ नहीं है। कृष्ण के मैं में तू इनक्लूसिव है। हमारे मैं में तू एक्सक्लूसिव है, बाहर है।
हम जब बोलते हैं मैं, तो हम तू से फासला बताने के लिए बोलते हैं। कृष्ण
जब बोलते हैं मैं, तो वे तू को ढांक लेने के लिए बोलते हैं। लेकिन यह हमारे ख्याल में नहीं आ सकता।
उनका मैं इतना बड़ा है कि उस मैं के बाहर और कोई भी नहीं। और हमारा मैं इतना छोटा है कि उस मैं के भीतर हमारे सिवाय और कोई भी नहीं। इस फर्क को ख्याल में रखेंगे, तो बार-बार उनके मैं का प्रयोग ठीक से समझ में आ सकता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।। 10।।
और हे अर्जुन! पहले भी राग, भय और क्रोध से रहित, अनन्य भाव से मेरे में स्थित रहने वाले, मेरे शरण हुए बहुत से पुरुष, ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

और पहले भी राग के ऊपर उठे, क्रोध से मुक्त हुए, मोह के पाश के बाहर, तप
से पवित्र हुए पुरुष मेरे शरीर को उपलब्ध हो चुके हैं!

राग के पार हुए, वीतराग हुए। वीतराग शब्द गहरा है और बहुत अर्थपूर्ण है। वीतराग का अर्थ वैराग्य नहीं है। वीतराग का अर्थ विराग नहीं है। विराग का अर्थ है, राग के विपरीत हुआ। वीतराग का अर्थ है, राग के पार हुआ। राग का अर्थ है, एक आदमी धन के पीछे पागल है। धन को पकड़ता है। धन देखता है, तो लार टपक-टपक जाती है। रात-दिन गिनता ही रहता है! विराग का अर्थ है, धन के विपरीत हुआ; धन से भागता है। कोई धन उसके सामने करे, तो आंख फेर लेता है। कोई रुपया उसके पास रखे, तो छलांग लगाकर खड़ा हो जाता है।
राग धन को पकड़ता है, विराग धन को छोड़ता है। विराग, विपरीत राग है; उलटा हुआ राग है। राग स्त्री के पीछे दौड़ता, पुरुष के पीछे दौड़ता; विराग स्त्री से भागता, पुरुष से भागता; लेकिन दोनों का केंद्र एक ही है। हां, कोई उसकी तरफ भागता, कोई उससे पीठ करके भागता, लेकिन वही दोनों के ध्यान में है। दोनों की अटेंशन, दोनों की एकाग्रता वही है। दोनों की एकाग्रता में भेद नहीं है।
जो आदमी स्त्री के पीछे भागता, उस आदमी की एकाग्रता, और जो आदमी स्त्री को छोड़कर भागता, उस आदमी की एकाग्रता में भेद नहीं है। उनका कनसनट्रेशन एक है--स्त्री। जो आदमी स्त्री के लिए पागल है, उसके मन में भी स्त्री के चित्र चलते हैं। या जो स्त्री आदमी के लिए पागल है, उसके मन में पुरुष के चित्र चलते हैं। और जो छोड़कर भागता है, विपरीत रूप से पागल हो जाता है, उसके मन में भी चित्र चलते हैं।
वीतराग का अर्थ है, पार हुआ। वीतराग तीसरी बात है। न राग, न विराग। जो राग और विराग दोनों के पार होता है, वह वीतराग है। जिसके लिए बात बस व्यर्थ हो जाती है।
ध्यान रहे, जो आदमी कहता है, मैं धन का त्याग कर रहा हूं, धन उसे व्यर्थ नहीं हुआ; धन उसे अभी भी सार्थक है। जो आदमी कहता है, मैं लाखों त्याग किया हूं, उसके लिए भी व्यर्थ नहीं हुआ; अभी उसके लिए भी धन सार्थक है, मीनिंगफुल है। हां, मीनिंग बदल गया, अर्थ बदल गया। पहले तिजोरी में बंद करने का अर्थ था, अब त्याग करने का अर्थ है; लेकिन अर्थ है। जो आदमी तिजोरी में बंद कर रहा था, वह भी कह रहा था, मेरे पास इतने लाख हैं; और जिस आदमी ने त्याग किया, वह भी कह रहा है, मैंने इतने लाख का त्याग किया। लेकिन धन दोनों के लिए मूल्यवान है, वेल्युएबल है।
वीतराग वह है, जो कहता है, धन में कुछ अर्थ ही नहीं। न मैं तिजोरी में बंद करता, न मैं त्यागता। धन में कुछ अर्थ नहीं। जिसके लिए धन बस मिट्टी जैसा हो गया। जिसके लिए धन मिट्टी जैसा हो गया, वह त्याग के अहंकार से भी नहीं भरता है।
बड़ी मीठी कथा है, याज्ञवल्क्य घर छोड़कर जाने लगा। उसकी दो पत्नियां हैं, कात्यायिनी और मैत्रेयी। उसने उन दोनों को बुलाकर कहा कि मेरी धन-संपदा आधी-आधी बांट देता हूं। मैं जाता हूं अब त्याग करके। अब मैं प्रभु की खोज में निकलता हूं।
मैत्रेयी राजी हो गई; साधारण स्त्री थी। साधारण स्त्री का मतलब, जिसे पति भी इसीलिए मूल्यवान होता है कि उसके पास संपत्ति है। ठीक है, पति जाता है, संपत्ति दे जाता है--कुछ भी नहीं जाता। मैत्रेयी राजी हो गई। वह ठीक स्त्री थी।
लेकिन कात्यायिनी ने एक सवाल उठाया। वह साधारण स्त्री न थी। कात्यायिनी ने कहा कि जो धन तुम्हें व्यर्थ हो गया, तो तुम मुझे किसलिए दे जाते हो? अगर व्यर्थ है, तो बोझ मुझे मत दे जाओ। और अगर सार्थक है, तो तुम भी छोड़कर क्यों जाते हो?
कात्यायिनी ने बड़ा ठीक सवाल उठाया। अगर व्यर्थ है, राख है, धूल है, तो मुझे देकर इतने गौरवान्वित क्यों होते हो? अगर सार्थक है, तो छोड़कर कहां जाते हो? रुको! अगर सार्थक है, तो हम साथ-साथ भोगें। और अगर व्यर्थ है, तो मुझे भी उसी धन की खबर दो, जो सार्थक है, जिसकी खोज में तुम जाते हो। याज्ञवल्क्य मुश्किल में पड़ गया होगा। अभी याज्ञवल्क्य सिर्फ विराग में जा रहा था। कात्यायिनी ने उसे वीतराग के डायमेंशन में, वीतराग के आयाम में उन्मुख किया। अभी उसे सार्थक था धन, इसीलिए तो बांटने को उत्सुक था।

अभी कुछ न कुछ अर्थ था उसे धन में। छोड़ता था जरूर, लेकिन सार्थक था। अभी वह विराग की दिशा में मुड़ता था। लेकिन कात्यायिनी ने उसे एक नई दिशा में, एक नए आयाम का इशारा किया। उसने कहा कि छोड़कर जाते हो, देकर जाते हो, गौरवान्वित हो कि काफी दे जा रहे हो, तो फिर तुम छोड़कर जाते नहीं। धन तुम्हें सार्थक है; धन तुम्हें पकड़े ही हुए है!
कृष्ण कहते हैं, जो राग के पार हो जाता है--बियांड। वीतराग का अर्थ है, बियांड अटैचमेंट; डिटैचमेंट नहीं। वीतराग का अर्थ है, आसक्ति के पार; विरक्त नहीं। विरक्त विपरीत आसक्ति में होता है, पार नहीं होता। वह एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव पर चला जाता है; दोनों ध्रुव के पार नहीं होता। वह एक द्वंद्व के छोर से द्वंद्व के दूसरे छोर पर सरक जाता है, लेकिन द्वंद्वातीत नहीं होता।
कृष्ण कहते हैं, जो वीतराग हो जाता है, वह मेरे शरीर को उपलब्ध हो जाता है। वीतराग, वीतभय, वीतक्रोध; जो इन सबके पार हो जाता है। वीतलोभ। वह तीसरा ही आयाम है। थर्ड डायमेंशन है।
तीन आयाम हैं जगत में। किसी चीज के प्रति राग, अर्थात उसे पास रखने की इच्छा। किसी चीज के प्रति विराग, अर्थात उसे पास न रखने की इच्छा। और किसी चीज के प्रति वीतराग, अर्थात वह पास हो या दूर, अर्थहीन; उससे भेद नहीं पड़ता।
बुद्ध ने कहा है, राग का अर्थ है, प्रियजन घर आता, सुख मालूम पड़ता। अप्रियजन घर आ जाता, तो दुख मालूम पड़ता। मित्र घर से जाता, तो दुख मालूम पड़ता। शत्रु घर से जाता, तो सुख मालूम पड़ता। शत्रु के प्रति तो सभी विरागी होते हैं; मित्र के प्रति सभी रागी होते हैं।
वीतराग का अर्थ है, जिसका न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। वीतराग का अर्थ है, जिसका चित्त किसी भी चीज से, किसी भी कारण से बंधा हुआ नहीं है।
मित्रता से भी बंधा हुआ नहीं; शत्रुता से भी बंधा हुआ नहीं।
और ध्यान रहे, मित्र भी बांध लेते हैं और शत्रु भी बांध लेते हैं।
मित्रों की भी याद आती है, शत्रुओं की भी याद आती है। सच तो यह है, शत्रुओं की थोड़ी ज्यादा आती है। मित्रों को भूलना आसान; शत्रुओं को भूलना कठिन है।
राग को भूलना आसान; विराग को भूलना कठिन है, बहुत कठिन है। प्रेम को भूलना आसान; घृणा को भूलना कठिन है। शत्रु पीछा करते हैं, छाया की भांति पीछे होते हैं और बदला लेते हैं। सब विराग बदला लेता है।
इसलिए एक बहुत अदभुत घटना घटती है मनुष्य के मन में। और वह घटना यह घटती है कि जो धन को पकड़ते हैं, वे कभी-कभी इंटरवल्स में, बीच-बीच में छुट्टी भी लेते हैं। बीच-बीच में उनका मन आता है, छोड़ो सब; कुछ सार नहीं है। तेईस घंटे दुकान पर होते हैं; कभी घंटेभर मंदिर भी हो आते हैं।
लेकिन ध्यान रहे, इससे उलटी घटना भी घटती है। जो चौबीस घंटे मंदिर में रहता है, उसका मन भी घंटे दो घंटे को बाजार में आ जाता है। वह भी छुट्टी लेता है। भला हिम्मत न हो, खुद न आ पाता हो, लेकिन मन आ जाता है।
विरागी भी छुट्टी पर होते हैं। चौबीस घंटे विरागी होना मुश्किल है। चौबीस घंटे रागी होना मुश्किल है। क्योंकि मन थक जाता है, ऊब जाता है एक ही चीज से। इसलिए जो रागी हैं, वे अक्सर विराग के सपने देखते हैं; और जो विरागी हैं, वे राग के सपने देखते हैं। जो रागी हैं, वे कई बार सोचते हैं, सब छोड़-छाड़कर चले जाएं; सब बेकार है। जो विरागी हैं, वे कई बार सोचते हैं कि बड़ी मुश्किल में पड़ गए; नाहक छोड़-छाड़कर आ गए। इसमें कुछ सार नहीं है, इस छोड़ने-छाड़ने में कुछ अर्थ नहीं है।
मन द्वंद्वों में डोलता रहता है। विश्राम चाहता है मन। इसलिए बुरे आदमियों के भी अच्छे क्षण होते हैं, और अच्छे आदमियों के भी बुरे क्षण होते हैं। ऐसा बुरा आदमी खोजना मुश्किल है, जिसके अच्छे क्षण न होते हों। और कभी-कभी बुरे आदमी अच्छे क्षणों में साधुओं को पार कर जाते हैं। और अच्छे आदमी भी खोजने मुश्किल हैं, जिनके बुरे क्षण न होते हों। और अच्छे आदमी भी, जब उनके बुरे क्षण होते हैं, तो असाधुओं को पार कर जाते हैं। उसका कारण है। क्योंकि जो आदमी तेईस घंटे कोशिश करके अच्छा है, जब वह
एक घंटे बुरा होगा, तो साधारण बुरा नहीं होगा। तेईस घंटे का बदला एक घंटे

में चुकाना पड़ेगा। और जो आदमी तेईस घंटे बुरा है, वह जब एक घंटे के लिए अच्छा होगा, तो साधारण अच्छा नहीं होगा; अतिशय अच्छा हो जाएगा। तेईस घंटे की रुकी हुई अच्छाई बदला मांगती है।
कृष्ण इन दोनों की बात नहीं कर रहे हैं। कृष्ण कहते हैं, वीतराग।
वीतराग को कभी छुट्टी नहीं लेनी पड़ती है, क्योंकि वीतराग द्वंद्व में नहीं होता। इसलिए सिर्फ वीतरागी पुरुष चौबीस घंटा एक-रस हो सकता है; न रागी हो सकता है, न विरागी हो सकता है। सिर्फ वीतराग एक-रस हो सकता है।
वीतराग ऐसा होता है, जैसे हम सागर को कहीं से भी चखें, और वह नमकीन है।
बस, ऐसा वीतरागी होता है; उसे हम कहीं से भी चखें, वह एक ही स्वाद है उसका। वह वेश्या के गृह में बैठकर भी वही होता है, जो प्रभु के मंदिर में बैठकर होता है। वह वेश्यागृह से भी नहीं डरता, मंदिर के लिए भी लोलुप नहीं होता।
असल में इतना आश्वस्त होता है अपने में कि अब उसका न कोई भय है, न कोई लोभ है। इतना आश्वस्त, अपने में इतना भरोसे से भरा हुआ कि छुट्टी का उसे डर ही नहीं है।
एक बार ऐसा हुआ कि बुद्ध के एक भिक्षु को, गांव में गया था, एक वेश्या
ने निमंत्रण दे दिया। और कहा कि इस वर्षाकाल में भिक्षु, मेरे ही घर चार महीने रुक जाओ! साधारण भिक्षु होता, विरागी होता, दुबारा लौटकर उस घर के सामने न जाता। वेश्या ने सोचा था कि भिक्षु इनकार कर देगा। कहेगा, तू वेश्या! और मैं तेरे घर रुकूं? नहीं; यह नहीं हो सकता। कहां भिक्षु, कहां संन्यासी, कहां वेश्या का घर!
उस भिक्षु ने कहा, आ जाऊंगा, लेकिन बुद्ध से आज्ञा लेनी पड़ेगी। तो मैं
कल आज्ञा लेकर जवाब दे दूंगा। उस वेश्या ने कहा, और अगर बुद्ध ने आज्ञा न दी? उस भिक्षु ने कहा, इतना आश्वस्त हूं अपने प्रति कि बुद्ध इनकार नहीं करेंगे। कहा, इतना आश्वस्त हूं अपने प्रति कि बुद्ध इनकार न करेंगे, बुद्ध मुझे जानते हैं। मंदिर और वेश्यागृह में मेरा स्वाद एक ही रहेगा। उसका भय न कर। नियम है, इसलिए आज्ञा मांगनी जरूरी है, अन्यथा कोई जरूरत नहीं है; मैं भी रुक जा सकता हूं।
दूसरे दिन भिक्षुओं के बीच उस भिक्षु ने खड़े होकर कहा कि एक बहुत मजेदार घटना घट गई। राह पर जाता था, एक वेश्या ने निमंत्रण दिया कि चार महीने वर्षाकाल, आने वाले वर्षाकाल में उसके घर मेहमान बनूं। आज्ञा मांगता हूं। बुद्ध ने कहा, आज्ञा मांगने की क्या जरूरत? जो संन्यासी वेश्या से डर जाए, वह संन्यासी ही नहीं है। जाओ! जब उसने निमंत्रण दिया, तो विश्राम करो। चार महीने वहीं रुको।
अनेक भिक्षुओं के प्राणों में लहरें दौड़ गईं। सुंदरी थी बहुत वेश्या। सारे भिक्षुओं की नजर उस पर थी। गांव में गुजरते थे, तो किसी न किसी बहाने उस रास्ते जरूर निकल जाते थे; उस रास्ते पर भिक्षा जरूर मांग लेते थे। कौंध गई होंगी बिजलियां। मुश्किल खड़ी हो गई।
एक भिक्षु ने खड़े होकर कहा कि यह तो अनुचित है, संन्यासी का और वेश्या
के घर में रुकना! और आप आज्ञा देते हैं?
बुद्ध ने कहा, अगर तुम आज्ञा मांगो, तो नहीं दूंगा। क्योंकि संन्यासी
और वेश्या से डरे, तो फिर वेश्या जीत गई, फिर हम हार गए। यह तो चुनौती है; चैलेंज है। एक वेश्या ने निमंत्रण दिया और वेश्या नहीं डरती कि संन्यासी उसे बदल लेगा और संन्यासी डरे कि वेश्या उसे बदल लेगी, तो हम हार गए। तुम्हें आज्ञा न दूंगा। लेकिन जिसने आज्ञा मांगी है, उसने कहा कि बड़ी मजेदार घटना घट गई है, एक वेश्या ने निमंत्रण दिया है। उसे आज्ञा है। वह अपने प्रति आश्वस्त है।
चार महीने वह भिक्षु वेश्या के घर था। वेश्या जैसा भोजन कराती, वैसा भोजन कर लेता। वेश्या भी बहुत चिंतित हुई। नाचने लगती, तो नाच देख लेता। गीत गाने लगती, तो गीत सुन लेता। वेश्या बहुत चिंतित हुई। सब उपाय उसने किए। अर्धनग्न होकर नाचती, तो भी देखता रहता। बहुत मुश्किल में पड़ी।
एक महीना बीता, दो महीने बीते। वेश्या सब तरह की कोशिश करके थक गई; लेकिन न तो उस भिक्षु ने कोई रस लिया, और न विरस प्रकट किया। न तो उसने यह कहा कि सुंदर; खूब। न तो उसने वाह-वाह की; न उसने यह कहा कि बंद करो, बेकार

है, हमें ठीक नहीं लगता; आंख बंद की। नहीं, यह भी नहीं किया। नाचती, तो देखता। न नाचती, तो कभी यह भी न कहता कि आज नाचो! आज नाचोगी नहीं? बस, घर में ऐसा रहा, जैसे हो ही न।
दो महीने बीत गए, वेश्या उसके पैरों पर गिर गई और उसने कहा कि मुझे राज बताओ। तुम तो कंपते ही नहीं! यहां न वहां। अगर तुम विपरीतता भी दिखाओ, तो मैं कुछ कोशिश करूं। अगर तुम यह भी कहो कि यह गलत है, तो भी कुछ रास्ता बने। तुम कुछ तो कहो। तुम कोई वक्तव्य तो दो! तुम कोई निर्णय तो लो। तुम इस पक्ष में या उस पक्ष में कुछ भी तो कहो
उस भिक्षु ने कहा, पक्ष में गया कि तू जीती और मैं हारा। हम निष्पक्ष
ही रहेंगे। तुझे जो करना है, तू कर; हमें जो करना है, हम करते हैं। जब तू हमारे बाबत कोई पक्ष और विपक्ष नहीं लेती, हम क्यों लें?
चार महीने बीत गए। भिक्षुओं में तो बड़ी बेचैनी थी। न मालूम कितनी खबरें भिक्षु लेकर बुद्ध के पास आते। कोई खबर लाता कि गया वह आदमी। हमने नाचते देखा है कि वह वेश्या नाच रही है और वह देख रहा है! कोई कहता कि सुना आपने! वेश्या उसे बहुत ही मिष्ठान्न खिला रही है और वह खा रहा है! कोई कहता, सुना आपने! वेश्या ने उसे रेशम के वस्त्र दे दिए हैं और वह पहने हुए है! कोई कहता, सुना आपने! सब नियम, सब मर्यादाएं टूट गई हैं।
बुद्ध सुनते और कहते कि ठीक है। लेकिन तुम चिंतित क्यों हो? तुम उस भिक्षु में उत्सुक हो या उस वेश्या में? और डूबेगा वह, तो वह डूबेगा; तुम्हारी परेशानी क्या है? खोएगा, तो वह खोएगा; तुम इतने आतुर क्यों हो? चार महीने बाद वह भिक्षु आया, लेकिन अकेला नहीं था। साथ में एक भिक्षुणी भी थी; वह वेश्या भिक्षुणी हो गई थी। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को कहा कि देखो! भिक्षु लौट आया, साथ में एक भिक्षुणी भी लौट आई है। वेश्या से पूछा कि तुझे क्या हुआ? उसने कहा, हुआ कुछ भी नहीं; मैं हार गई। पहली बार मैं कहीं हारी। सदा मैं जीतती रही; अब मैं हार गई। और अकंप इस आदमी को जाना। वीतराग इस मनुष्य को जाना। और इसकी वीतरागता में जो शांति और जो आनंद अनुभव हुआ, वही खोजने मैं भी चली आई हूं। बुद्ध ने कहा, देखो! संन्यासी जीतकर लौट आया है, वीतराग था, इसलिए। तुम हार जाते। तुम विरागी हो, तुम्हारे हारने का डर था।
कृष्ण कहते हैं, जो वीतराग होता, वह मेरे शरीर को उपलब्ध हो जाता है। इसमें बड़े मजे की बात है। वे कह रहे हैं, मेरे शरीर को। अच्छा न होता क्या कि वे कहते, मेरी आत्मा को! लेकिन वे कहते हैं, मेरे शरीर को, टु माई बाडी।
अच्छा होता न कि वे कहते, मेरी आत्मा को उपलब्ध हो जाता है। लेकिन कृष्ण कहते हैं, मेरे शरीर को उपलब्ध हो जाता है।
क्या राज है? राज बड़ा है।
यह जो ब्रह्मांड है, यह जो विश्व है, यह शरीर है परमात्मा का। यह जो दृश्य चारों ओर फैला है, यह शरीर है। ये चांद-तारे, यह सूरज, यह अरबों-अरबों प्रकाश वर्ष की दूरियों तक फैला हुआ एक्सपैंशन जो है, यह जो विस्तार है... । क्या कभी आपने सोचा कि ब्रह्म शब्द का अर्थ होता है, विस्तार, वृहत, जो फैलता ही चलता गया; जिसके फैलाव का कोई अंत नहीं है। ब्रह्म बड़ा साइंटिफिक शब्द है, बहुत वैज्ञानिक--धार्मिक बहुत कम। ब्रह्म शब्द धार्मिक जरा भी नहीं, बिल्कुल वैज्ञानिक टरमिनालाजी है। ब्रह्म का मतलब है, जो फैलता ही गया है, दि एक्सपैंडिंग, जो फैलता ही चला जाता है; जिसके फैलाव का कोई अंत ही नहीं है। इस फैले हुए का नाम ब्रह्म है।
इस फैले हुए, दिखाई पड़ने वाले अस्तित्व को कृष्ण कहते हैं, मेरा शरीर।
जो वीतराग हो जाता है, वह मेरे शरीर को उपलब्ध हो जाता है।
क्यों? आत्मा को तो हम उपलब्ध ही हैं, हमारी भूल सिर्फ शरीर की है।
कृष्ण की आत्मा को तो हम अभी भी उपलब्ध हैं, लेकिन हम अपने-अपने शरीरों में अपने को बंद मान रहे हैं, वह हमारी भूल है। इसलिए कृष्ण आत्मा की बात नहीं करते। उसको तो हम उपलब्ध ही हैं, सिर्फ यह शरीर की भूल भर टूट जाए हमारी।
हमें किसी दिन यह पूरा ब्रह्मांड अपना शरीर मालूम पड़ने लगे, बस।
आत्मा तो हम अभी भी हैं। आत्मा तो हमारी इस अज्ञान के क्षण में भी कृष्ण का हिस्सा है। हमारी भ्रांति है शरीर की सीमा की। अगर शरीर की सीमा

की भ्रांति टूट जाए, और हम कृष्ण के शरीर को--कृष्ण का शरीर अर्थात ब्रह्मांड को--उपलब्ध हो जाएं, तो बात पूरी हो जाती है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, मेरे शरीर को उपलब्ध हो जाता है।
शरीर का क्या अर्थ है? शरीर का अर्थ है, आत्मा का आवरण। शरीर का अर्थ है, आत्मा का गृह। अंग्रेजी का शब्द बाडी बहुत अच्छा है। जिसके भीतर आत्मा एंबाडीड है, जिसके भीतर शरीर छिपा है।
यह जो हमारा शरीर, हमें लगता है, मेरा शरीर! यह हमें क्यों लगता है? राग के कारण, विराग के कारण। अगर राग और विराग दोनों छूट जाएं, तो यह मेरा शरीर है, ऐसा नहीं लगेगा। तब सब शरीर मेरे हैं। तब चांद-तारे मेरे शरीर के भीतर हो जाएंगे; तब मेरी जो चमड़ी है, वह असीम को छू लेगी।
राम कहते थे कि मैंने चांद-तारों को अपने शरीर के भीतर परिभ्रमण करते देखा। पागलपन की बात है। बिल्कुल पागलपन की बात है! लेकिन ठीक कहते थे। जब भी कोई राग और विराग के एक क्षण को भी पार हो जाए, उसी क्षण अपने शरीर का स्मरण भूल जाता है, बाडीलेसनेस आ जाती है, शरीरहीन हो जाता है। और ये दोनों बातें एक ही हैं।
ब्रह्म के शरीर को उपलब्ध होना या अपने शरीर को भूल जाना, एक ही बात है। जो व्यक्ति अपने शरीर की सीमा को भूल जाता है, वह ब्रह्म के शरीर की सीमा के स्मरण से भर जाता है।
यह शरीर मेरा है, यह हमारे राग और विराग के कारण है। जब तक कोई चीज मेरी है और कोई चीज तेरी है, तब तक यह शरीर मेरा है। अगर ठीक से समझें, तो मेरे का भाव ही मेरा शरीर है। बहुत मनोवैज्ञानिक अर्थों में मेरे का भाव ही मेरा शरीर है। जहां तक मेरे का भाव है, वहां तक शरीर है। अगर मेरे का भाव बड़ा हो जाए, इतना बड़ा हो जाए कि वह ब्रह्म को घेर ले, ब्रह्मांड के साथ एक हो जाए, तो फिर सभी कुछ मेरा शरीर है। वस्तुतः सभी कुछ शरीर है--वस्तुतः। लेकिन हमारी एक भ्रांति है।
किस जगह आप अपने शरीर को समाप्त मानते हैं? किस जगह? चमड़ी पर अपने शरीर को आप समाप्त मानते हैं। लेकिन आपकी चमड़ी हवा के बिना एक क्षण जी सकती है? नहीं जी सकती। तो हवा भी आपकी चमड़ी के पार की एक पर्त है आपके शरीर की। उसके बिना आप नहीं जी सकते। हवा की पर्त अगर हटा ली जाए, तो आप जी नहीं सकते। जिसके बिना आप नहीं जी सकते, वह आपका शरीर है। जिसके बिना जीना मुश्किल हो जाएगा, वह आपका शरीर है।
रोआं-रोआं श्वास ले रहा है। आप इस भ्रांति में मत रहना कि आपकी सिर्फ नाक ही श्वास ले रही है। अगर आपके पूरे शरीर को पेंट कर दिया जाए, और सब रोएं बंद कर दिए जाएं, और सिर्फ नाक खुली छोड़ दी जाए, तो आप पांच-सात मिनट में मर जाएंगे। कितना ही फिर आप जोर से श्वास लो, कुछ न होगा। क्योंकि रोआं-रोआं श्वास ले रहा है; पूरा शरीर श्वास ले रहा है।
यह चारों तरफ हवा की जो पर्त है, वह भी आपकी चमड़ी है। उसके बिना आप नहीं जी सकते। दो सौ मील तक पृथ्वी के चारों तरफ हवा की पर्त है। लेकिन वह हवा की पर्त भी नहीं जी सकती, अगर उसके पास सूरज की किरणों का जाल न हो। वह हवा भी नहीं जी सकती। फिर दस करोड़ मील दूर तक सूरज की किरणों का जाल है; वह भी आपकी चमड़ी है। उसके बिना भी आप नहीं जी सकते।
वहां सूरज ठंडा हो जाए, तो हम यहां अभी ठंडे हो जाएंगे। हमको पता भी नहीं चलेगा कि हम ठंडे हो गए, क्योंकि पता चलने के लिए भी हमारा बचना जरूरी है। इसलिए सूरज जब ठंडा होगा, तो हम लिखने के लिए बचेंगे नहीं; अखबार में खबर न निकाल पाएंगे कि सूरज ठंडा हो गया। सूरज ठंडा हुआ कि हम ठंडे हुए। सूरज दस करोड़ मील दूर है, लेकिन सूरज की गर्मी हमारी पर्त है शरीर की। हम एंबाडीड हैं; सूरज की पर्त के भीतर हम हैं; एक बड़ा शरीर है।
लेकिन सूरज भी न बचे, अगर महासूर्यों से उसे दिन-रात शक्ति न मिलती हो। हमारा सूरज बड़ा छोटा है। ऐसे बहुत बड़ा है; हमसे बहुत बड़ा लगता है। पृथ्वी से कोई साठ हजार गुना बड़ा है। लेकिन और सूर्यों के मुकाबले बहुत मीडियाकर है, बहुत छोटा सूरज है। रात को जो तारे दिखाई पड़ते हैं, वे महासूर्य हैं। हमारा सूरज कोई तीन-चार अरब महासूर्यों की भीड़ में एक छोटा- सा सूरज है, बहुत मीडियाकर, बहुत मध्यमवर्गीय। कोई बहुत बड़ा सूर्य नहीं

है। उससे करोड़ों बड़े सूर्य हैं। अगर उन सूर्यों से उसे दिन-रात ऊर्जा न मिलती हो, तो वह कभी का ठंडा हो जाए। वे भी हमारा शरीर हैं।
हमारा शरीर समाप्त कहां होता है? जहां ब्रह्मांड समाप्त होता हो, वहीं समाप्त होता है। उसके पहले समाप्त नहीं होता।
एक छोटे-से फूल के खिलने में पूरा ब्रह्मांड सहयोगी है। एक छोटा-सा फूल खिलता है घास का। इस घास के फूल के खिलने में अरबों-खरबों मील दूर बैठे हुए महासूर्यों का हाथ है; वे इसका शरीर हैं। उनके बिना यह न हो सके।
तों कृष्ण कहते हैं कि जो वीतराग हो जाता है, जो मेरे-तेरे के भाव से
उठ जाता है; जो आकर्षण-विकर्षण के पार हो जाता है, वह मेरे शरीर को उपलब्ध हो जाता है।
मेरे शरीर का अर्थ है, समस्त ब्रह्मांड उसका शरीर बन जाता है। और जब ब्रह्मांड शरीर बनता है, तभी हमें ब्रह्म का पता चलता है कि हम कौन हैं! मैं कौन हूं, हमें तब तक पता न चलेगा--निश्चित ही, जिन्हें अपने शरीर का भी पता नहीं, उन्हें अपनी आत्मा का क्या पता होगा? जिन्हें शरीर का ही पता नहीं, उन्हें आत्मा का पता न हो सकेगा। जो अपने शरीर के संबंध में ही अज्ञानी हैं, वे अपनी आत्मा के संबंध में ज्ञानी कैसे हो सकेंगे?
इसलिए कृष्ण का कहना बहुत अर्थपूर्ण है कि वे मेरे शरीर को उपलब्ध हो जाते हैं। और अर्जुन से वे कहते हैं कि तुझसे जो मैं कह रहा हूं, उससे पहले भी जिन-जिन पुरुषों ने वीतरागता पाई, वे मेरे शरीर को उपलब्ध हो गए हैं, वे मेरे साथ एक हो गए हैं।
दुई, दो का भाव भ्रम है, लेकिन बड़ा गहरा है। बड़ा गहरा है। लगता है कि हम अलग हैं। यह हमारा अलग होना बड़ी से बड़ी भ्रांति, दि ग्रेटेस्ट इलूजन है। हम अलग जरा भी नहीं हैं। एक क्षण को भी नहीं हैं। एक क्षण को भी हमें अलग कर दिया जाए, और हम विलीन हो जाएंगे; हम बचेंगे नहीं।
हमारे अलग होने की भ्रांति वैसी है, जैसे कि नदी की छाती पर एक बबूला।
पानी का बबूला उठ आया। तैर रहा है, चल रहा है, फिर रहा है, सूरज की किरणों में चमक रहा है। उस बबूले को भी लगता है, मैं अलग।
जरा भी अलग नहीं है। जरा अलग करें नदी से और पता चलेगा, कहीं भी न रहा।
नदी के पानी की जरा पतली-सी पर्त उसका शरीर थी; वह पानी में खो गई। हवा का छोटा-सा आयतन उसके भीतर कैद था, वह मुक्त होकर हवा में मिल गया। बस, हम नदी पर तैरते हुए बबूलों की भांति अलग हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि जो तुझसे पहले भी, कभी भी, जिसने भी जान लिया
है इस सत्य को, वह मेरे शरीर को, वह ब्रह्मांड के साथ एक हो जाता है।

प्रश्नः ओशो, अनन्य भाव से मेरी शरण हुए और ज्ञानरूपी तप से शुद्ध हुए--इन दो दशाओं का अर्थ और अधिक स्पष्ट करने की कृपा करें।

अनन्य रूप से मेरी शरण हुए--बहुत मजेदार है, बहुत कंट्राडिक्टरी है, बहुत विरोधाभासी है।
धर्म के सभी सत्य पैराडाक्सेस हैं, विरोधाभासी हैं। विरोध आभास भर है।
कृष्ण कहते हैं, अनन्य रूप से मेरी शरण हुए।
अनन्य का अर्थ है, जो अपने को मुझसे अन्य न माने। जो मुझको और अपने को भिन्न न माने, अन्य न माने, अदरनेस न रहे--अनन्य हो। अनन्य भाव से मेरे साथ एक हो गया हो।
लेकिन फिर दूसरी बात कहते हैं। जब एक ही हो गया हो, तो शरण होने की गुंजाइश कहां रही! क्योंकि शरण तो हम उसी के जा सकते हैं, जो अन्य है, दि अदर। शरण तो हम उसी की जा सकते हैं, जो दूसरा है। जो दूसरा नहीं है, उसकी शरण हम कैसे जाएंगे?
कृष्ण कहते हैं, अनन्य रूप से मेरी शरण। एक हो जाओ मुझसे और मेरी शरण आ जाओ। बड़ी उलटी बात कहते हैं। एक हो जाएंगे, तो शरण कौन जाएगा? और किसकी शरण जाएगा? इसीलिए मजेदार है यह वक्तव्य।

असल में जिस दिन न वह बचे, जो शरण जाता है; और न वह बचे, जिसकी शरण जाता है, उसी दिन शरणागत होता है व्यक्ति। उसी दिन शरण पूरी हुई। जब तक आप बचे हैं और दूसरा बचा है, तब तक आप सिर रख दें चरणों में, आपका अहंकार चरणों में नहीं रखा जाता; वह भीतर खड़ा रहता है।
मंदिरों में जाकर देखें; सिर रखे हैं पत्थरों के चरणों में और अहंकार अकड़कर खड़े हैं। सिर जमीन पर झुका है, अहंकार आकाश में उठा है। सिर चरणों में झुका है, अहंकार चारों तरफ देख रहा है कि कोई देखने वाला भी मंदिर में है या नहीं? हम कितनी शरण चले गए हैं! अनन्य भाव से, जब न मैं बचे, न तू बचे, तभी शरण होती है।
शरण का अर्थ, समर्पण, सरेंडर। जब तक मैं बचता है, तब तक समर्पण नहीं होता। इसलिए ध्यान रहे, कोई आदमी यह नहीं कह सकता कि मैं शरण जाता हूं। कोई आदमी शरण नहीं जा सकता, क्योंकि जब तक कहने वाला मौजूद है कि मैं शरण जाता हूं, तब तक शरण नहीं होगी। जब मैं नहीं रह जाता, तब आदमी अनुभव करता है कि शरण जा चुका, शरणागत हो गया।
अनन्य भाव से, नहीं कोई दूसरा है उस तरफ, न कोई यहां, जिस दिन कोई ऐसी भाव-दशा में आता है--जो मैंने कहा कि वीतराग होने से फलित होती है--उस दिन शरणागति, उस दिन शरण, उस दिन वह मेरी शरण आ पाता है, कृष्ण कहते हैं। मेरी शरण, वही भाषा उपयोग करनी पड़ रही है, जो नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वहां कोई मेरा-तेरा नहीं है।
दूसरी बात वे कहते हैं, ज्ञानरूपी तप से शुद्ध हुए।
यह भी बहुत मजेदार वक्तव्य है, यह भी पैराडाक्सिकल है--ज्ञानरूपी तप
से शुद्ध हुए। ज्ञानरूपी तप, इसे जोड़ने की क्या जरूरत थी? तप से शुद्ध हुए, इतना कहना काफी न होता क्या?
अक्सर ऐसा होता है कि अज्ञानी बहुत तप कर पाते हैं। असल में अहंकारी बहुत तप कर सकता है, क्योंकि अहंकारी हठी होता है। वह कहता है कि हम रहेंगे साठ दिन भूखे, तो रह सकता है। जरा अहंकार कमजोर हो, तो साठ दिन भूखा रहना मुश्किल हो जाए। अहंकार कमजोर हो, तो साठ दिन भूखा रहना मुश्किल हो जाए; अहंकार मजबूत हो, तो आदमी साठ दिन भूखा रह सकता है।
अहंकारी तय कर ले कि हम पैर पर ही खड़े रहेंगे, अब कभी बैठेंगे न, तो खड़ा
रह सकता है। गैर-अहंकारी तय कर ले, तो थोड़ी-बहुत देर में सोचेगा कि बहुत से बहुत लोग यही कहेंगे न कि अपना वचन पूरा नहीं कर पाया! बैठ जाते हैं। अहंकारी कहेगा कि अब चाहे प्राण चले जाएं, लेकिन अब बैठ नहीं सकता। एक अहंकार की कसम हो गई।
तो ध्यान रहे, अहंकारी अक्सर तपश्चर्या में उत्सुक हो जाते हैं।
इसलिए तपस्वी अगर अहंकारी मिलते हों, तो आश्चर्य नहीं है। आमतौर से तपस्वी अहंकारी मिलते हैं। उसका कारण यह नहीं कि तपस्वी अहंकारी होते हैं, उसका बुनियादी कारण यह है कि अहंकारी आसानी से तपस्वी हो जाते हैं। असल में अहंकार जो भी जिद्द पकड़ ले, उसको पूरा करने की कोशिश करता है।
तो सौ में अट्ठानबे तपस्वियों का मौका यह है कि वे अहंकार से तपश्चर्या के रास्ते पर आते हैं। इसलिए हम तपस्या की खूब प्रशंसा करते हैं, शोभायात्रा निकालते हैं। कोई उपवास कर ले, तो शोभायात्रा निकलती है, जुलूस निकलता है; बैंड-बाजे बजाते हैं।
उपवास के लिए बैंड-बाजों की कोई जरूरत नहीं। लेकिन जिस अहंकार से उपवास फलित हुआ है, वह बैंड-बाजे के बिना शिथिल हो जाएगा। उसके लिए बैंड-बाजा बिल्कुल जरूरी है, उसको जगाए रखने के लिए, फुसलाने के लिए। क्योंकि उस आदमी ने उपवास के लिए उपवास नहीं किया। अंत में यह बैंड-बाजा बजने वाला है, बहुत गहरे में इसकी आकांक्षा है।
तो हम अहंकार को प्रोत्साहित करते हैं, क्योंकि अहंकार के आधार पर तप
हो सकता है। लेकिन जो तप अहंकार के आधार पर होता है, उससे आत्मा पवित्र नहीं होती और अपवित्र हो जाती है।
इसलिए कृष्ण को कंडीशन लगानी पड़ी, ज्ञानरूपी तप। अकेला तप काफी नहीं है; क्योंकि अज्ञानरूपी भी हो सकता है। अकेला तप काफी नहीं है, तप अज्ञान

से भी निकल सकता है। और जब तप अज्ञान से निकलता है, तो आत्मा को और भी अपवित्र कर जाता है। ज्ञान से निकलना चाहिए।
ज्ञान से निकलने का क्या अर्थ हुआ? ज्ञान से तप कैसे निकलेगा? अज्ञान
से तो निकल सकता है; बहुत आसान है। हमारी पूरी जिंदगी, अज्ञान के केंद्र, अहंकार पर खड़ी होती है।
बाप अपने बेटे से कहता है कि देखो पड़ोस का लड़का आगे निकला जा रहा है! हमारे कुल की इज्जत खतरे में है। बेटे के अहंकार को जगाता है। बेटा और रातभर पढ़ने में लग जाता है कि किसी तरह गोल्ड मेडल ले आए, क्योंकि इज्जत का सवाल है।
हम अच्छी बात लाने के लिए भी अहंकार का उपयोग करते हैं। बाप अपने बेटे
से कहता है कि देखो, ऐसा आचरण करोगे, तो हमारे कुल की बड़ी बदनामी होगी। आचरण बुरा है, ऐसा नहीं कह रहा है। वह यह कह रहा है कि ऐसा आचरण करने से कुल की बड़ी बदनामी होगी। लोग क्या कहेंगे कि मेरा बेटा! और ऐसा कर रहा है? उसके बेटे के अहंकार को परसुएड किया जा रहा है।
चारों तरफ ग्रेट परसुएडर्स बैठे हुए हैं; चारों तरफ फुसलाने वाले बैठे हुए हैं। वे अहंकार को फुसला रहे हैं। वे उस अहंकार को तरकीब-तरकीब से फुसलाकर हमसे काम करवा रहे हैं।
हमारी पूरी जिंदगी अहंकार के आधार पर होने वाली तपश्चर्या है।
एक आदमी धन कमाता है, तो कोई कम तप नहीं करता। जंगल में बैठे तपस्वियों से कम नहीं होता तप उसका; एक अर्थ में ज्यादा ही होता है। करता क्या है बेचारा? दिनभर सुबह से सांझ तक धन इकट्ठा करने में लगा हुआ है।
पागल की तरह दौड़ रहा है। जिंदगीभर दौड़ता है; तिजोरी भरकर मर जाता है।
लेकिन धन अहंकार के लिए सुख है। जितना ज्यादा, उतना सुख है। बस, अहंकार धन को इकट्ठा करवा देता है।
एक आदमी दिल्ली की तरफ दौड़ता रहता है। अभी बहुत-से लोग दौड़ रहे हैं।
दिल्ली में ऐसा कुछ रस नहीं है। अहंकार में रस है। कितना पागलपन चलता है! कितना बेचारा हाथ-पैर जोड़ता है किसी के भी कि किसी तरह मुझे दिल्ली पहुंचाओ! सब दांव पर लगा देता है, किसी तरह दिल्ली पहुंचाओ! एक अहंकार है। दिल्ली पहुंचकर वह समबडी हो जाता है, कुछ हो जाता है। फिर और दौड़ पर दौड़ चलती जाती है। वर्तुल के भीतर वर्तुल हैं। फिर दिल्ली पहुंचकर केबिनेट में कैसे प्रवेश कर जाए! फिर सब सिद्धांतों की बात करता है, लेकिन सिर्फ सिद्धांत अहंकार है, और कोई सिद्धांत नहीं है। न कोई समाजवाद है, न कोई लोकतंत्र है, न कुछ है।
दुनिया में कोई सिद्धांत नहीं है आदमी के लिए। आदमी का गहरा सिद्धांत
एक है, ईगो। फिर उस अहंकार के लिए आभूषण--समाजवाद, लोकतंत्र, और-और न मालूम क्या-क्या! वे सब आभूषण हैं उस एक सिद्धांत के।
सारी दुनिया अहंकार की तपश्चर्या में रत है। इन्हीं तपस्वियों को हम धर्म की तरफ भी लगा देते हैं। ये ही तपस्वी धर्म में लग जाते हैं। बैठ जाते हैं उपवास करके! अगर लोग न जाएं, तो बड़ी मुश्किल हो जाती है।
मेरे एक मित्र हैं। बड़े राजनैतिक नेता हैं। लोगों ने उनसे अनशन करवा दिया। लेकिन कुछ हालात ऐसे हो गए गांव के कि अनशन तो उन्होंने किया, लेकिन लोग ज्यादा देखने-दाखने नहीं आए। मैं उनके गांव गया था, उनको मिलने गया। पता चला अनशन करते हैं, तो मैंने कहा, देख आऊं। बड़ी मुश्किल में होंगे। गया तो सच में मुश्किल में थे मुझसे दिल की बात कही। कहा कि बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं; कुछ हालात ऐसे उलझ गए हैं कि कोई देखने तक नहीं आ रहा है। और लोग आते-जाते रहते, कैमरामैन फोटो उतारता रहता, अखबार में फोटो छपती रहती, तो झेल भी लेते। अब सिवाय भूख के और कुछ नजर नहीं आता चौबीस घंटे। किसी तरह उपवास तुड़वाने का इंतजाम करवा दें।
क्या रास्ता होगा?
कोई भी रास्ता निकाल लें। मेरी मांगें पूरी हों या न हों। मगर अहंकार रास्ते खोजता है। फिर भी उन्होंने कहा कि इक्कीस दिन हो गए हैं मुझे। अब एकदम से तोड़ भी नहीं सकता। इज्जत का भी सवाल है। तो प्रांत के चीफ

मिनिस्टर आ जाएं, मोसंबी का एक गिलास पिला दें और इतना ही कह दें कि हम आपकी मांगों पर विचार करेंगे!
मैंने कहा, यह हो सकता है। इसमें बहुत कठिनाई नहीं है। क्योंकि विचार करने में कोई झंझट नहीं है। विचार करेंगे! बस, उन्होंने कहा, इतना ही हो जाए तो काफी है। अब और मुझे कोई झंझट नहीं करनी है। मुझे उलझा दिया है शरारतियों ने और वे खुद भी दिखाई नहीं पड़ रहे हैं कि कहां हैं!
लोग आते रहते, भीड़-भड़क्का बना रहता, तो उनको कष्ट न होता। भूख झेली जा सकती थी। अगर अहंकार भरता हो, तो बड़ी से बड़ी भूख झेली जा सकती है। लेकिन अगर अहंकार भी न भरता हो, तो फिर कठिनाई हो जाती है।
तपस्वियों को जरा आदर देना बंद कर दें, फिर आप देखेंगे, सौ में से निन्यानबे विदा हो गए हैं। वे नहीं हैं अब कहीं। आदर मिले, तो वे बढ़ते चले जाते हैं।
कृष्ण बहुत जानकर कहते हैं कि ज्ञानरूपी तप से शुद्ध हुई आत्मा। और ज्ञानरूपी तप से ही शुद्ध होती है।
ज्ञानरूपी तप कैसा होगा? क्योंकि अज्ञानरूपी तप में तो अहंकार का शोषण है; अहंकार पर निर्भर है अज्ञानरूपी तप। ज्ञानरूपी तप किस बात पर निर्भर होगा? ज्ञानरूपी तप समर्पण पर निर्भर होगा, अहंकार पर नहीं, सरेंडर पर।
इस फर्क को ठीक से समझ लें। इसलिए पहले उन्होंने कहा, अनन्य रूप से जो मेरी शरण; फिर कहा कि जो ज्ञानरूपी तप से शुद्ध हुए हैं।
ज्ञानरूपी तप सदा ही समर्पित है। ज्ञानरूपी तप के पीछे यह भाव नहीं
है कि मैं तप कर रहा हूं; ज्ञानरूपी तप के पीछे यही भाव है कि परमात्मा जो करवा रहा है, वह मैं कर रहा हूं। वह अगर आग में डाल देता है, तो आग में जलने को तैयार हूं। मैं नहीं जल रहा हूं।
एक ईसून करके एक फकीर औरत हुई जापान में--समर्पित जीवन की एक प्रतिमा। भोजन भी करती, तो पहले आंख बंद करके आकाश की तरफ, थाली सामने रखी हो, तो भी आंख बंद करके आकाश की तरफ देख लेती। कभी कहती कि ले जाओ। नहीं, आज भोजन नहीं होगा। लोग कहते, क्या बात है? अभी तक तो तुमने कुछ भी नहीं कहा था। पहले ही कह देना था। उसने कहा, जब तक भोजन सामने न आए, तब तक मैं प्रभु से पूछूं भी कैसे! मैं पूछी कि क्या करूं? क्या इरादे हैं? भोजन करूं, न करूं? आज हां में उत्तर नहीं आता। भोजन ले जाओ। किसी दिन भोजन कर लेती; कहती, हां में उत्तर आता है। मरने के एक दिन पहले आंख बंद कर आकाश की तरफ... ।
पर लोगों को कभी भरोसा नहीं आया कि पता नहीं, ऊपर से कोई उत्तर आता है
कि नहीं आता! यह अपने ही मन से उत्तर दे लेती है! कभी खाना हो, तो खा लेती हो; कभी न खाना हो, तो न खाती हो।
लेकिन उस ईसून ने साठ वर्ष की उम्र तक कभी यह नहीं कहा कि मैंने एक भी उपवास किया। क्योंकि वह अहंकार से तो उठता न था। मेरे का तो कोई सवाल न था। उसने कोई हिसाब भी न रखा; जैसा कि साधु रखते हैं कि उन्होंने इस बार इतने उपवास किए, उतने उपवास किए। इस चौमासे में फलाने ने इतने उपवास किए। इसका कुछ हिसाब न था। ये कोई खाते-बही नहीं हैं कि इनके हिसाब रखे जा सकें। लेकिन अहंकार खाते-बही रखता है।
साठ साल! कभी कोई उससे कहता भी कि तूने कितने उपवास किए! वह कहती कि मैंने? मैंने एक भी उपवास नहीं किया। हां, कभी-कभी प्रभु ने भोजन का आनंद दिया और कभी-कभी उपवास का आनंद दिया।
फिर साठ वर्ष उसके पूरे हुए। एक दिन उसने आकाश की तरफ--थाली सामने रखी थी--आकाश की तरफ देखकर कहा, भोजन ही नहीं; आज तो खबर आती है कि यह मेरा आखिरी दिन है। सांझ सूरज के ढलने के साथ मैं विदा हो जाऊंगी। और ठीक सांझ सूरज के ढलने के साथ वह विदा हो गई। सांझ सूरज ढला, वह आंख बंद करके बैठी थी और श्वास उड़ गई। तब लोगों को पता चला कि जो आवाज उसे आती थी, वह ऐसी ही नहीं थी, जैसा हम सोचते थे। क्योंकि भोजन के मामले में धोखा हो सकता है, मौत के मामले में तो धोखा नहीं हो सकता।
समर्पित तपश्चर्या ज्ञानरूपी तप है। परमात्मा के हाथों में जो जीए,
वह जो ले आए--दुख तो दुख, सुख तो सुख, अंधेरा तो अंधेरा, उजेला तो उजेला,

भोजन तो भोजन, भूख तो भूख--वह जो ले आए, उसके लिए राजी होकर जो जीए, उसकी जिंदगी ज्ञानरूपी तप है। उसका सारा जीवन एक तप है, लेकिन ज्ञानरूपी। वह ईगोइस्ट, वह अहंकार की जिद नहीं है कि मैं कर रहा हूं ऐसा।
साक्रेटीज एक सांझ अपने घर के बाहर गया। रात देर तक लौटा नहीं; लौटा नहीं! घर के लोग परेशान। बहुत खोजा, मिला नहीं। फिर सुबह तक राह देखने के सिवाय कोई रास्ता न रहा।
सुबह सूरज निकला, तब लोग खोजने गए। देखा कि बर्फ जम गई है उसके घुटनों तक। रातभर गिरती बर्फ में खड़ा रहा। एक वृक्ष से टिका हुआ खड़ा है! आंखें बंद हैं। हिलाया! लोगों ने पूछा, यह क्या कर रहे हो? उसने आंख खोलीं; उसने कहा कि क्या हुआ? नीचे देखा। जैसे दूसरे लोग चकित थे, वैसा ही चकित हुआ। कहा कि अरे! बर्फ इतनी जम गई! रात गई? सूरज निकल आया? तो लोगों ने कहा कि तुम कर क्या रहे हो? होश में हो कि बेहोश? तुम रातभर करते क्या रहे?
उसने कहा, मैं कुछ भी न करता रहा। आज रात सांझ को जब यहां आकर खड़ा हुआ, तारों से आकाश भरा था, दूर तक अनंत रहस्य; मेरा मन समर्पित होने का हो गया। मैंने आंख बंद करके अपने को छोड़ दिया इस विराट के साथ। फिर मुझे पता नहीं क्या हुआ। करवाया होगा उसने, मैंने कुछ किया नहीं है।
यह हुआ ज्ञानरूपी तप--समर्पित तपश्चर्या, सरेंडर्ड एटिट्यूड। फिर जो
हो जाए। फिर उसकी मर्जी।
जीसस सूली लटकाए जा रहे हैं। एक क्षण को उनके मुंह से ऐसा निकला कि हे परमात्मा! यह क्या दिखला रहा है? क्या तूने मुझे छोड़ दिया? फिर एक क्षण बाद ही उन्होंने कहा, माफ कर। कैसी बात मैंने कही! तेरी मर्जी पूरी हो। दाई विल बी डन। तेरी मर्जी पूरी हो। फिर हाथ पर खीलियां ठोंक दी गईं; गर्दन सूली पर लटक गई; लेकिन फिर जीसस, तेरी मर्जी पूरी हो, उसी भाव में हैं। जीसस की यह सूली ज्ञानरूपी तपश्चर्या हो गई। समर्पित, तेरी मर्जी पूरी हो। बात समाप्त हो गई।
जब तक मेरी मर्जी से तपश्चर्या होती है, तब तक अज्ञानरूपी है। और जब उसकी मर्जी से तपश्चर्या होती है, तब ज्ञानरूपी हो जाती है। वह अनन्य शरण का ही दूसरा रूप है।
और जब कोई समर्पित होकर तप से गुजरता है, तब आत्मा पवित्र हो जाती है,
तब भीतर सब शुद्ध हो जाता है। क्योंकि बड़ी से बड़ी अशुद्धि अहंकार है और बाकी सब अशुद्धियां अहंकार की ही बाई-प्रोडक्ट्स हैं। वे अहंकार से ही पैदा हुई हैं।
कभी आपने ख्याल किया, अहंकार न हो, तो क्रोध पैदा हो सकता है? अहंकार न हो, तो क्रोध कैसे पैदा हो सकता है! कभी आपने ख्याल किया है कि अहंकार न हो, तो लोभ पैदा हो सकता है? अहंकार न हो, तो लोभ कैसे पैदा हो सकता है! कभी आपने ख्याल किया कि अहंकार न हो, तो ईर्ष्या पैदा हो सकती है? अहंकार न हो, तो ईर्ष्या कैसे पैदा हो सकती है!
अहंकार मूल रोग है, मूल अशुद्धि है। बीमारी की जड़ है। बाकी सारी बीमारियां उसी पर आए हुए पत्ते और शाखाएं हैं। इसलिए समर्पण मूल साधना है। समर्पण का अर्थ है, अहंकार की जड़ काट दो! अज्ञानरूपी तपश्चर्या पत्ते काटती है--पत्ते, शाखाएं।
लेकिन ध्यान रखें, जैसा नियम बगीचे का है, वैसा ही नियम मन के बगीचे का
भी है। आप पत्ता काटें; पत्ता समझता है कि कलम हो रही है। एक पत्ते की जगह चार निकल आते हैं। आप शाखा काटें; शाखा समझती है, कलम की जा रही है! एक शाखा की जगह चार अंकुर निकल आते हैं। आप क्रोध काटें अहंकार को बिना काटे, और आप पाएंगे कि क्रोध चार दिशाओं में निकलना शुरू हो गया। आप लोभ काटें बिना अहंकार को काटे, और आप पाएंगे, लोभ ने पच्चीस नए मार्ग खोज लिए! अज्ञानरूपी तपश्चर्या शाखाओं से उलझती रहती है और मूल को पानी देती रहती है। अहंकार की जड़ को पानी डालती रहती है और अहंकार से पैदा हुई शाखाओं को काटती रहती है। शाखाएं फैलती चली जाती हैं। अहंकार की जड़ मजबूत होती चली है।
ज्ञानरूपी तपश्चर्या पत्तों से नहीं लड़ती, शाखाओं से नहीं लड़ती, मूल
जड़ को काट देती है। वह अनन्य भाव से अपने को समर्पित कर देती है। वह कह

देती है, परमात्मा, तू ही सम्हाल। अब न क्रोध मेरा, न क्षमा मेरी। अब न सुख मेरा, न दुख मेरा। अब न जीवन मेरा, न मृत्यु मेरी। अब तू ही सम्हाल। अब तू ही जो करे, कर। अब न मैं छोडूंगा, न पकडूंगा। अब न मैं भागूंगा; न मैं राग करूंगा, न विराग करूंगा। अब तू जो करवाए, मैं राजी हूं।
इस राजीपन का नाम, इस एक्सेप्टेबिलिटी का नाम समर्पण है। इस समर्पण
से सब शुद्ध हो जाता है, क्योंकि जड़ कट जाती है। जहां अहंकार नहीं, वहां अपवित्रता नहीं। और जहां अहंकार है, वहां अपवित्रता होगी ही। उसके रूप कुछ भी हो सकते हैं। और धार्मिक अपवित्रता अधार्मिक अपवित्रता से बदतर होती है।
साधारण अहंकार से तपस्वी अहंकार ज्यादा खतरनाक होता है। साधारण आदमियों के क्रोध से दुर्वासा के क्रोध की हम क्या तुलना कर सकते हैं? दुर्वासा के क्रोध की बात ही और है; वह क्रोध है चरम। ऐसा साधारण आदमी ऐसा क्रोध नहीं कर सकता। क्योंकि साधारण आदमी ने तपश्चर्या से अहंकार को इतना पानी भी नहीं दिया है कि इतना क्रोध कर सके।
अज्ञानरूपी तपश्चर्या प्राणों को और अशुद्ध कर जाती है। ज्ञानरूपी तपश्चर्या शुद्ध कर जाती है।
शेष, संध्या हम बात करेंगे।
अभी आप रुकेंगे। एक पांच-सात मिनट एक समर्पित कीर्तन में सम्मिलित हों।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
चौथा प्रवचन

परमात्मा के स्वर

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। 11।।
हे अर्जुन! जो मेरे को जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं।
इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान मनुष्यगण सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बर्तते हैं।

यह वचन बहुत अदभुत है।
कृष्ण कहते हैं, जो मुझे जिस भांति भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी भांति भजता हूं। और बुद्धिमान पुरुष इस बात को जानकर इस भांति बर्तते हैं। भगवान भजता है! इस सूत्र में एक गहरे आध्यात्मिक रिजोनेंस की, एक आध्यात्मिक प्रतिसंवाद की घोषणा की गई है। संगीतज्ञ जानते हैं कि अगर एक सूने एकांत कमरे में कोई कुशल संगीतज्ञ एक वीणा को बजाए और दूसरे कोने में एक वीणा रख दी जाए--खाली, अकेली। कमरे में गूंजने लगे आवाजें एक बजती हुई वीणा की, तो कुशल संगीतज्ञ उस शांत पड़ी हुई वीणा के तारों को भी झंकृत कर देता है; रिजोनेंस पैदा हो जाता है। वह जो खाली पड़ी वीणा है, जिसे कोई भी नहीं छू रहा है, वह भी उस गूंजते संगीत से गुंजायमान हो जाती है। वह भी गूंजने लगती है; उससे भी संगीत का स्फुरण होने लगता है।
परमात्मा भी रिजोनेंस है; प्रतिध्वनि देता है। जैसे हम होते हैं, ठीक वैसी प्रतिध्वनि परमात्मा भी हमें देता है। हमारे चारों ओर वही मौजूद है। हमारे भीतर जो फलित होता है, तत्काल उसमें प्रतिबिंबित हो जाता है; वह दर्पण की भांति हमें लौटा देता है, हमारे प्रतिबिंबों को।
कृष्ण कहते हैं, जो मुझे जिस भांति भजता है, उसी भांति मैं भी उसे भजता हूं। जो जिस भांति मेरे दर्पण के समक्ष आ जाता है, वैसी ही तस्वीर उस तक लौट जाती है।
परमात्मा कोई मृत वस्तु नहीं है, जीवंत सत्य है। परमात्मा कोई बहरा अस्तित्व नहीं है, कोई डंब एक्झिस्टेंस नहीं है, परमात्मा हृदयपूर्ण है। परमात्मा भी प्राणों के स्पंदन से भरा हुआ अस्तित्व है। और जब हमारे प्राणों में कोई प्रार्थना उठती है और हम परमात्मा की तरफ बहने शुरू होते हैं, तो आप मत सोचना कि यात्रा एक तरफ से होती है। यात्रा दोहरी है। जब आप एक कदम उठाते हैं परमात्मा की तरफ, तब परमात्मा भी आपकी तरफ कदम उठाता है। यह हमें साधारणतः दिखाई नहीं पड़ता। यह साधारणतः हमारे ख्याल में नहीं आता। यह ख्याल में हमारे इसीलिए नहीं आता कि हम जीवन की क्षुद्रता में इस भांति उलझे हुए हैं कि उसकी गहरी प्रतिध्वनियों को पकड़ने की क्षमता खो देते हैं। हम इतने शोरगुल में डूबे हुए हैं कि वह जो धीमी-धीमी आवाजें अस्तित्व हमारे पास पहुंचाता है, वे हमें सुनाई नहीं पड़तीं। बहुत स्टिल स्माल वाइस, बड़ी छोटी आवाज है। बड़ी बारीक, महीन आवाज में ध्वनियां हम तक लौटती हैं, लेकिन हमें सुनाई नहीं पड़तीं। हम इतने उलझे होते हैं।
कभी ख्याल किया हो; आप अपने कमरे में बैठे हैं, ख्याल करें, तो पता चलता है कि बाहर वृक्ष पर चिड़िया आवाज कर रही है। ख्याल न करें, तो वह आवाज करती रहती है, आपको कभी पता नहीं चलता। रात के सन्नाटे से गुजर रहे हैं, अपने विचारों में खोए हुए हैं। पता नहीं चलता है कि बाहर झींगुर की आवाज है। होश में आ जाएं, चौंककर जरा रुक जाएं; सुनें, तो पता चलता है कि विराट सन्नाटा आवाज कर रहा है।
ठीक ऐसे ही परमात्मा प्रतिपल हमें प्रतिध्वनित करता है, लेकिन झींगुर
की आवाज से भी सूक्ष्म है आवाज। सन्नाटे की आवाज से भी बारीक है। पक्षियों की चहचहाहट से भी नाजुक है। बहुत चुप होकर, मौन होकर जो उसे पकड़ेगा, वही पकड़ पाता है।

गहरे मौन में, कृष्ण जो कहते हैं, उसका निश्चित ही पता चलता है। यहां उठती है एक ध्वनि, चारों ओर से उसकी प्रतिध्वनि लौट आती है और उसकी हमारे ऊपर वर्षा हो जाती है।
मैं एक पहाड़ पर था। कुछ मित्रों के साथ था। उस पहाड़ पर एक जगह थी इकोप्वाइंट। वहां जाकर आवाज करते, तो पहाड़ियों की घाटियां सात बार उस आवाज को लौटा देतीं।
एक मित्र साथ थे, उन्होंने कुत्ते की आवाज में चिल्लाना शुरू किया। पहाड़ चारों तरफ से कुत्ते की आवाज लौटाने लगे। वे खेल में ही कर रहे थे; पर खेल भी तो खेल नहीं है। मैंने उनसे पूछा कि तुम्हें और आवाजें करनी भी आती हैं, फिर कुत्ते की आवाज ही क्यों कर रहे हो? उन मित्र ने कोयल की आवाज करनी शुरू की और पहाड़ की घाटियां कोयल की आवाज से गूंज कर हम पर लौटने लगी। मैंने उनसे कहा, पहाड़ वही लौटा देते हैं, जो हम उन तक पहुंचाते हैं। सात गुना वापस कर देते हैं।
कृष्ण कहते हैं, जो जिस रूप में... ।
जिस रूप में भी हम अपने अस्तित्व के चारों ओर अपने प्राणों से प्रतिध्वनियां करते हैं, वे ही हम पर अनंतगुना होकर वापस लौट आती हैं। परमात्मा प्रतिपल हमें वही दे देता है, जो हम उसे चढ़ाते हैं। हमारे चढ़ाए हुए फूल हमें वापस मिल जाते हैं। हमारे फेंके गए पत्थर भी हमें वापस मिल जाते हैं। हमने गालियां फेंकीं, तो वे ही हम पर लौट आती हैं। और हमने भजन की ध्वनियां फेंकीं, तो वे ही हम पर बरस जाती हैं।
अगर जीवन में दुख हो, तो जानना कि आपने अपने चारों तरफ दुख के स्वर भेजे हैं, वे आप पर लौट आए हैं। अगर जीवन में घृणा मिलती हो, तो जानना कि आपने घृणा के स्वर फेंके थे, वे आप पर वापस लौट आए। अगर जीवन में प्रेम न मिलता हो, तो जानना कि आपने कभी प्रेम की आवाज ही नहीं दी कि आप पर प्रेम वापस लौट सके।
इस जीवन के महा नियमों में से एक है, हम जो देते हैं, वह हम पर वापस लौट आता है।
कृष्ण वही कह रहे हैं। वे कहते हैं, जो जिस रूप में मुझे भजता है... ।
जिस रूप में, इस शब्द को ठीक से स्मरण रख लेना। जो जिस रूप में मुझे भजता है, मैं भी उसे उसी रूप में भजता हूं। मैं उसे वही लौटा देता हूं, इन दि सेम क्वाइन।
वह कहानी तो हम सबको पता है। सभी को पता होगा। एक आदमी पर अदालत में मुकदमा चला। वकील ने उससे कहा कि तू बोलना ही मत। तू तो इस तरह की आवाजें करना कि पता चले, गूंगा है। जब मजिस्ट्रेट पूछे, तभी तू गूंगे की तरह आवाजें करना। कहना, आ आ आ। कुछ भी करना, लेकिन बोलना मत।
अदालत में वही किया। फिर मुकदमा जीत गया। वह आदमी बोल ही नहीं सकता था
और उस पर जुर्म था कि उसने गालियां दीं, अपमान किया; यह किया, वह किया। मजिस्ट्रेट ने कहा, जो आदमी बोल ही नहीं सकता, वह गालियां कैसे देगा, अपमान कैसे करेगा! वह छूट गया। बाहर आकर वकील ने कहा, मुकदमा जीत गए। अब मेरी फीस चुका दो। उस आदमी ने कहा, आ आ आ। इन दि सेम क्वाइन! उसने उसी सिक्के में वापस फीस भी चुका दी। उस वकील ने कहा, बंद करो यह बात। यह अदालत के लिए कहा था। उस आदमी ने कहा, आ आ आ। उसने कहा, कुछ समझ आता नहीं कि आप क्या कह रहे हैं? हाथ से इशारा किया, आंख से इशारा किया।
जिंदगी भी उसी सिक्के में हमें लौटा देती है। हमें तब तो पता नहीं चलता, जब हम जिंदगी को देते हैं अपने सिक्के। हमें पता तभी चलता है, जब सिक्के लौटते हैं। हम जब बीज बोते हैं, तब तो पता नहीं चलता; जब फल आते हैं, तब पता चलता है। और अगर फल विषाक्त आते हैं, जहरीले, तो हम रोते हैं और कोसते हैं। हमें पता नहीं कि यह फल हमारे बीजों का ही परिणाम है।
ध्यान रहे, जो भी हम पर लौटता है, वह हमारा दिया हुआ ही लौटता है। हां, लौटने में वक्त लग जाता है। प्रतिध्वनि होने में समय गिर जाता है। उतने समय के फासले से पहचान मुश्किल हो जाती है।
इस जगत में किसी भी व्यक्ति के साथ कभी अन्याय नहीं होता। अन्याय नहीं होता, उसी का यह सूत्र है।

कृष्ण कहते हैं, जो जिस रूप में मुझे भजता है, मैं उसी रूप में उसे भजता हूं।
अगर किसी व्यक्ति ने इस जगत को पदार्थ माना, तो उसे यह जगत पदार्थ मालूम होने लगेगा। क्योंकि परमात्मा उसी रूप में लौटा देगा। अगर किसी व्यक्ति ने इस जगत को परमात्मा माना, तो यह जगत परमात्मा हो जाएगा। क्योंकि यह अस्तित्व उसी रूप में लौटा देगा, जो हमने दिया था।
हमारा हृदय ही अंततः हम सारे जगत में पढ़ लेते हैं। और हमारे हृदय में छिपे हुए स्वर ही अंततः हमें सारे जगत में सुनाई पड़ने लगते हैं। चांद-तारे उसी को लौटाते हैं, जो हमारे हृदय के किसी कोने में पैदा हुआ था। लेकिन अपने हृदय में जो नहीं पहचानता, लौटते वक्त बहुत चकित होता है, बहुत हैरान होता है कि यह कहां से आ गया? इतनी घृणा मुझे कहां से आई? इतने लोगों ने मुझे घृणा क्यों की? लौटे, खोजे, और वह पाएगा कि घृणा ही उसने भेजी थी। वही वापस लौट आई है।
इसका एक अर्थ और ख्याल में ले लें। जिस रूप में भजता है, इसका एक अर्थ मैंने कहा। इसका एक अर्थ और ख्याल में ले लें।
अगर कोई न भजता हो, किसी भी रूप में न भजता हो परमात्मा को, तो परमात्मा क्या लौटा देता है? अगर कोई भजता ही नहीं परमात्मा को, तो परमात्मा भी न भजने को ही लौटाता है। अगर कोई व्यक्ति जीवन से किसी भी तरह के संवाद नहीं करता, तो जीवन भी उसके प्रति मौन हो जाता है; जड़ पत्थर की तरह हो जाता है। सब तरफ पथरीला हो जाता है। जिंदगी में जिंदगी आती है हमारे जिंदा होने से। इसलिए जिंदा आदमी के पास पत्थर भी जिंदा होता है और मरे हुए, मुर्दा तरह के आदमी के पास, जिंदा आदमी भी मुर्दा हो जाता है।
एक कवि के संबंध में मैं सुनता हूं कि वह अगर अपने जूते भी पहनता, तो
इस भांति, जैसे जूते जीवित हों। अगर वह अपने सूटकेस को बंद करता, तो इस भांति, जैसे सूटकेस में प्राण हों। मैं उसका जीवन पढ़ रहा था। उसका जीवन लिखने वालों ने लिखा है कि हम सब समझते थे, वह पागल है। हम सब समझते थे, उसका दिमाग खराब है। वह दरवाजा भी खोलता, तो इतने आहिस्ते से कि दरवाजे को चोट न लग जाए। वह कपड़े भी बदलता, तो इतने प्रेम से कि कपड़ों का भी अपना अस्तित्व है, अपना जीवन है।
निश्चित ही पागल था, हम तो व्यक्तियों के साथ भी ऐसा व्यवहार नहीं करते कि वे जीवित हैं। आपने कभी अपने नौकर को इस तरह देखा कि वह आदमी है? नहीं देखते हैं। चारों तरफ जीवन है, उसको भी हम मुर्दे की तरह देखते हैं; लेकिन वह कवि, जिन्हें हम साधारणतया मुर्दा चीजें कहते हैं, उन्हें भी जीवन की तरह देखता। मित्र समझते कि पागल है। लेकिन अंत में मित्रों ने जब जीवन उसका उठाकर देखा, तो उन्होंने कहा कि अगर वह पागल था, तो भी ठीक था। और अगर हम समझदार हैं, तो भी गलत हैं। क्योंकि उसकी जिंदगी में दुख का पता ही नहीं है। पूरी जिंदगी में वह कभी दुखी नहीं हुआ।
यह तो बाद में पता चला कि उस आदमी की जिंदगी में दुख की एक भी घटना नहीं है। उस आदमी को कभी किसी ने उदास नहीं देखा। उस आदमी को कभी किसी ने रोते नहीं देखा। उस आदमी की आंखों से आंसू नहीं बहे।
पूरी जिंदगी इतने आनंद की जिंदगी कैसे हो सकी? जब उससे किसी ने पूछा,
तो उसने कहा, मुझे पता नहीं। लेकिन एक बात मैं जानता हूं। मैंने अगर पत्थर को भी छुआ, तो इतने प्रेम से कि जैसे वह परमात्मा हो। बस, इसके सिवाय मेरी जिंदगी का कोई राज नहीं है। फिर मुझे सब तरफ से आनंद ही लौटा है।
जिस रूप में हम अस्तित्व के साथ व्यवहार करते हैं, वही व्यवहार हम तक लौट आता है। परमात्मा भी प्रतिपल रिस्पांडिंग है, प्रतिसंवादित होता है। बारीक है उसकी वीणा और स्वर हैं महीन; लेकिन प्रतिपल, जरा-सा हमारा कंपन उसे भी कंपा जाता है। जिस भांति हम कंपते हैं, उसी भांति वह कंपता है। अंततः जो हम हैं, वही हमारी जिंदगी में हमें उपलब्ध होता है।
इसलिए अगर एक आदमी कहता हो कि मुझे कहीं ईश्वर नहीं मिला... मेरे पास लोग आते हैं; वे कहते हैं कि ईश्वर? आप ईश्वर की बात करते हैं। ईश्वर कहां है?

मैं उनकी आंखों में देखता हूं, तो मुझे पता लगता है, उनकी आंखें पथरीली हैं। उन्हें ईश्वर कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। उसका कारण यह नहीं है कि ईश्वर नहीं है। उसका कारण यह है कि उनके पास पत्थर की आंखें हैं। पत्थर की आंखों में ईश्वर दिखाई पड़ना मुश्किल है। उनकी आंखों में देखने की क्षमता ही नहीं मालूम पड़ती; उनकी आंखों में कुछ नहीं दिखाई पड़ता।
हां, उनकी आंखों में कुछ चीजें दिखाई पड़ती हैं; वे उन्हें मिल जाती हैं। धन दिखाई पड़ता है, उन्हें मिल जाता है। यश दिखाई पड़ता है, उन्हें मिल जाता है। जो दिखाई पड़ता है, वह मिल जाता है। जो नहीं दिखाई पड़ता है, वह कैसे मिलेगा? हम जितना परमात्मा को उघाड़ना चाहें, उतना उघाड़ सकते हैं। लेकिन परमात्मा को उघाड़ने के पहले, उतना ही हमें स्वयं भी उघड़ना पड़ेगा। प्रार्थना, कृष्ण कहते हैं, भजन, भजना यह अपनी तरफ से परमात्मा के लिए पुकार भेजना है। और जब भी कोई हृदयपूर्वक प्रार्थना से भर जाता है, तो आमतौर से हमें पता नहीं है कि प्रार्थना का असली क्षण वह नहीं है जब आप प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना का असली क्षण तब शुरू होता है, जब आपकी प्रार्थना पूरी हो जाती है और आप प्रतीक्षा करते हैं।
प्रार्थना के दो हिस्से हैं, ध्यान रखें। एक ही हिस्सा प्रचलित है। दूसरे का हमें पता ही नहीं रहा है। और दूसरे का जिसे पता नहीं है, उसे प्रार्थना का ही पता नहीं है।
आपने प्रार्थना की, वह तो एकतरफा बात हुई। प्रार्थना के बाद अब मंदिर
से भाग मत जाएं। अब प्रार्थना के बाद मस्जिद को छोड़ मत दें। अब प्रार्थना के बाद गिरजे से निकल मत जाएं, एकदम दुकान की तरफ। अगर पांच क्षण प्रार्थना की है, तो दस क्षण रुककर प्रतीक्षा भी करें। उस प्रार्थना को लौटने दें। वह प्रार्थना आप तक लौटेगी। और अगर नहीं लौटती है, तो समझना कि आपको प्रार्थना करने का ही कुछ पता नहीं। आपने प्रार्थना की ही नहीं है। लेकिन आदमी प्रार्थना किया, और भागा! वह प्रतीक्षा तो करता ही नहीं कि परमात्मा को पुकारा था, तो उसे पुकार का जवाब भी तो दे देने दो। जवाब निरंतर उपलब्ध होते हैं। कभी भी कोई प्रश्न खाली नहीं गया। और कभी कोई पुकार खाली नहीं गई। लेकिन की गई हो तब। अगर सिर्फ शब्द दोहराए गए हों, अगर सिर्फ कंठस्थ शब्दों को दोहराकर कोई क्रिया पूरी की गई हो और आदमी वापस लौट गया हो, तो फिर नहीं, फिर नहीं हो सकता।
आज ही कोई मुझे कह रहा था कि आपके ये संन्यासी सड़कों पर नाचते-गाते निकल रहे हैं, इससे फायदा क्या है? मैंने उनसे कहा, जाओ, और नाचो, और देखो! उन्होंने कहा, हमें कुछ फायदा दिखाई नहीं पड़ता। मैंने कहा, बिना नाचे मत कहो। नाचो पूरे हृदय से, फिर प्रतीक्षा करो। फायदे की बड़ी वर्षा हो जाएगी। निश्चित ही फायदा नोटों में नहीं होगा, कि नोट बरस जाएंगे! लेकिन नोटों से भी कीमती कुछ इस पृथ्वी पर है। और जिसके लिए नोट सबसे कीमती चीज है; उससे ज्यादा दरिद्र आदमी खोजना मुश्किल है। भिखारी है, भिखमंगा है। उसे कुछ भी पता नहीं है।
नाचो प्रभु के सामने और छोड़ दो फिर नाच को उसकी तरफ, फिर लौटेगा। जो नाचकर प्रभु के पास गया है, नाचता हुआ प्रभु उसके पास भी आता है। जिसने गीत गाकर निवेदन किया है, उसने और महागीत में गाकर उत्तर भी दिया है। उसका ही आश्वासन कृष्ण के द्वारा अर्जुन को इस सूत्र में दिया गया है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।। 12।।
और जो मेरे को तत्व से नहीं जानते हैं, वे पुरुष, इस मनुष्य लोक में, कर्मों के फल को चाहते हुए देवताओं को पूजते हैं और उनके कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि भी शीघ्र ही होती है।

जीवन के परम सत्य को भी जो नहीं जानते, वे भी जीवन की बहुत-सी शुभ शक्तियों से लाभान्वित हो सकते हैं। परमात्मा परम शक्ति है, लेकिन शक्ति और छोटे रूपों में भी बहुत-बहुत मार्गों से प्रकट होती है।

कृष्ण अर्जुन को इस सूत्र में कह रहे हैं कि जो मुझे उपलब्ध हो जाते हैं, जो मेरी देह को उपलब्ध हो जाते हैं, वे जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं। लेकिन जो मुझे नहीं भी उपलब्ध होते सीधे, जो परम ऊर्जा से परम स्रोत से सीधे संबंधित नहीं होते, वे भी देवताओं से, उनकी पूजा कर, उनकी सन्निधि में आ, शुभ को उपलब्ध होते हैं। यहां दो-तीन बातें समझ लेने जैसी हैं। साधारणतः परम शक्ति के संपर्क में आना अति कठिन है। परम शक्ति के संपर्क में आने के लिए बड़ी छलांग, बड़े साहस की जरूरत है। परम शक्ति के संपर्क में आने का अर्थ अपने को पूरी तरह जलाकर भस्म, राख कर डालना है। जो अपने मैं को जरा भी बचाना चाहे, वह परम शक्ति के संपर्क में नहीं आ सकता। जैसे सूर्य के पास कोई पहुंचना चाहे, तो भस्म हो ही जाएगा। ऐसे ही परम शक्ति के पास कोई पहुंचना चाहे, तो स्वयं को मिटाए बिना कोई रास्ता नहीं है। इसलिए परम साहस है, करेज है।
धार्मिक व्यक्ति ठीक अर्थों में अपने को मिटाने के साहस से ही पैदा होता है। इसलिए अधिक धार्मिक लोग इतना साहस तो नहीं कर पाते हैं। लेकिन फिर भी सूर्य के पास कोई न जा पाए, तो भी अंधेरे में ही रहे, ऐसा जरूरी नहीं है। छोटे मिट्टी के दीए भी जलाए जा सकते हैं। और मिट्टी के छोटे से दीए में जो ज्योति जलती है, वह भी महासूर्यों का ही हिस्सा है। लेकिन वह जलाती नहीं, वह मिटाती नहीं; वह आपके हाथ में उपयोग की जा सकती है।
देवता परम शक्ति के समक्ष दीयों की तरह हैं, छोटे दीयों की तरह हैं। देवता उन आत्माओं का नाम है... इसे थोड़ा-सा समझ लेना जरूरी होगा, तभी यह बात ठीक से ख्याल में आ सकेगी।
जैसे ही कोई व्यक्ति मरता है, इस शरीर को छोड़ता है, साधारणतः सौ में निन्यानबे मौकों पर तत्काल ही जन्म हो जाता है। कभी-कभी, यदि व्यक्ति बहुत बुरा रहा हो, तो तत्काल जन्म मुश्किल होता है; या व्यक्ति बहुत भला रहा हो, तो भी तत्काल जन्म मुश्किल होता है। बहुत भले व्यक्ति के लिए भी गर्भ खोजने में समय लग जाता है। वैसा गर्भ उपलब्ध होना चाहिए। बहुत बुरे व्यक्ति को भी। मध्य में जो हैं, उन्हें तत्काल गर्भ उपलब्ध हो जाता है। जो बहुत बुरे व्यक्ति हैं, उन्हें कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है, करनी पड़ती है; जब तक उनके योग्य उतना बुरा गर्भ उपलब्ध न हो सके। ऐसी आत्माओं को प्रेत पारिभाषिक शब्द है--ऐसी प्रतीक्षा कर रही आत्माओं का, जो नई देह को उपलब्ध नहीं हो पा रही हैं--बहुत बुरी हैं इसलिए। बहुत भली आत्माएं भी शीघ्र जन्म को उपलब्ध नहीं हो पातीं। ऐसी प्रतीक्षा करती आत्माओं का नाम देवता है। वह भी पारिभाषिक शब्द है।
जो सीधे परमात्मा से संबंधित नहीं हो पाते, वे भी चाहें तो देवताओं से संबंधित हो सकते हैं। बुरी आत्माएं बुरा करने के लिए आतुर रहती हैं, देह न हो तो भी। अच्छी आत्माएं अच्छा करने के लिए आतुर रहती हैं, देह न हो तब भी। इन आत्माओं का साथ मिल सकता है। इसका पूरा अलग ही विज्ञान है कि इन आत्माओं का साथ कैसे मिल सके! लेकिन आमंत्रण से, इनवोकेशन से, निमंत्रण से इन आत्माओं से संबंधित हुआ जा सकता है। समस्त यज्ञ आदि शुभ आत्माओं से संबंध स्थापित करने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं थीं। जिसे दुनिया में ब्लैक मैजिक कहते हैं, उस तरह की प्रक्रियाएं बुरी आत्माओं से संबंध स्थापित करने की प्रक्रियाएं थीं।
कृष्ण कहते हैं, जो सीधा मुझको न भी उपलब्ध हो, वह भी देवताओं की पूजा
और अर्चना से शुभ कर्मों को करता हुआ, शुभ को उपलब्ध हो सकता है। जो परम सत्य को उपलब्ध न भी हो, वह भी शुभ को उपलब्ध हो सकता है।
दो कारणों से वह शुभ को उपलब्ध होगा। एक तो, जो शुभ की आकांक्षा करता है, वह शुभ कर्म करता है। आकांक्षा का सबूत और कुछ भी नहीं है सिवाय कर्मों के। हम जो करते हैं, वही गवाही है हमारी आकांक्षाओं की। हमारी डीड, हमारा कर्म ही हमारे प्राणों की प्यास की खबर है।
शुभ कर्मों को करता हुआ।
लेकिन आदमी बहुत कमजोर है और शुभ कर्म भी आदमी अकेला करना चाहे, तो अति कठिन है। वह अपने चारों तरफ व्याप्त जो शुभ की शक्तियां हैं, उनका सहारा ले सकता है। और कई बार जब आप कोई बड़ा शुभ कर्म करते हैं, तो आप खुद भी

अनुभव करते हैं, जैसे कोई और बड़ी शक्ति भी आपके साथ खड़ी हो गई। जब आप कोई बहुत बुरा कर्म करते हैं, तब भी आपको अनुभव होता है कि जैसे आप अकेले नहीं हैं। कोई और बुरी शक्ति भी आपके साथ संयुक्त हो गई है।
हत्यारों ने अदालतों में बहुत बार बयान दिए हैं, और उनके बयान कभी भी ठीक से नहीं समझे जा सके, क्योंकि अदालतों की समझ की सीमा है। अदालतों में हत्यारों ने सारी पृथ्वी पर अनेक बार यह कहा है कि यह हत्या हमने नहीं की; जैसे हमसे करवा ली गई है। लेकिन अदालत तो इस बात को नहीं मानेगी। मानेगी कि झूठ है वक्तव्य। झूठ बहुत मौकों पर हो भी सकता है; बहुत मौकों पर झूठ नहीं है।
जो लोग प्रेतात्म-विज्ञान पर थोड़ा-सा श्रम उठाए हैं, उनको इस बात का अनुभव होना शुरू हुआ है कि बुरी आत्माएं दूसरे व्यक्तियों को कमजोर क्षण में प्रभावित कर लेती हैं।
ऐसे मकान हैं पृथ्वी पर, जिन मकानों में निरंतर हत्या होती रही है, पीढ़ियों से। और जब उन मकानों के लंबे इतिहास को खोजा गया है, तो जानकर बड़ी हैरानी हुई कि हर बार हत्या का क्रम वही रहा है, जो पिछली बार हत्या का था। उन घरों में उन आत्माओं का वास है, जो उस घर में आने वाले नए लोगों से हत्या करवाने का प्रयास फिर से करवा लेती हैं।
ऐसे स्थान हैं, जहां आदमी के मन में शुभ फलित होता है। जिन्हें हम तीर्थ कहते थे, उन तीर्थों का कोई और अर्थ नहीं है। जिन स्थानों पर भली आत्माओं के संघट की संभावना अनेक-अनेक रास्तों से निर्मित की गई है, उन स्थानों पर आदमी जाकर अचानक भला कर्म कर पाता है, जो उसके वश के बाहर दिखाई पड़ता है।
हम अकेले नहीं हैं। हमारे चारों ओर और बहुत शक्तियां काम कर रही हैं।
जब हम बुरा होना चाहते हैं, तो बुरी शक्तियां हमारे साथ खड़ी हो जाती हैं और हमारे हाथों का बल बन जाती हैं। और जब हम अच्छा कुछ करना चाहते हैं, तब भी अच्छी शक्तियां हमारे साथ खड़ी हो जाती हैं और हमारे हाथों का बल बन जाती हैं।
तो कृष्ण कह रहे हैं, अच्छा कर्म करते हुए, देवताओं की अर्चना, प्रार्थना, पूजा से, जो व्यक्ति सीधा मुझ तक न भी पहुंचे वह भी शुभ को उपलब्ध होता है।

प्रश्नः ओशो, पिछली चर्चाओं के संबंध में दो चीजें स्पष्ट करें। दूसरे श्लोक के हिंदी अनुवाद में लिखा गया है कि बहुत काल से इस पृथ्वी पर योग लुप्तप्राय हो गया है, किंतु संस्कृत श्लोक में योगो नष्टः, ऐसा कहा गया है; अर्थात योग करीब-करीब लोप नहीं, बल्कि योग नष्ट हो गया है। कृपया इसके बारे में थोड़ा समझाइए।
और आठवें श्लोक के हिंदी अनुवाद में लिखा गया है कि साधुओं का उद्धार करने के लिए प्रकट होता हूं, लेकिन संस्कृत में साधुओं के परित्राण के लिए प्रकट होता हूं, ऐसा कहा गया है। कृपया "साधुओं के उद्धार" के स्थान पर "परित्राण" का अर्थ स्पष्ट करें।

परित्राण का तो वही अर्थ है, जो उद्धार का है। उसमें कोई भेद नहीं है। नष्टप्राय का या योग नष्ट हो गया, इसका लुप्तप्राय अर्थ करना भी गलत नहीं है। असल में संस्कृत के "नष्ट होने" का अर्थ, जिस दिन उस शब्द का प्रयोग किया गया, उस दिन नष्ट होने की जो परिभाषा थी, उसको ध्यान में रखकर करना पड़े।
इस देश में कभी भी ऐसा नहीं समझा गया कि कोई चीज पूरी तरह नष्ट हो सकती है। नष्ट होने का इतना ही मतलब होता है कि वह लुप्त हो गई।
आज विज्ञान भी इस बात से सहमति देता है। डिस्ट्रक्शन का अर्थ मिट जाना नहीं, सिर्फ लुप्त हो जाना है। क्योंकि कोई चीज पूरी तरह नष्ट हो ही नहीं सकती। एक रेत के छोटे-से कण को भी हम नष्ट नहीं कर सकते। हम सिर्फ रूपांतरित कर सकते हैं, लुप्त कर सकते हैं। किसी और रूप में वह प्रगट हो जाएगा। नष्ट नहीं हो सकता।

इस पृथ्वी पर कोई चीज नष्ट नहीं होती और न कोई चीज सृजित होती है। जब
हम कहते हैं, हमने कोई चीज बनाई, तो उसका मतलब यह नहीं होता है कि हमने कोई नई चीज बनाई। उसका इतना ही मतलब होता है कि हमने कुछ चीजों को रूपांतरित किया। हमने रूप बदला।
पानी है। गर्म किया, भाप हो गई। पानी नष्ट हो गया। लेकिन क्या अर्थ हुआ नष्ट होने का? भाप होकर पानी अब भी है। और अगर थोड़ी ठंडक दी जाए और बर्फ के टुकड़े छिड़क दिए जाएं, तो भाप अभी फिर पानी हो जाए। तो पानी नष्ट हुआ था कि लुप्त हुआ था?
पानी लुप्त हुआ भाप में; रूप बदला। फिर बर्फ छिड़क दी, पानी फिर प्रगट हुआ। नष्ट नहीं हुआ था। नष्ट होता, तो वापस नहीं लौट सकता था। बहुत ठंडा कर दें पानी को, तो बर्फ बन जाएगा। पानी फिर नष्ट हो गया। पानी नहीं है अब, बर्फ है अब। लेकिन बर्फ को गरमा दें, तो फिर पानी हो जाएगा।
इस जगत में, इस अस्तित्व में न तो कोई चीज नष्ट होती और न कोई चीज निर्मित होती है। सिर्फ रूपांतरण होते हैं। इसलिए संस्कृत का जो शब्द है, योग नष्ट हो गया, उसके लिए हिंदी का अनुवाद लुप्तप्राय करना बिल्कुल ही ठीक है। ठीक इसलिए है कि अगर आज हिंदी में हम प्रयोग करें, नष्ट हो गया, तो लोग शायद यही समझेंगे कि नष्ट हो गया।
लेकिन जिस दिन इस नष्ट शब्द का प्रयोग कृष्ण ने किया था, उस दिन नष्ट
से कोई भी ऐसा नहीं समझता कि नष्ट हो गया। क्योंकि उस दिन की समझ ही यही थी कि कुछ भी नष्ट नहीं होता है। सभी चीजें रूपांतरित होती हैं। इसलिए अनुवादक ने ठीक विवेक का उपयोग किया है। उसने लुप्तप्राय कहा। खो गया; नष्ट नहीं हो गया।
नष्ट कभी कुछ होता ही नहीं है। डिस्ट्रक्शन असंभव है। विनाश असंभव है। सिर्फ चीजें बदलती हैं, नए रूप लेती हैं। कितने ही नए रूपों में मूलतः वे वही होती हैं, जो थीं। लेकिन उनको फिर पुनः नया रूप, पुराने रूप में लाने को, पुराने को प्रगट करने के लिए कुछ उपाय करना होता है।
इसलिए कृष्ण का जो अर्थ है, वह लुप्तप्राय ही है। क्योंकि उस दिन नष्ट
का यही अर्थ था। आज हमारे लिए दो अर्थ हैं। अगर हम प्रयोग करते हैं, नष्ट हो गया। जब हम कहते हैं, फलां आदमी मर गया, तो हमारे लिए वही मतलब नहीं होता है, जो कृष्ण के लिए था। कृष्ण के लिए तो मरने का इतना ही मतलब होता है कि उस आदमी ने फिर से जन्म ले लिया। हमारे लिए मरने का मतलब होता है, खतम हो गया; समाप्त हो गया। आगे कोई जन्म हमें दिखाई नहीं पड़ता। हमारी मृत्यु में अगला जन्म नहीं छिपा हुआ है। कृष्ण की मृत्यु में भी अगला जन्म छिपा हुआ है। कृष्ण के लिए मृत्यु एक द्वार है नए जन्म का; हमारे लिए द्वार है अंत का, समाप्ति का। उसके आगे फिर कुछ नहीं है; अंधकार है। सब खो गया; सब नष्ट हो गया।
इसलिए कृष्ण अगर प्रयोग करें, धर्म मर गया, तो भी हर्जा नहीं है। क्योंकि उसका भी मतलब इतना ही होगा कि वह रूपांतरित हो गया किसी और जीवन में; कहीं और से छिप गया, कहीं और चला गया। लेकिन हम अगर कहें कि धर्म मर गया, तो हमारे लिए मतलब होगा, समाप्त हो गया; डेड एंड आ गया।
अंत नहीं आता। कृष्ण की भाषा में कोई शब्द अंतवाची नहीं है। सभी शब्द
नए आरंभ के सूचक हैं। मृत्यु नया जन्म है। नष्ट होना नए रूप में खो जाना है। इसलिए नष्ट का अर्थ लुप्त ही है। और परित्राणाय का अर्थ भी उद्धार के लिए ही है, परित्राण के लिए ही है। उसमें कुछ भूल नहीं हो गई है। अनुवाद में कोई भूल नहीं है।

प्रश्नः ओशो, पिछले एक प्रवचन में आपने कहा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने अच्छे और बुरे कर्मों के लिए स्वयं जिम्मेवार है, लेकिन आज सुबह की चर्चा में आपने कहा है कि सब कुछ विराट, ब्रह्म शक्ति के नियमों के आधार पर होता है, तो व्यक्ति स्वयं कर्मों के लिए जिम्मेवार कैसे होगा?

जब तक व्यक्ति है, तब तक अपने कर्मों के लिए जिम्मेवार है। जब व्यक्ति अपने को विराट में छोड़ देता है, तब जिम्मेवार नहीं है।

इसे ठीक ऐसा समझें कि एक छोटा बच्चा अपने बाप का हाथ पकड़कर रास्ते पर
चल रहा है। बच्चा गिर पड़े, बाप जिम्मेवार है। लेकिन लड़के ने बाप का हाथ छोड़ दिया और खुद ही चल रहा है; अब गिर पड़े, तो बाप जिम्मेवार नहीं है। रिस्पांसिबिलिटी, उत्तरदायित्व आपके अपने ऊपर निर्भर है। अगर आप अहंकार के सहारे जीने की कोशिश में लगे हैं, तो आप अपने प्रत्येक कर्म के लिए जिम्मेवार हैं। बुरा किया है, तो आपने किया है; अच्छा किया है, तो आपने किया है। क्योंकि आपके प्रत्येक कर्म के पीछे आपके कर्ता का भाव खड़ा है। लेकिन एक व्यक्ति ने समर्पण किया है सब विराट को। उसने कहा, जो तेरी मर्जी। बुरा करवाए, तो तू। अच्छा करवाए, तो तू। अगर उसने मंदिर बनाया और गांव में जाकर कहे कि मंदिर मैंने बनाया। और कल चोरी में पकड़ा जाए और कहे कि चोरी परमात्मा ने करवाई, तब फिर उस आदमी ने छोड़ा नहीं। तब फिर वह बेईमानी कर रहा है, अपने साथ भी और परमात्मा के साथ भी।
नहीं, तब वह कहेगा कि परमात्मा ने मंदिर बनवाया, मैं कौन हूं! और तब वह कहेगा, परमात्मा ने चोरी कराई, मैं कौन हूं! और अगर अदालत उसे सजा दे दे, तो वह कहेगा, परमात्मा ने सजा दी। मैं कौन हूं!
तब फिर कठिनाई नहीं है। जब तक व्यक्ति कर्ता के भाव से जीता है, तब तक सारी जिम्मेवारी उसकी है। इसलिए है कि वह खुद अपने हाथ से जिम्मेवारी ले रहा है।
उसकी हालत करीब-करीब ऐसी है कि मैंने सुना है, एक फकीर एक ट्रेन में सवार हुआ। बैठा है सीट पर, लेकिन अपना बिस्तर अपने सिर पर रखे रहा। पास-पड़ोस के लोगों ने जरा चौंककर देखा। फिर किसी ने कहा कि महाशय! बिस्तर नीचे आराम से रखें। आप यह क्या कर रहे हैं? उस फकीर ने कहा, लेकिन टिकट मैंने सिर्फ अपने लिए दिया, तो बिस्तर का बोझ ट्रेन पर डालना ठीक नहीं है। मैं अपने ही ऊपर बोझ रखे हुए हूं। लेकिन लोगों ने कहा कि महाशय, आप अपने सिर पर भी रखें, तब भी कोई फर्क नहीं पड़ता, ट्रेन पर बोझ पड़ ही रहा है। आप नीचे रखें कि सिर पर रखें। हां, सिर पर रखकर आप भर परेशान हो रहे हैं। ट्रेन पर कोई अंतर नहीं पड़ रहा है इससे।
वह फकीर हंसने लगा, उसने कहा कि मैं तो सोचा कि अज्ञानी हैं यहां, इसलिए सिर पर रखूं। मुझे क्या पता कि इस कमरे में ज्ञानी हैं! उसने बिस्तर नीचे रख दिया। लोग और हैरान हुए। उन्होंने कहा, हम तुम्हारा मतलब न समझे! उस आदमी ने कहा, मैं तो यह सोचकर कि तुम सब सारी जिंदगी का भार अपने ऊपर रखते होओगे, ऐसे सब भार परमात्मा पर है! लेकिन मकान बनाओगे तो कहोगे, मैंने बनाया। बोझ तुम अपने ऊपर रखोगे। इसीलिए मैं बिस्तर अपने सिर पर रखकर बैठा कि तुम्हारे बीच यही संगत होगा। लेकिन तुम बड़े ज्ञानी हो; अच्छा हुआ।
इस फकीर ने हम सब की मजाक की, गहरी मजाक की और हृदय के गहरे घाव को छूने
की कोशिश की।
जब हम जिम्मेवार हैं, तब भी वस्तुतः तो परमात्मा ही जिम्मेवार है। लेकिन वस्तुतः का कोई सवाल नहीं है। तब तक हम अपने सिर पर बोझा रखने का कष्ट तो भोगेंगे ही। ट्रेन भला ही पूरे बोझ को ढोती हो, लेकिन जो आदमी पेटी अपने सिर पर रखे हुए है, वह तो वजन ढोएगा ही; तकलीफ भोगेगा ही! और सिर पर से पेटी गिर पड़े, तो हाथ-पैर उसका टूटेगा ही। इस बात के होते हुए भी कि ट्रेन पूरा बोझ ढो रही है।
विराट सब चीजों के लिए जिम्मेवार है। लेकिन ध्यान रहे, विराट से समझौता नहीं हो सकता। आप ऐसा नहीं कह सकते कि कुछ के लिए मैं जिम्मेवार, कुछ के लिए तुम जिम्मेवार। जब बुरा हो, तो तुम जिम्मेवार; जब भला हो, तो मैं जिम्मेवार। वैसा नहीं चलेगा। या तो सब छोड़ दो विराट पर, या फिर सब अपने ही ऊपर रखना पड़ता है। अहंकारी सब अपने ऊपर रखकर चलता है। अधार्मिक सब अपने ऊपर रखकर चलता है। धार्मिक सब उस पर छोड़ देता है। लेकिन सब--टोटल। इसमें रत्तीभर बचाया नहीं जा सकता।
तो दोनों ही बातें दो तलों पर सही हैं। जहां तक आम आदमी का संबंध है,
वह हर चीज के लिए खुद ही जिम्मेवार होता है। और इसलिए जिम्मेवारी का दुख भोगता है। जिम्मेवारी में दुख है, पीड़ा है, संताप है।

जो जानता है, वह सब छोड़ देता है प्रभु पर। फिर वह दुख नहीं भोगता। फिर
वह स्वतंत्रता का सुख भोगता है। फिर वह सब दायित्वों से मुक्त होकर, फूल की तरह हल्का-फुल्का हो जाता है। फिर वह पक्षियों की तरह गीत गा सकता है और नदियों और झरनों की तरह दौड़ सकता है और नाच सकता है। फिर उसकी जिंदगी किसी भी बोझ से दबी हुई नहीं है।
और ध्यान रहे, बड़े मजे की बात है यह कि जो व्यक्ति जितना परमात्मा पर छोड़ देता है, उतना ही बुरा कर्म मुश्किल हो जाता है। क्योंकि बुरे कर्म के लिए अहंकार का होना जरूरी है। जो व्यक्ति जितना परमात्मा पर छोड़ देता है, उतना ही बुरा कर्म मुश्किल हो जाता है। जो पूरा परमात्मा पर छोड़ देता है, उससे बुरा कर्म हो ही नहीं सकता। क्योंकि बुरे कर्म के लिए अहंकार अनिवार्य शर्त है। और जो व्यक्ति जितने अहंकार से भरा होता है, उससे शुभ कर्म हो नहीं सकता। क्योंकि अहंकार शुभ कर्म के लिए अनिवार्य बाधा है। इसलिए खुद पर जिम्मा लिया हुआ आदमी, पाप की गठरी को सिर पर बढ़ाता ही चला जाता है। असल में गठरी सिर्फ पाप की होती है। पुण्य की गठरी, ऐसा शब्द आपने सुना नहीं होगा। पुण्य की कोई गठरी होती नहीं। पुण्य आया कि गठरी वगैरह से मुक्ति हो जाती है, सिर खाली हो जाता है। पाप की ही गठरी होती है, उसका ही बोझ और बर्डन होता है। पुण्य का कोई बोझ नहीं होता।
जो व्यक्ति सब परमात्मा पर छोड़ देता है, वह हवा-पानी की तरह सरल हो जाता है। फिर जो होता है, होता है। उसके लिए फिर कोई कठिनाई नहीं है। कोई बोझ नहीं, कोई दायित्व नहीं; कोई पुण्य नहीं, कोई पाप नहीं; क्योंकि कोई कर्म नहीं।
कृष्ण पूरे वक्त अर्जुन को यही समझा रहे हैं। अर्जुन पक्के बोझ से दबा हुआ है। बहुत रिस्पांसिबल आदमी मालूम होता है! बहुत दायित्वपूर्ण है। वह कहता है, ये मर जाएंगे, वे मर जाएंगे। जैसे वह बचाएगा, तो वे बच जाएंगे! जैसे वह न मारेगा, तो वे नहीं मरेंगे। वह कुछ ऐसा अनुभव कर रहा है कि जैसे वह कोई सारे अस्तित्व का सेंटर है; सब कुछ उसके ऊपर निर्भर है। वह जमाने की बातें कर रहा है कृष्ण से, कि इससे तो कुल का नाश हो जाएगा। इससे तो संतति विकृत हो जाएगी। इससे तो भविष्य में सब अंधकार हो जाएगा। सधवाएं विधवाएं हो जाएंगी। पापाचरण बढ़ेगा। वह सब बता रहा है। उसके कारण! अगर वह युद्ध करेगा! अगर वह युद्ध से हट जाएगा, तो सब ठीक होगा? तो अब तो अर्जुन कहीं भी नहीं है। लेकिन सब कहीं भी ठीक दिखाई नहीं पड़ता। अर्जुन का भ्रम यही है कि वह सोच रहा है, सारा जिम्मा मेरा है। मैं हूं सारी चीजों के बीच में। कृष्ण पूरे समय एक ही बात समझा रहे हैं कि तू अपने को सेंटर न मान। तू अपने को केंद्र न मान। तू व्यर्थ की उलझन में मत पड़। जो करवा रहा है, जो कर रहा है, उस पर तू छोड़ दे। उसे मारना है, तो मारेगा। तेरे बहाने से, किसी और के बहाने से, किसी भी कंधे पर तीर रख जाएगा और वे मर जाएंगे। तू फिक्र न कर, तू सिर्फ उसके हाथ में निमित्त मात्र हो जा।
लेकिन उसकी समझ में नहीं आ रहा है। वह कर्ता है। और जो कर्ता है, वह निमित्त मात्र कैसे हो जाए? जिसे ख्याल है, मैं करने वाला हूं, वह किसी के हाथ का माध्यम कैसे बन जाए?
वह कबीर की तरह अर्जुन नहीं हो सकता। कबीर कहते हैं कि यह बांसुरी मैं बजा रहा हूं, इसमें मैं बांसुरी हूं, बांस की पोंगरी, स्वर मेरे नहीं हैं। स्वर उसके हैं, परमात्मा के हैं। इसलिए अगर गीत के लिए कोई धन्यवाद देना हो, तो उसी को दे देना। मेरा कोई हाथ नहीं है। मैं तो सिर्फ बांस की पोंगरी हूं, जिसमें से स्वर उसके बहते हैं।
कृष्ण पूरी गीता में अर्जुन को कह रहे हैं, तू बांस की पोंगरी हो जा। स्वर उसके बहने दे। तू यह मत सोच कि तू गा रहा है। तू बीच में मत आ। तू हट जा। तू निमित्त हो जा। वही उसकी समझ में नहीं आ रहा है।
जब ये दो बातें मैं कहता हूं कि व्यक्ति जिम्मेवार है अपने प्रत्येक कर्म के लिए, तो मेरा मतलब है, जब तक आपका अहंकार है, जब तक व्यक्ति है, तब तक आपको जिम्मेवार होना पड़ेगा। व्यर्थ ही आप जिम्मेवार हैं। ट्रेन में चढ़े हैं, गठरी सिर पर रखे हैं! कोई ट्रेन की जिम्मेवारी नहीं है। आप व्यर्थ परेशान हो रहे हैं। लेकिन जैसे ही व्यक्ति ने अपने को छोड़ा, समर्पित किया,

वैसे ही व्यक्ति जिम्मेवार नहीं है, विराट ही है। और विराट की कोई जिम्मेवारी नहीं है। क्योंकि विराट किसके प्रति रिस्पांसिबल होगा? किसके प्रति जिम्मेवार होगा? किसी के प्रति नहीं! व्यक्ति को जिम्मेवार होना पड़ेगा। विराट को जिम्मेवारी का कोई सवाल नहीं है। इनमें कोई विरोध नहीं है। यह दो तलों पर चीजों को देखना है।
दो तल हैं। एक अज्ञानी का तल है, अज्ञानी के तल पर समझना पड़ेगा। एक ज्ञानी का तल है, ज्ञानी के तल पर भी समझना पड़ेगा। और बहुत बार बड़ी उलझन होती है कि अज्ञानी होता तो अज्ञानी के तल पर है और ज्ञानी के तल की बातें करने लगता है; तब बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाती है। ऐसा रोज होता है। हमारे देश में तो जरूर हुआ है। क्योंकि इस देश में ज्ञान की इतनी बातें थीं कि अज्ञानी भी उनको करना सीख गए। वे भी ज्ञान की बातें करने लगे। रहते अज्ञानी की तरह हैं, जीते अज्ञानी की तरह हैं, बोझ अज्ञानी का लिए रहते हैं। वक्त पर, मौके पर, ज्ञानी की तरह बातें करने लगते हैं।
मेरे पड़ोस में एक आदमी मर गया, तो मैं उनके घर गया। पास-पड़ोस के लोग इकट्ठे थे। सब समझा रहे थे कि आत्मा तो अमर है। मैंने सोचा, इस मुहल्ले में इतने ज्ञानी हैं! कहते हैं, आत्मा अमर है! रोने की क्या जरूरत है? क्यों दुख मना रहे हैं? कोई मरता तो है नहीं; शरीर ही मरता है। मैंने उनके चेहरे गौर से देख लिए कि कभी जरूरत पड़े सलाह-मशविरे की, तो उनके पास चला जाऊंगा। फिर एक दिन पता लगा कि जो सज्जन अगुवा होकर समझाते थे, आत्मा अमर है, उनके घर कोई मर गया। तो मैं भागा हुआ पहुंचा। देखा, तो वे रो रहे हैं। मैं बहुत हैरान हुआ। फिर मैंने कहा, थोड़ी चुप्पी साधकर बैठूं। लेकिन हैरानी और बढ़ी। जिनके घर वे समझाने गए थे, वे लोग समझाने आए हुए थे। और कह रहे थे, आत्मा अमर है। काहे के लिए रो रहे हैं?
अब ये दो तल की बातें हैं। जो आत्मा को अमर जानते हैं, उनकी दुनिया बहुत अलग है। लेकिन बात उनकी चुरा ली गई है। और जो आत्मा को मरने वाला मानते हैं, जानते हैं भलीभांति कि मरेगी; मरे या न मरे, उनका जानना यही है कि मरेगी; उनके पास यह चोरी की बात है। इस बात का वहां बड़ा उपद्रव खड़ा हो जाता है। ज्ञान की चर्चा लोग सुनते हैं... ।
एक संन्यासी के आश्रम में मैं कुछ दिन मेहमान था। तो वहां वे रोज समझाते थे कि आत्मा शुद्ध-बुद्ध है। वह कभी अशुद्ध होती ही नहीं। उनके सामने मैं लोगों को बैठे देखता था। वे कहते, जी महाराज, बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। मैंने उन लोगों से पूछा अकेले में कि तुम कहते हो, जी, बिल्कुल ठीक कह रहे हैं! वे बोले कि बिल्कुल ठीक बात है; आत्मा बिल्कुल शुद्ध है।
लेकिन वे जो लोग उनके सामने पगड़ियां बांधकर और कहते थे, आत्मा बिल्कुल शुद्ध है, वे सब तरह के चोर, सब तरह के ब्लैक मार्केटियर, सब तरह के उपद्रवों में सम्मिलित थे। वे उसी ब्लैक मार्केट से वहां मंदिर भी खड़ा करवाते थे। और बैठकर सुनते थे कि आत्मा शुद्ध-बुद्ध है। सदा शुद्ध है। वह कभी पाप करती ही नहीं; कभी पाप उससे होता ही नहीं। आत्मा ने कभी कुछ किया ही नहीं। उनके मन को बड़ी राहत और कंसोलेशन मिलता होगा कि अपन ने ब्लैक मार्केट नहीं किया। अपन ने कोई चोरी नहीं की। आत्मा शुद्ध-बुद्ध है, बड़े प्रसन्न घर लौटे। वे प्रसन्न घर लौट रहे हैं, वे यहां सुनने सिर्फ यही आ रहे हैं कि आत्मा शुद्ध है अर्थात अशुद्ध तो हो ही नहीं सकती। अब कितनी ही अशुद्धि करो, अशुद्ध होने का कोई डर नहीं है। यह ज्ञान की बात और अज्ञान की दुनिया में जाकर बड़ा उपद्रव खड़ा करती है।
भारत के नैतिक पतन का कारण यह है, यहां दो तल की बातें हैं। एक तल पर बहुत ऊंचा ज्ञान था और दूसरे तल पर हमारा आदमी बहुत नीचे है। उस ऊंचे तल की बातें उसके कानों में पड़ गई हैं। वह वक्त-बेवक्त उनका उपयोग करता रहता है। वह कहता है, सब संसार माया है। इधर कहता चला जाता है, सब संसार माया है, और जिस-जिस चीज को माया कहता है, उसके पीछे जी-जान लगाकर दौड़ा भी चला जाता है! ये दो तल।
इसलिए मैंने जो बात कही, वह दो तल पर ही समझ लेनी उचित है। जब तक आपको पता है कि आप हो, तब तक समझना कि सब जिम्मेवारी आपकी है। तब तक ऐसा मत करना कि आप भी बने रहो और जिम्मेवारी परमात्मा पर छोड़ दो। ऐसा नहीं चलेगा। अगर

जिम्मेवारी परमात्मा पर छोड़नी हो, तो आपको भी अपने को परमात्मा के चरणों में छोड़ देना पड़ेगा। वह अनिवार्य शर्त है। और जब तक आप अपने मैं को न छोड़ पाओ, उसके द्वार पर, तब तक सारी जिम्मेवारी का बोझ अपने सिर पर रखना। वह ईमानदारी है, सिंसियरिटी है। ठीक है फिर। पाप किया है, पुण्य किया है, मैं जिम्मेवार हूं; क्योंकि जो भी किया है, वह मैंने किया है।
और अगर ऐसा लगे कि नहीं, सब जिम्मेवारी विराट की है, तो फिर इस मैं को उसके चरणों में रख आना। जिस दिन मैं को उसके चरणों में रख दो, और जिस दिन यह हिम्मत आ जाए कहने की कि मैंने कुछ भी नहीं किया, सब उसने कराया है। वही है, मैं नहीं हूं। उसका ही फैला हुआ हाथ हूं। फिर उस दिन से आपकी कोई जिम्मेवारी नहीं है।
लेकिन बड़े मजे की बात है कि उस दिन से आपके जीवन से बुरा एकदम विलीन हो जाएगा। क्योंकि बुरा घटित नहीं हो सकता बिना अहंकार के। उस दिन से आपके जीवन में शुभ के फूल खिलने शुरू हो जाएंगे; सफेद फूलों से भर जाएगी जिंदगी। क्योंकि जहां अहंकार नहीं है, वहां शुभ्र फूल अपने आप खिलने शुरू हो जाते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। 13।।
तथा हे अर्जुन! गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य
और शूद्र मेरे द्वारा रचे गए हैं। उनके कर्ता को भी, मुझ अविनाशी परमेश्वर को, तू अकर्ता ही जान।

कृष्ण इस श्लोक में कहते हैं, गुण और कर्म के अनुसार चार वर्ण मैंने
ही रचे हैं! एक बात। और तत्काल दूसरी बात कहते हैं कि फिर भी, उन्हें निर्माण करने वाले मुझ कर्ता को, तू अकर्ता ही जान।
बहुत मिस्टीरियस, बहुत रहस्यपूर्ण वक्तव्य है। पहले हिस्से को पहले समझ लें, फिर दूसरे हिस्से को समझें।
वर्ण की बात ही असामयिक हो गई है। कृष्ण के इस सूत्र को पढ़कर न मालूम कितने लोग बेचैनी अनुभव करते हैं। परमात्मा ने रचे हैं वर्ण! कठिनाई मालूम पड़ती है। क्योंकि वर्णों के नाम पर इतनी बेहूदगी हुई है और वर्णों के नाम पर इतना अनाचार हुआ है, वर्णों की ओट और आड़ में इतना सड़ापन पैदा हुआ है, इतनी सड़ांध पैदा हुई है कि भारत का पूरा हृदय ही कैंसर से ग्रस्त अगर हुआ, तो वह वर्णों के सहारे हुआ है।
तो आज कोई भी विचारशील व्यक्ति जब इस सूत्र को पढ़ता है, तो थोड़ा या तो बेचैन होता है या जल्दी इसको पढ़कर आगे निकल जाता है। इस पर ज्यादा रुकता नहीं। ऐसा लगता है कि कुछ ठीक नहीं है; आगे बढ़ो। पर मैं इस पर जरा रुकना चाहूं। क्यों? क्योंकि जीवन में सत्यों के आधार पर भी असत्य चल जाते हैं। सच तो यह है कि असत्य के पास अपने पैर नहीं होते; उसे पैर सदा सत्य से ही उधार लेने पड़ते हैं। इसलिए असत्य बोलने वाला बहुत कसमें खाता है कि जो मैं बोल रहा हूं, वह सत्य है। बेईमानी को भी ईमानदारी के वस्त्र पहनने पड़ते हैं। और दुनिया में जब भी कोई सत्य जीवन-सिद्धांत प्रकट होता है, तो उसका भी दुरुपयोग किया गया है, किया जाता रहा है। लेकिन इससे सिद्धांत गलत नहीं होता।
एटम का विश्लेषण हुआ। परिणाम में हिरोशिमा और नागासाकी का विध्वंस मिला। हिरोशिमा और नागासाकी के कारण एटम के विश्लेषण का सिद्धांत गलत नहीं होता। लाख आदमी मर गए, जलकर राख हो गए। और पीढ़ियों दर पीढ़ियों तक बच्चे प्रभावित रहेंगे। पंगु, अपंग, अंधे, लंगड़े, लूले पैदा होंगे। लेकिन फिर भी अणु के विश्लेषण का सिद्धांत, थिअरी गलत नहीं होती है। गलत उपयोग हुआ, यह हमारे कारण, सिद्धांत के कारण नहीं।
वर्ण के कारण जो-जो हुआ, उसके लिए हम जिम्मेवार हैं, हम गलत लोग। उसके लिए वर्ण की वैज्ञानिक चिंतना जिम्मेवार नहीं है।
कृष्ण जब कहते हैं, तो वे दो शब्दों का उपयोग करते हैं। वे कहते हैं, गुण और कर्म के अनुसार मैंने चार वर्ण बनाए। गुण और कर्म!

व्यक्ति-व्यक्ति में गुणों का भेद है। और दुनिया में कोई समानता का उपाय नहीं है, जिससे हम गुण-भेद मिटा सकें। हम कितनी ही बड़ी कम्युनिस्टिक सोसायटी को पैदा कर लें, कितना ही साम्यवादी समाज निर्मित कर लें, गुण-भेद नहीं मिटा पाएंगे। धन को बराबर बांट दें; कपड़े एक से पहना दें; मकान एक से बना दें; गुण भिन्न ही होंगे। गुण में अंतर नहीं मिटाया जा सकेगा। कोई उपाय नहीं है। गुण व्यक्ति की आत्मा का हिस्सा है; बाह्य समाज व्यवस्था का हिस्सा नहीं है गुण।
इसलिए पहली बात आपसे कहता हूं कि कृष्ण का यह ख्याल कि यह वर्ण की व्यवस्था मैंने बनाई, यह व्यक्ति के आंतरिक गुणधर्म की चर्चा है। इसका सामाजिक व्यवस्था से दूर का संबंध है। गहरे में संबंध व्यक्ति के भीतर के निजी व्यक्तित्व से है, इंडिविजुअलिटी से है।
एक-एक व्यक्ति में गुण का भेद है। और गुण हम जन्म से लेकर पैदा होते हैं। गुण निर्मित नहीं होते, बिल्ट-इन हैं; पैदाइश के साथ बंधे हैं। वह जो मां और पिता से जो कण मिलते हैं हमें, हमारे सब गुण उनमें ही छिपे हैं। आइंस्टीन इतनी बुद्धिमत्ता को उपलब्ध होगा, यह उसके पहले अणु में छिपी हुई है। और आज नहीं कल, वैज्ञानिक पहले अणु की जांच करके खबर कर सकेंगे कि यह व्यक्ति क्या होगा। वैज्ञानिक तो यहां तक पहुंच गए हैं कि उनका ख्याल है, जैसे आज बाजार में फलों की और फूलों की दुकान पर फूलों के बीजों के पैकेट मिलते हैं, और अंदर बीज होते हैं और ऊपर फूल की तस्वीर होती है, कि इन बीजों को अगर बो दिया, तो ऐसे फूल पैदा हो जाएंगे। वैज्ञानिक कहते हैं, पच्चीस साल के भीतर, इस सदी के पूरे होते-होते, हम आदमी के जीवाणु को भी पैकेट में रखकर दुकान पर बेच सकेंगे कि यह जीवाणु इस तरह का व्यक्ति बन सकेगा। उसकी तस्वीर भी ऊपर दे सकेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि वह जो पहला अणु है, उसमें सारा बिल्ट-इन, सभी भीतर से निर्मित गुणों की व्यवस्था है। वह बाद में प्रकट होगी; मौजूद सदा से है। और उस गुण में बुनियादी भेद है। उन भेदों को कृष्ण कहते हैं, चार में मैंने बांटा। मैंने अर्थात प्रभु ने, चार में बांटा। प्रकृति ने, परमात्मा ने, जो भी नाम हम पसंद करें, चार मोटे विभाजन किए हैं। और चार मोटे विभाजन हैं। यह बहुत संयोग की बात नहीं है कि दुनिया में जब भी जिन लोगों ने मनुष्यों के टाइप का विभाजन किया, तो विभाजन हमेशा चार में किया; चाहे कहीं भी किया हो।
अभी पश्चिम के एक बहुत बड़े विचारक कार्ल गुस्ताव जुंग ने, इस सदी के बड़े से बड़े मनोवैज्ञानिक ने, जब आदमियों के टाइप बांटे, तो उसने भी चार में बांटे। नाम अलग, लेकिन बांटे चार में ही। इसमें कुछ मजबूरी है। चार ही हैं प्रकार, मोटे। फिर तो एक-एक व्यक्ति में थोड़े-थोड़े फर्क होते हैं, लेकिन मोटे चार ही प्रकार हैं।
कुछ लोग हैं, जिनके जीवन की ऊर्जा सदा ही ज्ञान की तरफ बहती है; जो जानने को आतुर और पागल हैं। जो जीवन गंवा देंगे, लेकिन जानने को नहीं छोड़ेंगे।
अब एक वैज्ञानिक जहर की परीक्षा कर रहा है कि किस-किस जहर से आदमी मर जाता है। अब वह जानता है कि इस जहर को जीभ में रखने से वह मर जाएगा, लेकिन फिर भी वह जानना चाहता है। हम कहेंगे, पागल है; बिल्कुल पागल है! ऐसे जानने की जरूरत क्या है?
लेकिन हमारी समझ में न आएगा। वह ब्राह्मण का टाइप है। वह बिना जाने नहीं रह सकता। जीवन लगा दे, लेकिन जानकर रहेगा। वह जहर को जीभ में रखकर, उस आनंद को पा लेगा, जानने के आनंद को, कि हां, इस जहर से आदमी मरता है। हम कहेंगे, इसमें कौन-सा फायदा है? उस आदमी को क्या मिल रहा है? हम समझ न पाएंगे। सिर्फ अगर हमारे भीतर कोई ब्राह्मण होगा, तो समझ पाएगा, अन्यथा हम न समझ पाएंगे।
आइंस्टीन को क्या मिल रहा है? सुबह से सांझ तक लगा है प्रयोगशाला में! क्या मिल रहा है? कौन-सा धन? यह सुबह से सांझ तक पागल की तरह ज्ञान की खोज में किसलिए लगा है?
नहीं, किसलिए का सवाल नहीं है। अंत का सवाल नहीं है, मूल का सवाल है।
मूल में गुण उसके पास ब्राह्मण का है। वह जानने के लिए लगा हुआ है।

तो कृष्ण कहते हैं, गुण और कर्म।
गुण भिन्न हैं, चार तरह के गुण हैं; चार तरह के आर्च टाइप हैं। जुंग ने आर्च टाइप शब्द का प्रयोग किया है। चार तरह के मूल प्रकार हैं। एक--जो ज्ञान की खोज में, जिसकी आत्मा आतुर है। जिसकी आत्मा एक तीर है, जो जानने के लिए, बस जानने के लिए, अंतहीन यात्रा करती है।
अब जो लोग चांद पर पहुंचे हैं, चांद पर क्या मिल जाएगा? कुछ बहुत मिलने
को नहीं है। लेकिन जानने की उद्दाम वासना! चांद पर भी नहीं रुकेंगे--और, और, और आगे। कहीं कोई सीमा नहीं है। ये जो ज्ञान की खोज में आतुर लोग हैं, ये ब्राह्मण हैं--गुण से।
दूसरा एक वर्ग है, जो शक्ति का खोजी है। जिसके लिए पावर, शक्ति सब कुछ है; शक्ति का पूजक है। शक्ति मिली, तो सब मिला। वह कहीं से भी जीवन में शक्ति मिल जाए, तो उसी की यात्रा में लगा रहेगा। यह जो शक्ति का खोजी है, वह भी एक टाइप है। उसे इनकार नहीं किया जा सकता। क्षत्रिय उस गुण का व्यक्ति है।
अर्जुन इसी गुण का व्यक्ति है; कृष्ण ने इसी सिलसिले में यह बात भी कही है। वे उसे यही समझाना चाहते हैं कि तू अपने गुण को पहचान, तू अपनी निजता को पहचान और उसके अनुसार ही आचरण कर, अन्यथा तू मुश्किल में पड़ जाएगा। क्योंकि जब भी कोई व्यक्ति अपने गुण को छोड़कर दूसरे के गुण की तरह व्यवहार करता है, तब बड़ी अड़चन में पड़ जाता है। क्योंकि वह वह काम कर रहा है, जो वह कर नहीं सकता। और उस काम को छोड़ रहा है, जिसे वह कर सकता था।
और जीवन का समस्त आनंद इस बात में है कि हम वही पूरी तरह कर पाएं जो करने को नियति, डेस्टिनी, जो करने को प्रभु ने उत्प्रेरित किया है। अन्यथा जीवन में कभी शांति नहीं मिल सकती, आनंद नहीं मिल सकता। जीवन का आनंद एक ही बात से मिलता है कि जो फूल हममें खिलने को थे, वे खिल जाएं; जो गीत हमसे पैदा होने को था, वह पैदा हो जाए।
लेकिन अगर ब्राह्मण क्षत्रिय बन जाए, तो कठिनाई में पड़ जाएगा। क्योंकि शक्ति में उसे कोई रस नहीं है। इसलिए आप देखें कि इस देश में ब्राह्मणों को इतना आदर दिया गया, लेकिन ब्राह्मण ने उतने आदर, सम्मान, सर्वश्रेष्ठ ऊपर होने पर भी कोई शक्ति पाई नहीं। ब्राह्मण भिखारी का भिखारी रहा। उसने कोई शक्ति पाई नहीं। वह दीन का दीन ही रहा। वह अपने झोपड़े में बैठकर ब्रह्म की खोज करता रहा। आदर उसे बहुत था। सम्राट उसके चरणों पर सिर रखते थे। राज्य उसके चरणों में लोट सकते थे। लेकिन उसे कोई मतलब न रहा। वह अपनी खोज में लगा रहा ब्रह्म की, दूर जंगल में बैठकर। पागल रहा होगा! हम कहेंगे, जब सम्राट ही पैर पर सिर रखने आया था, तो कुछ तो मांग ही लेना था!
कणाद के जीवन में कथा है। कणाद ब्राह्मण का टाइप है। नाम ही कणाद पड़ गया इसलिए कि कभी इतना अनाज भी घर में न हुआ कि संग्रह कर सके; रोज खेत में कण-कण बीन ले; कणों को बीनने की वजह से नाम पड़ गया, कणाद। सम्राट को खबर लगी कि कणाद कण बीन-बीनकर खेतों के खा रहा है। सम्राट ने आज्ञा दी कि भरो रथों को धन-धान्य से! चलो कणाद के पास।
बहुत धन-धान्य को लेकर सम्राट पहुंचा। कणाद के चरणों में सिर रखा और कहा कि मैं बहुत धन-धान्य ले आया हूं। दुख होता है कि मेरे राज्य में आप रहें और आप कण बीन-बीनकर खाएं! आप जैसा महर्षि और कण बीने खेतों में, तो मेरा अपमान होता है।
तो कणाद ने कहा, क्षमा करें! खबर भेज देते; इतना कष्ट क्यों किया? मैं तुम्हारा राज्य छोड़कर चला जाऊंगा। सम्राट ने कहा, आप क्या करते हैं! कैसी बात कहते हैं? आप मेरी बात नहीं समझे! कणाद तो उठकर खड़े हो गए! ज्यादा तो कुछ था नहीं; जो दो-चार किताबें थीं, बांधने लगे।
सम्राट ने कहा, आप यह क्या करते हैं? कणाद ने कहा, तेरे राज्य की सीमा कहां है, वह बता। मैं सीमा छोड़ बाहर चला जाऊं। क्योंकि मेरे कारण तू दुखी हो, तो बड़ा बुरा है। सम्राट ने कहा, यह मेरा मतलब नहीं है। मैं तो सिर्फ यह निवेदन करने आया कि बहुत धन-धान्य लाया हूं, वह स्वीकार कर लें।

कणाद ने कहा, उसे तू वापस ले जा! उसे तू वापस ले जा, क्योंकि उस धन-धान्य की व्यवस्था और सुरक्षा और सुविधा कौन करेगा? उसकी देख-रेख कौन करेगा? हमें फुर्सत नहीं है; हम अपने काम में लगे हैं। थोड़ी-सी फुर्सत मिलती है; सुबह घूमने निकलते हैं; उसी में खेत से कुछ दाने बीन लाते हैं, उससे काम चल जाता है। कोई झंझट हमें है नहीं। तू अपना यह सब वापस ले जा। इसकी फिक्र कौन करेगा? और हम इसकी फिक्र करेंगे कि हम अपनी फिक्र करेंगे, जिस खोज में हम लगे हैं। तू जल्दी कर और वापस ले जा; और दोबारा इस तरफ मत आना। और अगर आना हो, तो खबर कर देना। हम राज्य छोड़कर चले जाएंगे। हम कण कहीं भी बीन लेंगे; सभी जगह मिल जाएंगे।
अब यह जो आदमी है, इसे कण बीनने में सुविधा मालूम पड़ती है, क्योंकि कोई व्यवस्था नहीं करनी पड़ती है; कोई मैनेजमेंट में नाहक समय जाया नहीं करना पड़ता है। नहीं तो बहुत-से मालिक घूम-फिरकर मैनेजर ही रह जाते हैं। लगते हैं कि मालिक हैं, होते कुल-जमा मैनेजर हैं।
एण्ड्रू कार्नेगी, अमेरिका का अरबपति मरा, तो उसने अपने सेक्रेटरी से पूछा--ऐसे ही मजाक में--कि अगर दोबारा जिंदगी फिर से हम दोनों को मिले, तो तू मेरा फिर से सेक्रेटरी होना चाहेगा कि तू एण्ड्रू कार्नेगी होना चाहेगा और मुझको सेक्रेटरी बनाना चाहेगा? उस सेक्रेटरी ने कहा, आप नाराज तो न होंगे? एण्ड्रू कार्नेगी ने कहा कि नाराज क्यों होऊंगा! बिल्कुल स्वाभाविक है, तू एण्ड्रू कार्नेगी बनना चाहे। उसने कहा, माफ करें। मैं यह नहीं कह रहा। मैं यह कह रहा हूं कि मैं फिर सेक्रेटरी ही होना चाहूंगा। एण्ड्रू कार्नेगी ने कहा, पागल! तू एण्ड्रू कार्नेगी नहीं बनना चाहता? उसने कहा, बिल्कुल भूलकर नहीं। आपको जब तक नहीं जानता था, तब तक तो कभी भगवान से प्रार्थना भी कर सकता था; अब कभी नहीं कर सकता। उसने कहा, कारण क्या है? तो उसने कहा कि मैंने अपनी डायरी में कारण नोट किया हुआ है। उसने अपनी डायरी में लिख छोड़ा था कि हे परमात्मा, भूलकर मुझे कभी एण्ड्रू कार्नेगी मत बनाना। क्योंकि एण्ड्रू कार्नेगी अपने दफ्तर में सुबह नौ बजे आता। चपरासी दस बजे आते। क्लर्क साढ़े दस बजे आते। मैनेजर ग्यारह बजे आता। डायरेक्टर्स एक बजे आते। डायरेक्टर्स तीन बजे चले जाते। चार बजे मैनेजर चला जाता। फिर क्लर्क चले जाते। फिर चपरासी चले जाते। एण्ड्रू कार्नेगी साढ़े सात बजे शाम को जाता। मुझे कभी एण्ड्रू कार्नेगी मत बनाना।
अब यह एण्ड्रू कार्नेगी दस अरब रुपए छोड़कर मरा है। लेकिन मालिक नहीं था। मैनेजर भी नहीं था। चपरासी भी नहीं था। चपरासी भी दस बजे आता; चपरासी भी साढ़े चार बजे चला जाता। एण्ड्रू कार्नेगी चपरासी से पहले मौजूद है; चपरासी के बाद दफ्तर छोड़ रहे हैं! आखिर यह आदमी मैनेज कर रहा है, किसके लिए?
नहीं, लेकिन इसका भी अपना टाइप है। वह तीसरा टाइप है। वह धन, वैश्य का टाइप है। इसे प्रयोजन नहीं है, न ज्ञान से, न शक्ति से। इसे महाराज्यों से प्रयोजन नहीं है। इसे ब्रह्म से कोई वास्ता नहीं है। इसे ब्रह्मांड से कुछ लेना-देना नहीं है। दूर के तारों से मतलब नहीं है। पास के रुपए काफी हैं। यह तिजोरी बड़ी करता जाए, भरता चला जाए। यह भी इसका टाइप है। यह वैश्य का टाइप है। धन इसकी आकांक्षा है।
चौथा एक शूद्र का टाइप है; श्रम उसकी आकांक्षा है। ऐसा नहीं है, जैसा
हम साधारणतः समझाए जाते हैं कि कुछ लोगों को हम मजबूर कर देते हैं श्रम के लिए; ऐसा नहीं है। अगर कुछ लोगों को श्रम न मिले, तो उनके लिए जीना मुश्किल हो जाए। खाली सभी लोग नहीं रह सकते।
अभी अमेरिका में कठिनाई आनी शुरू हुई है। क्योंकि श्रम का काम समाप्त होने के करीब है, मशीनें करने लगी हैं। और अमेरिका के सब बड़े विचारशील लोग--चाहे जेकस ईलूल हो, और चाहे कोई और हों--वे सब इस चिंता में पड़े हैं कि दस-पंद्रह साल में सारा आटोमेटिक इंतजाम हो जाएगा। सब मशीनें काम कर देंगी। तो अब सवाल यह है कि लोग काम मांगेंगे, तो हम काम कहां से देंगे? और लोग काम मांगेंगे, क्योंकि लोग बिना काम रह नहीं सकते। कुछ लोग तो रह ही नहीं सकते बिना काम।

एक दिन मैं ट्रेन में सफर कर रहा था। थका था। किसी गांव से, भीड़-भाड़ से लौट रहा था, तो मैंने सोचा कि अब चौबीस घंटे सोए ही रहना है। पर एक सज्जन और मेरे कंपार्टमेंट में थे। मैं जैसे ही कमरे में आया, मैंने उनकी तरफ देखा नहीं, क्योंकि देखा कि खतरा शुरू हो जाए! वे कुछ बातचीत शुरू कर दें। मैंने जल्दी से आंख बंद की और मैं सोने लगा। उन्होंने कहा, क्या आप इतनी जल्दी सोने लगे? मैंने कहा कि आप समझिए, मैं सो ही गया। मैं तो चादर ओढ़कर सो रहा। घंटा भर, डेढ़ घंटे बाद मैं उठा, तो देखा कि वही अखबार वे पढ़ रहे थे, जब मैं सोया था। फिर उसको ही पढ़ रहे थे, फिर से पहले पेज से शुरू कर दिया था। मुझे देखा, तो उन्होंने जल्दी से अखबार बंद किया। मैंने कहा, आप पढ़िए, मैं तो फिर वापस सो जाने वाला हूं।
सुबह जब उठा, तब वे फिर कल वाला ही अखबार पढ़ रहे थे! न मालूम कितनी बार
पढ़ चुके थे! जब मुझे देखा, तो जरा संकोच में उन्होंने अखबार बंद करके रख दिया। मैं करवट लिए पड़ा रहा। कभी वे खिड़की खोलते, कभी सूटकेस खोलते, कभी यह चीज इधर रखते, कभी वह चीज उधर रखते।
दोपहर होते-होते मैंने देखा कि वे बिल्कुल पागल हुए जा रहे हैं। दोपहर को जब मैं खाना खाकर फिर सोने लगा, उन्होंने कहा, क्या आप गजब कर रहे हैं! फिर सोइएगा? कुछ बातचीत नहीं करिएगा? मैंने कहा कि आप अपना काम जारी रखिए। मुझे कोई एतराज नहीं है। आप बार-बार खिड़की खोलिए, बंद करिए! सूटकेस दबाइए, उठाइए। जो आपको करना है। आप उसी अखबार को हजार दफे पढ़िए, मुझे कोई एतराज नहीं है। आप मुझे भूलिए। मैं नहीं हूं। वे बोले, आपने ख्याल कर लिया क्या? मैं डर रहा था कि आप क्या सोचेंगे कि यह आदमी क्यों बार-बार खिड़की खोलता बंद करता है! लेकिन मैं क्या करूं, मैं खाली बहुत मुसीबत में हूं। अब यह भी एक टाइप है, जो बिना काम के जी नहीं सकता।
आज अमेरिका में दो दिन की छुट्टी हो गई है सप्ताह में, तो आप जानकर हैरान होंगे कि अमेरिका में एक कहावत है कि दो दिन की छुट्टी के बाद आदमी इतना थक जाता है कि एक सप्ताह विश्राम की जरूरत पड़ती है। यह बड़ी मुश्किल बात है! दो दिन की छुट्टी के बाद आदमी इतना थक जाता है कि सात दिन के विश्राम की जरूरत पड़ती है! तो छुट्टी में विश्राम किया आपने?
नहीं, छुट्टी में लोग सैकड़ों-हजारों मील कार चलाए, बीच पर पहुंचे। एक नहीं पहुंचा; नैक टु नैक कारें, एक-दूसरे से फंसी रहीं। लाखों कारें पहुंच गईं। पूरी बस्ती समुद्र के तट पर पहुंच गई। जिस बस्ती से भागे थे, लेकिन पूरी बस्ती भाग रही है, वह पूरी बस्ती वहां मौजूद हो गई। इससे तो अच्छा घर रह जाते, तो अब घर में थोड़ा सन्नाटा रहता। क्योंकि सारी बस्ती बीच पर आ गई। अब सारी बस्ती बीच पर रही। फिर बीच से भागे!
सारे अमेरिका में छुट्टी के दिन सर्वाधिक दुर्घटनाएं हो रही हैं। क्योंकि छुट्टी के दिन लोग बिल्कुल शैतानी के काम में लग जाते हैं। क्या करें? फुर्सत खतरनाक है! जब तक मिली नहीं, तब तक आपको पता नहीं। अगर पूरी फुर्सत मिल जाए, तो खतरनाक है। तब आपको पता चलेगा कि श्रम करने वाला भी एक टाइप है, जो बिना श्रम किए नहीं रह सकता।
कृष्ण कहते हैं, ये चार गुण से विभाजित लोग हैं। शायद इन चारों की जरूरत भी है। क्योंकि सारे लोग ज्ञान खोजें, तो जगत अस्तित्व में नहीं रह जाए। और सारे लोग शक्ति खोजें, तो सिवाय युद्धों के कुछ भी न हो। और सारे लोग धन खोजें, तो आदमी मर जाएं और तिजोरियां बचें। और सारे लोग श्रम करें, तो कोई संस्कृति, कोई सभ्यता, कोई कला, कोई विज्ञान, कोई दर्शन, कोई धर्म-- कुछ भी न हो। ये चारों कांप्लिमेंट्री हैं। इन चारों के बिना जगत नहीं हो सकता।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, ये चार, गुण से और कर्म से।
भीतर तो गुण हैं, उन गुणों से जुड़े हुए संयुक्त कर्म हैं। गुण ही बाहर प्रगट होकर कर्म बन जाते हैं। भीतर जिनका नाम गुण है, बाहर उनका नाम कर्म है। जब बीज में होते हैं, तो उनका नाम गुण है; और जब प्रकट होकर संबंधित होते हैं, तो उनका नाम कर्म हो जाता है
गुण-कर्म से मैंने चार में बांटा, कृष्ण कहते हैं।

यह चार का विभाजन, कृष्ण की दृष्टि में ऊंचे-नीचे का विभाजन नहीं है। कृष्ण की दृष्टि में इसमें कोई हायरेरकी नहीं है। इसमें कोई ऊपर और कोई नीचे नहीं है। ये चार जीवन के, शरीर के, चार अंग हैं, समान मूल्य के। एक के भी बिना तीन नहीं हो सकते।
विकृति उस दिन आनी शुरू हुई, जिस दिन हमने हायरेरकी बनाई। जिस दिन हमने कहा कि नहीं कोई ऊपर, और कोई नीचे। नहीं, श्रम भी उतना ही ऊपर है, जितना ज्ञान। और अगर किसी को ज्ञान की पिपासा है और किसी को अगर श्रम की पिपासा है, तो श्रम की पिपासा का भी हकदार है आदमी कि अपनी पिपासा को पूरी करे। ज्ञान की पिपासा का भी हकदार है आदमी कि अपनी पिपासा को पूरी करे। और दोनों ही पिपासाएं विराट से मिली हैं, जन्म से मिली हैं, बिल्ट-इन हैं। इसलिए गौरव की बात क्या है?
अगर मुझे सत्य की खोज की आकांक्षा है, तो इसमें गौरव की बात क्या है?
यह मुझे वैसे ही मिली है, गिवेन है, वरदान है परमात्मा का, जैसे एक आदमी को श्रम की क्षमता मिली है। इसमें अगौरव क्या है? कोई नीचे-ऊपर नहीं है। वह उसका बिल्ट-इन प्रोग्रेम है।
एक फूल गुलाब बनने को हुआ है, एक फूल कमल बनने को हुआ है, एक फूल जुही बना है, एक फूल चमेली बना है। दुनिया सुंदर है। जितने ज्यादा फूल हैं, उतनी ही सुंदर है। लेकिन गुलाब गुलाब होने की मजबूरी में है। कमल कमल होने की मजबूरी में है। कमल का कमल होना, कमल का गौरव नहीं है; वह कमल की नियति है, डेस्टिनी है। गुलाब का गुलाब होना भी गुलाब की डेस्टिनी है। और एक घास के फूल का घास का फूल होना भी उसकी अपनी डेस्टिनी है।
और मजे की बात यह है कि जब घास का फूल अपने पूरे सौंदर्य में खिलता है,
तो किसी गुलाब के फूल से पीछे नहीं होता। आपके लिए होगा, क्योंकि बाजार में बेचेंगे, तो घास के फूल का दाम नहीं मिलेगा। लेकिन घास के फूल के लिए, खुद घास के फूल के लिए, घास का फूल जब पूरी तरह खिलता है, तो उतनी ही एक्सटैसी में, उतने ही हर्षोन्माद में होता है, जितना जब गुलाब का फूल अपनी पूरी पंखुड़ियों को खिलाकर नाचता है सूरज की रोशनी में। दोनों अपने आनंद में होते हैं। और सूरज घास के फूल से यह नहीं कहता कि शूद्र! हट, मैं सिर्फ गुलाब के फूलों के लिए आया हूं। नहीं, सूरज उतने ही आनंद से बरसता है घास के फूल पर। चांद उतने ही आनंद से अमृत बरसाता है। हवाएं उतने ही आनंद से घास के फूल को भी नृत्य और थपकी देती हैं, जितनी गुलाब के फूल को देती हैं। इसमें कोई भेद-भाव नहीं है।
जगत के, अस्तित्व के भीतर कोई भेद-भाव नहीं है। गुण-भेद है, भेद-भाव नहीं है। कोई नीचे-ऊपर नहीं है। विभाजन है, शत्रुता नहीं है। कोई एक-दूसरे के कांफ्लिक्ट में नहीं है। संघर्ष नहीं है, सहयोग है।
कृष्ण के लिए, जिस दिन वर्ण की उन्होंने बात कही, चारों वर्णों में एक अंतर-सहयोग था, एक इनर को-आपरेशन था। एक आर्गेनिक यूनिटी थी। इन चारों के बीच एक शरीर-संबंध था।
इसलिए कृष्ण ने पीछे शरीर से तुलना भी की है कि कोई सिर है, कोई पैर है, कोई पेट है। अंग की भांति सारे वर्ण हैं। कोई नीचे-ऊपर नहीं है। लेकिन नीचे-ऊपर दिखाई पड़ता है। क्योंकि उन्होंने कहा कि सिर। सिर ऊपर मालूम होता है। पैर! पैर नीचे मालूम होते हैं। लेकिन यह ऊपर-नीचे होना फिजिकल है। यह ऊपर-नीचे होना मूल्यांकन नहीं है। यह मूल्यांकन, इसमें कोई वेल्युएशन नहीं है कि पैर नीच है, ऐसा नहीं है। अगर नीचा है, तो उसका कुल मतलब इतना है कि स्पेस में सिर ऊपर मालूम हो रहा है, पैर नीचे। लेकिन वह भी सब बातचीत काल्पनिक है।
एक आदमी किसी की छत पर खड़े होकर देखे, तो आपका सिर नीचे हो जाता है, उसका सिर ऊंचा हो जाता है। छोटे बच्चे करते हैं। कुर्सी पर खड़े हो जाते हैं बाप के पास और कहते हैं, हम तुमसे बड़े हैं। फिजिकल! हैं भी बड़े, जब ऊपर हो गए। अगर सिर ऊपर है पैर से, तो बेटा कुर्सी पर खड़ा होकर बड़ा है।
तो छिपकली, जो आपके छत पर चल रही है आपके सिर के ऊपर! छिपकली के बाबत क्या ख्याल है? ब्राह्मण के ऊपर छिपकली चल रही है! छिपकली बहुत ऊपर है!

ये ऊपर-नीचे की बचकानी बातें हैं। इसमें कुछ भेद, कोई मूल्यांकन कृष्ण के मन में नहीं है; किसी के मन में नहीं था। हमारे मन में पैदा हुआ।
हमने थोपा।
कृष्ण कहते हैं, गुण और कर्म के अनुसार मैंने विभाजित किया व्यक्तियों को।
गुण, भीतरी क्षमता; कर्म, बाहरी अभिव्यक्ति; कर्म, मैनिफेस्टेशन।
ध्यान रहे, गुण जब कर्म बनता है, तभी दूसरों को पता चलता है। जब तक गुण गुण रहता है, तब तक किसी को पता नहीं चलता। दूसरों को ही नहीं, खुद को भी पता नहीं चलता। खुद को भी पता तभी चलता है, जब गुण कर्म बनता है। जब एक व्यक्ति अपने को प्रकट करता है अपने कर्मों में, तभी आपको भी पता चलता है और उसको भी पता चलता है कि वह क्या है।
गुण, बीज की तरह छिपा हुआ अस्तित्व है। कर्म, वृक्ष की तरह प्रकट अस्तित्व है।
गुण और कर्म के अनुसार विभाजित मनुष्य हैं। इस विभाजन को कभी भी तोड़ा नहीं जा सकता। इस विभाजन को इनकार किया जा सकता है। कानून बनाया जा सकता है कि ऐसा कोई विभाजन नहीं है। विधान बनाया जा सकता है, ऐसा कोई विभाजन नहीं है। लेकिन विभाजन जारी रहेगा।
अगर हम एक कानून बना लें। और कोई कठिन नहीं है, हम एक कानून बना दें कि स्त्री-पुरुषों के बीच कोई विभाजन नहीं है। कानून बनाया जा सकता है, मेजारिटी चाहिए! और हमेशा मेजारिटी हर तरह की बेवकूफी के लिए मिल सकती है। अगर आपकी धारा-सभा में, आपकी असेंबली और पार्लियामेंट में, बहुमत तय कर ले कि स्त्री-पुरुष में कोई फासला नहीं है, तो कानून बन सकता है। लेकिन कानून बनने से प्रकृति नहीं बदल जाती।
कानून बन भी गए हैं करीब-करीब। कानून ही नहीं बन गए, पश्चिम के मुल्कों ने स्त्री और पुरुष के बीच के फासले को गिराना भी शुरू कर दिया है। तो पुरुष स्त्रियों जैसे होने की कोशिश में लग गए हैं; ताकि एक-दूसरे की तरफ थोड़ा-थोड़ा चलें, तो फासला कम हो जाए। स्त्रियां पुरुषों जैसी होने लग गई हैं। स्त्रियां पुरुषों के कपड़े पहन रही हैं; पुरुष स्त्रियों के कपड़े पहनने की कोशिश में लगे हैं। स्त्रियां बाल कटा रही हैं, पुरुष बाल लंबे कर रहे हैं! ऐसा दोनों थोड़ा-थोड़ा चलेंगे, तो कहीं मिलन हो जाएगा, इस आशा में।
लेकिन अगर स्त्रियों और पुरुषों को बिल्कुल एक जैसी शकल का भी बनाकर खड़ा कर दिया जाए, तो भी नियति का जो फासला है, वह नहीं गिर जाता। लेकिन उस फासले में कोई ऊंच-नीच नहीं है। वह वर्टिकल नहीं है, हारिजांटल है। वह फासला ऊंचा-नीचा नहीं है।
ठीक गुण और कर्म से भी जो भेद है, वह नियतिगत, स्वभावगत है। उस स्वभावगत भेद को कृष्ण कहते हैं, मैंने ही निर्मित किया।
इस विभाजन को स्वाभाविक, परमात्मा से आया हुआ विभाजन वे कह रहे हैं। इन-बॉर्न, इन-बिल्ट, प्रकृति में ही छिपा हुआ, यही उनका अर्थ है। और यह वे इसीलिए कह रहे हैं, ताकि अर्जुन को ठीक से ख्याल आ जाए कि उसका अपना गुणकर्म क्या है। और वह उसके स्मरण को ध्यान में लेकर कर्म में सक्रिय हो सके, गुण को पहचानकर कर्म कर सके।
गुण और कर्म का मेल हो जाए, तो व्यक्ति के जीवन में एक हार्मनी, एक अंतर-संगीत पैदा हो जाता है। गुण और कर्म का भेद टूट जाए, तो व्यक्ति के जीवन में विसंगीत उत्पन्न हो जाता है।
एक प्रश्न है आखिरी। फिर हम सुबह बात करेंगे।

प्रश्नः ओशो, अभी आपने कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में मूल्यों की श्रेष्ठता, हायरेरकी नहीं है। लेकिन चेतना की ऊंचाइयों एवं चेतना के विकास को ख्याल में रखने पर, क्या ब्राह्मण की चेतना शूद्र की चेतना से श्रेष्ठ नहीं है?

नहीं; चेतना किसी की श्रेष्ठ नहीं है। चेतना श्रेष्ठ होती है अपने गुण को पूरा उपलब्ध कर लेने पर; किसी की भी श्रेष्ठ हो जाती है।
अगर ब्राह्मण ज्ञान के साथ आत्मसात हो जाए, तो उसकी चेतना श्रेष्ठ हो जाती है। अगर क्षत्रिय शक्ति के साथ आत्मसात हो जाए, एक हो जाए... । अर्जुन जब तीर चलाए, तो तीर और अर्जुन अलग-अलग न रह जाएं, अर्जुन तीर बन जाए। अर्जुन जब तलवार हाथ में ले, तो हाथ और तलवार के बीच का फासला गिर जाए; हाथ और तलवार एक हो जाएं। तो ब्राह्मण जब ध्यान में पूरा लीन होकर ब्रह्म के साथ एक होता है, तो जिस अनुभव को उसकी चेतना उपलब्ध होती है, उसी अनुभव को अर्जुन की चेतना भी उपलब्ध हो जाएगी, जब वह घूमती हुई तलवार के साथ एक हो जाएगा। अर्जुन के लिए वही ध्यान बन जाएगा।
जापान में मंदिर हैं, जिन मंदिरों पर तलवारों के चिह्न बने हुए हैं। जापान में क्षत्रियों का एक समूह हुआ, समुराई। मंदिरों पर तलवार! और मंदिरों के भीतर तलवार सिखाने के लिए स्कूल हैं। कभी बहुत चौंकने की बात मालूम पड़ती है! मंदिर के भीतर तलवार चलाने का स्कूल? तलवार की ट्रेनिंग? पागल हो गए हैं आप? मंदिर में तलवार चलाना सिखाकर क्या करिएगा?
लेकिन समुराई कहते हैं कि हम क्षत्रिय हैं। हम तो तलवार की चमक पर जब
एक हो जाएंगे, जब तलवार और हमारे बीच कोई फासला न रहेगा, तलवार का नृत्य ही जब हमारे प्राणों का नृत्य हो जाएगा, हम बिल्कुल एक हो सकेंगे; वही हमारा ध्यान है; वही हमारी समाधि है। वहीं से समाधि मिल जाएगी।
अगर श्रम का आतुर व्यक्ति अपने श्रम में इतना डूब जाए कि पीछे कोई भी
न बचे; फावड़े से खोदता है जमीन को या काटता है लकड़ी को कुल्हाड़ी से, उसकी कुल्हाड़ी के उठने के साथ ही उसका भी उठना हो, और कुल्हाड़ी के गिरने के साथ उसका भी गिरना हो, कुल्हाड़ी और उसके बीच कोई अंतर न रह जाए, तो वह उसी ध्यान को उपलब्ध हो जाता है, जो ब्राह्मण अपनी कुटी में बैठकर ध्यान करके उपलब्ध होता है।
ध्यान, चारों वर्ण के लोग अपने-अपने ढंग से उपलब्ध हो सकते हैं। और जो
भी चेतना ध्यान को उपलब्ध हो जाती है, वह श्रेष्ठ हो जाती है। श्रेष्ठता का संबंध शूद्र, ब्राह्मण और वैश्य और क्षत्रिय से नहीं है। श्रेष्ठता का संबंध ध्यान से है। जो चेतना ध्यान को उपलब्ध हो जाए, किसी भी मार्ग से, वह चेतना श्रेष्ठता को उपलब्ध हो जाती है।
श्रेष्ठता ध्यान से उपलब्ध होती है। और चार तरह के ध्यान होंगे मोटे-- शूद्र के लिए, ब्राह्मण के लिए, क्षत्रिय के लिए, वैश्य के लिए। तल्लीनता! इतनी तल्लीनता कि भीतर से कर्ता मिट ही जाए, एक हो जाए। यह एकता किसी भी भांति आ जाए। यह प्रयोगशाला में आ जाए वैज्ञानिक को; कि नृत्यकार को नाचते हुए आ जाए; यह वाद्य बजाने वाले वीणावादक को वीणा में आ जाए; यह शिक्षक को पढ़ाने में आ जाए; यह गिट्टी फोड़ने वाले को गिट्टी फोड़ने में आ जाए। कहीं भी आ जाए। यह ध्यान जहां भी आ जाए, वहीं श्रेष्ठता चेतना की उपलब्ध हो जाती है।
चेतना की श्रेष्ठता वर्ण पर निर्भर नहीं, चेतना की श्रेष्ठता ध्यान
पर निर्भर है।
और कुछ सवाल होंगे, तो कल सुबह। आज की रात की बैठक पूरी हुई।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
पांचवां प्रवचन

जीवन एक लीला

प्रश्नः ओशो, कल के तेरहवें श्लोक की व्याख्या में आपने चार वर्णों
की बात कही। कृष्ण इस श्लोक के दूसरे हिस्से में कहते हैं कि इन चारों वर्णों की गुण और कर्मों के अनुसार रचना करते हुए भी मैं अकर्ता ही रहता हूं। कृपया इसे स्पष्ट करें कि वे कैसे अकर्ता रहे?

करते हुए भी मैं अकर्ता हूं, कृष्ण का ऐसा वचन गहरे में समझने योग्य है। पहली बात, कर्म से कर्ता का भाव पैदा नहीं होता। कर्म अपने आप में कर्ता का भाव पैदा करने वाला नहीं है। कर्ता का भाव भीतर मौजूद हो, तो कर्ता का भाव कर्म के ऊपर सवार हो जाता है। भीतर अहंकार हो, तो कर्म पर सवारी कर लेता है। ऐसे, कर्म अपने आप में, कर्ता के भाव का जन्मदाता नहीं है।
तो कृष्ण की बात तो छोड़ें एक क्षण को, हम भी चाहें, तो कर्म करते हुए अकर्ता हो सकते हैं। कर्म ही कर्ता का निर्माता नहीं है; कर्ता का निर्माता अहंकार का भाव है। और अहंकार का भाव इतना अदभुत है कि आप कुछ न करें, तो भी कुछ न करने का कर्ता भी बन जाता है।
आप रास्ते पर चल रहे हैं; चलने की क्रिया घटित होती है। अगर इस चलने के कर्म को बहुत गौर से देखें, तो आप भीतर कहीं भी चलने वाले को न पाएंगे, सिर्फ चलने की क्रिया ही मिलेगी। कितना ही खोजें, चलने वाला कहीं न मिलेगा। क्योंकि भीतर जो मौजूद है, वह चलता ही नहीं है। क्रिया चलने की बाहर ही होती है; भीतर चलने वाला कोई भी नहीं है। भीतर तो जो है, वह अचल है, चलता ही नहीं। कभी चला ही नहीं। आप हजारों मील की यात्रा कर चुके हों, तो भी भीतर जो है, वह अपनी ही जगह है। वह इंचभर भी नहीं चला है। लेकिन अहंकार का भाव चलने की क्रिया पर सवार हो जाता है और कहता है, मैं चलता हूं। रास्ते पर चलते वक्त गौर से देखना, चलने वाला कहीं भी मिलता है खोजने से? चलने की क्रिया है; सच। चलने वाला कहीं भी नहीं है। लेकिन हमारी भाषा में कुछ बुनियादी भूलें हमारे अहंकार के कारण प्रवेश कर गई हैं। हमें ऐसा लगता है कि जब चलने की क्रिया है, तो चलने वाला भी होना ही चाहिए।
यह करीब-करीब बात वैसी ही है, जैसे हम कहते हैं कि आकाश में बिजली चमकती है। यह वाक्य बिल्कुल ही गलत है। अस्तित्व की दृष्टि से बिल्कुल ही गलत है। इसमें ऐसा लगता है, बिजली कुछ और है और चमकना कुछ और है। बिजली चमकती है। सच बात इतनी है कि चमकने का नाम बिजली है। इसमें चमकने वाला और, और चमकने की क्रिया और--ऐसी भ्रांति पैदा होती है वाक्य से। बिजली चमकती है, ऐसा ठीक नहीं है। चमकता है जो, उसका नाम बिजली है। चमकना बिजली है।
हम कहते हैं, वर्षा बरसती है। एकदम ही गलत बात कहते हैं। वर्षा का मतलब है, जो बरस रही है। अब वर्षा बरसती है, यह रिपीटीशन है, यह पुनरुक्ति है; यह व्यर्थ ही हम कह रहे हैं।
अगर हम किसी भी क्रिया के भीतर प्रवेश करें, तो हम कर्ता को कभी न पाएंगे; सिर्फ क्रिया ही मिलेगी। भीतर कौन मिलेगा लेकिन? भीतर जरूर कोई है। वह कर्ता नहीं है, द्रष्टा है, साक्षी है। समस्त क्रियाओं के भीतर द्रष्टा है, साक्षी है।
आपके पेट में भूख मालूम होती है। आप कहते हैं, मुझे भूख लगी है। जैसे
कि आप भूख को लगा रहे हैं; जैसे कि आप कर्ता हैं! सचाई उलटी है। सचाई इतनी ही है कि आपको पता चलता है कि भूख लगी है। आपको भूख नहीं लगती। भूख की क्रिया घट रही है; आप सिर्फ जानते हैं कि भूख लगी है। अगर ठीक से हम कहें, तो कहना चाहिए कि मैं जान रहा हूं कि भूख लगी है। ऐसा नहीं कहना चाहिए, मुझे भूख लगी है।
आपके सिर में दर्द है, तो भी आप में दर्द नहीं है; आप सिर्फ जान रहे हैं
कि सिर में दर्द है। और जब आपको दर्द के मिटाने वाली दवा दे दी जाती है,

एस्पिरिन दे दी जाती है, तो आप यह मत सोचना कि दर्द मिट गया। दर्द अपनी जगह है। लेकिन दर्द का जानने वाले तक पहुंचने का रास्ता टूट गया। अब आप जान नहीं रहे कि दर्द हो रहा है। जान नहीं रहे हैं, इसलिए अब आप कहते हैं कि अब सिर में दर्द नहीं हो रहा है।
पिछले महायुद्ध में ऐसा हुआ कि फ्रांस में एक सैनिक के पैर में बहुत चोट लगी। वह बेहोश हो गया। चोट ऐसी थी कि पैर बचाया नहीं जा सका। रात बेहोशी में ही घुटने से नीचे का हिस्सा काट दिया गया। अंगूठे में बहुत तकलीफ थी, जब वह होश में था। सुबह जब वापस होश में आया, तो उसने कहा कि मेरे अंगूठे में बहुत तकलीफ है। पर अंगूठा तो अब था ही नहीं! पास की नर्स ने कहा, आप जरा फिर से सोचें। अंगूठे में तकलीफ है? मजाक में ही कहा। उसने कहा, बहुत तकलीफ है।
नर्स ने कंबल उठाकर बताया कि पैर के नीचे का हिस्सा तो अब है ही नहीं।
जो अंगूठा नहीं है, उसमें तकलीफ कैसे हो सकती है? उस आदमी ने देखा और उसने कहा कि दिखाई पड़ रहा है मुझे भलीभांति कि पैर घुटने से नीचे का काट दिया गया है; नहीं है। लेकिन फिर भी मुझे अंगूठे में तकलीफ है। मैं भी क्या कर सकता हूं? उस सैनिक ने कहा, अगर अंगूठे में तकलीफ है, तो मैं भी क्या कर सकता हूं?
डाक्टर बुलाए गए। समझा कि कुछ भ्रम हो गया है उस आदमी को। बहुत तकलीफ
थी; भूला नहीं है। अब तो हो नहीं सकती। समझाने-बुझाने की कोशिश की। लेकिन उस आदमी ने कहा, मैं पूरे होश में हूं। मुझे दिखाई पड़ रहा है कि अब पैर नहीं बचा, इसलिए तकलीफ होनी नहीं चाहिए। तर्कयुक्त मुझे भी मालूम पड़ती है बात। लेकिन मैं क्या कर सकता हूं! तकलीफ है!
फिर और खोजबीन की गई, तो पाया गया कि वह आदमी ठीक कहता था, तकलीफ थी। तो बहुत मुश्किल हो गई। जो अंगूठा नहीं है, उसमें तकलीफ कैसे हो सकती है? खोजबीन से पता चला कि अंगूठे की तकलीफ जिन तंतुओं के द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचती है, वे अभी भी खबर दे रहे हैं। अंगूठा तो बहुत दूर है मस्तिष्क से, बीच में तो तारों का जाल है, जो खबर पहुंचाते हैं। वे कंपते हैं और कंपकर खबर पहुंचाते हैं। वे अभी भी कंप रहे हैं। मस्तिष्क के पास जो छोर है तंतु का, वह अभी भी कंपकर खबर दे रहा है कि दर्द है। अंगूठा नहीं है, और दर्द है! असल में मस्तिष्क तक चेतना में कोई दर्द नहीं है। चेतना को सिर्फ पता चलता है। अगर पता चलता रहे, तो ऐसा दर्द भी मालूम पड़ेगा, जो नहीं है। और अगर पता न चले, तो ऐसा दर्द भी मालूम नहीं पड़ेगा, जो है।
चेतना सिर्फ ज्ञाता है, नोअर है, विटनेसिंग है। सिर्फ एक साक्षी-भाव है।
हम भी क्रिया के भीतर कर्ता नहीं हैं। कर्ता हमारा भ्रम है। परमात्मा
को ऐसा भ्रम नहीं हो सकता। इसलिए कृष्ण कहते हैं, यह सब करते हुए भी मैं अकर्ता हूं। हम भी जिस दिन जानेंगे, पाएंगे यही कि सब करते हुए भी अकर्ता हूं। लेकिन वह दिन दूर है। जिस दिन हम यह जानेंगे, उस दिन हम भी परमात्मा का हिस्सा हो जाएंगे।
एक तो इस दृष्टि से इस सूत्र को समझें। यह साधक के लिए उपयोगी है कि वह धीरे-धीरे अकर्ता होता चला जाए, साक्षी बनता चला जाए। एक दिन ऐसी घड़ी आ जाए कि उसकी जिंदगी में कर्ता का कोई बोध ही न बचे। बस, वह सिर्फ जानने वाला रह जाए।
जिस दिन यह घड़ी आती है, उसी दिन समाधि फलित हो जाती है। उसी दिन जीवन
का परम सौभाग्य का क्षण आ जाता है। उसी दिन हम वहां पहुंच जाते हैं, जहां जन्मों से पहुंचने की आकांक्षा है। उस दिन मंजिल मिल जाती है। वह यात्रा- पथ समाप्त होता है; मुकाम आ जाता है। उस दिन हम मंदिर में प्रविष्ट होते हैं। उस दिन तीर्थ आ गया, जिस दिन हमने जाना कि अब कर्ता कोई भी नहीं है; सिर्फ देखने वाला, जानने वाला है।
दूसरे अर्थों में भी कृष्ण के कहने का प्रयोजन है। परमात्मा के पास अहंकार नहीं हो सकता। क्यों? क्योंकि अहंकार अहंकारों के बीच में ही हो सकता है; अकेला नहीं हो सकता। दो परमात्मा जगत में नहीं हैं। अहंकार, मैं

का भाव सदा तू के भाव से जुड़ा हुआ है। अगर तू न बचे, तो मैं नहीं बच सकता।
कोई अर्थ नहीं रह जाता उसमें।
इसलिए जितने आप भीड़ में होते हैं, उतने अहंकार से भर जाते हैं। जितने एकांत में होते हैं, उतने अहंकार से खाली हो जाते हैं।
अगर साधक एकांत की तरफ भागता रहा है, तो उसका कारण यह नहीं है कि वह समाज से भाग रहा है। उसका बहुत गहरे में कारण यही है कि अकेले में उसे अहंकार के विसर्जन की सुविधा मालूम पड़ती है। जैसे ही दूसरा मौजूद हुआ कि मेरा मैं भी खड़ा हो जाता है।
आप अपने कमरे में अकेले बैठे हैं, कोई नहीं है। तब अहंकार बहुत क्षीण होता है। होता है, क्योंकि आपके मन में दूसरे मौजूद होते हैं। कमरे में तो मौजूद नहीं होते, मन में मौजूद होते हैं। मन में मौजूद होने के कारण थोड़ा- सा अहंकार शेष रहता है।
रात गहरी नींद में सो गए हैं। जब तक सपना चलता है, तब तक अहंकार थोड़ा-
सा मौजूद रहता है। लेकिन जब सपना भी बंद हो जाता है, तब कोई अहंकार मौजूद नहीं रह जाता; तब आपके भीतर मैं का कोई भाव नहीं होता। इसलिए सुबह जब आप उठकर कहते हैं कि रात बड़ी गहरी नींद आई, बड़ा आनंद आया; वह आनंद गहरी नींद का नहीं है; वह आनंद मैं से मुक्त हो जाने के क्षणों का है। क्षणभर के लिए भी रात अगर इतनी गहरी नींद हो गई कि मैं न रहा, तो बड़ी गहरी ब्लिस, बहुत गहरे आनंद के लोक से संस्पर्श हो जाता है। एक स्वर्ग उस गहराई से आ जाता है, जो परमात्मा का है।
इसलिए सुषुप्ति समाधि के बहुत करीब है, और बहुत दूर भी। करीब इसलिए है
कि जैसे समाधि में मैं मिट जाता है, वैसे ही सुषुप्ति में भी मिट जाता है। दूर इसलिए, कि सुषुप्ति में प्राकृतिक मूर्च्छा के कारण मैं मिटता है; और समाधि में व्यक्ति की सजगता के कारण मैं मिटता है।
मैं की मौजूदगी के लिए तू का होना जरूरी है। तू के बिना मैं के बनने का कोई उपाय नहीं है। मैं और तू पोलेरिटी है। जैसे कि बिजली ऋण और धन के बिना नहीं हो सकती। पाजिटिव इलेक्ट्रिसिटी अकेली नहीं हो सकती, निगेटिव के बिना। निगेटिव अकेली नहीं हो सकती, पाजिटिव के बिना। जैसे इस पृथ्वी पर पुरुष अकेले नहीं हो सकते, स्त्रियों के बिना; स्त्रियां अकेली नहीं हो सकतीं, पुरुषों के बिना।
आपको शायद ख्याल न आया हो, जब स्त्री आपके सामने मौजूद होती है, तब आपके भीतर का पुरुष बहुत सक्रिय हो जाता है। जब स्त्री मौजूद नहीं होती, तब निष्क्रिय हो जाता है। जब स्त्री के सामने पुरुष मौजूद होता है, तब स्त्रैणता आ जाती है; जब पुरुष नहीं रह जाता, तो स्त्रैणता विलीन हो जाती है।
दूसरा पोल सदा मौजूद चाहिए। मैं का दूसरा हिस्सा तू है। मैं और तू एक
ही घटना के दो छोर हैं; जैसे एक ही डंडे के दो छोर। अगर तू गिर जाए, तो भी मैं गिर जाता है; अगर मैं गिर जाए, तो भी तू गिर जाता है। परमात्मा के लिए कोई तू नहीं है। इसलिए मैं के बनने का कोई उपाय नहीं है।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं, विशेषकर पश्चिम का एक मनोवैज्ञानिक पियागेट, जिसने पूरी जिंदगी, बच्चों में मैं का भाव कैसे पैदा होता है, इस पर समर्पित की है; उसकी बड़ी हैरानी की खोजें हैं। वह कहता है कि बच्चे में मैं का भाव बाद में पैदा होता है, तू का भाव पहले पैदा होता है। बच्चे को पहले दूसरों का पता चलता है, फिर अपना पता चलता है। ठीक भी यही है। बच्चे को पहले पता चलता है और लोगों का।
इसलिए अक्सर बच्चे ऐसा नहीं कहते कि मुझे भूख लगी है। छोटा बच्चा कहता है, इसको भूल लगी है। यह भी उसके लिए दि अदर, और की तरह मालूम पड़ता है। छोटे बच्चे अक्सर अपना नाम लेते हैं, वे कहते हैं, बबलू को भूख लगी है! उनका नाम बबलू है। वे ऐसा नहीं कहते, मुझे भूख लगी है। अभी मुझे का भाव बहुत गहरा नहीं हुआ है। अभी बबलू भी थर्ड पर्सन है। कहता है, बबलू को नींद आ रही है।
पियागेट कहता है कि बच्चों को पहले तू का पता चलता है; फिर धीरे-धीरे मैं का पता चलता है। इसलिए बच्चे इतने भोले मालूम पड़ते हैं, क्योंकि मैं

का पता चलने में जरा देर है अभी। अभी मैं का छोर निर्मित हो रहा है। जब निर्मित हो जाएगा, तो बच्चे कठिन और कठोर हो जाएंगे।
इसलिए जब बच्चों में पहली दफा मैं पैदा होता है, तब रिबेलियन पैदा होता है। इसलिए एक उम्र है बच्चों की, जो रिबेलियन की है, विद्रोह की है, बगावत की है। जब पहली दफे बच्चे में मैं आता है, तब वह सब तरफ मैं की परीक्षा करता है। बाप के खिलाफ, मां के खिलाफ, गुरु के खिलाफ वह मैं की परीक्षा करता है--मैं हूं।
तो अगर मां कहती है कि यह मत करो, तो वह करके दिखाता है; नहीं तो पता कैसे चले कि मैं हूं! अगर बाप कहता है, वहां मत जाओ, तो वह जाकर बताता है; नहीं तो पता कैसे चले कि मैं हूं? इसलिए बड़ी स्वाभाविक बात है कि बच्चे कुछ दिनों मां-बाप के खिलाफ लड़ते हैं। वह खिलाफ लड़कर ही, वे अपनी ईगो को मजबूत करते हैं।
यह मैंने इसलिए कहा कि परमात्मा के लिए मैं का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि तू का कोई उपाय नहीं है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, मैं करता हुआ भी अकर्ता हूं। मैं होते हुए भी न होने जैसा हूं। हूं, और फिर भी मैं नहीं हूं। क्योंकि तू का तो कोई उपाय नहीं है। परमात्मा किसको कहे तू? कोई उपाय नहीं है। इसलिए भी उनका यह वचन बहुत अर्थपूर्ण है। और एक तीसरे अर्थ में भी।
परमात्मा के लिए अस्तित्व ऐसे ही है, जैसे हमारे लिए शरीर। एक आर्गेनिक यूनिटी है। मैं अपने हाथ को तू नहीं कहता; मैं अपने हाथ को मैं ही कहता हूं। मैं अपने पैर को तू नहीं कहता; मैं अपने पैर को मैं ही कहता हूं। मेरा शरीर मेरा ही विस्तार है। परमात्मा के लिए समस्त अस्तित्व उसका ही विस्तार है। वही है। इसलिए जब परमात्मा कुछ निर्माण भी करता है, सृजन भी करता है, क्रिएट भी करता है, तो वह सृजन भी पराए का सृजन नहीं है। उस सृजन को भी समझ लेना उचित है।
एक चित्रकार एक चित्र बनाता है। तो जब चित्रकार चित्र बनाता है, तो चित्र अलग हो जाता है, चित्रकार अलग हो जाता है। फिर चित्रकार मर भी जाए, तो भी चित्र नहीं मरेगा; चित्र बना रहेगा। चित्र का अपना अस्तित्व हो गया। एक मूर्तिकार मूर्ति निर्माण करता है। मूर्ति अलग बन गई। मूर्तिकार न भी रहे, तो अब मूर्ति को कोई फर्क नहीं पड़ता। जैसे मां ने बेटे को जन्म दे दिया; अब मां मर जाएगी, तो भी बेटा रहेगा। अब बेटे का अस्तित्व अलग हो गया। ऐसे ही मूर्तिकार ने मूर्ति को जन्म दे दिया। मूर्ति अलग हो गई। मूर्ति जन्मते ही तू हो गई। मूर्तिकार अब मूर्ति को मैं नहीं कह सकता, अब उसको तू ही कहना पड़ेगा। अब मूर्ति का अपना अस्तित्व है।
लेकिन एक नृत्यकार है, एक डांसर है। वह नाचता है। नाच अलग नहीं हो पाता। कितना ही नाचे, तो भी नृत्य और नर्तक एक ही रहते हैं। इसलिए हमने परमात्मा को नृत्य करते हुए नटराज की तरह सोचा; मूर्ति बनाते हुए नहीं सोचा; चित्र बनाते हुए नहीं सोचा। नृत्य करते हुए सोचा। उसका गहरा रहस्य है। उसका कुल कारण यह है कि जैसे नर्तक और नृत्य एक ही हैं; अगर नर्तक रुक जाए, तो नृत्य रुक जाएगा। और बड़े मजे की बात है, अगर नृत्य रुक जाए, तो नर्तक नर्तक नहीं रह गया; क्योंकि नर्तक तभी तक नर्तक है, जब तक नृत्य चल रहा है। नर्तक और नृत्य के बीच एक एकात्मता है; एक ही हैं वे। नर्तक नृत्य को अलग रखकर तू नहीं कह सकता और न नर्तक नृत्य को अलग रखकर नर्तक रह सकता है।
तो परमात्मा के और सृष्टि के बीच जो संबंध है, वह नर्तक और नृत्य का है। न तो परमात्मा स्रष्टा रह सकता है सृष्टि को बंद करके--इसलिए बंद ही नहीं कर सकता; नहीं तो स्रष्टा नहीं रह जाएगा। बंद होना होगा ही नहीं। सृष्टि शाश्वत चलती ही रहेगी। क्योंकि स्रष्टा और सृष्टि एक हैं। दि क्रिएटर एंड दि क्रिएशन आर वन। नर्तक और नृत्य की भांति। इसलिए सृष्टि को भी परमात्मा तू नहीं कह सकता। वहां भी तू के लिए कोई उपाय नहीं है, गुंजाइश नहीं है, अवकाश नहीं है, जगह नहीं है, जहां वह तू को खड़ा कर सके।

इसलिए कृष्ण कहते हैं कि सब करते हुए भी मैं अकर्ता हूं। कर्ता मुझे नहीं पकड़ पाता। मैं मुझे नहीं पकड़ पाता। कर्म अहंकार को निर्मित नहीं कर पाते हैं।
करीब-करीब ऐसे ही, जैसे कभी गर्मी के दिनों में देखा हो अंधड़। कभी हवा
का तेज अंधड़ आता है गर्मी के दिनों में। धूल का बवंडर उठता है वर्तुलाकार। धूल के आकाश में बवंडर ऊंचे उठते चले जाते हैं। जब बवंडर चला जाए, तो जाकर जमीन को देखना, तो बहुत हैरानी होगी। बड़ा बवंडर था, बड़ा तूफान था। निशान बन गए होंगे जमीन पर, उसके घूमने के। लेकिन बीच में एक सूनी खाली जगह भी होगी-- शून्य; जहां कोई निशान नहीं होगा। उसी शून्य पर सारा बवंडर घूमा। जैसे कील पर चाक घूमता है। उस खाली शून्य पर सारे बवंडर का तूफान आया; बीच में सब शून्य था।
परमात्मा एक बवंडर की तरह अस्तित्व है। बीच में कोई मैं नहीं है, वहां
सब बीच में शून्य है। चारों तरफ अस्तित्व की विराट लीला है।
इसीलिए हम जगत को परमात्मा की लीला कहते हैं। सृष्टि से भी सुंदर शब्द है वह, लीला, प्ले। क्योंकि खेल में अहंकार नहीं होता।
हमें हो जाता है। और जब खेल में अहंकार हो जाता है, तो खेल काम हो जाता है, फिर खेल नहीं रह जाता। हमें तो खेल में भी हो जाता है। दो आदमी ताश भी खेल रहे हों, तो अकड़ आ जाती है। शतरंज भी खेल रहे हों, तो तलवारें खिंच जाती हैं। हमें तो खेल में भी अहंकार आ जाता है, हार-जीत जोर से पकड़ जाती है। फिर वह खेल नहीं रहा, फिर तो वह काम ही हो गया; दुकान ही हो गई।
खेल तभी तक है, जब तक भीतर मैं नहीं है। लीला चल रही है। हारे, तो भी ठीक है; जीते, तो भी ठीक है। कोई खास फर्क नहीं पड़ता। हां, कभी-कभी ऐसा होता है। अगर बाप कभी बच्चे के साथ खेल खेलता है, तो ऐसा होता है। बाप बच्चे के साथ खेल खेलता है, तो ऐसा होता है, क्योंकि बच्चे के साथ अहंकार पकड़ने में बाप को भी नासमझी मालूम पड़ती है। फिर हारने की, जीतने की फिक्र नहीं करता। कई दफे तो खुद ही हार जाता है, क्योंकि बच्चा नहीं तो जीतेगा कैसे? खुद लेट जाता है; बच्चे को छाती पर बिठा लेता है; और बच्चा खुशी से भर जाता है। और बच्चे की जीत की खुशी बाप की भी खुशी बन जाती है--हारकर। अब यह खेल है। परमात्मा के लिए जगत एक खेल है। कई बार हमें जिताता भी है। बस, बच्चे
की तरह। कई बार हम उसकी छाती पर भी होते हैं; पर बच्चे की तरह। भीतर उसके लिए कोई अहंकार नहीं है। ऐसी निरहंकार स्थिति की घोषणा, कृष्ण ने इस वचन में की है। उसे समझें। और धीरे से वह जीवन में कभी उतर आए, तो बड़ा सौभाग्य है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। 14।।
कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए मेरे को कर्म लिपायमान नहीं करते। इस प्रकार जो मेरे को तत्व से जानता है, वह भी कर्मों से नहीं बंधता है।

कृष्ण कहते हैं, कर्मों के फलों में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए कर्म मुझे लिप्त नहीं कर पाते हैं। और जो मुझे ऐसा जानता है, वह भी कर्मों के लिप्त होने से मुक्त हो जाता है।
कर्मों के फलों में स्पृहा नहीं है; कर्मों के फलों की आकांक्षा नहीं है। खेल और कर्म का यही फर्क है। फल की आकांक्षा हो, तो खेल भी कर्म बन जाता। फल की आकांक्षा न हो, तो कर्म भी खेल बन जाता। बस, कर्म और खेल का फर्क ही फल की आकांक्षा है।
आप सुबह-सुबह घूमने निकले हैं--घूमने, जस्ट फार ए वाक--कोई पूछता है, कहां जा रहे हैं? आप कहते हैं, कहीं जा नहीं रहा; घूमने जा रहा हूं। कहते हैं, कहीं जा नहीं रहा, घूमने जा रहा हूं, अर्थात फल का कोई सवाल नहीं है; कहीं पहुंचने का कोई प्रयोजन नहीं है। कहीं पहुंचने को नहीं जा रहा। कोई मंजिल नहीं है, कोई मुकाम नहीं है, जहां के लिए जा रहा हूं। बस, घूमने जा रहा हूं।

इसी रास्ते से दोपहर को आप दुकान की तरफ भी जाते हैं। तब आप बस घूमने नहीं जा रहे हैं, कहीं जा रहे हैं। रास्ता वही है, आप वही हैं, पैर वही हैं। लेकिन कभी आपने फर्क देखा कि सुबह के घूमने का आनंद और है; और दोपहर को दुकान की तरफ जाने का बोझ और है। रास्ता वही, आप वही, पैर वही, हवाएं वही, सूरज वही, फर्क कहां है?
फर्क--सुबह खेल था; दोपहर काम हो गया। सुबह स्पृहा न थी फल की। कहीं पहुंचने का कोई प्रयोजन न था। कर्म ही फल था। कर्म के बाहर कोई फल न था। घूम लिए, काफी है। घूमना अपने आप में अंत था, एंड इन इटसेल्फ। पार कहीं कोई बात न थी। कहीं जाना न था; कुछ पाना न था। कुछ पाने को न था; घूमना ही पाना था। वही क्षण, वही कृत्य सब कुछ था। उसके बाहर कोई स्पृहा न थी। तब एक हल्कापन था पैरों में; पक्षियों के परों का हल्कापन था। मन में हवाओं की ताजगी थी; आंखों में फूलों की सरलता थी। कहीं जा न रहे थे; कोई तनाव न था, कोई टेंशन न था। एक-एक कदम स्पांटेनियस था। कहीं भी रुक सकते थे और कहीं से भी वापस लौट सकते थे। कोई दबाव न था। कहीं खींचे न जा रहे थे; कहीं से धकाए न जा रहे थे। न तो पीछे से कोई धक्का दे रहा था कि जाओ; न आगे से कोई खींच रहा था कि आओ। प्रत्येक कदम अपने आप में पूरा था, टोटल इन इटसेल्फ। कहीं भी रुक सकते थे, वापस लौट सकते थे। कोई न कहता कि वापस क्यों लौटते हो? मन न कहता कि अरे, बिना मुकाम पाए वापस क्यों जाते हो? घूमने में खेल था; कर्म की स्पृहा न थी।
परमात्मा कहीं पहुंचने को नहीं कर रहा है। यह परमात्मा का, अस्तित्व का, एक्झिस्टेंस का कोई उद्देश्य नहीं है। यह बड़ी कठिन बात है समझनी।
अस्तित्व निरुद्देश्य है। निरुद्देश्य ही खिलते हैं फूल।
निरुद्देश्य ही गीत गाते हैं पक्षी। निरुद्देश्य ही चलते हैं चांद-तारे।
निरुद्देश्य ही पैदा होता है जीवन और विलीन। हमें बहुत कठिन हो जाएगा! ह्यूमन माइंड, मनुष्य का मन उद्देश्य के बिना कुछ भी नहीं समझ पाता।
हमें लगता है, बिना उद्देश्य! फिर किसलिए? यानी मतलब, हम फिर से पूछते हैं कि फिर उद्देश्य क्या? निरुद्देश्य है जीवन। इसका दूसरा अगर पर्याय बनाएं, तो होगा जीवन आनंद है अपने में, उसके बाहर कहीं कोई पहुंचने की बात नहीं है।
कृष्ण यही कहते हैं, परपजलेसनेस। कहते हैं, मेरे लिए कोई ऐसा नहीं है
कि जो मैं कर रहा हूं, उसमें कोई मजबूरी, कोई कंपल्शन नहीं है; आनंद है। सुबह बच्चे उठकर खेल रहे हैं, नाच रहे हैं--बस, ऐसे ही। बस, ऐसे ही सारा अस्तित्व आनंदमग्न है, आनंद के लिए ही।
इसलिए कृष्ण के जीवन को हम लीला कहते हैं। राम के जीवन को चरित्र कहते हैं। राम का जीवन बड़ा गंभीर है। बड़े उद्देश्यपूर्ण चलते मालूम पड़ते हैं। एक-एक बात का चुनाव है। यह करेंगे और यह न करेंगे। ऐसा ठीक है और ऐसा गलत है।
राम के जीवन में उद्देश्य की बड़ी स्पष्टता है। कृष्ण के जीवन में उद्देश्य बिल्कुल ही मटियामेट हो जाते हैं। कृष्ण के जीवन में बड़ी निरुद्देश्यता है। इसलिए राम को हम आंशिक अवतार ही कह पाए; पूर्ण अवतार न कह सके। कृष्ण को हम पूर्ण अवतार कह सके, क्योंकि परमात्मा जिस तरह पूरा निरुद्देश्य है, ऐसा ही यह व्यक्ति भी पूरा निरुद्देश्य है। एक-एक कृत्य खेल की तरह है, काम की तरह नहीं है।
पर कृष्ण जो यह वक्तव्य देते हैं, फल की स्पृहा नहीं है। हमें समझना बहुत कठिन हो जाएगा। क्योंकि हम तो कहेंगे, फल की स्पृहा न हो, तो हम कदम ही न उठाएंगे। अगर फल न पाना हो, तो हम कुछ करेंगे ही क्यों? हमें तो सारा कर्म फल प्रेरित है, रिजल्ट ओरिएंटेड है। फल आता हो, तो हम करेंगे। फल न आता हो तो? फल न आता हो, तो हम क्यों करेंगे? हमारा जीवन वर्तमान में नहीं, सदा भविष्य में है। हम आज नहीं जीते; सदा कल जीते हैं।
कल कभी जी नहीं सकते, सिर्फ ख्याल में ही रहते हैं। इसलिए हम जीते कम, मरते ही ज्यादा हैं। हम कहते हैं, कल। फल सदा कल है। फल का मतलब, कल।

फल कभी आज नहीं है। फल आज हो नहीं सकता। आज तो कर्म ही हो सकता है; फल
तो कल ही होगा। कल भी आ जाएगा, तब भी फल आगे कल पर सरक जाएगा। कल फिर जब आज बनेगा, तो कर्म ही होगा।
आज सदा कर्म है; फल सदा कल है। आज, वर्तमान। कल, भविष्य। फल सदा कल्पना में है। फल का कोई अस्तित्व नहीं है; अस्तित्व तो कर्म का है। परमात्मा भविष्य में नहीं जीता, क्योंकि परमात्मा कल्पना में नहीं जीता।
कल्पना में कौन जीते हैं? इसे समझ लें, तो कृष्ण की यह बात समझ में आ जाएगी। कल्पना में कौन जीते हैं? जो फ्रस्ट्रेटेड हैं, वे कल्पना में जीते हैं। जिनका जीवन विषाद से भरा है, दुख से भरा है, वे कल्पना में जीते हैं। क्यों? क्योंकि कल्पना से वे अपने विषाद की परिपूर्ति करते हैं, सब्स्टीट्यूट करते हैं।
आज जिंदगी इतनी उदास है कि कल के फल की आशा से उस उदासी को हम मिटाए चले जाते हैं। आज तो जिंदगी में कुछ भी नहीं है। कल के फूलों की आशा में आज को सजाए चले जाते हैं। आज तो सब खाली और रिक्त है। कल काशृंगार, कल की आशा, आज पैरों को गति देती है।
कल भी यही हुआ था; कल भी यही होगा। आज होगा सदा खाली, और कल होगा सदा भरा हुआ! और अंत में जब जिंदगी का जोड़ लगाइएगा, तो ध्यान रखें, जिंदगी कल का जोड़ नहीं है, जिंदगी आज का जोड़ है। सब खाली आज जब आखिर में जुड़ेंगे, तो पता चलेगा, हाथ खाली के खाली रह गए। क्योंकि जिंदगी आज का जोड़ है, कल का जोड़ नहीं है।
आज अस्तित्व है; कल तो सिर्फ कल्पना है, इमेजिनेशन है। कल कभी आता नहीं। पर आज है पीड़ा से भरा। अगर कल भी न रह जाए, तो बहुत मुश्किल हो जाए; पैर का उठना मुश्किल हो जाए।
यह जो हमारी दुख से भरी स्थिति है, इसके लिए हम फलातुर हैं। परमात्मा आनंदमग्न है। फलातुर होने की जरूरत नहीं है। सिर्फ दुखी आदमी फलातुर होता है; दुखी चित्त फलातुर होता है। आनंदित चित्त फलातुर नहीं होता। आप भी जब कभी आनंद में होते हैं, तो भविष्य मिट जाता है और वर्तमान रह जाता है। जब भी!
अगर आप किसी के प्रेम में पड़ गए, तो भविष्य मिट जाता है। अगर आपका प्रेमी आपके पास बैठा है, तो वर्तमान ही रह जाता है। फिर आप यह नहीं सोचते, कल क्या होगा? फिर आप वही जानते हैं, जो अभी हो रहा है। कल खो जाता है।
जब आप संगीत में डूब जाते हैं, तो कल खो जाता है। फिर आप यह नहीं सोचते,
कल क्या होगा? फिर आज ही, अभी, दिस वेरी मोमेंट, यही क्षण काफी हो जाता है। जब कोई भजन में लीन हो गया, कीर्तन में डूब गया, तब यही क्षण सब कुछ हो जाता है। सारा अस्तित्व इसी क्षण में समाहित हो जाता है। सब सिकुड़कर, सारा अस्तित्व इसी क्षण में केंद्रित हो जाता है। इस क्षण के बाहर फिर कुछ भी नहीं है।
जीवन के जो भी आनंद के क्षण हैं, वे वर्तमान के क्षण हैं। परमात्मा तो प्रतिपल आनंद में है। इसलिए उसकी कोई फलाकांक्षा नहीं हो सकती।
कृष्ण कहते हैं, जिस दिन कोई इस सत्य को समझ लेता है, उस दिन वह भी फलातुर नहीं रह जाता।
अब मैं दूसरी बात आपसे कहूं। मैंने कहा, दुखी आदमी फलातुर होता है। और
अब मैं आपसे यह भी कहूं कि फलातुर आदमी दुखी होता चला जाता है। यह विसियस सर्किल है, यह दुष्टचक्र है। दुखी होंगे, तो फल की आकांक्षा करेंगे। फल की आकांक्षा करेंगे, दुखी होंगे। ये जुड़ी हुई बातें हैं दोनों। क्यों? दुखी होंगे, तो मैंने समझाया, फल की आकांक्षा क्यों करेंगे! क्योंकि इस क्षण के दुख को मिटाने का भविष्य की कल्पना के अतिरिक्त आपके पास कोई भी उपाय नहीं है। दिखाई नहीं पड़ता, उपाय तो है।
कृष्ण उसी उपाय को बताते हैं, लेकिन वह हमें दिखाई नहीं पड़ता। हमें यही दिखाई पड़ता है कि कल्पना में भूल जाओ। इस क्षण को भूल जाओ। भरोसा रखो, कल सब ठीक हो जाएगा। आज जिंदगी अभिशाप है, कल वरदान बन जाएगी। आज कांटे हैं, कल फूल हो जाएंगे। भरोसा रखो! कल तो आने दो; कल सब ठीक हो जाएगा। कल तक

प्रतीक्षा करने में इससे सहारा मिल जाता है। कंसोलेशन, सांत्वना बन जाती है। फिर कल आ जाता है।
लेकिन दुख के कारण फल के तीर हमने भविष्य में पहुंचाए। दुख के कारण कामना के सेतु बनाए--इंद्रधनुष के सेतु, रेनबो ब्रिजेज--जिन पर चल नहीं सकते, जो सिर्फ दिखाई पड़ते हैं। पास जाओ, खो जाते हैं। इसलिए कभी इंद्रधनुष के पास नहीं जाना चाहिए। खो जाता है। दूर से लगता है कि बड़ा सेतु बना है। चाहो तो जमीन से आकाश में चले जाओ चढ़कर। पास भर न जाना। जाना खतरनाक है।
तो इच्छाओं के सेतु बनाते हैं कल में। बड़े प्रीतिकर लगते हैं। इंद्रधनुष के सब रंग होते हैं उनमें। शायद इंद्रधनुष से भी ज्यादा रंग होते हैं। फिर कल आता है और इंद्रधनुष दिखाई नहीं पड़ता कि कहां है। तब दुख पैदा होता है। दुख था, इसलिए इंद्रधनुष बनाया; फिर इंद्रधनुष नहीं मिलता, तो दुख पैदा होता है। फिर और बड़े इंद्रधनुष बनाते हैं। लगता है, शायद छोटे बनाए थे, इसलिए मिल नहीं सके। लगता है, शायद थोड़ी कम मेहनत की, इसलिए कल्पनाएं अधूरी रह गईं। लगता है, शायद थोड़ा दौड़ने में कंजूसी हुई, इसलिए पहुंच नहीं पाए। और जोर से दौड़ो, और बड़े धनुष बनाओ, और फैलाओ कल्पना के जाल को, तो कल तृप्ति होगी।
फिर वह कल भी आ जाता है। फिर वे कल्पना के जाल भी अधूरे और टूटे के टूटे रह जाते हैं। टूटे हुए इंद्रधनुष फिर बड़ा दुख देते हैं। फिर और बड़ा करो। फिर जीवन से मृत्यु तक यही करते रहो। बनाओ इंद्रधनुष और खंडों को बटोरो। टूटे हुए इंद्रधनुषों को इकट्ठे करते चले जाओ। फिर आखिर में जिंदगी एक खंडहर, आर्चिओलाजी के काम का, और किसी काम का नहीं। खंडहर-- पुरातत्व के शोधियों के काम का। हाथ में कुछ भी नहीं; सिर्फ आशाओं के खंडहर; भग्न आशाओं के सेतु; खो गए सब! और मौत सामने है। फिर सेतु बनाना भी मुश्किल हो जाता है।
इसलिए मौत से हम डरते हैं। मौत से डरने का कारण यह नहीं है कि मौत से
हम डरते हैं। क्योंकि जिससे हम परिचित नहीं हैं, उससे डरेंगे कैसे! जिसे हम जानते नहीं हैं, उससे डरेंगे कैसे! जिसे हमने कभी देखा नहीं, उससे डरेंगे कैसे! डरने के लिए भी थोड़ा परिचय जरूरी है। मौत से हम नहीं डरते। डरते हम इससे हैं कि मौत का मतलब है, कल अब नहीं होगा। मौत का मतलब है, नो टुमारो नाउ। मौत का मतलब है, अब आगे कल नहीं है। फिर हमारे इंद्रधनुषों का क्या होगा? फिर हमारी कल्पनाओं के जाल का क्या होगा? हम तो सदा कल में ही जीए थे; आज तो कभी जीए नहीं थे। मौत कहती है, बस, अब आज है; कल नहीं। तो हम क्या करें?
इसलिए मौत उदास कर जाती है। मौत नहीं करती उदास, कल का अभाव, कल का समाप्त हो जाना। अब कोई कल नहीं है; अब आज ही है। अब हम मरे! अब हम अपने पर ही फेंक दिए गए। थ्रोन बैक टु वनसेल्फ। अब कोई कल का उपाय न रहा, जिसमें हम भरोसे खोज लें। अब कल का कोई उपाय न रहा, जिसमें हम सहारे बना लें। अब कल न रहा, जिसमें हम सपने गूंथ लें, सपने बुन लें। अब ड्रीम की कोई जगह न रही। अब रिअलिटी है; अब तथ्य ही सामने रह गया। अब आज ही बचा।
आज के साथ जीने की हमारी कोई आदत नहीं है। कल के साथ ही सदा जीए थे। अब जीना बहुत मुश्किल है। इसलिए हम मौत से डरते और भयभीत होते हैं। मौत, कल की मौत है; इससे हम डरते हैं।
कृष्ण कहते हैं--वह जो परम सत्ता है, उसकी तरफ से--कि मैं आज ही जीता हूं, अभी और यहीं। फल की स्पृहा नहीं है। कल की आकांक्षा नहीं है। टुडे इ.ज इनफ, आज काफी है।
जीसस अपनी प्रार्थना में कहते हैं, गिव मी टुडेज ब्रेड, आज की रोटी पर्याप्त है।
न्यू मैन ने अपने गीत में लिखा है, आई डू नाट लांग फार दि डिस्टेंट सीन, दूर के दृश्यों की आकांक्षा नहीं है मुझे। वन स्टेप इ.ज इनफ फार मी, एक कदम काफी है। दूर के दृश्यों की आकांक्षा नहीं मुझे; एक कदम काफी है। कृष्ण कहते हैं, अभी और यहीं--हियर एंड नाउ--सब है। फल की स्पृहा नहीं
है मुझे। दो कारणों से।

एक तो आनंदमग्न चित्त अभी और यहीं होता है। और जैसा मैंने कहा कि दुख
से कल की आकांक्षा पैदा होती; कल की आकांक्षा से दुख घना होता; ऐसे ही यह भी आपसे कहूं, आनंदित चित्त में कल की आकांक्षा पैदा नहीं होती। और कल की आकांक्षा जिस चित्त में पैदा नहीं होती, उसका आनंद सघन होता है। उसका भी अपना एक वर्तुल है।
जितना-जितना कल की आकांक्षा नहीं होती, उतना-उतना आज सघन आनंद से भरता चला जाता है। अनंत आनंद आज ही सिकुड़कर मिलने लगता है।
परमात्मा क्षणजीवी है। लेकिन उसका क्षण इटरनिटी है; उसका क्षण अनंत है। एक क्षण ही अनंत है। हम भविष्यजीवी हैं। लेकिन हमारा भविष्य सिवाय मृत्यु के और कुछ नहीं लाता। हमारा भविष्य अमावस की रात के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं निर्मित करता। हमारा भविष्य प्राणों में सिर्फ घाव छोड़ जाता है; अनजीए घाव। घाव उस जीवन के, जो हमने जीया नहीं और जिसे हम चूक गए हैं। कृष्ण कहते हैं, जो इस बात को समझ लेता, जो मेरे इस स्वरूप को समझ लेता,
वह भी मेरे जैसा हो जाता है।
आनंद की जिन्हें भी तलाश है, वे कल से मुक्त हो जाएं। सत्य की जिन्हें
भी खोज है, वे भविष्य को विदा कर दें। हां, दुख की जिन्हें तलाश है, वे कल को खोजें। नर्क के द्वार पर जिनको खटखटाना है, वे भविष्य में सेतु बनाएं स्वप्नों के। स्वर्ग के द्वार को जिन्हें खोल लेना है, उनके लिए द्वार अभी और यहीं है।
लेकिन अभी और यहीं होने का राज क्या है, सीक्रेट क्या है? सीक्रेट है--
फल की स्पृहा नहीं; कर्म काफी है। जो कर रहे हैं, उतना ही काफी है। लेकिन वह कब होगा काफी? जब कर्म खेल बन जाए, लीला बन जाए।
लेकिन हम तो खेल को भी कर्म बना लेते हैं। हम तो इतने कुशल हैं कि हम खेल को कर्म बना लेते हैं। कृष्ण कहते हैं, कर्म को खेल बनाओ। हम दूसरे छोर हैं, ठीक उलटे। हम खेल को कर्म बना लेते हैं! कृष्ण कहते हैं, जीवन नाटक हो जाए। हमने उलटी कुशलता अर्जित की है। हम नाटक को जीवन बना लेते हैं।
देखा है, सिनेमागृह में बैठे लोगों को? रूमाल गीले कर रहे हैं; आंसू पोंछ रहे हैं। पर्दे पर कुछ भी नहीं है, सिवाय छायाओं के। सिवाय प्रकाश के और छायाओं के मेल-जोल के, पर्दे पर कुछ भी नहीं है। खाली पर्दा है। आंसू पोंछ रहे हैं! हृदय की धड़कन बढ़ गई है। कोई का ब्लडप्रेशर बढ़ गया होगा! निकलते हैं सिनेमागृह से, देखें लोगों के चेहरे, तो पता चलेगा, नाटक जिंदगी बन गई है। वह तो सिनेमागृह में अंधेरा रहता है, यह बड़ा अच्छा है। आदमी अपना चुपचाप रो लेता है; पोंछ लेता है; बैठ जाता है। देखें सिनेमागृह में! अब की बार सिनेमा न देखें, जाएं तो देखने वालों को देखें। अच्छा तो यह हो, अपने को देखें, तो और मजा आएगा कि क्या कर रहे हैं! यह क्या हो रहा है! कृष्ण कहते हैं, यह पूरा जीवन ही नाटक है। हम कहते हैं, नाटक! नाटक खुद
ही जीवन है। अगर यह बात दिखाई पड़ जाए कि फिल्म के पर्दे पर सिवाय विद्युत के किरणों के जाल के और कुछ भी नहीं, तो किसी दिन यह भी पता चल जाएगा कि इस पृथ्वी पर भी विद्युत की किरणों के जाल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यहां भी कुछ भी नहीं है। तब यह सब नाटक हो जाता है, तब एक अभिनय हो जाता है। इसलिए कृष्ण एक कुशल अभिनेता हैं। बांसुरी भी बजा सकते हैं, सुदर्शन
भी उठा सकते हैं। परम ज्ञान की बात भी कर सकते हैं, गंवार ग्वालों के साथ नाच भी सकते हैं। गीता का उपदेश भी दे सकते हैं, स्त्रियों के वस्त्र उठाकर वृक्ष पर भी बैठ सकते हैं। ऐसा इनकंसिस्टेंट, ऐसा असंगत आदमी पृथ्वी पर दूसरा नहीं हुआ है।
लेकिन उस असंगति में एक राज है। इतना असंगत वही हो सकता है, जो बिल्कुल गंभीर नहीं है। सिर्फ खेल समझ रहा है। इसलिए ठीक है।
उसे राम का पार्ट दे दो, तो भी पूरा कर देगा; रावण का दे दो, तो भी पूरा
कर देगा। वह यह नहीं कहेगा कि रावण का पार्ट हम पूरा नहीं करते! खेल ही है, तो झंझट क्या है; चलेगा। राम का दे दो, तो वह कहेगा, चलेगा। राम और रावण में उसे असंगति नहीं दिखाई पड़ेगी। इसलिए कि वह कहता है, पर्दे के पीछे न कोई राम है, न कोई रावण है। वह पर्दे के बाहर खेल है, जो मर्जी; हम पूरा किए देते हैं। गंभीर नहीं है, क्योंकि खेल है जिंदगी। स्पृहा नहीं है भविष्य की, फल

की, क्योंकि खेल है जिंदगी। परम अस्तित्व के लिए तो सभी कुछ खेल है; भविष्य है ही नहीं।
यह आखिरी बात इस सूत्र में आपसे कहूं। हम समय को तीन हिस्सों में बांटते हैं--हम, ह्यूमन माइंड, मनुष्य का मन समय को तीन हिस्सों में बांटता है--भविष्य, वर्तमान, अतीत; पास्ट, प्रेजेंट, फ्यूचर। समय बंटा हुआ नहीं है। परमात्मा से अगर जाकर पूछेंगे, तो वह कहेगा, तीन? समय तो सदा वर्तमान है। समय न तो पास्ट है, और न फ्यूचर है। समय सिर्फ वर्तमान ही है। हम बांटते हैं।
सच तो यह है कि अगर हम और थोड़ी बुद्धिमानी करें, तो हमें वर्तमान को अलग कर देना चाहिए, क्योंकि वर्तमान का हमें कोई अनुभव ही नहीं है। हमें या तो अतीत का अनुभव है या भविष्य का। या तो हमें उस राख के ढेर का पता है, जो हमारी आकांक्षाओं की हमारे पीछे लग गई है। या तो हमें उस सबका पता है, जो बीत गया--अतृप्ति के ढेर। और या हमें पता है वह, जो अभी नहीं बीता; होना चाहिए, होगा--आकांक्षाओं के इंद्रधनुष। वर्तमान का हमें कोई भी पता नहीं है। हमारे लिए समय अतीत और भविष्य है।
वर्तमान हम किसे कहते हैं? हम वर्तमान उस क्षण को कहते हैं, जिस क्षण में हमारा भविष्य अतीत बनता है, दि फ्यूचर पासेस इनटु दि पास्ट। हम उस संक्रमण के क्षण को, ट्रांजीशन को, उस दरवाजे को वर्तमान कहते हैं, जिससे भविष्य अतीत बनता है; जिससे जीवन मृत्यु बनती है; जिससे जो नहीं था, वह नहीं था में वापस चला जाता है।
हमारे लिए वर्तमान सिर्फ एक द्वार है, बहुत बारीक, जिसे हम कभी नहीं पकड़ पाते हैं कि वह कहां है। जब हम पकड़ पाते हैं, तब तक अतीत हो चुका होता है। जब तक हम नहीं पकड़ पाते हैं, तब तक वह भविष्य रहता है। लेकिन परमात्मा की स्थिति बिल्कुल और है। परमात्मा के लिए भविष्य है ही नहीं। और कोई अतीत भी नहीं है। परमात्मा के लिए सिर्फ वर्तमान है; मात्र वर्तमान। इसलिए परमात्मा के लिए समय इटरनिटी है, एक अनंतता है। बहाव नहीं है, एक अनंतता है; एक ठहरी हुई अनंतता। सब ठहरा हुआ है, सरोवर की भांति।
परमात्मा के लिए काज और इफेक्ट नहीं हैं, कार्य और कारण नहीं हैं। हमारे लिए हैं। कार्य का मतलब, भविष्य; कारण का मतलब, अतीत। वर्तमान, जिसमें से कारण कार्य बनता है या कार्य पुनः कारण बनता है। परमात्मा के लिए कार्य-कारण नहीं हैं।
हमारी स्थिति करीब-करीब ऐसी है, पूरे हमारे दिमाग की, चाहे वह वैज्ञानिक का दिमाग हो, चाहे दार्शनिक का हो, चाहे गहरे से गहरे सोचने वाले का हो। मनुष्य के मस्तिष्क के सोचने का ढंग करीब-करीब ऐसा है, जैसे कि एक छोटा-सा छेद हो दीवाल में और एक बिल्ली कमरे के भीतर बंद हो। धुंधला प्रकाश हो। और हम छेद से देख रहे हों।
बिल्ली निकले छेद के सामने से। पहले उसका चेहरा दिखाई पड़े। छेद छोटा है। चेहरा दिखाई पड़ता है। फिर उसकी पीठ दिखाई पड़ती है। फिर उसकी पूंछ दिखाई पड़ती है। फिर बिल्ली लौटती है; फिर उसका चेहरा पहले दिखाई पड़ता है, फिर उसकी पीठ दिखाई पड़ती है, फिर उसकी पूंछ दिखाई पड़ती है। फिर हम कहते हैं, हेड मस्ट बी दि काज एंड टेल मस्ट बी दि इफेक्ट। क्योंकि हमेशा सिर के पीछे पूंछ है। कहीं से भी बिल्ली घूमती हो कमरे में, हमारे छेद में से दिखाई पड़ता है पहले सिर, फिर पीठ, फिर पूंछ। निश्चित ही सिर कारण है, पूंछ कार्य है।
बेचारी बिल्ली को पता ही नहीं। वहां हेड, टेल एक ही हैं; वहां कोई कार्य-कारण नहीं हैं। वहां दोनों ही एक हैं। वहां बिल्ली के लिए सिर और पूंछ एक ही चीज के दो हिस्से हैं।
परमात्मा के लिए बीज और वृक्ष, कार्य और कारण नहीं हैं; एक ही चीज के
दो हिस्से हैं। परमात्मा के लिए जन्म और मृत्यु, अतीत और भविष्य नहीं हैं; एक ही चीज के दो छोर हैं। हेड एंड टेल, सिर और पूंछ। हमारे लिए सब दिक्कत है। हमारे देखने के ढंग की वजह से सारी दिक्कत है। बहुत छोटा छेद है हमारे सोचने का। वह छोटा छेद क्यों है? क्योंकि वर्तमान बहुत छोटा है हमारा, इसलिए छेद छोटा है। वर्तमान बड़ा हो जाए, छेद बड़ा हो जाए। वर्तमान ही रह

जाए, तो सब दीवाल गिर जाती है। फिर अस्तित्व को हम वैसा ही जानते हैं, जैसा वह है। अस्तित्व में न तो कुछ बीता है, न कुछ होने वाला है। सब है। सब मौजूद है।
कृष्ण इसलिए कहते हैं, फल की कोई स्पृहा नहीं। भविष्य ही नहीं, फल की स्पृहा कैसे करेंगे! यही क्षण सब कुछ है। ऐसा जो जान लेता है, वह भी इसी स्थिति को उपलब्ध हो जाता है।
इस सूत्र को गहरे में अनुभव करने की जरूरत है। यह सार सूत्रों में से
एक है।

प्रश्नः भगवान श्री, बारहवें श्लोक में कहा गया है कि कर्मफलों को चाहने वाले लोग देवताओं को पूजते हैं और उनके कर्मों की सिद्धि भी शीघ्र ही होती है। परंतु उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए तू मेरे को ही सब प्रकार से भज। कृपया इसका अर्थ स्पष्ट करें। और दूसरी बात, आठवें श्लोक में है, कि धर्म के संस्थापन के लिए मैं आता हूं। धर्म के संस्थापन का अर्थ भी कृपया समझाएं।

कर्मफलों की चाहना करने वाले लोग देवताओं को भजते हैं! कर्मफल की चाहना करने वाला व्यक्ति परमात्मा को नहीं भज सकता। कर्मफल की चाहना करने वाला व्यक्ति देवताओं को ही भज सकता है। क्यों? क्योंकि परमात्मा के भजने की शर्त है, कर्मफल की चाहना न करना। परमात्मा के भजन का एक ही अर्थ है, कर्मफल की चाहना छोड़ देना; फल की आकांक्षा छोड़ देना।
तो फल के लिए तो परमात्मा को भजा ही नहीं जा सकता। वह कंडीशन में ही नहीं आता। वह बेशर्त! परमात्मा की शर्त ही यही है कि तू मेरे पास आएगा तभी, जब बिना कुछ मांगता हुआ आएगा। कुछ मांगा, तो मुझसे दूरी हो जाएगी। तेरी मांग ही दूरी बन जाएगी।
असल में मांग बताती है कि परमात्मा की हमें जरूरत नहीं है। परमात्मा
की सेवाओं की जरूरत है। सर्विसेस आर नीडेड; परमात्मा की कोई जरूरत नहीं है। एक आदमी को अपनी दुकान में सफलता पानी है; चुनाव में जीत जाना है। किसी को धन कमाना है; किसी को बीमारी से मुक्ति पानी है। किसी को चाहे गए व्यक्ति से विवाह करना है। परमात्मा की सेवाओं की जरूरत है, कि उससे विवाह करा दो, जिससे करना चाहता हूं; उस कुर्सी पर पहुंचा दो, जहां चढ़ना चाहता हूं। लेकिन मांग बताती है कि परमात्मा की जरूरत नहीं है। मांग ही फासला है। फल की जरूरत है! और परमात्मा मिलता है उसको, जिसको फल की आकांक्षा नहीं है।
इसलिए कर्मों के फल की चाहना करने वाला मेरे निकट नहीं आता, कृष्ण कहते हैं, मेरे निकट आएगा ही नहीं। क्योंकि मेरी शर्त ही पूरी नहीं करता। दि कंडीशन इ.ज नाट फुलफिल्ड। शर्त ही यही है कि बिना कुछ चाहे मेरे पास आओ, तो ही मेरे पास आ सकते हो।
अस्तित्व की भी शर्तें हैं। सौ डिग्री तक पानी गर्म हो जाए, तो भाप बन जाता है। निन्यानबे डिग्री तक गर्म हो, तो भी भाप नहीं बनता; तो भी पानी ही रहता है। तो भाप कह सकती है कि सौ डिग्री तक बनो तुम, तो आ जाओगे मेरे पास। आकाश कह सकता है कि सौ डिग्री तक गर्म हो जाओ, तो बदलियां बन जाओगे, मुझमें तैर सकोगे। लेकिन अगर सौ डिग्री तक गर्म नहीं होते, तो फिर पानी ही रहो और पृथ्वी पर ही चलो। फिर पानी ही रहो और नीचे की तरफ बहो।
कभी ख्याल किया है आपने? पानी नीचे की तरफ बहता है, भाप ऊपर की तरफ उठती है! सिर्फ सौ डिग्री की शर्त पूरी हो जाने से ऐसा हो जाता है कि भाप आकाश की तरफ उठने लगती है। समुद्र आकाश की तरफ दौड़ने लगता है। और पानी हिमालय पर, गौरीशंकर पर भी हो, तो भी गड्ढों की तरफ दौड़ता चला जाता है; नीचे उतरता चला जाता है।
कर्मफलों की आकांक्षा परमात्मा के बीच व्यवधान है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, जो कर्मों के फल के लिए भजता है, वह मुझे नहीं
भज सकता। वह मेरी जगह सिर्फ देवताओं को भजता है।

देवताओं का मैंने रात आपको अर्थ किया, वे आत्माएं जो शरीर नहीं ले पातीं, लेकिन अत्यंत शुभ हैं। लेकिन शरीर लेने को आतुर हैं अभी; अभी मुक्त नहीं हो गई हैं।
ध्यान रहे, मुक्त वही होता है, जो न शुभ रह जाता, न अशुभ; न गुड, न बैड। शुभ आत्मा भी मुक्त नहीं होती; अशुभ आत्मा भी मुक्त नहीं होती। अशुभ आत्मा भी बंधी रहती है अपने अशुभ कर्मों से, लोहे की जंजीरों से। शुभ आत्मा बंधी रहती है अपने शुभ कर्मों से, सोने की जंजीरों से। जंजीरों में फर्क है। बुरी आत्मा के पास लोहे की जंजीरें हैं, कुरूप, जंग खाई हुई। शुभ आत्मा के पास चमकदार, पालिश्ड, सुसंस्कृत, सोने की जंजीरें हैं, हीरे-जवाहरातों से जड़ी। बाकी बंधन दोनों के हैं।
शुभ आत्माएं भी मुक्त नहीं होती हैं। मुक्त तो वही होता है, जो शुभ-अशुभ के पार हो जाता है। बंधन के ही पार हो जाता है। कर्म के ही पार हो जाता है। कर्ता के ही पार हो जाता है। इसलिए शुभ आत्माएं जन्म लेने को आतुर हैं और शुभ करने को आतुर हैं। इसलिए जो लोग कर्मों के फल चाहते हैं, वे देवताओं को भजते हैं। वे शुभ आत्माओं से सहायता मांगते हैं। इनसे सहायता मिल सकती है। इसमें कोई कठिनाई नहीं है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि मुक्ति के लिए तो तू मुझको भज। शक्ति के लिए भजना हो, तो देवताओं को भज। मुक्ति के लिए भजना हो, तो तू मुझको भज।
लेकिन परमात्मा के निकट जाने की शर्त बड़ी कठिन है। सौ डिग्री तक गर्म होना पड़े, भाप बनना पड़े, इवोपरेट होना पड़े। अहंकार जब तक भाप न हो जाए, हवा- हवा न हो जाए, तब तक आकाश की तरफ उड़ान नहीं होती है। और अहंकार तब तक नहीं मिटता, जब तक फल-आकांक्षा शेष रहती है।
इसलिए वे कहते हैं कि तू अगर मुक्त होना चाहे अर्जुन, अगर तू सब दुखों से, सब संतापों से, सब पीड़ाओं से, सब बंधनों से मुक्त होना चाहे, तो तू मुझे भज।
लेकिन मुझे भजने का मतलब क्या? मुझे भजने का मतलब यह है कि जैसे मैं कर्म की स्पृहा से, फल की स्पृहा से, भविष्य की आकांक्षा से, फलाकांक्षा से मुक्त हूं, ऐसा ही तू भी फलाकांक्षा से मुक्त हो जा। मेरे भांति बर्त। कर्म कर, कर्ता न रह जा। चल, चलने वाला न रह जा। उठ-बैठ, उठने-बैठने वाला न रह जा। कर, लेकिन भीतर से कर्ता को विदा कर दे। होने दे, जो होता है। परम शक्ति के हाथों में साधन मात्र हो जा--समर्पित, निमज्जित। अपने को छोड़। तो तू समस्त दुखों से, समस्त बंधनों से मुक्त हो सकता है।
और दूसरी बात पूछी है, धर्म-संस्थापना के लिए, इसका क्या अर्थ है?
धर्म नष्ट कभी नहीं होता। कुछ भी नष्ट नहीं होता, तो धर्म तो नष्ट होगा ही नहीं! धर्म कभी नष्ट नहीं होता, लेकिन लुप्त होता है। लुप्त होने के अर्थों में नष्ट होता है। उसकी पुनर्संस्थापना की निरंतर जरूरत पड़ जाती है। उसकी पुनर्प्रतिष्ठा की निरंतर जरूरत पड़ जाती है।
अधर्म कभी अस्तित्ववान नहीं होता। जैसे धर्म कभी अस्तित्वहीन नहीं होता, अधर्म कभी अस्तित्ववान नहीं होता। लेकिन बार-बार, फिर भी उस अस्तित्वहीन अधर्म को हटाने की जरूरत पड़ जाती है।
इसे थोड़ा समझें। क्योंकि यह बड़ी उलटी बात मालूम पड़ेगी! जो धर्म कभी नष्ट नहीं होता, उसकी संस्थापना की क्या जरूरत है? और जो अधर्म कभी होता ही नहीं, उसके मिटाने की क्या जरूरत है? लेकिन ऐसा भी है।
अंधेरा है। अंधेरा है नहीं। रोज मिटाना पड़ता है, और है बिल्कुल नहीं! अंधेरे का कोई अस्तित्व नहीं है। अंधेरा एक्झिस्टेंशियल नहीं है। अंधेरा कोई चीज नहीं है। फिर भी है।
यह मजा है, यह पैराडाक्स है जिंदगी का, अंधेरा है नहीं, फिर भी है। काफी है। घना होता है। डरा देता है। प्राण कंपा देता है। और नहीं है! अंधेरा सिर्फ प्रकाश की अनुपस्थिति है। सिर्फ एब्सेंस है। जैसे कमरे में आप थे और बाहर चले गए; तो हम कहते हैं, अब आप कमरे में नहीं हैं। अंधेरा इसी तरह है। अंधेरे का मतलब इतना ही है कि प्रकाश नहीं है।
इसलिए अंधेरे को तलवार से काट नहीं सकते। अंधेरे को गठरी में बांधकर फेंक नहीं सकते। दुश्मन के घर में जाकर अंधेरा डाल नहीं सकते, कि डाल दो

इसके घर में अंधेरा, दुश्मन के। अंधेरा डाल नहीं सकते। अंधेरा घर के बाहर निकालना हो, तो धक्का देकर निकाल नहीं सकते। धक्का देते-देते आप घर के बाहर निकल जाओगे, अंधेरा पीछे ही रहेगा।
अंधेरा है नहीं। सब्स्टेंशियल नहीं है। अंधेरे में कोई सब्स्टेंस नहीं है। कोई कंटेंट नहीं है। अंधेरे में कोई वस्तु नहीं है। अंधेरा अवस्तु है, नो-थिंग है, नथिंग है। अंधेरे में कुछ है नहीं। लेकिन फिर भी है। रात प्राण कंप जाते हैं अंधेरे में। डर लगता है जाने में। इतना तो है कि डरा दे। इतना तो है कि कंपा दे। इतना तो है कि गड्ढे में गिरा दे। इतना तो है कि हाथ-पैर टूट जाएं।
अब यह बड़ी मुश्किल की बात है। जो नहीं है, उसके होने से आदमी गड्ढे में गिर जाता है। अब यह कहना नहीं चाहिए, क्योंकि एब्सर्ड है। जो नहीं है, उसके होने से आदमी गड्ढे में गिर जाता है! जो नहीं है, उसके होने से हाथ-पैर टूट जाते हैं! जो नहीं है, उसके होने से चोर चोरी कर ले जाते हैं! जो नहीं है, उसके होने से हत्यारा हत्या कर देता है!
नहीं तो है बिल्कुल। वैज्ञानिक भी कहते हैं, नहीं है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व है प्रकाश का। अब जिसका अस्तित्व है, उसको रोज लाना पड़ता है। रोज सांझ दीया जलाओ। न जलाओ, तो अंधेरा खड़ा है।
तो कृष्ण कहते हैं, धर्म संस्थापनार्थाय! धर्म की संस्थापना के लिए; दीए को जलाने के लिए, अधर्म के अंधेरे को हटाने के लिए। अधर्म, जो नहीं है; धर्म, जो सदा है।
सूरज स्रोत है प्रकाश का। अंधेरे का स्रोत पता है, कहां है? कहीं भी नहीं है। सूरज से आ जाती है रोशनी। अंधेरा कहां से आता है? फ्राम नो व्हेयर। कोई सोर्स नहीं है।
कभी आपने पूछा, अंधेरा कहां से आता है? कौन डाल देता है इस पृथ्वी पर अंधेरे की चादर? कौन आपके घर को अंधेरे से भर देता है? प्रकाश का तो स्रोत है--सूरज। अंधेरे का स्रोत कहां है?
स्रोत नहीं है, क्योंकि है ही नहीं अंधेरा, नहीं तो स्रोत भी होता। कहीं से आता, कहीं जाता। जब सुबह सूरज आ जाता है, तो अंधेरा कहां चला जाता है? कहीं सिकुड़कर छिप जाता है? कहीं नहीं सिकुड़ता, कहीं नहीं जाता। है ही नहीं; कभी था नहीं। अंधेरा कभी नहीं है, फिर भी रोज उतर आता है! प्रकाश सदा है, फिर भी रोज सांझ जलाना पड़ता और खोजना पड़ता है।
ऐसा ही धर्म और अधर्म है। अंधेरे की भांति है अधर्म; प्रकाश की भांति
है धर्म। रोज, प्रतिदिन खोजना पड़ता है।
युग-युग में, कृष्ण कहते हैं, लौटना पड़ता है। मूल स्रोत से धर्म को फिर वापस पृथ्वी पर लौटना पड़ता है। सूर्य से फिर प्रकाश को वापस लेना पड़ता है। यद्यपि जब प्रकाश नहीं रह जाता सूर्य का, तो हम मिट्टी के दीए जला लेते हैं। केरोसिन की कंदील जला लेते हैं। उससे काम चलाते हैं। लेकिन काम ही चलता है। कहां सूरज! कहां कंदीलें! बस, काम ही चलता है।
तो जब कृष्ण जैसे व्यक्तित्व नहीं होते पृथ्वी पर, तब छोटे-मोटे दीए, कंदीलें केरोसिन की, धुआं भी काफी निकलता है उनमें-- रोशनी कम ही निकलती है, धुआं ही ज्यादा निकलता है--लेकिन उनसे भी काम चलाना पड़ता है। तथाकथित साधु-संतों की भीड़ ऐसी है, केरोसिन आयल, मिट्टी का तेल। मगर रात में बड़ी कृपा है उसकी। रात में बड़ी कृपा है उसकी, थोड़ा-सा धीमा-धीमा, दो-चार-दस फीट पर रोशनी पड़ती रहती है। लेकिन बार-बार अंधेरा सघन हो जाता है, और बार-बार करुणावान चेतनाओं को लौट आना पड़ता है, जो आकर फिर सूरज से भर दें। कई बार ऐसा भी होता है कि सूरज जैसी चेतनाओं को आमने-सामने नहीं देखा जा सकता। आपने कभी ख्याल किया, सूरज को कभी आप आमने-सामने नहीं देखते, दीए को मजे से देखते हैं। इसलिए साधु-संतों से सत्संग चलता है, कृष्ण जैसे लोगों के आमने-सामने मुश्किल हो जाती है। एनकाउंटर हो जाता है, झंझट हो जाती है, कई दफे तो आंखें चौंधिया जाती हैं। सच, सूरज की तरफ देखें, तो रोशनी कम मिलेगी, आंखें बंद हो जाएंगी, अंधेरा हो जाएगा। सूरज को आदमी तभी देखता है, जब ग्रहण लगता है, अन्यथा नहीं देखता कोई।

अब यह बड़े मजे की बात है! ग्रहण लगे सूरज को लोग देखते हैं। पागल हो गए हैं? सूरज बिना ग्रहण के रोज अपनी पूरी ताकत से मौजूद है; कोई नहीं देखता। ग्रहण लगा कि लोग देखते हैं। क्या बात है? ग्रहण लगने से थोड़ा भरोसा आता है, अपन भी देख सकते हैं। थोड़ा सूरज कम है। अधूरा है। शायद इतने जोर से हमला नहीं करेगा।
इसलिए कृष्ण जैसे व्यक्तियों को कभी भी समझा नहीं जाता; हमेशा मिसअंडरस्टैंड किया जाता है। और जिनको आप समझ लेते हैं, समझ लेना, केरोसिन की कंदील। अपने घर में जलाई-बुझाई; अपने हाथ से बत्ती नीची-ऊंची की। जैसी चाही, वैसी की। जब जैसी चाही, वैसी की। जिनको आप समझ पाते हैं, समझ लेना कि घर के मिट्टी के दीए। जिनको आप कभी नहीं समझ पाते, आंखें चौंधिया जाती हैं, हजार सवाल उठ जाते हैं, मुश्किल पड़ जाती है--समझना कि सूरज उतरा।
इसलिए कृष्ण को हम अभी तक नहीं समझ पाए। न क्राइस्ट को समझ पाए। न बुद्ध को, न महावीर को, न मोहम्मद को। इनको हम किसी को नहीं समझ पाते। इस तरह के व्यक्ति जब भी पृथ्वी पर आते हैं, हमारी आंखें चौंधिया जाती हैं। फिर नहीं समझ पाते, तो फिर हजारों साल तक समझने की पीछे कोशिश करनी पड़ती है। जब वे हट जाते हैं, तब हजारों साल तक; जब आंख के सामने नहीं रहते, तब हम अपने-अपने मिट्टी के दीए जलाकर और समझने की कोशिश करते हैं।
पुनः संस्थापना के लिए!
नष्ट नहीं होता धर्म कभी, खो जरूर जाता है। अधर्म कभी स्थापित नहीं होता, छा जरूर जाता है। ऐसा समझ में आ सके, तो ठीक। अधर्म कभी स्थापित नहीं होता, छा जरूर जाता है। धर्म कभी नष्ट नहीं होता, खो जरूर जाता है। उसे पुनः-पुनः खोजना पड़ता है। पुनः-पुनः स्थापित करना पड़ता है।
एक श्लोक और ले लें।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।। 15।।
पहले होने वाले मुमुक्षु पुरुषों द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है; इससे तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किए हुए कर्म को ही कर।

कृष्ण कहते हैं, ऐसा जानकर, ऐसा स्पृहा से फल की मुक्त होकर, कर्ता से शून्य होकर, अहंकार से बाहर होकर, पहले भी पूर्वपुरुषों ने भी कर्म किया है, ऐसा ही तू भी कर्म कर।
पूर्वपुरुषों ने भी ऐसा ही कर्म किया है, कर्ता से मुक्त होकर। जैसे, जनक। कहीं जनक का नाम भी कृष्ण ने पहले लिया है--जनकादि। वे कर्म करते रहे हैं कर्ता से मुक्त होकर। यह क्यों याद दिलाते हैं कृष्ण? क्योंकि अक्सर ऐसा होता है कि जब तक हम फल की स्पृहा करते हैं, तब तक कर्म करते हैं। और जब हम कहते हैं फल की स्पृहा नहीं करते, तो हम फिर अकर्म करते हैं। फिर हम कहते हैं, अब हम जाते हैं।
दो बातें हमारे लिए संभव मालूम पड़ती हैं। या तो हम फल की आकांक्षा करेंगे, तो कर्म करेंगे; या फल की आकांक्षा छोड़ेंगे, तो कर्म भी छोड़ेंगे। इसलिए दो तरह के नासमझ पृथ्वी पर हैं। फल की आकांक्षा करने वाले गृहस्थ और फल की आकांक्षा के साथ कर्म छोड़ देने वाले संन्यासी। दो तरह के नासमझ पृथ्वी पर हैं। फल की आकांक्षा के साथ कर्म करने वाले गृहस्थ; फल की आकांक्षा के साथ कर्म भी छोड़ देने वाले संन्यासी--ये एक ही चीज के दो पहलू हैं। गृहस्थ कहता है कि हम कर्म कैसे करें बिना फल की आकांक्षा के? तो छोड़ देता है।
कृष्ण बहुत तीसरी बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, तू कर्म तो कर और फल
की आकांक्षा छोड़ दे। आर्डुअस है, बड़ा सूक्ष्म है; पर बड़ा रूपांतरकारी है; बड़ा ट्रांसफार्मिंग है।
अगर एक आदमी ने फल की आकांक्षा के साथ कर्म भी छोड़ दिया, तो कुछ भी तो नहीं किया। यह तो कोई भी कर सकता था। फल की आकांक्षा के साथ कर्म के छोड़ने में, कुछ भी तो खूबी नहीं है। जैसे फल की आकांक्षा के साथ कर्म करने में कुछ खूबी नहीं है, वैसे ही फल की आकांक्षा के साथ कर्म छोड़ देने में भी कुछ

भी खूबी नहीं है। कोई भी विशेषता नहीं है। कोई भी साधना नहीं है। यह तो बड़ी आसान बात है। इसमें तो कुछ कठिनाई नहीं है। यह तो गृहस्थ ही पीठ करके खड़ा हो गया; मन जरा भी नहीं बदला।
कृष्ण कहते हैं, कर्म तो तू कर, कर्ता मत रह जा। कृष्ण कहते हैं, गृहस्थ तो तू रह, और संन्यासी हो जा। और कहते हैं, ऐसा पूर्वपुरुषों ने भी किया है। यह सिर्फ भरोसे के लिए, आश्वासन के लिए--कि तू घबड़ा मत! ऐसा मत सोच कि ऐसा कभी नहीं किया गया है। ऐसा पहले भी किया गया है।
सच में ही इस पृथ्वी पर जो लोग ठीक से जाने हैं, उन्होंने कर्ता को छोड़ दिया और कर्म को जारी रखा है।
ठीक संन्यासः कर्ताहीन, कर्म-सहित। ठीक संन्यासः अहंकार-मुक्त, कर्म-संयुक्त। ठीक संन्यासः स्वयं को छोड़ देता, शेष सबको जारी रखता है। ऐसे ठीक-ठीक संन्यास की, सम्यक संन्यास की, ऐसे राइट रिनंसिएशन की कृष्ण अर्जुन को शिक्षा देते हैं।
शेष हम रात बात करेंगे। पांच मिनट आप रुकेंगे। पांच मिनट कीर्तन में सम्मिलित हों। कर्ता को छोड़कर नाचें। पांच मिनट आनंद से भरें। और विदा हो जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
छठवां प्रवचन

वर्ण-व्यवस्था का मनोविज्ञान

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। 16।।
कर्म क्या है और अकर्म क्या है, ऐसे इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हैं, इसलिए मैं वह कर्म अर्थात कर्मों का तत्व तेरे लिए अच्छी प्रकार कहूंगा, जिसको जानकर तू अशुभ अर्थात संसार-बंधन से छूट जाएगा।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, बुद्धिमान व्यक्ति भी निर्णय नहीं कर पाते हैं। कृष्ण कहते हैं, वह गूढ़ तत्व मैं तुझसे कहूंगा, जिसे जानकर व्यक्ति मुक्त हो जाता है।
अजीब-सी लगेगी यह बात; क्योंकि कर्म क्या है और अकर्म क्या है, यह तो मूढ़जन भी जानते हैं। कृष्ण कहते हैं, कर्म क्या है और अकर्म क्या है, यह बुद्धिमानजन भी नहीं जानते हैं।
हम सभी को यह ख्याल है कि हम जानते हैं, क्या है कर्म और क्या कर्म नहीं है। कर्म और अकर्म को हम सभी जानते हुए मालूम पड़ते हैं। लेकिन कृष्ण कहते हैं कि बुद्धिमानजन भी तय नहीं कर पाते हैं कि क्या कर्म है और क्या अकर्म है। गूढ़ है यह तत्व। तो फिर पुनर्विचार करना जरूरी है। हम जिसे कर्म समझते हैं, वह कर्म नहीं होगा; हम जिसे अकर्म समझते हैं, वह अकर्म नहीं होगा।
हम किसे कर्म समझते हैं? हम प्रतिकर्म को कर्म समझे हुए हैं, रिएक्शन
को एक्शन समझे हुए हैं। किसी ने गाली दी आपको, और आपने भी उत्तर में गाली दी। आप जो गाली दे रहे हैं, वह कर्म न हुआ; वह प्रतिकर्म हुआ, रिएक्शन हुआ। किसी ने प्रशंसा की, और आप मुस्कुराए, आनंदित हुए; वह आनंदित होना कर्म न हुआ; प्रतिकर्म हुआ, रिएक्शन हुआ।
आपने कभी कोई कर्म किया है! या प्रतिकर्म ही किए हैं?
चौबीस घंटे, जन्म से लेकर मृत्यु तक, हम प्रतिकर्म ही करते हैं; हम रिएक्ट ही करते हैं। हमारा सब करना हमारे भीतर से सहज-जात नहीं होता, स्पांटेनियस नहीं होता। हमारा सब करना हमसे बाहर से उत्पादित होता है, बाहर से पैदा किया गया होता है।
किसी ने धक्का दिया, तो क्रोध आ जाता है। किसी ने फूलमालाएं पहनाईं,
तो अहंकार खड़ा हो जाता है। किसी ने गाली दी, तो गाली निकल आती है। किसी ने प्रेम के शब्द कहे, तो गदगद हो प्रेम बहने लगता है। लेकिन ये सब प्रतिकर्म हैं।
ये प्रतिकर्म वैसे ही हैं, जैसे बटन दबाई और बिजली का बल्ब जल गया; बटन बुझाई और बिजली का बल्ब बुझ गया। बिजली का बल्ब भी सोचता होगा कि मैं कर्म करता हूं जलने का, बुझने का। लेकिन बिजली का बल्ब जलने-बुझने का कर्म नहीं करता है। कर्म उससे कराए जाते हैं। बटन दबती है, तो उसे जलना पड़ता है। बटन बुझती है, तो उसे बुझना पड़ता है। यह उसकी स्वेच्छा नहीं है।
इसको ऐसा लें, किसी ने आपको गाली दी। और अगर आप गाली का उत्तर देते हैं, तो थोड़ा सोचें, यह गाली का उत्तर आपने दिया या देना पड़ा? अगर दिया, तो कर्म हो सकता है; देना पड़ा, तो प्रतिकर्म होगा।
आप कहेंगे, दिया, चाहते तो न देते। तो फिर चाहकर कोशिश करके देखें, तब आपको पता चलेगा। हो सकता है, ओंठों को रोक लें, तो भीतर गाली दी जाएगी। तब आपको पता चलेगा, गाली मजबूरी है; बटन दबा दी है किसी ने। और अगर कोई गाली दे, और आपके भीतर गाली न उठे, तो कर्म हुआ। तो आप कह सकते हैं, मैंने गाली न देने का कर्म किया।
कर्म का अर्थ है, सहज। प्रतिकर्म का अर्थ है, प्रेरित, इंस्पायर्ड।
कारण है जहां बाहर, और कर्म आता है भीतर से, वहां कर्म नहीं है।

हम चौबीस घंटे प्रतिकर्म में ही जीते हैं। बुद्ध, या महावीर, या कृष्ण, या क्राइस्ट जैसे लोग कर्म में जीते हैं। उनके जीवन में प्रतिकर्म खोजे से भी नहीं मिलेगा।
एक आदमी बुद्ध के ऊपर आकर थूक गया है। तो वे मुस्कुराए। उन्होंने अपनी चादर से थूक को पोंछ लिया। और उस आदमी से पूछा, और कुछ कहना है?
वह आदमी भी विचलित हुआ होगा। क्योंकि जब किसी के ऊपर थूकें, तो शायद पृथ्वी पर इसके पहले किसी ने भी नहीं कहा होगा कि और कुछ कहना है!
वह आदमी थोड़ा झिझका। उत्तर उसे सूझा नहीं। क्योंकि बुद्ध ने बड़ी अड़चन में डाल दिया। बुद्ध कोई प्रतिकर्म करते, तो वह आदमी उत्तर तैयार लेकर आया होगा। प्रतिकर्म की हम सब की तैयारी है। बुद्ध अगर पूछते, क्यों थूका? तो शायद वह उत्तर तैयार करके लाया हो। जैसे परीक्षा में लोग अपने उत्तर तैयार करके ले जाते हैं, ऐसे हम जिंदगी में एक-एक कदम रिहर्सल पहले कर लेते हैं। पहले तैयारी कर लेते हैं कि अगर थूकूंगा, तो कोई यह कहेगा, तो मैं यह कहूंगा। लेकिन जो तैयारी होती है, वह प्रतिकर्म की होती है।
बुद्ध जैसा आदमी तो कभी-कभी हजारों वर्षों में मिलता है। तो बुद्ध जैसे आदमी की तो तैयारी नहीं होती। दो-तीन-चार साल के, परीक्षार्थी, प्रश्नपत्र देख लेते हैं; क्वेश्चंस देख लेते हैं। तैयारी कर लेते हैं। लेकिन बुद्ध जैसा प्रश्न तो कभी लाखों-करोड़ों वर्ष में एक बार उठता है।
क्योंकि कर्म ही कभी करोड़ों वर्षों में एक आदमी करता है; बाकी सारे लोग प्रतिकर्म करते हैं।
वह आदमी मुश्किल में पड़ गया। उसने कहा, आप भी क्या पूछते हैं! उसे कुछ
और न सूझा।
बुद्ध ने कहा, मैं ठीक ही पूछता हूं। कुछ और कहना है? उसने कहा, लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं, आपके ऊपर थूका है!
बुद्ध ने कहा, तुमने थूका, लेकिन मैं समझा कि तुमने कुछ कहा है। क्योंकि थूकना भी कहने का एक ढंग है। शायद मन में इतना क्रोध है तुम्हारे कि शब्दों से नहीं कह पाते, इसलिए थूककर कहा है।
कई बार शब्द असमर्थ होते हैं, बुद्ध ने कहा। मैं ही कई बार बहुत-सी बातें कहना चाहता हूं, शब्दों में नहीं कह पाता, तो फिर इशारों में कहनी पड़ती हैं। तुमने इशारा किया; मैं समझ गया।
उस आदमी ने कहा, लेकिन आप कुछ नहीं समझे! मैंने क्रोध किया है! बुद्ध
ने कहा, मैंने बिल्कुल ठीक समझा कि तुमने क्रोध किया है। तो उस आदमी ने पूछा, आप क्रोध क्यों नहीं करते हैं?
बुद्ध ने कहा, तुम मेरे मालिक नहीं हो। तुमने क्रोध किया, इसलिए मैं
भी क्रोध करूं, तो मैं तुम्हारा गुलाम हो गया। मैं तुम्हारे पीछे नहीं चलता हूं। मैं तुम्हारी छाया नहीं हूं। तुमने क्रोध किया, बात खतम हो गई। अब मुझे क्या करना है, वह मैं करूंगा।
बुद्ध ने कुछ भी न किया। वह आदमी चला गया। दूसरे दिन क्षमा मांगने आया, और बुद्ध से कहने लगा, क्षमा कर दो! सिर रख दिया पैरों पर; आंसू गिराए आंखों से। जब सिर उठाया, बुद्ध ने कहा, और कुछ कहना है?
उस आदमी ने कहा, आप आदमी कैसे हो!
बुद्ध ने कहा, मैं समझ गया। मन में कोई भाव इतना घना है कि नहीं कह पाते शब्दों से, आंसुओं से कहते हो; सिर को पैर पर रखकर कहते हो--गेस्चर्स, मुद्राओं से। कल भी, कल भी कुछ कहना चाहते थे, नहीं कह पाए; आज भी कुछ कहना चाहते हो, नहीं कह पाए।
उस आदमी ने कहा, मैं क्षमा मांगने आया हूं। मुझे क्षमा कर दें।
बुद्ध ने कहा, मैंने तुम पर क्रोध ही नहीं किया, इसलिए क्षमा करने का
तो कोई उपाय ही नहीं है। जैसे कल मैंने देख लिया था कि तुमने थूका, ऐसे आज देखता हूं कि तुमने पैरों पर सिर रखा। बात समाप्त हो गई है। इससे ज्यादा इस कर्म में मैं नहीं पड़ता हूं।
बुद्ध ने कहा कि मैं तुम्हारा गुलाम नहीं हूं।

प्रतिकर्म गुलामी है, स्लेवरी है; दूसरा आपसे करवा लेता है। जब दूसरा आपसे कुछ करवा लेता है, तो आप गुलाम हैं, मालिक नहीं। कर्म तो वे ही कर सकते हैं, जो गुलाम नहीं हैं।
इसलिए कृष्ण अगर कहते हैं, तो ठीक ही कहते हैं, कि बुद्धिमान भी नहीं समझ पाते हैं कि क्या कर्म है और क्या अकर्म है।
अकर्म तो और भी कठिन है फिर। कर्म ही नहीं समझ पाते। प्रतिकर्म को हम कर्म समझते हैं; और अकर्मण्यता को हम अकर्म समझते हैं। अकर्मण्यता को, कुछ न करने को, बैठे-ठालेपन को, इनएक्शन को हम नान-एक्शन समझ लेते हैं। कुछ न करने को हम समझते हैं, अकर्म हो गया। एक आदमी कहता है कि हम कुछ नहीं करते, तो सोचता है, अकर्म हो गया।
लेकिन अकर्म बहुत बड़ी क्रांति-घटना है, म्यूटेशन है। सिर्फ न करने से अकर्म नहीं होता। क्योंकि जब आप बाहर नहीं करते, तो मन भीतर करता रहता है। जब आप बाहर करना बंद कर देते हो, मन भीतर करना शुरू कर देता है।
आपने देखा होगा, आरामकुर्सी पर बैठ जाएं, हाथ-पैर ढीले कर दें--अकर्म में हो गए; हम सब की परिभाषा में। कुछ भी नहीं कर रहा है आदमी, इनएक्टिव है, आरामकुर्सी पर लेटा है। लेकिन उस आदमी की खोपड़ी में एक खिड़की बनाई जा सके, तो पता चले कि वह आदमी कितने कामों में लगा हुआ है!
हो सकता है, इलेक्शन लड़ रहा हो; जीत गया हो; दिल्ली पहुंच गया हो। न मालूम क्या-क्या कर रहा हो! जितना वह कुर्सी पर से दौड़कर भी नहीं कर सकता था, उतना कुर्सी पर लेटकर कर सकता है। कुर्सी पर से दौड़कर कुछ करता, तो समय बाधा डालता। दिल्ली इतनी जल्दी नहीं पहुंच सकता था। लेकिन कुर्सी पर लेटकर दिल्ली पहुंचने में समय का कोई व्यवधान नहीं; स्थान की कोई बाधा नहीं; न कोई ट्रेन पकड़नी पड़ती है, न कोई हवाई जहाज पकड़ना पड़ता है; न वोटर्स के सिरों की सीढ़ियां बनानी पड़ती हैं--कुछ नहीं करना पड़ता है। आरामकुर्सी पर लेटा, दिल्ली पहुंचा! इच्छा ही कर्म बन जाती है।
जो बाहर से काम रोककर बैठ जाते हैं, वे अकर्मण्य तो हो जाते हैं, कर्महीन दिखाई पड़ते हैं; लेकिन भीतर बड़ी सक्रियता, बड़े गहन कर्म का जाल चलने लगता है।
रात आप पड़े हैं, सोए हैं। दिखता है ऊपर से, बिल्कुल ही अकर्म में पड़े हैं; लेकिन भीतर सपनों का जाल बुन रहे हैं। दिनभर भी जो नहीं बुन पाए, वह रातभर बुनेंगे। दिन में जो हत्याएं नहीं कर पाए, रात में करेंगे। दिन में जो व्यभिचार नहीं कर पाए, रात में करेंगे। दिन में जो नहीं हो सका, वह रात में पूरा किया जाएगा। रातभर गहन कर्म से चेतना गुजरेगी।
तो कृष्ण तो सोए हुए आदमी को भी नहीं कहेंगे कि यह अकर्म में है। वे कहेंगे, अकर्म का पता तो तब चलेगा, जब भीतर गहरे में कर्म की वासना न रह जाए, जब भीतर गहरे में मन शून्य और मौन हो जाए, जब भीतर गहरे में कर्म की सूक्ष्म तरंगें न उठें--तब होगा अकर्म।
और यह बड़े मजे की बात है, यह बहुत ही मजे की बात है कि जिसके भीतर अकर्म होगा, उसके बाहर प्रतिकर्म कभी नहीं होता। जिसके भीतर अकर्म होता है, उसके बाहर कर्म होता है।
कर्म सहज है--दूसरे की प्रतिक्रिया में नहीं, दूसरे के प्रत्युत्तर में नहीं--सहज, अपने से भीतर से आया हुआ, जन्मा हुआ।
जिस व्यक्ति के भीतर अकर्म होता है, उसके बाहर कर्म होता है। और जिस व्यक्ति के भीतर गहन कर्म होता है, उसके बाहर प्रतिकर्म होता है, रिएक्शन होता है।
इसलिए कृष्ण अगर यह कहते हैं, तो ठीक ही कहते हैं, गहन है यह राज, गूढ़
है यह रहस्य, बुद्धिमान भी तय नहीं कर पाते कि कर्म क्या है, अकर्म क्या है! अर्जुन, तुझे मैं कहूंगा वह गूढ़ रहस्य; क्योंकि उसे जो जान लेता, वह मुक्ति को उपलब्ध हो जाता है।
जो व्यक्ति भी कर्म और अकर्म के बीच की बारीक रेखा को पहचान लेता है,
वह स्वर्ग के पथ को पहचान लेता है। जो व्यक्ति भी कर्म और अकर्म के बीच के बहुत नाजुक और सूक्ष्म विभेद को देख लेता है, उसके लिए इस जगत में और कोई सूक्ष्म बात जानने को शेष नहीं रह जाती।

तो दो बातें स्मरण रख लें। हम जिसे कर्म कहते हैं, वह प्रतिकर्म है, कर्म नहीं। हम जिसे अकर्म कहते हैं, वह अकर्मण्यता है, अकर्म नहीं। कृष्ण जिसे अकर्म कहते हैं, वह आंतरिक मौन है; वह अंतर में कर्म की तरंगों का अभाव है; लेकिन बाहर कर्म का अभाव नहीं है।
जब अंतर में कर्म की तरंगों का अभाव होता है, तो कर्ता खो जाता है। क्योंकि कर्ता का निर्माण अंतर में उठी हुई कर्म की तरंगों का संघट है, जोड़ है। भीतर जो कर्म की वासना है, वही इकट्ठी होकर कर्ता बन जाती है। अगर भीतर कर्म की कोई तरंगें नहीं हैं, तो भीतर का कर्ता भी विदा हो जाता है। तब बाहर कर्म रह जाते हैं। लेकिन वे कर्म कर्ता-शून्य होते हैं। उनके पीछे अकर्ता होता है, अकर्म होता है। और चूंकि पीछे अकर्ता होता है, इसलिए प्रत्युत्तर से नहीं पैदा होते वे। वे सहज-जात होते हैं। जैसे वृक्षों में फूल आते हैं, ऐसे उस व्यक्ति में कर्म लगते हैं। आप में कर्म लगते नहीं; दूसरों के द्वारा खींचे जाते हैं।
आप थोड़ा सोचें। अगर राबिन्सन क्रूसो की तरह आप एक निर्जन द्वीप पर छोड़ दिए जाएं, तो आपके कितने कर्म एकदम से बंद नहीं हो जाएंगे? अकेले हैं आप। आपका प्रेम बंद हो जाएगा; आपकी घृणा बंद हो जाएगी। आपका क्रोध बंद हो जाएगा। अहंकार किसको दिखाइएगा? साज-शृंगार किसके सामने करिएगा? सब बंद हो जाएगा। किसके सामने अकड़कर चलिएगा? सब बंद हो जाएगा। बाहर से सब गिर जाएगा। सुना है मैंने, राबिन्सन क्रूसो की नाव जब डूबी, और वह एक निर्जन द्वीप पर लगा; द्वीप पर लगने के बाद उसे ख्याल आया, नाव आधी डूबी हुई अभी भी दिखाई पड़ रही है। उसने सोचा, कुछ जरूरत की चीजें हों तो उठा लाऊं। ख्याल आया, निर्जन द्वीप है, अकेला हूं; कुछ बच जाए सामान साथ, तो ले आऊं।
वापस गया। एक पेटी उठाई। खोली, मन प्रसन्न हो गया, स्वर्ण की अशर्फियां ही अशर्फियां थीं। फिर एकदम से खुशी खो गई, फिर मन उदास हो गया। फिर पेटी बंद करके उसने वहीं छोड़ दी।
क्या हुआ? स्वर्ण-अशर्फियां दिखाई पड़ीं, तो बड़ा प्रसन्न हुआ कि अच्छा हुआ, स्वर्ण-अशर्फियां मिल गईं। लेकिन पीछे ख्याल आया क्षणभर बाद, निर्जन है द्वीप; न है बाजार, न है कोई और; स्वर्ण की अशर्फियों का करूंगा क्या? फिर वे स्वर्ण की अशर्फियां, जो बड़ी बहुमूल्य थीं, वहीं छोड़ दीं उसने, उसी डूबती नाव में छोड़ दीं; और तट पर बैठकर डूबती हुई नाव को, और अशर्फियों को डूबता हुआ देखता रहा। उन्हें बचाकर लाने की इच्छा ही न रही।
आप, पूना के पास नाव डूब रही हो, तो स्वर्ण की अशर्फियां ऐसे छोड़ पाएंगे? नहीं छोड़ पाएंगे। जब आप स्वर्ण की अशर्फियां बचाकर लौट रहे हों नदी से, और मैं आपसे पूछूं कि आपने स्वर्ण की अशर्फियां बचाने का कर्म किया? तो आप कहेंगे, हां। लेकिन कृष्ण कहेंगे, सिर्फ प्रतिकर्म किया। स्वर्ण की अशर्फियां बचाना भी आपका प्रतिकर्म है, क्योंकि वह एक बड़े बाजार की अपेक्षा में हो रहा है। अगर निर्जन द्वीप पर होता, तो आप न कर पाते। वह कर्म नहीं है।
इसलिए बुद्ध जैसे आदमी स्वर्ण की अशर्फियां यहीं बाजार की भीड़ में भी नहीं बचाएंगे। अगर बुद्ध और महावीर सारी धन-संपत्ति को छोड़कर, इस बड़े संसार में सड़कों पर भिखारी की तरह खड़े हो गए, तो उसका कारण है। क्योंकि धन और संपत्ति को बचाना प्रतिकर्म है, कर्म नहीं है। क्योंकि राबिन्सन क्रूसो ने एकांत द्वीप पर नहीं बचाईं, तो बुद्ध इस भरी हुई भीड़ के महासागर में भी नहीं बचाएंगे। वे जानते हैं कि अशर्फियां किसी और को दृष्टि में रखकर बचाई जा रही हैं। बेकार हो गईं। बुद्ध तो वही बचाएंगे, जो निर्जन एकांत द्वीप पर भी बचाने जैसा है। बुद्ध तो अपने को ही बचाएंगे, बाकी सबकी फिक्र छोड़ देंगे।
हमारा सारा कर्म प्रतिकर्म है, इसे अगर ठीक से देख लिया, तो हमारा सारा अकर्म भीतरी कर्म बन जाता है--यह भी दिखाई पड़ जाएगा।
और कृष्ण कहते हैं, इसकी ठीक मध्यम रेखा को देख लेने से व्यक्ति मुक्त होता है। इसलिए अर्जुन, मैं तुझसे कर्म और अकर्म की विभाजक रेखा की बात करूंगा।
वे अगले सूत्रों में उसकी बात करेंगे।

प्रश्नः भगवान श्री, पिछली चर्चा के संबंध में एक प्रश्न है। कहा गया है, गुण और कर्म के अनुसार मानव के चार मोटे विभाग बनाए गए। अब यदि शूद्र घर में जन्म पाया हुआ आदमी ब्राह्मणों के लक्षणों से युक्त हो, तो उसे अपना निजी कर्तव्य निभाना चाहिए या ज्ञान-मार्ग और ब्राह्मण जैसा जीवन ही उसके लिए हितकर हो सकता है, कृपया इसे स्पष्ट करें।

इसमें दो-तीन बातें ख्याल में ले लें। एक तो, आज से अगर हम तीन हजार साल पीछे लौट जाएं और यही सवाल मुझसे पूछा जाए, तो मैं कहूंगा कि शूद्र के घर पैदा हुआ हो, तो उसे शूद्र का काम ही निभाना चाहिए। लेकिन आज यह न कहूंगा। कारण? कारण है।
जब भारत ने वर्ण की इस व्यवस्था को वैज्ञानिक रूप से बांटा हुआ था, विभाजन स्पष्ट थे। शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण के बीच कोई आवागमन न था, कोई विवाह न था, कोई यात्रा न थी। खून अमिश्रित, अलग-अलग था। तो जैसे ही कोई आत्मा मरती, उसे चुनने के लिए स्पष्ट मार्ग थे मरने के बाद। एक आत्मा जैसे ही मरती, वह अपने गुण-कर्म के अनुसार शूद्र के घर पैदा होती, या ब्राह्मण के घर पैदा होती।
भारत ने आत्मा को नया जन्म लेने के लिए चैनेल्स दिए हुए थे, जो पृथ्वी
पर कहीं भी नहीं दिए गए। इसलिए भारत ने मनुष्य की आत्मा और जन्म की दृष्टि से गहरे मनोवैज्ञानिक प्रयोग किए, जो पृथ्वी पर और कहीं भी नहीं हुए। जैसे कि एक नदी बहती है। नदी का बहना और है, अनियंत्रित। फिर एक नहर बनाते हैं हम। नहर का बहना और है, नियंत्रित और व्यवस्थित। भारत ने समाज के गुण-कर्म के आधार पर नहरें बनाईं नदियों की जगह, बहुत व्यवस्थित। उन व्यवस्थित नहरों का विभाजन इतना साफ किया कि आदमी मरे, तो उसकी आत्मा को चुनाव का सीधा-स्पष्ट मार्ग था कि वह अपने योग्य जन्म को ग्रहण कर ले। इसलिए बहुत कभी-कभी ऐसा होता कि करोड़ में एक शूद्र ब्राह्मण के गुण का पैदा होता। कभी ऐसा होता कि करोड़ में एक ब्राह्मण शूद्र के गुण का पैदा होता। अपवाद! अपवाद के लिए नियम नहीं बनाए जाते। और जब कभी ऐसा होता, तो उसके लिए नियम की चिंता करने की जरूरत नहीं होती थी।
कोई विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण में प्रवेश कर जाता। कोई नियम
की चिंता न थी। क्योंकि जब कभी ऐसा अपवाद होता, तो प्रतिभा इतनी स्पष्ट होती कि उसे रोकने का कोई कारण न होता था। लेकिन वह अपवाद था; उसके लिए नियम बनाने की कोई जरूरत न थी। वह बिना नियम के काम करता था।
लेकिन आज स्थिति वैसी नहीं है। भारत की वह जो विभाजन की व्यवस्था थी आत्मा के चुनाव के लिए, वह बिखर गई। अच्छे-भले लोगों ने बिखरा दी! कई दफे भले लोग ऐसे बुरे काम करते हैं, जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है। क्योंकि जरूरी नहीं है कि भले लोगों की दृष्टि बहुत गहरी ही हो। और जरूरी नहीं है कि भले लोगों की समझ बहुत वैज्ञानिक ही हो। भला आदमी भी छिछला हो सकता है। उखड़ गई सारी व्यवस्था। अब नहरें साफ नहीं हैं। हालत नदियों जैसी हो
गई है। नहरें भी हैं, खंडहर हो गई हैं; उनमें से पानी इधर-उधर बह जाता है। अब कोई व्यवस्था साफ नहीं है। अब इतनी साफ नहीं कही जा सकती यह बात। लेकिन नियम वही है। नियम में अंतर नहीं पड़ता। जो अंतर पड़ा है, वह व्यवस्था के जीर्ण-जर्जर हो जाने की वजह से है। आज भी, मौलिक रूप से, सिद्धांततः, जो व्यक्ति जहां पैदा हुआ हो, बहुत संभावना है, सौ में नब्बे मौके यही हैं कि अपने जीवन की व्यवस्था को वह उन्हीं मार्गों से खोजे, तो शीघ्रता से शांति को और विश्राम को उपलब्ध हो सकेगा; अन्यथा बेचैनी में और तकलीफ में पड़ेगा।
आज समाज में जो इतनी बेचैनी और तकलीफ है, उसके पीछे वर्ण का टूट जाना
भी एक कारण है।
एक सुनियोजित व्यवस्था थी। चीजें अपने-अपने विश्राम से अपने मार्ग
को पकड़ लेती थीं। अब हरेक को मार्ग खोजना पड़ेगा, निर्णायक बनना पड़ेगा, निर्णीत करना पड़ेगा। उस निर्णय में बड़ी बेचैनी, बड़ी प्रतिस्पर्धा, बड़ा कांप्टीशन, बड़ी स्पर्धा होगी। बड़ी चिंता और बड़ी बेचैनी पैदा होगी।

कुछ भी तय नहीं है। सब तय करना है। और आदमी की जिंदगी करीब-करीब तय करने में नष्ट हो जाती है। फिर भी कुछ तय नहीं हो पाता। कुछ तय नहीं हो पाता। लेकिन टूट गई व्यवस्था। और मैं समझता हूं कि लौटानी करीब-करीब मुश्किल है। क्यों?
क्योंकि भारत ने जो एक छोटा-सा प्रयोग किया था, वह लोकल था, स्थानिक था; भारत की सीमा के भीतर था। आज सारी सीमाएं टूट गई हैं। आज सारी जमीन इकट्ठी हो गई है। जिन कौमों ने कोई प्रयोग नहीं किए थे वर्ण के, वे सारी कौमें आज भारत की कौम और उन सब की दृष्टियां हमारी दृष्टियों के साथ इकट्ठी हो गई हैं। आज सारी दुनिया, गैर-वर्ण वाली दुनिया, बहुत बड़ी है। और वर्ण का प्रयोग करने वाले लोग बहुत छोटे रह गए।
और उन छोटे लोगों में भी, जो वर्ण के समर्थक हैं, वे नासमझ हैं; और जो वर्ण के विरोधी हैं, बड़े समझदार हैं। वर्ण के समर्थक बिल्कुल नासमझ हैं। वे इसीलिए समर्थन किए जाते हैं कि उनके शास्त्र में लिखा है। लेकिन समर्थकों के पास भी बहुत वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है। और न उनके पास कोई मनोवैज्ञानिक पहुंच है कि वे समझें कि बात क्या है! वे सिर्फ इसलिए दोहराए चले जाते हैं कि बाप-दादों ने कहा था। उनकी अब कोई सुनेगा नहीं। अब कोई चीज इसलिए सही नहीं होगी भविष्य में, कि बाप-दादों ने कही थी।
डर तो यह है कि अगर बाप-दादों का बहुत नाम लिया, तो चीज सही भी हो, तो गलत हो जाएगी। बाप-दादों ने कहा था, तो जरूरत कुछ गलत कहा होगा; आज हालत ऐसी है।
और जो आज विरोध में हैं वर्ण की व्यवस्था के, वे बड़े समझदार हैं। समझदार मतलब, ज्ञानी नहीं; समझदार मतलब, बड़े तर्कयुक्त हैं। वे हजार तर्क उपस्थित करते हैं। उनके तर्कों का जवाब पुरानी परंपरा के लोगों के पास बिल्कुल नहीं है। और ऐसे लोग आज न के बराबर हैं, जिनके पास आधुनिक तर्क की चिंतना हो और पुरानी अंतर्दृष्टि हो। ऐसे लोग न के बराबर हैं। इसलिए कठिनाई में पड़ गई है बात।
अगर मेरा वश चले, तो मैं चाहूंगा कि वह जीर्ण-जर्जर व्यवस्था फिर से सुस्थापित हो जाए। उदाहरण के लिए एक-दो बात आपसे कहूं कि कई दफे कैसी कठिनाई होती है।
आज से पचास साल पहले सारे यूरोप और अमेरिका ने बाल-विवाह की व्यवस्था तोड़ी। हिंदुस्तान में भी हिंदुस्तान के जो समझदार थे, और हिंदुस्तान के समझदार सौ साल से पिछलग्गू समझदार हैं। उनके पास कोई अपनी प्रतिभा नहीं है। जो पश्चिम में होता है, वे उसकी दुहाई यहां देने लगते हैं। लेकिन पश्चिम में जो होता है, पश्चिम के लोग तर्क का पूरा इंतजाम करते हैं। इन्होंने भी दुहाई दी कि बाल-विवाह बुरा है। फिर हमने भी बाल-विवाह के खिलाफ कानून बनाए। व्यवस्था तोड़ी। अब अगर आज कोई बाल-विवाह करता भी होगा, तो अपराधी है!
लेकिन आप जानकर हैरान होंगे कि विगत पंद्रह वर्षों... । अमेरिका के सौ बड़े मनोवैज्ञानिकों के एक आयोग ने रिपोर्ट दी है, और रिपोर्ट में कहा है कि अगर अमेरिका को पागल होने से बचाना है, तो बाल-विवाह पर वापस लौट जाना चाहिए।
अभी हिंदुस्तान के समझदारों को पता नहीं चला। इनको पता भी पचास साल बाद चलता है! क्यों लौट जाना चाहिए बाल विवाह पर? पचास साल में ही अनुभव विपरीत हुए। सोचा था कुछ और, हुआ कुछ और।
पहला अनुभव तो यह हुआ कि बाल-विवाह ही थिर हो सकता है। चौबीस साल के बाद किए गए विवाह थिर नहीं हो सकते। क्योंकि चौबीस साल की उम्र तक दोनों ही व्यक्ति, स्त्री और पुरुष, इतने सुनिश्चित हो जाते हैं कि फिर उन दो के बीच तालमेल नहीं हो सकता। वे दोनों अपने-अपने ढंग में इतने ठहर जाते हैं, फिक्स्ड हो जाते हैं, कि फिर समझौता नहीं हो सकता।
इसलिए पश्चिम में तलाक बढ़ते चले गए। आज अमेरिका में पैंतालीस प्रतिशत तलाक हैं। करीब-करीब आधे तलाक हैं। जितनी शादियां होती हैं हर साल, उससे आधी शादियां हर साल टूटती भी हैं। यह संख्या बढ़ती चली जाएगी।

बाल-विवाह एक बहुत मनोवैज्ञानिक तथ्य था। तथ्य यह था कि छोटे बच्चे झुक सकते हैं; लोच है उनमें। एक युवक और एक युवती, जब पक गए, तब उनमें झुकना असंभव हो जाता है। तब वे लड़ ही सकते हैं, झुक नहीं सकते। टूट सकते हैं, झुक नहीं सकते। इसलिए आज पश्चिम में पुरुष और स्त्री दुश्मन की भांति खड़े हैं। पति और पत्नी, एक तरह का युद्ध है, एक तरह की लड़ाई है।
एक अमेरिकी मनोवैज्ञानिक ने किताब लिखी है, इंटीमेट वार। आंतरिक युद्ध, प्रेमपूर्ण युद्ध--ऐसा कुछ अर्थ करें। और प्रेमपूर्ण युद्ध, यानी विवाह। इंटीमेट वार जो है, विवाह के ऊपर किताब है; कि दो आदमी प्रेम का बहाना करके साथ-साथ लड़ते हैं, चौबीस घंटे! इसका कारण?
इसका कारण कुल इतना है। कोई बेटा अपनी मां को बदलने का कभी नहीं सोचता
कि दूसरी मां मिल जाती, तो अच्छा होता। कोई बेटा अपने बाप को बदलने का नहीं सोचता कि दूसरा बाप मिल जाता, तो बहुत अच्छा होता। कोई भाई अपनी बहन को बदलने का नहीं सोचता कि दूसरी बहन मिल जाती, तो अच्छा होता। क्यों? क्या दूसरी बहनें अच्छी नहीं मिल सकतीं? क्या दूसरे बाप अच्छे नहीं मिल सकते? क्या दूसरी मां के अच्छे होने में कोई असुविधा है इतनी बड़ी पृथ्वी पर? नहीं; यह ख्याल नहीं आता। क्योंकि इतने बचपन में जब कि मन बहुत नाजुक और कोमल होता है, बच्चा मां से राजी हो जाता है।
बाल-विवाह के पीछे एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया थी कि जिस तरह मां से बच्चा राजी हो जाता है, उसी तरह वह पत्नी से भी राजी हो जाता है। फिर वह सोचता ही नहीं कि दूसरी पत्नी भी हो। जैसे मां दूसरी हो, ऐसा नहीं सोचता; पिता दूसरा हो, ऐसा नहीं सोचता; ऐसे ही पत्नी भी, पत्नी भी उसके साथ-साथ इतनी निकटता से बड़ी होती है कि स्वभावतः, दूसरी पत्नी हो या दूसरा पति हो, यह ख्याल ही नहीं उठता।
लेकिन चौबीस साल या पच्चीस साल या तीस साल की उम्र में शादी होगी, तो
यह बात बिल्कुल असंभव है कि यह ख्याल न उठे। जिसमें न उठे, वह आदमी बीमार होगा, उसका दिमाग खराब होगा। तीस साल की उम्र तक जिस युवक ने हजार स्त्रियों को देखा-पहचाना, हजार बार सोचा कि इससे शादी करूं कि उससे करूं; इससे करूं कि उससे करूं! तीस साल के बाद शादी की, फिर कलह और उपद्रव शुरू हुआ। उसे ख्याल नहीं आएगा कि पड़ोस की स्त्री से शादी हो जाती तो ज्यादा बेहतर होता?
मैंने सुना है, एक पत्नी अपने पति को सुबह दफ्तर विदा करते वक्त कह रही है कि आपका व्यवहार ठीक नहीं है। सामने देखो; सामने की पोर्च में देखो। पति ने उस तरफ आंख उठाकर देखा। पत्नी ने कहा, देखते हैं! पति अपनी पत्नी से विदा ले रहा है, तो कितना गले लगकर चुंबन दे रहा है। ऐसा तुम कभी नहीं करते! उसके पति ने कहा, मेरी उस औरत से कोई पहचान ही नहीं है। वैसा करने का तो मेरा भी मन होता है, पर उस औरत से मेरी कोई पहचान ही नहीं है। यह अमेरिका में मजाक घट सकती है। कल भारत में भी घटेगी। लेकिन भारत ऐसा पहले कभी सोच नहीं सकता था; इसको मजाक भी नहीं सोच सकता था। यह सिर्फ बेहूदगी मालूम पड़ती। यह मजाक भी नहीं मालूम पड़ सकती थी। इसके कारण थे। कारण बहुत साइकोलाजिकल थे, बहुत गहरे थे।
फिर एक और ध्यान लेने की बात है कि बाल-विवाह का मतलब है, दो बच्चों में सेक्स का तो ख्याल नहीं उठता, सेक्स का कोई सवाल नहीं होता, कामवासना का कोई सवाल नहीं होता। दो छोटे बच्चों की शादी कर दी, तो उनके बीच कोई कामवासना नहीं होती। कामवासना आने के पहले उनके बीच मैत्री बन जाती है। लेकिन जब दो बच्चे बच्चे नहीं होते, जवान होते हैं; और उनकी हम शादी करते हैं, मैत्री नहीं बनती पहले, पहले कामवासना आती है। और जब कामवासना पहले आएगी, तो संबंध बहुत जल्दी विकृत और घृणित हो जाएंगे। उनमें कोई गहराई नहीं होगी; छिछले होंगे। और जब कामवासना चुक जाएगी, तो संबंध टूटने के करीब पहुंच जाएंगे। क्योंकि और तो कोई संबंध नहीं है।
जिन दो बच्चों ने कामवासना के जगने के पहले मित्रता स्थापित कर ली, कल कामवासना भी विदा हो जाएगी, तो भी मित्रता बचेगी। लेकिन जिन दो जवानों ने कामवासना के बाद मित्रता स्थापित की, उनकी मित्रता स्थापित होती नहीं,

मित्रता सिर्फ कामवासना का बहाना होती है। जब कल कामवासना क्षीण हो जाएगी, तब मित्रता भी टूट जाएगी।
आज अमेरिका में किन्से जैसा मनोवैज्ञानिक कहता है कि बाल-विवाह पर वापस लौट जाना चाहिए। अन्यथा पूरा समाज रोगग्रस्त हो जाएगा।
मैं आपसे कहता हूं, पचास साल बाद दुनिया के मनोवैज्ञानिक कहेंगे कि वर्ण-व्यवस्था पर वापस लौट जाना चाहिए। लेकिन पचास साल बाद कहेंगे वे। और हिंदुस्तान के विचारक तो सौ साल बाद! जब वे कह चुकेंगे, तब इनकी बुद्धि में थोड़ा-सा हलन-चलन होगा।
वर्ण-व्यवस्था बहुत गहरी मनोवैज्ञानिक व्यवस्था है। आप जानकर हैरान होंगे, अगर आज के भी मनोविज्ञान के सारे तथ्य आपके ख्याल में आ जाएं, तो बहुत हैरान होंगे। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि तीन वर्ष की उम्र में बच्चा अपनी जिंदगी का पचास प्रतिशत ज्ञान सीख चुका होता है। पचास प्रतिशत! तीन वर्ष की उम्र का बच्चा पचास प्रतिशत बातें सीख चुका जिंदगी की। अब बाकी जिंदगी में, सत्तर साल में पचास प्रतिशत ही सीखेगा।
और यह भी मजे की बात है कि यह जो पचास प्रतिशत तीन साल की उम्र में सीखा गया है, यह फाउंडेशन है, यह बुनियाद है। इसको अब कभी नहीं बदला जा सकता। बाद में जो सीखेगा, वह इसके ऊपर बनाया हुआ भवन है, जो बदला जा सकता है। जिसे बदला जा सकता है, वह बुनियाद नहीं है। और अगर इसकी बुनियाद बदली, तो यह बच्चा विक्षिप्त हो जाएगा।
इसलिए अगर वर्ण की व्यवस्था यह कहती है कि शूद्र के घर में पैदा हुआ बच्चा अपने ही परिवार की व्यवस्था, अपने ही जीवन के ढंग से अपने जीवन की नियति को पाने के प्रयास में लगे; ब्राह्मण का बच्चा अपनी ही नियति से, अपनी व्यवस्था से अपनी खोज में लगे, तो बहुत मनोवैज्ञानिक है यह बात। क्योंकि तीन साल की उम्र में आधा ज्ञान पूरा हो जाता है। और तेरह-चौदह साल की उम्र तक सारा ज्ञान करीब-करीब पूरा हो जाता है।
यह जानकर आप चकित होंगे, पिछले महायुद्ध में अमेरिका में मिलिट्री में भर्ती होने वाले स्नातकों, ग्रेजुएट्स की मानसिक परीक्षाएं ली गईं, तो जो औसत उम्र मिली ग्रेजुएट्स की, वह साढ़े तेरह साल--मानसिक उम्र! फौज में भर्ती होने वाले, युनिवर्सिटी से निकले हुए स्नातकों की मानसिक उम्र इतनी निकली, जितनी साढ़े तरह साल के बच्चे की होती है। उनकी उम्र किसी की बाइस होगी, किसी की चौबीस, किसी की बीस--शारीरिक उम्र। लेकिन मानसिक उम्र साढ़े तेरह वर्ष निकली! तब तो सारी दुनिया के मनोवैज्ञानिक चिंतित हो गए। इसका मतलब क्या हुआ?
इसका मतलब यह हुआ कि अगर हम सारी दुनिया की मानसिक उम्र निकालें, तो
दस साल, नौ-दस साल से ज्यादा नहीं निकलेगी। इसका यह मतलब हुआ कि तेरह-चौदह साल की उम्र तक आदमी का मन करीब-करीब पक्का और मजबूत हो जाता है। अगर इस मन के विपरीत कुछ मार्ग उसने चुना, तो उसकी जिंदगी एक फ्रस्ट्रेशन और विषाद का मार्ग होगी।
लेकिन कठिनाई क्या है?
कठिनाई इसमें नहीं थी। शूद्र होने में कठिनाई नहीं है। ब्राह्मण होने में कठिनाई नहीं है। कठिनाई पैदा हुई जिस दिन हमने समझा, ब्राह्मण ऊपर है और शूद्र नीचे है। उस दिन शूद्र के मन में भी वासना जगी कि मैं ऊपर जाऊं। उस दिन ब्राह्मण के मन में भी डर जगा कि मुझे कोई नीचे न उतार दे। तब चीजें स्वस्थ न रह गईं। सब बीमार हो गया।
अगर वर्ण की व्यवस्था कभी लौटेगी--और मुझे लगता है, मनुष्य की जाति को अगर स्वस्थ होना हो, तो लौटेगी--अगर कभी लौटेगी, तो ऊपर-नीचे की तरह नहीं लौटेगी।
चार सीढ़ियों पर चार आदमी खड़े हो जाते हैं। एक ऊपर की सीढ़ी पर, एक नीचे
की सीढ़ी पर, दो बीच की सीढ़ियों पर। ऐसी सीढ़ी दर सीढ़ी वर्ण की व्यवस्था नहीं लौटेगी। कृष्ण के मन में भी वैसी व्यवस्था नहीं है। किसी समझदार के मन में वैसी व्यवस्था नहीं रही।
चार आदमी एक ही जमीन पर खड़े हैं, एक समतल भूमि पर--ऐसी व्यवस्था लौटेगी। वर्ण समतल भूमि पर खड़े हो सकें, तो लौट सकते हैं। और तब प्रत्येक

व्यक्ति को, उसकी जिंदगी जहां बड़ी हुई, जैसी बड़ी हुई, उसी मार्ग से खोज लेना शांति की दृष्टि से, आनंद की दृष्टि से, संतोष की दृष्टि से, अंततः चेतना की उपलब्धि की दृष्टि से उपयोगी है। और अगर वह यहां-वहां जाता है... । यह प्रश्न करीब-करीब ऐसा है--अगर हम टेक्नोलाजिकली, तकनीकी ढंग से समझें--तो यह ऐसा है कि कोई हमसे पूछे कि एक डाक्टर अगर वकालत करना चाहे, तो हर्ज तो नहीं है कोई?
एब्सर्ड है! क्योंकि अगर उसने डाक्टर होने की शिक्षा ली है और जिंदगी
के कीमती समय को डाक्टर होने में गंवाया है, तो अब वकालत करने वह जाएगा, तो उपद्रव ही होने वाला है। कोई अदालत उसको आज्ञा न देगी कि आप वकालत करें। अदालत कहेगी कि फिर वकील होने की ट्रेनिंग लें फिर से, तब लौटें। और तब भी, तब भी कठिनाई होगी। क्योंकि जो भी ट्रेनिंग हमने ले ली, उसको अनट्रेंड नहीं किया जा सकता। जो भी हमने जान लिया, उसको भुलाया नहीं जा सकता।
वर्ण की व्यवस्था एक बहुत तकनीकी व्यवस्था थी। उसमें शूद्र के जीवन
का अपना ढंग है, अपनी व्यवस्था है। ब्राह्मण के जीवन का अपना ढंग, अपनी व्यवस्था है। क्षत्रिय के जीवन का अपना ढंग, अपनी व्यवस्था है। वह सारी की सारी व्यवस्था एक प्रशिक्षण है। वह बचपन से घर में मिल रहा है। बच्चा बड़ा हो रहा है और प्रशिक्षण मिल रहा है। बच्चा बड़ा हो रहा है बाप के साथ, मां के साथ, भाइयों के साथ, और प्रशिक्षण जारी है। उसकी ट्रेनिंग हो रही है; उसके खून, हड्डी, मांस, मज्जा में चीजें डाली जा रही हैं, पहुंच रही हैं। जब वह जवान होता है, तब वह निर्मित हो चुका। अब उचित है कि जो उसके भीतर निर्मित हुआ है, वह उस दिशा से ही खोजे।
कठिनाई तो तब है, जब उस दिशा से पाया न जा सके। पाया जा सकता है। कोई ब्राह्मण ऐसे किसी सत्य को नहीं पा लिया है, जो शूद्र शूद्र रहकर न पा सकता हो। कोई शूद्र ऐसी किसी शांति को नहीं पा लिया है, जो कि ब्राह्मण ब्राह्मण होकर न पा सकता हो। कोई क्षत्रिय किसी ऐसी चीज को नहीं पा लिया है, जो कि शूद्र शूद्र रहकर न पा सकता हो।
न पा सकता हो, तब सवाल उठता है। लेकिन जहां तक आत्मिक अनुभव का संबंध है, जहां तक परमात्मा के द्वार की खोज की बात है, वहां तक कहीं से भी उसे पाया जा सकता है। और अपने ही कर्म में और अपने ही गुण के अनुसार बर्तते हुए सरलता से पाया जा सकता है, अन्यथा चीजें अकारण ही जटिल हो जाती हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, प्रश्न का दूसरा हिस्सा रह गया है, जिसमें आप यह कहना चाहते थे कि आज के युग में शूद्र के घर में उत्पन्न हुआ ब्राह्मण क्या करेगा?

व्यवस्था विकृत हुई है। चीजें अस्तव्यस्त हो गई हैं। आज शूद्र के घर में उत्पन्न हुआ बेटा, पहली तो बात, मुझसे पूछने नहीं आएगा कि मैं क्या करूं। हमारे उत्तरों पर निर्भर नहीं रहेगा। शूद्र का बेटा, शूद्र का बेटा है, यह मानने को ही राजी नहीं है, पहली बात। इनकार कर चुका है। उसने ब्राह्मण होने की कोशिश शुरू कर दी है। ब्राह्मण ने वैश्य होने की कोशिश शुरू कर दी है। वैश्य ने कुछ और होने की कोशिश शुरू कर दी है। सब किसी और कोशिश में लगे हैं। वे सब कोशिश में लगे हैं कुछ और होने की।
पूरा समाज, जो जहां खड़ा है, वहां खड़े होने को राजी नहीं है। कहीं और जाने के लिए आतुर है। एक विक्षिप्तता है समाज में आज। आज तो कोई भी जहां है, वहां रहने को राजी नहीं है, दौड़ ही रहा है। उस दौड़ के दुष्परिणाम दिखाई पड़ रहे हैं।
मैं उन ब्राह्मणों के पक्ष में नहीं हूं, जो इसलिए भयभीत हैं कि अगर शूद्र ब्राह्मण हो जाएं, अगर शूद्र भी ज्ञानवान हो जाएं, तो उनकी कोई बपौती छिन जाएगी। उनके पक्ष में नहीं हूं। जिन ब्राह्मणों को ऐसा डर है कि उनकी बपौती छिन जाएगी, उनके पास कोई बपौती ही नहीं है। जिन ब्राह्मणों को यह डर है कि कोई और जान लेगा, तो उनका कुछ छिन जाएगा, उन्होंने कुछ जाना ही नहीं है। ब्रह्म किसी की बपौती नहीं है। ज्ञान और सत्य किसी की बपौती नहीं है।

ब्राह्मण को भयभीत होने की जरूरत नहीं है। भयभीत इसीलिए है कि वह ब्राह्मण नहीं है। शूद्र को भी भयभीत होकर कुछ और होने की जरूरत नहीं है। जरूरत इसीलिए पड़ रही है कि वह भी नहीं समझ पा रहा है कि शूद्र होने का क्या अर्थ है! शूद्र शब्द ही निंदा का हो गया है। ब्राह्मण शब्द ही पूजा का हो गया है। जब ऐसी विकृति हो गई है, तो शूद्र रोके नहीं जा सकते; वे तो दौड़ेंगे और ब्राह्मणों की पंक्ति में सम्मिलित होंगे। दौड़ेंगे, वैश्य बनेंगे। दौड़ेंगे, क्षत्रिय बनेंगे। और यह सारी की सारी दौड़ पूरे समाज को एक मिश्रित ढंग दे देगी। जैसा कि सारी दुनिया में है। सिर्फ भारत में एक अमिश्रित व्यवस्था थी, जहां चीजें बंटी थीं--पैरेलल, समानांतर। और हमने एक गहरा प्रयोग किया था।
मैं तो अपनी तरफ से यही सुझाव दूंगा कि शूद्र शूद्र होने के गुण और कर्म के अर्थ को समझे। वह बहुत मीनिंगफुल है। और अगर उसे ऐसा लगे कि नहीं, उसकी जीवन की नियति वह नहीं है। लेकिन ध्यान रहे, उसे ऐसा लगे भीतर से कि उसकी नियति यह नहीं है, तो उसे जो लगे नियति, वह उस तरफ जाए। लेकिन दूसरे की स्पर्धा में न जाए। इसलिए ब्राह्मण न होना चाहे कि ब्राह्मण बहुत मजे लूट रहे हैं, इसलिए मैं ब्राह्मण हो जाऊं। तब वह अपने गुण-कर्म का विचार नहीं कर रहा है।
कोई ब्राह्मण इसलिए शूद्र न हो जाए कि शूद्र आज बड़ी प्रिफरेंस पा रहे हैं! प्रिविलेज्ड क्लास है इस वक्त शूद्रों की। इस वक्त शूद्र जो हैं, जैसे कभी ब्राह्मण प्रिविलेज्ड थे, ऐसे आज शूद्र हैं। आज, मुझे पता है भलीभांति कि न मालूम कितनी यूनिवर्सिटीज में, न मालूम कितने कालेजों और स्कूलों में, न मालूम कितने लड़कों ने अपने को शूद्र गिनाया हुआ है, जो कि शूद्र नहीं हैं। क्योंकि शूद्र को स्कालरशिप भी है; शूद्र को नौकरी में भी स्थान नियत है। आज नहीं कल, ब्राह्मण भी शूद्र होने को आतुर हो सकता है। क्योंकि शूद्र किसलिए आतुर है ब्राह्मण होने को? क्योंकि ब्राह्मण
कल तक प्रिविलेज्ड क्लास थी; महत्वपूर्ण थी। उसका ब्राह्मण होना ही पर्याप्त था। कल शूद्र होना भी महत्वपूर्ण हो सकता है। और जैसी हालत चल रही है, उसमें हो जाएगा। और जो शूद्र के घर में पैदा नहीं होगा, वह भगवान को कोसेगा कि एकदम गलत बात की। शूद्र के घर में पैदा करते, तो इलेक्शन में भी सुनिश्चित सीट थी। जगजीवनराम से पूछिए! शूद्र होना गुण है! और कोई भी गुण न हो, तो शूद्र होना भी गुण है अब! जैसा कभी ब्राह्मण होना गुण था!
तो मैं तो कहूंगा, जरा जल्दी मत करो शूद्रों से, ब्राह्मण होने की। ब्राह्मण शूद्र हो जाएंगे। जगजीवनराम कौन न होना चाहेगा? जगजीवनराम में वैसे कोई भी गुण न हों, लेकिन शूद्र होना बड़ा गुण है!
यह आज की जो विकृत स्थिति है, इसमें कोई मेरी सलाह से नहीं रुकने वाला है। लेकिन मेरी अपनी समझ यही है। आज तो दौड़ शुरू हो गई है। बीमारी चल चुकी है। रोकना करीब-करीब असंभव है। लेकिन जो मुझे ठीक लगता है, वही मुझे कहना चाहिए। मुझे तो ठीक यही लगता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण-कर्म को ठीक से जांच-पड़ताल कर ले, फिर आगे बढ़े।
अभी पश्चिम के मनोवैज्ञानिक सलीवान या पर्ल्स या और दूसरे मनोवैज्ञानिक इस सुझाव पर खड़े हैं कि प्रत्येक स्कूल में एक-एक मनोवैज्ञानिक होना चाहिए अनिवार्य रूप से, प्रत्येक प्राइमरी स्कूल में। क्यों? क्योंकि वे कहते हैं कि जब तक बच्चे का गुणधर्म न समझा जा सके, तब तक तय नहीं करना चाहिए कि उसे क्या शिक्षा दी जाए। बाप तय नहीं करे; क्योंकि बाप को क्या पता कि बच्चे का गुणधर्म क्या है? यह बच्चा गणितज्ञ बन सकता है कि संगीतज्ञ, यह बाप कैसे तय करेगा? रुझान से, कि बाप को संगीत अच्छा लगता है, इसलिए तय कर ले कि मेरा लड़का संगीतज्ञ हो जाए? लेकिन लड़के में गुणधर्म है या नहीं? या बाप तय कर ले कि लड़का इंजीनियर हो जाए, क्योंकि इंजीनियर की बाजार में कीमत है, मार्केट वैल्यू है! तो फिर, लेकिन लड़का इंजीनियर होने का गुणधर्म लिए है या नहीं?
पश्चिम का मनोवैज्ञानिक कह रहा है कि आज जगत में जो इतना संताप है, उसका कुल कारण यह है कि कोई भी अपनी जगह पर नहीं है। इसका क्या मतलब हुआ? इसलिए वे कहते हैं, एक-एक मनोवैज्ञानिक बिठा दो हर प्राइमरी स्कूल में, जो

चार साल बच्चों का निरीक्षण करके लिखे कि यह बच्चा क्या हो सकता है, इसका झुकाव क्या है, इसका एप्टिट्यूड क्या है!
यह वही बात हो गई। अगर मनोवैज्ञानिक तय कर दे कि एप्टिट्यूड क्या है,
और वह कह दे कि इस बच्चे को शूद्र होना है, इसको मजदूर होना चाहिए; तो फिर क्या हुआ? फिर वापस वर्ण लौटा!
हमने जन्म से तय किया था; अब जन्म से तय न हुआ। जन्म से तय करना परमात्मा के हाथों में छोड़ना था। प्राइमरी स्कूल में एक मनोवैज्ञानिक के हाथ में छोड़ना है, जो कि परमात्मा जैसे कुशल हाथ नहीं हो सकते। कम से कम मनोवैज्ञानिक के हाथ, मनोवैज्ञानिक खुद आधे पागल हैं, इनके हाथ में तय करवाना कि बच्चा क्या बने--शूद्र, कि ब्राह्मण, कि क्षत्रिय, कि वैश्य-- क्या बने? कहां जाए? इसकी जीवन-यात्रा क्या हो? एक मनोवैज्ञानिक तय करे! हमने जो सोचा था, वह ज्यादा गहरा था। हमने सोचा था कि यह जीवन की व्यवस्था आत्मा का अपना झुकाव है। और परमात्मा के नियमों के अनुसार, जन्म के साथ ही क्यों न तय हो जाए? आत्मा क्यों न अपने ही चुनाव से उस घर में पैदा हो जाए, जहां उसका एप्टिट्यूड हो, जहां उसका झुकाव हो।
यह बहुत आश्चर्य की बात है। हिंदुस्तान में शूद्रों को हुए कोई दस हजार वर्ष होते हैं। दस हजार वर्षों में शूद्रों ने कोई बगावत नहीं की, कोई विद्रोह नहीं किया। अगर शूद्र अपने भाग्य से बहुत नाखुश थे, तो बगावत हो जानी चाहिए थी। लेकिन वे नाखुश नहीं थे। उनका एप्टिट्यूड मेल खा रहा था; वे नाखुश नहीं थे, असंतुष्ट नहीं थे।
इधर दो सौ वर्षों में अंग्रेजी-व्यवस्था के बाद नाखुश होने शुरू हुए। पहली बार एक ऐसी समाज-व्यवस्था सत्ता में आई इस मुल्क में, जिसको वर्ण की आंतरिक धारणा का कोई भी पता नहीं था। उसने चीजों को तोड़ना शुरू किया। उसने वर्णों और वर्गों को लड़ाना शुरू किया। उसने हिंदू को मुसलमान से लड़ाया, इतना ही नहीं; उसने शूद्र को ब्राह्मण से लड़ाया। उसने सारा अस्तव्यस्त कर दिया। उसने भारत की बहुत गहरी जड़ें, जो हजारों सालों में हमने आरोपित की थीं, सब हिला डालीं। आज तो सब अव्यवस्थित है।
फिर भी मैं यही कहूंगा कि व्यक्ति अपने गुणधर्म को ही सोचे। जन्म की बहुत फिक्र न भी करे, तो भी बहुत आंतरिक सोच-समझ, इंट्रास्पेक्शन से सोचे कि मैं क्या हो सकता हूं! अगर उसे लगता हो कि वह ब्राह्मण हो सकता है, तो ब्राह्मण की यात्रा पर निकल जाए। अगर उसे लगे कि वह शूद्र हो सकता है, तो शूद्र की यात्रा पर निकल जाए। नहीं तो मनोवैज्ञानिक से पूछे। मगर राजनीतिज्ञ से न पूछे। अभी वह राजनीतिज्ञ से पूछ रहा है। अंधे अंधों को मार्गदर्शन दें, तो जो हो सकता है, वह हो रहा है।

प्रश्नः भगवान श्री, एक छोटा प्रश्न, उस पर कुछ कहिए। आधुनिक युग में डाक्टर, इंजीनियर और पोलिटीशियन को आप कौन-से वर्ण में रखेंगे?

डाक्टर, इंजीनियर इनको किस वर्ण में रखेंगे!
पोलिटीशियन?
पोलिटीशियन? वर्णसंकर! पोलिटीशियन का कोई वर्ण होता है? पोलिटीशियन
का कोई वर्ण नहीं होता; वर्णसंकर! क्योंकि पोलिटीशियन कोई धंधा नहीं है; जैसे प्रास्टीट्यूशन कोई धंधा नहीं है।
टेक्नीशियन जो है, वह शूद्र के वर्ण में जाएगा, किसी भी भांति का टेक्नीशियन। शूद्र, सब तरह के शिल्प शूद्र में जाएंगे। इंजीनियर शूद्र में जाएगा। सब तरह के टेक्नीशियन; जो किसी टेक्नीक पर जीते हैं, तकनीक पर जीते हैं, शिल्प पर जीते हैं, कार्य की कुशलता और क्राफ्ट पर जीते हैं, वे सब शूद्र में जाएंगे।
शूद्र छोटा वर्ण नहीं है, बहुत अदभुत है, और बहुत बड़ा है; और बहुत बहुमूल्य है। उसकी अपनी महत्ता है। समस्त शिल्पी शूद्र में जाएंगे। लेकिन अगर कोई इंजीनियर इंजीनियरिंग न करता हो, प्योर इंजीनियर हो-- जैसा प्योर मैथमेटीशियन होता है। एप्लाइड मैथमेटीशियन तो शूद्र में जाएगा; प्योर मैथमेटीशियन ब्राह्मण में जाएगा। एक इंजीनियर, जो कि कोई

मकान न बनाता हो, कोई सड़क न बनवाता हो, कुछ करता न हो, लेकिन इंजीनियरिंग के संबंध में केवल मानसिक शोध और खोज करता हो, तो फिर वह ब्राह्मण में चला जाएगा।
एक डाक्टर अगर चीरा-फाड़ी करता हो, मलहम-पट्टी करता हो, तो शूद्र में जाएगा। शिल्पी है। लेकिन एक डाक्टर, न तो चीरा-फाड़ी करता हो, न मलहम-पट्टी करता हो, लेकिन मेडिसिन की खोज करता हो, सिर्फ औषधियों की खोज करता हो, तो फिर ब्राह्मण में चला जाएगा। एक डाक्टर अगर न औषधियों की खोज करता हो, न मलहम-पट्टी करता हो, सिर्फ दवाइयां बेचता हो, तो वैश्य में चला जाएगा।
यह निर्भर करेगा, इट डिपेंड्स कि वह आदमी क्या करता है। उसके करने से
तय होगा कि वह किस वर्ण में जाता है। अगर वह शिल्पी है, काम महत्वपूर्ण है, तो वह शूद्र में चला जाएगा। अगर वह व्यवसायी है और धन महत्वपूर्ण है, तो वह वैश्य में चला जाएगा। अगर वह सिर्फ शक्ति की खोज में है, सत्ता की खोज में है; जो भी वह कर रहा है, उसके करने के माध्यम से वह शक्ति की ही पूजा कर रहा है... । अगर एक फिजिसिस्ट, एक भौतिकी वैज्ञानिक इसलिए अणु का विस्फोट कर रहा हो कि अणु के विस्फोट से वह प्रकृति पर विजय पा लेगा, तो वह क्षत्रिय है। लेकिन अगर वह अणु-विस्फोट सिर्फ इसलिए कर रहा हो कि अणु के विस्फोट से वह विश्व की मूल शक्ति के निकट पहुंच जाएगा, जिज्ञासा कर रहा हो, तो वह ब्राह्मण है।
ये जो चार वर्ण हैं, ये एप्टिट्यूड हैं, ये झुकाव हैं। फिर मिश्रित वर्ण के लोग भी होंगे, कि जो दो काम कर रहे हैं, तीन काम कर रहे हैं, चार काम कर रहे हैं। तो वे मिश्रित होंगे; उनमें सब वर्णों के झुकाव होंगे। लेकिन फिर भी एक वर्ण उनमें महत्वपूर्ण होगा, जो केंद्रीय होगा।
पोलिटीशियन के लिए मैंने कहा कि वह वर्ण में नहीं होगा। उसके वर्ण में होने का उपाय नहीं है।
मैंने सुना, एक बहुत बड़े राजनीतिज्ञ से किसी ने पूछा... । चुनाव था और
वह खड़ा था मंच पर। बड़ी मुश्किल में पड़ा था। बड़ी मुश्किल में इसलिए पड़ा था, जैसा कि राजनीतिज्ञ हमेशा पड़े रहते हैं। बड़ी मुश्किल में पड़ा था, मुश्किल यह थी कि चुनाव की कांस्टिट्यूएंसी, चुनाव का क्षेत्र और जो लोग मौजूद थे, वे आधे-आधे बंटे थे; आधे लेफ्टिस्ट थे, आधे राइटिस्ट थे। आधे वामपंथी थे, आधे वामपंथी नहीं थे; विरोधी थे। एक आदमी ने खड़े होकर पूछा कि आप लेफ्टिस्ट हैं? दक्षिणपंथी हैं, वामपंथी हैं--कौन हैं? वह मुश्किल में पड़ा। क्योंकि वह कहे कि वामपंथी है, तो दक्षिणपंथी नाराज हो जाएं; वह कहे दक्षिणपंथी है, तो वामपंथी नाराज हो जाएं। उसने टालने की कोशिश की। फिर किसी ने पूछा कि ठीक से जवाब दो, आप बाएं जाओगे कि दाएं? उसने कहा, मैं तो सीधा जाऊंगा। बाएं-दाएं बिल्कुल जाता ही नहीं।
लायड जार्ज एक चुनाव में खड़ा था। पिछले चुनाव में वह किसी और दल की तरफ से लड़ा; इस चुनाव में किसी और दल की तरफ से लड़ रहा था। किसी ने खड़े होकर पूछा कि आप क्या हैं? आप कंजरवेटिव हैं? लिबरल हैं? सोशलिस्ट हैं, कम्यूनिस्ट हैं--क्या हैं? उसने कहा, मैं पोलिटीशियन हूं; मैं सिर्फ राजनीतिज्ञ हूं। मैं और कोई नहीं हूं।
राजनीतिज्ञ का कोई धंधा नहीं है। असल में गैर-धंधी लोगों का धंधा है। जिनके पास कोई धंधा नहीं है, जिनके वर्ण का कोई ठिकाना नहीं है, कोई एप्टिट्यूड नहीं है। जिंदगी में जिन्हें कुछ और करने योग्य नहीं लगता... ।
लेकिन अगर ठीक व्यवस्था हो, अगर ठीक व्यवस्था हो तो जो लोग राजनीति पर सोचते हैं, पोलिटीशियंस नहीं, पोलिटिकल थिंकर्स--वे तो ब्राह्मण होंगे।
लेकिन जो राजनीति को चलाते हैं, अगर ठीक व्यवस्था हो, सुसंगत व्यवस्था हो, तो वे टेक्नीशियन होंगे! तो वे शूद्र में जाएंगे।
लेकिन अभी उनकी कोई स्थिति नहीं है। अभी वे वर्णसंकर हैं। इसलिए मैंने वर्णसंकर कहा है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। 17।।

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा निषिद्ध कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है।

कहते हैं कृष्ण, कर्म का स्वरूप, अकर्म का स्वरूप और निषिद्ध कर्म का स्वरूप जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है।
निषिद्ध कर्म, वे कर्म जो करने योग्य नहीं हैं, उनका स्वरूप भी जानना चाहिए।
पहले सूत्र में कर्म और अकर्म की बात की। अब वे तीसरा एक और तत्व जोड़ते हैं। वे कहते हैं, निषिद्ध कर्म, उसका स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है। गहन मतलब, सूक्ष्म, बारीक। पता नहीं चलता, रहस्यपूर्ण है। कब कर्म कर्म होता, कब अकर्म होता, यह तो है ही कठिनाई। कर्म कभी-कभी निषिद्ध कर्म भी होता है, तब और कठिनाई है। निषिद्ध कर्म के संबंध में थोड़ी बात ख्याल में ले लेनी चाहिए।
निषिद्ध कर्म को दो ढंग से सोचा जा सकता है। एक तो, कि हम कुछ कर्मों
को तय कर लें कि ये निषिद्ध हैं, जैसा कि अदालत करती है, कानून करता है।
कानून, कर्म तय कर लेता है कि ये निषिद्ध हैं। चोरी करना निषिद्ध है; हत्या करना निषिद्ध है; आत्महत्या करना निषिद्ध है। कुछ कर्म तय कर लिए हैं। ये निषिद्ध हैं, ये नहीं करने चाहिए।
लेकिन कानून बहुत बारीक नहीं होता। धर्म और भी बारीक खोज करता है। धर्म जानता है कि कभी-कभी कोई कर्म किसी परिस्थिति में निषिद्ध हो जाता है और किसी परिस्थिति में निषिद्ध नहीं होता। हत्या साधारणतया निषिद्ध है, युद्ध के मैदान पर निषिद्ध नहीं होती है।
निषिद्ध निर्णीत चीज नहीं है; परिस्थिति के साथ बदल जाती है। और कभी- कभी तो ऐसा होता है कि दो निषिद्ध कर्मों के बीच विकल्प खड़ा हो जाता है, आल्टरनेटिव हो जाता है। क्या करो? सच बोलो, तो हिंसा हो जाती है। हिंसा बचाओ, तो झूठ बोलना पड़ता है। फिर क्या करो? दो निषिद्ध कर्म आड़े खड़े हो जाते हैं। एक को बचाओ, तो दूसरा निषिद्ध कर्म होता है। दूसरे को बचाओ, तो पहला हो जाता है।
बहुत पुरानी एक तार्किक गुत्थी है। एक आदमी अपने रास्ते से गुजर रहा है, एक ब्राह्मण। सीधा-सादा आदमी है। एक कसाई भागा हुआ आया है। वह अपनी गाय को खोज रहा है, जो उसके हाथ से छूटकर भाग गई है। वह उस आदमी से पूछता है, ब्राह्मण से कि यहां से एक गाय भागी गई है? हाथ में उसके काटने की कुल्हाड़ी है। ब्राह्मण देखता है, कसाई है। आंखें बताती हैं, हाथ की कुल्हाड़ी बताती है, खून के धब्बे बताते हैं। वह कहता है, गाय यहां से गई है? गाय किस तरफ गई है?
वह ब्राह्मण मुश्किल में पड़ गया। बड़ी मुश्किल में पड़ गया। उसने किताब में पढ़ा है कि झूठ बोलना निषिद्ध कर्म है। लेकिन सच बोले, तो यह कसाई गाय को पकड़ लेगा और हत्या करेगा। तो मैं भी भागीदार हो जाऊंगा। और गोहत्या तो निषिद्ध है ही। सभी हत्याएं निषिद्ध हैं। फिर हत्या में भागीदार होना निषिद्ध है। अब अगर झूठ बोलूं, तो भी निषिद्ध कर्म हो जाएगा; सच बोलूं, तो भी निषिद्ध कर्म होकर रहेगा। वह ब्राह्मण मुश्किल में पड़ गया।
उस कसाई ने कहा कि जल्दी बोलो। पता हो, तो बोलो; नहीं पता हो, तो कहो कि नहीं पता है। उस ब्राह्मण ने कहा, मैं बहुत मुश्किल में पड़ गया हूं। जरा मुझे सोचने दो। निषिद्ध कर्मों का सवाल है। उस कसाई ने कहा, पागल, मैं पूछता हूं, मेरी गाय कहां है? निषिद्ध कर्मों का कोई सवाल नहीं है। सिर्फ गाय का सवाल है। गाय कहां गई है? तू जानता हो, देखा हो, बोल! न जानता हो, न देखा हो, वैसा बोल! उसने कहा कि अभी ठहरो। सवाल निषिद्ध कर्मों का है। जिंदगी जटिल है। उसमें चीजें ऐसी नहीं होतीं, जैसी शास्त्रों में होती हैं। शास्त्र सरल है, हालांकि लोग शास्त्रों को जटिल समझते हैं और जिंदगी को सरल समझते हैं। शास्त्र बिल्कुल सरल हैं; जिंदगी बहुत जटिल है। क्योंकि शास्त्रों के सब सवाल निर्णीत सवाल हैं; जिंदगी के सब सवाल अनिर्णीत हैं। वहां प्रतिपल तय करना पड़ता है कि क्या करूं? और ऐसे क्षण

रोज आ जाते हैं, जब कोई शास्त्र साथ नहीं देता, स्वयं ही निर्णय करना पड़ता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, जटिल है, गहन है कर्म की गति। उस कर्म की गहन गति को ठीक समझने के लिए पहले तो निषिद्ध कर्म के तत्व को ठीक से समझ लेना चाहिए। कर्म और अकर्म को तो समझना ही चाहिए, निषिद्ध कर्म को भी ठीक से समझ लेना चाहिए। क्योंकि कर्म और अकर्म तो अल्टिमेट है, आखिरी सवाल है। लेकिन निषिद्ध कर्म, डे टु डे, इमीजिएट है, रोज का सवाल है। उठे नहीं, कि तय करना पड़ता है कि क्या करें!
रात आप करवट बदलते हैं। निषिद्ध कर्म करते हैं करवट बदलकर! आप कहेंगे, क्या पागलपन की बात करते हैं! रात करवट नहीं बदलेंगे, तो क्या होगा? महावीर की किताब पढ़ें। महावीर का शास्त्र कहता है कि रात करवट बदलना निषिद्ध है। महावीर ने करवट नहीं बदली। रातों-रात एक ही करवट सोए। क्योंकि रात करवट बदलें, पास में कोई कीड़ा-मकोड़ा दब जाए, तो उसकी हत्या हो जाए। संभावना है, रात है, अंधेरा है, करवट बदली, कीड़ा-मकोड़ा दब जाए। तो एक ही करवट सोना, कम से कम हिंसा की संभावना रहेगी। एक करवट तो सोना ही पड़ेगा। जितने मर गए, मर गए। दूसरी करवट से बचो; निषिद्ध कर्म है।
महावीर जमीन पर पैर भी फूंककर रखेंगे। सूखी जमीन पर पैर रखेंगे; इसलिए महावीर वर्षा में यात्रा नहीं करेंगे। क्योंकि गीली जमीन में कीटाणु पैदा हो जाते हैं। पानी पड़ जाए, गीली जमीन हो, कीटाणु पैदा हो जाए। तो वर्षा में पैर ही मत रखो; निषिद्ध कर्म है।
किस चीज को निषिद्ध कहें? जीसस से पूछो, मोहम्मद से पूछो, महावीर से पूछो, राम से पूछो, कनफ्यूशियस से पूछो। अगर सबकी बातें सुन लो, तो आदमी हिल भी न सके, सांस भी न ले सके। देखा है न, जैन साधु-साध्वी मुंह पर पट्टी बांधे हुए हैं! वह सांस से बचाने के लिए, कि सांस की गर्म हवा आस-पास के कीटाणुओं को मार देगी, तो निषिद्ध कर्म हो जाए! तो नाक पर पट्टी बांधे हुए हैं। गर्म हवा पट्टी में रुक जाए, तो थोड़ी हवा के कीटाणुओं को बचाने की सुविधा हो जाएगी। मुश्किल है!
और ऐसा नहीं है कि इन बड़े तीर्थंकरों, अवतारों, समझदारों, बुद्धिमानों, ज्ञानियों की बात से मुश्किल होती है। जिंदगी जटिल है। वे जो भी कह रहे हैं, सब ठीक कह रहे हैं। लेकिन सभी की बातें जिंदगी के निश्चित पहलू को छू पाती हैं! और जिंदगी रोज अनिश्चित है। सब बदल जाता है। महावीर ने कहा कि खेती मत करो, क्योंकि खेती निषिद्ध कर्म है; क्योंकि खेती में बहुत हिंसा होती है। होगी ही। इसलिए महावीर को मानने वाले लोगों ने खेती बंद कर दी। खेती बंद कर दी, लेकिन महावीर ने कभी सोचा न होगा कि खेती बंद करके ये और भी निषिद्ध कर्म न करने लगें! खेती तो बंद कर दी--और महावीर के अधिकतम मानने वाले क्षत्रिय थे, क्योंकि महावीर क्षत्रिय थे। अधिकतम मानने वाले क्षत्रिय थे, तलवार उठा नहीं सकते; क्योंकि जब खेती नहीं कर सकते, तो तलवार उठाना तो बहुत निषिद्ध हो जाएगा। युद्ध में जा नहीं सकते; सैनिक का काम कर नहीं सकते; क्षत्रिय रहे नहीं। खेती कर नहीं सकते; किसान रहे नहीं। अब क्या उपाय है? शूद्र होने की हिम्मत नहीं है। ब्राह्मण दरवाजे बंद किए बैठे हैं; वे भीतर घुसने न देंगे। सिवाय वैश्य होने के उन्हें कोई रास्ता नहीं रह गया। इसलिए समस्त महावीर के मानने वाले व्यापारी हो गए, वैश्य हो गए।
लेकिन वैश्य होकर उन्होंने इतनी हिंसा की, जितनी कि वे किसान होकर कभी न करते! कभी न करते इतनी हिंसा। लेकिन दिखाई नहीं पड़ती है। रुपए को आप हाथ में लो, हिंसा का बिल्कुल पता नहीं चलता। रुपया बिल्कुल साफ मालूम पड़ता है। उसमें कहीं खून का धब्बा नहीं होता। हालांकि रुपए में जितने खून के धब्बे होते हैं, किसी और चीज में नहीं होते। लेकिन वह दिखाई नहीं पड़ता। एकदम साफ है।
कहना चाहिए, स्वच्छ हिंसा है; एकदम साफ-सुथरी, क्लीन वायलेंस! कहीं कोई धब्बा नहीं, दाग नहीं। धुला हुआ रुपया है; तिजोरी में सम्हालकर रखा है। कहीं कुछ पता नहीं चलता कि किसकी गर्दन कटी इसमें; किसके प्राण गए

इसमें; कौन सूली लटका; किसकी जमीन बिकी; किसका मकान मिटा; कौन विधवा हुई; क्या हुआ--इसका कुछ पता नहीं चलता।
रुपया बड़ा अदभुत है। वह सब तरह के खून से गुजरे, सब तरह के अपराध से गुजरे, हमेशा ताजा बाहर आता है। वह कभी बासा नहीं होता। कितने ही हाथों से गुजरे, कुछ भी उपद्रव उस पर बीते, वह हमेशा साफ धुला बाहर निकल आता है। जब आपके हाथ में आता है, तब उसके पास कोई इतिहास नहीं बचता। इतिहास खतम हो जाता है। रुपया सीधा-साफ होता है। रुपए का कोई इतिहास नहीं बचता।
फिर रुपए इकट्ठे किए। इसलिए महावीर को मानने वाले-- महावीर ने खुद कभी
न सोचा होगा कि मेरे मानने वाले! महावीर नग्न खड़े हैं रास्तों पर; धन-दौलत छोड़ दी है सब; सोचा भी न होगा कि मेरे मानने वालों के पास इस मुल्क में सबसे ज्यादा धन-दौलत इकट्ठी हो जाएगी। मगर निषिद्ध कर्म से हो गई। कहा तो ठीक ही था; निषिद्ध कर्म बताया था, ठीक बताया था; लेकिन यह सोचा न था कि एक तरफ से निषिद्ध कर्म बचे, तो दूसरी तरफ से प्रकट हो सकता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, कर्म की गति गहन है। इधर से छोड़ो, उधर से पकड़ लेती है। उधर से छोड़ो, इधर से पकड़ लेती है। तो निषिद्ध कर्म क्या है, इसे ठीक से जान लेना जरूरी है। और जो इसे ठीक से नहीं जान पाए, तो कर्म-अकर्म को जानना तो बहुत दूर है; अक्सर वह निषिद्ध कर्मों में ही जीवन को गंवा देता है। एक से बचता है, दूसरे में उलझ जाता है। जिंदगी का रास्ता कुएं और खाई के बीच है। इधर गिरो तो कुआं है, उधर गिरो तो खाई है। और बीच में चलना बहुत कठिन है। बारीक है; तलवार की धार जैसा है। इतना बारीक है कि सम्हलना मुश्किल है बीच में।
किस चीज को कृष्ण निषिद्ध कहेंगे, वह उनके आगे के सूत्र में हम उनकी व्याख्या को समझें।
आखिरी सूत्र ले लें; फिर हम सुबह बात करेंगे।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। 18।।
जो पुरुष कर्म में अकर्म को देखे, और जो पुरुष अकर्म में कर्म को देखे,
वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी संपूर्ण कर्मों का करने वाला है।

थोड़ी-सी बात इस संबंध में समझ लें।
कृष्ण कहते हैं, जो कर्म में अकर्म को देखे और अकर्म में कर्म को देखे,
वह व्यक्ति ज्ञानवान है।
कर्म में अकर्म को देखे, उलटा। कर्म में अकर्म को देखने का अर्थ हुआ, करते हुए भी जाने कि मैं कर्ता नहीं हूं। करते हुए भी जाने कि मैं कर्ता नहीं हूं। करते हुए भी ऐसा तभी जाना जा सकता है, जब साक्षी का भाव हो।
आप भोजन कर रहे हैं। भोजन करते हुए भी जाना जा सकता है कि आप भोजन नहीं
कर रहे हैं। अगर साक्षी हों, तो आप देखेंगे कि शरीर को ही भूख लगी है, शरीर ही भोजन कर रहा है, मैं देख रहा हूं। कठिन नहीं है। थोड़े से जागकर देखने की बात है।
स्वामी राम अमेरिका की एक सड़क से गुजर रहे हैं। कुछ लोगों ने गालियां दीं; और कुछ लोगों ने मजाक किया। हंसते हुए लौटे। जहां ठहरे थे, वहां खिलखिलाकर आकर हंसने लगे। तो घर के लोग चिंतित हुए। उन्होंने कहा, क्या हो गया? अकारण हंसते हैं! राम ने कहा, अकारण नहीं हंसता। आज बड़ा ही मजा आया। रास्ते में ऐसा हुआ कि कुछ लोग राम को मिल गए।
घर के लोग थोड़े हैरान हुए। वे राम की भाषा से परिचित न थे। राम को मिल गए! ऐसा खुद राम कह रहे हैं?
और फिर वे लोग राम को गालियां देने लगे और हंसी-मजाक करने लगे। राम बड़ी मुश्किल में पड़े। राम बड़ी दिक्कत में पड़ गए। उनकी हंसी-मजाक और उनकी गाली के बीच--ऐसा राम कहने लगे--कि राम बड़ी मुश्किल में पड़े। हम भी खड़े देखते थे। राम बड़ी मुश्किल में पड़े। वे लोग गाली देने लगे। तो घर के लोगों

ने कहा, आप बातें कैसी कर रहे हैं! होश में तो हैं? नशा वगैरह तो नहीं किया है!
राम ने कहा, नशे में तुम हो! मैं होश में हूं, इसीलिए ऐसी बात कर रहा हूं। नशे में होता, तो मेरी आंख से आग निकल रही होती और मुंह से गालियां निकल रही होतीं। नशे में होता, तो मैं समझ जाता कि वे मुझे ही गाली दे रहे हैं, मुझ पर ही हंस रहे हैं। होश में था, इसलिए मैंने देखा, राम को गाली पड़ रही है, राम पर हंस रहे हैं। हम खड़े देखते रहे।
राम, और हम खड़े देखते रहे, ये दो चीजें हो गईं।
जब आप भोजन कर रहे हैं, तो राम भोजन कर रहे हैं; आप जरा खड़े होकर देखें।
आप जरा पीछे खड़े हो जाएं और देखें कि राम भोजन कर रहे हैं। राम को भूख लगी, राम को नींद लगी--आप खड़े पीछे देख रहे हैं। यह पीछे खड़े होकर देखने की कला ही कर्म को अकर्म बना देती है। तब व्यक्ति करते हुए न करने जैसा हो जाता है।
और इससे भी जटिल बात दूसरी कृष्ण कहते हैं कि तब न करते हुए भी कर्ता जैसा हो जाता है। वह और भी कठिन है बात समझनी। यह तो पहली बात समझ में आ सकती है कि अगर साक्षी-भाव हो, तो कर्म होते हुए भी ऐसा नहीं लगता कि मैं कर रहा हूं; देख रहा हूं कि हो रहा है। दूसरी बात और भी गहरी है कि न करते हुए भी कर रहा हूं। इसका क्या मतलब हुआ?
असल में जब कोई व्यक्ति पहली घटना को उपलब्ध हो जाता है कि करते हुए न करने को अनुभव करने लगता है, तब अनिवार्य रूप से दूसरी गहराई भी उपलब्ध हो जाती है कि वह न करते हुए भी अनुभव करता है कि कर रहा हूं। क्यों? क्योंकि जो व्यक्ति ऐसा जान लेता है कि मैं साक्षी हूं, वह व्यक्ति अपने को स्वयं से तो तोड़ लेता है और सर्व से जोड़ देता है। जो व्यक्ति ऐसा जान लेता है कि मैं नहीं कर रहा हूं, सब हो रहा है, मैं देख रहा हूं, उसका परमात्मा और उसके बीच तादात्म्य हो जाता है।
फिर वह कुछ भी नहीं करता। हवाएं चल रही हैं, तो भी वह जानता है, मैं ही चला रहा हूं। चांद-तारे घूम रहे हैं, तो वह जानता है, मैं ही चला रहा हूं। राम कभी एक दिन बहुत खुशी में आ गए, तो उन्होंने हंसकर कहा कि तुम्हें पता है, मैंने ही सबसे पहले चांद-तारों को गति दी थी। मैंने ही सबसे पहले चांद-तारों को इशारा किया और चला दिया। लोगों ने कहा, आप? आपने? भरोसा नहीं आता। तो राम ने कहा, अगर तुम समझते हो कि राम ने चला दिया, तो ठीक समझते हो, भरोसे के लायक बात नहीं है। लेकिन मैं कह रहा हूं, मैंने चला दिया, राम ने नहीं। फिर वही बात।
वह जो भीतर है, अगर जान ले कि मैं साक्षी हूं, तो परमात्मा के साथ एक हो जाता है। फिर जो भी हो रहा है, वही कर रहा है। फिर वह अगर खाली भी बैठा हुआ है, तो भी वही कर रहा है। हवाएं भी वही चला रहा है, वृक्ष भी वही उगा रहा है, फूल भी वही खिला रहा है। वह जो बैठा हुआ है वृक्ष के नीचे आंखें मूंदे हुए, वही चांद-तारे और सूरज भी चला रहा है।
लेकिन वह दूसरी घटना है। पहले तो कर्म में अकर्म का अनुभव हो, तो फिर अकर्म में कर्म का अनुभव होता है।
और जो इस गहन प्रतीति को उपलब्ध हो जाता है, कृष्ण कहते हैं, वह ज्ञान को, सत्य को, सत्य के अनुभव को उपलब्ध हो जाता है।
और साथ ही आपसे यह भी कह दूं कि जो व्यक्ति साक्षी बन जाता है, उसे निषिद्ध कर्म क्या है, यह पहले से तय नहीं करना पड़ता। जब भी जरूरत होती है, जैसे ही वह साक्षी होता है, दिखाई पड़ जाता है कि यह निषिद्ध है और यह निषिद्ध नहीं है। इसे सोचना नहीं पड़ता। उसकी हालत ठीक ऐसे हो जाती है... । जैसे एक कमरा है अंधेरा। एक अंधा आदमी है; उसे कमरे के बाहर जाना है,
तो वह पूछता है, दरवाजा कहां है? स्वभावतः, अंधे आदमी को दरवाजे का पता नहीं है। वह पूछता है, दरवाजा कहां है? अगर कोई बता दे, बता भी दे, तो भी कुछ फर्क नहीं पड़ता। अंदाज हो जाता है, अनुमान हो जाता है; फिर भी लकड़ी से टटोलता है कि दरवाजा कहां है! बता दिया, तो भी टटोलता है! टटोलता है, तो भी सीधे दरवाजे पर थोड़े ही पहुंच जाता है। कौन टटोलने वाला सीधा पहुंच सकता

है? कभी खिड़की को छूता है, कभी कुर्सी को छूता है। फिर टटोल-टटोलकर कहां दरवाजा है, पता लगाता है।
लेकिन आंख वाला आदमी? आंख वाला आदमी पूछता नहीं, दरवाजा कहां है? निकलना है; उठता है और निकल जाता है। आपने कभी ख्याल किया, जब आप दरवाजे से निकलते हैं, पहले सोचते हैं, दरवाजा कहां है! फिर देखते हैं कि यह रहा दरवाजा। फिर सोचते हैं, इसी से निकल जाएं। फिर निकल जाते हैं। ऐसी कोई प्रक्रिया होती है? नहीं; आपको पता ही नहीं चलता कि दरवाजा कहां है और आप निकल जाते हैं। दिखता है, तो दरवाजे से निकल जाते हैं।
ठीक ऐसे ही जिस व्यक्ति की साक्षी-भावना गहरी हो जाती है, उसे दिखाई पड़ता है, निषिद्ध कर्म क्या है। दिखाई पड़ता है। टटोलना नहीं पड़ता, पूछना नहीं पड़ता, सोचना नहीं पड़ता, शास्त्र नहीं खोलने पड़ते। बस, दिखाई पड़ता है कि निषिद्ध कर्म क्या है। और जो निषिद्ध है, वह फिर नहीं किया जा सकता। और जो निषिद्ध नहीं है, वही किया जा सकता है। बस, वह निकल जाता है। आप उससे पूछेंगे, तो उसको पीछे पता चलेगा कि मैंने वह कर्म नहीं किया। उसे पता नहीं चलता कि मैंने नहीं किया, क्योंकि इतना पता चलना भी सिर्फ अंधों के लिए है। साक्षी-भाव आंख बन जाता है।
इस संबंध में हम सुबह और बात करेंगे।
पांच मिनट आप रुकेंगे। संन्यासी पांच मिनट परमात्मा के लिए समर्पण का गीत गाएंगे, नाचेंगे। कोई मित्र उसमें सम्मिलित होना चाहें, उनके साथ सम्मिलित हो जाएं। अन्यथा पांच मिनट बैठे रहें; देखें; और फिर विदा हो जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
सातवां प्रवचन

कामना-शून्य चेतना

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। 19।।
और हे अर्जुन, जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं, ऐसे
उस ज्ञान-अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं।

कामना और संकल्प से क्षीण हुए, कामना और संकल्प की मुक्तिरूपी अग्नि
से भस्म हुए... । चेतना की ऐसी दशा में जो ज्ञान उपलब्ध होता है, ऐसे व्यक्ति को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं। इसमें दो-तीन बातें गहरे से देख लेने की हैं।
एक तो, ज्ञानीजन भी उसे पंडित कहते हैं।
अज्ञानीजन तो पंडित किसी को भी कहते हैं। अज्ञानीजन तो पंडित उसे कहते हैं, जो ज्यादा सूचनाएं संगृहीत किए हुए है। अज्ञानीजन तो पंडित उसे कहते हैं, जो शास्त्र का जानकार है। अज्ञानीजन तो पंडित उसे कहते हैं, जो तर्कयुक्त विचार करने में कुशल है।
ज्ञानीजन उसे पंडित नहीं कहते। ज्ञानीजन तो उसे पंडित कहते हैं, जो कामना और संकल्प को छोड़कर चेतना की उस शुद्ध अवस्था को उपलब्ध होता है, जहां ज्ञान का सीधा साक्षात्कार है, इमीजिएट रिअलाइजेशन है। अज्ञानीजन पंडित उसे कहते हैं, जो कि ज्ञानीजनों ने जो कहा है, उसका संग्रह रखकर बैठा है। ज्ञानीजन उसे पंडित कहते हैं, जो उधार नहीं है; जिसका सत्य से सीधा, बिना मध्यस्थ के, संपर्क है, संस्पर्श है। यह संस्पर्श उसका ही हो सकता है, जिसकी चेतना से कामना और संकल्प क्षीण हुए हों। इसलिए दूसरी बात ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि कामना और संकल्प के क्षीण होने का क्या अर्थ है? कामना का क्षीण होना तो हमारी समझ में आ सकता है--जहां वासनाएं गिर गईं, इच्छाएं गिर गईं; जहां कुछ पाने का ख्याल गिर गया। कामना के विरोध में तो बहुत वक्तव्य हैं; पर थोड़ा उसे भी ठीक से समझ लें। फिर संकल्प भी क्षीण हो जाए! उसे समझना थोड़ा कठिन पड़ेगा।
कामना का अर्थ है, जो नहीं है, उसकी चाह। कामना के क्षीण होने का अर्थ है, जो है, उस पर पूर्णताः। जो नहीं है, उसकी चाह कामना है। जो है, उसके साथ पूरी तृप्ति, कामना से मुक्ति है।
कामना का अर्थ है, दौड़। जहां मैं खड़ा हूं, वहां नहीं है आनंद। जहां कोई
और खड़ा है, वहां है आनंद। वहां मुझे पहुंचना है। और मजे की बात यह है कि जहां कोई और खड़ा है, और जहां मुझे आनंद मालूम पड़ता है, वह भी कहीं और पहुंचना चाहता है! वह भी वहां होने को राजी नहीं है। उसे भी वहां आनंद नहीं है। उसे भी कहीं और आनंद है।
कामना का अर्थ है, आनंद कहीं और है, समव्हेयर एल्स। उस जगह को छोड़कर जहां आप खड़े हैं, और कहीं भी हो सकता है आनंद। उस जगह नहीं है, जहां आप हैं। जो आप हैं, वहां आनंद नहीं है। कहीं भी हो सकता है पृथ्वी पर; पृथ्वी के बाहर, चांद-तारों पर; लेकिन वहां नहीं है, जिस जगह को आप घेरते हैं। जिस होने की स्थिति में आप हैं, वह जगह आनंदरिक्त है--कामना का अर्थ है।
कामना से मुक्ति का अर्थ है, कहीं हो या न हो आनंद, जहां आप हैं, वहां पूरा है; जो आप हैं, वहां पूरा है। संतृप्ति की पराकाष्ठा कामना से मुक्ति है। इंचभर भी कहीं और जाने का मन नहीं है, तो कामना से मुक्त हो जाएंगे। कामना के बीज, कामना के अंकुर, कामना के तूफान क्यों उठते हैं? क्या इसलिए कि सच में ही आनंद कहीं और है? या इसलिए कि जहां आप खड़े हैं, उस जगह से अपरिचित हैं?
अज्ञानी से पूछिएगा, तो वह कहेगा, कामना इसलिए उठती है कि सुख कहीं और है। और अगर वहां तक जाना है, तो बिना कामना के मार्ग से जाइएगा कैसे?

ज्ञानी से पूछिएगा, तो वह कहेगा, कामना के अंधड़ इसलिए उठते हैं कि जहां आप हैं, जो आप हैं, उसका आपको कोई पता ही नहीं है। काश, आपको पता चल जाए कि आप क्या हैं, तो कामना ऐसे ही तिरोहित हो जाती है, जैसे सुबह सूरज के उगने पर ओस-कण तिरोहित हो जाते हैं।
जोसुआ लिएबमेन ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है। लिखा है, एक यहूदी फकीर बहुत परेशान है, बहुत कष्ट में है। जैसे कि सभी लोग हैं। आदमी खोजना मुश्किल है, जो परेशान न हो। अब तक मैंने तो ऐसा आदमी नहीं देखा, जो परेशान न हो। गृहस्थ भी परेशान हैं, संन्यस्त भी परेशान हैं। गृहस्थ भी कहीं और पहुंचना चाहते हैं, कहीं और--धन की यात्रा में, यश की यात्रा में। संन्यस्त भी कहीं और पहुंचना चाहते हैं--आत्मा की यात्रा में, परमात्मा की यात्रा में, मोक्ष की यात्रा में। लेकिन कहीं और पहुंचने की दौड़ जारी है।
और जो कहीं और पहुंचना चाहता है, वह तनाव में होगा, परेशान होगा। वह शांत नहीं हो सकता। अगर मोक्ष भी पाना है, तो वासना काम कर रही है, कामना काम कर रही है। अगर परमात्मा को भी पाना है, तो फिर वासना काम कर रही है। फिर कामना काम कर रही है। फिर कामना दग्ध नहीं हुई।
और मजा तो यह है कि परमात्मा उसे ही मिलता है, जिसकी कामना दग्ध हो। उसे ही मिलता है कि जिसके द्वार पर परमात्मा भी दस्तक दे, तो वह कहे, विश्राम करो; जल्दी न करो; ऐसी कोई जल्दी नहीं है। हम यहां भी काफी मजे में हैं! मोक्ष भी दरवाजे खोले और वह आदमी कह सके कि हम यहीं मोक्ष में हैं, दरवाजे खोलने की कोई भी जरूरत नहीं है। ऐसे ही व्यक्ति के लिए मोक्ष उपलब्ध होता है। ऐसे ही व्यक्ति की तरफ परमात्मा आता है, जो परमात्मा से भी कह दे कि ठहरो।
संन्यासी भी परेशान और पीड़ित है। कामना ने रूप बदला, कामना नहीं बदली। कामना ने आब्जेक्ट बदला, विषय बदला, कामना नहीं बदली। धन की जगह धर्म हुआ; सुख की जगह स्वर्ग हुआ; पदार्थ की जगह परमात्मा हुआ; मकान की जगह मंदिर हुआ। विषय बदला, आब्जेक्ट बदला, रूप बदला, ढंग बदला; कामना नहीं बदली। कामना फिर नए रूपों पर, नए विषयों पर दौड़ने लगी। कामना अपनी जगह है। जब तक कोई आदमी कहीं पहुंचना चाहता है, जब तक किसी आदमी का कोई लक्ष्य है, तब तक वह कामना के बाहर नहीं है। जब तक उद्देश्य है, तब तक कामना के बाहर नहीं है।
लिएबमेन ने यह जो फकीर की कहानी लिखी, फकीर भी परेशान है! मैंने कहा, संन्यासी भी परेशान है; बहुत दुखी है, बहुत पीड़ित है। जीवन बीत गया प्रार्थना करते, अब तक स्वर्ग से कोई खबर नहीं मिली! जीवन बीत गया प्रभु के द्वार पर हाथ जोड़े, अब भी हाथ खाली हैं!
एक रात सोते समय उस बूढ़े फकीर ने परमात्मा से कहा, बहुत हो चुका! कितनी प्रार्थना करूं? और कितनी पूजा करूं? और कब तक तुम्हें पुकारूं? अब थक गया। अब तक तुम से सुख मांगे, अब तुमसे सुख नहीं मांगता। अब तुम से इतना ही मांगता हूं कि कम से कम मेरे दुख किसी और को दे दो और किसी दूसरे के दुख मुझे दे दो, तो भी चलेगा। मुझसे ज्यादा दुखी आदमी पृथ्वी पर दूसरा नहीं है।
सभी को ऐसा ख्याल है कि उससे ज्यादा दुखी आदमी पृथ्वी पर दूसरा नहीं है। क्यों? ख्याल के कारण हैं। क्योंकि हमें अपने भीतर के, हृदय के दुख के कांटे दिखाई पड़ते हैं। दूसरों के हृदय के तो दुख के कांटे दिखाई नहीं पड़ते। दूसरों के हृदय तक पहुंचने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। दूसरों के चेहरे दिखाई पड़ते हैं।
और चेहरे से ज्यादा धोखे की और कोई चीज नहीं है। चेहरा फसाड है, धोखा है। चेहरा बनाया हुआ है। ओरिजिनल फेस तो कम लोगों के पास होते हैं, पेंटेड फेस होते हैं। मौलिक चेहरा तो बहुत कम लोगों के पास होता है। कभी किसी कृष्ण, कभी किसी बुद्ध के पास मौलिक चेहरा होता है; वही जो चेहरा उनका है।
अन्यथा चेहरे तैयार किए होते हैं। दिखाने के लिए तैयार किए होते हैं। मास्क, मुखौटे होते हैं। और एक-एक आदमी बहुत-से चेहरे अपने पास रखता है। जब जैसी जरूरत पड़ी, चेहरा लगा लेता है।

दूसरे का चेहरा दिखाई पड़ता है, मुस्कुराहटें दिखाई पड़ती हैं दुनिया में। दूसरों के हृदय तो दिखाई नहीं पड़ते, नहीं तो आंसुओं के ढेर लग जाएं।
सच तो यह है कि लोग मुस्कुराते ही इसलिए हैं, ताकि भीतर के आंसुओं को छिपा सकें।
चेहरे बड़े प्रसन्न मालूम होते हैं, बड़े ताजे! हृदय बिल्कुल बासे। चेहरों पर जो दिखाई पड़ता है, उससे धोखे में मत आ जाना। वे ड्राइंगरूम की तरह हैं, घरों में बैठकखाने की तरह हैं। जो बाहर से आते हैं, उनको दिखाने के लिए बैठकखाना होता है। रहने के लिए नहीं होता है बैठकखाना। घर के लोग उसमें रहते नहीं हैं। सिर्फ दिखाई पड़ते हैं। जब बाहर से कोई आता है, तो बैठकखाने में दिखाई पड़ते हैं। रहते घर के दूसरे हिस्सों में हैं, दिखाई पड़ते हैं बैठकखानों में! चेहरे बैठकखाने हैं।
वह फकीर भी धोखे में आ गया। लोगों के चेहरे देखे। उसने देखा, लोग हंसते हैं, मुस्कुराते हैं। और मैं अपने भीतर देखता हूं, तो सिवाय दुख के कुछ और नहीं है। तो उसने परमात्मा से कहा, छोड़ो यह फिक्र सुख देने की। अब तो मैं इसके लिए भी राजी हूं कि किसी दूसरे का दुख मुझे दे दो। मेरा दुख किसी और को दे दो। फिर वह सो गया।
रात उसने एक स्वप्न देखा कि कोई आकाश से आवाज गूंजती है कि सब लोग अपने दुखों को गठरियों में बांधकर नगर के केंद्रीय हाल में पहुंच जाएं। फकीर समझा कि सुन ली गई मेरी प्रार्थना। बांधे अपने दुख; बांधी गठरी; भागा। रास्ते पर देखा कि सारा गांव अपनी-अपनी गठरी लेकर भागा जा रहा है।
लोगों की गठरियों की तरफ देखा, तो थोड़ा घबड़ाया। क्योंकि कोई गठरी अपने से छोटी नहीं दिखाई पड़ती थी। लेकिन फिर भी गठरियां बंद थीं और दुख भीतर थे। हो सकता है, दुख ज्यादा सहने योग्य हों।
अपरिचित का भी तो आकर्षण होता है। जिसे नहीं जानते, उसका भी तो आकर्षण होता है। अपने सुख से भी आदमी ऊब जाता है; दूसरे के दुख में भी आकर्षण होता है। साथ रहते-रहते अपने सुख से भी ऊब जाता है। सच तो यह है कि सुख जितना उबाने वाला, बोर्डम पैदा करने वाला होता है, उतना दुख नहीं होता। दुखी आदमी ऊबे हुए नहीं दिखाई पड़ते; सुखी आदमी ऊबे हुए दिखाई पड़ते हैं--बोर्ड! सोचा कि ठीक है, कोई हर्जा नहीं। गठरियों में, पता नहीं, किस-किस तरह
के नए दुख तो होंगे कम से कम। दुख की बदलाहट भी बड़ी राहत देती है।
अक्सर हम यही करते रहते हैं, खुद बदलते रहते हैं। एक दुख को छोड़ते हैं, दूसरे को पकड़ लेते हैं। एक को डायवोर्स दिया, दूसरे से मैरिज की। एक दुख को छोड़ा, दूसरे से विवाह किया। पर दुख के बदलने के बीच में जो थोड़ा-सा खाली वक्त मिलता है, वह काफी सुख देता है। एक दुख उतारने में, दूसरा चढ़ाने में बीच में जो ट्रांजीशन का पीरियड है, वह जो थोड़ी-सी राहत का वक्त है, वह भी काफी सुख देता है।
सोचा कि चलो, बदल ही लें।
भवन में पहुंच गए। फिर दूसरी आवाज गूंजी कि सब अपनी गठरियों को भवन की खूंटियों पर टांग दें। सभी ने दौड़कर खूंटियों पर अपनी गठरियां टांग दीं। सभी तेजी से दौड़े कि कहीं ऐसा न हो कि खूंटियां समाप्त हो जाएं; कहीं ऐसा न हो कि अपनी गठरी अपने हाथ में ही रह जाए। बड़ी तेजी थी। लेकिन खूंटियां काफी थीं और सबके दुख टंग गए।
और फिर आवाज गूंजी कि अब जिसे जो गठरी चुननी हो, वह चुन ले। फकीर भागा तेजी से। लेकिन आप हैरान होंगे, फकीर दूसरे की गठरी उठाने नहीं भागा; अपनी गठरी ही उठाने भागा। क्योंकि जब सिरों से गठरियां उतरीं और खूंटियों से लटकीं और उनके दुख उनके बाहर भी झांकते हुए दिखाई पड़ने लगे, तब वह घबड़ाया कि कोई मेरी गठरी न उठा ले। वह भागा। और उसने जल्दी से अपनी गठरी उठाई कि कहीं ऐसा न हो कि कोई अपनी गठरी उठा ले और झंझट में पड़ जाएं।
जब खूंटियों पर गठरी टांगी उसने, तब उसे पता चला कि दुख हैं, तो भी अपने हैं, परिचित हैं। इतने दिन से परिचित रहने की वजह से आदी भी हो गए हैं। पता नहीं, अपरिचित दुख कौन-सा दुख ले आएं। और गठरियां काफी लंबी और बड़ी थीं। अपनी ही गठरी उस भवन में सबसे छोटी मालूम पड़ती थी।

अपनी गठरी उठाकर फकीर थोड़ा संतृप्त हुआ, उसने चारों तरफ देखा, लेकिन बड़ा हैरान हुआ, सभी ने अपनी गठरियां वापस उठा ली थीं! पूछा भी लोगों से उसने कि बदल क्यों नहीं लेते? दौड़े तो बहुत तेजी से थे। उन्होंने कहा, अपनी ही गठरी छोटी दिखाई पड़ी!
चेहरे उखड़ गए। हृदय दिखाई पड़ते हैं, तो ऐसा ही हो जाता है।
दूसरे की तरफ हम दौड़ते हैं, क्योंकि लगता है, दूसरा सुखी है, हम दुखी हैं। कामना का बीज यही है। दूसरे जैसे होना चाहते हैं, क्योंकि लगता है, दूसरा सुखी है, हम दुखी हैं। कामना का बीज यही है।
अज्ञानी से पूछें, तो वह कहेगा, नहीं; दूसरी जगह सुख है, इसलिए दौड़ते हैं। ज्ञानी से पूछें, तो वह कहेगा, इसलिए दौड़ते हैं, क्योंकि हमें पता ही नहीं कि हम अपनी जगह कौन हैं? क्या हैं?
तो जो अपने भीतर डूबे, जो थोड़ा-सा आत्मा को जान ले, वही कामना से मुक्त
हो सकता है। अन्यथा नहीं मुक्त हो सकता है। आत्मा को जाना कि कामना तिरोहित हो जाती है; या कामना तिरोहित हो जाए, तो आत्मा जान ली जाती है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।
दूसरी बात और भी कठिन है। कृष्ण कहते हैं, संकल्प भी... ।
संकल्प का अर्थ है, विल पावर। संकल्प भी छोड़ दो। साधारणतः, अगर कार्लाइल जैसे विचारकों से पूछें, तो वे कहेंगे, संकल्प तो प्राण है। विल चली जाएगी, विललेस हो जाओगे, संकल्पहीन हो जाओगे, तो इंपोटेंट हो जाओगे, क्लीव हो जाओगे। कुछ बचेगा ही नहीं तुम्हारे पास।
लेकिन कृष्ण कहते हैं, संकल्प से भी... ।
संकल्प का उपयोग ही क्या है? जब तक कामना है, तब तक उपयोग है। जब कामना नहीं, तो संकल्प का कोई उपयोग नहीं। जब तक इच्छा पूरी करनी है, तब तक इच्छाशक्ति की जरूरत है। और जब इच्छा ही नहीं है, तो इच्छाशक्ति का क्या करिएगा? वह बोझ हो जाएगी। उसे भी छोड़ दो।
हमें इच्छाशक्ति की जरूरत है, क्योंकि इच्छाएं पूरी करनी हैं, तो पैरों में ताकत चाहिए दौड़ने की। कामना पूरी करनी है, तो शक्ति चाहिए, मंजिल तक पहुंचने की। वही संकल्प है।
संकल्पहीन की हम निंदा करते हैं, कि तुम कुछ डिसीजन नहीं ले पाते, संकल्पहीन हो; तुम कुछ निर्णय नहीं कर पाते, तुम कुछ पक्का नहीं कर पाते, मजबूत नहीं कर पाते। कुछ कर नहीं पाते, हम उसकी निंदा करते हैं। निंदा हम इसीलिए करते हैं कि कामनाएं तो उसके भीतर बहुत हैं और संकल्प नहीं है। अगर कामनाएं बहुत हों और संकल्प न हो, तो आदमी पागल हो जाएगा। क्योंकि पहुंचने की इच्छा बहुत है और चलने की ताकत बिल्कुल नहीं है, तो वह आदमी बड़ी कठिनाई में पड़ जाएगा। वह वैसी ही कठिनाई में पड़ जाएगा, जैसे वृद्धजन कामवासना से तकलीफ में पड़ जाते हैं। वृद्ध हैं; शरीर ने साथ छोड़ दिया; अब कोई शक्ति नहीं है कामवासना को पूरी करने की; लेकिन मन अभी कामवासना के विचार उठाए चला जाता है!
ध्यान रहे, युवा अवस्था में कामवासना उतनी पीड़ा नहीं देती, क्योंकि वासना भी होती है, शक्ति भी होती है। वृद्धावस्था में कामवासना बुरी तरह पीड़ा देती है। क्योंकि शक्ति खो गई होती है; वासना नहीं खोती। वासना अपनी जगह खड़ी रहती है।
संकल्प की हम बात करते हैं कि संकल्प बढ़ाओ, विल पावर बढ़ाओ। क्योंकि वासनाएं अगर पूरी करनी हैं, तो बिना संकल्प के पूरी न होंगी। लेकिन अगर वासनाएं छोड़ देनी हैं, तब संकल्प की कोई भी जरूरत नहीं है; तब तो समर्पित हो जाओ। तब नाहक की शक्ति बोझ बन जाएगी।
ध्यान रहे, शक्ति अगर प्रयोग न की जाए, तो आत्मघाती हो जाती है, स्युसाइडल हो जाती है। इसे मैं फिर दोहराता हूं, शक्ति अगर प्रयुक्त न हो, तो स्वयं का ही विनाश करने लगती है।
इसलिए कृष्ण बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य कह रहे हैं। लेकिन क्रम से कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, पहले वासना-कामना से क्षीण, संकल्प से क्षीण।
अगर कोई वासनाओं के पहले संकल्प छोड़ दे, तो बहुत कठिनाई में पड़ जाएगा।
बहुत-बहुत कठिनाई में पड़ जाएगा, बड़ा दीन और हीन हो जाएगा। पहले वासना चली

जाए, तो फिर संकल्प का बचना खतरनाक। क्योंकि फिर शक्ति करेगी क्या? और जब शक्ति बाहर नहीं जा पाती, दौड़ नहीं पाती, जब शक्ति सक्रिय नहीं हो पाती, तो फिर भीतर सक्रिय हो जाती है। और फिर भीतर ही दौड़ने लगती है। शक्ति जब भीतर दौड़ती है, तो आदमी पागल हो जाता है।
शक्ति जब बाहर दौड़ती है, तब भी पागल होता है। लेकिन तब नार्मल पागल होता है, जैसे सभी पागल हैं। इसलिए बहुत दिक्कत नहीं आती। लेकिन जब शक्ति भीतर दौड़ने लगती है, तब एबनार्मली पागल हो जाता है; असाधारण रूप से पागल हो जाता है। क्योंकि सब लोग बाहर की तरफ दौड़ते हैं, वह भीतर ही भीतर दौड़ता है। फिर भीतर दौड़ने से कहीं पहुंच तो सकते नहीं; कोल्हू के बैल बन जाते हैं। वहीं-वहीं वर्तुल की तरह घूमते रहते हैं। फिर जिंदगी बड़ी कठिनाई में हो जाती है।
और यह भी स्मरणीय है कि शक्ति के दो रूप हैं। अगर वह वासनाओं की तरफ दौड़े, तो क्रिएटिव होती है। वह कुछ सृजन करती है; कामनाओं का, वासनाओं का, सपनों का, आकांक्षाओं का सृजन करती है। अगर आकांक्षाएं, वासनाएं, कामनाएं छूट जाएं, तो शक्ति सृजन नहीं करती। संकल्प की शक्ति फिर स्वयं को ही विनाश करने लगती है, डिस्ट्रक्टिव हो जाती है।
इसलिए कृष्ण का दूसरा सूत्र पहले सूत्र से भी बहुमूल्य और स्मरणीय है, संकल्प भी छोड़ देता है जो व्यक्ति... ।
वासनाएं छोड़ देता है, संकल्प छोड़ देता है। यह भी छोड़ देता है कि मुझे कहीं पहुंचना है; यह भी छोड़ देता है कि मैं कहीं पहुंच सकता हूं। यह भी छोड़ देता है कि कोई मंजिल है; और यह भी छोड़ देता है कि मैं कोई यात्री हूं! यह भी छोड़ देता है कि मुझे कोई दूर के फल तोड़ लाने हैं; और यह भी छोड़ देता है कि मैं तोड़कर ला सकता हूं।
ऐसा कामना-शून्य, संकल्परिक्त हुआ व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है। क्यों? ऐसा व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध क्यों हो जाता है कि जिसको ज्ञानी भी पंडित कहते हैं?
ऐसा व्यक्ति इसलिए ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है कि ऐसा व्यक्ति दर्पण
की भांति निर्मल और ठहरा हुआ हो जाता है। कभी देखी है झील आपने? जब लहरें चलती होती हैं, तो झील दर्पण नहीं बन पाती। लेकिन झील पर लहरें न चलें, झील शांत हो जाए--दौड़े न, चले न, रुक जाए; ठहर जाए; मौन हो जाए, विश्राम में चली जाए--तो झील दर्पण बन जाती है। फिर झील की सतह मिरर का काम करती है, दर्पण का काम करती है। फिर चांद-तारे उसमें नीचे झलक आते हैं। फिर आकाश का सूरज उसमें प्रतिबिंबित होता है। पूरा आकाश छोटी-सी झील पकड़ लेती है। अनंत आकाश, विराट आकाश, जिसकी कोई सीमा नहीं, एक छोटी-सी झील की छाती में प्रतिबिंबित हो जाता है।
ठीक ऐसा ही होता है। जब चित्त पर कोई वासना की लहर नहीं होती, और जब चित पर कामना का कोई झंझावात नहीं होता, और जब चित्त अपने ही भीतर घूमती शक्ति से आंदोलित नहीं होता, तब चित्त भी एक झील की भांति मौन, ठहर गया होता है। उस ठहराव में दर्पण बन जाता है। उस दर्पण में विराट परमात्मा इस छोटे-से आदमी के हृदय में भी प्रतिफलित होता है; आमने-सामने हो जाता है। विराट है परमात्मा, हम बड़े छोटे हैं। छोटी है झील, बड़ा है आकाश!
कल एक मुसलमान बहन मुझसे कह रही थी कि कुरान में जब मैंने पढ़ा, अल्ला
हू अकबर, बड़ा है परमात्मा, तो कुछ समझ में नहीं आया कि मतलब क्या है!
सच ही बड़ा है परमात्मा। बहुत बड़ा है। जितना हम कंसीव कर सकें, जितना
हम सोच सकें, उससे सदा बड़ा है। बड़े का मतलब यह नहीं कि हमने नाप लिया है कि इतना बड़ा है। बड़े का इतना ही मतलब कि हमारे सब नाप बेकार हो गए हैं।
ध्यान रहे, बड़े का मतलब यह नहीं कि हम नाप चुके, मेजर्ड। ऐसा नहीं कि हमने नापा और पाया कि बड़ा है। ऐसा कि हमने नापा और पाया कि कोई मेजरमेंट, कोई नाप काम नहीं आता, बहुत बड़ा है! अल्ला हू अकबर, बहुत बड़ा है! हमारे सब माप बेकार हैं। वह जो इतना बड़ा है, वह इस आदमी के छोटे-से हृदय के साथ कैसे साक्षात्कार हो सकेगा?
कभी आपने देखा कि एक छोटे-से दर्पण में भी बहुत बड़ा साक्षात्कार हो जाता है। छोटे-से दर्पण में विराट सूर्य का प्रतिफलन हो जाता है। दर्पण

फिर भी बड़ा है। छोटी-सी आंख गौरीशंकर को भी पकड़ लेती है। विराट एवरेस्ट को छोटी-सी आंख पकड़ लेती है। माना कि होगे विराट, माना कि आंख बड़ी छोटी है, लेकिन प्रतिफलन की क्षमता अनंत है, दि कैपेसिटी टु रिफ्लेक्ट। छोटी है आंख, लेकिन प्रतिफलन की क्षमता अनंत है। इसलिए आंख एकदम छोटी नहीं है। एक अर्थ में एवरेस्ट छोटा पड़ जाता है। एक अर्थ में एवरेस्ट छोटा पड़ जाता है! एक अर्थ में भक्त के हृदय के सामने भगवान छोटा पड़ जाता है। इस अर्थ में, अनंत है विराट, लेकिन भक्त के छोटे-से हृदय में भी पूरा प्रतिफलित हो जाता है। असीम पूरा पकड़ लिया जाता है।
लेकिन यह हृदय होना चाहिए मौन, शांत, वासना-संकल्प से रिक्त और खाली।
और तब ज्ञानी भी--ज्ञानी अर्थात जो जानते हैं, वे भी--ऐसे व्यक्ति को पंडित कहते हैं। और ध्यान रहे, कृष्ण की यह शर्त बड़ी कीमती है। क्योंकि जो नहीं जानते, वे किसी को पंडित कहें, इसका कोई भी मूल्य नहीं है। इसका कोई भी मूल्य नहीं है।
जो नहीं जानते हैं, वे किसी को पंडित कहें, इसका क्या मूल्य हो सकता है? वे उसी को पंडित कहते हैं, जो उनसे ज्यादा जानता हुआ मालूम पड़ता है। क्वांटिटेटिव अंतर है। न जानने वाले और ज्यादा जानने वाले में क्वांटिटी का अंतर है। आपने दो किताबें पढ़ी हैं, उसने दस पढ़ी हैं। आप दो क्लास पढ़े हैं, उसने दस क्लास पढ़ी हैं। आपके पास प्राइमरी का सर्टिफिकेट है, उसके पास यूनिवर्सिटी का। लेकिन अंतर क्वांटिटी का है, क्वालिटी का नहीं। अंतर परिमाण का, मात्रा का है, गुण का नहीं।
लेकिन जब कोई व्यक्ति परमात्मा को जान लेता है, तो यह कोई बड़ा सर्टिफिकेट नहीं है छोटे सर्टिफिकेट के मुकाबले। यह कोई प्राइमरी की डिग्री के मुकाबले पीएचड़ी. की डिग्री नहीं है। यह कोई डिग्री ही नहीं है। हमारे पास जो शब्द है डिग्री के लिए, वह बहुत बढ़िया है-- उपाधि। उपाधि
का मतलब बीमारी भी होता है। असल में उपाधिग्रस्त आदमी, डिग्रीधारी, बीमार ही होता है। क्योंकि सब उपाधियां, सब डिग्रियां अहंकार को और भारी करती चली जाती हैं। और सब उपाधियां, और सब डिग्रियां कामना और वासना को और गतिमान करती हैं। सब उपाधियां संकल्प को और दौड़ाती हैं।
नहीं, जिसे ज्ञानी भी पंडित कहते हैं, यह उपाधिमुक्त है। यह डिग्रीलेस है। इसकी कोई उपाधि नहीं है। इसके पास कोई प्रमाणपत्र नहीं है जानने का। यह स्वयं ही प्रमाणपत्र है जानने का। इसकी स्वयं की आंखें गवाही हैं। इसके हृदय से उठते हुए स्वर गवाही हैं। इसका रोआं-रोआं, इसका उठना-बैठना गवाही है।
एक फकीर रिंझाई के पास जापान का सम्राट गया और उसने कहा कि मैं कैसे जानूं कि तुमने जान लिया? तो उस फकीर ने कहा कि मुझे देखो--मेरे उठने को, मेरे बैठने को, मेरे बोलने को, मेरे चुप होने को, मेरी आंखों को, मेरे जागने को, मेरे सोने को--मुझे देखो। उस सम्राट ने कहा, तुम्हें देखने से क्या होगा? कोई और प्रमाण नहीं है? उस फकीर ने कहा, और कोई भी प्रमाण नहीं है। मैं ही प्रमाण हूं। मैंने अगर उसे जाना है, तो तुम मेरे उठने में उसका उठना जानोगे। मैंने अगर उसे जाना है, तो तुम मेरे देखने में उसकी आंख को देखता हुआ पाओगे। अगर मैंने जाना है, तो जब मैं तुम्हें हृदय से लगाऊंगा, तो तुम मेरे हृदय में उसकी धड़कन सुन पाओगे। और कोई प्रमाण नहीं है। और अगर यह तुम न पहचान सको, तो और कोई उपाय नहीं है। मैं कोई गवाह खड़े नहीं कर सकता हूं। मैं ही गवाह हूं। और अगर मैं गवाह नहीं बन पाता हूं, तो फिर कोई उपाय नहीं है।
कृष्ण कहते हैं, ज्ञानीजन भी उसे पंडित कहते हैं।
अज्ञानीजन तो किसी को भी पंडित कहते हैं। अंधों में काना भी राजा हो जाता है! नहीं, उसका कोई मूल्य नहीं है।
यह स्मरण में रखना कि इस आखिरी वक्तव्य ने पंडितों की दो कोटियां कर दीं। एक वे पंडित, जिनके पास परिमाण में ज्ञान है; मात्रा है ज्ञान की एक। लेकिन वे कंप्यूटर से ज्यादा नहीं हैं। उनके पास बंधे हुए उत्तर हैं, रटे हुए। उनके अपने उत्तर नहीं हैं। उत्तर किसी और के हैं; वे केवल दोहराने का काम कर रहे हैं। वे केवल दलाल हैं, उससे ज्यादा नहीं हैं। उत्तर उपनिषद के

होंगे, कि बुद्ध के होंगे, कि कृष्ण के होंगे, कि महावीर के होंगे। उनके अपने नहीं हैं, इसलिए आथेंटिक नहीं हैं, इसलिए प्रामाणिक नहीं हैं। जब कोई व्यक्ति कहता है अपने से--तब! जानकर--तब!
और यह दुनिया बहुत सुलझी हुई हो सकती है, अगर ये नंबर दो के पंडित थोड़े
कम हों। या न हों, तो बड़ा सुखद हो सकता है। जो नहीं जानता, वह जानने वाले की तरह बोलकर भारी नुकसान पहुंचाता है।
जो जानता है, वह चुप भी रह जाए, तो भी लाभ पहुंचाता है। जो नहीं जानता है, वह बोले, तो भी नुकसान पहुंचाता है। सौ में निन्यानबे मौके पर लोग जानते नहीं हैं, सिर्फ जाने हुए की बातों को जानते हैं। सेकेंड हैंड भी नहीं कहना चाहिए; हजारों हाथों से गुजरी हुई बातों को जानते हैं। सब सड़ गया होता है। अज्ञानीजन उनको पंडित कहते हैं।
लेकिन ज्ञानीजन उसे पंडित कहते हैं, जिसने आमना-सामना किया, एनकाउंटर किया; जिसके हृदय और परमात्मा के हृदय के बीच कोई पर्दा न रहा; सब पर्दे गिरे। और जिसके हृदय ने परमात्मा के हृदय का संस्पर्श किया; जिसने आंखों में आंखें डालकर परमात्मा में झांका; और जिसने परमात्मा को आंखें डालकर अपने भीतर झांकने दिया; जो झील की तरह आकाश से मिला, मौन झील की तरह--उसे पंडित, उसे ही पंडित कहा जा सकता है।

त्यक्त्वा कर्मफलासड्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।। 20।।
और जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानंद परमात्मा में तृप्त है, वह कर्मों के फल और संग अर्थात कर्तृत्व-अभिमान को त्यागकर कर्म में अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है।

और ऐसा पुरुष, ऐसी चेतना को उपलब्ध पुरुष, ऐसी चेतना को उपलब्ध व्यक्ति संसार के आसरे आनंदित नहीं होता। ऐसे पुरुष का आनंद परमात्मा से ही स्रोत पाता है। ऐसा व्यक्ति संसार के कारण सुखी नहीं होता। ऐसा व्यक्ति सुखी ही होता है--अकारण। जहां तक संसार का संबंध है--अकारण।
अगर कोई रामकृष्ण से पूछे, क्यों नाच रहे हो? तो रामकृष्ण कोई भी सांसारिक कारण न बता सकेंगे। वे यह न कह सकेंगे कि लाटरी जीत गया हूं। वे यह न कह सकेंगे, यश हाथ लग गया है। वे यह न कह सकेंगे कि बहुत लोग मुझे मानने लगे हैं।
अगर कबीर से हम पूछें कि क्यों मस्त हुए जा रहे हो? यह मस्ती कहां से आती है? तो संसार में कारण न बता सकेंगे।
हमारी मस्ती हमेशा सकारण होती है, कंडीशनल होती है। शर्त होती है उसकी। घर में बेटा हुआ है, तो बैंड-बाजे बज रहे हैं। धन-संपत्ति आ गई है, तो फूलमालाएं सजी हैं। हमारा सुख बाहर, हमसे बाहर कहीं से आता है। इसलिए देर नहीं लगती और हमारा सुख तत्काल दुख बन जाता है। बहुत देर नहीं लगती। क्योंकि जिसका भी सुख संसार-आश्रित है, उसका सुख क्षणभर से ज्यादा नहीं हो सकता। क्योंकि संसार ही क्षणभर से ज्यादा नहीं होता है। संसार पर आश्रित जो भी है, वह सभी क्षणभर है।
जैसे कि हवाओं के झोंके में वृक्ष का पत्ता हिल रहा है। यह वृक्ष का पत्ता क्षणभर से ज्यादा एक स्थिति में नहीं हो सकता; क्योंकि जिस हवा में हिल रहा है, वही क्षणभर से ज्यादा एक स्थिति में नहीं रहती है। वह हवा ही तब तक और आगे जा चुकी है। नदी में जो लहर उठ रही है, वह जिस पवन के झोंकों से उठ रही है, क्षणभर से ज्यादा नहीं रह सकती; क्योंकि क्षणभर से ज्यादा वह पवन का झोंका ही नहीं रह जाता है।
संसार क्षणभंगुरता है। वहां सब कुछ क्षणभर है। उस पर आश्रित सुख क्षण
से ज्यादा नहीं है। आया नहीं, कि गया! आने और जाने में बड़ा कम फासला है। मैं अभी एक कवि की दो पंक्तियां देख रहा था, मुझे बहुत प्रीतिकर लगीं।
जरा-सा फासला किया है और पंक्तियों का अर्थ बदल गया है। पहली पंक्ति हैः वसंत आ गया। और दूसरी पंक्ति हैः वसंत आ, गया। पहली पंक्ति हैः वसंत आ गया।
आ गया वसंत। और दूसरी पंक्ति हैः आ, गया वसंत। वह आ गया को तोड़ दिया है

दूसरी पंक्ति में, दो टुकड़ों में! आ को अलग कर दिया है, गया को अलग कर दिया है।
इतना ही फासला है, आ गया सुख; आ, गया सुख। पहचान भी नहीं पाते कि आ गया,
और दूसरी पंक्ति घटित हो जाती है। सच तो यह है कि जैसे ही हम पहचानते हैं कि सुख आ गया, सुख जा चुका होता है। इतना ही क्षण, क्षणभर की धुन बजती है और चली जाती है।
कृष्ण कहते हैं, संसार-आश्रित ऐसे पुरुष के सुख नहीं हैं।
ऐसे पुरुष का आनंद आश्रित आनंद नहीं है। अनाश्रित, अनकंडीशनल, बेशर्त, अकारण है। ऐसे पुरुष का आनंद कहीं से आता नहीं, इसलिए फिर कहीं जा भी नहीं सकता। ऐसे पुरुष का आनंद परमात्मा पर, ब्रह्म पर, ब्रह्म से ही स्रोत पाता है। ब्रह्म से अर्थात स्वयं से ही। अपनी ही गहराइयों से उठते हैं झरने। अपने ही अंतस से आता है आनंद। फिर खोता नहीं, क्योंकि ब्रह्म क्षणभंगुर नहीं है।
संसार क्षणभंगुर है, इसलिए संसार से आया सुख क्षणभंगुर है। ब्रह्म शाश्वत है, इटरनल है। इसलिए ब्रह्म से जिसके स्रोत जुड़ गए, उसका आनंद शाश्वत है; लेकिन अकारण। ऐसा व्यक्ति कब हंसने लगेगा, पता नहीं। ऐसा व्यक्ति कब नाचने लगेगा, पता नहीं। ऐसा व्यक्ति कब आनंद के आंसुओं को बरसाने लगेगा, पता नहीं। ऐसे व्यक्ति के भीतर स्रोत हैं, जो अकारण फूटते रहते हैं। और ऐसा व्यक्ति जिसे पा रहा है भीतर से, उसे कभी भी खोता नहीं है।
दो तरह के आश्रय हैं अस्तित्व में। पर-आश्रय; दूसरे के आश्रय से मिला सुख। दूसरे के आश्रय से मिला हुआ सुख, दुख का ही दूसरा नाम है, दुख का ही चेहरा है। उघाड़ेंगे घूंघट और पाएंगे कि दुख आया। एक, स्व-आश्रित। उसे स्व-आश्रित कहें या आश्रयमुक्त कहें। पराश्रित सुख से स्व-आश्रित दुख भी ठीक है; हालांकि स्व-आश्रित दुख होता नहीं। कहता हूं एंफेसिस के लिए, पराश्रित सुख से स्व-आश्रित दुख भी बेहतर है। क्योंकि उघाड़ेंगे घूंघट और पाएंगे सुख।
इस स्व-आश्रित सुख को ही कृष्ण इस सूत्र में कह रहे हैं। संसार-आश्रित जिसके सुख नहीं हैं, आनंद नहीं है; संसार-आश्रित झंझावातों पर जिसके चित्त की लहरें आंदोलित नहीं होतीं; जो संसार की बांसुरी पर नाचता नहीं--उस पुरुष को कर्म करते हुए कर्म का अभिमान नहीं आता है।
आएगा भी कैसे! कर्म का अभिमान कब आता है, ख्याल है आपको? कर्म का अभिमान तब आता है, जब आप दूसरों से सुख निचोड़ने में सफल हो जाते हैं। और कर्म का अभिमान तब आहत हो जाता है, पीड़ित हो जाता है, धूल-धूसरित हो जाता है, जब आप दूसरों से सुख निचोड़ने में सफल नहीं हो पाते; निचोड़ते सुख हैं और दुख निचुड़ आता है।
कर्म का अभिमान सफलता का अभिमान है। सफलता अभिमान है। सफलता किस बात की? दूसरे से सुख निचोड़ लेने की। सारी सफलताएं दूसरों से सुख निचोड़ लेने की सफलताएं हैं। जब आप सफल हो जाते हैं, तब अभिमान भर जाता है; तब आप फूलकर कुप्पा हो जाते हैं; जैसे कि रबर के गुब्बारे में बहुत हवा भर दी गई हो। पर गुब्बारे को बेचारे को पता नहीं कि वह जो फूल रहा है, वह फूटने के रास्ते पर है। ज्यादा फूलेगा, तो फूटेगा।
लेकिन फूलते वक्त किसको पता होता है कि फूटने के रास्ते की यात्रा होती है! फूलते वक्त मन आनंद से भरता जाता है। मन होता है, और हवाएं भर जाएं, और फूल जाऊं; और सफलताएं मिल जाएं, और फूल जाऊं!
लेकिन हमें पता नहीं कि फूलना केवल फूटने का मार्ग है। सफलता अंततः विफलता का द्वार है। तो जो भी सफल होगा, विफल होगा। जो भी सुखी होगा, दुखी होगा। जो भी अभिमान को भरेगा, आज नहीं कल फूटेगा और पंक्चर होगा। और जब अभिमान पंक्चर होता है, जैसे नर्क टूट पड़ा सब ओर से! स्वभावतः, जब अभिमान भरता है, तो ऐसा लगता है, स्वर्ग बरस रहा है सब ओर से।
ऐसा पुरुष, कृष्ण कहते हैं, कर्म के अभिमान से नहीं भरता है। भर ही नहीं सकता; क्योंकि ऐसा पुरुष पर से असंबंधित हो जाता है। यह बड़े मजे की बात है और थोड़ी सोच लेने जैसी।

अक्सर अभिमान को हम स्व से संबंधित समझते हैं, अभिमान सदा पर से संबंधित है। अभिमान को हम अक्सर स्वाभिमान तक कह देते हैं। हम उसे स्व से संबंधित समझते हैं कि अभिमान जो है, वह स्वयं की चीज है। अभिमान स्वयं की चीज नहीं है। अभिमान पर की है, पर से संबंधित चीज है। इसलिए अकेले में अभिमान को इकट्ठा करना मुश्किल है। अकेले में अभिमान नहीं हो सकता। अदर ओरिएंटेड है। दूसरा चाहिए।
इसलिए आपने देखा होगा, रास्ते पर अकेले जा रहे हों, तो एक तरह से जाते हैं। सुनसान रास्ता हो, तो एक तरह से चलते हैं। फिर कोई रास्ते पर निकल आया कि रीढ़ सीधी हो जाती है। कोई और आ गया रास्ते पर, तो अकड़ आ जाती है। दूसरे को देखा कि अकड़े! दूसरा मौजूद हुआ कि भीतर कुछ गड़बड़ हुई। दूसरा वहां आया कि इधर भीतर भी कोई और आया। वह दूसरे की मौजूदगी तत्काल भीतर मैं को पैदा कर देती है। और फिर अगर दूसरे ने हाथ जोड़ लिए, तो फिर अभिमान का गुब्बारा फूला! या दूसरा भी अकड़कर बिना हाथ जोड़े निकल गया, तो अभिमान का गुब्बारा सिकुड़ा। वह सब दूसरे पर निर्भर है। या दूसरा अगर ऐसा हुआ कि आपको ही हाथ जोड़ने पड़े, तो बड़ी पीड़ा है, बड़ी पीड़ा है!
यह जो अभिमान है, यह पराश्रित भाव है; इसका सुख भी, इसका दुख भी।
जो व्यक्ति स्वयं से संबंधित हो जाता है--स्वयं के मूल स्रोतों से, ब्रह्म से, अस्तित्व से--उसका अभिमान खड़ा नहीं होता फिर। अभिमान खो ही जाता है। जो स्वयं है, उसके पास अभिमान नहीं होता। और जो स्वयं नहीं है, सिर्फ दूसरों के ख्यालों का जोड़ है, और दूसरे क्या कहते हैं, पब्लिक ओपिनियन ही है जिसका जोड़, अखबार की कटिंग को इकट्ठा करके जिसने अपने को बनाया है--कि किस अखबार में क्या बात छपी है उसके बाबत, पड़ोसी क्या कहते हैं, गांव के लोग क्या कहते हैं, दूसरे क्या कहते हैं--दूसरों के ओपिनियन को इकट्ठा करके जो खड़ा है, वह आदमी अभिमान को बढ़ाए जाता है। बढ़ता है, तो रस आता है।
रस वैसा ही, जैसा खुजली को खुजलाने से आता है। और कोई रस नहीं है। खुजली खुजलाने का रस! बड़ा अच्छा लगता है, बड़ा मीठा लगता है। लेकिन उसे पता नहीं है कि वे सब नाखून जो मिठास ला रहे हैं, थोड़ी देर में लहू ले आएंगे। और वे नाखून जो मिठास ला रहे हैं, थोड़ी देर में ही पायजनस हो जाएंगे। उसे पता नहीं कि वे नाखून जो रस ला रहे हैं और मिठास दे रहे हैं, जल्दी ही सेप्टिक हो जाएंगे। उसे पता नहीं है; खुजला रहा है। जितना खुजलाता है, उतनी मिठास मालूम पड़ती है; उतनी खुजली बढ़ती है। खुजली बढ़ती है, तो खुजलाना पड़ता है। खुजली के भी सुख हैं।
अहंकार का सुख, अभिमान का सुख, खुजली का सुख है। बहुत बीमार, बहुत रुग्ण है, लेकिन है। अंततः पीड़ा है, लेकिन प्रारंभ में सुख का भाव है। कृष्ण कहते हैं, ऐसा पुरुष कर्म के अभिमान से नहीं भरता। भर नहीं सकता। ऐसे पुरुष के पास अभिमान नहीं बचता, जिसको भर सके। गुब्बारा ही खो जाता है, जिसमें कि अभिमान को भरा जा सके।
ऐसा पुरुष करते हुए भी अकर्ता होता। ऐसा पुरुष करते हुए भी न करने जैसा होता। ऐसा पुरुष सब करते हुए भी, करने के बाहर होता। ऐसे पुरुष के लिए कर्म का जगत अभिनय का जगत हो जाता। एक्शन का जगत, एक्टिंग का जगत हो जाता। ऐसा पुरुष सब करता है और सांझ जब सोता है, तो ऐसे सो जाता है किए हुए को झाड़कर, जैसे दिनभर की धूल को वस्त्रों से झाड़कर सांझ सो जाता है। ऐसे किए हुए को झाड़कर सो जाता है। सुबह जब उठता है, तो फिर ताजा, फ्रेश। ताजा, कल के कर्मों के भार से बंधा हुआ नहीं; कल जो किया था, उसकी रेखाओं से दबा हुआ नहीं। कल जो हुआ; उसकी धूल से गंदा नहीं, ताजा, फिर ताजा।
असल में कल भी दूर है। हर क्षण ऐसा पुरुष, हर क्षण अतीत के बाहर हो जाता है। हर क्षण, गए हुए क्षण और गए हुए कर्म के बाहर हो जाता है। कुछ उस पर टिकता नहीं है; सब विदा हो जाता है। क्योंकि टिकाने और अटकाने वाला अहंकार नहीं है। अटकाने वाली चीज उसके ऊपर नहीं है, जहां कर्म अटकते हैं और कर्ता निर्मित होता है। ऐसा पुरुष करते हुए न करता हुआ है। ऐसा पुरुष न करते हुए भी करता हुआ है।

ऐसा पुरुष ठीक ऐसा है, जैसा कबीर ने कहा कि बहुत जतन से ओढ़ी चदरिया, बहुत जतन से ओढ़ी। जतन से! बड़ा प्यारा शब्द है जतन। बड़ी होशियारी से, बड़ी कुशलता से चादर ओढ़ी; और ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं।
कबीर ने मरते वक्त कहा है कि बहुत संभालकर ओढ़ी चादर, जीवन की चादर; और फिर ज्यों कि त्यों धरि दीन्हीं। जैसी मिली थी, वैसी ही रख दी। जरा भी रेखा नहीं छूटी। पूरी जिंदगी के अनुभव की, कर्म की कोई रेखा, कोई धब्बा, कोई दाग चादर पर नहीं छूटा। ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया।
ऐसा पुरुष सब करते हुए भी न करता है। वह चादर को ऐसा का ऐसा ही परमात्मा को सौंप देता है कि संभालो! जैसी दी थी, वैसी ही वापस लौटाता हूं।
यह जो कर्म के बीच अकर्म की स्थिति है, बड़ी जतन की है--बड़े होश की, बड़ी अवेयरनेस की, बड़े साक्षी-भाव की। जहां सध जाती है, वहां जीवन मिल जाता है।
जहां नहीं सध पाती, वहां जीवन के नाम पर हम सिर्फ धोखे में होते हैं।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।। 21।।
और जीत लिया है अंतःकरण और शरीर जिसने, तथा त्याग दी है संपूर्ण भोगों
की सामग्री जिसने, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर संबंधी कर्म को करता हुआ भी पाप को नहीं प्राप्त होता है।

जिसने छोड़ी आशा, आकांक्षा, भविष्य, फल की स्पृहा; जिसने छोड़ा अभिमान, जिसने छोड़ा दूसरे की आंखों में अपने प्रतिबिंब को इकट्ठा करने का मोह--ऐसा व्यक्ति कर्म की जो आवश्यकता है, या जो आवश्यक कर्म हैं शरीर के, उन्हें करता रहता है। भूख लगती है, भोजन कर लेता है। नींद आती है, सो जाता है।
सर्दी लगती है, वस्त्र ओढ़ लेता है। गर्मी लगती है, वस्त्र अलग कर देता है। जो आवश्यक है शरीर के लिए, करता रहता है, लेकिन फिर कर्मबंध को उपलब्ध नहीं होता।
महावीर भी उठते और चलते हैं, वैसे ही जैसे कोई और उठता और चलता है।
बुद्ध भी भोजन करते हैं, वैसे ही जैसे कोई और भी भोजन करता है। कृष्ण भी वस्त्र पहनते हैं, वैसे ही जैसे कोई और पहनता है। लेकिन बिल्कुल वैसे ही नहीं; बुनियादी अंतर भी है। ठीक वैसे ही नहीं, गहरे में भेद है। और बड़ा भेद है। गहरे में जो भेद है, वह देख लेना चाहिए।
जब साधारणतः कोई आदमी भोजन करता है, तो सिर्फ भोजन नहीं करता। भोजन करते हुए और बहुत कुछ भी करता है।
आप ख्याल करना, जब भोजन करते हों। सिर्फ भोजन नहीं करते, भोजन करते हुए और हजार काम भी आपका मन करता रहता है। हो सकता है, दुकान पर हों, दफ्तर में हों, बाजार में हों, मंदिर में हों; भोजन की थाली पर हों और साथ ही दुकान पर हों। होता ही है। फिर इससे उलटा भी होता है, होगा ही, कि दुकान पर होंगे और भोजन की थाली पर होंगे।
भोजन करते हुए, साधारणतः, हम भोजन ही नहीं करते और हजार काम भी करते हैं। कृष्ण जैसा या बुद्ध या महावीर जैसा व्यक्ति जब भोजन करता है, तब भोजन ही करता है! फिर और कुछ नहीं करता। एक तो यह अंतर स्पष्ट समझ लें। यह अंतर गहरा है! ऊपर से दिखाई नहीं पड़ता है। भीतर से खोजेंगे, तो दिखाई पड़ेगा।
क्यों? हम भोजन करते हुए और पच्चीस काम मन में क्यों करते हैं? क्योंकि वासना है। भोजन का काम शरीर करता रहता है, वासना अपने जाल बुनती रहती है। भोजन का काम आटोमैटिक होता है, यंत्रवत होता है, मशीन की तरह होता है। होशपूर्वक नहीं होता, बेहोशी में होता है। आपकी कोई जरूरत ही नहीं होती। आप कहीं भी हों, दुकान पर बैठे रहें, दिमाग से, मन से; हाथ भोजन को मुंह में डालते रहेंगे; जीभ उसको भीतर सरकाती रहेगी; पेट उसको पचाता रहेगा--यंत्रवत। आपकी मौजूदगी नहीं होती।
कृष्ण या बुद्ध जैसे व्यक्ति जो करते हैं, वही करते हैं। पूरे मौजूद होते हैं। उनकी टोटल प्रेजेंस वहां होती है। यह अंतर गहरा है और इसके गहरे परिणाम हैं। क्या गहरे परिणाम होंगे?

जो व्यक्ति भोजन करते हुए पूरा भोजन करते समय मौजूद है, वह ज्यादा भोजन कभी न कर पाएगा। वह कम भोजन भी न करेगा, ज्यादा भी न करेगा। जो व्यक्ति भोजन करते हुए मौजूद नहीं है, बहुत कम संभावना है कि वह सम्यक आहार कर सके। वह या तो कम करेगा, या ज्यादा करेगा। अगर वासना बहुत तेजी से दौड़ रही है, जल्दी भागने को है, तो कम करेगा। या कम समय में ज्यादा करेगा, वह भी खतरनाक है। और ज्यादा तो करेगा ही। क्यों?
शरीर अंधा है, शरीर के पास अपनी आंख नहीं है। शरीर पर काम को छोड़ना, अंधे के हाथ में काम को छोड़ना है। शरीर मैकेनिकल है, हैबीचुअल है। ग्यारह बजे आप रोज खाना खाते हैं। भूख न भी लगी हो, तो भी शरीर कहता है, भूख लगी है। अगर घड़ी किसी ने आगे-पीछे कर दी हो और अभी दस ही बजे हों, घड़ी में ग्यारह बज जाएं; घड़ी देखी, शरीर फौरन कहता है, भूख लगी! अभी ग्यारह बजे नहीं हैं। ग्यारह बजे भूख लगती है। एक घंटे खाना न खाएं, तो लोग कहते हैं, भूख मर जाती है। अगर भूख आथेंटिक हो, असली हो, तो बढ़नी चाहिए; मरनी नहीं चाहिए। भूख थी ही नहीं, सिर्फ हैबीचुअल ट्रिक, शरीर की आदत कि रोज चौबीस घंटेभर बाद पेट में चीजें डाली जाती हैं। ठीक चौबीस घंटे बाद उसने कहा कि डालो, समय हो गया। अंधे की तरह, मशीन की तरह, यंत्र की तरह सूचना कर देता है। फिर कल जितनी डाली थीं, उतनी डालो।
कल की जरूरत और हो सकती थी, आज की जरूरत और। रोज जरूरत बदलती जाती है। बचपन में जरूरत और होती है, जवानी में और होती है, बुढ़ापे में और होती है। जवानी की आदत खाने की, बुढ़ापे में भी नहीं छूटती। शरीर को जरूरत कम रह जाती है, लेकिन शरीर पुरानी आदत से उतना ही खाए चला जाता है। तो जवानी में जिस भोजन ने शरीर को फायदा पहुंचाया, वही भोजन बुढ़ापे में नुकसान पहुंचाने लगता है। क्योंकि भोजन कम होना चाहिए। उम्र के साथ कम होते जाना चाहिए।
लेकिन यह होश कौन रखे? यह होश रखने वाला तो मौजूद ही नहीं रहा कभी। वह
तो कभी दुकान पर होता है, कभी बाजार में होता है। कभी दूसरे गांव में होता है। कभी कहीं होता है, कभी कहीं होता है। सिर्फ भोजन की थाली पर नहीं होता है।
कृष्ण जैसे, बुद्ध जैसे व्यक्ति जब भोजन करते हैं, तो सिर्फ भोजन करते हैं। इसलिए असम्यक आहार कभी नहीं हो पाता है। असम्यक बांधता है, सम्यक मुक्त करता है। जो भी चीज सम्यक है, वह कभी बंधन नहीं बनती। और जो भी चीज सम्यक से यहां-वहां डोली कि बंधन बन जाती है।
ऐसा जागा हुआ पुरुष शरीर के कर्मों को आवश्यक मानकर होशपूर्वक करता है; बंधता नहीं।
और भी एक बात, कि जब हम होशपूर्वक करते हैं, तो हम चीजों का उपयोग करते हैं। और जब हम बेहोशी से करते हैं, तो चीजें हमारा उपयोग कर लेती हैं। ख्याल करना, चीजों को आप खाते हैं या चीजें अपने आपको आपके भीतर पहुंचा देती हैं? पेट भर गया है और मिठाइयां सामने आ गई हैं। तो आप इस भ्रम में होते हैं कि आप चीजों को भीतर डाल रहे हैं। अगर चीजों के पास जबान हो, तो वे कहें कि हम तुम्हें भीतर डालने के लिए मजबूर कर रहे हैं। हम तुम्हारे भीतर जा रहे हैं। और चूंकि हम तुम्हारे भीतर जाना चाहते हैं, इसलिए हम तुम्हारा उपयोग कर रहे हैं तुम्हारे भीतर जाने के लिए।
वे कर्म हमें बांध लेते हैं, जिनमें हम मजबूर होते हैं। वे कर्म हमें नहीं बांधते, जिनमें हम स्वेच्छया स्वतंत्र होते हैं। जिस भोजन को आपने किया है, वह आपको नहीं बांधता; लेकिन जिस भोजन ने आपको करने के लिए मजबूर किया है, वह आपको बांधता है। जो नींद आप सोए हैं, वह आपको नहीं बांधती; लेकिन जिस नींद में आप पड़े रहे हैं, वह नींद आपको बांध लेती है।
झेन फकीर हुआ, बोकोजू। और बोकोजू के पास किसी ने जाकर पूछा कि तुम्हारी साधना क्या है? तो बोकोजू ने कहा, मेरी साधना? मेरी कोई साधना नहीं है। जब नींद आती है, तब मैं सो जाता हूं। जब नींद टूटती है, तब मैं उठ आता हूं। जब भूख लगती है, तब मैं खा लेता हूं। जब भूख नहीं लगती है, तब मैं उपवासा रह जाता हूं। उस आदमी ने कहा, छोड़ो यह बकवास! यह कोई साधना हुई? यह तो हम भी करते हैं!

बोकोजू ने कहा, जिस दिन तुम यह कर पाओगे, उस दिन तुम्हें मेरे पास पूछने आने की जरूरत न रहेगी। जिस दिन तुम यह कर पाओगे, उस दिन मैं ही तुम्हारे पास पूछने चला आऊंगा। उस आदमी ने कहा, लेकिन नहीं, मानो; हम भी यही करते हैं।
बोकोजू की बात वह समझ नहीं पाया।
एक और फकीर के बाबत मैंने सुना है। एक दिन बोलता था एक मंदिर में, एक आदमी ने बीच में खड़े होकर पूछा कि बंद करो यह बातचीत! मेरा गुरु था, वह नदी के एक किनारे खड़ा होता और उसके शिष्य नदी के दूसरे किनारे खड़े होते। फर्लांग भर का फासला होता। उस तरफ शिष्य हाथ में कैनवस ले लेते, और इस तरफ से गुरु अपनी कलम से लिखता, और उस तरफ कैनवस पर लिखावट पहुंच जाती थी। ऐसा कोई चमत्कार तुम कर सकते हो? उस फकीर ने कहा कि नहीं; ऐसे छोटे-मोटे चमत्कार हम नहीं करते। तो उस आदमी ने पूछा, तुम क्या चमत्कार कर सकते हो? उसने कहा, हम तो एक ही चमत्कार कर सकते हैं कि जब नींद आती है, तब सो जाते हैं; जब भूख लगती है, तब खाना खा लेते हैं। उस आदमी ने कहा, यह कोई चमत्कार है?
लेकिन कृष्ण इसी चमत्कार की बात कर रहे हैं। यह चमत्कार है, और बड़ा चमत्कार है। वह तो मदारी भी कर सकते हैं, जो पहले गुरु की बात बताई। मदारी ही करेंगे। लेकिन दूसरा बहुत बड़ा मिरेकल है।
शरीर के आवश्यक कर्मों को होशपूर्वक, साक्षी-भाव से, सम्यक रूप से जो निपटा देता है, वह कर्मों के बंधन में नहीं पड़ता है। वह करते हुए भी मुक्त है। उसे कुछ भी नहीं बांधता है।
ध्यान रहे, अति बांधती है, दि एक्सट्रीम इ.ज दि बांडेज। अति बंधन है, मध्य मुक्ति है। लेकिन मध्य में वही हो सकता है, जो बहुत होश से भरा हुआ है--जतन। वह कबीर के शब्द जतन से भरा हुआ है। बड़े होश से भरा हुआ है, वही मध्य में रह सकता है। जरा चूके कि अति शुरू हो जाती है।
या तो आदमी ज्यादा खा लेता है, या उपवास कर देता है। ज्यादा खाने वाले अक्सर उपवास कर देते हैं। ज्यादा खाने वालों को करना पड़ता है उपवास। इसलिए जब भी जिस समाज में ज्यादा खाना हो जाता है, उसमें उपवास का कल्ट पैदा हो जाता है। गरीब समाजों में उपवास का सिद्धांत नहीं चलता। अमीर समाजों में उपवास का सिद्धांत जारी हो जाता है।
आज अमेरिका में उपवास का कल्ट जोर पर है। सब ओवर फीडिंग चलता है, तो उपवास चलेगा। ज्यादा आदमी खाए जा रहा है, पांच-पांच बार खा रहा है, तो फिर उपवास करना पड़ता है। फिर जो उपवास करता है, उपवास तोड़कर फिर जोर से खाने में लगता है।
अति सदा अति पर परिवर्तित हो जाती है। इसलिए जो आदमी उपवास करता है, उपवास में करता क्या है? उपवास तोड़कर क्या खाएगा, इसका विचार करता है। जितना भोजन का विचार कभी नहीं किया था, उतना उपवास में करता है। उपवास में सभी पाकशास्त्री हो जाते हैं! एकदम भोजन का चिंतन करते हैं! सारा रस भोजन पर वर्तुल बना लेता है। एक अति से दूसरी अति! फिर जब ज्यादा भोजन कर लेते हैं, ज्यादा भोजन से परेशान होते हैं, तो उपवास का ख्याल पकड़ता है। लेकिन मध्य में नहीं ठहरते।
कृष्ण जिस आदमी की बात कर रहे हैं, वह न अति भोजन करता है, न अल्प भोजन करता है। वह उतना ही करता है, जितना जरूरी है, नेसेसरी है। आवश्यक कभी नहीं बांधता, अनावश्यक बांध लेता है।
आवश्यक का कौन निर्धारण करे? कोई दूसरा नहीं कर सकता। मैं नहीं कह सकता, आपके लिए क्या आवश्यक है। एक आदमी के लिए तीन घंटे की नींद आवश्यक हो सकती है; एक आदमी के लिए छः घंटे की हो सकती है। तीन घंटे वाला छः घंटे वाले को कहेगा, तामसी हो। छः घंटे वाला अगर कमजोर हुआ, तो अपने को तामसी समझकर तीन घंटे की नींद शुरू कर देगा। अगर ताकतवर हुआ, तो तीन घंटे वाले को कहेगा, तुमको इन्सोमेनिया है, अनिद्रा है। तुम इलाज करवाओ। अगर तीन घंटे वाला कमजोर हुआ, तो डाक्टर के पास ट्रैंक्वेलाइजर के लिए पहुंच जाएगा। अगर ताकतवर हुआ, तो कहेगा कि हम साधक हैं; हम तीन घंटे सोते हैं। क्योंकि

कृष्ण ने कहा है गीता में, या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी, कि जब सब सोते हैं, तब संयमी जागते हैं; हम इसलिए जागते हैं रात में।
कोई नियम नहीं हो सकता। एक-एक व्यक्ति की जरूरत अलग-अलग है। इतनी अलग-अलग है जिसका कोई हिसाब नहीं। उम्र के साथ जरूरत बदलेगी। काम के साथ जरूरत बदलेगी। विश्राम के साथ जरूरत बदलेगी। भोजन के साथ जरूरत बदलेगी। प्रतिदिन के मन की अवस्था के साथ जरूरत बदलेगी। एक आदमी भी तय नहीं कर सकता कि मैं आज छः घंटे सोया, तो कल भी छः घंटे ही सोऊं।
कल की जरूरत कल तय होगी; क्योंकि आज जो भोजन किया, हो सकता है, कल वह भोजन न मिले। कल अगर भूखे रहे, तो नींद कम हो जाएगी। क्योंकि भोजन पेट में हो, तो पचाने के लिए नींद को लंबा हो जाना पड़ता है। अगर ज्यादा देर में पचने वाला भोजन पेट में हो, तो नींद को और लंबा हो जाना पड़ता है। अगर जल्दी पच जाने वाला भोजन पेट में हो, तो नींद सिकुड़ जाती है, छोटी हो जाती है। कल अगर दिनभर मजदूरी की, गड्ढे खोदे, तो नींद लंबी हो जाती है। कल अगर दिनभर आरामकुर्सी पर बैठकर विश्राम किया, तो नींद सिकुड़ जाती है, छोटी हो जाती है।
रोज, प्रतिपल, इसलिए जो होश से जीता है, वह रोज जो जरूरी है, उसमें जीता है। गैर-जरूरी को काटता चला जाता है। कट ही जाता है गैर-जरूरी। होशपूर्ण चित्त में गैर-जरूरी अपने आप गिर जाता है।
गैर-जरूरी बांधता है; आवश्यक कर्म बांधते नहीं। इसलिए कृष्ण ठीक कहते हैं, आवश्यक कर्म करता है ऐसा व्यक्ति। और आवश्यक कर्म शरीर के बांधते नहीं हैं। अनावश्यक गिर जाता है। अनावश्यक के साथ जंजीरें भी गिर जाती हैं।

प्रश्नः आपने अभी कहा कि शरीर अंधा है, यांत्रिक है। लेकिन अन्यत्र
आप यह भी कहते हैं कि शरीर की अपनी प्रज्ञा है, बाडी विजडम है। कृपया इसे स्पष्ट करें। और दूसरी चीज, इस श्लोक में कहा गया है, जीत लिया है अंतःकरण जिसने और त्याग दी है संपूर्ण भोगों की सुख-सामग्री। कृपया इसका भी अर्थ समझाएं।

निश्चय ही, शरीर की अपनी प्रज्ञा है। लेकिन वह प्रज्ञा वैसी है, जैसे अंधे आदमी की होती है। शरीर प्रज्ञाच्रु है। शरीर की अपनी इंटेलिजेंस है, पर मेकेनिकल इंटेलिजेंस है, यांत्रिक प्रज्ञा है।
जैसे, शरीर की प्रज्ञा का, बाडी विजडम का क्या अर्थ है? शरीर की प्रज्ञा का यह अर्थ है कि आपको हृदय की धड़कन तो नहीं धड़कानी पड़ती, शरीर धड़काता रहता है। अगर आपको धड़कानी पड़े, तो सत्तर साल की उम्र तक मुश्किल से कोई आदमी कभी पहुंचे। जरा चूके, कि गए! एकाध दिन भूल गए, एकाध दिन तो बहुत दूर है, पांच-सात सेकेंड भूल गए, गए!
शरीर हृदय को चलाता रहता है। खून आप नहीं चलाते, शरीर चलाता है। आपको चलाना पड़े, तो बड़ी मुश्किल हो जाए। सच तो यह है कि एक छोटे-से आदमी के शरीर में, एक पांच फीट के शरीर में इतना काम चलता है कि वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर इतना पूरा काम हमें फैक्टरी में करना पड़े, तो दस वर्गमील की फैक्टरी बनानी पड़े। इतना काम आप नहीं चला रहे हैं, शरीर चला रहा है। लेकिन आटोमैटिक, यंत्र की तरह चला रहा है।
उसकी अपनी इंटेलिजेंस है। इंटेलिजेंस का मतलब है कि उसे भी फिक्र करनी पड़ती है हजार तरह की, लेकिन वह है मेकेनिकल। जैसे आपके हाथ में घाव हो गया। दूसरे दिन मवाद इकट्ठी हो जाती है। यह आपने इकट्ठी नहीं की; यह शरीर ने भेजी है। आपको पता है, मवाद क्यों इकट्ठी हो जाती है! पता भी नहीं होगा कि क्यों इकट्ठी हो जाती है।
जिसे आप मवाद कहते हैं, वह खून के सफेद कण हैं, व्हाइट पार्टिकल्स हैं। खून में दो तरह के कण हैं, सफेद और लाल। लाल कण कमजोर कण हैं, डेलीकेट हैं। सफेद कण शक्तिशाली कण हैं, मजबूत हैं। शरीर में घाव हो गया; शरीर फौरन सफेद कणों को भेजता है घाव के आस-पास, सेफ्टी मेजर के लिए।

जैसे कि आपके गांव पर हमला हो जाए, तो आप मिलिट्री के दस्ते को खड़ा कर देते हैं गांव के बाहर। सैनिक भेज देते हैं। औरत-बच्चों को हटा लेते हैं फौरन पीछे, कि हटो। हट जाओ। दुकानें अलग कर लो। मिलिट्री के जवानों को खड़ा कर देते हैं। हमला हो गया!
जब शरीर पर घाव होता है, तो बाहर से हमला हो गया। शरीर अपने मिलिट्री
के जवानों को फौरन वहां भेज देता है। वे सफेद कण जवान हैं उसके। जिसको आप मवाद कहते हैं, वह मवाद नहीं है; वह शरीर के सफेद कण हैं खून के, जिनकी पर्त को वह वहां भेज देता है। उनकी पर्त पूरे घाव को घेर लेती है। उस पर्त को पार करके बाहर के कीटाणु अब शरीर में प्रवेश नहीं कर सकते। उस पर्त में घिरकर भीतर शरीर अपना काम शुरू कर देता है, नई चमड़ी को निर्माण करने का। जब तक चमड़ी निर्मित न हो जाए, तब तक मवाद की पतली पर्त बाहर के कीटाणुओं को शरीर के भीतर प्रवेश नहीं करने देगी। वे फाइटर्स हैं।
लेकिन यह सब है। शरीर की भी अपनी बुद्धिमत्ता है। यह कोई छोटा-मोटा काम नहीं है। लेकिन यह बुद्धिमत्ता है प्रज्ञाच्रु वाली, अंधे आदमी वाली। जिस अर्थ में मैंने कहा है कि शरीर की अपनी प्रज्ञा है, वह और अर्थ है--
इस अर्थ में। और अभी जब मैं कह रहा हूं कि शरीर अंधा है, वह इस अर्थ में कि अगर आप शरीर की क्रियाओं के पास मौजूद नहीं हैं, तो शरीर आदतों से चलने लगता है।
एक आदमी सिगरेट पी रहा है। अक्सर सिगरेट पीने वाला आदत से पीता है। कब उसका हाथ भीतर चला जाता है खीसे में, कब पाकेट बाहर निकाल लेता है, इसका उसे कोई होश नहीं होता। कब उसके मुंह में सिगरेट लग जाती है, माचिस जल जाती है, सिगरेट जल जाती है, धुआं बाहर-भीतर होने लगता है, इसका उसे होश नहीं होता। यह बिल्कुल यंत्रवत चलता है। होश आ जाए, तो धुआं बाहर-भीतर करने की स्टुपिडिटी करने वाला आदमी जरा मुश्किल से मिलेगा। क्योंकि कर क्या रहा है? कर इतना ही रहा है कि धुएं को बाहर ले जा रहा है, भीतर ले जा रहा है।
अब धुएं को बाहर-भीतर करना, पैसा खर्च करके खून को जहरीला करना, उम्र
को कम करना बेहोशी में ही हो सकता है; होश में नहीं हो सकता। और या फिर आदमी स्युसाइडल हो, आत्मघाती हो, तो हो सकता है। लेकिन आत्मघात भी बेहोशी में ही हो सकता है; होश में नहीं हो सकता।
जरा कोशिश करें एक दिन सिगरेट होशपूर्वक पीने की। सिगरेट पीएं, आंख बंद करके मेडिटेट करें धुएं पर--कि यह भीतर गया; यह बाहर गया; यह भीतर गया। थोड़ी देर में लगेगा, कि मैं आदमी हूं कि पागल हूं! यह मैं कर क्या रहा हूं? बहुत मूढ़ता मालूम पड़ेगी, बहुत ईडियाटिक। लेकिन काफी म.ूढ हैं; इसलिए म.ूढता पर भी धंधे चलते हैं।
अमेरिका की सीनेट ने पीछे, दो-तीन वर्ष पहले तय किया कि सब सिगरेट पर लाल अक्षरों में, बड़े अक्षरों में लिख दो कि स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। दिस इ.ज हार्मफुल टु हेल्थ, बड़े अक्षरों में लिख दो।
पहले सिगरेट के मालिकों ने बहुत विरोध किया कि इससे तो बहुत नुकसान
हो जाएगा। मुकदमे चलाए। अदालत में ले गए मामले को कि इससे तो बहुत नुकसान हो जाएगा। क्योंकि आदमी अगर हर बार सिगरेट के डब्बे पर पढ़ेगा कि यह स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है, तो सिगरेट के धंधे का नुकसान हो जाएगा। लेकिन मनोवैज्ञानिकों ने कहा, घबड़ाओ मत। जो धुएं को बाहर-भीतर कर लेता है, वह लाल स्याही को भी भूल जाएगा। और यही हुआ।
तीन-चार महीने में करोड़ों रुपए का धंधा कम हो गया सिगरेट का; लेकिन फिर वापस अपनी जगह हो गया! जो आदमी धुएं को बाहर-भीतर करने में होश नहीं रख पाता, वह लाल स्याही को कितनी देर तक देखेगा? डब्बे पर लिखा है, लिखा रहे; अब कौन पढ़ता है? उसको कोई नहीं पढ़ता।
आदमी बेहोश है। और जब तक बेहोश है, तब तक शरीर यांत्रिक आदतें पकड़ लेता है। और यांत्रिक आदतें बंधन का कारण बन जाती हैं।
होशपूर्वक आदमी यांत्रिक आदतें नहीं पकड़ता है; पकड़ता ही नहीं यांत्रिक आदतें। होशपूर्वक आदमी अपना हाथ भी नहीं हिलाता व्यर्थ। हाथ भी हिलाता है, तो होशपूर्वक हिलाता है।

बुद्ध एक गांव से गुजर रहे हैं। बुद्ध होने के पहले की बात है। एक मक्खी कंधे पर आकर बैठ गई है। आनंद साथ में था। बुद्ध उससे बात कर रहे थे। बात जारी रखी और बेहोशी में--जैसा कि हम सब करते हैं--मक्खी को हाथ से उड़ा दिया। होशपूर्वक नहीं, जतनपूर्वक नहीं, कांशसली नहीं; बात जारी रही, धक्का मारा हाथ का और उड़ा दिया। फिर रुक गए, उदास हो गए। आनंद ने पूछा, क्या हुआ? बुद्ध थोड़ी देर खड़े रहे, फिर हाथ ले गए उस जगह, जहां मक्खी बैठी थी कभी, अब नहीं थी। फिर उड़ाया मक्खी को, जो कि अब थी ही नहीं। फिर हाथ नीचे लाए। आनंद ने कहा, क्या करते हैं आप? क्या उड़ाते हैं? कंधे पर कुछ नहीं है।
बुद्ध ने कहा, मैं उड़ाकर देख रहा हूं फिर से, जैसा कि मुझे उड़ाना चाहिए था--होशपूर्वक। उस बार मैंने बेहोशी में मक्खी को उड़ा दिया। अपना ही हाथ बेहोशी में काम करे, तो खतरनाक काम भी कर सकता है। आज मक्खी उड़ाता है, कल किसी की गर्दन दबा सकता है! अगर आज मक्खी को मैंने बिना जतन के उड़ा दिया, विदाउट माइंडफुलनेस--बुद्ध का शब्द है, स्मृतिपूर्वक, विद माइंडफुलनेस-- अगर मैंने स्मृतिपूर्वक नहीं उड़ाया मक्खी को, तो कल क्या भरोसा है कि मेरे हाथ किसी की गर्दन न दबा दें! दबा सकते हैं। तो मैं खड़ा होकर उस तरह उड़ा रहा हूं, जैसे कि उड़ाना चाहिए था। और अगली बार स्मरण रखूंगा कि जतनपूर्वक, स्मृतिपूर्वक मक्खी को उड़ाऊं, अन्यथा कर्म का बंधन हो सकता है।
बेहोश कर्म बंधन है। होशपूर्वक कर्म बंधन से मुक्ति है।
दूसरी बात पूछी है कि कृष्ण कहते हैं, सुख-सामग्री को छोड़कर--स्वयं को जीतकर, सुख-सामग्री को छोड़कर--इसका क्या अर्थ?
सुख-सामग्री को छोड़कर का अर्थ, सामग्री को छोड़कर नहीं। सुख-सामग्री
को छोड़कर! सामग्री और सुख-सामग्री में फर्क है।
वस्तुएं, अगर सिर्फ आवश्यक हैं और उनसे आप सुख नहीं खींचते अपने भीतर, सिर्फ जरूरत पूरी करते हैं, तो वे सुख-सामग्री नहीं हैं। लेकिन अगर वस्तुएं आवश्यक नहीं हैं, अनावश्यक हैं, और सिर्फ सुख के स्रोत बनाते हैं आप उनको... ।
जैसे कि एक स्त्री है, सेर भर सोना लटकाए हुए घूम रही है। पागलखाने में होना चाहिए! क्योंकि शरीर पर सेर भर सोना लटकाने की कोई भी जरूरत नहीं है। शरीर की तो कोई जरूरत नहीं है। नुकसान पहुंच रहा है। लेकिन सोने से शरीर की कोई जरूरत पूरी नहीं की जा रही है। सोना सुख-सामग्री है। सुख-सामग्री क्यों है सोना? क्योंकि जिन-जिन की आंखों में वह सोना चमकेगा, उन-उन की आंखें चौंधिया जाएंगी। वे मानेंगे कि हां, कोई है, समबडी। और कुछ मतलब नहीं है। पति भी प्रसन्न है अपनी स्त्री पर सोना लटकवाकर। उसकी पत्नी पर सोना लटका हो, तो बाजार में उसकी क्रेडिट बढ़ जाती है। उसकी पत्नी पर सोना, उसका चलता-फिरता विज्ञापन है, कि यह आदमी भी कुछ है।
पुरुष होशियार है। सोना खुद नहीं लादते, पत्नियों पर लदवा दिया है! पहले खुद ही लादते थे; फिर धीरे-धीरे बुद्धिमत्ता आई। समझे कि यह काम तो औरत से ही लिया जा सकता है। इसके लिए नाहक हम क्यों परेशान हों! पहले लादते थे।
सुख-सामग्री को छोड़कर! सामग्री को छोड़कर, कृष्ण नहीं कह रहे हैं। सामग्री छोड़ी नहीं जा सकती। जीवन के लिए सामग्री की जरूरत है। जितनी जरूरत है, उतनी बिल्कुल ठीक है। सबकी जरूरत भी भिन्न है। इसलिए प्रत्येक अपना निर्णय करे कि उसकी क्या जरूरत है। और निर्णय कठिन नहीं है।
कपड़े आपने शरीर को ढांकने के लिए पहने हैं? सर्दी बचाने के लिए पहने हैं? कि किसी की आंखों को तिलमिलाने के लिए पहने हैं? आप खुद पक्की तरह जान सकते हैं। जब आईने के सामने सुबह खड़े हों, तब आपको पक्का पता चल जाएगा कि यह कोट आप किसलिए पहन रहे हैं। यह सर्दी के लिए पहन रहे हैं? तन ढांकने के लिए पहन रहे हैं? कि किसी की आंखों में तिलमिलाहट पैदा करनी है? कि किसी को हीन दिखलाना है? कि इस आशा में पहन रहे हैं कि आज कोई जरूर छूकर पूछेगा कि किस भाव से लिया है!
सुख-सामग्री, तो होशपूर्ण व्यक्ति जो है, वह छोड़ देता है। सुख छोड़ देता है सामग्री से। ऐसी सामग्री व्यर्थ बोझ है, जो सिर्फ सुख के ख्याल से

है। और सुख कुछ मिलता नहीं, सिर्फ बोझ ही लगता है। कुछ मिलता नहीं है सुख। कई बार तो इतना बोझ भरता चला जाता है कि जिसका कोई हिसाब नहीं।
मैं एक बहुत बड़े आदमी के घर में कुछ दिन पहले मेहमान था। तो उनके बैठकखाने में बैठने की जगह भी नहीं है! चलना-फिरना भी मुश्किल है। इतनी सुख-सामग्री भर दी है बैठकखाने में कि बैठकखाने के बाहर खड़े होकर ही उसका सुख लिया जा सकता है, भीतर जाकर नहीं! बेकार हो गया बैठकखाना, बैठकखाना बैठने के लिए है। वह बैठने के लायक नहीं रहा है। वह अजायबघर बना लिया है उन्होंने! उसमें चलते-फिरते डर भी रखना पड़ता है कि उनकी कोई मूर्ति न गिर जाए; कहीं कोई धक्का न लग जाए। महंगी चीजें हैं। वह खुद भी जरा सम्हलकर ही गुजरते हैं वहां से। बैठकखाना आराम के लिए है। लेकिन वह गया!
लेकिन वह बैठकखाना बैठने के लिए बनाया नहीं गया है। वह तो किन्हीं दूसरों की आंखों में भाव पैदा करने के लिए बनाया गया है। और जब दूसरे की आंख में भाव पैदा होता है, तो रस आता है, सुख आता है।
सुख दूसरे की आंख से आता है, बड़े मजे की बात है, भीतर से नहीं आता। कोई आदमी आकर कह देता है कि हां, आपका बंगला तो बहुत सुंदर बना है, तो सुख आता है।
कलकत्ते में मैं एक घर में ठहरता था। जब भी उनके घर जाता था--नया मकान बनाया था, कलकत्ते में सबसे अच्छा मकान था, स्वीमिंग पूल था, बगीचा था, सब था, बहुत अच्छा था--उसकी बात करते नहीं थकते थे वे। कहीं से भी बात शुरू करो, मकान पर पहुंच जाती! दो मिनट से ज्यादा कहीं न चलती। ब्रह्म से शुरू करो, मकान आ जाए! कहीं से शुरू करो। मैंने सब तरफ से बातचीत शुरू करके देख ली। लेकिन कोई उपाय नहीं। दो मिनट से ज्यादा आप चल नहीं सकते, ट्रैक वापस मकान पर आ जाए। मैंने मोक्ष से, ब्रह्म से बात शुरू करके देखी। मैंने उनसे मोक्ष की कुछ बातचीत शुरू की। मिनट डेढ़ मिनट में उन्होंने कहा, एक बात तो बताइए कि मोक्ष में मकान होते हैं कि नहीं? और उन्होंने कहा कि यह मकान बनाया... । बस, शुरू कर देते थे वे कहीं से भी!
फिर दो साल बाद उनके घर मेहमान हुआ, तो उन्होंने मकान की बात न की। मैं जरा चिंतित हुआ। मैंने कई बार मकान की बात छेड़ी, लेकिन कुछ भी करो, कहीं से भी छेड़ो, वे टाल जाते। स्वीमिंग पूल की कितनी ही तारीफ करो, वे टाल जाते। वे दूसरी बातें उठा लेते। मैंने पूछा, बात क्या है? गड़बड़ क्या हो गई? पहले मैं नहीं छेड़ता था, आप छेड़ते थे; अब मैं छेड़ता हूं, आप नहीं छेड़ते! उन्होंने कहा, देखते नहीं हैं बगल में? बगल में एक बड़ा मकान बन गया, उनसे भी बड़ा। अब क्या खाक मकान की बात करनी है! जब तक उससे बड़ा न बना लें, तब तक अब ठीक है। निकलता नहीं हूं बगीचे में, उन्होंने कहा। क्योंकि निकलो बाहर, तो वह मकान दिखाई पड़ता है!
यह जो हमारा चित्त है, कृष्ण कहते हैं, सुख की सामग्री को छोड़कर... । सामग्री को छोड़ने की बात जरा भी नहीं है। सामग्री अपनी जगह है। पर उससे सुख को खींचना पागलपन है। सामान से सुख नहीं मिलता; ज्यादा से ज्यादा सुविधा मिल सकती है। सामग्री ज्यादा से ज्यादा कनवीनियंस हो सकती है, सुख नहीं। लोग सुविधा को सुख समझकर भूल में पड़ते हैं। सुविधा बिल्कुल ठीक है, ओ के। सुख पागलपन है। सुविधा जरूरत हो सकती है। सुख? सुख मिलता ही नहीं है बाहर से, सामग्री से; सुख मिलता है स्वयं से।
इसलिए कृष्ण दूसरी बात कहते हैं, स्वयं को जीतकर!
असल में दो तरह की जीत हैं इस जगत में। एक वे लोग हैं, जो वस्तुओं को जीतते रहते हैं। छोटी कार से बड़ी कार जीतते हैं। छोटे मकान से बड़ा मकान जीतते हैं। बस, वस्तुओं को जीतते रहते हैं। आखिर में पाते हैं, वस्तुएं तो जीत लीं, खुद को हार गए। मरते वक्त पता चलता है, जो जीता था, वह पड़ा रह गया और हम चले। तब कुछ सामान साथ ले जाना मुश्किल हो जाता है। पंछी जाए अकेला! वह सब जो जीता था, पड़ा रह जाता है।
कुछ वे लोग हैं, जिन्हें बुद्धिमान कहें, जो वस्तुओं को नहीं जीतते। क्योंकि जो जानते हैं, वस्तुएं हम नहीं थे, तब भी थीं; हम नहीं होंगे, तब भी होंगी। और वस्तुओं की जीत असली जीत नहीं है, अपनी जीत असली जीत है। स्वयं को जीतते हैं।

जो वस्तुओं को जीतता है, वह स्वयं को हारता चला जाता है। वस्तुओं पर दांव बढ़ता चला जाता है और स्वयं की हार गहरी होती चली जाती है। नजर वस्तुओं पर लग जाती है, स्वयं से चूक जाती है। फिर कोई स्वयं को जीतता है। कृष्ण उसकी बात कर रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति स्वयं को जीत लेता--आत्म-विजय।
महावीर ने कहा है, तुम सब हार जाओ और स्वयं को जीत लो, तो तुम विजेता हो। और तुम सब जीत लो और स्वयं को हार जाओ, तो तुमसे ज्यादा पराजित और कोई भी नहीं है।
आपको पता हो या न हो, महावीर के लिए जिन जो नाम मिला, वह इसीलिए मिला। जिन का मतलब है, जीत लेने वाला, जिसने जीत लिया स्वयं को। जिन का अर्थ है, जिसने जीत लिया स्वयं को।
जो जिन बन जाता, जो स्वयं को जीत लेता, फिर इस जगत में उसे पाने योग्य कुछ भी नहीं रह जाता। इस जगत में क्या, कहीं भी पाने योग्य कुछ नहीं रह जाता। लोक में, अलोक में, कहीं भी उसे पाने योग्य कुछ नहीं रह जाता। जिसने स्वयं को पाया, उसने सब पा लिया। जिसने स्वयं को खोया, उसने सब खो दिया। बस, स्वयं के जीते जीत है।
ऐसा पुरुष स्वयं को जीतकर सुख की सामग्री के व्यर्थ बोझ से मुक्त हो जाता है। अभिमान से भरता नहीं। कर्म करते हुए अकर्म में जीता है। सब जरूरी करते हुए भी उसके ऊपर कोई रेखा नहीं छूटती। वह जतनपूर्वक चादर को परमात्मा के हाथ में सौंप देता है। उस पर कोई दाग, कोई धब्बा नहीं होता है। आज सुबह इतना; फिर सांझ हम बात करेंगे। पांच मिनट आप सब रुकेंगे। और जिनमें थोड़ी भी हिम्मत हो, वे भी कीर्तन में भाग लें। पांच मिनट डूबें।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
आठवां प्रवचन

मैं मिटा, तो ब्रह्म

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। 22।।
और अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो, उसमें ही संतुष्ट रहने वाला और द्वंद्वों से अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात ईर्ष्या से रहित, सिद्धि और असिद्धि में समत्व भाव वाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बंधता है।

जो प्राप्त हो उसमें संतुष्ट, द्वंद्वों के अतीत--इन दो बातों को ठीक
से समझ लेना उपयोगी है।
जो मिले, उसमें संतुष्ट! जो मिले, उसमें संतुष्ट कौन हो सकता है? चित्त तो जो मिले, उसमें ही असंतुष्ट होता है। चित्त तो संतोष मानता है उसमें, जो नहीं मिला और मिल जाए। चित्त जीता है उसमें, जो नहीं मिला, उसके मिलने की आशा, आकांक्षा में। मिलते ही व्यर्थ हो जाता है। चित्त को जो मिलता है, वह व्यर्थ हो जाता है; जो नहीं मिलता है, वही सार्थक मालूम होता है।
चित्त सदा ही, सदा ही असंतुष्ट है। चित्त का होना ही असंतोष है। अगर ऐसा कहें तो ज्यादा ठीक होगा कि चित्त और असंतोष एक ही चीज के दो नाम हैं। ऐसा नहीं कि चित्त असंतुष्ट होता है, बल्कि ऐसा कि चित्त ही असंतोष है। क्योंकि जिस क्षण संतुष्टि आती है, उसी क्षण चित्त भी चला जाता है। असंतोष के साथ ही मन भी चला जाता है। जिनके भीतर असंतोष न रहा, उनके भीतर मन भी न रहा।
मन उसकी आकांक्षा में ही जीता है, जो नहीं मिला है। इसलिए मन के लिए जरूरी है कि जो मिला है, उससे असंतुष्ट हो; और जो नहीं मिला है, उसमें संतोष की कामना में जीए। जो नहीं मिला है, उसमें संतोष खोजे; और जो मिल जाए, उसमें असंतोष खोजे। यह हमारी चित्त-दशा है।
ऐसा भी नहीं है कि जो आज हमें नहीं मिला है और लगता है कि कल मिल जाए,
तो संतोष मिलेगा; तो कल मिल जाने पर संतोष मिल जाएगा। ऐसा भी नहीं है। कल मिलते ही अचानक हम पाएंगे कि हमारा असंतोष आ गया उस पर, जो मिला; और हमारा संतोष हट गया उस पर, जो अभी नहीं मिला है।
करीब-करीब जैसे आकाश का क्षितिज है, हॅराइजन है। दिखता है थोड़ी ही दूर, आकाश जमीन से मिलता हुआ। चलें खोजने। जितना बढ़ेंगे, उतना ही वह आकाश भी आगे बढ़ता जाता है। वह कहीं पृथ्वी को छूता नहीं; सिर्फ छूता हुआ मालूम पड़ता है, प्रतीत होता है। एपियरेंस भर है स्पर्श का, पृथ्वी और आकाश का। कहीं छूता नहीं है। बढ़ते जाएं; पूरी पृथ्वी का पूरा चक्कर लगा लें, वह कहीं छूता हुआ मिलेगा नहीं। और फिर भी कहीं भी ऐसा न होगा कि आगे छूता हुआ न दिखाई पड़े। हमेशा आगे छूता हुआ दिखाई पड़ेगा। जब पहुंचेंगे उस जगह, तब तक वह आगे हट चुका होगा।
संतोष भी हमारे लिए क्षितिज-रेखा की भांति है, सदा आगे दिखाई पड़ता है-- थोड़े और आगे चलें, वहां संतोष है! जहां हैं, वहां असंतोष है। जहां हैं, वहां आकाश छूता नहीं, दूर कहीं छूता है संतोष, आकाश, क्षितिज! बढ़ें; पहुंचें वहां; पाते हैं पहुंचकर कि आकाश आगे हट गया।
आपकी वजह से आकाश आगे नहीं हटता है। आपसे आकाश इतना नहीं डरता है। छूता होता, तो छूता ही रहता। नहीं, आप बढ़ गए, इसलिए आकाश भाग नहीं गया। आकाश कहीं भी छूता ही नहीं है; सिर्फ भ्रम होता है छूने का। आपके बढ़ने से आकाश हटता नहीं है। आकाश कभी छूता ही नहीं था; सिर्फ आपको भ्रम हुआ था छूने का।
ऐसे ही चित्त सदा ही भविष्य में संतोष के भ्रम में जीता है।
कृष्ण उलटी बात कह रहे हैं। वे कहते हैं, जो पुरुष जो मिल जाए, उसमें संतुष्ट हो, तो फिर उसे कर्मबंध नहीं बांधते।

इन दोनों की प्रक्रियाओं को समझ लेना चाहिए। जैसी हमारी स्थिति है, उसमें जो मिलता है, वही असंतोष लाता है। रहस्य क्या है? कारण क्या है? मैं एक घर में मेहमान था। बहुत चिंतित थे गृहपति! रात नींद खो गई थी। मैंने उनकी पत्नी को पूछा, बात क्या है? उनकी पत्नी ने कहा, आप न ही पूछें। पूछेंगे तो आप हंसेंगे, मजाक उड़ाएंगे। मैंने कहा, फिर भी! उसने कहा, ऐसा है कि इस साल मेरे पति को पांच लाख का लाभ हो गया है; इससे बड़े चिंतित हैं। मैंने कहा, इसमें चिंतित होने की क्या बात है? तो उसने कहा, आप उनसे पूछना; वे आपको बताएंगे कि पांच लाख की हानि हो गई। मैंने कहा, तुम पहेलियां बूझती हो? तुम कहती हो, पांच लाख का लाभ हुआ। उनसे पूछूंगा, तो वे बताएंगे, पांच लाख की हानि हुई!
उसने कहा, ऐसा ही हुआ है। लाभ पांच लाख का हुआ है। लेकिन उनको पहले ख्याल था, दस लाख का होगा। इसलिए पांच लाख की हानि हो गई! वे बहुत परेशान हैं।
सच ही, रात मैंने उनसे पूछा, कुछ तकलीफ है? चिंतित दिखाई पड़ते हैं! उन्होंने कहा, तकलीफ कुछ नहीं, बहुत है। इस साल पांच लाख की हानि हो गई। मैंने कहा, लेकिन आपकी पत्नी कहती है, पांच लाख का लाभ हुआ है। उन्होंने कहा, वह कुछ भी नहीं; दस लाख बिल्कुल पक्के थे!
असंतोष का राज है। असंतोष की भी अपनी कीमिया है, केमिस्ट्री है! वह केमिस्ट्री यह है, जितना बड़ा असंतोष पाना हो, उतनी बड़ी अपेक्षा चाहिए। छोटी अपेक्षा से बड़ा असंतोष नहीं पाया जा सकता। अगर असंतोष कमाना हो, तो बड़ी अपेक्षाओं के आकाश फैलाने चाहिए। जितनी बड़ी अपेक्षा, उतना बड़ा असंतोष।
काश, इस आदमी की अपेक्षा, दस लाख की न होकर पांच लाख की होती, तो हानि बिल्कुल न होती। अगर इस आदमी की अपेक्षा दो लाख की होती, तो तीन लाख अतिरिक्त लाभ होता। अगर इस आदमी की कोई भी अपेक्षा न होती, तो पांच लाख का शुद्ध लाभ था, हानि का कोई प्रश्न न था। अगर इसकी अपेक्षा बिल्कुल न होती, तो पांच नए पैसे के लिए भी यह परमात्मा को धन्यवाद दे पाता। अपेक्षा दस लाख की थी; पांच लाख के लिए भी धन्यवाद नहीं दे पा रहा है। पांच लाख जो नहीं मिले, उनके लिए क्रोधित है।
अपेक्षा जितनी बड़ी, उतना बड़ा असंतोष। अपेक्षा जितनी छोटी, उतना कम असंतोष। अपेक्षा शून्य, असंतोष बिल्कुल नहीं। ऐसा गणित है।
कृष्ण कहते हैं, जो पुरुष जो मिल जाए, उसमें संतुष्ट है... ।
कौन-सा पुरुष संतुष्ट होगा? वही पुरुष, जो अपेक्षारहित जीता है, जिसका कोई एक्सपेक्टेशन नहीं है। जो ऐसे जीता है, जैसे जीने के लिए कोई अपेक्षा की जरूरत नहीं है। फिर जो भी मिल जाता है, वही धन्यभाग। उसके लिए ही वह प्रभु को धन्यवाद दे पाता है।
फकीर जुन्नैद एक रास्ते से गुजरता था। जोर का एक पत्थर रास्ते पर पैर
से टकराया। लहूलुहान हो गया पैर। जुन्नैद नीचे झुक गया और हाथ जोड़कर परमात्मा की तरफ धन्यवाद देने लगा। साथ में मित्र थे, उन्होंने कहा, जुन्नैद पागल तो नहीं हो गए! हमने कभी सुना नहीं कि किसी के पैर में पत्थर लगे, लहू गिरे, और वह परमात्मा को धन्यवाद दे! जुन्नैद ने कहा, फांसी भी लग सकती थी। जुन्नैद ने कहा, फांसी भी लग सकती थी। धन्यवाद देते हैं परमात्मा को कि सिर्फ पैर में पत्थर लगा, और निपटे। फांसी भी लग सकती थी।
यह जुन्नैद, जिन मित्र की मैंने कहानी कही, उनसे ठीक उलटा है। यह कहता है, फांसी भी लग सकती थी। लेकिन जुन्नैद को अगर फांसी भी लग जाए, तो भी वह धन्यवाद दे पाता; क्योंकि फांसी से बड़े दुख भी हैं।
धन्यवाद का जो भाव है, वह उसी व्यक्ति में हो सकता है, जिसकी अपेक्षा कोई भी नहीं। जब अपेक्षा कोई भी नहीं, तो जो भी मिल जाता है, जो भी, उसमें भी वरदान खोजा जा सकता है। और जब अपेक्षा बहुत होती है, तो जो भी मिल जाता है, उसमें ही अभिशाप का आविष्कार हो जाता है; उसी में अभिशाप खोज लिया जाता है। खोज हम पर निर्भर है।

जो प्राप्त हो जाए, उसमें संतुष्ट कौन होगा? जिसने और ज्यादा प्राप्त नहीं करना चाहा। सच, जिसने प्राप्त ही कुछ नहीं करना चाहा। उसे जो भी मिल जाए, वही काफी है, जरूरत से ज्यादा है।
और एक बार किसी व्यक्ति को यह रहस्य पता चल जाए, तो संतोष के आनंद की कोई सीमा नहीं है। असंतोष के दुख की कोई सीमा नहीं है; संतोष के आनंद की कोई सीमा नहीं है। असंतोष के नर्क का कोई अंत नहीं है; संतोष के स्वर्ग का भी कोई अंत नहीं है। लेकिन संतुष्ट... ।
सुकरात सुबह बैठा है अपने घर के द्वार पर। कुछ बात चलती है। कोई प्रश्न पूछ रहा है सुकरात से, वह जवाब दे रहा है। उसकी पत्नी चाय बनाकर लाई है; पीछे खड़ी है। वह क्रोध से भर गई है। सुकरात ने उस पर ध्यान नहीं दिया; वह अपनी बात में तल्लीन है। स्वभावतः, शायद पत्नियों की सबसे बड़ी आकांक्षा, पति उन पर ध्यान दे, इससे ज्यादा दूसरी नहीं है। क्रोध से भर गई। इतने क्रोध से भर गई कि उसने केतली भरी हुई गर्म पानी की सुकरात के ऊपर डाल दी। उसका आधा चेहरा जल गया।
जो प्रश्न पूछ रहा था, वह घबड़ा गया। उसने सुकरात से कहा कि यह क्या हो गया? सुकरात ने कहा, कुछ भी नहीं हुआ। आधा चेहरा बच गया है! प्रभु को धन्यवाद। पूरा चेहरा भी जल सकता था। सुकरात हंस रहा है, आधे जले चेहरे में। क्योंकि उसकी दृष्टि जले हुए चेहरे पर नहीं, उसकी दृष्टि बचे हुए चेहरे पर है।
पैर में जरा-सा काटा गड़ जाए हमें, तो ऐसा लगता है, सारी दुनिया व्यर्थ हुई। कोई परमात्मा नहीं है। सब बेकार है। अन्याय चल रहा है सारे जगत में। मेरे पैर में, और कांटा?
शरीर के हजार-हजार सुखों के लिए कभी परमात्मा को धन्यवाद न दिया; एक छोटे से कांटे के लिए शिकायत भारी है!
मैंने सुना है, एक फकीर बहुत दिनों तक एक बादशाह के साथ था। और बादशाह
का बड़ा प्रेम उस फकीर पर हो गया। इतना प्रेम हो गया कि बादशाह सोता भी रात, तो फकीर को अपने कमरे में ही सुलाता। दोनों सदा साथ होते। एक दिन शिकार पर गए थे, भटक गए मार्ग। दिनभर के भूखे-प्यासे एक वृक्ष के नीचे पहुंचे। लेकिन एक ही फल वृक्ष में लगा था। बादशाह ने अपने घोड़े पर से हाथ बढ़ाकर फल तोड़ा। लेकिन जैसी उसकी आदत थी, पहले फकीर को खिलाता था कुछ भी--प्रेम से। फल की उसने फांकें काटीं, छह टुकड़े किए, एक फकीर को दिया।
फकीर ने खाया और उसने कहा कि बहुत स्वादिष्ट, अदभुत! ऐसा फल कभी खाया नहीं। एक फांक और दे दें। दूसरी फांक भी फकीर खा गया। कहा, बहुत अदभुत! सम्राट से कहा, एक फांक और दे दें। सम्राट को थोड़ी ज्यादती तो मालूम पड़ी। फल था एक, भूखे थे दोनों। लेकिन तीसरी फांक भी दे दी। फकीर ने कहा, बहुत खूब, एक फांक और! सम्राट को जरा कठिन मालूम पड़ा, लेकिन फिर भी एक फांक और दे दी। फिर आखिर में तो एक ही फांक बची। फकीर ने कहा, बस, एक और! सम्राट ने कहा, ज्यादती कर रहे हो। मैं भी भूखा हूं! फकीर ने हाथ से फांक छीन ली। सम्राट ने कहा, रुक जाओ। फांक वापस लौटा दो। यह सीमा के बाहर हो गया। मेरा तुम पर प्रेम है, इसका क्या मतलब, तुम्हारा मुझ पर जरा भी प्रेम नहीं?
सम्राट ने हाथ से फांक वापस छीन ली; मुंह में रखी। कड़वी जहर थी। थूक दी। कहा, पागल तो नहीं हो! तुम पांच फांकें खा क्यों गए? और शिकायत क्यों न की? उस फकीर ने कहा कि जिन हाथों से बहुत मीठे फल खाने को मिले, उनकी एक छोटे-से कड़वे फल की शिकायत? और इसीलिए सब फांकें लेता गया कि कहीं पता न चल जाए, अन्यथा शिकायत पहुंच ही गई। जिन हाथों से इतने मीठे फल खाने को मिले, उन हाथ से एक छोटी-सी कड़वी फांक की शिकायत!
ऐसा व्यक्ति संतुष्ट हो सकता है। संतोष की भी अपनी केमिस्ट्री है, अपनी कीमिया है, अपना गणित है।
जो है, उसे ठीक से देखें, तो संतोष के लिए बहुत है। जो नहीं है, उसके प्रति आंखों को दौड़ाते रहें, तो जो है, वह कभी दिखाई नहीं पड़ता; और जो नहीं है, उसके सपने मन को घेर लेते हैं और असंतोष को पैदा कर जाते हैं।
सत्य संतोष के लिए काफी है। असंतोष के लिए सपने चाहिए। यथार्थ संतोष
के लिए काफी है, असंतोष के लिए कल्पना चाहिए। सारे जगत में लोग कल्पना के

कारण असंतुष्ट हैं, यथार्थ के कारण नहीं। यथार्थ पर्याप्त संतोष दे सकता है। लेकिन कल्पना? कल्पना सीमा के बाहर पीड़ा देती है।
कृष्ण कहते हैं कि जो मिल जाए, उसमें जो संतुष्ट है--जो मिल जाए, जो प्राप्त हो जाए, उसमें जो राजी है; आभार से भरा, अनुगृहीत--और द्वंद्व के पार... । दूसरी बात वे कहते हैं, द्वंद्व के पार, द्वंद्वातीत, बियांड दि डुअलिटी। दो के बाहर।
संतुष्ट हो जाना भी बहुत कठिन है, फिर भी उतना कठिन नहीं, जितना द्वंद्व के बाहर हो जाना है। द्वंद्व क्या है?
सारा जीवन ही द्वंद्व है हमारा। हम दो में ही जीते हैं। प्रेम करते हैं किसी को; लेकिन जिसे प्रेम करते हैं, उसे ही घृणा भी करते हैं। कहेंगे, कैसी बात कहता हूं मैं! लेकिन सारी मनुष्य-जाति का अनुभव यह है। और अब तो मनसशास्त्री इस अनुभव को बहुत प्रगाढ़ रूप से स्वीकार कर लिए हैं कि जिसे हम प्रेम करते हैं, उसे ही घृणा करते हैं।
द्वंद्व है हमारा मन। जिसे हम चाहते हैं, उसे ही हम नहीं भी चाहते हैं। जिससे हम आकर्षित होते हैं, उसी से हम विकर्षित भी होते हैं। जिससे हम मित्रता बनाते हैं, उससे हम शत्रुता भी पालते हैं। ये दोनों हम एक साथ करते हैं। थोड़ा किसी एकाध घटना में उतरकर देखेंगे, तो ख्याल में आ जाएगा। जिससे आप प्रेम करते हैं, उससे आप चौबीस घंटे प्रेम कर पाते हैं? नहीं
कर पाते। घंटेभर प्रेम करते हैं, तो घंटेभर घृणा करते हैं। सुबह प्रेम करते हैं, तो सांझ घृणा करते हैं। सांझ लड़ते हैं, तो सुबह फिर दोस्ती कायम करते हैं। पूरे समय घृणा और प्रेम का धूप-छांव की तरह खेल चलता है।
जिसको आदर करते हैं, उसके ही प्रति मन में अनादर भी पालते हैं। मौके
की तलाश में होते हैं, कब अनादर निकाल सकें। जिसको फूलमाला पहनाते हैं, किसी दिन उस पर पत्थर फेंकने की इच्छा भी मन में रहती है। वह इच्छा दबी हुई प्रतीक्षा करती है। फिर किसी दिन बहाना खोजकर वह इच्छा बाहर आती है। पत्थर भी फेंक लेते हैं।
हमारा मन प्रतिपल दोहरा है, डबल-बाइंड। इसलिए जो बुद्धिमान हैं, जैसे
कि चाणक्य ने--जो कि चालाकों में, अधिकतम बुद्धिमान आदमियों में एक है-- चाणक्य ने कहा है, राजाओं को सलाह दी है कि अपने मित्र को भी वह बात मत बताना, जो तुम शत्रु को नहीं बताना चाहते हो। क्यों? क्योंकि चाणक्य ने कहा, भरोसा कुछ भी नहीं है; जो आज मित्र है, वह कल शत्रु हो सकता है। पश्चिम में चाणक्य का समानांतर एक आदमी हुआ, मैक्यावेली। वह भी चालाकों में इतना ही बुद्धिमान है। उसने कहा है, ध्यान रखना, जिस बात को तुम गुप्त नहीं रख सकते, तुम्हारा मित्र भी नहीं रख सकेगा। इसलिए मित्र को भूलकर मत बताना। क्योंकि जब तुम खुद ही गुप्त नहीं रख सके और मित्र को बताना पड़ा, तो तुम इस भ्रांति में मत पड़ना कि तुम जिस बात को गुप्त नहीं रख सके, उसको तुम्हारा मित्र रख सकेगा। वह भी किसी को बता देगा। और फिर, जो आज मित्र है, वह कल शत्रु हो सकता है।
मैक्यावेली ने एक बात और कही; उसने यह कहा कि शत्रु के प्रति भी इस तरह
की बातें मत कहना, जिन्हें कि कल लौटाना मुश्किल हो जाए। क्योंकि जो आज शत्रु है, वह कल मित्र हो सकता है। फिर कठिन होगा। फिर लौटाना मुश्किल होगा।
असल में शत्रु और मित्र दो चीजें नहीं हैं, एक ही साथ घटित होती हैं।
आप किसी आदमी को बिना मित्र बनाए शत्रु बना सकते हैं? बहुत मुश्किल है। अब तक तो नहीं हो सका पृथ्वी पर यह। बिना मित्र बनाए किसी को शत्रु बनाया जा सकता है? असंभव है। शत्रु बनाने के लिए भी मित्र की सीढ़ी से गुजरना ही पड़ता है। शत्रु बनाने के लिए भी पहले मित्र ही बनाना पड़ता है। तो ऐसा भी समझ सकते हैं कि जिसको मित्र बनाया, अब उसके शत्रु बनने की संभावना घनीभूत हो गई।
जब कृष्ण कहते हैं, द्वंद्वातीत... ।
मन तो जीता है द्वंद्व में, सदा द्वंद्व में। मन तो जीता है सदा विकल्प में। सदा ही दो विकल्प खड़े रहते हैं। जो आप करते हैं, उसके खिलाफ भी आपका मन पूरे वक्त भीतर कहता रहता है। एक पैर भी आप उठाते हैं, तो मन का

दूसरा हिस्सा कहता है, मत उठाओ। मन कभी भी सौ प्रतिशत, हंड्रेड परसेंट नहीं होता। एक हिस्सा निरंतर ही विरोध करता रहता है। जिस आदमी का मन ऐसी हालत से भरा है, वह आदमी द्वंद्व में घिरा है। वह सदा ही द्वंद्व में घिरा रहेगा। यह द्वंद्व अगर बहुत तीव्र हो जाए, तो वह आदमी दो खंडों में टूट जाएगा, जिसको मनोवैज्ञानिक सीजोफ्रेनिया कहते हैं। वह आदमी दो खंडों में टूट जाएगा। वह एक ही आदमी दो आदमियों की तरह हो जाएगा।
लेकिन हम इतने ज्यादा नहीं टूटते। हमारी टूट तरल होती है, लिक्विड होती है। हम बिल्कुल नहीं टूट जाते दो खंडों में। लेकिन हमारे दो खंड जारी रहते हैं। लेकिन फिर भी हैं तो सीजोफ्रेनिक, हैं तो दोहरे।
जो आपकी प्रशंसा करता है, कल आपको एकदम हैरानी होती है कि उसने आपकी निंदा की। आप गलती में हैं। आपको मनोवैज्ञानिक सत्य का पता नहीं है। जिसने प्रशंसा की, वह बदला चुकाएगा। वह आज नहीं कल, कहीं निंदा करेगा, तब कंपनसेशन हो पाएगा। उसने एक काम कर दिया, अब उससे उलटा काम नहीं करेगा, तो संतुलन नहीं हो पाएगा। जिसने एक तरफ प्रशंसा की, वह कल कहीं न कहीं जाकर निंदा करेगा। जब प्रशंसा करे, तभी समझ लेना। निंदा की प्रतीक्षा मत करना, वह कहीं करेगा।
फ्रायड ने लिखा है अपने संस्मरणों में, अगर घने से घने मित्र भी एक-दूसरे के संबंध में यहां-वहां जो कहते हैं, वह अगर उन्हें पता चल जाए, तो इस पृथ्वी पर एक भी मित्रता टिक नहीं सकती। घने से घने, इंटीमेट से इंटीमेट, निकट से निकट मित्र भी एक-दूसरे के खिलाफ यहां-वहां जो कहते हैं, अगर वह सबको पता चल जाए, तो इस पृथ्वी पर एक भी मित्रता नहीं टिक सकती।
कारण है उसका। मन सदा ही परिपूर्ति खोजता है। उसका दूसरा हिस्सा भी है, वह मांग करता है कि मुझे भी पूरा करो।
स्कूल में शिक्षक पढ़ाता है बच्चों को। कैसे डरे हुए बैठे रहते हैं बच्चे! सिर नहीं हिलाते। श्वास लेते नहीं मालूम पड़ते। और शिक्षक ने पीठ फेरी ब्लैकबोर्ड पर लिखने को, कि देखें, उनके चेहरे बदल गए! जितना शिक्षक ने उनको डराया था सामने से, पीठ के पीछे अगर उसको पता चल जाए--अगर शिक्षक के दो आंखें खोपड़ी के पीछे भी हों--तो उसे पता चले कि ये बच्चे जो इतने सीधे बैठे थे, ये पीछे क्या-क्या कर लेते हैं! वे कंपनसेशन कर रहे हैं, कुछ और नहीं कर रहे।
वे इतना ही कर रहे हैं कि इतनी देर तक जो आदर मांगा, उसका बदला चुका देते हैं। फिर वे हलके हो जाते हैं। न चुका पाएं, तो बहुत कठिनाई है। इसलिए बहुत होशियार लोगों ने ही तख्ता उलटा रखा हुआ है। शिक्षक को बीच-बीच में घूमना पड़े, नहीं तो ये बच्चे मुश्किल में पड़ जाएंगे। अगर पांच-छह घंटे इनको इकट्ठा ही दबाव करना पड़े एक हिस्से का, तो ज्यादा खतरनाक है। इनका बीच-बीच में निकास होता रहे, कैथार्सिस होती रहे। शिक्षक जब भी मुड़ता है तख्ते पर लिखने को, तब वे मुंह भी बना लेते हैं, टोपियां भी उछाल देते हैं, एक-दूसरे की तरफ इशारा भी कर देते हैं। तब तक हलके हो जाते हैं। शिक्षक लौटा, तब तक वे फिर राजी हो जाते हैं आदर देने को।
ऐसी हम सबकी चित्त की दशा है। डबल-बाइंड है।
यह जो द्वंद्व है, यह बहुत ऊपर भी है, बहुत गहरे भी है। सतह पर भी है, गहराइयों में भी है। गहराइयों में भी सदा द्वैत चलता रहता है। दिन में आदमी ने उपवास किया है, रात भोजन के सपने देखेगा। कंपनसेशन है। दिन में आदमी भला है, ईमानदार है, रात सपने में चोरी करेगा। वह चोर वाला हिस्सा भी भीतर है। ईमानदार के साथ बेईमान भी भीतर है। वह बेईमान क्या करेगा? अगर आपने दिन भर उसे बेईमानी न करने दी, तो रात बेईमानी करके अपनी तृप्ति कर लेगा।
मैंने सुना है, एकनाथ तीर्थयात्रा को गए। तो गांव के लोगों ने कहा कि
हम भी चलें; बहुत लोग साथ हो लिए। गांव में एक चोर भी था। उस चोर ने भी एकनाथ को कहा, मैं भी चलूं? एकनाथ ने कहा, भाई तू जाहिर आदमी है। फिर बहुत यात्री साथ होंगे, कोई गड़बड़ हो, परेशानी हो! तो तू एक कसम खा ले कि चोरी नहीं करेगा, तो हम साथ ले लें। तो उस आदमी ने कहा, कसम खा लेता हूं कि चोरी नहीं करूंगा। कसम खा ली, तो एकनाथ ने साथ ले लिया।

एक-दो रातें तो ठीक बीतीं, लेकिन तीसरी-चौथी रात से मुश्किल शुरू हो गई। पर मुश्किल बड़ी अजीब थी। अजीब यह थी, चीज किसी की चोरी नहीं जाती थी, लेकिन एक के बिस्तर की चीज दूसरे के बिस्तर में चली जाती थी। एक की पेटी की चीज दूसरे की पेटी में चली जाती थी। मिल जातीं सब चीजें सुबह, लेकिन बड़ी हैरानी होती कि रात कौन मेहनत लेता है? और किसलिए मेहनत लेता है?
एकनाथ को ख्याल आया कि वह चोर तो कुछ नहीं कर रहा है! रात जागते रहे। देखा, कोई बारह बजे रात वह उठा। इस बिस्तर की चीज दूसरे बिस्तर में कर दी, उस पेटी की इसमें कर दी। किसी का तकिया खींचकर किसी के नीचे रख आया। एकनाथ ने कहा, तू यह क्या करता है? उस चोर ने कहा, मैंने कसम चोरी न करने की खाई थी, लेकिन कम से कम अदल-बदल तो करने दें! क्योंकि दिनभर किसी तरह अपने को रोक लेता हूं, लेकिन रात बहुत मुश्किल हो जाती है। फिर उस चोर ने कहा, फिर लौटकर मुझे अपना धंधा भी तो करना है! अगर अभ्यास बिल्कुल टूट गया, तो आप ही कहिए, क्या हालत होगी? ऐसे अभ्यास भी रहेगा। फिर मैं किसी का नुकसान भी नहीं कर रहा हूं। सुबह सब चीजें मिल जाती हैं। अक्सर तो मैं ही बता देता हूं कि जरा उसके बिस्तर में देख लो। कहीं हो!
हम भी अपनी रात में यही कर रहे हैं। दिन में जो-जो चूक गया, रात कंपनसेशन कर रहे हैं। अगर भले आदमियों के सपने देखे जाएं, तो बड़ी हैरानी होती है। अगर बुरे आदमियों के सपने देखे जाएं, तो भी बड़ी हैरानी होती है। भले आदमियों के सपने अनिवार्यतया बुरे आदमी जैसे होते हैं। और बुरे आदमी के सपने अनिवार्यतया भले आदमी जैसे होते हैं। डबल-बाइंड है माइंड। अच्छे आदमी बुरे सपने देखते हैं; बुरे आदमी अच्छे सपने देखते हैं। चोर और बेईमान सपने में साधु-संन्यासी होने की बातें सोचते हैं। साधु और संन्यासी सपने में चोर और बेईमान हो जाते हैं! वह दूसरा हिस्सा है मन का। वह भीतर प्रतीक्षा करता है। वह प्रतीक्षा करता है कि कब? अगर कहीं मौका नहीं मिला, तो सपने में मौका खोज लेता है।
यह जो चित्त है, यह अनिवार्यतया द्वंद्वात्मक है, डायलेक्टिकल है। मन
के काम करने का ढंग द्वंद्वात्मक है। इसलिए अगर कोई विश्वासी आदमी है, आस्थावान, श्रद्धालु--तो बहुत हैरानी होगी--अगर विश्वासी आदमी है, तो उसके भीतर गहरे में संदेह छिपा रहेगा। अगर बहुत संदेह करने वाला आदमी है, तो उसके भीतर गहरे में विश्वास छिपा रहेगा।
इसलिए अक्सर ऐसा होता है कि जो लोग जिंदगीभर आस्तिक होते हैं, मरने के करीब-करीब नास्तिक होने लगते हैं। क्यों? क्योंकि जिंदगीभर तो उन्होंने ऊपर विश्वास को सम्हाला; वह संदेह का हिस्सा भीतर दबा रहा। फिर वह धीरे- धीरे उभरना शुरू होता है। वह कहता है, जिंदगीभर तो विश्वास कर लिया, क्या मिल गया? वह भीतर का संदेह ऊपर आना शुरू होता है। अक्सर ऐसा होता है कि जिंदगीभर के अविश्वासी मरते समय विश्वासी हो जाते हैं। भीतर का विश्वास का पहलू ऊपर उभर आता है।
मन द्वंद्वात्मक है, दोहरा है। मन का काम ठीक वैसा ही है, जैसे इस जगत में सारी चीजें द्वंद्वात्मक हैं, पोलर हैं। यहां सारी चीजें द्वंद्व से जीती हैं। अगर हम प्रकाश को मिटा दें, तो अंधेरा मिट जाएगा। आप कहेंगे, कैसी बात कह रहा हूं? प्रकाश को बुझा देते हैं, तो अंधेरा तो और बढ़ता है; मिटता नहीं। लेकिन प्रकाश का बुझाना, प्रकाश का मिटाना नहीं है। अगर पृथ्वी पर प्रकाश बिल्कुल न रह जाए, तो अंधेरा बिल्कुल नहीं रहेगा। नहीं रहेगा इसलिए भी, कि अंधेरे का पता ही तब तक चलता है, जब तक हमें प्रकाश का पता है। अन्यथा पता भी नहीं चल सकता। रहे तो भी पता नहीं चल सकता।
अगर हम जन्म को बंद कर दें, तो मृत्यु मिट जाएगी; क्योंकि जन्म ही नहीं होगा, तो मरने को कोई खोजना मुश्किल हो जाएगा। अगर हम मृत्यु को रोक दें, तो जन्म को रोकना पड़ेगा।
यही तो दिक्कत हुई है सारी दुनिया में। पिछले दो सौ वर्षों के चिकित्सा के विकास ने मृत्यु की दर कम कर दी। इसलिए अब संतति निरोध और बर्थ कंट्रोल के लिए हमें कोशिश करनी पड़ती है। उधर मृत्यु की दर कम हुई, इधर जन्म की दर कम करनी पड़ेगी।

जिंदगी विरोधों के बीच संतुलन है। और जिंदगी विरोध से चलती है। सारी जिंदगी द्वंद्व है। और सारी जिंदगी के आधार में मन है, माइंड है।
इसलिए जो लोग, जैसे मार्क्स, एंजिल्स और लेनिन और माओ, जो लोग मन के ऊपर आत्मा में भरोसा नहीं करते, वे लोग डायलेक्टिकल मैटीरियलिज्म, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की बात करते हैं। वे कहते हैं, पदार्थ द्वंद्व से चलता है। इसलिए वे वर्ग-संघर्ष की बात करते हैं, कि समाज भी द्वंद्व से चलेगा। गरीब को अमीर के खिलाफ लड़ाना पड़ेगा, तब समाज चलेगा। सब समाज द्वंद्व है। अगर मन ही सब कुछ है, तो जिंदगी में संघर्ष के अलावा और कुछ भी नहीं है।
लेकिन कृष्ण कहते हैं, द्वंद्वातीत, द्वंद्व के बाहर, द्वंद्व के पार, बियांड डायलेक्टिक्स, दो के बाहर होता है अर्जुन जो, वही केवल कर्म के बंधन से मुक्त होता है।
लेकिन दो के बाहर कौन हो सकता है? मन तो नहीं हो सकता। मन तो जब भी रहेगा, दो के भीतर ही रहेगा। दो के बाहर, मन को भी जो जानता है, वही हो सकता है; मन को भी जो पहचानता है, वही हो सकता है। घृणा द्वंद्व के बाहर नहीं हो सकती। प्रेम द्वंद्व के बाहर नहीं हो सकता। लेकिन जो प्रेम और घृणा को जानने वाला ज्ञाता है, नोअर है, वह बाहर हो सकता है।
मैं बैठा हूं। सुबह हो गई, सूरज निकला। देखा कि रोशनी भर गई चारों तरफ। फिर सांझ आई, सूरज डूबा। देखा कि अंधेरा छा गया चारों तरफ। फिर सुबह हुई, फिर सूरज निकला, फिर प्रकाश फैल गया। मैंने देखा चारों तरफ अंधेरे को आते, मैंने देखा चारों तरफ प्रकाश को आते। मैंने देखा जाते प्रकाश को; मैंने देखा जाते अंधेरे को। लेकिन मैं--जिसने प्रकाश को भी देखा और अंधेरे को भी देखा--न तो प्रकाश हूं और न अंधेरा हूं। मैं दोनों से अलग तीसरा हूं, दि थर्ड।
यह जो तीसरा है, अगर इसका मुझे स्मरण आ जाए, तो मैं दो के बाहर हो जाऊं।
तीसरे की याद आ जाए, तो दो के बाहर हुआ जा सकता है। यदि तीसरे का स्मरण आ जाए, तो दो के बाहर हुआ जा सकता है।
मन के द्वंद्व के बाहर वही हो सकेगा, जिसे तीसरे का स्मरण आ जाए।
जब सुख आए, तो भीतर मैं जानूं कि यह सुख आया, लेकिन मैं सुख नहीं हूं।
क्योंकि अगर मैं सुख हूं, तो दुख फिर कभी नहीं आ सकता। लेकिन थोड़ी देर में दुख आ जाता है। जब दुख आए, तो मैं जानूं कि यह दुख आया, लेकिन मैं दुख नहीं हूं! क्योंकि अगर मैं दुख हूं, तो फिर सुख कभी नहीं आ सकता। लेकिन अभी सुख था और फिर सुख आ जाएगा।
सुख आता है, दुख आता है; घृणा आती, प्रेम आता; मित्रता आती, शत्रुता आती; हार होती, जीत होती; सम्मान मिलता, अपमान मिलता--सब द्वंद्व हैं। इनके पार अगर मैं तीसरे को पकड़कर स्मरण से भर जाऊं कि मैं इन दोनों से भिन्न, दोनों से अन्य, दोनों से अलग जानने वाला हूं, देखने वाला हूं, विटनेस हूं, साक्षी हूं, तो मैं द्वंद्व के पार हो जाता हूं।
कृष्ण कहते हैं, जो द्वंद्व के पार हो जाता है अर्जुन, वह समस्त कर्मों के बंधन से छूट जाता है।
असल में बंधन मात्र द्वंद्व के हैं। निर्द्वंद्व स्वतंत्र है। द्वंद्व में घिरा, बंधन में है। घृणा के भी बंधन हैं, प्रेम के भी बंधन हैं। सम्मान के भी बंधन हैं, अपमान के भी बंधन हैं। और प्रशंसा के भी बंधन हैं, और निंदा के भी। मित्र भी बांध लेते हैं, और शत्रु भी। अपने भी बांधते हैं, और पराए भी। सब बांध लेता है। हार भी बांध लेती है, और जीत भी।
लेकिन जो दोनों को जानता है और दोनों के पार अपने को देख पाता है, वह बंधन के पार हो जाता है। उसे फिर कोई भी नहीं बांध पाता। बांध भी लो, तो भी नहीं बांध पाते। बंधे हुए भी वह बंधन के बाहर ही होता है, क्योंकि वह जानता है, मैं अलग, मैं भिन्न, मैं पृथक।
यह जो पृथकता का बोध है, यह जो साक्षी का भाव है, वह द्वंद्वातीत ले जाता है।

जो मिल जाए, जो प्राप्त हो, उसमें तृप्त, चित्त के द्वंद्वों के पार जो व्यक्ति है, वह कर्म करते हुए भी कर्म के बंधन में नहीं पड़ता है--ऐसा कृष्ण, अत्यंत ही वैज्ञानिक बात, अर्जुन से कहते हैं।

गतसड्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। 23।।
क्योंकि आसक्ति से रहित ज्ञान में स्थित हुए चित्त वाले, यज्ञ के लिए आचरण करते हुए मुक्त पुरुष के संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

आसक्तिरहित, ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए पुरुष के समस्त कर्मबंधन क्षीण हो जाते हैं; सब बंधन, सब परतंत्रताएं गिर जाती हैं। आसक्तिरहित, अनअटैच्ड, अनआइडेंटिफाइड, तादात्म्य-मुक्त! इस सूत्र में आसक्तिरहित का क्या अर्थ है? थोड़ा आसक्ति में उतरें, तो ख्याल में आ जाए!
सुना है मैंने, एक घर में आग लग गई है। स्वभावतः, गृहपति छाती पीटता है
और रो रहा है। भीड़ लग गई है। आग बुझाई जा रही है, बुझती नहीं। आंखें आंसुओं से भरी हैं। वह आदमी होश खो दिया है। तभी पास-पड़ोस के लोगों में से कोई भागा हुआ आया और उसने कहा, रोओ मत। घबड़ाओ मत। जल जाने दो। बेफिक्र रहो। क्योंकि तुम्हारे लड़के ने, मुझे पक्का पता है, कल ही यह मकान बेच दिया। सौदा हो चुका है।
आंख से आंसू ऐसे तिरोहित हो गए, जैसे थे ही नहीं। रोना खो गया। संयत हो गया वह आदमी। जैसे और सब लोग खड़े थे, ऐसे वह भी खड़ा हो गया। उसने कहा, मुझे कुछ पता ही नहीं था। उसके ओंठों पर मुस्कुराहट आ गई। मकान अब भी जल रहा है, वैसा ही, थोड़ा ज्यादा ही। लपटें और बढ़ गई हैं। लेकिन इसके भीतर की लपटें एकदम खो गईं! वहां अब भी आग है, लेकिन यहां भीतर हृदय में कोई आग न रही, कोई जलन न रही।
और तभी उसका बेटा दौड़ा हुआ आया और उसने कहा कि क्या खड़े देखते हैं आप? क्योंकि उस आदमी से बात तो हुई थी, लेकिन उसने आदमी भेजकर खबर भेज दी कि जले हुए मकान को मैं खरीदने वाला नहीं हूं। बयाना नहीं हो पाया था। सौदा टूट गया है।
आंसू फिर वापस आ गए हैं! आदमी फिर छाती पीटकर चिल्लाने लगा। मकान अब
भी जल रहा है! वैसा ही जल रहा है। भीतर फिर आग आ गई।
इस बीच क्या फर्क पड़ा? मकान को कुछ पता भी नहीं चला होगा बेचारे को, कि
इस बीच बड़ा नाटक हो गया है। लेकिन हुआ क्या?
बीच में थोड़ी देर के लिए अनअटैच्ड हो गया वह आदमी। थोड़ी देर के लिए आसक्तिरहित हो गया। जो अपना नहीं है, बात समाप्त हो गई। अपना है, तो बात समाप्त नहीं होती। मेरा था मकान, तो आग भीतर तक पहुंचती थी। मेरा नहीं है, तो आग अब भीतर नहीं पहुंचती। आग अब भी जल रही है। तो मेरे से ही आग भीतर तक पहुंचती थी, मेरे के मार्ग से। मेरे को ही हिलाकर आग भीतर आती थी। मेरे के द्वार से ही आग भीतर प्रवेश करती थी। बीच में पता चला, मेरा नहीं है; द्वार बंद हो गया। मकान जलता रहा; भीतर लपट पहुंचनी बंद हो गई। थोड़ी देर को, इस नाटकीय घटना में, आसक्ति टूट गई। मेरा न रहा।
काश, वह आदमी बुद्धिमान होता! काश, इस घटना को देख पाता! तो फिर जिंदगीभर के लिए लपटों के बाहर हो सकता था। लेकिन वह नहीं होगा। क्योंकि वह फिर रो रहा है। वह वहीं फिर उन्हीं लपटों में घिर गया; वही दरवाजा उसने फिर खोल दिया।
आसक्तिरहित का अर्थ है, इस जगत में मेरा कुछ भी नहीं है। मेरे का भाव, मेरे का भाव ही मेरी आसक्ति है। ममत्व ही आसक्ति है।
लेकिन मेरे के बड़े विस्तार हैं। मेरा बेटा भी मेरी आसक्ति है। मेरा मकान भी मेरी आसक्ति है। मेरा धर्म भी मेरी आसक्ति है। मेरा शास्त्र भी मेरी आसक्ति है। मेरा परमात्मा तक मेरी आसक्ति है। जहां-जहां मेरा जुड़ेगा, वहां-वहां आसक्ति जुड़ जाएगी। जहां-जहां से मेरा विदा हो जाएगा, वहां-वहां से आसक्ति विदा हो जाएगी।

लेकिन मेरा कब विदा होगा? जब तक मैं है, तब तक मेरा विदा नहीं होगा। एक जगह से हटेगा, दूसरी जगह लग जाएगा।
मैंने कहा कि इस ड्रैमेटिक घटना में, इस नाटकीय घटना में थोड़ी देर के लिए वह आदमी आसक्तिरहित हो गया, तो आप गलत मत समझ लेना। थोड़ी देर के लिए वह आदमी इस मकान के प्रति आसक्तिरहित हो गया। लेकिन उसकी आसक्ति दूसरी तरफ चली गई, उस धन में, जो इस मकान से मिलने वाला है। मकान बिक चुका; अपना नहीं रहा। बिकने से जो मिल गया धन, वह अपना हो गया। मेरा, हटा मकान से, जुड़ गया कहीं और।
इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि मेरा कहीं भी जुड़ जाए। कहीं भी ज.ुड जाए, उतना ही काम शुरू हो जाता है। घर छोड़कर कोई चला जाए, तो फिर मेरा आश्रम हो जाता है। मेरा मंदिर, मेरी मस्जिद!
आश्चर्यजनक है आदमी! मेरे के बिना मानता ही नहीं है। मेरे को लेकर ही चलता है साथ। मंदिर भी जाए, तो मेरा बना लेता है। परमात्मा का कोई मंदिर नहीं है पृथ्वी पर। कोई इसका मेरा मंदिर है, कोई उसका मेरा मंदिर है। इसलिए तो फिर दो मेरों में कभी-कभी टक्कर हो जाती है। तो मंदिरों-मस्जिदों में आग लग जाती है; खून-खराबा हो जाता है।
अभी तक हम पृथ्वी को ऐसा नहीं बना पाए, जहां कि हम वह मंदिर बना सकें,
जो कि मेरा न हो, तेरा हो--उसका हो, परमात्मा का हो। कोई मंदिर नहीं बना पाए। सब आशाएं की थीं मंदिर बनाने की इसी तरह कि परमात्मा का बन जाए, लेकिन सब मंदिर आखिर में किसी के मेरे मंदिर सिद्ध होते हैं।
यह जो मेरा है, यह बदल सकता है। मिटता तब तक नहीं, जब तक मैं भीतर केंद्र पर है।
ऐसा समझें कि एक दीया जल रहा है। और दीए की रोशनी चारों तरफ दीवाल पर
पड़ रही है। वह जो दीवाल पर रोशनी पड़ रही है, वह मेरा है। और वह जो दीए की ज्योति जल रही है, वह मैं है। जब तक मैं की ज्योति जलती रहेगी, तब तक मेरे की रोशनी कहीं न कहीं पड़ती रहेगी। दीवाल से हटाइएगा, तो कहीं और पड़ेगी; कहीं और से हटाइएगा, तो कहीं और पड़ेगी। जब तक कि ज्योति न बुझ जाए, मैं की फ्लेम, वह जो मैं का, अहंकार का बीच में जलता हुआ दीया है, वह न बुझ जाए, तब तक मेरा बनता ही रहेगा।
इस दीए को उठाओ मकान से और मंदिर में रख दो। कोई फर्क नहीं पड़ता, मंदिर मेरा हो जाएगा। मंदिर की दीवालों पर यह रोशनी फैल जाएगी। इस दीए को उठाओ और जंगल के झाड़ के नीचे रख दो; जंगल के झाड़ों पर इसकी रोशनी फैल जाएगी। वे मेरे हो जाएंगे। इस दीए को जहां ले जाओ, वहीं मेरा पहुंच जाएगा। यह दीए की जो ज्योति है मैं की, यह मेरे का स्रोत है, उसका मूल उदगम है।
आसक्तिरहित केवल वही हो सकता है, जो अहंकाररहित है।
आसक्ति अहंकार के जुड़ने का परिणाम है। आसक्ति अहंकार का विकीरण है, रेडिएशन है। जैसे दीए से किरणें दौड़ती हैं, ऐसा मैं से मेरा दौड़ता है। और जहां भी पड़ जाता है, वहीं पकड़ जाता है।
और भी एक मजे की बात है कि जिसे हम मेरा समझ लेते हैं, वह हमारे मैं से आइडेंटिफाइड हो जाता है; उसका तादात्म्य हो जाता है।
समझें, एक व्यक्ति की पत्नी चल बसती है। जब पत्नी मरती है, वह छाती पीटता है, रोता है। तो आप इतना ही मत सोचना कि पत्नी मर गई है, इसलिए रोता है। इसलिए तो रोता ही है, बहुत गहरे में उसके मैं का भी एक खंड मर गया। यह मेरी पत्नी सिर्फ मेरी पत्नी ही न थी; मेरे मैं का भी एक हिस्सा थी। मेरे भीतर के मैं का एक खंड टूट गया, बिखर गया। अब मैं अधूरा हूं कुछ। अब मैं आधा-आधा हूं। इसलिए पत्नी को अगर अर्द्धांगिनी या पति को अगर अर्द्धांग कहने का ख्याल रहा है, तो गहरा है।
जब भी मेरा कुछ मिटता है, टूटता है, तभी मैं भी कुछ टूटता और बिखर जाता हूं। थोड़ा एक क्षण को सोचें, आपके पास जो-जो चीज ऐसी है, जिसको आप मेरा कहते हैं, अगर वह छीन ली जाए, तो आपके पास कितना मैं बचेगा? अगर सब छीन ली जाए, तो आपके मैं की ज्योति बहुत स्टार्व्ड, भूखी हो जाएगी, जैसे दीए का सब तेल निकाल लिया। ज्योति रह गई बुझी-बुझी। जलती भी है, तो ऐसा लगता है कि अब गई, अब गई! तेल तो सब निकल गया। जब भी हमारा कुछ मेरा टूटता है, तो भीतर मैं भी

टूटता है। क्योंकि वह मेरा सिर्फ रोशनी ही नहीं है, वह मेरा तेल भी बनता है।
इसलिए आदमी मेरे को बढ़ाता रहता है, ताकि मैं को मजबूत कर ले। जितना बड़ा मकान हो, उतना बड़ा मैं हो जाता है। जितना बड़ा राज्य हो, उतना बड़ा मैं हो जाता है। जितना बड़ा धन हो, उतना बड़ा मैं हो जाता है। जब धन चला जाता है, तो भीतर मैं भी सिकुड़ जाता है। तेल खो गया; बाती बुझने लगी। बाती कष्ट में पड़ जाती है। कभी-कभी तो इतने कष्ट में पड़ जाती है कि आदमी जी नहीं सकता, आत्महत्या कर लेता है। तेल बिल्कुल नहीं बचता; मरने के सिवाय उपाय नहीं बचता। मर ही जाता है। मेरा गया कि मैं भी मरने की तैयारी जुटा लेता है।
यह जो कृष्ण का कहना है, आसक्तिरहित कर्म करता हुआ... ।
तब जब कोई आसक्तिरहित कर्म करता है, तो उसका कर्म कैसा है? उसका कर्म कहीं भी मेरे को निर्माण नहीं करता। उसका जीवन कहीं भी किसी से तादात्म्य स्थापित नहीं करता। वह किसी को नहीं कहता, मेरा। कहीं भी गहरे में उसके भाव मेरे का उठता नहीं। जीता है, मेरे से रहित होकर जीता है। तब जीवन यज्ञ हो जाता है। तब ऐसा कर्म आसक्तिरहित, जीवन को यज्ञ बना देता है। तब पूरा जीवन एक पवित्र हवन हो जाता है।
ऐसा पुरुष, अर्जुन से कृष्ण कहते हैं, फिर सारे बंधन उसके क्षीण हो जाते हैं।
फिर कोई बंधन का उपाय नहीं रह जाता। क्योंकि बंधन पैदा ही होते हैं मेरे से। बंधन पैदा ही होते हैं मैं से। मैं से ही जन्मते हैं अंकुर और बनते हैं जंजीरें। मैं के ही आधार पर ढालते हैं हम अपने कारागृह। मैं से ही हम सजा लेते हैं अपने कारागृहों की दीवालों को। लेकिन इससे फर्क नहीं पड़ता। अगर हमने कारागृह की जंजीरों को सोने की भी बना लिया, और अगर हमने कारागृह की दीवालों को सुंदर चित्रों से भी सजा लिया, तो भी कारागृह कारागृह है और हम कैदी हैं।
हम सब अपनी कैद को अपने साथ लेकर चलते हैं। वह मेरे की कैद हमारे साथ चलती रहती है। इसलिए अगर आपको अकेला जंगल में छोड़ दिया जाए, तो आप थोड़े इम्पावरिश्ड हो जाते हैं, दरिद्र हो जाते हैं, दीन हो जाते हैं।
मैंने सुना है, एक सम्राट ने अपने बेटे को घर से निकाल दिया। किसी बात
पर नाराज हुआ और घर से निकालने की आज्ञा दे दी। फिर बारह वर्ष बाद; बूढ़ा बाप, एक ही था बेटा; फिर याद लौटने लगी। फिर मन के दूसरे हिस्से ने बहुत बार कहा होगा, बहुत बुरा किया। इतना क्या बड़ा अपराध था? इतनी भी क्या बात थी? माफ किया जा सकता था। फिर दूसरा हिस्सा मन का लौट आया। वजीरों को भेजा खोजने, कि खोज लाओ।
बारह साल, वह राजा का लड़का, कुछ जानता तो नहीं था। राजा का लड़का था, जानने का कोई सवाल भी न था। न ठीक से कभी पढ़ा-लिखा था, न कभी कुछ सीखा था। बस, थोड़ा नाच-गाने का जरूर उसे शौक था। तो गांवों में भीख मांगने लगा नाच-गाकर। और कुछ कर नहीं सकता था।
बारह साल बाद, भरी दोपहर में, सूरज जल रहा है, तेज धूप बरसती है आग जैसी, वह नंगे पैर एक साधारण-सी होटल के सामने अपने टीन के कटोरे को बजाकर गा रहा है और लोगों से पैसे मांग रहा है। पैसे मांग रहा है कि पैरों में फफोले पड़ गए हैं। जूते की सब नीचे की तली टूट गई है, उखड़ गई है। मुझे कुछ पैसे दे दो, तो इस गरमी में... । दस-पांच पैसे उसके कटोरे में पड़े हैं। कपड़े वही पुराने हैं, जो बारह साल पहले पहने हुए घर से निकला था। पहचानना बहुत मुश्किल है।
लेकिन एक वजीर का रथ वहां से गुजरा। रोका उसने रथ को। चेहरा पहचाना मालूम पड़ा। कपड़े पुराने थे, लेकिन शाही थे। फट गए थे, चीथड़े हो गए थे, लेकिन कहीं-कहीं से जरी भी दिखाई पड़ती थी। उतरा, पास जाकर देखा, चेहरा तो वही था। वजीर पैरों पर गिर पड़ा। कहा, क्षमा करें। पिता ने माफी मांगी है। आपको वापस बुलाया है।
एक क्षण, और वह राजकुमार जैसे मेटामार्फोसिस से गुजर गया। सब ट्रांसफार्मेशन हो गया। सब रूपांतरण हो गया। हाथ से उसने फेंक दी वह कटोरी, जिसमें पैसे थे। पैसे सड़क पर बिखर गए। उसकी आंखों की रोशनी बदल गई।

उसके हाथ-पैर का ढंग बदल गया। उसकी रीढ़ सीधी हो गई। उसने वजीर से कहा कि जाओ, पहले स्नान का इंतजाम करो। अच्छे वस्त्र लाओ। जूते खरीदो। सारा इंतजाम करो।
वह रथ पर जाकर बैठ गया। चारों तरफ भीड़ लग गई। जो उसे एक पैसा देने में
भी इधर-उधर मुंह कर रहे थे, वे सब आस-पास खड़े हो गए और कहने लगे कि धन्यभाग हमारे कि आपके दर्शन हुए। लेकिन अब वह देख भी नहीं रहा है। अब वह आदमी वह नहीं है, जो था एक क्षण पहले। सब बदल गया! क्या हो गया?
मेरा वापस लौट आया--राज्य, साम्राज्य, सम्राट! अब उसकी आंखें जमीन की तरफ नहीं देखती हैं। अब जिनके सामने वह हाथ जोड़कर खड़ा था और जो उसकी तरफ देख नहीं रहे थे, वे उससे कह रहे हैं, महाराज! कोई उसके पैर दबा रहा है। लेकिन वह बैठा है। उसकी आंखें आकाश की तरफ देख रही हैं। अब ये कीड़े-मकोड़े हैं। अब ये आदमी नहीं हैं, आस-पास जो खड़े हैं। थोड़ी देर पहले इनके सामने वह कीड़ा-मकोड़ा था; आदमी नहीं था। अगर इन्होंने एकाध पैसा उसके कटोरे में डाला था, तो सिर्फ इसलिए कि हटो भी, जाओ भी। कोई दया करके नहीं, सिर्फ परेशानी हटाने को। क्या, हो क्या गया?
अभी मैं बिल्कुल बुझा-बुझा था! अब मैं बिल्कुल सजग होकर, अब पूरी शक्ति से जल रहा है। मेरे की दुनिया वापस लौट आई। रथ, राज्य, साम्राज्य--सब वापस आ गया। अब दीए को तेल मिल गया। अब लपट जोर से जल रही है। अब मैं कोई साधारण ज्योति न रही; मशाल हो गई।
कृष्ण कहते हैं, आसक्तिरहित होकर पुरुष जब बर्तता है कर्मों में, तो उसका जीवन यज्ञ हो जाता है--पवित्र। उससे, मैं का जो पागलपन है, वह विदा हो जाता है। मेरे का विस्तार गिर जाता है। आसक्ति का जाल टूट जाता है। तादात्म्य का भाव खो जाता है। फिर वह व्यक्ति जैसा भी जीए, वह व्यक्ति जैसा भी चले, फिर वह व्यक्ति जो भी करे, उस करने, उस जीने, उस होने से कोई बंधन निर्मित नहीं होते हैं। क्यों?
क्योंकि मैं की टकसाल के अतिरिक्त मनुष्य के बंधन निर्माण का कहीं कोई कारखाना नहीं है। क्योंकि ईगो के, अहंकार के अतिरिक्त जंजीरों को ढालने के लिए कोई और फौलाद नहीं है। क्योंकि मैं के अतिरिक्त मनुष्य को अंधा करने के लिए, गड्ढों में गिराने के लिए और कोई जहर नहीं है। इसलिए आसक्तिरहित!
लेकिन आसक्तिरहित वही होगा, जिसका मेरा खो जाए। मेरा उसका खोएगा, जिसका मैं खो जाए।
शून्य की तरह ऐसा पुरुष जीता है। शून्य की तरह जीना यज्ञरूपी जीवन को उपलब्ध कर लेना है। फिर कोई बंधन निर्मित नहीं होते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। 24।।
अर्पण अर्थात स्रुवादिक भी ब्रह्म है, और हवि अर्थात हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है, और ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा जो हवन किया गया है, वह भी ब्रह्म ही है, इसलिए ब्रह्मरूप कर्म में समाधिस्थ हुए उस पुरुष द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है।

सब, सर्व, जो भी है--कर्म, कर्ता, किया गया; बोला गया, सुना गया; देखा गया, दिखाया गया--इस जगत में जो भी है, इस अस्तित्व में जो भी है, कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं, वह सभी ब्रह्म है। लेकिन ऐसा कब दिखाई पड़ता है?
जब तक मैं दिखाई पड़ता है, तब तक ऐसा दिखाई नहीं पड़ता कि सभी ब्रह्म है। ऐसा तभी दिखाई पड़ता है, जब मैं दिखाई नहीं पड़ता; तभी दिखाई पड़ता है कि सब ब्रह्म है।
दो ही तरह के अनुभव हैं। जिनका अनुभव मैं का अनुभव है, उन्हें कृष्ण
का यह वचन सरासर व्यर्थ मालूम पड़ेगा। है भी फिर। फिर है भी।
जिनका एक ही अनुभव है, मैं का, और जिनका जगत मैं के इर्द-गिर्द बना हुआ
एक परकोटा है; जिन्होंने सदा ही मैं को केंद्र पर रखकर जीवन को देखा है--

ऐसा हम सभी ने देखा है--जो ईगोसेंट्रिक हैं, जो अहं-केंद्रित होकर जीए और अनुभव किए हैं, उनके लिए कृष्ण का यह वचन सरासर व्यर्थ मालूम पड़ेगा।
क्योंकि कहां है ब्रह्म? कहीं कोई ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ता! दिखाई भी नहीं पड़ेगा। ऐसा व्यक्ति ब्रह्म को देखने के लिए अंधा है। और जिस चीज के प्रति हम अंधे हैं, उस चीज को हम वापस आंख पाए बिना देख नहीं सकते।
अहंकार अंधापन है ब्रह्म को देखने में।
ऐसा कब दिखाई पड़ेगा, सभी कुछ--यज्ञ भी ब्रह्म, हवन की विधि भी ब्रह्म, हवन में जलती अग्नि भी ब्रह्म, हवन में चढ़ाई गई आहुति भी ब्रह्म, हवन में चढ़ाने वाला भी ब्रह्म, हवन में मंत्र उदघोष करने वाला भी ब्रह्म--ऐसा कब दिखाई पड़ेगा कि सब ब्रह्म है?
यह तब दिखाई पड़ेगा, जब एक अंधापन मैं का टूट जाता है। उसके पहले यह नहीं दिखाई पड़ेगा। उसके पहले तो यही दिखाई पड़ेगा कि मैं ही हूं; और बाकी शेष सब मेरा साधन है। मैं ही हूं सब कुछ। चांद-तारे मेरे लिए घूमते हैं। अस्तित्व मेरे इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। मैं ही हूं सब कुछ, धुरी सारे अस्तित्व की। और सब मेरा साधन है।
जब तक ऐसा दिखाई पड़ता है, जब तक ऐसा ईगोसेंट्रिक विजन है, जब तक ऐसी दृष्टि है अहं-केंद्रित, तब तक यह ब्रह्म की बात नितांत व्यर्थ मालूम पड़ेगी। यह सिर्फ शब्दों का जाल मालूम पड़ेगी। सभी ब्रह्म? नहीं; ऐसा नहीं मालूम पड़ सकता है। यह कब मालूम पड़ेगा?
पहले सूत्र को ध्यान में रखें, तो यह दूसरा सूत्र खुल सकेगा। पहले सूत्र को ध्यान में रखें, आसक्तिरहित हुआ जो व्यक्ति है, उसे बहुत शीघ्र दिखाई पड़ने लगेगा। उसके डोर्स आफ परसेप्शन, उसके देखने के नए द्वार खुल जाएंगे। उसे दिखाई पड़ेगा कि सभी में वही है--सभी में, चारों ओर।
अभी तो हम इसे थोड़ा समझने की कोशिश करें। देखने की कोशिश तो दुरूह है, समझें। लेकिन समझने को जानना न समझ लें। समझ लें, पर इतना भी समझ लें कि यह हमने समझा है, जाना नहीं। जानना तो बहुत दुरूह, बहुत आर्डुअस है। लेकिन समझ लेना भी बड़ा सौभाग्य है। क्योंकि समझ लें, तो शायद कल जानने की यात्रा पर भी निकल पाएं। लेकिन हम बहुत होशियार हैं। हम समझने को ही ज्ञान समझ लेते हैं। हम समझकर मान लेते हैं कि बिल्कुल ठीक है।
मेरे पास एक सूफी फकीर को लाया गया। जो लाए थे, उन्होंने कहा, इन्हें
सब तरफ परमात्मा ही परमात्मा दिखाई पड़ता है। इन्हें कण-कण में परमात्मा दिखाई पड़ता है। वृक्ष में, पत्थर में, पौधों में, चांद-तारों में, मकानों में--सब तरफ इन्हें परमात्मा ही दिखाई पड़ता है। मैंने कहा, बहुत शुभ है। इससे ज्यादा शुभ और क्या हो सकता है! मैंने उन फकीर से पूछा कि आपने यह देखने का अभ्यास किया, कि आपको बस दिखाई पड़ता है? उन्होंने कहा, नहीं, मैंने अभ्यास किया है, वर्षों अभ्यास किया है। वर्षों तक देखने की कोशिश की, तब दिखाई पड़ा। मैंने कहा, कैसे कोशिश की? तो उन्होंने कहा कि बस, मैंने इस तरह का भाव करना शुरू किया। वृक्ष के पास खड़ा होता, तो मन में सोचता, ब्रह्म है, परमात्मा है, प्रभु है। वृक्ष नहीं है, ईश्वर है। सोचता-सोचता, तीस वर्ष मैंने ऐसे सोचते-सोचते बिताए। तब मुझे अब सब में ब्रह्म दिखाई पड़ता है। मैंने कहा, एक तीन दिन यह सोचना बंद कर दें। उन्होंने कहा, उससे क्या होगा? मैंने कहा, आप तीन दिन बंद करें, फिर हम बात करेंगे।
लेकिन दूसरे दिन सुबह वे मुझसे बहुत नाराज हो गए। और उन्होंने कहा कि आपने मेरी बड़ी हानि कर दी। मैंने रात में ही सोचना छोड़ा कि मुझे दीवालें दीवालें दिखाई पड़ने लगीं! ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ा। यह प्रोजेक्शन, मैंने उनसे कहा, यह प्रोजेक्शन हुआ।
अहंकार अभ्यास कर सकता है देखने का कि सबमें ब्रह्म है। लेकिन वह अभ्यास सिर्फ एक सपना होगा। अहंकार के रहते हुए--मैं भी हूं और सब में ब्रह्म है, यह नहीं हो सकता। हां, इतना हो सकता है कि मैं अपने को धोखे में डाल लूं। आटोहिप्नोटाइज कर लूं, सम्मोहित कर लूं कि हां, सब ब्रह्म है। ऐसा मानकर चलने लगूं कि सब ब्रह्म है। मानता रहूं, मानता रहूं; अपने को धोखा देता रहूं, धोखा देता रहूं, तो एक दिन ऐसी घड़ी आ जाएगी कि मेरे मन का ही जाल चारों तरफ फैल जाएगा और मुझे दिखाई पड़ेगा, सब ब्रह्म है। लेकिन वह

मन का ही जाल होगा। वह ब्रह्म का अनुभव न होगा। वह अहंकार का ही धोखा और डिसेप्शन होगा। वह ब्रह्म का अनुभव न होगा।
ब्रह्म का अनुभव अभ्यास से नहीं मिलता है। ब्रह्म का अनुभव अहंकार के विसर्जन से मिलता है। इस बात को ठीक से ख्याल में ले लेंगे। ब्रह्म का अनुभव अहंकार के अभ्यास से नहीं मिलता, ब्रह्म का अनुभव अहंकार के विसर्जन के अभ्यास से मिलता है। अहंकार खो जाए, मैं न रह जाऊं, तो जो रह जाएगा, वह ब्रह्म मालूम पड़ेगा। मैं रहूं, और जो दिखाई पड़ता है, उस पर ब्रह्म को आरोपित करूं, इम्पोज करूं, तो धीरे-धीरे ऐसा हो जाएगा कि मुझे ब्रह्म दिखाई पड़ने लगे। लेकिन वह ब्रह्म, ब्रह्म नहीं, मेरा ही भ्रम है। वह ब्रह्म, ब्रह्म का अनुभव नहीं, मेरी ही कल्पना का फैलाव है। वह फैलाया जा सकता है।
इस सूत्र में ध्यान रख लेना जरूरी है कि जब कृष्ण कहते हैं, सभी कुछ ब्रह्म हो जाता है, ऐसे व्यक्ति को, ऐसे पुरुष को, ऐसी चेतना को सभी कुछ ब्रह्म हो जाता है। कब? जब उस मैं की ज्योति बुझ जाती है, जब उस मैं का दीया टूट जाता है। तब उपाय नहीं रहता कुछ और का, वही बच रहता है।
ठीक वैसे ही, जैसे एक घड़ा है। पानी से भरा है, नदी में चल रहा है। नदी में तैर रहा है, पानी से भरा हुआ घड़ा। उस पानी से भरे हुए घड़े को भी ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि जो पानी भीतर है, वही बाहर है। घड़ा कहता है, यह मेरा पानी है। बाहर जो नदी का पानी है, वह दूसरा है, अन्य है।
मिट्टी की एक पतली दीवाल घड़े के भीतर के पानी को और नदी के पानी को अलग-अलग करती है। टूट जाए घड़ा, फूट जाए घड़ा, पानी बाहर का और भीतर का एक हो जाता है।
अहंकार की झीनी-सी दीवाल मुझे और ब्रह्म को अलग-अलग करती है। टूट जाए दीवाल, फूट जाए अहंकार का घड़ा, मैं और ब्रह्म एक हो जाते हैं। और तब ही दिखाई पड़ता है कि सभी कुछ--तब ऐसा भी दिखाई नहीं पड़ता है कि ब्रह्म कण-कण में है--तब ऐसा दिखाई पड़ता है कि ब्रह्म ही कण-कण है, में भी नहीं। क्योंकि जब हम कहते हैं, कण में ब्रह्म है, तो ऐसा लगता है, कण भी अलग है और उसके भीतर ब्रह्म भी कहीं है।
नहीं, जब घड़ा टूटता है मैं का, तो ऐसा नहीं दिखाई पड़ता कि कण-कण में ब्रह्म है। ऐसा दिखाई पड़ता है कि कण-कण और ब्रह्म एक ही चीज के दो नाम हैं। अस्तित्व और ब्रह्म एक ही चीज के दो नाम हैं। फिर ऐसा कहना भी अच्छा नहीं मालूम पड़ता है कि ईश्वर है। फिर तो ऐसा ही कहना अच्छा मालूम पड़ता है कि है और ईश्वर, एक ही बात है। जो है, वह ईश्वर ही है। अस्तित्व ही ब्रह्म है, अस्तित्व ही!
ऐसी प्रतीति के लिए भीतर से मैं की दीवाल का टूट जाना जरूरी है। बहुत बारीक है दीवाल, ट्रांसपैरेंट भी है, पारदर्शी है, इसलिए पता भी नहीं चलता। यह बहुत मजे की बात है।
अगर पत्थर की दीवाल हो, ट्रांसपैरेंट न हो, आर-पार दिखाई न पड़ता हो, तो दीवाल का पता चलता है। अगर आप कांच की दीवाल बनाएं, ट्रांसपैरेंट हो, तो पता भी नहीं चलता है कि दीवाल है; क्योंकि आर-पार दिखाई पड़ता है।
इसलिए मैं की दीवाल अगर पत्थर जैसी सख्त होती, तब तो हमें आर-पार दिखाई ही न पड़ता; हम अपने मैं के भीतर बंद हो जाते और सारी दुनिया बाहर बंद हो जाती, आर-पार कोई संबंध ही न रहता। लेकिन मैं की दीवाल ट्रांसपैरेंट है, पारदर्शी है; कांच की दीवाल है। आर-पार साफ दिखाई पड़ता है। इसलिए ख्याल ही नहीं आता कि बीच में कोई दीवाल है।
कांच के पास खड़े हैं। बाहर का सब दिखाई पड़ रहा है। सूरज दिखाई पड़ता है। चांद-तारे दिखाई पड़ते हैं। कांच की दीवाल दिखाई नहीं पड़ती। ऐसी कांच की दीवाल है। लेकिन है। प्रमाण क्या है कि है? प्रमाण यही है कि मैं आपसे अलग मालूम पड़ता हूं। जहां अलगपन का बोध हो रहा है, वहां बीच में कोई दीवाल है, कोई फासला है, कोई डिस्टेंस है, वह दिखाई पड़े या न दिखाई पड़े।
कृष्ण के इस सूत्र में डिस्टेंसलेस, दूरीरहित हो जाने का ख्याल है। कोई दूसरा नहीं है, वही है। जिस क्षण ऐसा दिखाई पड़ता है कि वही है, एक ही है, उस क्षण कैसा बंधन? फिर जंजीर भी वही है। उस क्षण कैसा शत्रु? फिर शत्रु भी

वही है। उस क्षण कैसा दुख? फिर दुख भी वही है। उस क्षण कैसी बीमारी? फिर बीमारी भी वही है।
सुना है मैंने, एक सूफी फकीर के हृदय में नासूर हो गया। गहरा घाव। उसमें कीड़े पड़ गए। जिंदगीभर वह नमाज पढ़ने मस्जिद में जाता रहा; लेकिन जब से उसके इस घाव में कीड़े पड़े, उसने नमाज पढ़नी बंद कर दी। पास-पड़ोस के लोगों ने कहा, क्या काफिर हुए जा रहे हो? क्या आखिरी वक्त में अपनी जिंदगी खराब करनी है? दोजख में जाना है? नर्क में पड़ना है? जिंदगीभर पुकारा परमात्मा को, अब नमाज क्यों नहीं पढ़ते हो?
उस फकीर ने कहा, पढ़ता हूं अब भी। लेकिन अब झुक नहीं सकता हूं, इसलिए मस्जिद नहीं आता। क्योंकि नमाज में झुकना पड़ेगा। उन्होंने कहा, पागल! नमाज बिना झुके होगी कैसे? और झुकने में एतराज क्या है? उस फकीर ने कहा, झुकता हूं, तो ये जो मेरे घाव में कीड़े पड़ गए हैं, ये नीचे गिर जाते हैं। फिर इनको उठाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी किसी को चोट भी लग जाती है। और कभी- कभी कोई मर जाए! उन्होंने कहा, तुम कैसे पागल हो! इन कीड़ों के लिए इतने परेशान क्यों हो? उस फकीर ने कहा, कीड़ों के लिए नहीं, अपने लिए ही परेशान हूं। वे भी मैं ही हूं। जिसकी नमाज पढ़ रहा हूं, जो नमाज पढ़ रहा है, नमाज में जो कीड़े गिर जाएं और मर जाएं, वे तीनों अलग-अलग नहीं हैं।
ऐसी प्रतीति हो, तो ही ख्याल आ सकता है इस सूत्र का, कि इस सूत्र का क्या अर्थ है। इस सूत्र का अर्थ है कि एक ही का विस्तार है। दो की भ्रांति है; एक का विस्तार है।
इस सूत्र को कृष्ण ने द्वंद्व के अतीत होने के बाद क्यों कहा है? इसीलिए कहा है कि जब तक भीतर का द्वंद्व न मिटे, तब तक बाहर का द्वंद्व भी नहीं मिट सकता। इसलिए पहले कहा कि द्वंद्वातीत हो जाता है जो पुरुष; फिर कहते हैं, सब ब्रह्म हो जाता है।
भीतर का द्वंद्व टूट जाए, भीतर के मन के दो खंड मिट जाएं, एक हो जाए भीतर, तो बाहर भी ज्यादा दिन दो नहीं रहेंगे। भीतर का एक बाहर के एक को खोज लेगा। भीतर के दो बाहर भी दो को निर्मित कर देते हैं।
हम बाहर वही देखते हैं, जो हमारे भीतर है। हम बाहर वही खोजते हैं, जो हमारे भीतर है। चोर चोर को खोज लेता है। बेईमान बेईमान को खोज लेता है। साधु साधु को खोज लेता है। एक ही गांव में आज रात कई यात्री उतरेंगे। कोई वेश्यालय को खोज लेगा, कोई मंदिर को खोज लेगा--उसी गांव में! हम वही खोज लेते हैं, जो हम हैं।
सुना है मैंने, एक रात एक फकीर के घर में एक चोर घुस गया। आधी रात थी। सोचा, सो गया होगा फकीर। भीतर गया, तो हैरान हुआ। मिट्टी का छोटा-सा दीया जलाकर फकीर कुछ चिट्ठी-पत्री लिखता था। घबड़ा गया चोर। छुरा बाहर निकाल लिया। फकीर ने ऊपर देखा और कहा कि छुरा भीतर रखो। शायद ही कोई जरूरत पड़े। फिर कहा कि थोड़ा बैठ जाओ, मैं चिट्ठी पूरी कर लूं, फिर तुम्हारा क्या काम है, उस पर ध्यान दूं। ऐसी बात, कि चोर भी घबड़ाकर बैठ गया!
चिट्ठी पूरी की। फकीर ने पूछा, कैसे आए? सच-सच बता दो। ज्यादा बातचीत में समय खराब मत करना; अब मेरे सोने का वक्त हुआ। उस चोर ने कहा, अजीब हैं आदमी आप! देखते नहीं, छुरा हाथ में लिए हूं। आधी रात आया हूं। काले पकड़े पहने हूं। चोरी करने आया हूं! फकीर ने कहा, ठीक। लेकिन गलत जगह चुनी। और अगर यहां चोरी करने आना था, तो भलेमानस, पहले खबर भी तो कर देते; हम कुछ इंतजाम करते। यहां चुराओगे क्या? मुश्किल में डाल दिया मुझे आधी रात आकर। और इतनी दूर आ गए, खाली हाथ जाओगे, यह भी तो बदनामी होगी। और पहला ही मौका है कि मेरे घर भी किसी चोर ने ध्यान दिया। आज हमको भी लगा कि हम भी कुछ हैं। कभी कोई आता ही नहीं इस तरफ। तो ठहरो, मैं जरा खोजूं। कभी-कभी कोई-कोई कुछ भेंट कर जाता है। कहीं कुछ पड़ा हो, तो मिल जाए।
दस रुपए कहीं मिल गए। उस फकीर ने उसको दिए और कहा कि यह तुम ले जाओ। रात बाहर बहुत सर्द है। अपने शरीर पर जो कंबल था, वह भी उसे दे दिया। वह चोर बहुत घबड़ाया! उसने कहा, आप बिल्कुल नग्न हो गए! रात सर्द है। फकीर ने कहा, मैं तो झोपड़े के भीतर हूं। लेकिन तुझे तो दो मील रास्ता भी पार करना पड़ेगा। और रुपयों से तो कपड़े अभी मिल नहीं सकते। रुपयों से तन ढंक नहीं

सकता। तो यह कंबल ले जा! फिर मैं तो भीतर हूं। और फिर कब! इस गरीब की झोपड़ी पर कोई कभी चोरी करने आया नहीं। तूने हमें अमीर होने का सौभाग्य दिया। अब हम भी कह सकते हैं किसी से कि हमारे घर भी चोरों का ध्यान है! तू जा। मजे से जा। हम बड़े खुश हैं!
चोर चला गया। फकीर अपनी खिड़की पर बैठा हुआ उसे देखता रहा। ऊपर आकाश में चांद निकला है पूर्णिमा का। आधी रात। चारों तरफ चांदनी बरस रही है। उस रात उस फकीर ने एक गीत लिखा और उस गीत की पंक्तियां बड़ी अदभुत हैं। उस गीत में उसने लिखा कि चांद बहुत प्यारा है! बेचारा गरीब चोर! अगर मैं यह चांद भी उसे भेंट कर सकता! लेकिन अपनी सामर्थ्य के बाहर है। यह चांद भी काश, मैं उस चोर को भेंट कर सकता! बेचारा गरीब चोर! लेकिन अपनी सामर्थ्य के बाहर है। फिर वह चोर पकड़ा गया--कभी, कुछ महीनों बाद। अदालत ने इस फकीर को भी पूछा बुलाकर कि इसने चोरी की? फकीर ने कहा कि नहीं। क्योंकि जब मैंने इसे दस रुपए भेंट किए, तो इसने धन्यवाद दिया। और जब मैंने इसे कंबल दिया, तो इसने मुझे बहुत मनाया कि आप ही रखिए; रात बहुत सर्द है। यह आदमी बहुत भला है। वह तो मैंने ही इसे मजबूर किया, तब बामुश्किल, बड़े संकोच में यह कंबल ले गया था।
फिर उसको दो साल की सजा हो गई। कुछ और चोरियां भी थीं। फिर सजा के बाद छूटा, तो सीधा भागा हुआ उस फकीर के चरणों में आया। उसके चरणों में गिर पड़ा कि तुम पहले आदमी हो, जिसने मुझसे आदमी की तरह व्यवहार किया। अब मैं तुम्हारे चरणों में हूं। अब तुम मुझे आदमी बनाओ। तुमने व्यवहार मुझसे पहले कर दिया आदमी जैसा, अब मुझे आदमी बनाओ भी। उस फकीर ने कहा, और मैं कर भी क्या सकता था?
जो हमारे भीतर होता है, वही दिखाई पड़ता है।
अगर फकीर के भीतर जरा भी चोर होता, तो वह पुलिस वाले को चिल्लाता। पास-पड़ोस में चिल्लाहट मचा देता कि चोर घुस गया। लेकिन फकीर के भीतर अब कोई चोर नहीं है। तो मकान में चोर भी आ जाए, तो भी चोर नहीं मालूम पड़ता, दुश्मन नहीं मालूम पड़ता; मित्र ही मालूम पड़ता है।
हमारे भीतर जो है, वही हमें बाहर दिखाई पड़ने लगता है। भीतर अगर द्वंद्व है, तो बाहर भी द्वंद्व दिखाई पड़ने लगता है।
सिमन वेल ने--पश्चिम की एक बहुत विचारशील महिला, अभी-अभी कुछ वर्षों पहले मरी; कम उम्र में मर गई। पर उस छोटी उम्र में भी उसने बहुत कीमत की बातें लिखीं। उनमें उसने एक कीमती बात लिखी कि मेरी तीस साल की उम्र तक मेरे सिर में दर्द रहा सदा। और जब तक मेरे सिर में दर्द रहा, मैं नास्तिक थी। मुझे ईश्वर पर भरोसा न आया। पर यह कभी ख्याल न आया कि सिरदर्द भी मेरी नास्तिकता का कारण हो सकता है। यह तो जब मेरा सिरदर्द ठीक हो गया और मैं स्वस्थ हुई, तब धीरे-धीरे मैंने पाया कि मेरी नास्तिकता चली गई और मैं आस्तिक हो गई! तब मुझे ख्याल में आया कि वह सिरदर्द ही मेरी नास्तिकता का कारण था।
भीतर सिर में दर्द बना रहे चौबीस घंटे, तो बाहर परमात्मा दिखाई पड़ना मुश्किल हो जाता है। जब भीतर पीड़ा हो, तो बाहर पीड़ा दिखाई पड़ने लगती है। जब भीतर असंतोष हो, तो बाहर असंतोष दिखाई पड़ने लगता है।
भीतर जो है, वही बाहर प्रतिफलित होकर फैल जाता है। संसार हमारा ही बड़ा फैलाव है; हम ही जैसे बड़े मैग्नीफाइंग ग्लास से देखे गए हों। जैसे हमको ही बहुत बड़ा करके देखा गया हो। संसार हमारा ही बड़ा फैलाव है।
जब तक भीतर द्वंद्व है, डुएलिटी है, तब तक संसार में भी द्वंद्व है। तब
तक पदार्थ भी अलग दिखाई पड़ेगा, आत्मा भी अलग दिखाई पड़ेगी। तब तक सब चीजों में द्वंद्व दिखाई पड़ेगा। तब तक ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ सकता। क्योंकि ब्रह्म अद्वंद्व, अद्वैत, दुई-मुक्त अनुभव है।
भीतर द्वंद्व मिट जाए... । इसलिए कृष्ण ने पहले सूत्र में कहा, द्वंद्वातीत होता जो पुरुष, और अब इस सूत्र में कहते हैं, सब कुछ ब्रह्म हो जाता है। और जब सब ब्रह्म हो जाता है, तो जीवन की जो परम निधि है, वह उपलब्ध हो जाती है।
एक अंतिम श्लोक और।

प्रश्नः भगवान श्री, पिछले श्लोक के काव्य, "ब्रह्मरूपी कर्म में समाधिस्थ व्यक्ति" का क्या अर्थ है?

यह आखिरी बात ले लें, श्लोक कल सुबह लेंगे।
ब्रह्मरूपी कर्म में समाधिस्थ व्यक्ति!
जब सब ओर ब्रह्म ही रह जाता है, कर्ता भी ब्रह्म हो जाता है फिर, फिर कर्म भी ब्रह्म हो जाता है। जब सब ओर ब्रह्म ही है, तो मैं श्वास लेता हूं, तो भी ब्रह्म ही भीतर जाता है; श्वास छोड़ता हूं, तो ब्रह्म ही बाहर जाता है। जन्मता हूं, तो ब्रह्म ही जन्मता; विदा होता हूं जीवन से, तो ब्रह्म ही विदा होता। लहर का उठना भी वही, लहर का गिरना भी वही। जागता हूं, तो ब्रह्म जागता है; सोता हूं, तो ब्रह्म सोता है। खाता हूं, तो ब्रह्म खाता, और ब्रह्म को ही। भजता हूं, तो ब्रह्म भजता, और ब्रह्म को ही। जब ब्रह्म ही सब कुछ है, एक ही अस्तित्व सब कुछ है, तो सभी कर्म ब्रह्म की ही तरंगें हो जाते हैं।
ब्रह्मरूपी कर्म में समाधिस्थ!
फिर ऐसे व्यक्ति को, जो इतने कर्म में भी लगा रहे, फिर भी भीतर समाधिस्थ रहता है; क्योंकि कर्म अब ब्रह्मरूपी हुए। अब वह श्वास भी लेता है, तो उसी की। भोजन भी करता है तो उसी का। उठता, तो वही। बैठता, तो वही। अब जब सभी ब्रह्मरूपी हो जाता, तो समाधि नहीं तो और क्या होगा? बीच में समाधि खड़ी हो जाती है।
जब सभी ब्रह्म है, तो चिंता तो मिट जाती। जब सभी ब्रह्म है, तो असुरक्षा तो मिट जाती। जब सभी ब्रह्म है, तो भय तो मिट जाता। जब सभी ब्रह्म है, तो सारा तनाव खो जाता। तब सारे काम होते, जैसे हवाएं बहतीं--ऐसे; जैसे पानी बहता--ऐसे; जैसे आकाश में बादल चलते--ऐसे। जैसे वृक्षों में फूल खिलते--ऐसे, सब कर्म सहज होते हैं। करने नहीं पड़ते; ब्रह्म ही कराता है। और इसके बीच में, वह जो पुरुष ऐसे अनुभव में होता है, समाधिस्थ हो जाता है। समाधिस्थ का अर्थ?
समाधि शब्द बड़ा कीमती है। बना है वह उसी से, जिससे बनता है समाधान। ऐसा पुरुष समाधिस्थ हो जाता है अर्थात समाधान को उपलब्ध हो जाता है। उसके जीवन में कोई समस्या नहीं रह जाती, कोई प्राब्लम नहीं रह जाता। उसके जीवन में कोई प्रश्न नहीं रह जाता। उसके जीवन में कोई उलझन नहीं रह जाती। सुलझ जाता है।
समाधिस्थ हो जाता है अर्थात समाधान को उपलब्ध हो जाता है, सुलझ जाता है। उसके जीवन में कुछ भी पूछने योग्य, खोजने योग्य, जानने योग्य, पाने योग्य, कोई भी प्रश्न नहीं रह जाता है। निष्प्रश्न हो जाता है।
ब्रह्म को सब ओर जो अनुभव करता है, वह ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। और ब्रह्म जैसी गहरी समाधि में है, ऐसी ही गहरी समाधि में वह भी खो जाता है। कभी छोटे-छोटे प्रयोग करें, तो ख्याल में आ जाए। कभी जमीन पर लेट जाएं किसी बगीचे के एकांत में जाकर। आंखें न झपकें। पलकें खुली रखें, अपलक। आकाश को देखते रहें एकटक। बिना आंख झपके, सिर्फ विराट आकाश को देखते रहें थोड़ी देर। और आप एक अदभुत अनुभव से गुजरेंगे। जब बिना आंखें झपके आकाश को देखते रहेंगे, देखते रहेंगे, थोड़ी देर में आप पाएंगे, आपके भीतर भी आकाश है; बाहर भी आकाश है। और थोड़े गहरे देखते रहेंगे, तो पाएंगे कि भीतर और बाहर एक ही, आकाश ही आकाश है। और तब परम विश्राम और परम समाधान का अनुभव होगा।
यह छोटा-सा मैं कह रहा हूं। आकाश उतना बड़ा नहीं है, जितना ब्रह्म।
जब कोई व्यक्ति अपने बाहर सब तरफ ब्रह्म को ही देखता है; जैसे आपने थोड़ी देर आकाश को देखा, ऐसा जब कोई प्रतिपल चारों ओर ब्रह्म को ही देखता है, तो बाहर भी ब्रह्म और भीतर भी ब्रह्म; और दोनों के बीच बड़ा सुर-संगीत निर्मित हो जाता है। दोनों के बीच बड़ा तालमेल है, दोनों के बीच बड़ी ट्यूनिंग है।

आरड़ब्लू.टाइन ने एक छोटी-सी किताब लिखी है। उसका नाम है, इन ट्यून विद
दि इनफिनिट--अनंत के साथ एकरस, एकतान-बद्ध।
कभी आकाश के साथ प्रयोग करें; छोटा प्रयोग है। परमात्मा, ब्रह्म बड़ा आकाश है, विराट आकाश है। लेकिन एक बड़ा विराट आकाश--हमारे अनुभव के लिए तो बहुत विराट--हमारे ऊपर छाया हुआ है, छत की भांति। कभी उसके नीचे लेट जाएं सीधे। सब भूल जाएं। आकाश को देखते रहें। आंख बंद न करें, अपलक देखते रहें। आंसू बहें, बहने दें। आकाश को देखते रहें। थोड़ी ही देर में पाएंगे, भीतर भी आकाश समा गया। और जब दोनों तरफ आकाश होंगे, तो दोनों आकाश की वार्ता शुरू हो जाएगी, डायलाग शुरू हो जाएगा। इन ट्यून विद दि इनफिनिट। और तब एक सुर-संगम बजने लगेगा। दोनों के बीच एक संगीत का आदान-प्रदान शुरू हो जाएगा। और एक समाधान की झलक मिलेगी।
वह झलक बड़ी छोटी है--तिनके जैसी है, एक बूंद जैसी है। कृष्ण जिस झलक की बात कह रहे हैं, वह विराट सागर जैसी है। लेकिन इससे भी रस का पता चलेगा कि जब किसी व्यक्ति को सारा जगत ब्रह्म हो जाता है, तो उसके भीतर भी ब्रह्म पूरा का पूरा खड़ा हो जाता है। फिर इन दोनों, बाहर और भीतर के बीच, सुर-तान एक हो जाती है। फिर दोनों मिट जाते हैं। बाहर-भीतर का बोध मिट जाता है। फिर एक ही रह जाता है। उस एक के अनुभव का नाम समाधि है।
शेष कल सुबह। अभी पांच मिनट कीर्तन और नृत्य संन्यासी करेंगे। साथ हों उनके; नाचें भी। ताली बजाएं। उनको प्रोत्साहन भी दें। और उसके बाद, पांच मिनट के बाद फिर हम यहां से विदा हो जाएंगे।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
नौवां प्रवचन

यज्ञ का रहस्य

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। 25।।
और दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ को ही अच्छी प्रकार उपासते हैं अर्थात करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ को हवन करते हैं।

यज्ञ के संबंध में थोड़ा-सा समझ लेना आवश्यक है।
धर्म अदृश्य से संबंधित है। धर्म आत्यंतिक से संबंधित है। पाल टिलिक
ने कहा है, दि अल्टिमेट कंसर्न। आत्यंतिक, जो अंतिम है जीवन में--गहरे से गहरा, ऊंचे से ऊंचा--उससे संबंधित है। जीवन के अनुभव के जो शिखर हैं, अब्राहिम मैसलो जिन्हें पीक एक्सपीरिएंस कहता है, शिखर अनुभव, धर्म उनसे संबंधित है।
स्वभावतः, गहन अनुभव जब अभिव्यक्त किया जाए, तो कठिनाई होती है। उस अनुभव के लिए हमारी जिंदगी में न तो कोई शब्द होते हैं। उस अनुभव के लिए हमारे व्यवहार में प्रतीक खोजने भी कठिन हो जाते हैं। ठीक-ठीक समानांतर शब्दों की कोई संभावना नहीं है। इसलिए धर्म मेटाफोरिक हो जाता है; इसलिए धर्म प्रतीकात्मक, संकेतात्मक, सिंबालिक हो जाता है। वह जो आत्यंतिक अनुभव है, उसे पृथ्वी की भाषा में प्रकट करने के लिए रूपक, प्रतीक और संकेत चुनने पड़ते हैं, निर्मित करने पड़ते हैं।
वे ही संकेत अभिव्यक्ति भी लाते हैं, वे ही संकेत अंत में अवरोध भी बन जाते हैं। अभिव्यक्ति उनके लिए बनते हैं वे संकेत, जो उन संकेतों पर रुकते नहीं; इशारों को पकड़ते नहीं, पार निकल जाते हैं। और जो उन इशारों को पकड़कर रुक जाते हैं, उनके लिए अवरोध हो जाते हैं।
मील का पत्थर लगा है। तीर का निशान बना है। जो उस मील के पत्थर के पास
ही मंजिल को समझकर रुक जाता है, वह मील का पत्थर उसके लिए अवरोध हो गया। इससे तो अच्छा होता कि रास्ते पर कोई मील के पत्थर न होते। उसे रुकने की कोई जगह न मिलती। वह मंजिल तक पहुंच जाता। लेकिन मील के पत्थर लगाने वाले ने चलने के सहारे के लिए मील के पत्थर लगाए। और वह जो तीर का निशान है, वह कहता है कि आगे, और आगे। यहां नहीं रुक जाना है।
जो गहरे देख पाता है, उसे मील का पत्थर रोकता नहीं, बढ़ाता है। जो गहरे नहीं देख पाता, वह मील के पत्थर पर रुक जाता है और बैठ जाता है।
मील का पत्थर बोल नहीं सकता। प्रतीक गूंगे हैं, बोल नहीं सकते। जो समझ पाए, समझ पाए। न समझ पाए, न समझ पाए।
धर्म को बहुत-से प्रतीक खोजने पड़े, उस अनुभव को बताने के लिए, जो पारलौकिक है। दो-चार प्रतीक मैं आपको ख्याल में दूं, तो यज्ञ का प्रतीक भी समझ में आ सके। और तब यह भी समझ में आ सके कि यज्ञ के साथ भी मील के पत्थर का प्रयोग हो गया है। कुछ लोग प्रतीक को पकड़कर मील के पत्थर पर ही बैठ गए हैं। वे आग जला रहे हैं, घी डाल रहे हैं, गेहूं फेंक रहे हैं--और सोच रहे हैं, काम का अंत हुआ! सोच रहे हैं, बात पूरी हुई। यज्ञ के प्रतीक का यह अवरोध की तरह उपयोग हुआ। यह प्रतीक गतिमान भी हो सकता है, डायनेमिक हो सकता है, गत्यात्मक हो सकता है, आगे ले जा सकता है; लेकिन उन्हीं को, जो इस प्रतीक में गहरे समझने के लिए चेष्टा करें।
मनुष्य के अनुभव में अग्नि गहरा प्रतीक बन सकती है। क्योंकि अग्नि में कुछ खूबियां हैं। पहली खूबी तो यह है कि अग्नि की लपट सदा ही ऊपर की तरफ दौड़ती है। सदा ही। अग्नि की लपट सदा ही ऊपर की तरफ दौड़ती है, ऊर्ध्वगामी है। जैसे ही मनुष्य की चेतना धार्मिक होनी शुरू होती है, ऊर्ध्वगामी हो जाती है, ऊपर की तरफ दौड़ने लगती है। इसलिए बहुत प्रारंभ में

ही यह ख्याल आ गया कि अग्नि प्रतीक बन सकती है भीतर की चेतना के ऊर्ध्वगमन का, ऊपर उठने का।
दूसरी खूबी अग्नि की यह है कि अग्नि में कुछ भी अशुद्ध हो, तो जल जाता है। सोने को डाल दें, अशुद्ध जल जाता है, शुद्ध निखरकर बाहर आ जाता है। जिन्होंने धर्म की चेतना की ज्योति का अनुभव किया, उनको भी पता लगा कि उस ज्योति में, जो भी अशुद्ध है, वह जल जाता है; और जो शुद्ध है, वह निखर आता है। अग्नि और भी गहरा प्रतीक बन गई धर्म का।
फिर तीसरी अग्नि की खूबी है कि लपट थोड़ी दूर तक ही दिखाई पड़ती है, फिर अदृश्य में खो जाती है। जरा दिखी, और खोई। जिनको भी चेतन के ऊर्ध्वगमन का अनुभव हुआ है, वे जानते हैं कि थोड़ी दूर तक ही पता चलता कि मैं हूं, फिर मैं होने का पता नहीं चलता; फिर तो ब्रह्म में लीन हो जाता सब। जरा-सी झलक अपने होने की, और फिर सर्व के होने में खो जाता है। इसलिए अग्नि और भी गहरा प्रतीक बन गई। लपट झलकी भी नहीं, और खोई। ऊपर उठी भी नहीं, और ब्रह्म के साथ एक हुई।
सागर में गिर जाए बूंद, खोजनी बहुत कठिन है, लेकिन फिर भी कंसीवेबल है
कि हम खोज लें। आखिर बूंद कहीं तो है ही। सागर में गिर जाए बूंद, खोजनी कठिन है कि हम उस बूंद को फिर से पा लें, लेकिन फिर भी अकल्पनीय नहीं है। सोच तो सकते ही हैं कि बूंद कहीं तो होगी ही। कोई न कोई उपाय खोजा जा सकता है कि वापस खोज लें। लेकिन अग्नि की लपट खो जाए आकाश में, तो कंसीवेबल भी नहीं है कि हम उसे वापस पा लें।
जो खो गया ब्रह्म में, वह प्वाइंट आफ नो रिटर्न पर पहुंच जाता है। वह वापस नहीं लौट सकता। वहां से वापसी नहीं है। इसलिए अग्नि का प्रतीक गहरा प्रतीक बन गया। और जब पहली बार अग्नि यज्ञ बनी, तो मेटाफर थी, सूचक थी। ऋषियों के आश्रम में जलती ही रहती सदा। यज्ञ की ज्योति बढ़ती ही रहती सदा आकाश की तरफ। आस-पास से निकलते हुए साधक निरंतर स्मरण कर पाते उस लपट से, रिमेंबर कर पाते, भीतर की लपट को निरंतर ऊपर उठाने का।
उस अग्नि में जो भी आहुति डाली जाती, उस अग्नि में जो भी डाला जाता, वह
सब प्रतीक था अपने को डालने का, स्वयं को डालने का। अपने को निरंतर डालते रहना है यज्ञरूपी अग्नि में। वे सब प्रतीक थे। उन प्रतीकों को निरंतर उपस्थित रखना अर्थपूर्ण था।
अर्थपूर्ण ऐसे ही, जैसे एक आदमी बाजार जाए; कुछ लाना है खरीदकर। भूल न जाए, तो कुर्ते के छोर में गांठ लगा लेता है। बाजार में दिन में दस बार गांठ पर नजर जाती है, ख्याल आ जाता है, कुछ लाना है। गांठ से कोई संबंध नहीं है लाने का। बिना गांठ के भी लाया जा सकता है। लेकिन गांठ स्मरण के लिए आधार बन सकती है। चुभती रहेगी; ख्याल बनाए रखेगी, कुछ लाना है। स्मृति को जगाए रखेगी। दिन में पच्चीस बार, हजार काम में डूबे हुए जब भी नजर जाएगी कुर्ते की गांठ पर, ख्याल आएगा, कुछ लाना है। सांझ होते तक भूलना मुश्किल होगा। सांझ होते-होते तक भूलना मुश्किल होगा। सांझ घर जो लाना है, लेकर आदमी लौट आएगा। गांठ के बिना भूलना हो सकता था। गांठ के साथ भूलना मुश्किल है।
लेकिन कोई गांठ की पूजा करने लग जाए, तो भी भूल जाएगा। क्योंकि तब गांठ स्मरण नहीं कराएगी, पूजा करवाएगी।
सारे प्रतीक गांठ की तरह हैं। गुरुकुल में जलती हुई अग्नि, यज्ञ की उठती हुई लपटें, रोज सुबह दी गई आहुति, पढ़े गए मंत्र--रिमेंबरिंग हैं, गांठ हैं। और जिनको उन प्रतीकों का अर्थ पता था, उनके लिए वह सिर्फ अग्नि न थी, वह चेतना की लपट थी। जिन्हें प्रतीकों का अर्थ पता था, उनके लिए डाली गई आहुति गेहूं नहीं था, घी नहीं था, जीवन था। वे प्रतीक थे; गांठ की तरह प्रतीक थे।
फिर खो जाते हैं सब प्रतीक। जड़ चीजें हाथ में रह जाती हैं। फिर पागलों
की तरह अग्नि जलती रहती, उसमें लोग गेहूं और घी और कुछ-कुछ डालते रहते। और कंठस्थ किए हुए सूत्रों को दोहराए जाते! जो दोहराने वाले होते हैं, वे भी खरीदे गए होते हैं। हर यज्ञ के पीछे झगड़ा होता है, किस ब्राह्मण को ज्यादा मिल गया, किसको कम मिल गया; क्या हुआ, क्या नहीं हुआ! किसकी फीस कितनी!

फीस के लिए कहीं यज्ञ किए जा सकते हैं? शुल्क लेकर कहीं धर्म की तरफ इशारे किए जा सकते हैं? धंधा बनाया जा सकता है धर्म को? जब धर्म धंधा बन जाता है, तब धर्म नहीं रह जाता। धंधे को तो धर्म बनाया जा सकता है; धर्म को धंधा नहीं बनाया जा सकता। लेकिन हुआ उलटा है। धंधे को तो धर्म कोई नहीं बनाता; धर्म को बहुत लोग धंधा बना लेते हैं।
यह कृष्ण जिस यज्ञ की बात कर रहे हैं, वह प्रतीकात्मक है। तब पूरा जीवन ही यज्ञ है। तब पूरा जीवन ही यज्ञ है। और यह स्मरण आ जाए, तो समस्त कर्म यज्ञ हैं। तब समस्त जीवन आहुति है। तब स्वयं को बना लेना है हवन का कुंड; सब समर्पित कर देना है उस कुंड में। डाल देना है स्वयं को; जला देना है स्वयं को। जल जाए अहंकार।
पूछ सकेंगे, पूछने का मन होगा कि गेहूं जैसी चीज क्यों डाली गई?
वह भी वैसा ही प्रतीक है, जैसी अग्नि। गेहूं है बीज। छिपा है सब उसमें, अभी प्रकट नहीं हुआ। अब इस बीज को जमीन में बो दें, तो प्रकट होगा; अंकुर निकलेगा; वृक्ष बनेगा। और एक बीज करोड़ बीज बन जाएगा।
जब गेहूं को डालते हैं यज्ञ में, तो प्रतीक है इस बात का कि अहंकार जब बीजरूप हो, तभी डाल देना। उसको बो मत देना जमीन में। अन्यथा अहंकार में अंकुर आ जाएंगे। हर अंकुर में सैकड़ों बीज लग जाएंगे। हर बीज में फिर सैकड़ों अंकुर लगने की संभावना पैदा हो जाएगी। और अहंकार विराट वृक्ष की तरह बढ़ता चला जाएगा। बीज की तरह डाल देना उसे। जब बीज हो, तभी डाल देना। अंकुरित मत करना। सींचना मत। खाद मत डालना। बढ़ाना मत। उसको स्ट्रेंथन मत करना, मजबूत मत करना, पोषण मत करना। जब बीजरूप ही हो, तभी डाल देना। स्वभावतः, बीज के लिए उन पुराने दिनों में गेहूं से निकट और कोई चीज न थी! निकटतम, अधिकतम प्रभावी, जीवन जिस पर निर्भर था, उस गेहूं को दग्ध कर देना, राख। ऐसे ही अहंकार को दग्ध कर देना, राख। निर्बीज हो जाना अहंकार की दृष्टि से।
अब बीज के साथ दो काम किए जा सकते हैं। जमीन में गड़ाएं, तो बीज अंकुरित होगा; करोड़ों बीज पैदा कर जाएगा। आग में डाल दें, तो बीज अंकुरित नहीं होगा, सिर्फ राख हो जाएगा। उसके पीछे कोई रेखा नहीं छूट जाएगी यात्रा की। अग्नि में डाले गए बीज, बीजरूपी अहंकार को डालने के प्रतीक थे।
घी भी फेंका गया है यज्ञ में। क्यों फेंका गया होगा? किस प्रतीक, किस मेटाफर के ख्याल से?
देखा होगा, घी को डालें अग्नि में, तो अग्नि की लपटें बढ़ती हैं। घी के डालने से अग्नि की लपट बढ़ती है, तीव्र होती है, उज्ज्वल होती है, प्रखर होती है, तेज होती है। घी के डालते ही अग्नि में त्वरा आती है। गेहूं को डालिएगा, तो अग्नि की त्वरा कम होगी। गति क्षीण होगी, क्योंकि अग्नि की ताकत गेहूं को जलाने में लगेगी। तो जो लपट बनने की शक्ति थी, वह बंटेगी। लेकिन घी को डालिए, तो अग्नि की ताकत घी को जलाने में नहीं लगती, घी की ताकत ही अग्नि को बढ़ाने में लगती है।
जीवन की जो ज्योति है, उसमें दो काम करने हैं। उसमें बुराई को डालकर दग्ध करना है और भलाई को डालकर उस ज्योति को बढ़ाना है। घी भलाई का निकटतम प्रतीक हो सकता था, जिन दिनों वह प्रतीक खोजा गया। घी भलाई का निकटतम प्रतीक हो सकता था। कई कारणों से।
एक तो स्निग्ध है, इसलिए उसका दूसरा नाम स्नेह भी है, प्रेम भी है। और
भी कई कारणों से। घी प्रकृति में सीधा पैदा नहीं होता। गेहूं प्रकृति में सीधे पैदा होता है। अहंकार प्रकृति में सीधा पैदा होता है, बुराई सीधी पैदा होती है। भलाई को पैदा करने के लिए बड़ा श्रम उठाना पड़ता है। वह सीधी पैदा नहीं होती; उसकी डायरेक्ट बर्थ नहीं होती।
घी सीधा पैदा नहीं होता। दूध बनेगा, दही बनेगा, मथा जाएगा, फिर घी निकलेगा। बहुत होगा दूध, बहुत होगा दही, थोड़ा-सा घी निकलेगा। बड़ा होगा श्रम, छोटी-सी भलाई निकलेगी। श्रम होगा पीछे; रूपांतरण होगा पीछे। सीधे घी पैदा नहीं होता--इसे ख्याल रखें--पैदा होने की प्रक्रिया है, प्रोसेस है। पैदा करेंगे, तो ही पैदा होगा। अगर आदमी न हो पृथ्वी पर, तो घी पैदा नहीं

होगा। दूध पैदा होगा, घी पैदा नहीं होगा। मनुष्य की चेतना ने घी को जन्म दिया।
अगर मनुष्य न हो पृथ्वी पर, तो भलाई पैदा नहीं होगी। भलाई को मनुष्य
की चेतना ने जन्म दिया। इसलिए अगर घी का प्रतीक ख्याल में आ गया हो, तो बहुत आश्चर्यजनक नहीं है। सहज है। जिनके पास थोड़ी-सी भी काव्य की दृष्टि है, वे उघाड़ सकते हैं बात को कि क्यों यह प्रतीक ख्याल में आ गया होगा। मथना पड़ता है, मंथन करना पड़ता है। घी को जन्माना पड़ता है। भलाई मनुष्य
के श्रम का फल है। ऐसे ही नहीं मिलती। गेहूं बिना आदमी के भी होता रहेगा। बीज गिरते रहेंगे। अंकुर निकलते रहेंगे। आदमी नहीं होगा, तो भी पौधे होंगे, बीज होंगे; चलती रहेगी यात्रा। लेकिन घी नहीं होगा पृथ्वी पर। आदमी नहीं होगा, तो भलाई नहीं होगी पृथ्वी पर। शुभ नहीं होगा।
तो जिन दिनों, जिस कृषि के जगत में गीता जन्मी, जिस कृषि के जगत में वेद जन्मा, जिस कृषि के प्रतीकों की दुनिया के बीच यज्ञ की धारणा जन्मी, घी निकटतम प्रतीक था शुभ का।
अब यह मजे की बात है, अशुभ को डालें जीवन की चेतना में, तो अशुभ जल जाएगा, लेकिन जीवन की चेतना को क्षीण करेगा। अशुभ जलेगा, तो भी जीवन की चेतना को क्षीण करेगा। शुभ को भी डालें जीवन की चेतना में, तो शुभ जीवन की चेतना को क्षीण नहीं करेगा, बढ़ाएगा।
दूसरी बात भी ख्याल रख लें कि अंततः शुभ को भी जला देना है। शुभ जलेगा
और ज्योति बढ़ेगी। लेकिन जला देना है उसे भी। उसे भी बचा नहीं लेना है। अन्यथा वह भी बंधन बन जाएगा।
घी रहस्यपूर्ण है इन अर्थों में। जल भी जाता है, मिट भी जाता है, जीवन
की धारा को ऊपर की तरफ गतिमान भी कर जाता है। लपटों को प्राण दे जाता है, आकाश की तरफ दौड़ने का बल दे जाता है; और जल भी जाता है, खो भी जाता है, विदा भी हो जाता है। कहीं कोई रूपरेखा नहीं छूट जाती। कहीं कोई रूपरेखा नहीं छूट जाती। यज्ञ में फेंका गया घृत आस-पास सिर्फ एक सुवास छोड़ जाता है, सिर्फ एक सुगंध छोड़ जाता है। शुभ जब जलता है, तो सुगंध छोड़ जाता है। वह सुवास व्याप्त हो जाती है चारों ओर।
साधु के पास शुभ होता है। संत के पास शुभ की सिर्फ सुवास होती है, शुभ नहीं होता। साधु अग्नि में जलता हुआ घृत है, संत जल गया घृत है। शुभ भी जल गया है; सिर्फ सुवास रह गई है। जिनके पास बहुत तीव्र नासारंध्र हैं, वे ही केवल उस सुवास को पकड़ सकेंगे।
इसलिए साधु को पहचानना बहुत आसान; संत को पहचानना बहुत कठिन। साधु को कोई भी पहचान लेता है, क्योंकि शुभ दिखाई पड़ता है। संत को पहचानना कठिन हो जाता है, क्योंकि शुभ दिखाई नहीं पड़ता। शुभ अब पारदर्शी भी नहीं रह जाता। शुभ अब चारों तरफ स्पर्श नहीं किया जा सकता। अब शुभ खो जाता है सुवास में। ऐसा यह यज्ञ का प्रतीक। कृष्ण कहते हैं, जीवन ही जिसका यज्ञ हो जाए; यज्ञ को ही जो यज्ञ में समर्पित कर दे, ऐसा व्यक्ति, ऐसा व्यक्ति ही जीवन का चरम अनुभव है; ऐसी चेतना ही परात्परब्रह्म को जान पाती है; अल्टिमेट को, आत्यंतिक को जान पाती है।
ये प्रतीक सड़ जाते हैं। सब प्रतीक सड़ जाते हैं; अपने कारण नहीं, हमारे कारण। क्योंकि हमारी जो प्रतीकों की पकड़ है, वह नीचे के छोर से होती है। और जो प्रतीकों को जन्म देता है, वह ऊपर के छोर से जन्म देता है। जो प्रतीक को जन्म देता है, वह आकाश की तरफ से प्रतीक को निर्मित करता है। और हम जब प्रतीक को पकड़ते हैं, तब जमीन की तरफ से पकड़ते हैं।
जो अग्नि के प्रतीक को देता है, वह चेतना के लिए प्रतीक खोजता है। और
हम जब अग्नि को पकड़ते हैं, तो अग्नि को ही पकड़ते हैं। फिर अग्नि की पूजा चलती है। फिर हम गेहूं को जलाते रहते हैं। फिर हम घी को जलाते रहते हैं। फिर हम सब भूल जाते हैं कि घी क्या है, अग्नि क्या है, यज्ञ क्या है। सब भूल जाते हैं। एक थोथा, मरा हुआ, डेड सिंबल हाथ में रह जाता है। फिर उसके आस-पास हम घूमते रहते हैं, भटकते रहते हैं--सदियों तक।
और बड़ी कठिनाई तो तब पैदा होती है कि जब कोई व्यक्ति इस भटकाव का विरोध करे, तो धर्म का दुश्मन मालूम पड़ता है। कोई कहे कि यह पागलपन है, तो

निश्चित ही धर्म का दुश्मन मालूम पड़ेगा। क्योंकि हम कहेंगे, कृष्ण तो गीता में कहते हैं, और आप पागलपन कहते हैं! लेकिन जिसे कृष्ण गीता में कहते हैं और जिसे आप पकड़े हैं, उसमें आकाश और जमीन का फासला हो गया। अगर कृष्ण भी वापस लौट आएं, तो आपको पागल कहेंगे।
प्रतीक पकड़ने के लिए नहीं, पार हो जाने के लिए हैं, टु बी ट्रांसेंडेड। हर प्रतीक पार हो जाने के लिए है। और जब प्रतीक पार नहीं होते, तो संप्रदाय खड़े होते हैं।
मेरे जैसे आदमी की कठिनाई भारी है। भारी इसलिए है कि मैं देखता हूं कि प्रतीक के पीछे प्राण हैं। और भारी इसलिए है कि मैं देखता हूं कि आपके हाथ में लाश है। तब मेरी कठिनाई भारी है। तब एक दिन मैं कहता हूं, पागल हैं आप; और फिर भी मैं जानता हूं कि प्रतीक सार्थक है। दूसरे दिन कहता हूं, सार्थक है प्रतीक। तब आप पाते हैं कि असंगत है यह आदमी। क्योंकि कल कहा था कि गलत है; आज कहते हैं, सही है। कल तुम्हें गलत कहा था, प्रतीक को नहीं। आज प्रतीक को सही कह रहा हूं, तुम्हें नहीं। दोनों ही करना पड़ेंगे।
प्रतीक के भीतर गहरा छिपा हुआ राज है, उसे बचाना जरूरी है। लेकिन आपके हाथ में जो प्रतीक है, वह मुर्दा है, उसे मिटाना भी जरूरी है। और ये दोनों बातें हो पाएं, तो धर्म का रहस्य समझ में आता है, अन्यथा नहीं आता।

प्रश्नः भगवान श्री, इसमें दो प्रकार के यज्ञों की बात बताई गई है। पहला है, योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ की ही अच्छी तरह उपासना करते हैं, लेकिन दूसरे ज्ञानीजन परमात्मा रूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ को हवन करते हैं। योगियों का यज्ञ और ज्ञानियों का यज्ञ, कृपया इनका अर्थ स्पष्ट करिए।

जैसा मैंने पहले कहा, दो तरह की निष्ठाएं हैं, सांख्य की और योग की। इसलिए इन दो निष्ठाओं के कारण धर्म के सदा ही दो रूप हो जाते हैं। बस, दो ही; इससे ज्यादा नहीं होते।
सांख्य की निष्ठा है कि ज्ञान ही काफी है। सौ में से एक आदमी कभी सांख्य को समझ पाता है। योग की निष्ठा है कि ज्ञान काफी नहीं है; कुछ करेंगे, कुछ कर्म होगा--साधना, अभ्यास--तो ही ज्ञान फलित होगा। सौ में से निन्यानबे आदमी योग को ही समझ पाते हैं।
दो तरह के लोग हैं, इसलिए दो तरह की निष्ठाएं हैं। कर्माभिमुख, कर्म
की तरफ अभिमुख, एक्शन ओरिएंटेड लोग हैं। और ज्ञानाभिमुख, ज्ञान की ओर उन्मुख, नालेज ओरिएंटेड लोग हैं। मोटा विभाजन दो का है। इसलिए कृष्ण जगह-जगह दो की बात करते हैं। वे जगह-जगह कहते हैं, योगीजन, ज्ञानीजन। वे दोनों ही निष्ठाओं को स्वीकार करते हैं।
दोनों ही निष्ठाएं सही हैं, क्योंकि दो तरह के लोग हैं। अगर एक ही निष्ठा सही है, अगर सांख्य ही सही है, ऐसा किसी का आग्रह हो, तो बाकी निन्यानबे प्रतिशत लोगों को परमात्मा तक पहुंचने का कोई मार्ग नहीं है। अगर योग ही सही है, तो वह एक प्रतिशत लोगों को परमात्मा तक पहुंचने का कोई मार्ग नहीं है। नहीं; जितने तरह के लोग हैं, उतने तरह के मार्ग हैं। मोटा विभाजन दो का है।
इसलिए वे इस यज्ञ की चर्चा में भी दो की बात करते हैं। वे कहते हैं, योगीजन पूजन से... । पूजन क्रिया है। पूजन पद्धति है। उस पद्धति से यज्ञ कर रहे हैं। ज्ञानीजन ज्ञान से ही; उनके लिए ज्ञान ही यज्ञ है, जानना ही उनके लिए करना है। योगी के लिए करना ही जानना है। ज्ञानी के लिए जानना ही करना है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कृष्ण जैसे व्यक्ति को, जो ज्ञानी और योगी साथ-साथ हैं, जो दोनों को जानते हैं, जो दोनों मार्गों को पहचानते हैं, उनके लिए कोई भेद नहीं है।
अभी रामकृष्ण ने अपने जीवन में एक अनूठा प्रयोग किया, सदियों बाद। एक अर्थ में शायद अनूठा। रामकृष्ण को अनुभव हुआ। तो आमतौर से अनुभव हो जाए, तो बात समाप्त हो जाती है। एक मार्ग से भी आप मंजिल पर पहुंच जाएं, तो आप

फिर इस चिंता में नहीं पड़ते कि दूसरे मार्गों से भी पहुंचकर देखें। क्या जरूरत है? बात समाप्त हो जाती है।
लेकिन रामकृष्ण को अनुभव के बाद दूसरे मार्गों से भी पहुंचने का ख्याल आया। तो उन्होंने इस्लाम की भी साधना की। उन्होंने ईसाइयत की भी साधना की। उन्होंने सांख्य के मार्ग को भी खोजा। उन्होंने योग के मार्ग को भी खोजा। उन्होंने भक्तों की, वैष्णवजनों की यात्रा भी की। उन्होंने सब तरफ से देखा। आखिर में पाया कि सभी रास्ते वहीं पहुंच जाते हैं; सभी मार्ग वहीं पहुंच जाते हैं। तो रामकृष्ण ने बाद में कहा कि जैसे पहाड़ पर चढ़ने वाले बहुत-से रास्ते अंततः शिखर पर पहुंच जाते हैं, ऐसे ही... ।
जब वे एक तरह की साधना करते थे, तब ठीक निष्ठा से पूरा उसी में डूब जाते। जब वे इस्लाम की साधना कर रहे थे, सूफी साधना से गुजर रहे थे, तो उन्होंने मंदिर जाना बंद कर दिया। वे एक लुंगी बांध लिए और मस्जिद में ही पड़े रहने लगे; छह महीने। फिर एक दिन आकर दक्षिणेश्वर उन्होंने कहा, पहुंच गया वहीं। जहां यह मंदिर ले गया, वहीं मस्जिद भी ले गई।
जब वे साधना करते थे राधा संप्रदाय की; तो राधा संप्रदाय की मान्यता है, कृष्ण ही पुरुष हैं। और जब कोई उस साधना में जाता है, तो अपने को राधा मानकर ही, चाहे पुरुष हो तो भी, अपने को स्त्री मानकर ही जाता है। रामकृष्ण जब छह महीने तक अपने को कृष्ण की राधा मानकर साधना करते थे, तो बड़े अदभुत अनुभव हुए। साधारण अनुभव नहीं, जो भीतर घटते हैं; असाधारण, जो बाहर तक पहुंच जाते हैं।
रामकृष्ण की चाल बदल गई, स्त्रियों जैसी हो गई। उनके स्तन उभर आए। उनकी आवाज स्त्रैण हो गई। और एक बहुत बड़ा चमत्कार घटित हुआ कि वे मासिक धर्म से होने लगे।
यह अगर दो-चार हजार साल पहले घटी हुई घटना होती, तो हम कहते, कहानी होगी। अभी-अभी तक इसके आंखों देखे गवाह भी मौजूद थे। इतने भाव से भर गए वे राधा के, कि स्त्रैण हो गए। इतना आत्मसात कर लिया इस बात को कि राधा हूं, कि भूल गए कि पुरुष हूं। और जब मन भूल जाए, तो शरीर उसके पीछे चला जाता है। शरीर सदा अनुगामी है।
अगर ठीक से समझें, तो जो भी शरीर में प्रकट होता है, वह उसके बहुत पहले बीजरूप में मन में प्रकट होता है, अन्यथा शरीर में प्रकट नहीं होता। अगर कोई स्त्री है, तो वह भी उसके पिछले जन्म के मन का बीजरूप अंकुर आज आया है। और आज अगर कोई पुरुष है, तो वह भी उसके पिछले जन्म का बीजरूप अंकुर आज आया है। पिछले जन्म की यात्रा जहां छूट जाती है, मन में जो बीज रह जाते हैं, वे ही फिर सक्रिय हो जाते हैं, गतिमान हो जाते हैं।
रामकृष्ण का अनेक-अनेक मार्गों से वहीं पहुंच जाना। कृष्ण ऐसी ही बात कहते हैं पूरी गीता में। इसलिए गीता कई अर्थों में असाधारण है। कुरान एक निष्ठा का शास्त्र है; दूसरी निष्ठा की बात नहीं है। बाइबिल एक निष्ठा का शास्त्र है; दूसरी निष्ठा की बात नहीं है। महावीर के वचन एक निष्ठा के वचन हैं; दूसरी निष्ठा की बात नहीं है। बुद्ध के वचन एक निष्ठा के वचन हैं; दूसरी निष्ठा की बात नहीं है। गीता असाधारण है। मनुष्य के अनुभव में जितनी निष्ठाएं हैं, उन सारी निष्ठाओं का निचोड़ है।
इसलिए अगर मुसलमान कहें कि कुरान हमारा है, तो एक अर्थ में सही कहते हैं। लेकिन हिंदू अगर कहें कि गीता हमारी है, तो उस अर्थ में सही नहीं कहते। इसलिए सही नहीं कहते कि गीता सबकी हो सकती है।
ऐसी कोई निष्ठा नहीं है जो मनुष्य-जाति में प्रकट हुई हो, जिसके सूत्र, बीज-सूत्र गीता में नहीं हैं। सब मार्गों की, सब द्वारों की इकट्ठी। यह हो इसलिए सका, यह नहीं होता, अगर अर्जुन--कृष्ण ने पहले सांख्य की बात कही, अगर अर्जुन राजी हो जाए, तो गीता आगे न बढ़ती। लेकिन अर्जुन समझ न पाया सांख्य की बात। इसलिए फिर दूसरी बात कृष्ण को करनी पड़ी। अर्जुन वह भी न समझ पाया; फिर तीसरी बात करनी पड़ी। अर्जुन वह भी न समझ पाया; चौथी बात करनी पड़ी!
यह गीता का श्रेय अर्जुन को है। यह अर्जुन समझ ही नहीं पाया। वह सवाल उठता ही चला गया। जब एक मार्ग लगा कृष्ण को कि नहीं उसकी पकड़ में आता, नहीं

उसके साथ बैठता तालमेल, तब उन्होंने दूसरी बात की; तब तीसरी बात की; तब चौथी बात की।
मोहम्मद को भी अर्जुन मिल जाता, तो कुरान ऐसी ही बन सकती थी; नहीं मिला। महावीर को भी मिल जाता, तो उनके वचन भी ऐसे हो सकते थे; नहीं मिला। अर्जुन जैसा पूछने वाला कभी-कभी मिलता है। कृष्ण जैसे उत्तर देने वाले बहुत बार मिलते हैं।
यह ध्यान रखना, जो जानता है उसे उत्तर देना बहुत आसान है; जो नहीं जानता है, उसे प्रश्न भी ठीक से पूछना बहुत कठिन है। इसलिए अर्जुन एक अर्थों में, पूरी मनुष्य-जाति ने जितने सवाल उठाए हैं, उन सबका सारभूत है। पूरी मनुष्य-जाति में मनुष्य के मन ने जितने सवाल उठाए हैं, उन सारे सवालों को वह उठाता चला गया। वह पूरी मनुष्य-जाति के रिप्रेजेंटेटिव की तरह कृष्ण के सामने अड़कर खड़ा हो गया। कृष्ण को उसके उत्तर देने पड़े। एक-एक वह पूछता चला गया, एक-एक उन्हें उत्तर देने पड़े। वह एक-एक उत्तर को नकारता गया; भुलाता गया; दूसरे की खोज करता चला गया।
इसलिए कृष्ण बार-बार दो मूल निष्ठाओं की बात निरंतर करेंगे। वे कहेंगे, योगीजन; वे कहेंगे, ज्ञानीजन। दोनों एक ही जगह पहुंच जाते हैं। लेकिन दोनों के पहुंचने के मार्ग बड़े भिन्न हैं। योगी कर्म, क्रिया, अभ्यास से पहुंचते हैं। ज्ञानी अकर्म, अक्रिया, अनभ्यास से।
अगर इस सदी में हम पकड़ना चाहें, तो पश्चिम में एक आदमी हुआ, गुरजिएफ।
वह योगीजन का ठीक-ठीक प्रतीक है। आप कहेंगे कि भारत से कोई नाम नहीं लेता! दुर्भाग्य है; कोई नाम है नहीं ऐसा। ठीक-ठीक प्रतीक योगी का था जार्ज गुरजिएफ। अभी कुछ वर्ष पहले मरा। सांख्य का अगर ठीक-ठीक प्रतीक खोजना हो, तो कृष्णमूर्ति। सौभाग्य कि भारत उनका नाम ले सकता है।
अगर गुरजिएफ और कृष्णमूर्ति को आमने-सामने खड़ा कर दें, तो दुश्मन मालूम पड़ेंगे--बिल्कुल दुश्मन! क्योंकि गुरजिएफ कहेगा, बिना किए कुछ भी नहीं हो सकता। और कृष्णमूर्ति कहेंगे, कुछ भी करने से कुछ नहीं होगा। करने का कोई सवाल ही नहीं है। किया, कि फंसे। किया, कि कभी नहीं पहुंचोगे। और गुरजिएफ कहेगा कि नहीं किया, तो डूबे; नहीं किया, तो तुम नहीं ही कर रहे हो, कहां पहुंच गए हो?
लेकिन कृष्णमूर्ति भी एक निष्ठा की बात कर रहे हैं, सांख्य की। नई कोई बात नहीं है। नई लगती है, क्योंकि सांख्य इतना परम विज्ञान है कि जब भी प्रकट होता है, तभी नया लगता है; उसकी परंपरा नहीं बन पाती। वह इतना गहन और सूक्ष्म है कि उसकी धारा बार-बार टूट जाती है। एक प्रतिशत लोग तो मुश्किल से उसको समझ पाते हैं। तो उसकी धारा कैसे बने?
योग की धारा बन जाती है। क्योंकि योग को निन्यानबे प्रतिशत लोग समझ सकते हैं, चाहें तो। कोई कठिनाई नहीं है। इसलिए योग की परंपरा बन जाती है, ट्रेडीशन बन जाती है। सांख्य की कोई परंपरा नहीं बनती। इसलिए नहीं बनती कि कभी-कभी कोई एकाध आदमी ठीक से समझ पाता है कि न करने से भी हो सकता है। इसलिए जब भी सांख्य प्रकट होता है, तो नया मालूम पड़ता है। और जब भी योग प्रकट होता है, तो परंपरा मालूम पड़ती है। और सांख्य का चिंतक कहेगा, परंपरा से कुछ भी न होगा। और योग का चिंतक कहेगा, परंपरा के बिना कुछ भी न होगा।
लेकिन कृष्णमूर्ति को सुविधा है। जो लोग भी एक निष्ठा की बात करते हैं, वे बहुत कंसिस्टेंट हो सकते हैं, संगत हो सकते हैं। जिंदगीभर एक ही बात कहनी है! तो कृष्णमूर्ति तीस-चालीस साल से एक ही बात कहे चले जाते हैं। एक ही स्वर! बिल्कुल संगत हैं। उनमें असंगति नहीं खोजी जा सकती। गुरजिएफ में भी असंगति नहीं खोजी जा सकती। बिल्कुल संगत हैं। पूरी जिंदगी एक ही बात कहता है।
मेरे जैसे आदमी में असंगति खोजी जा सकती है। मैं दोनों निष्ठाओं की बात कह रहा हूं। मेरे सामने जैसा आदमी होता है, वैसी बात कहता हूं। अगर मुझे लगता है, यह आदमी योग से पहुंच सकता, तो मैं कहता हूं, क्रिया से। अगर मुझे लगता है, यह आदमी योग से नहीं पहुंच सकता, तो मैं कहता हूं, अक्रिया से। तब कठिनाई खड़ी हो जाती है। अगर वे दोनों आदमी मिल जाते हैं, तो बहुत

कठिनाई खड़ी हो जाती है। और अक्सर तो मुझे दोनों बातें एक ही साथ कहनी पड़ती हैं।
इसलिए कृष्ण की गीता भी समझनी मुश्किल है। अगर गुरजिएफ कृष्ण की गीता पढ़ेगा, तो भी उसमें गलतियां निकाल लेगा। वे गलतियां निकाल लेगा, जो सांख्य के वचन हैं। अगर कृष्णमूर्ति गीता पढ़ेंगे, तो वे भी गलतियां निकाल लेंगे। वे गलतियां निकाल लेंगे, जो योग के वचन हैं। लेकिन दोनों हालत में कृष्ण के साथ अन्याय हो जाएगा।
मार्ग हैं अलग, मंजिल है एक। और हर मार्ग पर अलग घटनाएं घटती हैं। अगर मैं बाएं तरफ के रास्ते से पहाड़ चढ़ता हूं, तो हो सकता है, मुझे फूलों से लदे हुए वृक्ष मिलें। और आप अगर दाएं रास्ते से पहाड़ चढ़ते हों, तो हो सकता है, आपको सिवाय चट्टानों, पथरीली चट्टानों के कुछ भी न मिले।
और हो सकता है, जब हम दोनों मिलें, तो हम कहें कि हमारे दोनों रास्ते बिल्कुल अलग हैं, मंजिल भी अलग होगी। क्योंकि मेरे रास्ते पर तो फूल ही फूल हैं, और तुम्हारे रास्ते पर पत्थर ही पत्थर हैं। अब कहां फूल! कहां पत्थर! दोनों का कोई मेल हो नहीं सकता। हम दुश्मन हैं। और जो रास्ता फूलों से गुजरता है, वह वहीं कैसे पहुंचेगा, जहां वह रास्ता पहुंचता है, जो पत्थरों से गुजरता है! ऐसी हमारी बुद्धि है।
लेकिन पहाड़ को कोई तकलीफ नहीं आती। वह फूलों वाले रास्ते को भी शिखर
पर पहुंचा देता है; और पत्थरों वाले रास्ते को भी शिखर पर पहुंचा देता है। पहाड़ को इसमें कोई इनकंसिस्टेंसी दिखाई नहीं पड़ती। कोई अड़चन ही नहीं मालूम होती। वह कहता है कि इस रास्ते से आओ, तो भी शिखर पर आ जाओगे। उस रास्ते से आओ, तो भी। तुम्हारे रास्ते पर लाल फूल खिलते हों, तो कोई हर्ज नहीं; और तुम्हारे रास्ते पर सफेद फूल खिलते हों, तो कोई हर्ज नहीं; और तुम्हारे रास्ते पर फूल खिलते ही न हों, तो कोई हर्ज नहीं; और तुम्हारे रास्ते पर कांटे ही कांटे खिलते हों, तो भी कोई हर्ज नहीं। ध्यान एक ही रखना जरूरी है कि तुम ऊपर की तरफ उठ रहे हो कि नहीं उठ रहे हो। अगर ऊपर की तरफ उठ रहे हो, तो शिखर पर आ जाओगे।
इसलिए कृष्ण यज्ञ की बात करते हैं। वह ऊपर की तरफ उठने का प्रतीक है। चाहे योगी करते हों--भजन से, पूजन से, आसन से, प्राणायाम से--किसी भी तरह।
और चाहे ज्ञानीजन करते हों--ध्यान से, निदिध्यासन से, समाधि से, न कुछ करने में, न कुछ करने से--वे भी पहुंच जाते हैं। इसलिए दोनों का उन्होंने अलग उल्लेख किया है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। 26।।
और अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सब इंद्रियों को संयमरूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात इंद्रियों को विषयों से रोककर अपने वश में कर लेते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादिक विषयों को इंद्रियरूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात राग-द्वेष रहित इंद्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करते हुए
भी भस्मरूप करते हैं।

फिर कृष्ण ने दो निष्ठाओं की बात कही।
एक वे, जो इंद्रियों का संयम कर लेते हैं। जो इंद्रियों को विषयों की तरफ--विषयों की तरफ इंद्रियों की जो यात्रा है, उसे विदा कर देते हैं; यात्रा ही समाप्त कर देते हैं। जिनकी इंद्रियां विषयों की तरफ दौड़ती ही नहीं हैं। संयम का अर्थ समझेंगे, तो ख्याल में आए। दूसरे वे, जो विषयों को भोगते रहते हैं, फिर भी लिप्त नहीं होते। ये दोनों भी यज्ञ में ही रत हैं। एक वे, जो इंद्रियों को विषयों तक जाने ही नहीं देते--उसकी अलग साधना है--इंद्रियों और विषयों के बीच में जो सेतु है, ब्रिज है, उसे ही तोड़ देते हैं। दूसरे वे, जो इंद्रियों को विषयों तक जाने देते हैं, लेकिन इंद्रियों और लिप्त हो जाने में जो सेतु है, उसे तोड़ देते हैं।
अब यह दो सेतुओं का जो तोड़ना है, वह ख्याल में ले लेना जरूरी है। दोनों
ही स्थितियों से एक ही परम अवस्था उपलब्ध होती है।

पहले, पहले को ख्याल में लें, इंद्रियों को विषयों तक नहीं जाने देते! इंद्रियां विषयों की तरफ भागती ही रहती हैं। रास्ते पर गुजरे हैं आप। सुंदर भवन दिखाई पड़ गया, कि सुंदर चेहरा दिखाई पड़ गया, कि सुंदर काया दिखाई पड़ गई, कि सुंदर कार दिखाई पड़ गई--आपको पता ही नहीं चलता कि जब आपने कहा, सुंदर है, तभी इंद्रियां दौड़ चुकीं। ऐसा नहीं कि सुंदर है, ऐसा जानने के बाद इंद्रियां दौड़ना शुरू करती हैं। इंद्रियां दौड़ चुकी होती हैं। उनका कनक्लूजन है यह, सुंदर है, यह निष्कर्ष है। दौड़ गई इंद्रियों का, पहुंची इंद्रियों का निष्कर्ष है यह कि सुंदर है।
ऐसा मत सोचना आप कि आप सुंदर चेहरा देखकर आकर्षित होते हैं; आप आकर्षित होते हैं, इसलिए चेहरा सुंदर दिखाई पड़ता है। आकर्षण की घटना सूक्ष्म है और बड़े अदृश्य में घट जाती है। सौंदर्य की घटना सूक्ष्म नहीं है और विचार में पता चलती है।
लेकिन आमतौर से हम उलटी बातें करते हैं। सूक्ष्म का हमें पता नहीं चलता। हम कहते हैं, यह चेहरा आकर्षक मालूम पड़ता है, क्योंकि सुंदर है। सचाई उलटी है। यह चेहरा सुंदर मालूम पड़ता है, क्योंकि आकर्षित कर चुका है। क्योंकि यही चेहरा दूसरे को सुंदर नहीं मालूम पड़ता; तीसरे को सुंदर नहीं मालूम पड़ता। अगर उनको आकर्षित नहीं कर पाया है, तो सुंदर नहीं है। सुंदर हमारी निष्पत्ति है, कारण नहीं। सुंदर की वजह से कोई आकर्षित नहीं होता; आकर्षित होने की वजह से सुंदर का निष्कर्ष लेता है। यह हमारा बौद्धिक निष्कर्ष है। इंद्रियों ने तो अनुभव किया है आकर्षण का; बुद्धि ने निर्णय लिया है सुंदर का। इंद्रियां पहुंच चुकीं; इंद्रियों ने स्पर्श कर लिया। इंद्रियों की गति सूक्ष्म है। ऐसा नहीं कि जब आप किसी के शरीर को छूते हैं, तभी इंद्रियां छूती हैं। इंद्रियों के छूने के अलग-अलग मार्ग हैं। आंख देखती है, और छू लेती है। देखना आंख के छूने का ढंग है। सुनना कान के छूने का ढंग है। स्पर्श हाथ के छूने का ढंग है। ये सब छूने के ढंग हैं। सब इंद्रियां छूती हैं। एक लिहाज से हाथ का रेंज उतना ज्यादा नहीं है छूने में, जितना आंख का है, जितना कान का है। आंख बहुत दूर स्पर्श कर लेती है। लेकिन आंख भी स्पर्श करती है।
जब आप किसी के चेहरे को अब दुबारा देखें, तो आप ख्याल करना कि आपकी आंख
ने उसके चेहरे को स्पर्श किया या नहीं! लेकिन हमारा ख्याल यह है कि हाथ से ही छुआ जाता है; इसलिए हम भूल में पड़ते हैं। आंख से भी छुआ जाता है। कान से भी छुआ जाता है। गंध से भी छुआ जाता है। ये सब हमारे छूने के ढंग हैं। इंद्रिय का अर्थ है, स्पर्श की व्यवस्था, उपकरण। सब इंद्रियां स्पर्श करती हैं।
सूक्ष्म स्पर्श दूर से हो जाते हैं। स्थूल स्पर्श पास से करने पड़ते हैं। हाथ सबसे स्थूल है; बहुत निकट न आ जाए, तो छू नहीं सकता। इसलिए जिसे हमारी इंद्रियां छूना चाहती हों, हाथ सबसे आखिर में छूता है। पहले आंख छुएगी, फिर नाक छुएगी, कान छुएंगे। और जब दूसरा व्यक्ति आंख से छूने के लिए राजी हो जाएगा, कान से छुए जाने को राजी हो जाएगा, नाक से छुए जाने को राजी हो जाएगा, तब हाथ छुएंगे।
इससे विपरीत काम भी चलता है पूरे समय। अगर स्त्रियां परफ्यूम डालकर निकलती हैं या पुरुष, तो वे छूने का दूसरा काम कर रहे हैं। वे छुए जाने का काम कर रहे हैं। शरीर से सबको नहीं छुआ जा सकता। लेकिन एक परफ्यूम डालकर बड़े सूक्ष्म तल पर, गंध से, सब को छुआ जा सकता है। सभ्यता हाथ से छूने की तो आज्ञा सबको नहीं देती। नियंत्रण है, लाइसेंस है। लेकिन गंध से तो सबको छुआ जा सकता है!
आवाज, गंध, ध्वनि, दृश्य, दर्शन--वे सब छूते हैं। जब आप सज-संवरकर घर से निकलते हैं, तो आप दूसरों की आंख से छुए जाने का निमंत्रण लेकर निकल रहे हैं। और अगर कोई आंख से न छुए, तो आप बड़े उदास लौटेंगे।
दूसरों की आंख का स्पर्श भी लोरी का काम करता है, थपकी का काम करता है।
जब आप निकलते हैं और कई आंखें आपको छूती हैं, तब आपके भीतर कोई गुदगुदी छूट जाती है।

यह दोहरा काम चल रहा है, छूने का, छुए जाने का। इंद्रियां प्रतिपल इस काम में संलग्न हैं। आपको पता भी नहीं चलता कि यह हो रहा है। यह ख्याल में भी नहीं आता।
बर्न ने एक किताब लिखी है, गेम्स दैट पीपुल प्ले। उसमें स्पर्श के भी
एक खेल की उसने चर्चा की है, और ठीक चर्चा की है।
आप रास्ते पर निकलते हैं; और एक आदमी कहता है, हलो! उसने आपको छुआ। यू हैव बीन टच्ड, आवाज से। उसने एक थपकी दी, अच्छे तो हो! गदगद हुए। रीढ़ ऊंची हुई। अच्छा लगा। लेकिन वही आदमी एक दिन पास से निकला और उसने हलो नहीं कहा। आप छुए नहीं गए। भीतर कुछ उदास हुआ; फ्रस्ट्रेशन हुआ। क्या बात है? इस आदमी ने आज हलो नहीं कहा!
अगर तीस दिन के लिए आप गांव के बाहर चले गए और तीस दिन बाद आए, और जो आदमी आपको रास्ते पर मिलकर सिर्फ हलो कहता था, उसने अगर आज भी सिर्फ हलो कहा, तो भी आप डिप्राइव्ड अनुभव करेंगे, क्योंकि तीस हलो उसके ऊपर ऋण हैं! आपको लगेगा कि यह आदमी, उनतीस हलो का क्या हुआ? नहीं तो तीस दिन के बाद अगर वह मिलेगा, तो वह कहेगा, हलो। कहिए, कैसे हैं! तबियत तो ठीक! बहुत दिन से दिखाई नहीं पड़े।
वह स्ट्रोक दे रहा है। वह तीस स्ट्रोक पूरे करे, तो तृप्ति मिलेगी। अगर नहीं पूरे किए, और सिर्फ हलो कहकर निकल गया, तो आपको लगेगा, कुछ कमी है। तीस दिन बाद दिखाई पड़ा हूं, तो तीस स्ट्रोक उधार हो गए। तीस स्पर्श! वह पूरे करने चाहिए। तो वह करेगा पूरा। वह खड़े होकर कहेगा, कैसा है; मौसम कैसा है? कहां गए थे? अच्छे रहे? कुछ मतलब की बातें नहीं हैं, लेकिन स्पर्श। स्पर्श मिल जाएंगे; आप तृप्त होकर अपने रास्ते पर बढ़ जाएंगे। उसको भी स्पर्श मिल जाएंगे, वह भी अपने रास्ते पर बढ़ जाएगा। दोनों खुश हैं! छू लिया एक-दूसरे को।
इंद्रियां पूरे समय स्पर्श को लालायित और स्पर्श देने को और लेने को आतुर हैं। ले रही हैं।
तो जिस व्यक्ति को इंद्रियों को विषयों तक जाने से रोकना है, उसे इंद्रियों की इस सूक्ष्म स्पर्श-व्यवस्था के प्रति जागरूक होना पड़ेगा।
अत्यंत सूक्ष्म व्यवस्था है। आपको पता चलने के पहले घटित हो जाता है। इतना शीघ्रता से घटित होता है इंद्रिय का स्पर्श, कि आपको पता ही तब चलता है, जब घटित हो जाता है। इसके प्रति जागना पड़े। इसे देखना पड़े। इसको स्मरण रखना पड़े।
गुरजिएफ कहेगा, रिमेंबरिंग। मैंने कहा कि वह इस युग के योगीजन में से
एक कीमती व्यक्ति! वह कहेगा, रिमेंबर रखो; पूरे वक्त स्मरण रखो कि क्या हो रहा है।
तुम्हारी आंख सिर्फ देख रही है या स्पर्श भी कर रही है, इन दोनों में फर्क है। एक साधारण-सी स्त्री चली आ रही है, तो आंख सिर्फ देखती है, स्पर्श नहीं करती। सुंदर स्त्री चली आ रही है, आंख देखती ही नहीं, स्पर्श भी करती है। साधारण-सा पुरुष चला आ रहा है, तो आंख सिर्फ देखती है, जस्ट सीइंग। सुंदर पुरुष चला आ रहा है, तब देखती ही नहीं, स्पर्श भी करती है।
फर्क कैसे पता चलेगा? अगर सिर्फ देखा हो, तो पीछे कोई लकीर नहीं छूटेगी। और अगर स्पर्श भी किया हो, तो पीछे लकीर छूटेगी। अगर सिर्फ देखा हो, तो लौटकर नहीं देखना पड़ेगा; अगर स्पर्श भी किया हो, तो लौटकर भी देखना पड़ेगा। अगर सिर्फ देखा हो, तो स्मृति नहीं बनेगी; अगर स्पर्श भी किया हो, तो स्मृति बनेगी। अगर सिर्फ देखा हो, तो कल भी देखूं, ऐसी आकांक्षा नहीं जगेगी; अगर स्पर्श किया हो, तो फिर-फिर देखूं, ऐसी आकांक्षा जगेगी।
आंख से सिर्फ देखने का काम लें, स्पर्श करने का नहीं, तो कृष्ण जो कह रहे हैं, पहली घटना घट सकती है। हाथ से सिर्फ छूने का काम लें, स्पर्श करने का नहीं। अब आप कहेंगे, छूना और स्पर्श करना तो बिल्कुल एक ही बात है। वही फर्क जो मैंने आंख के लिए कहा, सिर्फ देखने का काम आंख से, स्पर्श करने का नहीं। कान से काम सुनने का, स्पर्श करने का नहीं। कोई आवाज कान सुनता है, ठीक। लेकिन मीठी लग गई, तो छू ली गई। फिर आकांक्षा जगेगी, डिजायर पैदा होगी--और, और, और सुनूं। और सुनाई पड़े, तो स्पर्श हो गया। इंद्रिय ने रस

लेना शुरू कर दिया। इंद्रिय सिर्फ उपकरण न रही, मालिक हो गई। इंद्रिय ने सिर्फ देखा नहीं, इंद्रिय ने पकड़ भी लिया।
जो योगी इंद्रिय को विषय से तोड़ता है, वह विषय और इंद्रिय के बीच स्पर्श को, संस्पर्श को तोड़ता है। देखना तो नहीं तोड़ा जा सकता। देखने से तोड़ने से कुछ फर्क नहीं पड़ता। अगर आपने आंखें फोड़ लीं, तो आप बहुत हैरान होंगे। अगर आपने आंखें फोड़ लीं, तो जो काम आंख से आप करते थे, वह ट्रांसफर हो जाएगा कान के पास। इसलिए अंधों के कान तेज हो जाएंगे। आंख से स्पर्श करने का जो काम था, वह काम भी कान को मिल जाएगा।
इसलिए अंधों के कान तेज हो जाएंगे। अंधे कान से दोहरा काम लेने लगेंगे। सुनने का स्पर्श भी उसी से करेंगे; देखने का स्पर्श भी उसी से करेंगे। इसलिए अंधे आपके पैर की आवाज भी पहचानने लगेंगे, कौन आदमी आता है! आंख वाला कभी नहीं पहचान सकता। आंख वाले को कभी पता ही नहीं चलता कि पैर में आवाज भी होती है। लेकिन अंधे को बिल्कुल पता होता है। कमरे में कौन आ रहा है, अंधा आदमी उसके पैर के पदचाप से जानता है--कौन आ रहा है। उसको आंख का काम भी कान से ही लेना पड़ता है। कान को दोहरे स्पर्श करने पड़ते हैं। आंख फोड़ लेने से कुछ न होगा। आंख से स्पर्श विदा होना चाहिए। लेकिन कब होगा? जब आप जागेंगे, तो स्पर्श विदा हो जाएगा। क्या करेंगे?
जब भी देखें, तब होश से यह भी देखें कि स्पर्श हो रहा है कि नहीं! सिर्फ देख रहे हैं? धीरे, धीरे, धीरे, फासला साफ दिखाई पड़ने लगेगा। जैसे अक्सर होता है, रात आप बिजली बुझाते हैं, तो कमरे में अंधेरा मालूम पड़ता है। फिर थोड़ी देर देखते रहें, देखते रहें, देखते रहें, तो अंधेरा फीका होने लगता है। थोड़ी रोशनी मालूम पड़ने लगती है। ठीक ऐसे ही; देखें, देखते-देखते फासला दिखाई पड़ने लगता है। और साफ दिखाई पड़ने लगता है कि मैंने स्पर्श किया, कि देखा। और जब आप पाएंगे कि दिखाई पड़ने लगा स्पर्श किया, तभी आपको अनुभव हो जाएगा कि इंद्रियां जहां-जहां स्पर्श करती हैं, वहीं-वहीं बंधन को निर्मित करती हैं। जहां-जहां स्पर्श नहीं करतीं, वहां-वहां बंधन निर्मित नहीं होता।
संयमी का अर्थ है, जो इंद्रियों से उपकरण का काम लेता, भोग का नहीं। संयमी का अर्थ है, जो इंद्रियों से भोगता नहीं, केवल उपयोग लेता है। असंयमी का अर्थ है, जो इंद्रियों से उपयोग कम लेता, भोग ज्यादा लेता। आंख से देखना उपयोग है। आंख से भोगना, स्पर्श करना, उपयोग नहीं है; भोग है। भोग बंधन है, उपयोग बंधन नहीं है।
इस स्पर्श की सूक्ष्म व्यवस्था को स्मरणपूर्वक देखने से व्यवस्था क्रमशः टूटती चली जाती है।
लेकिन आपने शायद ही सोचा होगा कि संयम का यह अर्थ है! संयम का तो यह अर्थ है, स्त्री दिखाई पड़े, तो आंख बंद कर लो। संयम का तो यह अर्थ है कि जहां स्त्रियां हों, वहां रहो ही मत। संयम का तो यह अर्थ है, देखो मत, सुनो मत, छुओ मत। ऐसा हमने संयम का अर्थ लिया हुआ है। यह संयम का अर्थ नहीं है।
इससे संयम फलित नहीं होता, सिर्फ दमन, सप्रेशन फलित होता है। और दमन संयम नहीं है। दमन भीतर उबलता हुआ असंयम है। बाहर नहीं जा पाता, भीतर उबलता है। और ध्यान रहे, केटली से भाप बाहर चली जाए, यही उचित है, बजाय भीतर रहे। क्योंकि तब केटली फूटेगी और एक्सप्लोजन होगा। दो-चार की जान भी लेगी।
इसलिए साधारण असंयमी आदमी इतना खतरनाक नहीं होता, जितना दमित असंयमी आदमी खतरनाक होता है। क्योंकि उसके भीतर बहुत जहर इकट्ठा हो जाता है। जब भी फूटता है, तो ज्यादा दूर तक नुकसान पहुंचाता है। और जब भी फूटता है, तो फिर पूरी तरह फूटता है।
सप्रेशन संयम नहीं है; दमन संयम नहीं है।
संयम जागरण है--होश, रिमेंबरिंग, स्मृति। इसको प्रयोग करके देखें। प्रियजन है आपका कोई। हाथ हाथ में ले लेते हैं उसका प्रेम से। तब हाथ हाथ में रखें, आंख बंद कर लें, स्मरण करें, स्पर्श हो रहा है कि सिर्फ छू रहे हैं। बारीक है फासला, पर ख्याल में आ जाएगा; दिखाई पड़ जाएगा। कभी लगेगा, स्पर्श कर रहे हैं। कभी लगेगा, छू रहे हैं। कभी लगेगा, दोनों काम एक साथ चल रहे हैं। और ध्यान रहे, अगर सिर्फ छू रहे हैं, तो थोड़ी ही देर में

पसीने के सिवाय अनुभव में और कुछ भी नहीं आएगा। अगर स्पर्श कर रहे हैं, तो कविता अनुभव में आएगी; पसीने का पता ही नहीं चलेगा।
अगर प्रियजन का हाथ हाथ में लेकर बैठे हैं और अगर सिर्फ छू रहे हैं, तो थोड़ी ही देर में ऊब जाएंगे। और मन होगा कि कब हाथ से हाथ छूटे अब। लेकिन अगर स्पर्श भी कर रहे हैं, तो ऐसा होगा कि कोई हाथ न छुड़ा दे। अब यह हाथ हाथ में ही रहा आए। अब यह हाथ हाथ से जुड़ ही जाए। कविता पैदा होगी, स्वप्न पैदा होगा, रोमांटिक, रोमांच का जगत शुरू होगा।
इसे देखते रहें और प्रयोग करते रहें, तो पहली घटना घट सकती है संयम की, अर्थात विषयों तक इंद्रियों का रस तिरोहित हो जाता है। विषय तक इंद्रियां जाती हैं उपयोग के लिए, भोग के लिए नहीं। सेतु टूट गया। तब जो व्यक्ति है, वह संयमी है। ऐसा संयमी व्यक्ति, कृष्ण कहते हैं, उपलब्ध हो जाता है। दूसरा, कृष्ण कह रहे हैं, भोग करते हुए भी, भोग में होते हुए भी इंद्रियों को विषयों से बिना तोड़े हुए, छूना ही नहीं, स्पर्श करते हुए भी, ज्ञानीजन बाहर हो जाते हैं। उसकी प्रक्रिया और भी सूक्ष्म होगी, क्योंकि वह एक प्रतिशत के लिए है। यह अभी जो मैंने कहा, निन्यानबे प्रतिशत के लिए है। यह भी कठिन है। वह और भी कठिनतर है। स्पर्श करते हुए, इंद्रियों का उपयोग ही नहीं, भोग करते हुए। फिर क्या करें? फिर कैसे सेतु टूटेगा? भोग करते हुए भी, पूरा भोग करते हुए भी, जो भोग के क्षण में जाग सकता है; भोग के क्षण में... !
भोजन कर रहे हैं। स्वाद की तरंगें बह रही हैं। स्वाद में उतरा रहे, डूब रहे। ठीक उस क्षण में स्वाद के प्रति जो जाग जाए, देखे कि डूब रहा, उतरा रहा; भागता नहीं, तोड़ता नहीं; डूब रहा, उतरा रहा, स्वाद ले रहा, पूरी तरह ले रहा। पूरी तरह लूं और होश से भर जाऊं, तो अचानक दिखाई पड़ेगा, मैं भोक्ता नहीं हूं; भोग है; मैं द्रष्टा हूं। भोग है; मैं द्रष्टा हूं, भोक्ता नहीं हूं।
द्रष्टा का भोक्ता-भाव गिर जाता है। तो वह भोगता रहे! संगीत को सुनेगा; कान गदगद होंगे, आनंदातिरेक में नाचने लगेंगे। कान के भीतर तरंगें उठकर सुख देने लगेंगी। कान पूरी तरह रसमग्न हो जाएगा। स्पर्श करेगा ध्वनि को, संगीत को। लेकिन भीतर जो चेतना है, वह जागकर देखेगीः ऐसा हो रहा है; दिस इ.ज हैपनिंग। और ऐसे स्मरण से कि ऐसा हो रहा है, तत्काल कोई गहरा सेतु टूट जाता है; जहां से भीतर की चेतना भोक्ता नहीं रह जाती, सिर्फ द्रष्टा रह जाती है।
इस मार्ग से भी ज्ञानीजन उस परात्पर सत्य को उपलब्ध हो जाते हैं। कृष्ण ने फिर ये दो बातें कहीं। ये अलग-अलग जरा भी नहीं हैं। व्यक्ति की बात है, उसे क्या निकटतम सुलभ मालूम पड़ सकता है।
दूसरा कठिन सिर्फ इसलिए है कि डर यही है कि हम अपने को धोखा दे लें।
वही उसकी कठिनाई है। डिसेप्शन का डर है। आत्मवंचना का डर है। दूसरे की असली कठिनाई आत्मवंचना है। एक आदमी कह सकता है कि ठीक है। हम तो वेश्या के घर नृत्य देखते हैं, साक्षी रहते हैं। रस लेते हैं पूरा, लेकिन ज्ञानीजन की तरह लेते हैं! परीक्षा बहुत कठिन है।
लेकिन परीक्षाएं भी निकाली गई हैं। तंत्र ने बहुत-सी परीक्षाएं निकालीं। एक अदभुत परीक्षा तंत्र ने निकाली है, वह मैं आपसे कहूं। क्योंकि विश्व में वैसा प्रयोग और कहीं हुआ नहीं।
वह परीक्षा यह थी कि जो व्यक्ति कहता है कि मैं भोगते हुए भी तटस्थ होता हूं, द्रष्टा होता हूं; तंत्र ने कहा कि तुम शराब पीओ और शराब पीते हुए तुम होश में रहो; और हम शराब पिलाए चले जाएंगे, तुम होश में रहना। अगर घटना घट गई है साक्षी की, द्रष्टा की--भोगते हुए--तो शराब में भी होश कायम रहना चाहिए। क्योंकि नशा करेंगी इंद्रियां; तुम जागे रहना; तुम मत सो जाना।
तो तंत्र ने एक अदभुत प्रक्रिया निकाली नशे की--शराब, गांजा, अफीम। और आखिर तक बात वहां पहुंची कि जब अफीम, गांजा, इस सबका भी कोई असर नहीं हुआ साधक पर और वह जागा ही रहा, उतने ही होश में, जितने होश में वह बिना नशे का था, तब सांप से भी जीभ पर कटाने के प्रयोग किए गए और उसमें भी जागा रहा।

सांप जीभ पर काट लिया है, जहर हो गया। आदमी मर जाए! और वह भीतर की चेतना की ज्योति जागी हुई है।
यह आमतौर से हमको कठिन मालूम पड़ता है कि साधु-संन्यासी गांजा पीएं, शराब पीएं। वह कभी परीक्षा थी। कभी वह परीक्षा थी, अब वह रोज का उपक्रम है।
रोज सांझ को गांजा पी रहे हैं! कभी वह एक बहुत गहरी परीक्षा थी। लेकिन दूसरे वर्ग की ही परीक्षा है, पहले वर्ग की परीक्षा वह नहीं है।
योगी उस परीक्षा में नहीं खरा उतरेगा; वह परीक्षा ही उसकी नहीं है। उसने तो स्पर्श को ही तोड़ दिया है। उसने इंद्रिय और विषय के बीच संबंध ही तोड़ दिया है। दूसरे की परीक्षा है; जो कहता है, संबंध मैंने कायम रखा है, लेकिन मैं संबंध के रहते हुए असंबंधित और असंग हो गया हूं। वह उसकी परीक्षा है। और अगर बेहोशी रासायनिक सारे शरीर में पहुंच गई, फिर भी चेतना होश में जागी हुई है; उस बिंदु पर कोई अंतर नहीं पड़ा है... ।
यह परीक्षा क्यों निकाली गई? क्योंकि आत्मप्रवंचना का डर है, धोखे का
डर है। एक आदमी कह सकता है कि हम तो अच्छे कपड़े पहनते हैं, लेकिन कोई रस नहीं है। हम तो साक्षी-भाव से पहनते हैं। दूसरे को कोई नुकसान नहीं है; नुकसान उसी को है। इसलिए अक्सर पहली साधना में आत्मवंचना की संभावना न होने से सुगम है। दूसरी साधना में आत्मवंचना की संभावना होने से दुर्गम है। लेकिन दोनों बातें कृष्ण ने कहीं, कि ऐसा भी और ऐसा भी हो सकता है। महावीर और बुद्ध पहली साधना के व्यक्ति हैं, संयम के। कृष्ण खुद दूसरी साधना के व्यक्ति हैं। इसीलिए तो कृष्ण और महावीर के व्यक्तित्व बिल्कुल उलटे मालूम पड़ सकते हैं। तो जैनियों ने कृष्ण को तो नर्क में डाल दिया है। स्वाभाविक है, लाजिकल है। जैन-चिंतन से कृष्ण को नर्क में डालना बिल्कुल उचित है। क्योंकि वह जो पहली निष्ठा है, वह सोच ही नहीं पा सकती कि यह स्त्रियों के साथ नाचता हुआ आदमी, यह सैकड़ों स्त्रियों के प्रेम में मग्न आदमी, यह युद्ध में खड़ा हुआ आदमी, यह हिंसा के लिए अर्जुन को प्रेरणा देता हुआ आदमी मुक्त कैसे हो सकता है? वह निष्ठा सोच ही नहीं सकती। इसलिए नर्क में डाल दिया।
लेकिन कृष्ण आदमी तो कीमती थे। तर्क ने तो कह दिया कि नर्क में डाल दो, लेकिन हृदय भी तो है। तो जैनों ने कृष्ण को नर्क में भी डाला, लेकिन फिर हृदय ने बगावत भी की। क्योंकि आखिर कृष्ण को देखा भी है, जाना भी है, पहचाना भी है। नाचा हो स्त्रियों के साथ, लेकिन इस आदमी की आंख में कोई नाच नहीं था। लड़ा हो युद्ध में, लेकिन इस आदमी के हृदय में कोई क्रोध नहीं था। तो तर्क ने तो कहा कि हमारी निष्ठा के बिल्कुल प्रतिकूल है, असंयमी है, इसलिए नर्क में तो जाना ही चाहिए। लेकिन हृदय ने कहा, आंखें भी तो देखी हैं; आदमी भी तो देखा है। इसलिए जैनियों ने आने वाले कल्प में पहला तीर्थंकर कृष्ण को बनाया। नर्क में डाला अभी, लेकिन आने वाले कल्प में पहले तीर्थंकर कृष्ण ही होंगे। कंपनसेशन है।
बुद्धि ने कहा कि डालो नर्क में, क्योंकि असंयमी मालूम पड़ता है। हृदय
ने कहा, लेकिन आंख भी तो देखो! इस आदमी की चाल और ढंग भी तो देखो। रहा है स्त्रियों के बीच, लेकिन गंध जरा भी नहीं आती स्त्रियों की। नाचता रहा, लेकिन थिर है, वैसा ही जैसा बुद्ध अपने सिद्धासन पर थिर होते हैं। युद्ध में खड़ा रहा, लेकिन हिंसा इस आदमी के मन में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती। इसकी आंखों में वे रेशे नहीं हैं, जो क्रोध के और हिंसा के रेशे होते हैं। मोर-मुकुट बांधकर खड़ा रहा, लेकिन कोई गौर से देखे, तो कृष्ण के मोर-मुकुट के पीछे महावीर की नग्नता, दिगंबरत्व साफ-साफ है। मगर मोर-मुकुट भी तो दिखाई पड़ते हैं। मोर-मुकुट की वजह से नर्क में डाला; लेकिन पीछे जो नग्नता दिखाई पड़ती है कि मोर-मुकुट के पीछे भी यह आदमी ऐसा ही है, जैसे दिगंबर हो, नग्न खड़ा हो; उसकी वजह से पहला तीर्थंकर भी बनाया!
यह दूसरी निष्ठा के व्यक्ति हैं कृष्ण। और ध्यान रहे, यह बड़े मजे की बात है, दूसरी निष्ठा का व्यक्ति पहली निष्ठा के व्यक्ति को बिल्कुल विपरीत मालूम पड़ेगा, स्वाभाविक। पहली निष्ठा के व्यक्ति को दूसरी निष्ठा का व्यक्ति विपरीत मालूम पड़ेगा, वैसे ही दूसरी निष्ठा के व्यक्ति को पहली निष्ठा का व्यक्ति विपरीत मालूम पड़ेगा।

लेकिन कृष्ण दोनों निष्ठाओं को समान भाव से गीता में कहे चले जाते हैं। दोनों निष्ठाओं का अनुभव, दोनों निष्ठाओं की यात्रा, दोनों निष्ठाओं को आकाश से देखने की क्षमता; दोनों निष्ठाएं एक जगह पहुंचा देती हैं, इसकी प्रतीति उनकी प्रगाढ़ है। पूरी गीता में जगह-जगह समन्वय का यह स्वर, यह सिंथेटिक भाव मिलेगा। वही खूबी भी है।
अब शेष सांझ लेंगे। अभी पांच-दस मिनट संन्यासी कीर्तन में डूबते हैं,
आप भी सम्मिलित हों, अन्यथा देखें।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
दसवां प्रवचन

संन्यास की नई अवधारणा

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। 27।।
और दूसरे योगीजन संपूर्ण इंद्रियों की चेष्टाओं को तथा प्राणों के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित हुई परमात्मा में स्थितिरूप योगाग्नि में हवन करते हैं।

अज्ञानी परमात्मा को भेंट भी करे, तो क्या भेंट करे? अज्ञानी न परमात्मा को जानता, न स्वयं को जानता। न उसे उसका पता है, जिसको भेंट करनी है; न उसका पता है, जिसे भेंट करनी है। स्वभावतः, उसे यह भी पता नहीं है कि क्या भेंट करना है।
अज्ञानी जिन चीजों से आसक्त होता है, उन्हीं को परमात्मा को भेंट भी
कर आता है। जो उसे प्रीतिकर लगता है, वही वह परमात्मा के चरणों में भी चढ़ाता है। भोग लगता है प्रीतिकर, भोजन लगता है प्रीतिकर, तो परमात्मा के द्वार पर चढ़ा आता है। फूल लगते हैं प्रीतिकर, तो परमात्मा के चरणों में रख आता है। सोचता है, शायद जो उसे प्रीतिकर है, वही परमात्मा को भी प्रीतिकर है।
लेकिन अज्ञान में जो प्रीतिकर है, वह ज्ञान में प्रीतिकर नहीं रह जाता। हमें जो प्रीतिकर है, हमारी स्थिति में जो प्रीतिकर है, उसे परमात्मा के द्वार पर चढ़ाने योग्य समझने की भूल अज्ञान में ही होती है। कृष्ण कहते हैं इस सूत्र में कि ज्ञानीजन, योगीजन, अपनी इंद्रियों को
ही उस परमात्मा की अग्नि में आहुति दे देते हैं।
हम जब भी परमात्मा को कुछ भेंट करते हैं, तो इंद्रियों के विषयों में
से कुछ भेंट करते हैं। इंद्रियां जो चाहती हैं, उसे हम परमात्मा को भेंट करते हैं। ज्ञानीजन, योगीजन इंद्रियों को ही उसकी अग्नि में आहुति दे देते हैं। भेद को ठीक से समझ लेना जरूरी है।
फूल लगता है प्रीतिकर; नासापुटों को सुगंध लगती है मधुर; आंखों को रूप लगता है आकर्षक। हम फूल को चढ़ा देते हैं परमात्मा के चरणों पर। ज्ञानीजन सुगंध की इंद्रिय को ही चढ़ा देते हैं, फूल को नहीं। हमें भोजन लगता है प्रीतिकर, स्वाद लगता है मधुर, हम स्वादिष्ट फलों को, मिष्ठानों को परमात्मा के द्वार पर रख देते हैं। ज्ञानीजन, योगीजन स्वाद को ही-- स्वादिष्ट को नहीं--स्वाद को ही उसकी अग्नि में समर्पित कर देते हैं। इंद्रियों को ही। जो प्रीतिकर लगता है, वह नहीं; जिसे प्रीतिकर लगता है, उसे ही समर्पित कर देते हैं।
यह समर्पण प्राणों का समर्पण है। यह समर्पण अपना ही समर्पण है। क्योंकि हम जिसे अब तक जानते हैं स्वयं का होना, वह हमारी इंद्रियों के जोड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हम जिसे कहते हैं अपनी अस्मिता, अपना होना, अपना बीइंग, वह हमारी इंद्रियों के जोड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और जब कोई अपनी समस्त इंद्रियों को, अपने समस्त जोड़ को परमात्मा को चढ़ा देता, तो पीछे चढ़ाने वाला और जिसको चढ़ाया गया है वह, वे दोनों एक ही हो जाते हैं। क्योंकि पीछे परमात्मा ही बचता है। अगर हम अपनी सारी इंद्रियां परमात्मा को चढ़ा दें, तो हमारे भीतर सिवाय परमात्मा के फिर और कोई भी नहीं बचता है।
इंद्रियों के द्वारा हम संसार से जुड़ते हैं। इंद्रियां हमारे उपकरण हैं संसार से संयुक्त होने के। आंख से हम रूप से जुड़ते हैं, आंख से हम प्रकाश से जुड़ते हैं। कान से हम स्वर से, ध्वनि से जुड़ते हैं। ऐसे हमारी पांचों इंद्रियों के द्वार से हम संसार से जुड़ते हैं। इंद्रियों से जाएं, तो संसार में पहुंच जाएंगे। इंद्रियों को छोड़कर जाएं, तो परमात्मा में

पहुंच जाएंगे। इंद्रियां द्वार हैं संसार की तरफ। अगर इंद्रियों से लौट आएं पीछे, तो परमात्मा में पहुंच जाएंगे।
जो सीढ़ी मकान के नीचे लाती है, वही सीढ़ी मकान के ऊपर भी ले जाती है। जो रास्ता आपको यहां तक ले आया, वही रास्ता आपको वापस आपके घर तक भी ले जाएगा।
लेकिन यहां आते समय और घर लौटते समय, रास्ता भी वही होगा, आप भी वही होंगे।
फर्क क्या पड़ेगा? फर्क इतना ही पड़ेगा, आपका रुख, आपका चेहरा बदल जाएगा।
इधर आते हुए चेहरा इस तरफ होगा, पीठ घर की तरफ होगी; घर जाते समय चेहरा घर की तरफ होगा, पीठ इस तरफ होगी।
संसार में जाते समय इंद्रियों की तरफ उन्मुख होकर, मुंह करके संसार में जाना पड़ता है। परमात्मा की तरफ, स्वयं की तरफ आते समय, इंद्रियों की तरफ पीठ कर लेनी पड़ती है और लौटना पड़ता है।
इंद्रियां ही द्वार हैं संसार में ले जाने के, इंद्रियां ही द्वार बनती हैं परमात्मा में आने के। इंद्रियां एंट्रेंस हैं संसार में और एक्जिट हैं परमात्मा में।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, ज्ञानीजन अपनी इंद्रियों को ही उसके हवन में, उसके यज्ञ की अग्नि में, उस परमात्मा में समर्पित कर देते हैं। उनका ही होम लगा देते हैं। तब जो पीछे शेष रह जाता है वह, और जिसे होम दिया है वह, दो नहीं रह जाते। फिर यज्ञ करने वाला, यज्ञ, यज्ञ जिसकी प्रार्थना में किया गया वह, सब एक ही हो जाते हैं।
इंद्रियों से छूटते ही व्यक्ति में और समष्टि में कोई भेद नहीं। इंद्रियों से छूटते ही दृश्य विदा हो जाता, अदृश्य से मिलन हो जाता।
इंद्रियों के छूटते ही रूप विदा हो जाता, अरूप से मिलन हो जाता। इंद्रियों के छूटते ही आकार खो जाता, निराकार में निमज्जन हो जाता है। इंद्रियां ही हमारे आकार की जन्मदात्री, रूप की निर्माता, संसार की व्यवस्थापक हैं।
इंद्रियों के तिरोहित होते ही सब खो जाता है विराट में, निराकार में। इसलिए ज्ञानीजन इंद्रियों को ही--इंद्रियों के उपभोगों को नहीं, इंद्रियों को ही--जिनसे सब उपभोग किए, उनको ही, परमात्मा को समर्पित कर देते हैं।
यह समर्पण ही समर्पण है, बाकी सब धोखा है। ऐसा त्याग ही त्याग है, बाकी
सब त्याग प्रवंचना है। ऐसा अपने को ही खो देने की सामर्थ्य ही समर्पण है। बाकी सब अपने को बचा लेने का उपाय है।
फूल को चढ़ाकर हम कुछ भी तो नहीं चढ़ाते। फूल तो परमात्मा को चढ़े ही हुए हैं। आप तोड़कर सिर्फ उनके प्राणों को नष्ट करते हैं। पौधों पर चढ़े हुए भी फूल परमात्मा की ही गौरव-गाथा गाते हैं। आप उनको तोड़कर सिर्फ मार डालते हैं, हत्या करते हैं, और कुछ नहीं करते। और यहां वे विराट परमात्मा को समर्पित थे ही, आप तोड़कर अपने घर में हाथ से बनाए हुए, होममेड परमात्मा पर जाकर उनको चढ़ाते हैं!
नहीं, इससे कुछ न होगा। और परमात्मा के सामने मिठाइयों के थाल रखने से कुछ न होगा। क्योंकि सभी कुछ उसके सामने सदा रखा ही हुआ है। सभी कुछ उसकी मौजूदगी में सदा है। सारा विश्व ही उसके सामने है। आपकी थाली बहुत अर्थ न लाएगी।
चढ़ाना ही हो, तो चढ़ाने की चीज स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारे पास अपने अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। इसे गणित समझें। इसे गणित समझें कि मौत के समय आपसे जो छीना जाएगा, वही यज्ञ में चढ़ाया जाए, तो ही यज्ञ पूरा होता है। मौत के समय जो आपसे छीना जाएगा, अगर आप उसी को स्वेच्छा से समर्पित करते हैं, तो ही परमात्मा के चरणों तक आपकी पुकार और प्रार्थना पहुंच पाती है। मृत्यु में जो जबर्दस्ती घटित होगा, साधक, भक्त, योगी, उसे सहज अपनी ही ओर से परमात्मा के चरणों में रख देता है।
इसलिए फिर उसकी मृत्यु नहीं आती, क्योंकि उसके पास छीने जाने को भी कुछ नहीं बचता। इंद्रियां उसने दे दीं, जो छिन सकती थीं। और शरीर इंद्रियों का जोड़ है; शरीर भी दे दिया उसने, जो छिन सकता था। और अहंकार सारे इंद्रियों के अनुभव का संघट है। इंद्रियों के साथ वह भी गया।

इंद्रियों के साथ ही सब कुछ चला जाता है, जो मौत में छीना जाता है। जो साधारणजन मौत में छोड़ते हैं, छुड़ाया जाता है, वह असाधारणजन स्वयं ही परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देते हैं। यही है यज्ञ, यही है हवन, यही है होम। इसके अतिरिक्त सब धोखे हैं।
धोखे देने में हम कुशल हैं। दूसरों को, अपने को, परमात्मा को भी हम धोखा देने से बचते नहीं।
अनेक-अनेक प्रकार के हम धोखे अपने आस-पास खड़े कर लेते हैं। और धर्म के नाम पर हमने हजार धोखे खड़े कर लिए हैं। इस सूत्र को पढ़ते रहेंगे हम रोज, और फिर भी सूत्र को पढ़कर हम फूल ही चढ़ाते रहेंगे। इस सूत्र को पढ़ते रहेंगे रोज, फिर भी मिठाइयां चढ़ाते रहेंगे। इस सूत्र को पढ़ते रहेंगे रोज, लेकिन इंद्रियां हम से न चढ़ाई जाएंगी। स्वाद नहीं, सुवास का उपकरण नहीं; हम अपने को बचाकर और सब चढ़ाते रहे हैं। शायद, अपने को बचाने के लिए ही हम कुछ और चढ़ा रहे हैं। हमने परमात्मा को कोई बच्चा समझा है, जिसे हम खिलौने पकड़ा देते हैं! इन खिलौनों से नहीं हो सकता है कुछ।
कृष्ण कहते हैं, जो ऐसा कर पाता है, वही परम सत्य को, परम आनंद को, परम आशीष को उपलब्ध होता है।

प्रश्नः भगवान श्री, श्लोक के दूसरे हिस्से में कहा गया है, ज्ञान से प्रकाशित हुई परमात्मा में स्थितिरूप योगाग्नि में हवन! इसमें योगाग्नि का अर्थ स्पष्ट करने की कृपा करें।

जैसा मैंने कहा, इंद्रियों के भोग चढ़ाने से कुछ भी न होगा; ऐसे ही बाहर
जो अग्नि जलती है, उसमें चढ़ाने से भी कुछ न होगा। बाहर की अग्नि में चढ़ाना हो, तो इंद्रियां चढ़ाई भी कैसे जा सकती हैं? बाहर की अग्नि में तो इंद्रियों के विषय ही चढ़ाए जा सकते हैं, इंद्रियां नहीं चढ़ाई जा सकतीं। बाहर की अग्नि में तो फूल ही चढ़ाए जा सकते हैं, गंध की आकांक्षा कैसे चढ़ाई जा सकती है! बाहर की अग्नि में तो आकृत वस्तुएं ही चढ़ाई जा सकती हैं, आकार देने वाली दृष्टि कैसे चढ़ाई जा सकती है! बाहर की अग्नि तो दृष्टि को छू भी न पाएगी। स्वभावतः, अगर इंद्रियां चढ़ानी हैं, तो योगाग्नि में, योग से उत्पन्न हुई अग्नि में।
योग से उत्पन्न हुई अग्नि क्या है? इसे थोड़ा समझना पड़ेगा। यह थोड़ी आकल्ट साइंस की बात है। योग से उत्पन्न अग्नि क्या है?
तो पहले तो यह समझें कि अग्नि क्या है। अग्नि दो वस्तुओं के भीतर छिपी हुई विद्युत का संघर्षण है। प्रत्येक वस्तु के भीतर विद्युत छिपी है। शायद यह कहना भी ठीक नहीं है। यही कहना ठीक है कि प्रत्येक वस्तु विद्युत कणों के जोड़ का ही नाम है। विज्ञान भी यही कहेगा; फिजिसिस्ट, भौतिकविद भी यही कहेंगे। प्रत्येक वस्तु इलेक्ट्रांस का जोड़ है, विद्युत कणों का जोड़ है। जो वस्तुएं आपको दिखाई पड़ रही हैं चारों तरफ, वे भी वस्तुएं नहीं हैं; विद्युत ऊर्जा, इलेक्ट्रिक एनर्जी ही हैं।
प्रत्येक वस्तु को हम तोड़ें, एक मिट्टी के टुकड़े को हम तोड़ें--तोड़ें--
और अगर आखिरी परमाणुओं पर पहुंचें, तो फिर विद्युत कण ही हाथ लगते हैं, पदार्थ खो जाता है। एनर्जी ही हाथ लगती है; ऊर्जा, शक्ति ही हाथ लगती है; पदार्थ खो जाता है।
अतिसूक्ष्म! अतिसूक्ष्म कहना भी ठीक नहीं, सूक्ष्म से भी पार। विद्युत के कणों, कण कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि विद्युत का कण नहीं होता। कण तो पदार्थ के होते हैं। विद्युत की तो लहर होती है, वेव होती है, तरंग होती है। शक्ति में कण नहीं होते, शक्ति में तरंगें होती हैं। अभी हिंदी में कोई शब्द ठीक नहीं है। लेकिन अंग्रेजी में एक जर्मन शब्द उपयोग होता है, क्वांटा। क्वांटा का मतलब है, कण भी, तरंग भी। कण इस ख्याल से कि पदार्थ का आखिरी हिस्सा है; तरंग इस ख्याल से कि वह आखिरी हिस्सा पदार्थ नहीं है, विद्युत है।
तो क्वांटा से बना हुआ है सारा जगत। बाहर-भीतर, सब तरफ क्वांटा से बना हुआ है। ये जो विद्युत कण, लहरें, तरंगें प्रत्येक पदार्थ को निर्मित की

हैं, अगर इनका घर्षण किया जाए, तो अग्नि उत्पन्न होती है! अग्नि, विद्युत के बीच हुए घर्षण का परिणाम है।
अगर आप अपने दोनों हाथ भी घिसें, तो भी दोनों हाथ गर्म हो जाते हैं; अग्नि पैदा होनी शुरू हो जाती है। अगर आप तेजी से दौड़ें, तो पसीना आना शुरू हो जाता है; क्योंकि हवा और आपके बीच घर्षण हो जाता है। घर्षण से शरीर उत्तप्त हो जाता है। जब आपको बुखार चढ़ आता है, तब भी आपका शरीर उत्तप्त हो जाता है, क्योंकि शरीर के भीतर, बाहर से आए हुए बीमारी के कीटाणुओं में और आपके शरीर के रक्षक कीटाणुओं में घर्षण शुरू हो जाता है, संघर्ष। उस घर्षण के परिणाम में फीवर, बुखार पैदा हो जाता है। बुखार कोई बीमारी नहीं है, केवल बीमारी की सूचना है कि शरीर के भीतर गहरा संघर्ष छिड़ा हुआ है। इसलिए शरीर उत्तप्त हो जाता है।
शरीर एक विशेष उत्ताप में रहे, तो ही हम जीवित रह सकते हैं। अगर यहां अट्ठानबे डिग्री से दो-चार डिग्री नीचे गिर जाए, तो प्राण संकट में पड़ जाते हैं। वहां एक सौ दस डिग्री के आगे प्राण तिरोहित हो जाते हैं। दस-पंद्रह डिग्री का जीवन है! बस, दस-पंद्रह डिग्री के बीच में उत्ताप हो, तो हम जीवित रहते हैं। नीचे हो जाए, तो सब ठंडा हो जाए; ऊपर हो जाए, तो सब इतना गर्म हो जाए कि जीवन न बच सके--न इस ठंडक में, न उस गर्मी में। ऐसा पंद्रह डिग्री के बीच हमारा जीवन है!
पूरे समय शरीर जो है, वह थर्मोस्टैट का काम करता है। पूरे समय शरीर भीतरी व्यवस्था से शरीर की गर्मी को समान रखने की कोशिश करता है, शरीर की अग्नि को समान रखने की कोशिश करता है।
इस अग्नि को हम बाहर आग लगाकर किसी आदमी को बिठा दें, तो वह जल जाए। बाहर हमने क्या किया? बाहर भी घर्षण से अग्नि पैदा होती है। जब आप दियासलाई को रगड़ रहे हैं, तब भी आपने दियासलाई और हाथ की काड़ी में बहुत शीघ्रता से घर्षण को उपलब्ध होने वाले पदार्थ लगा रखे हैं, जो जल्दी से घर्षण में आग पकड़ लेते हैं। फिर आपने आग लगा दी, चिता जल गई। अब आदमी को उसमें रख दिया, वह जल जाएगा।
अभी-अभी ठीक दो महीने पहले यू.पी. के एक छोटे-से गांव में एक सिक्ख साधु ने योगाग्नि से अपने को जलाया है। किसी तरह की अग्नि का उपयोग नहीं किया; आंख बंद करके बैठ गया और आग की लपटें उससे निकलनी शुरू हुईं, सब जल गया। फिर डाक्टरों ने सर्टिफिकेट भी पीछे दिया है कि किसी तरह के पेट्रोल, किसी तरह की आग के किसी उपकरण का कोई उपयोग नहीं किया गया है। अग्नि अनजाने स्रोत से--डाक्टर्स ने जो लिखा है--अनजाने स्रोत से भीतर से ही पैदा हुई है; बाहर से कोई अग्नि का लक्षण नहीं है। वह राख हो गया आदमी जलकर। योगाग्नि का अर्थ है, शरीर के भीतर ही अग्नि को पैदा किया जा सकता है।
यह योगाग्नि दो प्रकार की हो सकती है। एक ऐसी, जैसा मैंने इस उदाहरण में आपको कहा, दो महीने पहले घटी एक गुरुद्वारे की यह घटना। एक साधु ने अपने को योगाग्नि से जला लिया। सब राख हो गया। भीतर से आग बाहर की तरफ आई। पहले उसके भीतर के अंग जले हैं, फिर बाहर के अंग जले हैं। भीतर सब राख हो गया; बाहर बहुत कुछ बच भी गया। अग्नि भीतर से बाहर की तरफ आई है। मेडिकल साइंस की पकड़ के बाहर है; जिन चिकित्सकों ने रिपोर्ट दी है, वे भी चकित और अवाक हैं। उनके पास कोई एक्सप्लेनेशन, कोई व्याख्या नहीं है। क्या हुआ?
शरीर के भीतर भी घर्षण पैदा करने की यौगिक प्रक्रियाएं हैं। इस घर्षण
से दो काम लिए जा सकते हैं। अनेक बार योगी अपने शरीर को इस घर्षण से उत्पन्न अग्नि में ही समाहित करते हैं। यह एक उपयोग है। यह मृत्यु के समय उपयोग में लाया जा सकता है।
एक दूसरा उपयोग है, जिसका कृष्ण प्रयोग कर रहे हैं। योगाग्नि में अपनी इंद्रियों को समाहित, अपनी इंद्रियों को समर्पित कर देते हैं। वह दूसरा उपयोग है; वह जीते-जी किया जा सकता है। उसमें और भी सूक्ष्म अग्नि पैदा करने की बात है। वह अग्नि भी भीतर पैदा हो जाती है। उस अग्नि से शरीर नहीं जलता, लेकिन शरीर के रस जल जाते हैं। उस अग्नि से शरीर नहीं जलता, लेकिन इंद्रियों के रस और आकांक्षाएं जल जाती हैं। उससे शरीर नहीं जलता, लेकिन इंद्रियों के जो सूक्ष्म तंतु हैं, वे जल जाते हैं।

इंद्रियों के सूक्ष्म तंतु हैं, इससे वैज्ञानिक भी राजी हैं। और अगर इंद्रियों के सूक्ष्म तंतु अलग कर लिए जाएं, तो इंद्रियां व्यर्थ हो जाती हैं; इसके लिए भी वैज्ञानिक राजी हैं।
जैसे आप जब सुगंध ले रहे हैं, तो शायद आपको तो ख्याल नहीं, ख्याल का कोई कारण भी नहीं, कि आपकी नाक के नासापुटों में बहुत सूक्ष्म, सुगंध को पकड़ने वाले, सुगंध की तरंगों को पकड़ने वाले कण हैं।
जब आप सर्दी-जुकाम में होते हैं, आपको सुगंध नहीं आती। क्यों? आपके पास नाक पूरी की पूरी है; नासापुट पूरे हैं; सुगंध कहां खो गई? सुगंध इसलिए नहीं आती कि जब आप सर्दी में होते हैं, तो आपकी नाक के भीतर के सब रेशे सूजन से भर जाते हैं। और वे जो छोटे-छोटे परमाणु पकड़ते हैं गंध को, वे दब जाते हैं और पकड़ने में असमर्थ हो जाते हैं। बलगम के नीचे वे परमाणु दब जाते हैं और सुगंध को पकड़ने में असमर्थ हो जाते हैं। उनका आपरेशन किया जा सकता है। वे परमाणु अगर काट दिए जाएं, तो आदमी को फिर सुगंध नहीं आएगी। अगर वे परमाणु बहुत ज्यादा किसी एक ही गंध में रखे जाएं, तो धीरे-धीरे इम्यून हो जाते हैं और उस गंध को पकड़ने में असमर्थ हो जाते हैं।
इसलिए अगर एक आदमी पाखाना ढोता रहता है जिंदगीभर, तो उसे पाखाने में गंध आनी बंद हो जाती है। इसलिए बंद हो जाती है कि उसके नासापुट के जो अणु गंध को पकड़ते हैं, वे मृत हो जाते हैं; बार-बार एक ही आघात से वे समाप्त हो जाते हैं। अगर आप नई साबुन खरीदकर लाते हैं, तो पहले दिन गंध आती है; दूसरे दिन कम, तीसरे दिन कम, चौथे दिन विदा हो जाती है। शायद आप सोचते होंगे कि साबुन के ऊपर ही गंध थी, तो आप गलती में हैं। तीन-चार दिन में आप इम्यून हो जाते हैं। आपको फिर गंध का पता नहीं चलता।
ये जो सूक्ष्म परमाणु हैं, ये योगाग्नि से जलाए जा सकते हैं। ये भीतर
ही जलकर राख हो जाते हैं; इनका फिर पता ही नहीं चलता। ये समर्पित किए जा सकते हैं। ये अतिसूक्ष्म हैं। इनके लिए अतिसूक्ष्म घर्षण की जरूरत है। उसकी प्रक्रियाएं हैं; उसके अपने यौगिक मेथड्स और विधियां हैं कि ये सूक्ष्म परमाणु कैसे क्षीण हो जाएं, विदा हो जाएं। लेकिन इनको विदा करने के पहले की अनिवार्य शर्त पूरी होनी जरूरी है, अन्यथा योगाग्नि पैदा नहीं होती।
वह पहले सूत्रों में कृष्ण ने कहा है, आसक्तिरहित, इंद्रियों के रस से मुक्त, संयमी, इंद्रियों और विषयों के बीच जिसने सेतु को तोड़ा--ऐसे व्यक्ति की चर्चा पहले सूत्रों में की गई है। उसके बाद योगाग्नि की बात कही जा रही है। ऐसा व्यक्ति योगाग्नि पैदा कर सकता है; और भीतर से ही, बिना किसी बाह्य सहायता के उन सारे सूक्ष्म अणुओं को समर्पित कर देता है उस अग्नि में, जिनके कारण इंद्रियां आंतरिक सक्रियता लेती हैं।
अभी इस पर बहुत केमिकल खोज भी चलती है। और आधुनिक बायो-केमिस्ट्री, जीव-रसायन इस पर बड़े काम करती है। क्यों? क्योंकि बहुत-सी बातें पकड़ में आनी शुरू हुई हैं। जैसे यह पकड़ में आना शुरू हुआ कि एक खास प्रकार का रासायनिक द्रव्य अगर शरीर में न हो, तो आदमी क्रोध नहीं कर सकता। एड्रिनल, अगर इस तत्व को, जो कि बहुत थोड़ी-सी मात्रा में शरीर में किन्हीं-किन्हीं गं्रथियों के भीतर छिपा है, अगर उसे अलग कर दिया जाए, तो आदमी क्रोध नहीं कर सकता।
पावलव ने बहुत-से कुत्तों के एड्रिनल ग्लैंड्स को काट डाला। कुत्ते
जो जंगली थे, खूंखार थे, जरा-सी बात में जी-जान ले सकते और दे सकते थे, उनका एड्रिनल द्रव्य अलग कर देने के बाद, वे कुत्ते और सब तरह से स्वस्थ हैं, वही के वही हैं, ऊपर से कोई अंतर नहीं; दो, चार, दस बूंदों का रासायनिक द्रव्य उनके भीतर से अलग कर लिया गया, फिर आप उनको कितना ही सताइए, कोंचिए, टोंचिए, परेशान करिए, वे भौंक भी नहीं सकते! क्या हो गया? दस बूंद रासायनिक द्रव्य उनके शरीर के भीतर से बाहर हो गया, तो इस कुत्ते के भीतर क्या हो गया? इसकी सारी ताकत दस बूंद में थी? इसका चिल्लाना, भौंकना, दौड़ना, इसकी गति, सब उस दस बूंद में थी! वैज्ञानिक कहते हैं, उसी दस बूंद में थी। वैज्ञानिक इसे ऊपर से अलग कर सकते हैं, इसलिए बड़ा खतरा भी है। खतरा यह
है कि आज नहीं कल कोई टोटेलेटेरियन हुकूमत, कोई तानाशाही सरकार लोगों के

शरीर के भीतर से अगर एड्रिनल गं्रथियों को अलग करवा दे, तो आप बगावत नहीं कर सकेंगे। भौंक ही नहीं सकेंगे, बगावत तो बहुत दूर की बात है। बगावत के लिए भौंकना बिल्कुल जरूरी है।
मैंने सुना है कि एक अंतर्राष्ट्रीय कुत्तों की प्रदर्शनी लंदन में
हो रही थी। उसमें एक रूसी कुत्ता भी प्रदर्शनी के लिए आया हुआ था। स्वभावतः, कुत्तों में आपस में बातचीत चलती थी। इंग्लैंड के कुत्ते से उस रूसी कुत्ते ने पूछा कि बंधु, इंग्लैंड के हाल-चाल कैसे हैं? उस कुत्ते ने कहा, हाल-चाल ऐसे तो सब ठीक हैं, लेकिन कई चीजों की बहुत तंगी है। भोजन बहुत ठीक से नहीं मिलता। दूध भी जितना मिलना चाहिए, नहीं मिलता। हड्डी-मांस की भी थोड़ी तकलीफ है। वहां रूस में क्या हाल-चाल हैं? उस कुत्ते ने कहा, आनंद ही आनंद है; बहुत हड्डी-मांस है, बहुत दूध है; खाने को जितना चाहिए उतना है। सोने के लिए विश्राम-गृह है। सब अच्छा है। एकदम सब अच्छा है।
फिर थोड़ी देर बाद चारों तरफ देखकर कि कोई सुन तो नहीं रहा, वह पास सरक आया और उसने कहा, बंधु, एक थोड़ी-सी बात में सहायता करोगे? इंग्लैंड के कुत्ते ने कहा, कौन-सी सहायता? उसने कहा कि मैं राजनीतिक शरण इंग्लैंड में लेना चाहता हूं। पर उस इंग्लैंड के कुत्ते ने पूछा, तुम्हें तो वहां सब सुख हैं। तुम यहां किसलिए आना चाहते हो? मैं तो मन में सोच रहा था, दुर्भाग्य हमारा कि यहां इंग्लैंड में पैदा हुए; रूस में पैदा होते तो बेहतर था! उसने कहा, और सब तो सुख है, लेकिन भौंकने की आजादी बिल्कुल नहीं है। तो सुखों का भी क्या करेंगे, उस कुत्ते ने कहा, जब भौंक ही नहीं सकते! सब बेकार है। यहां राजनीतिक शरण अगर दिलवाने में कुछ सहायता कर सको, तो अब मैं लौटकर नहीं जाना चाहता।
किसी न किसी दिन कोई तानाशाही सरकार बायो-केमिस्ट्री का उपयोग करेगी ही। क्योंकि बायो-केमिस्ट्री ने जो नए सूत्र दिए हैं, योग को बहुत पहले से पता है। लेकिन योग से कभी खतरा नहीं हो सकता था, क्योंकि दूसरा आदमी आपके ऊपर कुछ नहीं करता था; आप अपने ऊपर कुछ करते थे।
बायो-केमिस्ट्री कहती है, अब जैसे सेक्स हारमोंस खोज लिए गए। एक बूढ़े आदमी को भी अगर सेक्स हारमोन के इंजेक्शन दे दिए जाएं, तो वह जवान की तरह सेक्सुअली पोटेंट हो जाता है; वह जवान आदमी की तरह कामोत्तेजक शक्तियों से भर जाता है। और अगर जवान के भीतर से भी सेक्स हारमोंस अलग कर लिए जाएं, तो वह बूढ़े की तरह शिथिल और कामशक्ति में एकदम दीन हो जाता है।
आप देखते हैं रास्ते पर चलते हुए बैल को और सांड को! फर्क कुछ भी नहीं है; थोड़े-से हारमोंस का फर्क है। बैल के हारमोन काट दिए गए हैं। उसके हारमोन विकसित नहीं हो पाए, उसके सेक्स हारमोन तोड़ दिए गए हैं। सांड के सेक्स हारमोन मौजूद हैं। दस बैल एक सांड के मुकाबले भी कुछ नहीं हैं। किसी दिन कोई तानाशाही सरकार आदमियों की हालत बैलों जैसी कर दे सकती है। बायो-केमिस्ट्री जो आज कह रही है कि शरीर के भीतर रासायनिक द्रव्य हैं, बहुत सूक्ष्म मात्रा में, जिनके अंतर से, बाहर से भी अंतर करने से, व्यक्ति के भीतर अंतर पैदा होता है। योग बहुत पहले से जानता है इस सत्य को। और योगाग्नि उस प्रक्रिया का नाम है, जिसके द्वारा इन भीतरी रासायनिक व्यवस्था में अंतर पैदा किया जाता है। अब इस योगाग्नि को पैदा करने की बहुत विधियां हैं। दो-तीन संक्षिप्त बात आपसे कहूं, जिससे ख्याल में आ जाए कि यह योगाग्नि कैसे पैदा हो।
कभी आपने ख्याल किया कि अगर आप उपवास करें, तो आपके भीतर शीतलता खो जाती है, सब रूखा-रूखा हो जाता है, ड्राइनेस पैदा हो जाती है। और अगर आप पानी भी न पीएं--और तभी उपवास पूरा है। अगर आप खाना न लें और पानी पीते रहें, तो उपवास बिल्कुल अधूरा है। अगर आप पानी भी न लें, भोजन भी न लें, तो एक विशेष समय की सीमा के बाद शरीर उस हालत में हो जाता है, जिस हालत में सूखी लकड़ियां होती हैं। गीली लकड़ी को ईंधन नहीं बनाया जा सकता। आग कम पैदा होती है, धुआं ज्यादा पैदा होता है। सूखी लकड़ी चाहिए।
उपवास का प्रयोग योगाग्नि पैदा करने के लिए, शरीर को सुखाने के लिए किया गया था। विशेष उपवास की प्रक्रिया के बाद शरीर उस हालत में आ जाता है कि समस्त भीतरी शरीर की व्यवस्था सूखी, ड्राई हो जाती है। उसमें जरा-से ही

प्रयोग से अग्नि पैदा हो जाती है। जरा-से ही प्रयोग से। तो एक तो उपवास योगाग्नि पैदा करने की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग था।
दूसरा, अग्नि की धारणा! जब शरीर बिल्कुल भीतर रूखी हालत में हो, सूखी हालत में हो, गीला न हो, तब अग्नि की धारणा। सुना होगा, पढ़ा होगा आपने, सूर्य पर त्राटक। वह अग्नि की धारणा के लिए अभ्यास है। इसलिए जो नहीं जानता योगाग्नि की पूरी प्रक्रिया को, उसे भूलकर सूर्य पर त्राटक नहीं करना चाहिए, अन्यथा आंखें खराब करेगा, और कुछ भी नहीं।
सूर्य पर त्राटक योगाग्नि पैदा करने का एक अभ्यास मात्र है, एक फ्रेगमेंट, एक खंड-अंश। जब सूर्य पर कोई आंख रखकर निश्चित समय पर, निश्चित प्रक्रिया से सूर्य पर ध्यान करता है, तो उसके भीतर आंखों के द्वारा इतनी सूर्य-किरणें इकट्ठी हो जाती हैं कि ये सूर्य-किरणें उपवास के साथ मन के भीतर आंख बंद करके ज्योति की, अग्नि की धारणा करने से सक्रिय हो जाती हैं और भीतर सूक्ष्म अग्नि पैदा हो जाती है।
लेकिन यह पूरी एक आकल्ट प्रोसेस है। इसमें कुछ हिस्से मैं छोड़ रहा हूं, अन्यथा कोई ऐसे ही कुतूहलवश प्रयोग करे, तो खतरे में पड़ सकता है। इसलिए आप इतने से कर न पाएंगे; इतना मैं सिर्फ समझाने के लिए कह रहा हूं। इसके कुछ हिस्से छोड़े दे रहा हूं, जिनके बिना यह प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकती। वे हिस्से तो निजी और व्यक्तिगत तौर से ही साधक को बताए जा सकते हैं। लेकिन मोटे अंग मैंने आपको बता दिए।
जब भीतर अग्नि पैदा होती है, तो उसके दो प्रयोग हो सकते हैं। या तो इंद्रियों के सूक्ष्म रस को समर्पित कर दिया जाए उस अग्नि में, तो व्यक्ति पूरी तरह जीवित होगा, लेकिन पूरा रूपांतरित हो जाएगा; दूसरा ही हो जाएगा। और इस अग्नि का अंततः मृत्यु के समय भी उपयोग किया जा सकता है। तब शरीर को पूरा ही समर्पित किया जा सकता है।
कृष्ण ने इसीलिए साधारण अग्नि की बात नहीं कही, योगाग्नि की बात कही
है कि योगाग्नि में अपनी इंद्रियों को समर्पित कर दे जो, वह मुक्त, वह समस्त बंधनों के बाहर हो जाता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। 28।।
और दूसरे कई पुरुष ईश्वर-अर्पण बुद्धि से लोक सेवा में द्रव्य लगाने वाले हैं, वैसे ही कई पुरुष स्वधर्म पालन रूप तपयज्ञ को करने वाले हैं, और कई अष्टांग योगरूप यज्ञ को करने वाले हैं; और दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष भगवान के नाम का जप तथा भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का अध्ययन रूप ज्ञानयज्ञ के करने वाले हैं।

कृष्ण ने इस सूत्र में और बहुत-बहुत मार्गों से इस धर्म-यज्ञ को करने वाले लोगों का उल्लेख किया है। एक-एक को क्रमशः समझ लेना उपयोगी होगा। पहला, ईश्वर-अर्पण भाव से सेवा को यज्ञ समझ लेने वाले लोग। ईश्वर-अर्पण भाव से सेवा को धर्म बना लेने वाले लोग, वे भी वहीं पहुंच जाते हैं।
लेकिन शर्त है, ईश्वर-अर्पण भाव से।
सेवा अहंकार-अर्पित भी हो सकती है। जब मैं सेवा करूं किसी की और चाहूं
कि वह मेरे प्रति अनुगृहीत हो, तो अहंकार-अर्पित हो गई सेवा। अगर चाहूं सेवा करके कि वह मुझे धन्यवाद दे, तो अहंकार-अर्पित हो गई सेवा।
सेवा मैं करूं और चाहूं कि परमात्मा को धन्यवाद दे; अनुग्रह परमात्मा का। मैं बीच में जरा भी नहीं। करूं, और हट जाऊं। मुझे पता ही न चले कि मैंने सेवा की; इतना ही पता चले कि परमात्मा ने मुझसे काम लिया। मुझे सेवक होने का कभी बोध भी न हो; सिर्फ परमात्मा का उपकरण होने का बोध हो। मैं कुछ कर रहा हूं, ऐसा कर्ता का भाव सेवा में न आए। प्रभु करवा रहा है, मैं उसके इशारों पर चल रहा हूं। जैसे हवा में वृक्ष के पत्ते डोलते, या सूखे पत्ते उड़ते अंधड़ में, या नदी पर तिनका तैरता; नदी जहां ले जाए, चला जाता। अंधड़ जहां ले जाए सूखे पत्ते को, उड़ जाता।

ऐसा ईश्वर-अर्पण भाव से जो व्यक्ति सेवा करता है, उसके लिए सेवा भी साधना बन गई। उसके लिए सेवा भी उपासना है। उसके लिए सेवा भी प्रार्थना है। लेकिन अकेली सेवा प्रार्थना नहीं है; ईश्वर-अर्पण भाव के कारण प्रार्थना है। ईश्वर-अर्पण--जो भी फल है, वह ईश्वर को अर्पित; जो भी कर्म है, वह मेरा; जो भी प्रतिफल है, वह प्रभु का--ऐसी दृष्टि हो, तो इस मार्ग से भी परमात्मा तक पहुंचा जा सकता है।
सरल दिखती है बात। योगाग्नि की बात तो बहुत कठिन दिखती है। लेकिन आपसे मैं कहूं, योगाग्नि की बात सरल है; यह ईश्वर-अर्पण की बात कठिन है। जो सरल दिखाई पड़ता है, वह सरल होता है, ऐसा जरूरी नहीं है। जो कठिन दिखाई पड़ती है बात, वह कठिन होती है, ऐसा जरूरी नहीं है। अक्सर धोखा होता है।
असल में जो सरल दिखाई पड़ती है, उसके सरल दिखाई पड़ने में ही खतरा है।
सरल हो नहीं सकती। सरल दिखाई पड़ती है।
लगता है, ठीक; यह बिल्कुल ठीक। सेवा करेंगे, ईश्वर-अर्पित कर देंगे।
लेकिन ईश्वर-अर्पण, अहंकार का जरा-सा रेशा भी भीतर हो, तो नहीं हो सकता।
रेशा मात्र भी अहंकार का भीतर हो, तो ईश्वर-अर्पण भाव नहीं हो सकता। जब तक मैं हूं--जरा-सा भी, रंच मात्र भी--तब तक परमात्मा के लिए अर्पित नहीं हो सकता हूं।
जब देखेंगे इसको गौर से, तो पाएंगे ईश्वर-अर्पण अति कठिन है। करने में मैं प्रवेश कर जाता है। किया नहीं, कि उसके पहले ही मैं खड़ा हो जाता है। रास्ते पर जा रहे हैं, पता भी नहीं होता, किसी का छाता गिर गया है हाथ से। आप उठाकर दे देते हैं; तब पता भी नहीं होता है कि कहीं कोई अहंकार है, कि सेवा कर रहा हूं, कुछ पता नहीं होता। स्पांटेनियस, सहज किसी का छाता गिरा, आपने उठाया। लेकिन वह आदमी छाता बगल में दबाए, आपको बिल्कुल न देखे और अपने रास्ते पर चला गया। तब फौरन पता चलता है कि अरे! इस आदमी ने धन्यवाद भी न कहा। माना कि पहले से धन्यवाद की कोई आकांक्षा न थी; सोचा भी न था। लेकिन रही होगी जरूरत गहरे में कहीं, अन्यथा पीछे कहां से आ जाएगी?
जो बीज में नहीं है, वह वृक्ष में आ नहीं सकता। जो पहले से नहीं है, वह पीछे प्रकट नहीं हो सकता। जो गर्भ में नहीं है, उसका जन्म नहीं हो सकता। हां, गर्भ में दिखाई नहीं पड़ता। जन्म होता है, तो दिखाई पड़ता है। मां अगर गर्भवती नहीं है, तो जन्म नहीं दे सकती है। प्रेगनेंट होना चाहिए! जो भी प्रकट होता है, वह पहले प्रेगनेंट है; पहले, पीछे गर्भ में होना चाहिए। दिया था छाता उठाकर, तब जरा भी तो ख्याल नहीं था कि मैं धन्यवाद मांगूंगा, कि चाहूंगा; जरा भी ख्याल नहीं था। प्रेगनेंट थे आप। गर्भ में थी बात। कुछ पता न था। दिया छाता उठाकर। अगर उसने धन्यवाद दे दिया, तो भी पता नहीं चलेगा। प्रसन्न होकर अपने रास्ते पर चले जाएंगे। लेकिन अगर वह धन्यवाद न दे; चुपचाप छाता बगल में ले और ऐसा चल पड़े, जैसे आप थे ही नहीं; तब आपको अखरेगा। तब आपको पता चलेगा कि कहीं कोई गहरे में, अचेतन में कोई आकांक्षा थी; उसी आकांक्षा ने छाता उठवाया, अन्यथा सवाल क्या था।
मां जब बेटे को जन्म देती है, तो इसलिए नहीं देती कि बुढ़ापे में उससे सेवा लेगी। नहीं; कहीं इसका कोई पता नहीं होता। जब रात-रातभर जागती; बीमारी में, अस्वास्थ्य में, पीड़ा में महीनों सेवा करती; वर्षों तक बेटे को बड़ा करती, तब उसे कभी ख्याल नहीं होता। लेकिन एक दिन बेटा बहू को लेकर घर आ जाता है और अचानक मां देखती है कि उस बेटे की आंख अब मां को देखती ही नहीं है! तब उसे अचानक ख्याल आता है कि क्या मैंने इसलिए तुझे नौ महीने पेट में रखा था? क्या इसलिए मैं रात-रातभर जागी थी? क्या इसलिए मैंने तुझे इतना बड़ा किया? पाला-पोसा, तेरे लिए चक्की पीसी, गिट्टियां फोड़ीं--इसलिए? बेटा तो पैदा हो गया बहुत वर्ष पहले, लेकिन अहंकार अब तक प्रेगनेंट था। अब तक भीतर छिपा था। गर्भ में बैठा था। मौका पाकर बाहर निकला। उसने कहा, इसलिए! मां के भीतर अहंकार है; यह बहू के आने तक उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। बहू के आने पर पैदा होता है। चोट पड़ती है। रहा भीतर, अन्यथा आ नहीं जाएगा।

सेवक तो बहुत हैं दुनिया में; कृष्ण उनकी बात नहीं कर रहे हैं। सेवक जरूरत से ज्यादा हैं! हमेशा हाथ जोड़े खड़े रहते हैं कि सेवा का कोई अवसर। लेकिन जरा सोच-समझकर सेवा का अवसर देना। क्योंकि जो आदमी पैर पकड़ता है, वह सिर्फ गर्दन पकड़ने की शुरुआत है। जब भी कोई कहे, सेवा के लिए तैयार हूं, तब कहना, इतनी ही कृपा करो कि सेवा मत करो। क्योंकि पैर तुम पकड़ोगे, फिर गर्दन हम कैसे छुड़ाएंगे? और अगर आपने पैर पकड़ने दिया और गर्दन न पकड़ने दी, तो वह आदमी कहेगा, मैंने नौ महीने तक तुम्हारे पैर इसलिए पकड़े? रात-रातभर जागा और इसलिए सेवा की कि गर्दन न पकड़ने दोगे?
सब सेवक खतरनाक सिद्ध होते हैं। क्योंकि सब सेवा अहंकार-अर्पित हो जाती है। बहुत मिसचीवियस सिद्ध होती है। बहुत उपद्रवी सिद्ध होती है। जिस मुल्क में जितने ज्यादा सेवक हैं, उस मुल्क का भगवान के सिवाय और कोई बचाने वाला नहीं है।
लेकिन कृष्ण इन सेवकों की बात नहीं कर रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं, ईश्वर-अर्पण पहले। हां, जिस दिन किसी को चारों ओर ईश्वर ही ईश्वर दिखाई पड़ने लगे, फिर वह आपकी सेवा नहीं कर रहा है, वह परमात्मा की ही सेवा कर रहा है। फिर वह धन्यवाद मांगता नहीं, धन्यवाद देता है कि आपने सेवा करने दी, अनुगृहीत हूं। अनुग्रह है आपका कि सेवा करने दी; क्योंकि मेरी प्रार्थना, मेरी साधना, मेरी आराधना पूरी हो सकी।
परमात्मा सब ओर दिखाई पड़ने लगे, तो सेवा प्रभु-अर्पित हो सकती है। या भीतर अहंकार बिल्कुल न रह जाए, तो सेवा प्रभु-अर्पित हो सकती है। प्रभु-अर्पण की कीमिया योगाग्नि से कम कठिन नहीं, ज्यादा ही कठिन है। योगाग्नि तो टेक्निकल है, उसका तो तकनीक है। तकनीक अगर पूरा किया जाए, तो योगाग्नि पैदा होगी ही। लेकिन प्रभु-अर्पण टेक्निकल नहीं है। प्रभु- अर्पण बड़े भाव की उदभावना है; बड़े भाव का जन्म है। टेक्नोलाजी से उसका संबंध नहीं है, टेक्नीक से उसका संबंध नहीं है। टेक्नीक के लिए तो कठिन से कठिन चीज सरल हो सकती है। क्योंकि टेक्नीक विकसित किया जा सकता है। लेकिन भाव-अर्पण के लिए कोई टेक्नीक विकसित नहीं हो सकता। उसके लिए तो समझ चाहिए।
और ध्यान रहे, नासमझ आदमी भी टेक्नीशियन हो सकता है। अगर योगाग्नि की कला पूरी कोई सीख ले, तो कोई भी जो कला पूरी सीख गया है, योगाग्नि पैदा कर सकता है। कितनी ही कठिन हो, फिर भी बहुत कठिन नहीं है। लेकिन भाव-समाधि, ईश्वर-अर्पण बड़ी अंडरस्टैंडिंग, बड़ी गहरी समझ की बात है।
और गहरी समझ की अर्थात एक तो वह समझ है, जो बुद्धि से आती है; वह बहुत गहरी नहीं होती है। एक और समझ है, जो हृदय से आती है।
ईश्वर-अर्पण बुद्धि से कभी भी नहीं हो सकता, यह भी ख्याल में रख लें।
ईश्वर-अर्पण बुद्धि से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि बुद्धि कभी भी अहंकार के पार नहीं जाती है। बुद्धि सदा कहती है, मैं। कभी-कभी हृदय कहता है, तू। बुद्धि तो सदा कहती है, मैं।
इसलिए जब भी आप प्रेम में होते हैं, तब बुद्धि को छुट्टी दे देनी पड़ती है। क्योंकि तू कहने का क्षण आ गया। अब हृदय से कहना पड़ा। इसलिए बुद्धिमान से बुद्धिमान आदमी प्रेम के क्षणों में बुद्धिमान नहीं होता; बालक जैसा हो जाता है; छोटे बच्चे जैसा हो जाता है।
बुद्धि तो सदा ही कहेगी, कर्म किया मैंने, तो फल मिले मुझे। बुद्धि का गणित साफ है। ठीक भी है। कर्म किया मैंने, फल मिले मुझे।
कृष्ण बड़ी अबौद्धिक बात कहते हैं, कर्म करो तुम, फल दे दो प्रभु को! तो बुद्धि कहेगी, कर्म भी कर ले प्रभु, फल भी ले ले वही। हमें क्यों फंसाता? हमारा क्या लेना-देना है? हम तो कर्म करेंगे, तो फल भी लेंगे हम। गणित सीधा और साफ है। ठीक दुकान और बाजार का गणित है!

कर्म करेंगे हम, तो फल वह कैसे लेगा? यह तो अन्याय है, सरासर अन्याय है। और अगर कहीं कोई अदालत हो विश्व के नियंता की, तो वहां हम सबको फरियाद करनी चाहिए कि कर्म करें हम, फल लो तुम! फल दें तुम्हें और कर्म करें हम? यह तो सरासर लूट है!

नहीं, बुद्धि के लिए यह गणित काम नहीं करेगा। इसलिए बुद्धि की समझ कभी
भी इस स्थिति में नहीं पहुंच पाती कि कर्म मेरा, फल तेरा। सिर्फ हृदय की समझ पहुंच पाती है।
लेकिन हृदय की समझ का क्या मतलब होता है? समझ तो सब बुद्धि की है हमारे पास। हृदय की हमारे पास कोई समझ नहीं है। हृदय की समझ का मतलब यह है कि श्वास मुझे मिलती है, तो परमात्मा से; प्राण मुझे मिलता है, तो परमात्मा से। जन्म मुझे मिलता है, तो परमात्मा से; जीने का क्षण मुझे मिलता है, तो परमात्मा से। अगर मैं न जीता होता, तो कोई भी तो उपाय नहीं था कि मैं किसी से भी कह सकता कि मैं जीता क्यों नहीं हूं? अगर मैं अस्तित्व में न होता, तो शिकायत करने की भी तो कोई जगह न थी कि मैं अस्तित्व में क्यों नहीं हूं? और अगर आज मैं अस्तित्व में हूं, तो मैं यह भी तो नहीं जानता कि मैं अस्तित्व में क्यों हूं?
जब अस्तित्व के दोनों ही छोर अज्ञात हैं, तो तर्क से उन्हें नहीं खोला
जा सकता, क्योंकि तर्क सिर्फ ज्ञात को खोल सकता है। अज्ञात तर्क के लिए बिल्कुल बेमानी है। अज्ञात में तो हृदय ही टटोलता है। अज्ञात में तो टटोला ही जा सकता है।
न मुझे पता है कि मैं कहां से आता, न मुझे पता है कि मैं कहां जाता। न मुझे पता है कि मैं क्यों हूं, न मुझे पता है कि अगली सांस आएगी कि नहीं आएगी। जहां इतना सब अज्ञात है, जहां सारा का सारा मेरा होना ही अज्ञात शक्तियों पर निर्भर है, वहां मेरा किया हुआ कर्म, पागलपन की बात है। जब मैं ही अज्ञात शक्तियों का किया हुआ कर्म हूं, तो मेरा कर्म भी अज्ञात शक्तियों का किया हुआ कर्म है। जब मैं खुद ही अज्ञात से जन्मा हूं, तो मेरे हाथ से होने वाला भी अज्ञात से ही जन्म रहा है। मैं सिर्फ बीच का माध्यम हूं।
लेकिन तर्क और बुद्धि की बात नहीं है; क्योंकि तर्क और बुद्धि पूछती है, क्यों? और जहां क्यों का उत्तर नहीं मिलता, तर्क और बुद्धि वहां से लौट आती है। और वह कहती है, वह हमारा क्षेत्र नहीं है। वह है ही नहीं। जहां क्यों का उत्तर नहीं मिलता, वह है ही नहीं। जहां क्यों का उत्तर मिल जाता है, वही है। लेकिन हृदय वहां खोजता है, जहां क्यों का उत्तर नहीं है।
और बड़े मजे की बात है कि जीवन के समस्त गहरे प्रश्न बुद्धि के लिए खुलने योग्य नहीं हैं, मिस्टीरियस हैं। बुद्धि से कुछ भी गहरा प्रश्न खुला नहीं कभी, सिर्फ उलझा; और-और भी उलझा है। थोड़ा-सा खुलता लगता है, तो हजार नई उलझनें खुल जाती हैं, और कुछ भी नहीं खुलता।
अज्ञात से आता हूं मैं, अज्ञात को जाता हूं, इसलिए मेरे हाथों से भी जो
हो रहा है, वह भी अज्ञात ही कर रहा है। अगर मैंने किसी के पैर दबा दिए हैं; और अगर मैंने राह चले किसी गिरे आदमी को उठा दिया है; और अगर मैंने चौरस्ते पर खड़े होकर किसी को बता दिया है कि बाएं से जाओ तो नदी पर पहुंच जाओगे; तो यह मेरी अंगुली का इशारा, यह मेरे हाथों की ताकत, मेरी नहीं है। यह ताकत और ये इशारे भी सब अज्ञात से मुझ में आते हैं और मुझ से फिर अज्ञात में चले जाते हैं।
ऐसी हृदय की समझ गहरी हो जाए, तो व्यक्ति ईश्वर-अर्पण कर पाता है। और
तब ईश्वर-अर्पित सेवा भी वही कर जाती है, जो योगाग्नि को समर्पित इंद्रियों से होता है।
कृष्ण और भी गिनाते हैं, वे कहते हैं, अहिंसादि मार्गों से!
अहिंसा से जो चलता है, वह भी वहीं पहुंच जाता है। बड़ी कंट्राडिक्टरी बात मालूम पड़ती है; बड़ी विरोधी बात मालूम पड़ती है। क्योंकि कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि तू हिंसा की फिक्र मत कर, क्योंकि कोई मरता ही नहीं, अर्जुन। मरने का ख्याल ही भ्रम है। न कोई कभी मरा, न कोई कभी मरेगा। तू हिंसा की बात ही मत कर। तू युद्ध में उतर जा।
ये कृष्ण यहां बीच में एक छोटा-सा वाक्य उपयोग करते हैं कि अहिंसादि मार्गों से चले हुए लोग भी वहीं पहुंच जाते हैं!

अहिंसा का मार्ग क्या है? अहिंसा का मार्ग क्या यह है कि मैं किसी को न मारूं? अगर यह है, तो कृष्ण की बात फिर उलटी है, जो उन्होंने पहले कही उससे। फिर तो कृष्ण जो बता रहे हैं, वह हिंसा का मार्ग बता रहे हैं!
नहीं; अहिंसा के मार्ग का अर्थ बहुत गहरा है, जितना कि अहिंसक कभी भी नहीं समझ पाते। अहिंसक--तथाकथित अहिंसक, जो समझते हैं कि वे नानवायलेंट हैं; अहिंसा, नानवायलेंस के मानने वाले हैं--उनको भी पता नहीं कि अहिंसा का क्या अर्थ है। किसी महावीर को कभी पता होता है कि अहिंसा का क्या अर्थ है। अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि तुम किसी को मत मारो। क्योंकि अगर अहिंसा का यह मतलब है कि तुम किसी को मत मारो, तब तो अहिंसा का यह मतलब हुआ कि आत्मा मर सकती है! तो महावीर तो निरंतर चिल्लाकर कहते हैं कि आत्मा अमर है। जब महावीर कहते हैं, आत्मा अमर है, तो तुम मार ही कैसे सकते हो? जब मार ही नहीं सकते हो, तो हिंसा की बात ही कहां रही? हां, इतना ही कर सकते हो कि शरीर और आत्मा को अलग कर दो। तो शरीर सदा से मरा हुआ है और आत्मा कभी मरी हुई नहीं है। तो मरे हुए को, गैर-मरे हुए से अगर किसी ने अलग भी कर दिया, तो हर्जा क्या है? कुछ भी तो हर्ज नहीं है।
महावीर खुद कहते हैं, आत्मा अमर है, इसलिए महावीर का यह मतलब नहीं हो सकता अहिंसा से कि तुम किसी को मारो मत। महावीर का भी मतलब यही है और कृष्ण का भी मतलब यही है कि मारने की इच्छा मत करो। मरता तो कोई कभी नहीं, लेकिन मारने की इच्छा की जा सकती है। और पाप मारने से नहीं लगता, मारने की इच्छा से लगता है। मरता नहीं है कोई।
मैंने एक पत्थर उठाया और आपका सिर तोड़ देने के लिए फेंका। नहीं लगा पत्थर और किनारे से निकल गया। कुछ चोट नहीं पहुंची; कहीं कुछ नहीं हुआ। लेकिन मेरी हिंसा पूरी हो गई। असल में मैंने पत्थर फेंका, तब हिंसा प्रकट हुई। पत्थर फेंकने की कामना की, आकांक्षा की, वासना की, तभी हिंसा पूरी हो गई। पत्थर फेंकने की वासना की, तब भी हिंसा मेरे सामने प्रकट हुई। पत्थर फेंकने की वासना कर सकता हूं, इसकी संभावना मेरे अचेतन में छिपी है, तभी हिंसा हो गई। मैं हिंसा कर सकता हूं, तो मैंने हिंसा कर दी।
हिंसा का संबंध किसी को मारने से नहीं, हिंसा का संबंध मारने की वासना
से है। तो जब कृष्ण कहते हैं, अहिंसा के मार्ग से भी! वे जो किसी को मारने की वासना से मुक्त हो जाते हैं! तो इसे जरा समझना पड़ेगा।
वे जो किसी को मारने की वासना से मुक्त हो जाते हैं, वे भी पहुंच जाते हैं वहीं, जहां कोई योग से, कोई सांख्य से, कोई सेवा से, प्रभु-अर्पण से पहुंचता है।
अहिंसा की कामना या हिंसा की वासना से मुक्त हो जाने का क्या अर्थ है? बहुत मजे की बात है कि ये सारे भिन्न-भिन्न मार्ग बहुत गहरे में कहीं
एक ही मूल से ज.ुडे होते हैं। जब तक मनुष्य के मन में इंद्रियों का लोभ है, तब तक हिंसा से मुक्ति असंभव है। जब तक आदमी इंद्रियों को तृप्त करने के लिए विक्षिप्त है, तब तक हिंसा से मुक्ति असंभव है।
इंद्रियां पूरे समय हिंसा कर रही हैं। जब आपकी आंख किसी के शरीर पर वासना बन जाती है, तब हिंसा हो जाती है। तब आपने बलात्कार कर लिया। अदालत में नहीं पकड़े जा सकते हैं आप, क्योंकि अदालत के पास आंखों से किए गए बलात्कार को पकड़ने का अब तक कोई उपाय नहीं है। लेकिन जब आंख किसी के शरीर पर पड़ी और आंख मांग बन गई, काम बन गई, वासना बन गई; और आंख ने एक क्षण में उस शरीर को चाह लिया, पजेस कर लिया; एक क्षण में उस शरीर को भोगने की कामना का धुआं चारों तरफ फैल गया--बलात्कार हो गया। आंख से हुआ, आंख शरीर का हिस्सा है। आंख से हुआ, आंख के पीछे आप खड़े हैं। आंख से हुआ, आपने किया; हिंसा हो गई। हिंसा सिर्फ छुरा भोंकने से नहीं होती, आंख भौंकने से भी हो जाती है। इंद्रियां जब तक आतुर हैं भोगने को, तब तक हिंसा जारी रहती है। इंद्रियां जब भोगने को आतुर नहीं रहतीं, तभी हिंसा से छुटकारा है।
जिसे हम हिंसा कहते हैं, वह कब पैदा होती है? यह सूक्ष्म हिंसा छोड़ें; जिसे हम हिंसा कहते हैं, स्थूल, वह कब पैदा होती है? वह तभी पैदा होती है, जब आपकी किसी कामना में अवरोध आ जाता है, अटकाव आ जाता है। तभी पैदा होती है। अगर आप किसी के शरीर को भोगना चाहते हैं और कोई दूसरा बीच में आ जाता

है; या जिसका शरीर है, वही बीच में आ जाता है कि नहीं भोगने देंगे--तब हिंसा शुरू होती है।
जब भी आपकी इंद्रियां भोगने के लिए कहीं कब्जा मांगती हैं और कब्जा नहीं मिल पाता, तभी हिंसा शुरू हो जाती है। स्थूल हिंसा शुरू हो जाती है। सूक्ष्म हिंसा पहले, भाव हिंसा पहले, फिर हिंसा सक्रिय होती और स्थूल बन जाती है।
कृष्ण कहते हैं, अहिंसा के मार्ग से भी, अर्थात इंद्रियों से जिसने अब मांगना छोड़ दिया, इंद्रियां जिसके भिक्षापात्र न रहीं; इंद्रियों से जिसने छेदना छोड़ दिया, इंद्रियां जिसके शस्त्र न रहीं; इंद्रियों से जिसने आक्रमण छोड़ दिया।
महावीर का एक बहुत कीमती शब्द यहां ख्याल में रख लेना उपयोगी होगा। महावीर ध्यान के पहले प्रतिक्रमण शब्द का उपयोग करते हैं। ध्यान में जाना हो, तो पहले प्रतिक्रमण।
कभी आपने सोचा है कि प्रतिक्रमण का मतलब होता है, आक्रमण से उलटा! आक्रमण का मतलब है, दूसरे पर हमला। प्रतिक्रमण का मतलब है, आक्रमण की सारी शक्तियों को अपने में वापस लौटा ले जाना। एग्रेशन, आक्रमण। प्रतिक्रमण, रिग्रेशन; कमिंग बैक टु वनसेल्फ। आंख गई आप पर आक्रमण करने को, तो हिंसा हो गई। और मैंने आंख को वापस लौटा लिया उसकी पूरी कामना के साथ अपने भीतर, अपने भीतर, गहरे में वहां, जहां से उठती है कामना, वहीं उसे ले गया वापस--तो यह हुआ प्रतिक्रमण। और जब प्रतिक्रमण हो, तभी महावीर कहते हैं कि ध्यान हो सकता है, अन्यथा ध्यान नहीं हो सकता। क्योंकि आक्रमण करने वाली इंद्रियों के साथ ध्यान कैसा? प्रतिक्रमण करने वाली इंद्रियों के साथ ध्यान फलित हो सकता है।
कृष्ण कहते हैं, अहिंसा के मार्ग से भी, अर्थात आक्रमण जो नहीं कर रहा।
अब ध्यान रखें, अगर ठीक से समझें, तो किसी भी तल पर आक्रमण की कामना हिंसा है--किसी भी तल पर। सूक्ष्म से सूक्ष्म तल पर भी आक्रमण की इच्छा हिंसा है। अनाक्रमण, नान-एग्रेशन, प्रतिक्रमण, शक्तियों को लौटा लेना वापस अपने में--आंख लौट जाए आंख के मूल में; कान लौट जाए कान के मूल में; स्वाद लौट जाए स्वाद के मूल में; फैलाव बंद हो; सब सिकुड़ आए अपने मूल में-- जब ऐसा प्रतिक्रमण फलित हो, तब व्यक्ति ध्यान को उपलब्ध हो पाता है। अहिंसा का अर्थ है, प्रतिक्रमण, लौटना, कमिंग बैक टु वनसेल्फ। हिंसा
का मतलब है, जाना दूसरे के ऊपर, किसी भी रूप में दूसरे के ऊपर जाना। दूसरे पर जाना! यह हिंसा शत्रुतापूर्ण भी हो सकती है, मित्रतापूर्ण भी हो सकती है। जो नासमझ हैं, वे शत्रुता के ढंग से दूसरे पर जाते हैं; जो होशियार हैं, वे मित्रतापूर्ण ढंग से दूसरों के ऊपर जाते हैं।
लेकिन जब तक कोई दूसरे पर जाता है, तब तक हिंसा है। और जब कोई दूसरे पर जाता ही नहीं, अपने जाने को ही वापस लौटा लेता है, तब अहिंसा है। इस अहिंसा के क्षण में भी वही हो जाता है, जो योगाग्नि में जलकर होता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, अहिंसादि मार्गों से भी।
ऐसे वे और मार्ग भी गिनाते हैं। ऐसे बहुत मार्ग हैं। इसमें उन्होंने दो-चार ही गिनाए। कोई एक सौ बारह मार्ग हैं, जिनसे व्यक्ति वहां पहुंच सकता है, जहां पहुंचकर और आगे पहुंचने को कुछ शेष नहीं रह जाता; उसे पा सकता है, जिसे पाकर फिर पाने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। आप्तकाम हो जाता है।

प्रश्नः भगवान श्री, दो-तीन दिनों से अनेकानेक श्रोतागण आपके आस-पास दिखाई पड़ने वाले नव संन्यास और नव संन्यासियों के संबंध में कुछ बातें आपके स्वयं के मुख से ही सुनना चाहते हैं। कृपया इस संबंध में कुछ कहें।

यह जो भी मैं कह रहा हूं, संन्यास के संबंध में ही कह रहा हूं। यह सारी गीता संन्यास का ही विवरण है। और जिस संन्यास की मैं बात कर रहा हूं, वह वही संन्यास है, जिसकी कृष्ण बात कर रहे हैं।

करते हुए अकर्ता हो जाना; करते हुए भी ऐसे हो जाना, जैसे मैं करने वाला नहीं हूं--बस, संन्यास का यही लक्षण है।
गृहस्थ का क्या लक्षण है? गृहस्थ का लक्षण है, हर चीज में कर्ता हो जाना। संन्यासी का लक्षण है, हर चीज में अकर्ता हो जाना।
संन्यास जीवन का, जीवन को देखने का और ही ढंग है। बस, ढंग का फर्क है। संन्यासी और गृहस्थी में, घर का फर्क नहीं है, ढंग का फर्क है। संन्यासी और गृहस्थी में जगह का फर्क नहीं है, भाव का फर्क है। संन्यासी और गृहस्थी में, परिस्थिति का फर्क नहीं है, मनःस्थिति का फर्क है। संसार में जो है।
हम सभी संसार में होंगे। कोई कहीं हो--जंगल में बैठे, पहाड़ पर बैठे, गिरि- कंदराओं में बैठे--संसार के बाहर जाने का उपाय, परिस्थिति बदलकर नहीं है। संसार के बाहर जाने का उपाय, मनःस्थिति बदलकर, बाई दि म्यूटेशन आफ दि माइंड, मन को ही रूपांतरित करके है।
मैं जिसे संन्यास कह रहा हूं, वह मन को रूपांतरित करने की एक प्रक्रिया है। दो-तीन उसके अंग हैं, उनकी आपसे बात कर दूं।
पहला तो, जो जहां है, वह वहां से हटे नहीं। क्योंकि हटते केवल कमजोर हैं; भागते केवल वे ही हैं, जो भयभीत हैं। और जो संसार को भी झेलने में भयभीत है, वह परमात्मा को नहीं झेल सकेगा, यह मैं आपसे कह देता हूं। जो संसार का ही सामना करने में डर रहा है, वह परमात्मा का सामना कर पाएगा? नहीं कर पाएगा, यह मैं आपसे कहता हूं। संसार जैसी कमजोर चीज जिसे डरा देती है, परमात्मा जैसा विराट जब सामने आएगा, तो उसकी आंखें ही झप जाएंगी; वह ऐसा भागेगा कि फिर लौटकर देखेगा भी नहीं। यह क्षुद्र-सा चारों तरफ जो है, यह डरा देता है, तो उस विराट के सामने खड़े होने की क्षमता नहीं होगी। और फिर अगर परमात्मा यही चाहता है कि लोग सब छोड़कर भाग जाएं, तो उसे सबको सबमें भेजने की जरूरत ही नहीं है।
नहीं; उसकी मर्जी और मंशा कुछ और है। मर्जी और मंशा यही है कि पहले लोग क्षुद्र को, आत्माएं क्षुद्र को सहने में समर्थ हो जाएं, ताकि विराट को सह सकें। संसार सिर्फ एक प्रशिक्षण है, एक ट्रेनिंग है।
इसलिए जो ट्रेनिंग को छोड़कर भागता है, उस भगोड़े को, एस्केपिस्ट को मैं संन्यासी नहीं कहता हूं। जीवन जहां है, वहीं। संन्यासी हो गए, फिर तो भागना ही नहीं। पहले चाहे भाग भी जाते, तो मैं माफ कर देता। संन्यासी हो गए, फिर तो भगाना ही नहीं। फिर तो वहीं जमकर खड़े हो जाना। क्योंकि फिर संन्यास अगर संसार के सामने भागता हो, तो कौन कमजोर है? कौन सबल है? फिर तो मैं कहता हूं, अगर इतना कमजोर है कि भागना पड़ता है, तो फिर संसार ही ठीक। फिर सबल को ही स्वीकार करना उचित है।
तो पहली तो बात मेरे संन्यास की यह है कि भागना मत। जहां खड़े हैं, वहीं, जिंदगी के सघन में पैर जमा कर! लेकिन उसे प्रशिक्षण बना लेना। उस सबसे सीखना। उस सबसे जागना। उस सबको अवसर बना लेना। पत्नी होगी पास, भागना मत। क्योंकि पत्नी से भागकर कोई स्त्री से नहीं भाग सकता। पत्नी से भागना तो बहुत आसान है। पत्नी से तो वैसे ही भागने का मन पैदा हो जाता है। पति से भागने का मन पैदा हो जाता है। जिसके पास हम होते हैं, उससे ऊब जाते हैं। नए की तलाश मन करता है।
पत्नी से भागना बहुत आसान है। भाग जाएं; स्त्री से न भाग पाएंगे। और
जब पत्नी जैसी स्त्री को निकट पाकर स्त्री से मुक्त न हो सके, तो फिर कब मुक्त हो सकेंगे! अगर पति जैसे प्रीतिकर मित्र को निकट पाकर पुरुष की कामना से मुक्ति न मिली, तो फिर छोड़कर कभी न मिल सकेगी।
इस देश ने पति और पत्नी को सिर्फ काम के उपकरण नहीं समझा; सेक्स, वासना
का साधन नहीं समझा है। इस मुल्क की गहरी समझ और भी, कुछ और है। और वह यह है कि पति-पत्नी अंततः--प्रारंभ करें वासना से--अंत हो जाएं निर्वासना पर। एक-दूसरे को सहयोगी बनें। स्त्री सहयोगी बने पुरुष को कि पुरुष स्त्री से मुक्त हो सके। पुरुष सहयोगी बने पत्नी को कि पत्नी पुरुष की कामना से मुक्त हो सके। ये अगर सहयोगी बन जाएं, तो बहुत शीघ्र निर्वासना को उपलब्ध हो सकते हैं।

लेकिन ये इसमें सहयोगी नहीं बनते। पत्नी डरती है कि कहीं पुरुष निर्वासना को उपलब्ध न हो जाए। इसलिए डरी रहती है। अगर मंदिर जाता है, तो ज्यादा चौंकती है; सिनेमा जाता है, तो विश्राम करती है। चोर हो जाए, समझ में आता है; प्रार्थना, भजन-कीर्तन करने लगे, समझ में बिल्कुल नहीं आता है।
खतरा है। पति भी डरता है कि पत्नी कहीं निर्वासना में न चली जाए।
अजीब हैं हम! हम एक-दूसरे का शोषण कर रहे हैं, इसलिए इतने भयभीत हैं।
हम एक-दूसरे के मित्र नहीं हैं! क्योंकि मित्र तो वही है, जो वासना के बाहर ले जाए। क्योंकि वासना दुख है और वासना दुष्पूर है! वासना कभी भरेगी नहीं।
वासना में हम ही मिट जाएंगे, वासना नहीं मिटेगी। तो मित्र तो वही है, पति तो वही है, पत्नी तो वही है, मित्र तो वही है, जो वासना से मुक्त करने में साथी बने। और शीघ्रता से यह हो सकता है।
इसलिए मैं कहता हूं, पत्नी को मत छोड़ो, पति को मत छोड़ो; किसी को मत छोड़ो। इस प्रशिक्षण का उपयोग करो। हां, इसका उपयोग करो परमात्मा तक पहुंचने के लिए। संसार को बनाओ सीढ़ी। संसार को दुश्मन मत बनाओ; बनाओ सीढ़ी। चढ़ो उस पर; उठो उससे। उससे ही उठकर परमात्मा को छुओ। और संसार सीढ़ी बनने के लिए है, इसलिए पहली बात।
दूसरी बात, संन्यास अब तक सांप्रदायिक रहा है, जो कि दुखद है, जो कि संन्यास को गंदा कर जाता है। संन्यास धर्म है, संप्रदाय नहीं। गृहस्थ संप्रदायों में बंटा हो, समझ में आता है। उसके कारण हैं। जिसकी दृष्टि बहुत सीमित है, वह विराट को नहीं पकड़ पाता। वह हर चीजों में सीमा बनाता है, तभी पकड़ पाता है। हर चीज को खंड में बांट लेता है, तभी पकड़ पाता है। आदमी- आदमी की सीमाएं हैं।
अगर आप बीस आदमी पिकनिक को जाएं, तो आप पाएंगे कि पिकनिक पर आप पहुंचे, चार-पांच ग्रुप में टूट जाएंगे। बीस आदमी इकट्ठे नहीं रहेंगे। तीन-तीन, चार-चार की टुकड़ी हो जाएगी। सीमा है। तीन-तीन चार-चार में टूट जाएंगे। अपनी-अपनी बातचीत शुरू कर देंगे। दो-चार हिस्से बन जाएंगे। बीस आदमी इकट्ठे नहीं हो पाते। ऐसी आदमी की सीमा है।
सारी मनुष्यता एक है, यह साधारण आदमी की सीमा के बाहर है सोचना। सब मंदिर, सब मस्जिद उसी परमात्मा के हैं, यह सोचना मुश्किल है। साधारण की सीमा के लिए कठिन होगा। लेकिन संन्यासी असाधारण होने की घोषणा है।
तो दूसरी बात, संन्यास धर्म में प्रवेश है--हिंदू धर्म में नहीं, मुसलमान धर्म में नहीं, ईसाई धर्म में नहीं, जैन धर्म में नहीं--धर्म में। इसका क्या मतलब हुआ? हिंदू धर्म के खिलाफ? नहीं। इस्लाम धर्म के खिलाफ? नहीं। जैन धर्म के खिलाफ? नहीं। वह जो जैन धर्म में धर्म है, उसके पक्ष में; और वह जो जैन है, उसके खिलाफ। और वह जो हिंदू धर्म में धर्म है, उसके पक्ष में; और वह जो हिंदू है, उसके खिलाफ। और वह जो इस्लाम धर्म में धर्म है, उसके पक्ष में; और वह जो इस्लाम है, उसके खिलाफ। सीमाओं के खिलाफ, और असीम के पक्ष में। आकार के खिलाफ, और निराकार के पक्ष में।
संन्यासी किसी धर्म का नहीं, सिर्फ धर्म का है। वह मस्जिद में ठहरे, मंदिर में ठहरे, कुरान पढ़े, गीता पढ़े। महावीर, बुद्ध, लाओत्से, नानक, जिससे उसका प्रेम हो, प्रेम करे। लेकिन जाने कि जिससे वह प्रेम कर रहा है, यह दूसरों के खिलाफ घृणा का कारण नहीं, बल्कि यह प्रेम भी उसकी सीढ़ी बनेगी, उस अनंत में छलांग लगाने के लिए, जिसमें सब एक हो जाता है। नानक को बनाए सीढ़ी, बनाए। बुद्ध-मोहम्मद को बनाना चाहे, बुद्ध-मोहम्मद को बनाए। कूद जाए वहीं से। पर कूदना है अनंत में।
और इस अनंत का स्मरण रहे, तो इस पृथ्वी पर दो घटनाएं घट सकती हैं। संन्यासी जहां है वहीं रहे, तो करोड़ों संन्यासी सारी पृथ्वी पर हो सकते हैं। संन्यासी छोड़कर भागे, तो ध्यान रखना, भविष्य में, बीस साल, पच्चीस साल के बाद, इस सदी के पूरे होते-होते, संन्यास अपराध होगा, क्रिमिनल एक्ट हो जाएगा।
रूस में हो गया, चीन में हो गया, आधी दुनिया में हो गया। आज रूस और चीन में कोई संन्यासी होकर नहीं रह सकता। क्योंकि वे कहते हैं, जो करेगा

मेहनत, वह खाएगा। जो मेहनत नहीं करेगा, वह शोषक है, एक्सप्लायटर है; इसको हटाओ। वह अपराधी है।
बिखर गई! चीन में बड़ी गहरी परंपरा थी संन्यास की--बिखर गई, टूट गई। मोनेस्ट्रीज उखड़ गईं। तिब्बत गया। शायद पृथ्वी पर सबसे ज्यादा गहरे संन्यास के प्रयोग तिब्बत ने किए थे, लेकिन सब मिट्टी हो गया। हिंदुस्तान में भी ज्यादा देर नहीं लगेगी। लेनिन ने कहा था उन्नीस सौ बीस में, कि कम्यूनिज्म का रास्ता मास्को से पेकिंग, और पेकिंग से कलकत्ता होता हुआ लंदन जाएगा। कलकत्ते तक पैर सुनाई पड़ने लगे। लेनिन की भविष्यवाणी सही होने का डर है।
संन्यास अब तो एक ही तरह बच सकता है कि संन्यासी स्वनिर्भर हो। समाज पर, किसी पर निर्भर होकर न जीए। तभी हो सकता है स्वनिर्भर, जब वह संसार में हो, भागे न। अन्यथा स्वनिर्भर कैसे हो सकता है?
थाईलैंड में चार करोड़ की आबादी है, बीस लाख संन्यासी हैं! मुल्क घबड़ा गया है। लोग परेशान हो गए हैं। बीस लाख लोगों को चार करोड़ की आबादी कैसे खिलाए, कैसे पिलाए, क्या करे! अदालतें विचार करती हैं कानून बनाने का। संसद निर्णय लेती है कि कोई सख्त नियम बनाओ कि सिर्फ सरकार जब आज्ञा दे किसी आदमी को, तब वह संन्यासी हो सकता है। जब संन्यासी की आज्ञा सरकार से लेना पड़े, तो उसमें भी रिश्वत हो जाएगी! उसमें भी जो रिश्वत लगा सकेगा, वह संन्यासी हो जाएगा। संन्यासी होने के लिए रिश्वत देनी पड़ेगी, कि सरकारी लाइसेंस लेना पड़ेगा, फिर संन्यास की सुगंध और संन्यास की स्वतंत्रता कहां रह जाएगी!
इसलिए मैं यह देखता हूं, भविष्य को ध्यान में रखकर भी, कि अब एक संन्यास का नया अभियान होना चाहिए, जिसमें कि संन्यासी घर में होगा, गृहस्थ होगा, पति होगा, पिता होगा, भाई होगा। शिक्षक, दूकानदार, मजदूर, वह जो है, वही होगा। सबका होगा। सब धर्म उसके अपने होंगे। सिर्फ धार्मिक होगा।
धर्मों के विरोध ने दुनिया को बहुत गंदी कलह से भर दिया है। इतना दुखद
हो गया है सब कि ऐसा लगने लगा है कि धर्मों से शायद फायदा कम हुआ, नुकसान ज्यादा हुआ। जब देखो तब धर्म के नाम पर खून बहता है! और जिस धर्म के नाम पर खून बहता हो, अगर बच्चे उस धर्म को इनकार कर दें; और जिन पंडितों की बकवास से खून बहता हो, अगर बच्चे उन पंडितों को ही इनकार कर दें और कहें कि बंद करो तुम्हारी किताबें, तुम्हारे कुरान और गीताएं; अब नहीं चाहिए--तो कुछ आश्चर्य तो नहीं है। स्वाभाविक है।
यह बंद करना पड़े। यह बंद तभी हो सकता है, एक ही रास्ता है इसका, और वह रास्ता यह है कि संन्यास का फूल इतना ऊंचा उठे सीमाओं से कि सब धर्म उसके अपने हो जाएं और कोई एक धर्म उसका अपना न रहे। तो हम इस पृथ्वी को जोड़ सकते हैं।
अब तक धर्मों ने तोड़ा, उसे कहीं से जोड़ना पड़ेगा। इसलिए मैं कहता हूं, हिंदू आए, मुसलमान आए, जैन आए, ईसाई आए। उसे चर्च में प्रार्थना करनी हो, चर्च में करे; मंदिर में, तो मंदिर में; स्थानक में, तो स्थानक में; मस्जिद में, तो मस्जिद में। उसे जहां जो करना हो, करे। लेकिन वह अपने मन से संप्रदाय का विशेषण अलग कर दे, मुक्त हो जाए। सिर्फ संन्यासी हो जाए; सिर्फ धर्म का हो जाए। यह दूसरी बात।
और तीसरी बात, मेरे संन्यास में सिर्फ एक अनिवार्यता है, एक अनिवार्य शर्त है और वह है, ध्यान। बाकी कोई व्रत-नियम ऊपर से मैं थोपने के लिए राजी नहीं हूं। क्योंकि जो भी व्रत और नियम ऊपर से थोपे जाते हैं, वे पाखंड का निर्माण कर देते हैं। सिर्फ ध्यान की टेक्नीक संन्यासी सीखे; प्रयोग करे; ध्यान में गहरा उतरे।
और मेरी अपनी समझ और सारी मनुष्य जाति के अनुभव का सार-निचोड़ यह है कि
जो ध्यान में गहरा उतर जाए, वह योगाग्नि में ही गहरा उतर रहा है। उसकी वृत्तियां भस्म हो जाती हैं, उसके इंद्रियों के रस खो जाते हैं। वह धीरे- धीरे सहज--सहज, जबर्दस्ती नहीं, बलात नहीं--सहज रूपांतरित होता चला जाता है। उसके भीतर से ही सब बदल जाता है। उसके बाहर के सब संबंध वैसे ही बने

रहते हैं; वह भीतर से बदल जाता है। इसलिए सारी दुनिया उसके लिए बदल जाती है।
ध्यान के अतिरिक्त संन्यासी के लिए और कोई अनिवार्यता नहीं है।
कपड़े आप देखते हैं गैरिक, संन्यासी पहने हुए हैं। यह मैंने सुबह जैसा कहा, गांठ बांधने जैसा इनका उपयोग है। चौबीस घंटे याद रह सकेगा; स्मरण, रिमेंबरिंग रह सकेगी कि मैं संन्यासी हूं। बस, यह स्मरण इनको रह सके, इसलिए इन्हें गैरिक वस्त्र दे दिए हैं। गैरिक वस्त्र भी जानकर दिए हैं; वे अग्नि के रंग के वस्त्र हैं। भीतर भी ध्यान की अग्नि जलानी है। उसमें सब जला डालना है। भीतर भी ध्यान का यज्ञ जलाना है, उसमें सब आहुति दे देनी है। उनके गलों में आप मालाएं देख रहे हैं। उन मालाओं में एक सौ आठ गुरिए हैं। वे एक सौ आठ ध्यान की विधियों के प्रतीक हैं। और उन्हें स्मरण रखने के लिए दिया है कि वे भलीभांति जानें कि चाहे अपने हाथ में एक ही गुरिया हो, लेकिन और एक सौ सात मार्गों से भी मनुष्य पहुंचा है, पहुंच सकता है। और एक सौ आठ गुरिए कितने ही अलग हों, उनके भीतर पिरोया हुआ धागा एक ही है। उस एक का स्मरण बना रहे, एक सौ आठ विधियों में, ताकि कभी उनके मन में यह ख्याल न आए और कोई एकांगीपन न पकड़ जाए कि मेरा ही मार्ग, मैं जो हूं, वही रास्ता पहुंचाता है। नहीं; सभी रास्ते पहुंचा देते हैं। सभी रास्ते पहुंचा देते हैं।
उनकी मालाओं में एक तस्वीर आप देख रहे हैं। शायद आपको भ्रम होगा कि मेरी है। मेरी बिल्कुल नहीं है। क्योंकि मेरी तस्वीर उतारने का कोई उपाय नहीं है। तस्वीर किसी की उतारी नहीं जा सकती; सिर्फ शरीरों की उतारी जा सकती है। मैं उनका गवाह हूं, इसलिए उन्होंने मेरे शरीर की तस्वीर लटका ली है। मैं सिर्फ गवाह हूं, गुरु नहीं हूं। क्योंकि मैं मानता हूं कि गुरु तो सिवाय परमात्मा के और कोई भी नहीं है। मैं सिर्फ विटनेस हूं, कि मेरे सामने उन्होंने कसम ली है इस संन्यास की। मैं उनका गवाह भर हूं। और इसलिए वे मेरे शरीर की रेखाकृति लटकाए हुए हैं, ताकि उनको स्मरण रहे कि उनके संन्यास में वे अकेले नहीं हैं; एक गवाह भी है। और उनके डूबने के साथ उनका गवाह भी डूबेगा। बस, इतने स्मरण भर के लिए।
ध्यान में वे गहरे उतरें। ध्यान के बहुत रास्ते हैं। अभी उनको दो रास्तों पर मैं प्रयोग करवा रहा हूं। दोनों रास्ते सिंक्रोनाइज कर सकें, इस तरह के हैं; तालमेल हो सकें, इस तरह के हैं। एक ध्यान की प्रक्रिया मैं उनसे करवा रहा हूं, जो कि प्रगाढ़तम प्रक्रिया है; बहुत विगरस है और इस सदी के योग्य है। उस ध्यान की प्रक्रिया के साथ उनको कीर्तन और भजन के लिए भी कह रहा हूं; क्योंकि वह ध्यान की प्रक्रिया करने के बाद कीर्तन साधारण कीर्तन नहीं है, जो आप कहीं भी देख लेते हैं। आप जब देखते हैं कीर्तन, तो आप सोचते होंगे कि ठीक है; कोई भी ऐसा कीर्तन कर रहा है; ऐसा ही यह कीर्तन भी है। इस भूल में आप मत पड़ना। क्योंकि जिस ध्यान के प्रयोग को वे कर रहे हैं, उस प्रयोग के बाद यह कीर्तन कुछ और ही भीतर रस की धार छोड़ देता है।
आप भी उस प्रयोग को ध्यान के करके इसे करेंगे, तब आपको पता चलेगा कि यह कीर्तन साधारण कीर्तन नहीं है। यह कीर्तन एक ध्यान की प्रक्रिया का आनुषांगिक अंग है। और उस आनुषांगिक अंग में जब वे लीन और डूब जाते हैं, तब वे करीब-करीब अपने में नहीं होते, परमात्मा में होते हैं। और वह जो होने का अगर एक क्षण भी मिल जाए, चौबीस घंटे में, तो काफी है। उससे जो अमृत की एक बूंद मिल जाती है, वह चौबीस घंटों को जीवन के रस से भर जाती है।
जिन मित्रों को भी जरा भी ख्याल हो, वे हिम्मत करें। और ध्यान रखें... । अभी कल ही कोई मेरे पास आया, उसने कहा कि सत्तर प्रतिशत तो मेरी इच्छा
है कि लूं संन्यास; तीस प्रतिशत मन डांवाडोल होता है। इसलिए नहीं! तो मैंने कहा, तीस प्रतिशत मन कहता है, मत लो, तो तुम नहीं लेते; तीस प्रतिशत की मानते हो। और सत्तर प्रतिशत कहता है, लो, और सत्तर प्रतिशत की नहीं मानते हो! तो तुम्हारे पास बुद्धि है? और कोई सोचता हो कि जब हंड्रेड परसेंट, सौ प्रतिशत मन होगा तब लेंगे, तो मौत पहले आ जाएगी। हंड्रेड परसेंट मरने के बाद होता है। इससे पहले कभी मन होता नहीं। सिर्फ मरने के

बाद, जब आपकी लाश चढ़ाई जाती है चिता पर, तब हंड्रेड परसेंट मन संन्यास का होता है। लेकिन तब कोई उपाय नहीं रहता।
जिंदगी में कभी मन सौ प्रतिशत किसी बात पर नहीं होता। लेकिन जब आप क्रोध करते हैं, तब आप हंड्रेड परसेंट मन के लिए रुकते हैं? जब आप चोरी करते हैं, तब हंड्रेड परसेंट मन के लिए रुकते हैं? जब बेईमानी करते हैं, तब हंड्रेड परसेंट मन के लिए रुकते हैं? कहते हैं कि अभी बेईमानी नहीं करूंगा, क्योंकि अभी मन का एक हिस्सा कह रहा है, मत करो; सौ प्रतिशत हो जाने दो! लेकिन जब संन्यास का सवाल उठता है, तब सौ प्रतिशत के लिए रुकते हैं! बेईमानी किसके साथ कर रहे हो? आदमी अपने को धोखा देने में बहुत कुशल है। एक आखिरी बात, फिर सुबह लेंगे। फिर अभी कीर्तन-भजन में संन्यासी डूबेंगे, आपको भी निमंत्रण देता हूं। खड़े देखें मत। खड़े देखकर कुछ पता नहीं चलेगा; लोग नाचते हुए दिखाई पड़ेंगे। डूबें उनके साथ, तो पता चलेगा, उनके भीतर क्या हो रहा है। उस रस का एक कण अगर आपको भी मिल जाए, तो शायद आपकी जिंदगी में फर्क हो।
संन्यास या शुभ का कोई भी ख्याल जब भी उठ आए, तब देर मत करना। क्योंकि अशुभ में तो हम कभी देर नहीं करते। अशुभ को कोई पोस्टपोन नहीं करता। शुभ को हम पोस्टपोन करते हैं।
अनेक मित्र खबर ले आते हैं कि कहीं मेरा संप्रदाय तो नहीं बन जाएगा! कहीं ऐसा तो नहीं हो जाएगा! कहीं कोई मत, पंथ तो नहीं बन जाएगा!
मत, पंथ ऐसे ही बहुत हैं। नए मत, पंथ की कोई जरूरत नहीं है। बीमारियां ऐसे ही काफी हैं; और एक बीमारी जोड़ने की कोई जरूरत नहीं है।
इसलिए आपसे कहता हूं, यह कोई संप्रदाय नहीं है। संप्रदाय बनता ही किसी के खिलाफ है। संप्रदाय बनता ही किसी के खिलाफ है। ये संन्यासी किसी के खिलाफ नहीं हैं। ये सब धर्मों के भीतर जो सारभूत है, उसके पक्ष में हैं। परसों तो एक मुसलमान महिला ने संन्यास लिया है। उसके छः दिन पहले एक ईसाई युवक संन्यास लेकर गया है। ये जाएंगे अपने चर्चों में, अपनी मस्जिदों में, अपने मंदिरों में। इसमें जैन हैं, हिंदू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं। उनसे कुछ उनका छीनना नहीं है। उनके पास जो है, उसे ही शुद्धतम उनसे कह देना है।
अभी गीता पर बोल रहा हूं, अगले वर्ष कुरान पर बोलूंगा, फिर बाइबिल पर बोलूंगा; ताकि जो-जो शुद्ध वहां है, वह पूरी की पूरी बात मैं आपको कह दूं। जिसे जहां से लेना हो, वहां से ले ले।
जिसे जिस कुएं से पीना हो, पानी पी ले। क्योंकि पानी एक ही सागर का है।
कुएं का मोह भर न करे; इतना भर न कहे कि मेरे कुएं में ही पानी है, और किसी के कुएं में पानी नहीं है। फिर कोई संप्रदाय नहीं बनता, कोई मत नहीं बनता, कोई पंथ नहीं बनता।
सोचें। और स्फुरणा लगती हो, तो संन्यास में कदम रखें; जहां हैं, वहीं। कुछ आपसे छीनता नहीं। आपके भीतर के व्यर्थ को ही ता.ेडना है; सार्थक को वहीं रहने देना है।
फिर गीता पर सुबह बात करेंगे। अब संन्यासी उनके नृत्य में जाएंगे-- कीर्तन में--तो थोड़ी यहां जगह बना लें। जिनको देखना हो, देखें; सम्मिलित होना हो, सम्मिलित हो जाएं, लेकिन थोड़ी जगह ज्यादा बना लें।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
ग्यारहवां प्रवचन

स्वाध्याय-यज्ञ की कीमिया

प्रश्नः भगवान श्री, अट्ठाइसवें श्लोक में स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च
का अनुवाद दिया है, भगवान के नाम का जप तथा भगवतप्राप्ति विषयक शास्त्रों का अध्ययन रूप ज्ञान-यज्ञ के करने वाले। कृपया स्वाध्याय-यज्ञ को समझाएं।

स्वाध्याय-यज्ञ गहरे से गहरे आत्म-रूपांतरण की एक प्रक्रिया है। और कृष्ण ने जब कहा था यह सूत्र, तब शायद इतनी प्रचलित प्रक्रिया नहीं थी स्वाध्याय-यज्ञ, जितनी आज है। आज पृथ्वी पर सर्वाधिक प्रचलित जो प्रक्रिया आत्म-रूपांतरण की है, वह स्वाध्याय-यज्ञ है। इसलिए इसे ठीक से, थोड़ा ज्यादा ही ठीक से समझ लेना उचित है।
आधुनिक मनुष्य के मन के निकटतम जो प्रक्रिया है, वह स्वाध्याय-यज्ञ है। कृष्ण ने तो उसे चलते में ही उल्लेख किया है। उस समय बहुत महत्वपूर्ण वह नहीं थी, बहुत प्रचलित भी नहीं थी। कभी कोई साधक उसका प्रयोग करता था। लेकिन सिगमंड फ्रायड, गुस्ताव जुंग, अल्फ्रेड एडलर, सलीवान, फ्रोम और पश्चिम के सारे मनोवैज्ञानिकों ने स्वाध्याय-यज्ञ को बड़ी कीमत दे दी है। स्वाध्याय, इस शब्द में स्व और अध्ययन दो बातें हैं। स्वयं का अध्ययन स्वाध्याय का अर्थ है। स्वयं का अध्ययन सारे मनोविश्लेषण की आधार भूमि है, साइकोएनालिसिस की आधार भूमि है। स्वयं में क्या-क्या है, इसका गूढ़ परिचय--किसी और के द्वारा नहीं, स्वयं के ही द्वारा। किसी और के द्वारा इसलिए नहीं कि स्वयं की अतल गहराइयों में किसी दूसरे का कोई प्रवेश नहीं है।
हम दूसरे व्यक्ति को केवल उसकी परिधि से ही जान पाते हैं। उसकी गहराइयों में, उसके अंतस्तल में कहीं कोई द्वार प्रवेश का नहीं है। हम दूसरे के व्यवहार को, बिहेवियर को ही जान पाते हैं; उसके अंतस को नहीं। दूसरा क्या करता है, इसे तो हम अध्ययन कर सकते हैं; लेकिन दूसरा क्या है, इसका हम बाहर से अध्ययन नहीं कर सकते हैं।
और जितना ही ज्यादा मनुष्य सभ्य हो गया है, उतना ही धोखा गहरा हो गया है। अंतस कुछ होता, आचरण कुछ होता! इसलिए आचरण को देखकर अंतस की कोई भी खबर नहीं मिलती है। सुसंस्कृत और सुसभ्य आदमी हम कहते ही उसे हैं, जिसके आचरण का जाल इतना बड़ा है कि उसके अंतस का पता न लगाया जा सके। जिसका आचरण ऐसा है कि उससे हमें कोई क्लू, कोई कुंजी, कोई चाबी नहीं मिलती कि हम उसके अंतस के ताले को खोल लें। शायद शुद्ध आदिम आदमी, प्रिमिटिव, उसके आचरण को देखकर हमें उसके अंतस का थोड़ा अंदाज भी लग जाए; लेकिन जितना सुसभ्य, सुशिक्षित आदमी, उतना ही उसके व्यवहार को देखकर उसके स्वयं का कोई पता नहीं चलता। व्यवहार प्रकट नहीं करता, छिपाता है। आचरण अंतस की अभिव्यक्ति नहीं, अंतस का छिपाव बन गया है। हम जो बोलते हैं, उससे वह पता नहीं चलता, जो हम सोचते हैं। हम जो बोलते हैं, वह उसे छिपाने को है, जो हम सोचते हैं। चेहरे पर जो दिखाई पड़ता है, वह वह नहीं होता, जो आत्मा में उठता है। चेहरा सौ में निन्यानबे मौके पर आत्मा में जो उठता है, वह दूसरे तक न पहुंच जाए, इसकी रुकावट का काम करता है।
स्वाध्याय का इसलिए पहना अर्थ है कि हम अपने अंतस से स्वयं ही परिचित
हो सकते हैं। दूसरे हमारे आचरण को ही जान सकते हैं। और आचरण से जाना गया उनका अध्ययन ज्यादा से ज्यादा अनुमान, इनफरेंस हो सकता है। लेकिन साक्षात, सीधा ज्ञान, इमीजिएट, तो हम अपने भीतर स्वयं का ही कर सकते हैं। हम स्वयं ही अपनी गहराइयों में हैं अकेले, वहां किसी दूसरे का प्रवेश नहीं है। इसलिए स्वाध्याय। लेकिन हम खुद भी वहां नहीं जाते। हम खुद भी अपने से बाहर ही जीते हैं। हम इस ढंग से जीते हैं कि हम भी अपने आचरण से ही परिचित होते हैं, अपनी आत्मा से परिचित नहीं होते। हम स्वयं को भी जानते हैं, तो दूसरों की दृष्टि से जानते हैं। अगर दूसरे हमें अच्छा आदमी कहते

हैं, तो हम सोचते हैं, हम अच्छे आदमी हैं। और दूसरे अगर बुरा कहने लगते हैं, तो बड़ी पीड़ा पहुंचाते हैं।
स्वयं का सीधा, प्रत्यक्ष अनुभव हमारा अपना नहीं है। अन्यथा सारी दुनिया बुरा कहे, अगर मैं अपने भीतर जानता हूं कि मैं अच्छा हूं, तो कोई अंतर नहीं पड़ता। उस सारी दुनिया के बुरे कहने से जरा-सा कांटा भी नहीं चुभता। कोई प्रयोजन नहीं है। लेकिन मुझे तो मेरा पता ही नहीं है कि मैं कौन हूं। मुझे तो वही पता है, जो लोगों ने मेरे बाबत कहा है।
लोग मेरे संबंध में जानें बाहर से, यह तो उचित है; लेकिन मैं भी अपने संबंध में जानूं बाहर से, यह एकदम ही, एकदम ही खतरनाक है। अनुचित ही नहीं, खतरनाक भी है।
स्वाध्याय का अर्थ है, स्वयं का साक्षात्कार, एनकाउंटर विद वनसेल्फ। स्वाध्याय का अर्थ है, अपने ही आमने-सामने खड़ा हो जाना। निश्चित ही, स्वाध्याय की प्रक्रिया को चरणों में बांटकर समझ लें।
पहली बात, जो व्यक्ति स्वाध्याय की साधना में या स्वाध्यायरूपी यज्ञ में उतरना चाहता है, पहली बात, दूसरों ने उसके संबंध में क्या कहा है, उसे तत्काल अलग कर देना चाहिए। दूसरे उसके संबंध में क्या सोचते हैं, इसे हटा देना चाहिए। दूसरों के वक्तव्य धोखे के सिद्ध होंगे। दूसरों की जानकारी अपने संबंध में सबसे पहला कचरा है, जो स्वाध्याय में अलग करना पड़ता है। तभी मैं निपट उसको जान पाऊंगा, जो मैं हूं।
और जो मैं हूं, इसे जानने के लिए दूसरा चरण जो... । यह बहुत कठिन है। दूसरों के ओपीनियन को अलग कर देना बहुत कठिन नहीं है। यह इतना ही सरल है, जैसे नदी के ऊपर पत्ते छा जाएं, उनको हम हटा दें और नीचे का जल-स्रोत प्रकट हो जाए। दूसरों के मंतव्य हमारे संबंध में बहुत गहरे नहीं होते, नदी की सतह पर होते हैं। घास-पात की तरह उन्हें अलग किया जा सकता है। उसमें बहुत अड़चन नहीं है। अड़चन दूसरे चरण में है।
हमने अपने को जानने के लिए अपने को पूरा मुक्त नहीं रखा है। हमने अपने बहुत-से हिस्से भयभीत होकर, घबड़ाकर इतने गहरे में दबा दिए हैं कि हम उनको अपने सामने लाने में डरेंगे। जैसे एक आदमी ब्रह्मचर्य की धारणा से भर गया हो, तो वह अपनी कामवासना को इतना दबा देगा कि वह उसका साक्षात्कार न कर पाएगा। वह खुद ही डरेगा कि मेरे भीतर और कामवासना! नहीं-नहीं; है ही नहीं! जिस आदमी ने अपने क्रोध को गहरे में दबा दिया है, वह अपने क्रोध को कभी भी नहीं जान पाएगा। और हमने अपने बहुत-से हिस्सों को भीतर दबाया हुआ है, सप्रेस किया हुआ है।
इसलिए स्वाध्याय का दूसरा चरण है, जो-जो दबाया हुआ है, उसे उभारना पड़ेगा। अन्यथा स्वयं का अध्ययन न हो पाएगा। जो-जो भीतर अतल में पड़ गया है, जो-जो हमने अंधेरे में सरका दिया है कि हमें खुद ही न मिल जाए! हम खुद ही अपने बड़े हिस्से को अंधेरे में किए हुए हैं, कि कहीं हमारी मुलाकात न हो जाए! और इसीलिए हम अकेलेपन से बहुत डरते हैं, लोनलीनेस से बहुत डरते हैं। क्योंकि अकेले में रहेंगे, तो खुद से मिलने का मौका है। इसलिए सदा किसी के साथ हैं। कभी पत्नी, कभी पति; कभी बेटा, कभी मित्र; कभी क्लब, कभी मंदिर; लेकिन कहीं न कहीं कोई न कोई साथ है। अकेले नहीं हैं! क्योंकि अकेले में, जब कोई भी साथ नहीं होगा, तो हम अपने साथ हो जाएंगे। वह डर है।
इसलिए सभ्य आदमी अकेले में बिल्कुल नहीं है। अकेला हुआ, तो रेडियो खोलेगा, ताकि अकेलापन मिट जाए। अखबार उठा लेगा, अकेलापन मिट जाए। कुछ और नहीं सूझेगा, तो सिगरेट पीएगा, अकेलापन मिट जाए। कुछ भी नहीं बचेगा, तो सो जाएगा। लेकिन अकेला जागेगा नहीं।
यह बड़ा शड्यंत्र है, जो हम अपने साथ कर रहे हैं, ए ग्रेट कांसपिरेसी। बड़े से बड़ा शड्यंत्र जो हम अपने साथ कर रहे हैं, वह यह है कि हम अपने साथ अकेले कभी नहीं होते। कभी नहीं! कहीं मौका मिल जाए, तो बड़ी ऊब मालूम पड़ती है, बड़ी घबड़ाहट और बेचैनी होती है!
अभी अमेरिका में उन्होंने एक यूनिवर्सिटी में एक गहरा प्रयोग किया है, केलिफोर्निया में। और वह है सेंस डिप्राइवेशन का। कुछ युवकों को ऐसी कोठरियों में बंद किया, जहां कोई भी संवेदना उन तक न पहुंच सके। कोई भी

संवेदना! घुप्प, गहन अंधकार। वैज्ञानिक साधनों से समस्त प्रकाश की संभावनाओं को रोक दिया है भीतर जाने से। गहन अंधकार। कोई आवाज भीतर नहीं पहुंच सकती, कोई ध्वनि नहीं पहुंच सकती। हाथ पर, शरीर पर इस तरह के दस्ताने पहनाए हैं कि उनके कारण अपने ही शरीर को भी नहीं छुआ जा सकता। सब तरफ से इंद्रियों को कुछ भी सूचना न मिले, ऐसी स्थिति में उस आदमी पर क्या घटित होता है? तो उसके सारे सिर पर यंत्र लगे हैं, जो बाहर खबर भेज रहे हैं कि उसके भीतर क्या हो रहा है।
पांच मिनट गुजारना मुश्किल हो जाता है। पांच मिनट बाद यंत्र खबर देने लगते हैं कि वह आदमी पागल हो जाएगा। उसे निकालो बाहर! उसके मस्तिष्क की सारी व्यवस्था अस्तव्यस्त हुई जा रही है। दस मिनट के बाद वह आदमी करीब-करीब बेहोशी की हालत में पहुंच जाता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर घंटेभर रोका जाए, तो वह कोमा में पड़ जाएगा। इतनी गहरी मूर्च्छा में पड़ जाएगा कि लौट सकेगा कि नहीं, यह डर हो जाएगा। क्या हो गया है इस आदमी को? अकेलापन! भारी अकेलापन है।
अभी जिन अंतरिक्ष यात्रियों ने चांद तक यात्रा की है, चांद तक पहुंचने में जो सबसे बड़ी कठिनाई थी, वह कठिनाई यांत्रिक नहीं थी। यांत्रिक कठिनाई तो बहुत दिन पहले हल हो गई थी। सारे अनुमान सही सिद्ध हुए, जो पहले सोचा गया था। बड़ी कठिनाई थी, इतनी देर तक, पृथ्वी को छोड़ने के बाद जो गहन सन्नाटा है, उसको आदमी का मस्तिष्क झेल पाएगा कि नहीं झेल पाएगा? उसका मस्तिष्क फट तो नहीं जाएगा?
इसलिए जिन-जिन यात्रियों को भेजा गया है, उनको महीनों तक सन्नाटे में रखने का अभ्यास करवाना पड़ा है--सालों तक। और पहली दफा अमेरिका और रूस के वैज्ञानिक ध्यान में उत्सुक हुए हैं, अंतरिक्ष यात्री के कारण, कि अगर ध्यान सीखा जा सके, तो अंतरिक्ष यात्री घबड़ाएगा नहीं अकेलेपन से, भयभीत नहीं होगा। और वह जो अनंत सन्नाटा घेर लेगा पृथ्वी के वर्तुल को छोड़ने के बाद... ।
पृथ्वी एक पागल ग्रह है, जहां शोरगुल ही शोरगुल है। पृथ्वी के वर्तुल
को छोड़ा, दो सौ मील की परिधि के बाहर हुए कि सब शून्य हो जाता है। सन्नाटा ही बोलता है, और कुछ भी नहीं। सन्नाटे की भी वैसी आवाज नहीं होती, जैसे रात झींगुर बोलते हैं, तब होती है। क्योंकि झींगुर भी नहीं होते; सिर्फ सन्नाटा ही होता है, जो कि प्राणों को बेध जाता है और घबड़ाहट पैदा कर देता है। अकेला आदमी अपने आमने-सामने पड़ जाता है।
हम अपने को उलझाए रखते हैं। स्वाध्याय में आकुपाइड, सदा व्यस्त रहने
की वृत्ति सबसे बड़ी बाधा है। तो दूसरे चरण में अव्यस्त, अनआकुपाइड, अकेला, और अपने ही दबाए हुए हिस्सों को बाहर लाना पड़ेगा।
फ्रायड ने, जुंग ने जो साइकोएनालिसिस का, मनोविश्लेषण का प्रयोग किया, वह इसी हिस्से को बाहर लाने के लिए है। लिटा देते हैं व्यक्ति को कोच पर और उससे कहते हैं, जो तुम्हारे मन में आए बोलो। सोचो मत, बोलते जाओ। जब वह अनर्गल बोलना शुरू कर देता है, कुछ भी जो भीतर आए, वही बोलने लगता है, तो बड़ी हैरानी होती है कि यह आदमी क्या बोल रहा है! असंगत, अनर्गल, विक्षिप्त बातें, स्वस्थ, सामान्य, अच्छे आदमी के भीतर से निकलने लगती हैं। भीतर की पर्तें उभरने लगती हैं। लेकिन फिर भी दूसरा मौजूद है। कोच के पीछे, पर्दे के पीछे छिपा हुआ साइकोएनालिस्ट, मनोवैज्ञानिक बैठा हुआ सुन रहा है। उसका भय तो है ही। इसलिए पूरा आदमी नहीं खुल पाता। इसलिए साइकोएनालिसिस कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। दूसरे की मौजूदगी, भय बना ही रहता है।
योग के लिए स्वाध्याय नितांत एकांत का अनुभव है। दूसरे का कोई भय नहीं; मैं अपने को पूरा उघाड़ लूं नग्न, नैकेड--पूरा, जैसा हूं। क्रोध है तो क्रोध; काम है तो काम; ईर्ष्या है तो ईर्ष्या; भय है तो भय; हिंसा है तो हिंसा। जो भी मेरे भीतर है, जो भी है, बिना किसी चुनाव के, उस सबको उभार लूं। च्वाइसलेस, चुनावरहित अपने को देख लूं।
पहला चरण, दूसरों के मंतव्य अलग कर दूं। दूसरा चरण, दमन को बाहर ले आऊं--प्रकट में, प्रकाश में, रोशनी में। घाव को छिपाऊं न। सब मलहम-पट्टियां उखाड़ दूं और घाव का सीधा साक्षात करूं, जो भी मैं हूं।

बहुत भय मन में पैदा होता है। क्योंकि जब कोई इस सबको उभारता है, तो पाता है, मैं यह हूं! यह हिंसा, यह वासना, यह ईर्ष्या, यह द्वेष, यह घृणा, यह मत्सर, यह लोभ--यह मैं हूं! मन डरता है, क्योंकि हम सबने अपनी इमेज, अपनी- अपनी प्रतिमाएं बना रखी हैं। इसलिए स्वाध्याय में तीसरा चरण अपनी बनाई हुई प्रतिमा के मोह को त्यागना है।
हम सबकी अपनी प्रतिमाएं हैं। एक आदमी कहता है कि मैं साधुचरित्र हूं।
अब उसकी एक प्रतिमा है, एक इमेज है। एक आदमी कहता है कि मैं कभी क्रोध नहीं करता। एक आदमी कहता है, मैं निरहंकारी हूं; मुझमें कोई अहंकार नहीं है। एक आदमी कहता है, मुझमें कोई लोभ नहीं है। ये प्रतिमाएं हैं। हमने अपनी-अपनी सुंदर प्रतिमा बना रखी है। उस सुंदर प्रतिमा को छोड़ने की जिसमें हिम्मत न हो, वह स्वाध्याय में नहीं उतर सकता।
इसलिए स्वाध्याय को भी यज्ञ कहा। वह भी बड़ी आग है, जिसमें जलना पड़ेगा।
और सबसे पहले जो चीज जल जाएगी, वह है आपकी सेल्फ इमेज, अपनी प्रतिमा, जो हर आदमी बनाए हुए है।
एक आदमी कहता है, मैं बिल्कुल सदाचारी हूं; लेकिन चित्त बहुत असद आचरण करने की आकांक्षाओं से भरा है। उसको उसने दबा दिया है। वह कभी लौटकर नहीं देखता वहां, क्योंकि डर है कि प्रतिमा का क्या होगा! वह सब कुरूप हो जाएगी। मैंने सुना है एक स्त्री के संबंध में कि वह बहुत कुरूप थी। इसलिए वह किसी आईने के सामने नहीं जाती थी। और अगर कभी भूल-चूक से कोई लोग उसे चिढ़ाने को आईना, किसी का आईना सामने कर देते, तो वह आईने को तत्काल फोड़ देती थी। और कहती थी कि आईना बिल्कुल गलत है। इसमें दिखाई पड़ती हूं मैं तो कुरूप हो जाती हूं; जब कि मैं सुंदर हूं। आईना खराब है। सब दुनिया के आईने खराब थे, क्योंकि वह स्त्री सुंदर थी! अपने मन में उसका एक इमेज है।
हम कहेंगे, वह पागल थी। हम आईने नहीं फोड़ते, साधारण आईने हम नहीं फोड़ते। लेकिन बहुत गहरे में, असली जो आईना है स्वाध्याय का, वह हम कभी उठाकर नहीं देखते। क्योंकि वहां हमारा असली रूप प्रकट होगा, और जो बहुत अग्ली है, कुरूप, बहुत भयानक है।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं, ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जिसके भीतर मन ने
वे सब पाप न किए हों, जो किसी भी आदमी ने कभी भी पृथ्वी पर किए हैं। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जिसके मन ने ऐसा कोई अपराध न किया हो, जो पृथ्वी पर कभी भी किया गया है।
हां, बाहर नहीं किया होगा। बाहर नहीं किया होगा। बाहर जो करते हैं, वे
तो पकड़े जाते हैं। भीतर हम करते रहते हैं। वहां न कोई अदालत, न कोई कानून, न कोई व्यवस्था, कोई भी नहीं पहुंचती। लेकिन परमात्मा की आंख वहां भी पहुंचती है।
स्वाध्याय का मूल्य यही है कि हम अपने से तो अपने को छिपा सकते हैं, लेकिन परम सत्य से हम अपने को कैसे छिपाएंगे? परम सत्ता के सामने हम अपने को कैसे छिपाएंगे? ये प्रतिमाएं हमें छोड़ देनी पड़ेंगी, जब हम प्रभु के साक्षात में पहुंचेंगे। इसलिए स्वाध्याय से पहले ही इन्हें जानकर तोड़ देना उचित है।
और बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जो व्यक्ति अपनी समस्त कुरूपता को जानने में समर्थ हो जाता है, वह उससे मुक्त होने में समर्थ हो जाता है। स्वाध्याय का जो सबसे गहरा सीक्रेट, राज है, वह मैं आपसे कहता हूं। वह यह है कि स्वाध्याय के यज्ञ में जानना ही मुक्ति है; नोइंग, जानना ही मुक्ति है।
स्वाध्याय की जो प्रक्रिया है, उसमें स्वाध्याय के अतिरिक्त और कुछ
भी नहीं करना पड़ता। आप सिर्फ जान लें अपने रोग को और रोग के बाहर हो जाते हैं। और रोग को न जानें, तो रोग बढ़ता जाता है और गहन होता चला जाता है। स्वाध्याय की प्रक्रिया सिर्फ साक्षात्कार से, स्वयं के साक्षात्कार से ट्रांसफार्मेशन की प्रक्रिया है। आत्म-साक्षात से आत्मक्रांति, स्वयं को जानने से स्वयं की बदलाहट।

इसलिए स्वाध्याय को जो लोग मानते हैं, वे अक्सर हंसी उड़ाते हुए मिलेंगे इस बात की कि तप की क्या जरूरत है? तपश्चर्या की क्या जरूरत है? ध्यान की क्या जरूरत है? मेडिटेशन की क्या जरूरत है?
कृष्णमूर्ति निरंतर यही कहते हुए मिलेंगे। कृष्णमूर्ति की प्रक्रिया स्वाध्याय के यज्ञ की प्रक्रिया है। तो वे कहेंगे, बेकार है सब। बदलने के लिए कुछ भी करना नहीं है; सिर्फ जानना पर्याप्त है, टु नो इ.ज इनफ। और जानने के अलावा कुछ भी करना जरूरी नहीं है।
हम कहेंगे, यह कैसे! अगर हम अपने पैर के घाव को जान लें, तो क्या घाव मिट जाएगा?
नहीं; पैर का घाव नहीं मिटेगा। जान लेंगे, तो भी नहीं मिटेगा। हां, जानने से जहां मिट सकता है, वहां जाने का ख्याल आएगा। चिकित्सक के पास जा सकते हैं। इलाज, दवा कर सकते हैं। लेकिन सिर्फ जानने से पैर का घाव नहीं मिटेगा। जानने के बाद कुछ करना भी पड़ेगा, तब पैर का घाव मिटेगा। सिर में दर्द है, तो जानने से नहीं मिट जाएगा; कुछ करना भी पड़ेगा।
लेकिन मन के साथ एक बड़ी खूबी की बात है कि मन के घाव जानने से ही मिट जाते हैं। जानने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना पड़ता है। स्वाध्याय का समस्त यज्ञ इसी रहस्य के ऊपर खड़ा है, इसी मिस्ट्री पर कि जान लो और बाहर हो जाओ।
इसे प्रयोग करें, तो ही ख्याल में आ सकता है। ऐसा क्यों होता है, कहना कठिन है। ऐसा होता है, इतना ही कहना संभव है। करीब-करीब स्थिति ऐसी है, जैसे कि दीया लेकर हम घर के भीतर चले जाएं और अंधेरा समाप्त हो जाए। दीया ले जाने के बाद फिर अंधेरे को समाप्त करने के लिए और कुछ नहीं करना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि दीया ले गए, फिर अंधेरे को देख लिया कि यह रहा; फिर उसको समाप्त करने के लिए तलवार उठाई; काटकर बाहर किया; ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। दीया भीतर ले गए, अंधेरा नहीं है। ऐसे ही, जानने को जो व्यक्ति अपने गहन मन के तलों में ले जाता है, जानने के प्रकाश को, वह पाता है कि अज्ञान के कारण ही सब रोग थे।
और हम उलटा कर रहे हैं। जो-जो रोग होता है, उसके प्रति हम अज्ञानी हो जाते हैं। यह बहुत मजे की बात है। अगर कोई आदमी आपसे कहे कि आपके पैर में घाव है, तो आप उस पर नाराज नहीं होते। आप कहते हैं, धन्यवाद, आपने बताया! कोई आदमी कहे, आपको ख्याल नहीं, शायद आपके पैर में कांटा गड़ गया है, खून बह रहा है। तो आप कहते हैं, आभारी हूं, बड़ी कृपा की कि बताया। मैं किसी दूसरी धुन में लगा था; मुझे पता नहीं चला। लेकिन कोई आदमी कहे कि आपके मन में क्रोध है, तो आप कभी फिर आभार प्रकट नहीं करते हैं उस आदमी का। आप कहते हैं, गलत बोलते हो। क्रोध और मुझे! कभी नहीं। भ्रांति हो गई तुम्हें। कोई आदमी कहे कि आपके मन में कामवासना है, तो आप कहते हैं, यह आदमी मित्र नहीं, दुश्मन मालूम पड़ता है। और इस तरह के आदमी से फिर आप बचते हैं कि यह कहीं मिल न जाए।
कबीर ने कहा है, निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छबाय। जो निंदा करता हो, उससे भागिए मत; आंगन और कुटी छवाकर उसको पास में ही ठहरा लीजिए कि वह सुबह से सांझ तक आपकी निंदा करता रहे। स्वाध्याय! स्वाध्याय का सूत्र है वह। जो निंदा करे, वह मित्र है। अगर वह गलत कहता है, तो कोई हर्ज नहीं; लेकिन अगर वह सही कहता है, तो वह आपके दबे हुए हिस्सों को आपके सामने लाता है। अगर गलत कहता है, तो मेहनत करता है, तो भी अनुगृहीत होने की जरूरत है। आपके लिए श्रम उठा रहा है। अगर सही कहता है, तब तो उसके चरण पकड़ लेने की जरूरत है। क्योंकि उसको कोई जरूरत न थी; आपके लिए मेहनत उठाई।
इसलिए कबीर कहते हैं, निंदक नियरे राखिए।
लेकिन निंदक को पास रखना मुश्किल है चौबीस घंटे। स्वाध्याय का सूत्र कहता है, आप खुद ही अपने घावों को उघाड़ने वाले बन जाइए। दूसरा कितना उघाड़ पाएगा? और दूसरा उघाड़ेगा भी तो ऊपरी घाव उघाड़ेगा, भीतरी घावों का उसे भी पता नहीं है। नासूर गहरे हैं, कैंसर गहरा है और क्रानिक है, कई जन्मों का है। एक-दो दिन की बीमारियां नहीं हैं भीतर। लेकिन स्वाध्याय का सूत्र कहता है, जानो और बाहर हो जाओ।

अब पश्चिम में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का जो इतना प्रभाव है, उसका कुल एक कारण है। छोटा-सा स्वाध्याय का हिस्सा है और वह यह कि वह व्यक्ति को उसकी बीमारियों का साक्षात्कार करा देते हैं। इसके लिए व्यक्ति को पैसे चुकाने पड़ते हैं। लंबे और महंगे! और गरीब आदमी नहीं चुका सकता है। सिर्फ अमीर आदमी मनोविश्लेषण से गुजर सकते हैं।
आज तो हालत ऐसी है अमेरिका में कि फैशनेबल स्त्रियां एक-दूसरे से पूछती हैं, कितनी बार साइकोएनालिसिस करवाई? कितनी बार मनोविश्लेषण करवाया? क्योंकि जिसने नहीं करवाया, वह आधुनिक नहीं है, आउट आफ डेट है। जो अभी मनोविश्लेषण से नहीं गुजरा, जिसने दो-तीन साल किसी मनोचिकित्सक को हजारों डालर नहीं दिए, वह आदमी पुराने जमाने का है।
एक अर्थ में बात भी ठीक है। क्योंकि मनोचिकित्सक के पास होता कुल इतना ही है कि वह आपको आपकी स्थिति से परिचित करा देता है; ठीक-ठीक तथ्य का बोध करा देता है। और तथ्य के बोध के साथ ही आपमें रूपांतरण शुरू हो जाता है। तथ्य के बोध के साथ ही! हम तथ्य का बोध नहीं करते। उदाहरण एक-दो लें तो ख्याल में आ जाए।
और यह स्वाध्याय का सूत्र भविष्य में महत्वपूर्ण होता चला जाएगा। और अगर आने वाली सदी में लोग गीता को पढ़ेंगे, तो शायद स्वाध्याय के सूत्र के कारण ही पढ़ेंगे। यद्यपि गीता में वह बहुत स्पष्ट और प्रखर नहीं है, क्योंकि उस क्षण उसका कोई बहुत उपयोग नहीं था। असल में लोग इतने सरल थे कि दमन बिल्कुल कम था। और जब दमन कम होता है, तो स्वाध्याय का कोई मतलब नहीं होता। जब दमन बहुत ज्यादा हो जाता है, तब स्वाध्याय का मतलब होता है। लोग इतने सरल थे कि जो ऊपर थे, वही भीतर थे। इसलिए बहुत भीतर जाकर देखने की कोई जरूरत न थी।
अभी भी, आज से पचास साल पहले तक, अंग्रेज मजिस्ट्रेट्स ने बस्तर रियासत के अपने संस्मरणों में कहा है--पचास साल पहले के, उन्नीस सौ दस के संस्मरण में--कि बस्तर में अगर कोई आदमी किसी की हत्या कर दे, तो वह खुद अदालत में चला आता था, उन्नीस सौ दस तक! और आकर कह देता था कि मैंने हत्या कर दी है, मेरी क्या सजा है? मजिस्ट्रेट्स ने लिखा है कि हम मुश्किल में पड़ते थे कि इस आदमी को सजा दें तो कैसे दें! पुलिस भेजनी नहीं पड़ती थी। पुलिस भेजकर बहुत देर लगाती; वह खुद ही आ जाता था! कोई आदमी चोरी कर लेता, उन्नीस सौ दस तक भी बस्तर में, तो वह आकर अदालत में खड़ा हो जाता कि मैंने चोरी कर ली है; मेरी सजा क्या है?
एक मजिस्ट्रेट ने लिखा है कि मैंने एक चोर को कहा भी कि तुमको जब हमने पकड़ा नहीं, हमें पता नहीं चोरी का; चोरी की कोई रिपोर्ट नहीं की गई है, तो तुम किसलिए आए हो? उसने कहा, जिसकी चोरी की गई है, उसका इतना नुकसान नहीं हुआ है; कुछ पैसे ही चोरी गए हैं। मैंने चोरी की, मेरा बहुत नुकसान हो गया। और जब तक मुझे दंड न मिले, तब तक मैं बाहर कैसे होऊंगा उस नुकसान से!
अब ऐसे व्यक्ति अगर रहे हों, और थे, क्योंकि आज उन्नीस सौ दस में बस्तर जैसा था, कृष्ण के जमाने में पूरी पृथ्वी वैसी थी; तो उस दिन स्वाध्याय के सूत्र का सिर्फ उल्लेख किया है कृष्ण ने, चलते हुए। उसका कोई बहुत मूल्य नहीं था। हां, कोई जटिल, कोई बहुत चालाक, कोई बेईमान, कोई बहुत धोखेबाज आदमी सदा थे। उन आदमियों को स्वाध्याय की जरूरत पड़ सकती थी। आज वैसे लोग ही अधिक हैं। आज स्वाध्याय सर्वाधिक निकटतम प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति आगे जाएगा।
जिस तथ्य को हम भीतर जान लेते हैं, जैसे उदाहरण के लिए मैं कहूं, यदि कोई व्यक्ति भीतर ठीक से जान ले कि मैं झूठ बोलने वाला हूं, मैं असत्यवादी हूं; इस तथ्य को पूरा पहचान ले कि मैं झूठ बोलता हूं, तो झूठ बोलना कठिन हो जाएगा। क्योंकि मैं झूठ बोलता हूं, इसका अनुभव करना बहुत बड़े सत्य का अनुभव है। और इतने बड़े सत्य के सामने फिर झूठ नहीं बोला जा सकता।
जिस आदमी को झूठ बोलना है, उसे सबसे बड़ा झूठ अपने भीतर बोलता पड़ता है
कि मैं झूठ कभी नहीं बोलता हूं। इस झूठ के आधार पर वह दूसरों से झूठ बोल सकता है कि मैं झूठ कभी नहीं बोलता हूं। पहले वह अपने को झूठ में डालता है, तब वह दूसरों को झूठ में डालता है।

अपने हाथ गंदे किए बिना दूसरों को गंदगी में ढकेलना असंभव है। अपने साथ पाप किए बिना दूसरों के साथ पाप करना असंभव है। अपने को धोखा दिए बिना दूसरे को धोखा देना असंभव है। जिस आदमी को यह पता चल गया कि मैं धोखेबाज हूं, वह धोखा नहीं दे सकता। क्योंकि धोखे की बुनियादी आधारशिला टूट गई। इसलिए झूठ बोलने वाला सदा कोशिश में लगा रहता है कि मैं सच बोलता हूं।
जो सच बोलता है, वह कभी कोशिश में नहीं लगता।
क्वेकर्स हैं। दुनिया में कुछ थोड़े-से लोग, जो अभी भी धर्म की ज्योति
को कहीं-कहीं दुनिया के कोने में जगाए रखे हैं, उनमें क्वेकर्स, ईसाइयों के एक छोटे-से संप्रदाय का भी बड़ा दान है। क्वेकर्स अदालतों में सजा काटे एक छोटी-सी बात के लिए कि उन्होंने अदालत में कसम खाने से इनकार कर दिया। आखिर क्वेकर्स के लिए अदालतों को झुक जाना पड़ा और निर्णय करना पड़ा कि क्वेकर्स से हम कसम नहीं खिलाएंगे। क्योंकि क्वेकर्स ने कहा कि तुम हमसे अदालत में कसम खिलवाते हो कि मैं झूठ नहीं बोलूंगा; लेकिन अगर हम झूठ बोलने वाले हैं, तो हम कसम भी झूठ खाएंगे।
ठीक बात है। अगर मैं झूठ बोलने वाला हूं, तो अदालत में कसम खाने में कौन-सी अड़चन है कि मैं झूठ नहीं बोलूंगा।
फिर क्वेकर्स ने यह कहा कि जब हम झूठ बोलते ही नहीं हैं, तो कसम कैसे खाएं! कसम वह खा सकता है, जो बोलता हो। तो हम कसम नहीं खाएंगे। इसके लिए सजाएं काटीं, कसम न खाने के लिए। और कोई दंड नहीं, और कोई अपराध नहीं; लेकिन कसम नहीं खाएंगे। क्योंकि कसम वही खाता है... ।
और यह बड़े मजे की बात है, जो आदमी जितनी ज्यादा कसम खाता मिले कि मैं झूठ नहीं बोलता हूं; जानना कि वह झूठ बोलता है। उसकी कसम उसका डिफेंस मेजर है। उसकी कसम उसकी सुरक्षा का उपाय है। वह हजार दफे कह रहा है कि मैं झूठ नहीं बोलता; आपकी कसम खाता हूं। लेकिन जो आदमी झूठ नहीं बोलता, उसे ख्याल ही नहीं आता कि मैं झूठ नहीं बोलता। ख्याल का ही सवाल नहीं।
भीतर अगर किसी को अनुभव हुआ कि मैं झूठ बोलने वाला हूं, तो एक दूसरी घटना घटती है। और वह घटना यह है कि जब यह अनुभव होता है कि मैं झूठ बोलने वाला हूं, तो इस दुनिया में ऐसा एक भी आदमी नहीं है, जो झूठ बोलने वाला होना चाहता हो। होता है, दूसरी बात। होना चाहता हो! इसलिए झूठ बोलने वाला सिद्ध करने में लगा रहता है कि मैं झूठ नहीं बोलता। वह आपको ही सिद्ध नहीं कर रहा है, वह अपने लिए भी सिद्ध कर रहा है, अपने सामने भी सिद्ध कर रहा है कि मैं झूठ नहीं बोलता।
इस दुनिया में ऐसा एक भी आदमी खोजना मुश्किल है, जो यह जानने को तैयार
हो भीतर से, कि मैं चोर हूं। नहीं, चोर भी कहता है कि कारण थे, इसलिए मैंने चोरी कर ली। वैसे मैं चोर नहीं हूं। मजबूरी थी, इसलिए मैंने चोरी कर ली। वैसे मैं चोर नहीं हूं। परिस्थिति थी, इसलिए मैंने चोरी कर ली। वैसे मैं चोर नहीं हूं। क्रोधी भी कहता है कि क्रोध तुमने दिलवा दिया, अन्यथा वैसे मैं क्रोधी नहीं हूं। तुमने गाली न दी होती, तो मैं कभी क्रोध न करता। वह तो लोगों ने मुझे उकसा दिया, भड़का दिया कि मैं क्रोध में आ गया। ऐसे मैं क्रोधी नहीं हूं। आदमी मैं अच्छा हूं। क्रोधी मैं आदमी नहीं हूं।
लेकिन जब भीतर कोई अनुभव करता है कि मैं क्रोधी हूं, तो क्रोधी होना मुश्किल हो जाता है। क्योंकि क्रोधी मूलतः कोई भी नहीं होना चाहता।
बुरा होना आंतरिक आकांक्षा नहीं है; अच्छा होना आंतरिक आकांक्षा है। इसलिए बुरे आदमी को भी मानकर चलना पड़ता है कि मैं अच्छा हूं। और मानकर चलने का एक ही उपाय है कि दूसरे मानें कि मैं अच्छा हूं। क्योंकि दूसरों की आंखों की ओपीनियन को इकट्ठा करके मैं भी मान लूंगा कि अच्छा हूं। स्वाध्याय कहता है कि जिसने जाना जिस तथ्य को, वह उसके बाहर हो जाता है।
लेकिन हम तथ्यों को जानते नहीं, झुठलाते हैं। हम अपनी ईर्ष्या को ईर्ष्या नहीं कहते, कुछ और कहते हैं। हम अपनी घृणा को घृणा नहीं कहते, कुछ और कहते हैं। हम अपने क्रोध को क्रोध नहीं कहते, कुछ और कहते हैं। हम अपनी मालकियत को, पजेशन के भाव को, मालकियत नहीं कहते, कुछ और कहते हैं।

एक मां है--मैं एक किताब में पढ़ रहा था, उसमें मां अपने बेटे से कहती है
कि बाहर जाओ और देखो कि पप्पू क्या कर रहा है। और जो भी कर रहा हो, कहो कि न करे। बाहर जाओ और देखो, पप्पू क्या कर रहा है। उसे पता नहीं कि पप्पू क्या कर रहा है। लेकिन जो भी कर रहा हो, कहो कि न करे।
किसलिए? पप्पू गलत कर रहा हो, तब समझ में आ सकता है। लेकिन मां को पता
भी नहीं कि पप्पू बाहर क्या कर रहे हैं। लेकिन वह भेज रही है कि जाकर कहो कि पप्पू जो भी कर रहा हो, न करे।
अक्सर लगता है कि मां बच्चे के ठीक-ठीक हित के लिए सब कर रही है। लेकिन थोड़ा स्वाध्याय करे, तो पता चलेगा, डामिनेशन का मजा भी ले रही है, मालकियत का। इसलिए जब बच्चा पैदा हो जाता है किसी पति-पत्नी को, तो पति-पत्नी की कलह थोड़ी हलकी हो जाती है; क्योंकि डाइवर्शन हो जाता है। बच्चे पर निकलने लगता है मां का, तो पति थोड़ा माफ हो जाता है।
अगर बच्चा बीच में न हो... । मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा स्केप गोट
का काम करता है। बाप भी अकड़ दिखा लेता है उसको, मां भी अकड़ दिखा लेती है उसको। वह किसी को अकड़ अभी दिखा नहीं सकता। दिखाएगा वक्त आने पर। लेकिन उसे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी अभी। पत्नी पति को नहीं मार सकती, बेटे को पीट देती है।
यहां विश्लेषण और स्वाध्याय की जरूरत है कि यह मैंने, बेटे ने कसूर किया था, इसलिए मैंने मारा है, कि किसी और का चांटा इस पर पड़ा जा रहा है? आमतौर से आप भलीभांति जानते हैं, सब जानते हैं, और बच्चे तो बिल्कुल भलीभांति जानते हैं। बच्चे बहुत ही भलीभांति जानते हैं कि मां-बाप में कोई गड़बड़ हो, तो वहां से खिसक जाओ। क्योंकि पति तो नहीं पिटेगा; बेटा पिट जाएगा!
यह अगर स्वाध्याय से पता चल जाए कि यह क्या हो रहा है, तो होना मुश्किल है। अगर मां को यह पता चल जाए कि मारना तो पति को था, मारा है बेटे को, तो क्या बेटे को मारना संभव रह जाएगा? असंभव है। तथ्य का पता--विसर्जन हो जाता है। यह साफ दिख जाए कि यह मैंने क्या किया है, तो बेटे से भी माफी मांगी जा सकती है। माफी मांगने का भी मौका नहीं आएगा।
हम अपने आपको धोखा देने में बड़े कुशल हैं। कुछ होता है, कुछ हम उसको नाम देते हैं। कुछ और ही होता है भीतर, कुछ और ही नाम देते हैं!
औरंगजेब ने अपने बाप को बंद कर दिया था आखिरी दिनों में। तो उसके बाप
ने खबर भेजी कि इतना इंतजाम कर दे कम से कम कि तीस बच्चे यहां भेज दे, तो मैं एक छोटी क्लास चलाता रहूं जेलखाने में। औरंगजेब ने अपनी आत्म-कथा में लिखाया है कि मेरे बाप को आज्ञा देने की इतनी खतरनाक आदत थी कि जब मैंने उसे जेलखाने में बंद कर दिया, तो उसने तीस बच्चे मांगे। और जब तीस बच्चे उसे दे दिए गए, तो वह छड़ी लेकर उनके बीच में पढ़ाने का काम करने लगा!
एक स्कूल मास्टर अपनी क्लास में किसी बादशाह से कम नहीं होता। बादशाह
भी इतना ताकतवर नहीं होता, जितना छोटे-छोटे प्राइमरी स्कूल के बच्चों में स्कूल मास्टर होता है।
अभी मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो लोग भी शिक्षक होने के प्रति उत्सुक होते हैं, उनमें सौ में से पचहत्तर प्रतिशत डामिनेशन की आकांक्षा से प्रेरित होते हैं। पचहत्तर प्रतिशत! दबाना, आज्ञा देना, सताना, कोअर्शन, टार्चर! इसलिए शिक्षक अगर छोटी-छोटी चीज पर छड़ी चलाते रहे पुरानी दुनिया में, हाथ-पैर तोड़ते रहे बच्चों के, तो इसीलिए नहीं सिर्फ कि पढ़ाने के लिए बड़े आतुर थे। पढ़ाने की आतुरता से हाथ-पैर तोड़ने का कोई कारण नहीं है। मैं ऐसे आदमियों को जानता हूं, जिनकी शिक्षकों ने चोट से आंख फोड़ दी! क्या बात रही होगी?
काश, उन शिक्षकों को पता चल जाता कि यह जो छड़ी हम मार रहे हैं इस बच्चे
को, यह छड़ी पढ़ाने के लिए नहीं मारी जा रही है। क्योंकि बिना छड़ी मारे पढ़ाया जा रहा है; कोई दिक्कत नहीं आ रही है। यह छड़ी मारने का मजा दूसरा है; इसका रस गहरा है। यह दूसरे को दबाने का और दूसरे पर हिंसा करने का रस है। काश, यह शिक्षक को दिख जाए, तो हाथ में से छड़ी छूट जाएगी। लेकिन नहीं छूटेगी, जब तक

वह सोच रहा है कि मैं इसको शिक्षित करने के लिए मार रहा हूं, इसी के हित में इसी को मार रहा हूं, तब तक यह नहीं छूटेगी; तब तक वह धोखा जारी रहेगा।
तथ्य को जानना तथ्य से मुक्ति है। जो व्यक्ति अपने भीतर के समस्त रोगों को वैसा ही देख लेता है, जैसे वे हैं--इन देअर टोटल नैकेडनेस, उनकी पूरी नग्नता में--वह फिर वैसा ही नहीं रह सकता, जैसा था। उसमें रूपांतरण शुरू हो जाता है; उसमें बदलाहट शुरू हो जाती है। और वह जो बदलाहट है, वह स्वाध्याय का सहज परिणाम है।
स्वाध्याय में कठिनाई है, लेकिन स्वाध्याय करने में जो समर्थ है, बदलाहट में कठिनाई नहीं है। बदलाहट बिल्कुल सहज है; छाया की तरह पीछे चली आती है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, स्वाध्यायरूपी यज्ञ! इस यज्ञ से गुजरकर भी... । इसके लिए वे दो-तीन और सहारे बताते हैं। शास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय
के लिए सहारा बन सकता है। लेकिन किस शास्त्र का अध्ययन सभी शास्त्र स्वाध्याय के लिए सहारा नहीं बन सकते हैं। केवल वे ही शास्त्र स्वाध्याय के लिए सहारा बन सकते हैं, जो आत्म-स्वीकृतियां हैं, कन्फेशंस हैं। जैसे सेंट अगस्तीन की किताब कन्फेशंस या टाल्सटाय की जीवन-कथा, या रूसो की जीवन कहानी, या गांधी की आत्मकथा। इस तरह के वक्तव्य स्वाध्याय के लिए सहयोगी हो सकते हैं।
लेकिन लोग इनका स्वाध्याय नहीं करते। स्वाध्याय अगर वे करते हैं, तो गीता का करते हैं। गीता स्वाध्याय में सहयोगी उतनी नहीं हो सकती, क्योंकि गीता कन्फेशन नहीं, स्टेटमेंट है। गीता तो सत्य का वक्तव्य है, असत्य की स्वीकृति नहीं। गांधी की आत्मकथा काम की हो सकती है स्वाध्याय करने वाले को, क्योंकि उसमें असत्य की बहुत स्वीकृतियां हैं। उसमें भीतर के रोगों के बहुत स्वीकार हैं।
गांधी बता पाते हैं कि पिता मर रहे हैं, पैर दबा रहा हूं; चिकित्सकों
ने कहा है, यह रात आखिरी होगी; लेकिन बारह बजे के करीब कामवासना भारी हो जाती है। कल भी भोगा था पत्नी को, परसों भी भोगा था, आज भी भोगने का मन है। बाप मर रहा है! बाप की मृत्यु भी वासना से नहीं छुड़ा पाती!
चकमा करके--कोई पूछता है कि बहुत थक गए होओगे, मैं हाथ-पैर दबा दूं? थके नहीं हैं, क्योंकि थका आदमी कामवासना के लिए आतुर नहीं होता। मौका पाकर कि किसी ने कहा कि मैं पैर दबा दूं, गांधी वहां से खिसक गए। एक ही दीवाल का फासला था। उस पार वह पत्नी के साथ संभोग में रत हो गए। और पत्नी गर्भिणी है, प्रेगनेंट है। चार ही दिन बाद उसको बच्चा हुआ, हालांकि मरा हुआ हुआ या होते ही मर गया। होने वाला था। यह मृत्यु भी, यह हिंसा भी कहीं न कहीं गांधी को जीवनभर पीड़ा देती रही।
जब वे संभोग में हैं, तभी पिता की मृत्यु हो गई। हाहाकार घर में मच गया, रोना-चिल्लाना। इसलिए जिंदगीभर फिर ब्रह्मचर्य की आकांक्षा रही। काम के प्रति गांधी का जो इतना गहरा विरोध है, उसमें वह घटना भीतर बैठ
गई मन में; वह गहरी उतर गई। बाप की हत्या जुड़ गई संभोग के साथ। और पिता फिर दुबारा नहीं मिल सके। मन पर अपराध का भाव, गिल्ट बैठ गई। गांधी उस गिल्ट से जिंदगीभर मुक्त नहीं हुए। गांधी जिंदगीभर अपराध-भाव से पीड़ित रहे। लेकिन आदमी ईमानदार थे; नीयत उनकी साफ थी; स्वीकार सब कर लिया।
यह स्वीकृति पढ़ेंगे, तो अपने भीतर भी स्वीकार करने में सुविधा बनेगी।
इस तरह के शास्त्र, जो स्वीकृतियां हैं, कन्फेशंस हैं, वे स्वाध्याय में सहयोगी बन सकते हैं।
उपनिषद नहीं बन सकते स्वाध्याय में सहयोगी। लेकिन लोग उपनिषद का स्वाध्याय करते हैं! उपनिषद बेयर स्टेटमेंट्स हैं। उपनिषद का ऋषि कहता है, ब्रह्म है। खतरनाक है उसका स्वाध्याय करना। उपनिषद का ऋषि कहता है, अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं। ये सत्य को उपलब्ध लोगों के वक्तव्य हैं। आप भी बैठकर इनको पढ़-पढ़कर मन में सोचने लगते हैं, अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं! खतरे में पड़ेंगे। आप ब्रह्म वगैरह बिल्कुल नहीं हैं। कृपा करके जो हैं, वही अपने को जानें। चोर हो सकते हैं, बेईमान हो सकते हैं, ब्रह्म बिल्कुल नहीं हो सकते।

लेकिन उपनिषद पढ़ने में खतरा है एक। और वह खतरा यह है कि उपनिषद जानने वालों के वक्तव्य हैं, और न जानने वाले उन वक्तव्यों को पकड़ लें, तो वे अपने को धोखा देने में समर्थ हो जाएंगे। स्वाध्याय तो नहीं कर पाएंगे, हत्या कर लेंगे अपनी।
नहीं; स्वाध्याय में ऐसे शास्त्र सहयोगी हैं, जो असत्य से गुजरने वाले लोगों की आत्म-स्वीकृतियां हैं। सत्य को पहुंचे हुए शिखर के उदघोषण नहीं; असत्य की घाटियों में सरकने वाले लोगों की पीड़ाओं की स्वीकृतियां। इसलिए मैं आपसे कहूंगा कि कई बार ऐसे लोगों के वक्तव्य, जिन्होंने सत्य को नहीं जाना है, लेकिन असत्य की पीड़ा को भोगा है और असत्य की पीड़ा को स्वीकार करने का साहस दिखलाया है--जैसे, न तो टाल्सटाय को सत्य का कोई अनुभव है, न गांधी को।
गांधी जीवनभर सत्य की खोज में रहे, प्रयोग में रहे, उपलब्धि में कभी
भी नहीं आ पाए। पर आदमी ईमानदार हैं, क्योंकि बहुत-से लोग बिना उपलब्धि के उपलब्धि की घोषणा कर सकते हैं। गांधी ने वह कभी नहीं की। इसलिए एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ! आत्मकथा को नाम दिया, सत्य के प्रयोग; सत्य का अनुभव नहीं, सिर्फ प्रयोग; अंधेरे में टटोलना।
लेकिन गांधी की आत्मकथा स्वाध्याय में सहयोगी हो सकती है। क्योंकि वह असत्य की घाटियों में चलने वाले एक आदमी की साहसपूर्ण स्वीकृतियां हैं-- कैसा है मन! कैसे धोखा दे जाता है! कैसे-कैसे भटकाता है!
और अगर गांधी का मन, इतने सिंसियर और प्रामाणिक आदमी का मन इतने धोखे देता है, तो आपको भी अपने धोखे देखने में सुविधा बनेगी। आपको ऐसा नहीं लगेगा कि मैं अपने को धोखा दे रहा हूं, तो कोई बहुत बुरा काम कर रहा हूं। गांधी तक दे रहे हैं, तो मैं भी अपने को दे रहा हूं, तो जरा देख सकता हूं आंख खोलकर। टाल्सटाय का अगर जीवन पढ़ेंगे, तो वह शास्त्र है। अगर अगस्टीन के कन्फेशंस पढ़ेंगे, तो अर्थपूर्ण है।
ईसाइयत ने स्वाध्याय के लिए पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त और कन्फेशन की प्रक्रिया विकसित की। हिंदुस्तान में ऐसी कोई प्रक्रिया विकसित नहीं हुई, इसलिए ईसाइयत के पास कन्फेशंस का बहुत बड़ा भंडार है। और गांधी भी कर सके कन्फेस, तो गीता पढ़कर कभी न कर सकते थे; ईसाइयत के प्रभाव में कर सके। आज तक पृथ्वी पर अपराध की जो गहरी स्वीकृतियां हैं, वे ईसाइयत के प्रभाव में फलित हुई हैं। ईसाइयत ने आदमी को एक साहस दिया इस बात का कि जो भी है गलत, उसे कह पाओ। इतना साहस न तो हिंदू जुटा पाए, न मुसलमान जुटा पाए, न जैन जुटा पाए, न बौद्ध जुटा पाए। क्राइस्ट की सबसे बड़ी देन इस पृथ्वी पर प्रायश्चित्त है, जो किया उसके स्वीकार का भाव, उसे कन्फेस करने की सामर्थ्य।
तो ईसाई संतों के जीवन इसमें बड़े उपयोगी हो सकते हैं। सेंट थेरेसा या जेकब बोहमे या इकहार्ट, इनकी जो स्वीकृतियां हैं, वे बड़ी अर्थपूर्ण हो सकती हैं। भारत के पास ऐसा साहित्य न के बराबर है। भारत के पास दंभ का साहित्य बहुत है, लेकिन पाप के स्वीकार का साहित्य न के बराबर है। एक अर्थ में गांधी की किताब एक बहुत बड़ी शुरुआत है। लेकिन शुरुआत ही है, उसके बाद दूसरी किताब भी नहीं आ सकी। भारत का कोई साधु अपने पापों की स्वीकृति नहीं करेगा।
जरूरी नहीं है; कि न किए हों तो भी स्वीकृति करे। ऐसा नहीं है। क्योंकि दूसरी भूल भी सदा हो जाती है। ऐसी भी किताबें हैं ईसाइयत के पास, और ऐसे पापों की स्वीकृतियां हैं, जो उन लोगों ने कभी किए ही नहीं! लेकिन वही संत बड़ा हो सकता है, जिसने बहुत पाप किए, स्वीकार किया, और आगे गया। तो लोगों ने झूठे पाप तक अपनी किताबों में लिख दिए, जो उन्होंने कभी किए नहीं थे।
आदमी का मन कितने धोखे में जा सकता है! यानी पुण्य का दावा तो कर ही सकता है, पाप का दावा भी कर सकता है, जो उसने न किया हो! आदमी की बेईमानी की कोई सीमा नहीं है; आत्मवंचना का कोई अंत नहीं है।
स्वाध्याय में शास्त्र सहयोगी हो सकता है, लेकिन शास्त्र वैसा, जो स्वीकार देता हो, जो बताता हो कि भीतर आदमी के क्या-क्या घट सकता है। इसलिए

कभी तो वास्तविक शास्त्रों से भी ज्यादा उपन्यास शास्त्र का काम कर सकते हैं। जैसे दोस्तोवस्की के उपन्यास, क्राइम एंड पनिशमेंट--अपराध और दंड, या ब्रदर्स कर्माजोव, बाइबिल और गीता से भी ज्यादा कीमती हो सकते हैं उस आदमी के लिए, जो स्वाध्याय के पथ से चल रहा है। टाल्सटाय के उपन्यास, वार एंड पीस--युद्ध और शांति, डेथ आफ इवान इलोविच--इलोविच की मृत्यु; या सार्त्र, कामू, काफ्का इनके उपन्यास।
भारत का कोई नाम नहीं ले रहा, जानकर; क्योंकि भारत के पास अब भी ऐसी उपन्यास की संपदा नहीं है। अब भी नहीं है।
उपन्यास भी, जो किसी व्यक्ति के गहरे प्राणों से निकले हों, जैसे दोस्तोवस्की के सभी उपन्यास, जिनमें ब्रदर्स कर्माजोव तो ऐसा है जिसकी कि इज्जत बाइबिल, गीता और कुरान की तरह होनी चाहिए, जिसमें आदमी के चित्त का सब अंधेरा खोलकर रख दिया गया है; जिसमें आदमी के भीतर के सब गह्वर, सब खाइयां उघाड़ दी हैं; जिसमें आदमी के भीतर के सब घाव की मलहम-पट्टी तोड़ दी है; जिसमें आदमी को पहली दफे पूरा नग्न, जैसा आदमी है--वे भी उपयोगी हो सकते हैं। पर उपयोगी, गौण, सेकेंडरी; प्राइमरी, प्राथमिक तो स्वयं का अध्ययन है। जो स्वयं का अध्ययन कर पाए, पर्याप्त है। लेकिन सहयोग इनसे मिल सकता है।
ईश्वर-जप भी कृष्ण ने एक सूत्र उसमें गिनाया है। ईश्वर-जप! इसे भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है।
ईश्वर-जप का क्या अर्थ है स्वाध्याय के संदर्भ में? क्योंकि ईश्वर-जप
के बहुत अर्थ हैं, अलग संदर्भ में। अलग रिफरेंस का सवाल है कि कहां? स्वाध्याय के संदर्भ में ईश्वर-जप का क्या अर्थ है?
आपसे मैंने एक पहलू की बात कही, आदमी अपने अंधेरे का साक्षात्कार करे--अपनी बुराई का, अपनी बीमारी का, अपनी रुग्णता का, भीतर के पाप, अपराध, उन सबका--कहें एक शब्द में, अपने भीतर छिपे नर्क का। यह आधी बात है। अगर आदमी सिर्फ अपने भीतर छिपे नर्क का ही अनुभव करे, तो यह भी हो सकता है कि सेल्फ कंडेमनेशन में पड़ जाए, आत्मनिंदा में पड़ जाए। यह भी हो सकता है कि इतना नर्क देखकर समझे कि जीवन व्यर्थ है, बेकार है; सब पाप है, सब नर्क है। यह खतरा है।
पश्चिम में यह खतरा हो गया। मनोविश्लेषण ने स्वाध्याय की प्रक्रिया लोगों को दे दी, लेकिन ईश्वर-जप का कोई ख्याल नहीं दिया। इसलिए आज पश्चिम में जीवन अर्थहीन है। लोग कहते हैं, यही सब--पाप ही पाप है--घृणा और हिंसा और ईर्ष्या है, तो जीने का अर्थ क्या है? न कहीं कोई प्रेम है, न कहीं कोई क्षमा है; सब धोखा है। प्रेम के पीछे सेक्स दिखाई पड़ने लगा स्वाध्याय से। सब प्रेम की बातचीत फोर-प्ले हो गई। सब प्रेम की बातचीत सेक्स के लिए परसुएशन है। सब प्रेम की बातचीत के पीछे वह शरीर को भोगने की आकांक्षा है। प्रेम सिर्फ फसाड है, तैयारी है, इंतजाम है। कविताएं वगैरह सब इंतजाम हैं। प्रेम की सब बातचीत सब इंतजाम हैं। आखिर अंत में वह काम, वह शरीर का शरीर के साथ भोग, वही अंत में।
तो पश्चिम ने इधर पचास वर्षों में आत्म-विश्लेषण करके यह जाना कि प्रेम है ही नहीं, सिर्फ काम है। इससे खतरा हुआ। इसका मतलब हुआ कि प्रेम की कोई संभावना ही नहीं है। इसलिए भोगो काम को, और जो है, सो ठीक है! इससे रूपांतरण नहीं हुआ, बल्कि आदमी का पतन हुआ।
इसलिए कृष्ण तत्काल जोड़ते हैं, ईश्वर-जप। ईश्वर-जप का मतलब है, दूसरा पहलू भी स्मरण रखना। प्रेम के पीछे वासना है, यह हमारा तथ्य है। लेकिन वासना में से भी प्रेम का जन्म हो सकता है, यह हमारी संभावना है।
ईश्वर-जप का अर्थ है, संभावना को याद रखना। आदमी के भीतर ईश्वर की संभावना है। संभावना को स्मरण रखना, तथ्य को सब मत समझ लेना। तथ्य के भीतर छिपा हुआ भी, अप्रकट भी कुछ है, विराट भी कुछ है, अर्थ भी कुछ है, अभिप्राय भी कुछ है।
ईश्वर-जप का अर्थ है, स्मरण रखना कि कितना ही हो गहरा पाप, पुण्य का अभाव नहीं है। कितना ही हो गहरा अपराध, क्षमा की असंभावना नहीं है। कितना ही हो अंधकार, न दिखाई पड़ती हो प्रकाश की कोई भी किरण, तो भी प्रकाश है।

ईश्वर-जप का अर्थ है, अंधकार के गहन निबिड़ भटकाव में भी प्रकाश का स्मरण। पाप के मध्य भी परमात्मा की स्मृति। अपराध के मध्य भी मुक्त होने की संभावना के द्वार का ख्याल, रिमेंबरिंग।
ईश्वर-जप न हो, तो अकेला स्वाध्याय खतरनाक भी हो सकता है। होगा ही, ऐसा नहीं; हो सकता है। ईश्वर-जप आशा है। अकेला स्वाध्याय निराशा बन सकता है। ईश्वर-जप आशा है। और आशा अगर बिल्कुल न हो ख्याल में, तो निराशा आत्मघाती, स्युसाइडल हो जाती है।
इसलिए पश्चिम में आत्महत्या बढ़ी है। विगत पचास वर्षों में जैसे-जैसे मनोविश्लेषण बढ़ा, वैसे-वैसे आत्महत्या बढ़ी है। और जैसे-जैसे आत्मविश्लेषण आदमी ने किया, वैसे-वैसे हत्या की ओर उन्मुख हुआ। क्योंकि पाया कि सिवाय नर्क के कोई स्वर्ग नहीं है। नर्क ही बस सब है, कहीं कोई स्वर्ग नहीं है। फिर जीने की क्या जरूरत है?
बीज कुरूप सिद्ध हो और वृक्ष का हमें कोई पता न हो; बीज बेहूदा मालूम पड़े और भीतर छिपे अंकुर के सौंदर्य की हमें कोई स्मृति न हो; बीज फेंक देने जैसा मालूम पड़े और बीज में छिपे हुए अनंत फूल जो आकाश में खिल सकते हैं, सूरज की रोशनी में नाच सकते हैं, सुवास से भर सकते हैं दिगदिगंत को, उनका हमें कोई पता न हो--तो अकेला स्वाध्याय खतरनाक हो सकता है।
इसलिए कृष्ण ने तत्काल, जैसे ही कहा स्वाध्याय वैसे ही कहा ईश्वर-जप। ईश्वर-जप पुराने दिन की भाषा है। उसे समझने के लिए मैंने... ईश्वर-जप पुराने दिन की भाषा है। आज की भाषा में कहना हो, तो कहना होगा, मनुष्य की संभावनाओं का स्मरण।
आदमी ईश्वर हो सकता है, है नहीं। है तो आदमी बिल्कुल ही राक्षस; हो सकता है ईश्वर। है तो आदमी बिल्कुल दानव; हो सकता है देव। तो जो है, अगर वही दिखाई पड़े, तो खतरनाक हो सकता है। जो हो सकता है, उसकी स्मृति की किरण भी अंधकार में उतरती रहे--स्मृति की किरण। जप का अर्थ है, स्मरण।
जप का क्या अर्थ होता है? एक ही बात को बार-बार दोहराना। अंधेरा है बहुत, प्रकाश कहीं दिखाई नहीं पड़ता; बार-बार भूल जाता है कि प्रकाश हो सकता है। उसे बार-बार स्मरण रखना कि प्रकाश हो सकता है। नहीं तो अंधेरे में डूब जाने का डर है। और अगर अंधेरा ही है, तो पैरों के रुक जाने का भय है कि वे जवाब दे दें कि बढ़ने से फायदा क्या? कहीं भी जाओ, अंधेरा है। कहीं भी पहुंचो, अंधेरा है। कहीं कोई मंजिल नहीं प्रकाश की।
ईश्वर-जप का अर्थ है, रिमेंबरेंस। उसकी स्मृति, जो हो सकता है, जो छिपा
है और प्रकट नहीं है, लेकिन प्रकट हो सकता है। लेकिन पुराने दिन में ईश्वर-जप कहना काफी था।
एक आदमी सुबह उठता, सुबह नींद टूटती और पहला शब्द होता, राम। आ रहा है दिन सामने, जहां राम से मिलने की कम संभावना है, रावण से ही मिलने की संभावना है। ऊग रहा है दिन, जहां अयोध्या नहीं होगी, लंका ही होगी। हो रही है सुबह, आदमी का जगत--जाल का, जंजाल का, प्रपंच का शुरू होगा। लेकिन आदमी सुबह उठकर पहली बात स्मरण करेगा, राम। वह यह कह रहा है, है सब बुरा, लेकिन शुरुआत मैं स्मरण से करता हूं शुभ की।
सांझ लौटा है थका-मांदा... दिन में भी, राह चलते भी हमने नमस्कार की जो विधि बनाई थी, उसे ईश्वर-जप से जोड़ दिया था। दुनिया में उतनी गहरी विधि कहीं भी नहीं है। अगर पश्चिम में दो आदमी मिलते हैं और कहते हैं, गुड मार्निंग, सुबह अच्छी है; यह साधारण लौकिक वक्तव्य है। उससे कहीं कोई संभावना का द्वार नहीं खुलता। इस मुल्क में, इस जमीन के टुकड़े पर, दो आदमी मिलते हैं, तो कहते हैं, राम-राम! जो आदमी सामने है, राम नहीं है; रावण होने की संभावना ज्यादा है। लेकिन स्मरण राम का है। स्मरण संभावना का ही है। गुड मार्निंग बहुत सेकुलर है; उसमें कोई बहुत गहराई नहीं है। बहुत साधारण है, सुबह सुंदर है। लेकिन जब दो आदमी हाथ जोड़ते हैं एक-दूसरे को और कहते हैं, राम! तो वे दूसरे की संभावनाओं को हाथ जोड़ते हैं। वे दूसरे में राम को देखने की आकांक्षा प्रकट करते हैं। हाथ जोड़ते हैं, सामने खड़े आदमी के लिए नहीं, भीतर छिपे राम के लिए।

दिन में जब भी, तो अपरिचित को भी राम। अपरिचित को गुड मार्निंग कोई करता नहीं। अभी भी गांवों में, ग्रामीण हिस्से से गुजरें, तो जो नहीं जानते, वे भी राम-राम करते हुए गुजर जाएंगे। एक मौका मिला, एक चेतना पास आई, उसको क्यों न ईश्वर-जप बना लिया जाए! एक अवसर मिला, सामने छिपा हुआ राम आया, क्यों न उसे याद कर लिया जाए--खुद भी, और उसे भी याद दिला दी जाए!
सांझ थका-मांदा आदमी लौटा है दिनभर के उपद्रव से। रात सोता है, तब फिर, राम। माना कि दिनभर सब उपद्रव था, धूल थी, अंधेरा था, गंदगी थी, कुरूपता थी; माना कि यथार्थ यही है, लेकिन यथार्थ यह होना नहीं चाहिए। सुबह भी शुरुआत उससे, दिन भी स्मरण उसका, रात भी याद उसकी। आखिरी क्षण, सोते समय, नींद में उतरते समय भी--राम।
और ध्यान रहे, आखिरी क्षण नींद के द्वार पर जब आदमी खड़ा होता है, जागरण बंद होता और नींद शुरू होती, तब जो ईश्वर-जप है, वह बहुत गहरा है। क्योंकि उस समय चेतना गेयर बदलती है, उस समय कांशसनेस गेयर बदलती है, एक गेयर से बिल्कुल दूसरे गेयर में जाती है, एक जगत से बिल्कुल दूसरे जगत में प्रवेश करती है। बंद हुई वह दुनिया जो दुनिया थी; बंद हुए वे द्वार जो दूसरों से जुड़े थे। अब अपने से जुड़ने का द्वार खुलता है, गहन निद्रा का, जहां प्रकृति की गोद में हम वहीं पहुंच जाएंगे, जहां मूल स्रोत है। अब राम को स्मरण करते हुए कोई सो गया। सोते-सोते, सोते-सोते स्मृति है ईश्वर की। वह गहरी भीतर बैठती चली जाती है, अंतराल में उतरती चली जाती है। नींद के साथ ही, नींद की गहराई के साथ ही एसोसिएट हो जाती है। ला आफ एसोसिएशन का उपयोग है। संयोग जोड़ देते हैं हम।
पावलव ने बहुत से प्रयोग किए। एक प्रयोग पावलव का सारी दुनिया में प्रसिद्ध है बच्चे भी जानते हैं। एक कुत्ते को वह खाना खिलाता है, साथ में घंटी बजाता है। पंद्रह दिन तक रोटी दी जाती। रोटी सामने आती; कुत्ते की लार टपकती; पावलव घंटी बजाता। फिर सोलहवें दिन रोटी नहीं आती; पावलव घंटी बजाता; कुत्ते के मुंह से लार टपकती। अब घंटी से लार टपकने का कोई नैसर्गिक संबंध नहीं है। घंटी से कहीं लार टपकती है किसी की? और कुत्ते को तो धोखे में डालना मुश्किल है। घंटी से क्या लेना-देना?
लेकिन पंद्रह दिन तक जब भी रोटी सामने आई, घंटी बजी; घंटी और रोटी साथ-साथ जुड़ गईं। घंटी और रोटी दो चीजें न रहीं, एक चीज हो गईं। अब आज सिर्फ घंटी बजी, तो रोटी का स्मरण आ गया; लार टपकने लगी! कुत्ते का शरीर भी प्रभावित हो गया, एसोसिएशन से।
हम भी ऐसे ही जीते हैं। सोते समय राम का स्मरण नींद की गहराई से प्रभु
के स्मरण को जोड़ने का प्रयोग है। नींद हमारे भीतर गहरी से गहरी चीज है। अगर उससे प्रभु का स्मरण जुड़ जाए, तो प्रभु भी हमारी गहरी से गहरी चीज हो जाता है।
दूसरी बात, रात आखिरी समय जो हमारा अंतिम विचार होता है सोने के पहले, वही हमारा सुबह नींद के टूटने के बाद पहला विचार होता है। रात का अंतिम विचार, सुबह का पहला विचार है। क्यों? क्योंकि नींद में जो विचार प्रवेश कर जाता है, उसकी तरंगें रातभर चेतना में डोलती रहती हैं। रातभर डोलती रहती हैं। जैसे फेंक दिया एक कंकड़ झील में; लहरें उठीं और चल पड़ीं। ऐसे ही नींद के पहले क्षण में जो विचार आपके अंतस्तल में उतर जाता है, वह रातभर डोलता रहता है।
अगर आप आठ घंटे सोए और राम का नाम आठ घंटे भीतर सूक्ष्म तरंगें लेता रहा, लेगा, तभी सुबह पहली तरंग बनेगा, नहीं तो नहीं बनेगा। और बन जाता है। सुबह पहला स्मरण श्वास के साथ, पहली श्वास के साथ, पहले होश के साथ, पहले जागरण के साथ राम वापस लौटा। रातभर जो प्रभु-स्मरण में डूबा रहा, संभावना बढ़ती है कि उसका दिन भी प्रभु-स्मरण का दिन बनेगा।
इसलिए कृष्ण ने कहा, ईश्वर-जप।
वैज्ञानिक है। लेकिन मेकेनिकल जिसने कर लिया ईश्वर-जप, उसका बेकार हो जाता है। एक आदमी जल्दी से स्नान किया है। घंटी बजा रहा है। राम-राम किया।
भागा, दफ्तर गया। निपटाया एक काम। काम निपटाने से राम का कभी संबंध नहीं जुड़ता। काम नहीं, प्रेम; तो फिर गहरा उतर जाता है।

हम काम की तरह करते हैं, इसलिए जिंदगीभर जप करते रहते हैं, कुछ भी हाथ नहीं आता। आएगा भी नहीं। हजार जिंदगी करते रहो, कुछ न आएगा हाथ। नहीं; प्राणों की गहराई में भाव से बिठाने की बात है। बैठ जाए प्राणों की गहराई में, तो रोआं-रोआं उससे ही कंपित हो जाता है।
फिर स्वाध्याय, स्वयं के गलत को जानना; और ईश्वर-जप, स्वयं के शुभ को स्मरण रखना; दोनों के तालमेल से जो यज्ञ फलित होता है, उसका नाम स्वाध्याय-यज्ञ है।
अब तो शाम ही लेंगे। अभी सुबह दस मिनट के लिए हम ईश्वर-जप में लगें। रोएं-रोएं में उसको डोलने दें।
स्टेज पर कोई न आए देखने के लिए। आप वहीं खड़े रहें, और थोड़ा फासला ज्यादा रखें। जो लोग पहली कतार में हैं, वे हाथ बांध लें, ताकि पीछे के लोग आगे न आएं। और जिनको भी सम्मिलित होना हो, वे बीच में आ जाएं। संन्यासियों के साथ नाचें। हो सकता है, उनकी तरंग आपको भी पकड़ जाए।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
बारहवां प्रवचन

अंतर्वाणी-विद्या

प्रश्नः भगवान श्री, अट्ठाइसवें श्लोक में चार यज्ञों की बात कही गई है। दो यज्ञों पर चर्चा हो चुकी है, सेवारूपी यज्ञ और स्वाध्याय यज्ञ। तीसरे तप यज्ञ का क्या अर्थ है? उसे यहां स्वधर्म पालनरूपी यज्ञ क्यों कहा गया है? और चौथे योग यज्ञ का क्या अर्थ है? उसे यहां अष्टांग योगरूपी यज्ञ क्यों कहा गया है?

स्वधर्मरूपी यज्ञ। व्यक्ति यदि अपनी निजता को, अपनी इंडिविजुअलिटी को, उसके भीतर जो बीजरूप से छिपा है उसे, फूल की तरह खिला सके, तो भी वह खिला हुआ व्यक्तित्व का फूल परमात्मा के चरणों में समर्पित हो जाता है और स्वीकृत भी।
व्यक्ति की भी एक फ्लावरिंग है; व्यक्ति का भी फूल की भांति खिलना होता है। और जब भी कोई व्यक्ति पूरा खिल जाता है, तभी वह नैवेद्य बन जाता है। वह भी प्रभु के चरणों में समर्पित और स्वीकृत हो जाता है।
फूल की तरह व्यक्ति के साथ भी दुर्घटनाएं घट सकती हैं। यदि कोई गुलाब
का फूल कमल का फूल होना चाहे, तो दुर्घटना सुनिश्चित है। दुर्घटना के दो पहलू होंगे। एक तो गुलाब का फूल कुछ भी चाहे, कमल का फूल नहीं हो सकता है। वह उसकी नियति, उसकी डेस्टिनी नहीं है। वह उसके भीतर छिपा हुआ बीज नहीं है। वह उसकी संभावना नहीं है।
इसलिए गुलाब का फूल विक्षिप्त हो सकता है कमल के फूल होने में, कमल का फूल नहीं हो सकता। कमल के फूल होने में पीड़ित, दुखी, परेशान हो सकता है; चिंतित, संतापग्रस्त हो सकता है; नींद खो सकता, चैन खो सकता; कमल का फूल हो नहीं सकता है। होने की दौड़ में मिटेगा, बर्बाद होगा; पहुंचेगा नहीं मंजिल तक। यात्रा कितनी ही करे, लौट-लौटकर गुलाब का फूल ही रहेगा। पहुंचेगा नहीं कमल होने तक। न पहुंचने से फ्रस्ट्रेशन, न पहुंचने से विषाद मन को पकड़ता है। और जिसके चित्त को विषाद पकड़ लेता, उसके चित्त में नास्तिकता का जन्म हो जाता है। इसे ठीक से ख्याल में ले लें।
विषाद से भरा हुआ चित्त आस्तिक नहीं हो सकता है। पीड़ा से भरा हुआ चित्त, दुख से भरा हुआ चित्त, फ्रस्ट्रेटेड चित्त आस्तिक नहीं हो सकता, क्योंकि आस्तिकता आती है अनुग्रह के भाव से, ग्रेटिट्यूड से। और विषाद में अनुग्रह का भाव कैसे पैदा होगा? अनुग्रह का भाव तो आनंद में पैदा होता है। जब कोई आनंद से भरता है, तो अनुगृहीत होता है, तो ग्रेटिट्यूड पैदा होता है।
सिमन वेल ने एक किताब लिखी है, ग्रेस एंड ग्रेविटी--प्रसाद और गुरुत्वाकर्षण। बहुमूल्य है; इस सदी की बहुमूल्य किताबों में से एक है। सिमन वेल कहती है कि जैसे जमीन चीजों को अपनी तरफ खींचती है, ऐसे ही परमात्मा भी चीजों को अपनी तरफ खींचता है।
जमीन चीजों को अपनी तरफ खींचती है। उसकी एक छिपी हुई ऊर्जा, शक्ति का नाम ग्रेविटेशन, गुरुत्वाकर्षण है। दिखाई कहीं नहीं पड़ता, लेकिन पत्थर को फेंको ऊपर, वह नीचे आ जाता है। वृक्ष से फल गिरा, नीचे आ जाता है। दिखाई कहीं भी नहीं पड़ता।
हम सबको कहानी पता है कि न्यूटन एक बगीचे में बैठा है और सेव का फल गिरा है। और उसके मन में सवाल उठा कि फल गिरता है, तो नीचे ही क्यों आता है, ऊपर क्यों नहीं चला जाता? दाएं-बाएं क्यों नहीं चला जाता? ठीक नीचे ही क्यों चला आता है? चीजें गिरती हैं, तो नीचे क्यों आ जाती हैं? और तब उसे पहली दफा ख्याल आया कि जमीन से कोई ऊर्जा, कोई शक्ति चीजों को अपनी तरफ खींचती है; कोई मैग्नेटिक, कोई चुंबकीय शक्ति चीजों को अपनी तरफ खींचती है। फिर ग्रेविटेशन सिद्ध हुआ। अभी भी दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन परिणाम दिखाई पड़ते हैं।

सिमन वेल कहती है, ठीक ऐसे ही परमात्मा भी चीजों को अपनी तरफ खींचता है। उसके खींचने का जो ग्रेविटेशन है, उसका नाम ग्रेस, उसका नाम प्रसाद; अनुकंपा, अनुग्रह, जो भी हम नाम देना चाहें।
यह बड़े मजे की बात है कि जब फूल खिलता है, तो आकाश की तरफ उठता है। और
जब मुरझाता है, सूखता है, तो जमीन की तरफ गिर जाता है। आदमी जीवित होता है, तो आकाश की तरफ उठा हुआ होता है। मर जाता है, तो जमीन में दफना दिया जाता है, मिट्टी में गिर जाता है। वृक्ष उठते हैं, जीवित होते हैं, तो आकाश की तरफ उठते हैं। फिर जराजीर्ण होते हैं, गिरते और मिट्टी में सो जाते हैं। ऊपर और नीचे। कुछ ऊपर की तरफ खींच रहा है, कुछ नीचे की तरफ खींच रहा है। विषाद जब चित्त में होता है, तो आदमी का हृदय पत्थर की तरह हो जाता है, नीचे की तरफ गिरने लगता है। जब भी आप दुख में रहे हैं, तब आपने अनुभव किया होगा कि हृदय पर हजारों मनों का बोझ हो जाता है। फिर जमीन तो नीचे की तरफ खींचती है, लेकिन परमात्मा फिर ऊपर की तरफ खींचता हुआ मालूम नहीं पड़ता। इसलिए दुख में आदमी मरना चाहता है। मरना चाहता है मतलब, जमीन के ग्रेविटेशन में दफन हो जाना चाहता है। दुख में आत्महत्या कर लेना चाहता है; मतलब, डस्ट अनटु डस्ट, मिट्टी मिट्टी में लौट जाए, इसके लिए आतुर हो जाता है।
ठीक इससे उलटी घटना भी घटती है। जब कोई आनंद से भरता है, तो कांशसनेस अनटु कांशसनेस--मिट्टी में मिट्टी नहीं--परमात्मा में परमात्मा मिलने को आतुर हो जाता है। जब कोई फूल खिलता है आनंद का, तो ऊपर से अनुग्रह की वर्षा होने लगती है। वह खिली हुई फूल की पंखुड़ियों पर अमृत बरसने लगता है प्रभु के प्रसाद का। आनंद में मन खिल जाता है फूल की तरह।
इसलिए तो जिन्होंने भी अनुभव किया है परम आनंद का, वे कहेंगे कि मस्तिष्क में सहस्रदल कमल खिल जाता है। वह प्रतीक है, सिंबालिक है। वह केवल काव्य में प्रकट किया गया अनुभव है। मस्तिष्क के ऊपर खिल जाता है फूल हजारों पंखुड़ियों वाला; उस खिले हुए फूल में बरसा होने लगती है अनुग्रह की।
और जब कोई उतने आनंद से भरता है, तो परमात्मा को धन्यवाद दे पाता है। कहना चाहिए, धन्यवाद देने के लिए परमात्मा को स्वीकार कर पाता है। अनुग्रह फिर किसके प्रति प्रकट करे? जब भीतर आनंद की वर्षा होने लगे और हृदय का कोना-कोना नाच उठे और अंधकार विदा हो जाए और पंखुड़ी-पंखुड़ी खिल जाए, फिर धन्यवाद किसके प्रति प्रकट करे? उस धन्यवाद को प्रकट करने के लिए परमात्मा को खोजना पड़ता है।
आनंद से भरा चित्त आस्तिक हो जाता है; दुख से भरा चित्त नास्तिक हो जाता है। नास्तिकता ग्रेविटेशन है। जमीन की ताकत नीचे की तरफ खींचती है। आस्तिकता ग्रेस, प्रसाद है, अनुग्रह है; ऊपर की तरफ ले जाता है।
व्यक्ति जब भी अपने निज धर्म को भूलता है, तब ऐसी हालत हो जाती है, जैसे गुलाब का फूल कमल होना चाहे। जब व्यक्ति निज धर्म को भूलता है, तो उसका मतलब, वह कोई और होना चाहता है, जो नहीं है।
ब्राह्मण शूद्र होना चाहे, शूद्र क्षत्रिय होना चाहे, क्षत्रिय वैश्य होना चाहे। जन्म की बहुत फिक्र नहीं है--गुण-धर्म से, गुण-कर्म से। भीतर की जो क्षमता है, वह जब अपने से भिन्न कुछ होना चाहे, तो मुश्किल में पड़ जाती है। हो नहीं सकती। वह असंभव है। वह प्रकृति का नियम नहीं।
हम सब अपनी बिल्ट-इन योजना लेकर पैदा होते हैं। हम क्या हो सकते हैं, इसका ब्लू प्रिंट हमारे सेल-सेल में छिपा रहता है। हम क्या हो सकते हैं, इसकी तजवीज हम अपने जन्म के साथ लेकर पैदा होते हैं।
अगर दुर्घटना घट जाए, तो यह हो सकता है कि हम वह न हो पाएं, जो हम हो सकते थे। लेकिन ऐसी घटना कभी नहीं घट सकती कि हम वह हो जाएं, जो कि हम नहीं हो सकते थे।
इसे मैं फिर से दोहरा दूं, यह हो सकता है कि हम वह न हो पाएं, जो कि हम
हो सकते थे। हम चूक सकते हैं अपनी नियति। लेकिन इससे उलटा नहीं होता कभी, नहीं हो सकता कभी, कि हम वह हो जाएं, जो कि हम नहीं हो सकते थे।

यह हो सकता है, गुलाब का फूल गुलाब का फूल भी न हो पाए। लेकिन यह नहीं
हो सकता कि गुलाब का फूल, और कमल का फूल हो जाए। गुलाब का फूल अगर कमल होने की कोशिश में लगे, तो मैंने कहा, इसके दो पहलू हैं। एक पहलू कि वह कमल कभी न हो पाएगा। कमल होने की चेष्टा में विषाद को उपलब्ध होगा--दुख, पीड़ा, एंग्विश।
सोरेन कीर्कगार्ड ने इस विषाद का ठीक-ठीक चित्रण किया है। उसने जो शब्दों के प्रयोग किए हैं, वह ख्याल में ले लेने जैसे हैं, ट्रेंबलिंग। वह कहता है कि जब आदमी विषाद में होता है, तो सारा हृदय एक कंपन हो जाता है, एक ट्रेंबलिंग। वह कहता है, जब आदमी विषाद में हो जाता है, तो ड्रेड पकड़ लेता है, जैसे मौत सामने खड़ी हो और हमारे भीतर भी सब मृत्यु के भय में, अंधकार में डूब जाए।
यह जो स्थिति है विषाद की--एंग्विश कहता है सोरेन कीर्कगार्ड--संताप की, जहां कुछ भी फिर प्रीतिकर नहीं लगता, कुछ भी अर्थपूर्ण नहीं लगता, अभिप्रायपूर्ण नहीं लगता; सब व्यर्थ, मीनिंगलेस, सांयोगिक लगता है। हैं, तो ठीक। न हों, तो कोई हर्ज नहीं मालूम पड़ता। बल्कि न हों, तो शांति मालूम पड़ती है। हों, तो अशांति मालूम पड़ती है।
गुलाब का फूल कमल होना चाहे, तो ऐसा होगा, एक पहलू। और दूसरा पहलू यह
कि गुलाब की ताकत अगर कमल होने की कोशिश में लग जाए, तो गुलाब फिर गुलाब कभी नहीं हो पाएगा। क्योंकि ताकत सीमित है, क्षमता निश्चित है। ऊर्जा बंधी हुई मिली है प्रत्येक को, नपी हुई मिली है प्रत्येक को। अगर उसे इतर, यहां-वहां खर्च किया, तो अपनी नियति को पूरा नहीं किया जा सकता।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, स्वधर्मरूपी यज्ञ में!
यह स्वधर्मरूपी यज्ञ बहुत ही गहरी मनोवैज्ञानिक धारणा है। मनुष्य ने अपने इतिहास में जो भी गहरे से गहरे मनोवैज्ञानिक सत्य खोजे हैं, उनमें स्वधर्म का सत्य सर्वाधिक गहरा है।
यह पृथ्वी आज इतने दुख से भरी दिखाई पड़ती है, उसका मौलिक कारण स्वधर्म
से च्युत हो जाना है। कोई भी आदमी वही नहीं हो रहा है, जो वह होने को है। हर आदमी कुछ और होने में लगा है! हम सब कुछ और होने में लगे हैं, जो हम नहीं हो सकते हैं।
कृष्ण कहते हैं, यह भी बड़े से बड़ा यज्ञ है अर्जुन, अगर तू इतना भी पूरा
कर ले, या कोई भी पूरा कर ले, तो भी प्रभु को उपलब्ध हो जाता है, परम अवस्था को उपलब्ध हो जाता है।
स्वधर्म; कैसे पहचानें, क्या है स्वधर्म? कैसे जानें, मैं क्या होने
को पैदा हुआ हूं? कैसे जानें कि मैं कुछ और होने में तो नहीं लगा हूं? कैसे पहचानें कि मैंने किसी परधर्म को ही तो नहीं पकड़ लिया है?
पहचान हो सकती है। सूक्ष्म होंगे पहचान के सूत्र। लेकिन दो-तीन सूत्र आपसे कहना चाहूंगा।
पहली बात, अगर आप दुखी हैं जीवन में, तो पक्का समझ लेना कि आप स्वधर्म
से च्युत हुए हैं, स्वधर्म से च्युत हो रहे हैं। क्योंकि जहां भी स्वधर्म की यात्रा होती है, वहीं आनंद फलित होता है।
अशांत हों यदि, तो जान लेना कि परधर्म के पीछे चल रहे हैं। रुक जाना, पुनः सोच लेना। फिर से विचार कर लेना, रिकंसीडर कर लेना कि जो यात्रा चुनी, जो कर रहे हैं, उससे दुख और पीड़ा, अशांति बढ़ती है, तो निश्चित ही वह मार्ग मेरा नहीं है।
जैसे कोई बगीचे के पास जाता हो। बगीचा दिखाई नहीं पड़ता अभी, लेकिन जैसे-जैसे पास पहुंचता है, ठंडी हवाएं छूने लगती हैं, स्पर्श करने लगती हैं। जानता है कि ठीक रास्ते पर हूं। बगीचा दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन कहीं पास ही होगा। दिशा तो कम से कम ठीक होनी ही चाहिए। और अगर ठंडक हवाओं की बढ़ती जाए एक-एक कदम बढ़ने से, तो निश्चित हुआ जा सकता है कि मैं ठीक दिशा में बढ़ रहा हूं; बगीचा करीब ही आता होगा। फिर और करीब आकर ठंडक के साथ-साथ सुगंध भी मिलने लगती है, तब और भी निश्चय हो जाता है कि मैं और भी पास आ रहा हूं। अभी भी बगीचा दिखाई नहीं पड़ता; अभी भी दूर है; लेकिन दिशा ठीक है।

ऐसे ही टटोलना पड़ता है स्वधर्म को भी, जैसे कोई बगीचे को अंधेरे में खोजता हो। ठंडक, सुगंध... ।
अगर ठंडक कम होती जाए, सुगंध क्षीण होती जाए, तो जानना चाहिए कि मैंने कोई विपरीत मार्ग पकड़ लिया। शांति बढ़े, तो स्वधर्म के निकट चल रहे हैं आप। अशांति बढ़े, तो स्वधर्म से च्युत हो रहे हैं आप। शांति मापदंड है।
फिर शांति घनी हो, तो सुवास की तरह आनंद की झलक भी मिलनी शुरू हो जाती है। तब समझना कि ठीक है मार्ग। अब दौड़ सकते हैं। अब निश्चिंत हो नाव को खे सकते हैं। अब बेफिक्र हो हवाओं के रुख में नाव को छोड़ सकते हैं। अब नदी ठीक, अब मार्ग ठीक। अब पहुंच जाएंगे वहां।
लेकिन हम जीवन में कभी इसका विचार ही नहीं करते। हम उलटा ही करते हैं।
हम जो कर रहे होते हैं, अगर उसमें अशांति मिलती है, तो उसी को और जोर से करते हैं। सोचते हैं, शायद पूरी ताकत से नहीं कर रहे हैं; और ताकत से करेंगे, तो शांति मिल जाएगी। और अशांति मिलती है, तो और सारी ताकत जुटाकर लग जाते हैं। अंततः परिणाम यह होता है कि हम स्वधर्म को पहुंच नहीं पाते।
परधर्म को पहुंच नहीं सकते। जीवन एक वर्तुलाकार चक्कर होकर खो जाता है। अवसर मिलता है और नष्ट हो जाता है।
तो एक तो शांति बढ़े, आनंद बढ़े।
दूसरा, यदि कोई स्वधर्म के साथ-साथ चल रहा हो, तो उसके जीवन में स्वीकार का भाव बढ़ता जाएगा, अस्वीकार का भाव कम होता जाएगा। उसकी एक्सेप्टिबिलिटी बढ़ती जाएगी। वह चीजों को स्वीकार करने लगेगा। क्योंकि जिसके भीतर भी जरा-सा आनंद आया, उसके बाहर स्वीकृति आने लगती है; वह चीजों को स्वीकार करने लगता है अर्थात संतुष्ट होने लगता है।
अगर स्वधर्म के अनुकूल न चलता हो, तो असंतुष्ट होता चला जाता है; अस्वीकार करने लगता है। हर चीज के प्रति दुश्मन की दृष्टि आ जाती है, दोस्त की नहीं। हर चीज के प्रति इनकार, नो; यस, हां का भाव नहीं। हर चीज के प्रति इनकार हो जाता है।
तो अगर आपकी जिंदगी में यस की जगह नो की संख्या ज्यादा हो; हां कम चीजों को कहते हों, न ज्यादा चीजों को कहते हों; स्वीकार कम को करते हों, अस्वीकार ज्यादा को करते हों; संतोष कम से मिलता हो, असंतोष ज्यादा से मिलता हो--तो ध्यान रखना कि स्वधर्म के अनुकूल नहीं जा रही है यात्रा।
इस मात्रा को बदलना पड़ेगा। स्वीकार बढ़ाना पड़ेगा, अस्वीकार कम करना पड़ेगा। जैसे-जैसे स्वीकार बढ़ेगा, वैसे-वैसे आस्तिकता बढ़ेगी। जैसे-जैसे अस्वीकार बढ़ेगा, वैसे-वैसे नास्तिकता बढ़ेगी। नास्तिकता का अर्थ है, समस्त अस्तित्व के प्रति नकार का भाव, नो एटीट्यूड टुवर्ड्स दि टोटैलिटी, समस्त के प्रति नकार का भाव। कुछ भी नहीं है! आस्तिकता का अर्थ है, टोटल एक्सेप्टिबिलिटी, समग्र स्वीकार। सब है; और सब से मैं राजी हूं। जो जैसा है, उससे मैं वैसे ही राजी हूं। यह राजीपन बढ़ता जाएगा, जैसे-जैसे भीतर स्वधर्म के अनुकूल यात्रा होगी।
तीसरी बात, स्वधर्म के अनुकूल अगर जाना हो, तो सिर्फ बाहर की चीजों में उलझा रहकर कोई व्यक्ति कभी नहीं जा सकता। दैनंदिन कामों में पता ही नहीं चलता कि स्वधर्म क्या है, परधर्म क्या है। दैनंदिन काम तो करीब-करीब एक जैसे हैं। ब्राह्मण का भी वही है, क्षत्रिय का भी वही है, शूद्र का भी वही है, वैश्य का भी वही है। जहां तक दैनंदिन काम का संबंध है, रोटी-रोजी कमाना ही तो सबके लिए है। कैसे कोई कमाता है, यह दूसरी बात है। उससे बहुत अंतर नहीं पड़ता। दैनंदिन कामों से पता नहीं चलेगा कि मेरा स्वधर्म क्या है।
जिसे स्वधर्म की खोज करनी हो, उसे बाहर की दुनिया से कम से कम चौबीस घंटे में घंटेभर के लिए बिल्कुल छुट्टी ले लेनी चाहिए, और भीतर की दुनिया में डूब जाना चाहिए। कर देने चाहिए द्वार बंद बाहर के। कह देना चाहिए बाहर के जगत को बाहर, और अब मैं होता भीतर। सब इंद्रियों के द्वार बंद करके भीतर घंटेभर के लिए डूब जाना चाहिए। वहीं पता चलेगा उस रहस्य का जो स्व है, जो निजता है। वहीं से सूत्र मिलेंगे, ध्वनि सुनाई पड़ेगी, वहीं से इशारे मिलेंगे। और धीरे-धीरे इशारे गहरे होते चले जाते हैं। पहले आवाज बड़ी छोटी

होती है। यह आखिरी सूत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, इसे ठीक से ख्याल में ले लेंगे।
स्वधर्म का पता अंतर की वाणी के अतिरिक्त और कहीं से नहीं चलता है। पहले मैंने दो लक्षण की बात कहीं कि इससे आप पता लगा लेना कि जिंदगी ठीक मार्गों से जा रही है या नहीं। और तीसरे से मैं आपके स्वधर्म के केंद्र को ही छू लेने की सूचना देता हूं।
घंटेभर के लिए चौबीस घंटे में, बंद कर देना बाहर की दुनिया को, भूल जाना; छोड़ देना सब बाहर का बाहर; अपने भीतर डुबकी लगा जाना। उस डुबकी में धीरे-धीरे भीतर की अंतर्वाणी सुनाई पड़नी शुरू होगी। सबके भीतर छिपा है वह। दि स्टिल स्माल वॉइस, छोटी है आवाज--धीमी, नाजुक, सूक्ष्म। केवल वे ही सुन सकते हैं, जो उतनी सूक्ष्म आवाज को सुनने के लिए अपने को ट्रेन करते हैं, प्रशिक्षित करते हैं।
इसलिए आज आप आंख बंद करके बैठ जाएंगे, तो भीतर की आवाज नहीं सुनाई पड़ेगी। आंख बंद करके भी बाहर की ही आवाज सुनाई पड़ती रहेगी। कल, परसों-- बैठते रहें, बैठते रहें, जल्दी न करें, घबड़ाएं न। तेईस घंटे बाहर की दुनिया को दे दें, एक घंटा अपने को दे दें। बस, आंख बंद करें और सुनने की कोशिश करें भीतर। सुनने की कोशिश, जैसे भीतर कोई बोल रहा है, उसे सुन रहे हैं। जैसे कि इतनी भीड़ है। यहां बहुत लोग बातचीत कर रहे हैं और आपको किसी
की बात सुननी है, तो आप सबकी बातों को छोड़कर अपनी पूरी चेतना और एकाग्रता को उस आदमी के ओठों के पास लगा देते हैं। वह फुसफुसाकर भी बोलता हो, विस्पर भी करता हो, तो भी आप सुनने की कोशिश करते हैं--और सुन पाते हैं। चेतना सिकुड़कर सुनती है, तो सुन पाती है। एकाग्र हो जाती है, तो सुन पाती है। जल्दी न करें। एक घंटा तय कर लें स्वधर्म की खोज के लिए। आपको पता नहीं, लेकिन आपकी अंतरात्मा को पता है कि क्या है आपका स्वधर्म। आंख बंद करें। मौन हो जाएं। चुप बैठकर सुनें। मौन, सिर्फ भीतर ध्यान को करके, सुनने की कोशिश करें कि भीतर कोई बोलता है! कोई आवाज!
बहुत-सी आवाजें सुनाई पड़ेंगी। पहचानने में कठिनाई न होगी कि ये बाहर
की आवाजें हैं। मित्रों के शब्द याद आएंगे, शत्रुओं के शब्द; दुकान, बाजार, मंदिर, शास्त्र--सब शब्द याद आएंगे। पहचान सकेंगे भलीभांति, बाहर के सुने हुए हैं। छोड़ दें। उन पर ध्यान न दे। और भीतर! और प्रतीक्षा करते रहें। अगर तीन महीने कोई सिर्फ एक घंटा चुप बैठकर प्रतीक्षा कर सके धैर्य से, तो उसे भीतर की आवाज का पता चलना शुरू हो जाएगा। और एक बार भीतर का स्वर पकड़ लिया जाए, तो आपको फिर जिंदगी में किसी से सलाह लेने की जरूरत न पड़ेगी। जब भी जरूरत हो, आंख बंद करें और भीतर से सलाह ले लें; पूछ लें भीतर से
कि क्या करना है। और स्वधर्म की यात्रा पर आप चल पड़ेंगे। क्योंकि भीतर से स्वधर्म की ही आवाज आती है। भीतर से कभी परधर्म की आवाज नहीं आती। परधर्म की आवाज सदा बाहर से आती है।
जो व्यक्ति अपने भीतर की इनर वॉइस, अंतर्वाणी को नहीं सुन पाता, वह व्यक्ति कभी स्वधर्म के तप को पूरा नहीं कर पाएगा। यह जो स्वधर्मरूपी यज्ञ की बात कृष्ण ने कही है, यह वही व्यक्ति पूरी कर पाता है, जो अपने भीतर की अंतर्वाणी को सुनने में सक्षम हो जाता है।
लेकिन सब हो सकते हैं, सबके पास वह अंतर्वाणी का स्रोत है। जन्म के साथ ही वह स्रोत है, जीवन के साथ ही वह स्रोत है। बस, हमें उसका कोई स्मरण नहीं। हमने कभी उसे टैप भी नहीं किया; हमने कभी उसे खटकाया भी नहीं; हमने कभी उसे जगाया भी नहीं। हमने कभी कानों को प्रशिक्षित भी नहीं किया कि वे सूक्ष्म आवाज को पकड़ लें।
जीसस या बुद्ध या महावीर भीतर की आवाज से जीते हैं। भीतर की आवाज जो
कह देती है वही... ।
इसमें एक बात और आपको ख्याल दिला दूं कि भीतर की आवाज एक बार सुनाई पड़नी शुरू हो जाए, तो आपको अपना गुरु मिल गया। वह गुरु भीतर बैठा हुआ है।
लेकिन हम सब बाहर गुरु को खोजते फिरते हैं। गुरु भीतर बैठा हुआ है। परमात्मा ने प्रत्येक को वह विवेक, वह अंतःकरण, वह कांसिएंस, वह अंतर
की वाणी दी है, जिससे अगर हम पूछना शुरू कर दें, तो उत्तर मिलने शुरू हो

जाते हैं। और वे उत्तर कभी भी गलत नहीं होते। फिर वह रास्ता बनाने लगता है भीतर का ही स्वर, और तब हम स्वधर्म की यात्रा पर निकल जाते हैं। अंतर्वाणी को सुनने की क्षमता ही स्वधर्मरूपी यज्ञ का मूल आधार है। इसलिए कृष्ण ने अर्जुन को कहा कि मैंने इसके पहले दो यज्ञ कहे, अब यह तीसरा यज्ञ कि स्वधर्मरूपी यज्ञ को भी यदि कोई पूरा कर ले, तो प्रभु के मंदिर में उसकी पहुंच, सुनवाई हो जाती है; द्वार खुल जाते हैं; वह प्रवेश कर जाता है।
लेकिन लगेगा कि शायद यह सरल हो, यह स्वधर्मरूपी यज्ञ! कि ब्राह्मण अपनी पोथी पढ़ता रहे; चंदन, तिलक-टीका लगाता रहे; हवन-यज्ञ करवाता रहे, तो स्वधर्म पूरा कर रहा है। कि शूद्र सड़क पर झाडू लगाता रहे, कि गंदगी ढोता रहे, तो स्वधर्म पूरा कर रहा है। कि क्षत्रिय युद्ध में लड़ता रहे, तो स्वधर्म पूरा कर रहा है।
नहीं; यह बहुत बाहरी और ऊपरी बात है। स्वधर्म की गहरी बात तो तभी पता चलेगी, जब भीतर की आवाज... ।
इधर भारत में एक व्यक्ति थे, जो अभी चल बसे हैं। आप उनसे भलीभांति परिचित हैं, मेहर बाबा। उन्होंने पिछले जीवन के अपने तीस वर्ष अंतर की आवाज को सुनने में ही लगाए। और अंतर की आवाज को सुनने के लिए उन्होंने बाहर की सारी आवाज बंद कर दी। मौन हो रहे, बोलना बंद कर दिया। क्योंकि बोलें, तो बाहर की वाणी का लेन-देन जारी रहता है। तो सब बंद कर दिया।
जैसा मैंने सुबह आपसे कहा कि अगर स्वाध्यायरूपी यज्ञ को समझना हो, तो कृष्णमूर्ति के विगत चालीस वर्ष का समस्त वक्तव्य स्वाध्यायरूपी यज्ञ के इस छोटे-से शब्द स्वाध्याय में समा जाता है। कृष्णमूर्ति का चालीस साल का सब कहा हुआ, गीता के स्वाध्याय नामी यज्ञ की व्याख्या और भाष्य है, और कुछ भी नहीं। समस्त, चालीस वर्षों का कहा हुआ, इस स्वाध्याय यज्ञ का भाष्य है, कमेंट्री है।
वैसे ही मैं आपसे कहता हूं, इस तीसरी बात के लिए, अंतर्वाणी के सुनने
के लिए मेहर बाबा ने इस सदी में जितना श्रम किया, उतना किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं किया है। और अंतर्वाणी को सुनने के लिए, स्वधर्म की आवाज को सुनने के लिए जो गहरे से गहरा तप किया जा सकता था, वह यह था कि वाणी ही उन्होंने छोड़ दी, शब्द ही छोड़ दिए; मौन हो रहे बाहर से, ताकि शब्द का लेन-देन बंद हो जाए। ताकि अंततः कभी जरा-सी भी भूल न हो, कि भीतर की आवाज और बाहर की आवाज में कहीं भी कोई संदेह और संभ्रम, कोई कनफ्यूजन पैदा न हो। बाहर की आवाज ही बंद कर दी, ताकि निपट भीतर की आवाज से जीया जा सके।
फिर बहुत-सी घटनाएं उनके जीवन में हैं, एक-दो मैं कहूं, जिससे ख्याल आ सके कि अंतर की आवाज... ।
हैदराबाद के पास उन्होंने एक छोटा-सा आश्रम बनाया था। बनकर तैयार हुआ। बड़ी प्रतीक्षा से बनाया था। फिर उसके द्वार तक गए--प्रवेश का दिन था-- और ठीक दरवाजे पर खड़े होकर वापस लौट आए और इशारा कर दिया कि उस मकान में वे प्रवेश नहीं करेंगे। रात वह मकान गिर गया।
हिंदुस्तान से वे यूरोप जा रहे थे। हवाई जहाज से यात्रा। बीच में हवाई जहाज सिर्फ फ्यूल भरने के लिए किसी एअरपोर्ट पर उतरा। फिर हवाई जहाज उड़ने को हुआ। यात्रियों को खबर की गई। मेहर बाबा ने इनकार कर दिया कि वे उस पर सवार नहीं होंगे।
साथी उनके बड़ी परेशानी में पड़ते थे। शिष्य बड़ी मुश्किल में पड़ जाते थे। अब यह बड़ी बेहूदगी हो गई! चलती यात्रा में, बीच हवाई जहाज से उतर जाना, फिर कह देना कि नहीं जाएंगे! वह हवाई जहाज पंद्रह मिनट बाद उड़ा और गिर गया और सब यात्री समाप्त हो गए।
ऐसा बहुत बार हुआ। मेहर बाबा कब रुक जाएंगे किस काम को करने से ऐन बीच में, नहीं कहा जा सकता था; अनप्रेडिक्टेबल था। वे खुद भी नहीं कह सकते थे, क्योंकि उनको खुद भी पता नहीं था। कब अंतर की आवाज क्या कहेगी, उन्हें भी पता नहीं। जो कहेगी, वही वे करेंगे, जो भी हो। यह भी पता नहीं कि क्या परिणाम होगा। हवाई जहाज से क्यों रोक रहा है अंतर-मन? लेकिन अंतर-मन कहता है, नहीं, तो फिर नहीं। हां, तो हां।

मेहर बाबा की जिंदगी स्वधर्म की तलाश की जिंदगी है। भीतर के स्वर की खोज की जिंदगी है। वह भीतर का स्वर क्या कहता है, उससे ही चलेंगे।
कोई भी व्यक्ति अगर तेईस घंटे काम की दुनिया से हटाकर एक घंटा अपने लिए निकाल ले--ज्यादा निकाल सकें, और अच्छा। कभी वर्ष में पंद्रह दिन, तीन सप्ताह निकाल सकें इकट्ठे, तो और भी अच्छा। धीरे-धीरे भीतर की आवाज साफ होने लगे, तो आपकी जिंदगी में भूल-चूक बंद हो जाएगी। क्योंकि तब जिंदगी परमात्मा से चलने लगती है, आपसे नहीं चलती। फिर गुलाब का फूल गुलाब ही होता है, फिर कमल होने की कोई आकांक्षा नहीं होती। और जिस दिन भीतर की वाणी से चला हुआ जीवन पूरा खिलता है, उस दिन यज्ञ पूरा हो गया--स्वधर्मरूपी यज्ञ।

प्रश्नः भगवान श्री, इस श्लोक का चौथा और आखिरी यज्ञ योग यज्ञ कहा गया है। गीता प्रेस के अनुवाद में इसे अष्टांग योग यज्ञ कहा गया है। कृपया इसे भी स्पष्ट करें।

योग यज्ञ। योग की अपनी साधना प्रक्रिया है। अष्टांग योग, योग के आठ अंगों की सूचना देता है। पतंजलि ने योग के आठ अंग कहे हैं, आठ चरण, आठ हिस्से, जिनसे मिलकर योग बनता है, जिनसे योग पूरा होता है। यदि योग एक शरीर है, तो आठ उसके अंग हैं। इसलिए अष्टांग योग।
लेकिन अष्टांग योग के यदि एक-एक अंग पर मैं बात करूं, तो कठिनाई होगी।
वह तो फिर कभी जब पतंजलि के शास्त्र पर पूरा बोलूं, तभी ख्याल में आ सकता है। तो अभी तो सिर्फ योग यज्ञ, इतनी ही बात कर लेनी उचित होगी। मूल बात समझ में आ जाएगी।
मैंने कहा कि जैसे स्वाध्याय के लिए जे.कृष्णमूर्ति भाष्य हैं और जैसे स्वधर्म के लिए, स्वधर्म की खोज के लिए, अंतर्वाणी की खोज के लिए मेहर बाबा भाष्य हैं, वैसे ही योग के लिए जार्ज गुरजिएफ भाष्य है--इस जीवित जगत में, जो अभी हमारे आस-पास खड़ा है।
योग का अर्थ है, व्यक्ति जैसा है, वह बहुत ढीला-ढाला है, लूज एक्झिस्टेंस है। कहना चाहिए, आदमी कम है, होल्डाल ज्यादा है। होल्डाल, बिस्तर, उसमें सब चीजें लपेटी हैं! अंग्रेजी का शब्द अच्छा है, होल्डआल; सब चीजें भरी हुई हैं, एक बोरिया-बिस्तर की तरह है। सब कुछ भरा है; उल्टा-सीधा सब भरा है। साधारण व्यक्ति जैसा है, वह एक कास्मास नहीं है; उसके भीतर कोई संगीत नहीं है; उसके भीतर कोई हार्मनी, कोई लयबद्धता नहीं है। उसके भीतर, गुरजिएफ की भाषा में कहें, तो क्रिस्टलाइजेशन नहीं है। उसके भीतर कोई ठोस शक्ति नहीं है। उसके भीतर बहुत-सी शक्तियां हैं--आपस में विरोधी, एक-दूसरे से लड़ती, ढीली, अस्तव्यस्त।
ऐसा समझ लें फर्क, बाजार भरा है एक; हजार आदमी हैं बाजार में। शोरगुल बहुत है, लेकिन व्यक्तित्व कोई भी नहीं है। हजार आदमियों के बाजार में व्यक्तित्व कोई नहीं होता। हजार आदमी होते हैं, हजार आवाजें होती हैं। हजार हित होते हैं, हजार स्वार्थ होते हैं। एक-दूसरे से विपरीत होते हैं, एक-दूसरे के दुश्मन होते हैं, एक-दूसरे से लड़ते होते हैं। हजार आदमी हैं बाजार में, लेकिन बाजार के पास कोई क्रिस्टलाइज्ड इंडिविजुअलिटी नहीं है; बाजार के पास कोई व्यक्तित्व नहीं है, जिसमें एकस्वरता हो। फिर हजार आदमी मिलिट्री के जवान हैं। वे भी हजार हैं, लेकिन उनके पास एक व्यक्तित्व है। हजार आदमी के साथ पंक्तिबद्ध व्यक्तित्व है। एक से चलते हुए कदम हैं। एक आवाज, एक आज्ञा पर सारे प्राण आंदोलित होते हैं। एकस्वरता है।
तो गुरजिएफ कहेगा कि बाजार में तो क्रिस्टलाइजेशन नहीं है, मिलिट्री
के हजार लोगों में एक क्रिस्टलाइजेशन है। वे इकट्ठे हैं, एक आर्गेनिक यूनिटी है। एक शरीर की भांति हैं वे। बाजार भीड़ है, एक शरीर नहीं।
हमारा व्यक्तित्व बाजार की भांति है। हजार चीजें हैं उसमें, हजार हित हैं। एक हिस्सा बाएं जाता है, दूसरा दाएं जाता है। एक ऊपर जाता है, तीसरा नीचे जाता है। एक कहता है, मत करो; एक कहता है, करो। तीसरा हिस्सा सोया रहता

है; इस फिक्र में ही नहीं पड़ता कि करना है, कि नहीं करना है। ऐसे हजार हिस्से हैं हमारे भीतर।
गुरजिएफ कहा करता था, हम एक ऐसे मकान हैं, जिसका मालिक सोया हुआ है और जिसमें हजार नौकर हैं। और हर नौकर अपने को मालिक समझने लगा है, क्योंकि मालिक सोया ही रहता है। तो कभी-कभी ऐसा होता है कि दरवाजे से कोई निकलता है, दरवाजे पर जो नौकर मिल जाता है, कोई भी पूछता है, यह महल किसका है? बड़ा है महल। निश्चित ही, जिसमें हजार नौकर हों, तो महल बड़ा होगा।
दरवाजे पर जो नौकर मिल जाता है पूछने वाले को, वह कहता है, मैं हूं। आई
दि मास्टर, मैं हूं मालिक। यात्री कभी फिर लौटता है, तो कोई दूसरा नौकर बाहर मिल जाता है। वह उससे पूछता है, यह मकान किसका है? वह कहता है, आई एम दि मास्टर, मैं हूं मालिक। सारे लोग चकित हैं कि मालिक कौन है? क्योंकि कभी कोई मालिक मालूम पड़ता है, कभी कोई मालिक मालूम पड़ता है! असली मालिक सोया हुआ है।
गुरजिएफ कहता था, आम आदमी की हालत इस मकान की तरह है। असली मालिक सोया हुआ है। और इंद्रियों में जो ऊपर होता है, वृत्तियों में जो ऊपर होता है, वासना में जो ऊपर होता है, वह कहता है, आई एम दि मास्टर।
जब आप क्रोध में होते हैं, तो आपको पता है, क्रोध कहता है, मैं हूं मालिक। जब आप प्रेम में होते हैं, तो प्रेम कहता है, मैं हूं मालिक। सुबह किसी के प्रति प्रेम से भरे थे, तो कहा कि जान लगा दूंगा तेरे लिए। और सांझ उसी की जान ले ली! क्योंकि सुबह प्रेम मालिक था, सांझ घृणा मालिक हो गई! नौकर इधर-उधर हो गए।
सांझ को तय करता है आदमी, सुबह चार बजे उठ आऊंगा। सुबह चार बजे वही आदमी करवट बदलकर कहता है, आज रहने दो; फिर देखेंगे। सुबह आठ बजे उठकर फिर पछताता है वही आदमी, कि मैंने तो कसम खाई थी, उठा क्यों नहीं? अब पक्का उठूंगा। कल तो कसम है। फिर कल चार बजते हैं। वही आदमी दुलाई के भीतर करवट लेता है। कहता है, रहने भी दो; ऐसी क्या जल्दी है। फिर उठ जाएंगे; कल उठ आएंगे। सुबह आठ बजे वही आदमी फिर पछताता है। बात क्या है?
जिस आदमी ने सांझ तय किया कि सुबह चार बजे उठेंगे, वह दूसरा हिस्सा था
मन का। सुबह चार बजे दूसरा हिस्सा सामने था मकान का। उसने कहा, आई एम दि मास्टर; सोए रहो, कोई जल्दी नहीं है। सुबह आठ बजे तीसरा नौकर सामने था, उसने कहा, बड़ा बुरा काम किया, यह ठीक नहीं है, तय करना और बदल जाना। फिर तय करो। मगर भीतर जो असली मालिक है, वह सोया हुआ है।
नौकर--इंद्रियां, वृत्तियां, वासनाएं मालिक हो जाती हैं। जो जब मौका
पा जाता है, हमारी छाती पर बैठ जाता है। जब लोभ हमारे ऊपर बैठता है, तो ऐसा लगता है, लोभ ही हमारी आत्मा है। जब क्रोध हम पर सवार होता है, तो ऐसा लगता है कि क्रोध ही मैं हूं। जब प्रेम हम पर सवार होता है, तो लगता है, बस प्रेम ही सब कुछ है। जो हमें पकड़ लेता है भूत-प्रेत की भांति, जो वृत्ति हम पर हावी हो जाती है, बस हम उसके हाथ के खिलौने हो जाते हैं। असली मालिक का कोई भी पता नहीं है।
योग का अर्थ है, असली मालिक का जग आना; नौकरों के बीच मालिक को सिंहासन-आरूढ़ करना। योग का अर्थ है--शब्द का भी--इंटीग्रेशन। योग शब्द का अर्थ है, इंटीग्रेशन; योग शब्द का अर्थ है, जोड़। व्यक्ति जुड़ा हुआ हो; खंड-खंड नहीं, अखंड; एक हो। और जब कभी व्यक्ति एक होता है, तो सब नौकर तत्काल सिर झुकाकर मालिक के सामने खड़े हो जाते हैं। फिर कोई नौकर नहीं कहता कि मैं मालिक हूं।
योगस्थ चेतना तत्काल समस्त इंद्रियों की मालिक हो जाती है। फिर इंद्रियां नौकर की तरह पीछे चलती हैं। छाया की तरह। मालकियत उनकी खो जाती है।
तो कृष्ण इस चौथे चरण में कहते हैं कि योग यज्ञ भी है अर्जुन! यह चेतना कैसे जगे! यह सोया हुआ मालिक कैसे उठे! यह आदमी क्रिस्टलाइज्ड कैसे हो, एक कैसे हो, इकट्ठा कैसे हो!
तो योग की हजारों प्रक्रियाएं हैं, जिनके द्वारा सोए हुए मालिक को उठाया जाता है। मैं एक छोटा-सा गुरजिएफ का उदाहरण दूं, ताकि ख्याल आ सके।

गुरजिएफ तिफलिस के गांव के पास ठहरा हुआ है कुछ मित्रों को लेकर। और उसने उनको कहा है कि मैं तुमसे एक प्रयोग करवा रहा हूं, स्टाप एक्सरसाइज।
मैं जब कहूं, स्टाप, रुको, तो तुम रुक जाना जैसे भी होओ। अगर तुमने एक पैर ऊपर उठाया है चलने के लिए, तो वह पैर फिर वहीं रह जाए। फिर बेईमानी मत करना; क्योंकि बेईमानी तुम्हारे अपने साथ होगी। नीचे मत रखना, वहीं रुक जाना। गिर जाओ भला, लेकिन सचेतन, अपनी तरफ से पैर वहीं रखना। गिर जाओ, दूसरी बात। लेकिन तुम पैर नीचे मत टिकाना। मुंह खोला है बोलने को, तो फिर खुला ही रह जाए, जब कहा, स्टाप। हाथ उठाया काम के लिए, हाथ वहीं रह जाए। आंख खुली थी, तो खुली रह जाए, फिर पलक न झपे।
इसका वह महीनों से प्रयोग करवा रहा था। क्या मतलब है इसका? इसका मतलब इतना ही है कि यह प्रक्रिया तभी हो सकती है, जब मालिक जगे, अन्यथा नहीं हो सकती। और इस प्रक्रिया को किसी को करना है, तो उसके भीतर का मालिक जगना शुरू हो जाएगा।
हां, नौकर धोखा देंगे। आपने पैर उठाया और गुरजिएफ ने कहा, स्टाप। तो
मन कहेगा, वह देख तो नहीं रहा है, उसकी पीठ उस तरफ है। यह पैर नीचे रख ले। नाहक परेशान हो जाएगा। अगर उसकी मान ली, मन की, और पैर नीचे रख लिया, तो मालिक सोया रहेगा। लेकिन अगर कह दिया कि नहीं; पैर अब ऐसा ही रहेगा; तो मन हारा। और जब मन हारता है, तभी मन के पीछे जो छिपी शक्ति है, वह जीतती है। मन की हार स्वयं की जीत बन जाती है। नौकरों का हारना, मालिक का जगना हो जाता है। जब तक नौकर जीतते रहते हैं, मालिक को खबर ही नहीं लगती कि हारने की हालत पैदा हो गई है महल में। जब नौकर हार जाते हैं, तो मालिक को उठना पड़ता है।
तो गुरजिएफ यह प्रयोग करा रहा था। पास ही एक बड़ी नहर थी। सूखी थी, अभी पानी छूटा नहीं था। एक दिन सुबह वह अपने तंबू में था। तीन-चार लोग नहर पार कर रहे थे। कोई लकड़ी काटने जा रहा था, कोई जंगल गया था, कोई कुछ कर रहा था। जोर से तंबू के बाहर आवाज गूंजी, स्टाप! चार लोग नहर पार कर रहे थे। सूखी नहर थी। वे वहीं रुक गए। रुके नहीं कि दो क्षण बाद नहर में पानी छोड़ दिया गया। घबड़ाए!
एक ने लौटकर देखा कि गुरजिएफ तो तंबू के भीतर है, उसे पता भी नहीं है
कि हम नहर में खड़े हैं। पानी छूट गया है। वह निकलकर बाहर आ गया। उसने कहा, स्टाप का मतलब कोई मरना तो नहीं है! तीन खड़े रहे। पानी और बढ़ा। कमर तक पानी हो गया, तब एक ने लौटकर देखा। उसने देखा कि अब तो जान जाने का खतरा है। यह पानी ऊपर बढ़ता जा रहा है। अब कोई अर्थ नहीं है। कपड़े भी भीगे जा रहे हैं। कोई सार नहीं है। वह बाहर निकल आया। दो फिर भी खड़े रहे। पानी और ऊपर बढ़ा, गर्दन, ओंठ--और तीसरा भी छलांग लगाकर बाहर हो गया। उसने कहा, अब तो सांस का खतरा है। लेकिन चौथा फिर भी खड़ा रहा। स्टाप यानी स्टाप। जब ठहर गए, तो ठहर गए।
मन ने जरूर कहा होगा, पागल है। मर जाएगा। जिंदगी गंवा देगा। बाहर निकल जा। तीन साथी बाहर निकल गए, उनमें भी बुद्धि है। वे भी साधना कर रहे हैं। तू ही कोई साधना नहीं कर रहा है। लेकिन नहीं; खड़ा ही रहा।
फिर पानी नाक को डुबा गया। फिर आंख को डुबा गया। फिर पानी की लहर सिर
को डुबा गई। और गुरजिएफ भागा तंबू के बाहर। कूदा नहर में, उस युवक को बाहर निकालकर लाया। वह करीब-करीब बेहोश था। पानी भर गया था। पानी निकाला। वह युवक होश में आया और गुरजिएफ के चरणों पर गिर पड़ा। उसने कहा, मैंने तो कभी सोचा भी न था कि अगर मैं इतना बल दिखाऊंगा, तो मेरे भीतर का सोया मालिक जग जाएगा! मैंने मृत्यु के इस क्षण में अमृत को भी जान लिया है।
योग का अर्थ है, भीतर जो सोया है, उस पर चोट करनी है, उसे उठाने के लिए चोट करनी है। हजार रास्ते हैं उस पर चोट करने के। हठयोग के अपने रास्ते हैं, राजयोग के अपने रास्ते हैं, मंत्रयोग के अपने रास्ते हैं, तंत्र के अपने रास्ते हैं। हजार-हजार विधियां हैं, जिन विधियों से उस सोई हुई चेतना में जो भीतर केंद्र पर प्रसुप्त है, उसे जगाने की कोशिश की जाती है।
जैसे कोई आदमी सोया हो, उसे जगाने के बहुत रास्ते हो सकते हैं। कोई उसका नाम लेकर जोर से पुकार सकता है; तो उठ आए। कोई उसका नाम लेकर न पुकारे,

सिर्फ चिल्लाए कि मकान में आग लग गई है, और वह आदमी उठ आए। कोई मकान में आग लगने की बात भी न करे, सिर्फ संगीत बजाए, और वह आदमी उठ आए। कोई संगीत भी न बजाए, सिर्फ तेज रोशनी उसकी बंद आंखों पर डाले, और वह आदमी उठ आए। ऐसे योग के हजार रास्ते हैं, जिनसे भीतर सोई हुई कांशसनेस को, चेतना को चोट की जाती है। और उस चोट से वह जग आता है। एक-दो उदाहरण के लिए आपसे कहूं, क्योंकि वह तो बहुत-बहुत लंबी बात है।
जैसे ओम शब्द से हम परिचित हैं। वह भीतर सोए हुए आदमी को जगाने के लिए मंत्रयोग की विधि है। अगर कोई व्यक्ति जोर से ओम का नाद करे भीतर, तो उसकी नाभि के पास जोर से चोट होने लगती है। नाभि जीवन-ऊर्जा का केंद्र है। नाभि से ही बच्चा मां से जुड़ा होता है। नाभि के द्वारा ही मां से जीवन पाता है। फिर नाभि कटती है अलग, तो बच्चा अलग होता है। नया जीवन शुरू होता है।
कभी आपने ख्याल शायद किया हो, न किया हो; साइकिल चला रहे हों, कार चला रहे हों, अगर एकदम से एक्सिडेंट होने की हालत हो जाए, तो सबसे पहले चोट नाभि पर पड़ती है। साइकिल पर चले जा रहे हैं; एकदम से कोई सामने आ गया, ब्रेक मारा। तो आपके शरीर में जो चोट पड़ेगी, वह नाभि पर पड़ेगी। एकदम से नाभि पर चोट पड़ जाएगी। खतरा आ गया! खतरे की हालत में जीवन-ऊर्जा को जगने का मौका आ जाता है।
ओम ऐसी ध्वनि है, जिसके माध्यम से भीतर से नाभि पर चोट की जाती है। आप
ओम की गूंज करें भीतर, तो नाभि पर चोट पड़ने लगती है। हलकी-हलकी पड़ती है पहले, फिर तेज होती जाती है। फिर और तेज होती जाती है। फिर ओंकार का शब्द जाकर नाभि पर हथौड़े की तरह पड़ने लगता है, और वह सोई हुई जो चेतना है, उसे जगाता है।
अब यह बड़े मजे की बात है। ओम में अ, उ और म हैं। म आप जोर से कहें, तो नाभि पर फौरन कंपन होगा। इस्लाम के पास शब्द है, अल्लाह। सूफी फकीर ओम की तरह अल्लाह शब्द का प्रयोग करते हैं। अल्लाह, तो ह की चोट वहीं पड़ती है, जहां म की पड़ती है। अल्लाहू, तो हू की चोट ठीक वहीं पड़ती है नाभि पर, जहां ओम की पड़ती है। अब अल्लाह और ओम बिल्कुल अलग-अलग शब्द हैं। लेकिन प्रयोजन एक है, और परिणाम एक है। अर्थ भी एक है। सूफी फकीर अल्लाह से शुरू करता है। अल्लाह, फिर लाह, फिर लाहू। और फिर हू ही रह जाता है। और हू की चोट नाभि पर पड़ती है। और नाभि पर सोया हुआ मालिक जगना शुरू होता है।
हजार विधियों से योग सोए हुए मालिक को जगाता है। और उस सोए हुए मालिक
के जगते ही व्यक्तित्व में इंटीग्रेशन, योग पैदा हो जाता है। खंड इकट्ठे हो जाते हैं। बाजार समाप्त हो जाता है। पंक्तिबद्ध सैनिक खड़े हो जाते हैं। फिर व्यक्तित्व आज्ञा मानता है। बाजार की भीड़ में कोई आज्ञा नहीं मानता। मानने का कोई सवाल भी नहीं है। न कोई आज्ञा देने वाला होता है, न कोई मानने वाला होता है।
योगस्थ व्यक्ति अंतर-अनुशासन से भर जाता है, इनर डिसिप्लिन से भर जाता है। एक भीतरी अनुशासन पैदा हो जाता है। फिर वह जो करना चाहता है, वही करता है। जो नहीं करना चाहता है, नहीं करता है। और जैसे ही भीतर का व्यक्ति जागा कि अब तक मैंने जो बातें कहीं, उनसे जो परिणाम होता है, वही इससे भी हो जाता है।
स्वाध्याय से जो होता है, स्वधर्म से जो होता है, अंतर्वाणी से जो होता है, अहिंसादिक प्रयोग करने से जो चेतना जगती है, वही योग की विधियों से, मेथडॉलाजी से भी परिणाम हो जाता है।
इस परिणाम को योग के मार्ग से लाने की बहुत अनंत विधियां हैं। और एक-
एक व्यक्ति को देखकर कि उसके लिए कौन-सी विधि सार्थक होगी, प्रयोग किया जाता है।
अब जिस व्यक्ति का नाद कमजोर है या जिस व्यक्ति को नाद का कोई बोध ही नहीं है... ।
सब व्यक्तियों का नाद-बोध अलग है। आप रास्ते से गुजरें, जिसका नाद-बोध तीव्र है, उसे छोटे-से पक्षी की चहचहाहट भी सुनाई पड़ती है। आपका नाद-बोध तीव्र नहीं है, तो आपको कभी नहीं सुनाई पड़ती कि पक्षी भी चहचहा रहे हैं।

जिसका नाद-बोध तीव्र है, उसे मंत्रयोग से जगाने की कोशिश की जाती है। जिसका दृष्टि-बोध तीव्र है, उसे त्राटक, एकाग्रता के। अनंत-अनंत प्रयोग हैं, उनसे जगाने की कोशिश की जाती है। यह व्यक्ति पर निर्भर करेगा कि उसका बोध कौन-सा सर्वाधिक तीव्र है। उसके तीव्र बोध के ही मार्ग से उसे गहरे ले जाया जा सकता है। जिनका रंग-बोध तीव्र है, उन्हें रंग के द्वारा भी मार्ग मिल सकता है। लेकिन यह व्यक्ति पर निर्भर करेगा।
कृष्ण कहते हैं, योग के द्वारा भी अर्जुन, योग-यज्ञ के द्वारा भी व्यक्ति परमसत्ता को उपलब्ध हो जाता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। 29।।
और दूसरे योगीजन अपान वायु में प्राण वायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं तथा अन्य योगीजन प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम के परायण होते हैं।

योग का एक और आयाम इस सूत्र में कृष्ण कहते हैं।
मनुष्य के पास अस्तित्व से जुड़े होने के बहुत द्वार हैं; एक द्वार नहीं, अनंत द्वार हैं। हम परमात्मा से बहुत-बहुत भांति से जुड़े हुए हैं। जैसे एक वृक्ष एक ही जड़ से नहीं जुड़ा होता पृथ्वी से, बहुत जड़ों से जुड़ा होता है। ऐसे हम भी अस्तित्व से बहुत जड़ों से जुड़े हुए हैं, एक ही जड़ से नहीं। और इसलिए अस्तित्व तक पहुंचने के लिए किसी भी एक जड़ के सहारे हम प्रवेश कर सकते हैं।
अभी मैंने कहा कि जीवन-ऊर्जा नाभि पर इकट्ठी है; यह एक द्वार है। जीवन-ऊर्जा प्राण पर भी संचालित है; श्वास पर भी। श्वास चलती है, तो हम कहते हैं, व्यक्ति जीवित है। श्वास गई, तो हम कहते हैं, व्यक्ति भी गया। श्वास पर सब खेल है। श्वास से ही शरीर और आत्मा जुड़ी है। श्वास सेतु है। इसलिए श्वास पर भी प्रयोग करके योगीजन उस परम अनुभूति को उपलब्ध हो पाते हैं।
श्वास या प्राण, उसका अपना प्राणयोग है। इसके भी बहुत-बहुत रूप हैं। संक्षिप्त में, थोड़ा-सा सारभूत प्राणयोग के संबंध में दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी चाहिए।
एक तो, श्वास की गति मनोदशा से बंधी है। जैसा होता मन, वैसी हो जाती श्वास की गति। जैसी होती अंतर-स्थिति, श्वास के आंदोलन और तरंगें, वाइब्रेशंस, फ्रीक्वेंसीज बदल जाती हैं। श्वास की फ्रीक्वेंसी, श्वास की तरंगों का आघात खबर देता है, मन की दशा कैसी है।
अभी तो मेडिकल साइंस उसकी फिक्र नहीं कर पाई, क्योंकि अभी मेडिकल साइंस शरीर के पार नहीं हो पाई है! इसलिए अभी प्राण पर उसकी पहचान नहीं हो पाई। लेकिन जैसे मेडिकल साइंस खून की गति को नापती है; रक्तचाप को, ब्लडप्रेशर को, खून के दबाव को नापती है। जब तक पता नहीं था, तब तक कोई खून के दबाव का सवाल नहीं था। रक्तचाप नई खोज है। रक्त का परिभ्रमण भी नई खोज है।
तीन सौ साल पहले किसी को पता नहीं था कि शरीर में खून चलता है। ख्याल
था कि भरा हुआ है। चलता है, ऐसा ख्याल नहीं था, भरा हुआ है। जैसे बाल्टी में पानी भरा हुआ है, ऐसा आदमी में खून भरा हुआ है। उसमें परिभ्रमण हो रहा है, चल रहा है, इसका पता नहीं था। पता होता भी कैसे? क्योंकि हमें भीतर तो पता चलता नहीं कि खून चल रहा है।
खून के चलने का पता तीन सौ साल पहले ही लग पाया। और जब खून के चलने का पता लगा, तो यह भी पता लगा धीरे-धीरे कि खून का जो चाप है, जो प्रेशर है, वह व्यक्ति के स्वास्थ्य के गहरे अंगों से जुड़ा हुआ है। इसलिए ब्लडप्रेशर चिकित्सक के लिए नापने की खास चीज हो गई।
लेकिन अभी तक भी हम यह नहीं जान पाए कि जैसे ब्लडप्रेशर है, वैसा ब्रेथप्रेशर भी है, वैसा ही वायुचाप भी है। वैसे वायु का अधिक दबाव और कम दबाव, वायु की गति और तरंगों का आघात-भेद, व्यक्ति की अंतर मनोदशा को

परिवर्तित करता है। वह उसकी जीवन-ऊर्जा से संबंधित है। थोड़ी-सी बातें आपको कहूं, तो ख्याल में आ जाएगा।
जब आप क्रोध में होते हैं, तो आप ख्याल करना, आपकी श्वास की गति बदल जाती है। वैसी ही नहीं रह जाती, जैसी साधारण होती है। क्यों? क्रोध में श्वास की गति बदलने की क्या जरूरत है? इसका मतलब यह भी कि अगर आप श्वास की गति पर काबू पा लें, तो आप फिर क्रोध पर काबू पा सकते हैं। अगर न बदलने दें श्वास की गति, तो क्रोध आना मुश्किल हो जाएगा।
इसलिए जापान में वे बच्चों को घरों में सिखाते हैं। वह प्राणयोग का
ही एक सूत्र है। वे बच्चों को यह नहीं कहते कि तुम क्रोध मत करो। और मैं मानता हूं कि जापानी इस मामले में सर्वाधिक होशियार हैं और सबसे कम क्रोध करते हैं। सबसे ज्यादा मुस्कुराती कौम हैं। और राज प्राणयोग का एक सूत्र है।
मां-बाप बच्चों को परंपरा से घर में यह सिखाते हैं कि जब क्रोध आए, तब तुम श्वास को आहिस्ता लो, धीमे-धीमे लो। गहरी लो और धीमे लो। स्लोली एंड डीप, धीमे और गहरी। बच्चों को वे यह नहीं कहते कि क्रोध मत करो, जैसा कि हम कहते हैं।
सारी दुनिया कहती है, क्रोध मत करो। क्रोध न करना, हाथ की बात नहीं है इतनी कि आपने कह दिया और बच्चा न करे। और मजा तो यह है कि जो बाप बच्चे को कह रहा है, क्रोध मत करो, अगर बच्चा न माने तो बाप ही क्रोध करके बता देता है कि नहीं मानता! इतना कहा कि क्रोध मत कर! वह भूल ही जाता है कि अब हम खुद ही वही कर रहे हैं, जो हम उसको मना किए थे।
क्रोध इतना हाथ में नहीं है, जितना लोग समझते हैं कि क्रोध मत करो। क्रोध इतना वालंटरी नहीं है, नान वालंटरी है। इतना स्वेच्छा में नहीं है, जितना लोग समझते हैं। इसलिए शिक्षा चलती रहती है; कुछ अंतर नहीं पड़ता है! जापान ज्यादा ठीक समझा। योग का पुराना सूत्र, बुद्ध के द्वारा जापान पहुंचा। बुद्ध ने श्वास पर बहुत जोर दिया। बुद्ध का सारा योग, कृष्ण जो इस सूत्र में कह रहे हैं, प्राणयोग है।
इसलिए बुद्ध के सूत्र की गहरी बात अनापानसती योग कही जाती है। आती- जाती श्वास को देखना ही योग है, बुद्ध ने कहा। अगर कोई आती-जाती श्वास के राज को पूरा समझ ले, तो फिर उसको दुनिया में और कुछ करने को नहीं रह जाता। इसलिए बुद्ध तो कहते हैं, अनापानसती योग सध गया कि सब सध गया। बात ठीक कहते हैं। उधर से भी सब सध जा सकता है।
क्रोध आता है, तब आप देखें कि श्वास बदल जाती है। जब आप शांत होते हैं,
तब श्वास बदल जाती है, रिदमिक हो जाती है। आप आरामकुर्सी पर भी लेटे हैं, शांत हैं, मौज में हैं, चित्त प्रसन्न है, पक्षियों जैसा हलका है, हवाओं जैसा ताजा है, आलोकित है। तब देखें, श्वास ऐसी हो जाती है, जैसे हो ही नहीं। पता ही नहीं चलता। बहुत हलकी हो जाती है; न के बराबर हो जाती है।
देखें, जब कामवासना मन को पकड़ती है, सेक्स मन को पकड़ता है, तो श्वास कैसी हो जाती है? श्वास एकदम अस्तव्यस्त हो जाती है। रक्तचाप बढ़ जाता है, जब कामवासना मन में आंदोलित होती है। रक्तचाप बढ़ जाता है; शरीर पसीना छोड़ने लगता है, श्वास तेज हो जाती है और अस्तव्यस्त हो जाती है, टूट-फूट जाती है।
प्रत्येक समय भीतर की स्थिति के साथ श्वास जुड़ी है। अगर कोई श्वास में बदलाहट करे, तो भीतर की स्थिति में बदलाहट की सुविधा पैदा करता है, और भीतर की स्थिति पर नियंत्रण लाने का पहला पत्थर रखता है।
प्राणयोग का इतना ही अर्थ है कि श्वास बहुत गहरे तक प्रवेश किए हुए है, वह हमारी आत्मा को भी छूती है। एक तरफ शरीर को स्पर्श करती है, दूसरी तरफ आत्मा को स्पर्श करती है। एक तरफ जगत को छूती है बाहर, और दूसरी तरफ भीतर ब्रह्म को भी छूती है। श्वास दोनों के बीच आदान-प्रदान है--पूरे समय, सोते-जागते, उठते-बैठते। इस आदान-प्रदान में श्वास का रूपांतरण प्राणयोग है, ट्रांसफार्मेशन आफ दि ब्रीदिंग प्रोसेस। वह जो प्रक्रिया है हमारे श्वास की, उसको बदलना। और उसको बदलने के द्वारा भी व्यक्ति परमसत्ता को उपलब्ध हो सकता है।

जो लोग भी ध्यान का कभी थोड़ा अनुभव किए हैं, उनको पता है। मेरे पास निरंतर लोग ध्यान के प्रयोग के बाद आते हैं। जो गहरा प्रयोग करते हैं, वे कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि श्वास बंद हो गई, चलती ही नहीं! तो हम बहुत घबड़ा जाते हैं कि इससे कुछ खतरा तो न हो जाएगा।
घबड़ाने की जरा भी जरूरत नहीं है। घबड़ाएं तब, जब श्वास बहुत जोर से चले, अस्तव्यस्त, तब घबड़ाएं। जब बिल्कुल लगे कि ठहर गई, जब लगे कि श्वास का कंपन ही नहीं है, तब आप उस बैलेंस को, उस संतुलन को उपलब्ध होते हैं, जिसकी कृष्ण चर्चा कर रहे हैं। तब ऊपर की श्वास ऊपर और नीच की नीचे रह जाती है। बाहर की बाहर और भीतर की भीतर रह जाती है। और एक क्षण के लिए ठहराव आ जाता है। सब ठहर जाता है। न तो बाहर की श्वास भीतर जाती, न भीतर की श्वास बाहर आती। न ऊपर की श्वास ऊपर जाती, न नीचे की श्वास नीचे जाती। सब ठहर जाता है।
श्वास के इस ठहराव के क्षण में परम अनुभव की किरण उत्पन्न होती है। श्वास के इस पूरे ठहर जाने में अस्तित्व पूरा संतुलित हो जाता है, संयम को उपलब्ध हो जाता है। फिर कोई मूवमेंट नहीं, आंदोलन नहीं। फिर कोई परिवर्तन नहीं। फिर कोई हेर-फेर नहीं, बदलाहट नहीं, कोई गति नहीं। उस क्षण में आदमी परमगति में उतर जाता है या शाश्वत में डूब जाता है या इटरनल, सनातन से संपर्क साध लेता है।
श्वास का आंदोलन हमारा परिवर्तनशील जगत से संबंध है। श्वास का आंदोलनरहित हो जाना, हमारा अपरिवर्तनशील नित्य जगत से संबंधित हो जाना है।
इसलिए श्वास का यह ठहर जाना बड़ी अदभुत अनुभूति है। कोशिश करके ठहराने
की जरूरत भी नहीं है। क्योंकि कोशिश करके कभी नहीं ठहरा सकते। अगर आप कोशिश करके ठहराएंगे, तो भीतर की श्वास बाहर जाना चाहेगी, बाहर की श्वास भीतर जाना चाहेगी।
कोशिश करके कोई व्यक्ति श्वास को रोक नहीं सकता। हां, श्वास को आहिस्ता-आहिस्ता प्रशिक्षित किया जा सकता है, रिदमिक किया जा सकता है, तैयार किया जा सकता है लयबद्धता के लिए। और साथ में अगर कोई ध्यान में गहरा उतरता चला जाए, प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान में गहरा उतरता चला जाए, तो एक क्षण ऐसा आ जाता है कि प्रशिक्षित श्वास और ध्यान की शांत स्थिति का कभी मेल, ट्यूनिंग हो जाती, तो श्वास ठहर जाती है।
और भी एक मजे की बात कि जब श्वास ठहरती है, तब तत्काल विचार ठहर जाते हैं। बिना श्वास के विचार नहीं चल सकते। इसे जरा देखें, कभी ऐसे ही एक सेकेंड को श्वास को ठहराकर। अभी यहीं एक सेकेंड श्वास ठहराएं। इधर श्वास ठहरी, भीतर विचार ठहरे, एकदम ब्रेक! श्वास बिल्कुल ब्रेक का काम करती है विचार पर।
लेकिन जब आप ठहराते हैं, तब ज्यादा देर नहीं ठहर सकती। श्वास भी निकलना चाहेगी और विचार भी हमला करना चाहेंगे। क्षणभर को ही गैप आएगा। लेकिन जब श्वास, प्रशिक्षित श्वास ध्यान के संयोग से अपने आप ठहर जाती है, तो कभी-कभी घंटों ठहरी रहती है।
रामकृष्ण के जीवन में ऐसे बहुत मौके हैं। कभी-कभी तो ऐसा हुआ है कि वह छः-छः दिन तक ऐसे पड़े रहते कि जैसे मर गए! प्रियजन घबड़ा जाते, मित्र घबड़ा जाते, कि अब क्या होगा, क्या नहीं होगा! सब ठहर जाता। उस ठहरे हुए क्षण में, इन दैट स्टिल मोमेंट, उस ठहरे हुए क्षण में, चेतना समय के बाहर चली जाती, कालातीत हो जाती।
विचार के बाहर हुए, निर्विचार में गए, ब्रह्म के द्वार पर खड़े हैं। विचार में आए, विचार में पड़े, कि संसार के बीच आ गए हैं। संसार और मोक्ष के बीच पतली-सी विचार की पर्त के अतिरिक्त और कोई फासला नहीं है। पदार्थ और परमात्मा के बीच पतले, झीने विचार के पर्दे के अतिरिक्त और कोई पर्दा नहीं है। लेकिन यह विचार का पर्दा कैसे जाए?
दो तरह से जा सकता है। या तो कोई सीधा विचार पर प्रयोग करे ध्यान का, साक्षी-भाव का, तो विचार चला जाता है। जिस दिन विचार शून्य होता है, उसी दिन श्वास भी शांत होकर खड़ी रह जाती है। या फिर कोई प्राणयोग का प्रयोग करे, श्वास का। श्वास को गति दे, व्यवस्था दे, प्रशिक्षण दे; और ऐसी जगह ले

आए, जहां श्वास अपने आप ठहर जाती है--बाहर की बाहर, भीतर की भीतर, ऊपर की ऊपर, नीचे की नीचे। और बीच में गैप, अंतराल आ जाता है; खाली, वैक्यूम हो जाता है, जहां श्वास नहीं होती। वहीं से छलांग, दि जंप। उसी अंतराल में छलांग लग जाती है परमसत्ता की ओर।

प्रश्नः भगवान श्री, प्राण क्या है और अपान क्या है? अपान में प्राण
का हवन क्या है और प्राण में अपान का हवन क्या है? इसे फिर से स्पष्ट करें।

जो हमारे भीतर है, वह भी बाहर का हिस्सा है। अभी मेरे भीतर एक श्वास है। थोड़ी देर पहले आपके पास थी, आपकी थी। और थोड़ी देर पहले किसी वृक्ष के पास थी, वृक्ष की थी। और थोड़ी देर पहले कहीं और थी। अभी मेरे भीतर है। मैं कह भी नहीं पाया कि मेरे भीतर है, कि गई बाहर।
जो हमारे भीतर है, उसको अगर हम बाहर के प्राण-जगत में समर्पित कर दें, जानें कि वह भी दे दी बाहर को, तो भीतर कुछ बच नहीं रह जाता। सब शून्य हो जाता है। एक समर्पण यह है। भीतर की श्वास को, वह जो बाहर विराट प्राण का जाल फैला है वायुमंडल में, उसमें समर्पित कर दें, उसमें होम दे दें, उसमें चढ़ा दें। या इससे उलटा भी कर सकते हैं। वह जो बाहर का सारा प्राण-जगत है, वह भी तो मेरे भीतर का ही हिस्सा है बाहर फैला हुआ। अगर हम उस बाहर के प्राण-जगत को इस भीतर के प्राण-जगत को समर्पित कर दें, तो भी एक ही घटना घट जाती है। बूंद सागर में गिर जाए, कि सागर बूंद में गिर जाए।
बूंद का सागर में गिरना तो हमारी समझ में आता है, क्योंकि हमने सागर में बूंद को गिरते देखा है। सागर का बूंद में गिरना हमारी समझ में नहीं आता। लेकिन अगर आइंस्टीन के संबंध में कुछ भी ख्याल हो, तो समझ आ में सकता है।
जब एक बूंद सागर में गिरती है, तो यह बिल्कुल रिलेटिव बात है, यह बिल्कुल सापेक्ष बात है। आप चाहें तो कह सकते हैं कि बूंद सागर में गिरी; और आप चाहें तो कह सकते हैं कि सागर बूंद में गिरा। आप कहेंगे, कैसी बात है यह!
मैं पूना आया। तो मैं कहता हूं, मैं पूना आया, ट्रेन बंबई से मुझे पूना
तक लाई। आइंस्टीन कहते हैं कि यह सापेक्ष है, यह कामचलाऊ बात है। इससे उलटा भी कह सकते हैं कि ट्रेन मेरे पास पूना को लाई। ऐसा भी कह सकते हैं कि ट्रेन मुझे पूना तक लाई; ऐसा भी कह सकते हैं कि ट्रेन पूना को मुझ तक लाई। इन दोनों में कोई बहुत फर्क नहीं है।
लेकिन हम छोटे-छोटे हैं, तो ऐसा कहना अजीब-सा लगेगा कि ट्रेन पूना को मुझ तक लाई; यही कहना ठीक मालूम पड़ता है कि मुझे ट्रेन पूना तक लाई। लेकिन दोनों बातें कही जा सकती हैं। कोई अंतर नहीं है। ट्रेन जो काम कर रही है, वे दोनों ही बातें कही जा सकती हैं।
तो या तो हम भीतर के प्राण को बहिर्प्राण पर समर्पित कर दें, बूंद को सागर में गिरा दें। या हम सागर को बूंद में गिरा लें, या हम बाहर के समस्त प्राण को भीतर गिरा लें। दोनों ही तरह हवन पूरा हो जाता है। दोनों ही तरह यज्ञ पूरा हो जाता है।
इसे कैसे गिराया जाए, वह मैंने जानकर छोड़ दिया। जानकर छोड़ा इसीलिए कि
वह सब योग की बहुत सूक्ष्म प्रक्रियाएं हैं, जिनका सीधा कोई प्रयोजन नहीं है। वह तो पतंजलि के योग-शास्त्र पर बात हो, तभी विस्तार से उनकी बात हो सकती है।
एक आखिरी श्लोक और ले लें।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। 30।।
और दूसरे नियमित आहार करने वाले योगीजन प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। इस प्रकार यज्ञों द्वारा नाश हो गया है पाप जिनका, ऐसे ये सब ही पुरुष
यज्ञों को जानने वाले हैं।

इसमें भी योग की दूसरी और प्रक्रिया का उल्लेख कृष्ण ने किया। वे प्रत्येक प्रक्रिया का उल्लेख करते जा रहे हैं। अर्जुन को जो भा जाए, जो प्रीतिकर लगे, जो रुचिकर बने। अर्जुन के टाइप को जो अनुकूल पड़ जाए।
इसमें वे कहते हैं, नियमित, संयमित आहार करने वाले पुरुष प्राण को प्राण में ही होम करते हैं। नियमित, संयमित आहार!
अब यह आहार बड़ा शब्द है और बड़ी घटना है। साधारणतः हम सोचते हैं कि भोजन आहार है। साधारणतः ठीक सोचते हैं। लेकिन आहार के और व्यापक अर्थ हैं।
आहार का मूल अर्थ होता है, जो भी बाहर से भीतर लिया जाए। आहार का अर्थ होता है, जो भी बाहर से भीतर लिया जाए। भोजन एक आहार है; आहार ही नहीं, सिर्फ एक आहार। क्योंकि भोजन को हम बाहर से भीतर लेते हैं। लेकिन आंख से भी हम चीजों को भीतर लेते हैं; वह भी आहार है। कान से भी हम चीजों को भीतर लेते हैं; वह भी आहार है। स्पर्श से भी हम चीजों को भीतर लेते हैं; वह भी आहार है।
शरीर के भीतर जो भी हम बाहर से लेते हैं, वह सब आहार है। जो भी हम रिसीव करते हैं बाहर से, जिसके हम ग्राहक हैं, जिसे भी हम बाहर से भीतर ले जाते हैं, वह सब आहार है।
संयमित, नियमित आहार का मतलब हुआ, जो व्यक्ति अपने इंद्रियों के द्वार से उसे ही भीतर ले जाता--उसे ही भीतर ले जाता--जो प्राणों को प्राणों में समर्पित होने में सहयोगी है। हम इस तरह की चीजें भी भीतर ले जा सकते हैं, जो प्राणों को प्राणों में समाहित न होने दें, बल्कि प्राणों को उद्वेलित करें, उत्तेजित करें, विक्षिप्त करें।
दो तरह के आहार हो सकते हैं। ऐसा आहार, जो प्राणों को उत्तेजित करे-- शांत नहीं, मौन नहीं, निस्पंद नहीं--आंदोलित करे, पागल बनाए, दौड़ाए। और जब प्राण दौड़ते हैं, तो फिर बाहर की तरफ, विषयों की तरफ दौड़ जाते हैं। और जब प्राण नहीं दौड़ते, ठहरते हैं, विश्राम करते हैं, विराम करते हैं, तो फिर प्राण महाप्राण में लीन हो जाते हैं। जैसे लहर जब दौड़ती है, तो सागर में लीन नहीं होती; वायुमंडल की तरफ छलांगें भरती है; आकाश की तरफ हवाओं में टक्कर लेती है, उछलती है, चट्टानों से किनारे की टकराती है, टूटती है। लेकिन जब लहर शांत होती है, तो लहर सागर में लीन हो जाती है।
आहार दो तरह के हो सकते हैं। प्राणों को उत्तेजित करें। हम ऐसे ही आहार लेते हैं, जो उत्तेजित करें। एक आदमी शराब पी लेता है, तो फिर प्राण प्राण में लीन नहीं हो पाएंगे। फिर तो प्राण पागल होकर पदार्थ के लिए दौड़ने लगेंगे--किसी और के लिए, बाहर, हवाओं में कूदने लगेंगे, तो किनारों की चट्टानों से टकराने लगेंगे।
शराब उत्तेजक है। लेकिन शराब अकेली उत्तेजक नहीं है। जब कोई आंख से गलत चीज देखता है, तो भी उतनी ही उत्तेजना आ जाती है।
अब एक आदमी बैठा हुआ है तीन घंटे तक, नाटक देख रहा है, फिल्म देख रहा है। और इस तरह का आहार कर रहा है जो उत्तेजना ले आएगा भीतर; जो चित्त को चंचल करेगा, भगाएगा, दौड़ाएगा; रातभर सो नहीं सकेगा; सपने में भी मन वहीं नाट्य-गृह में घूमता रहेगा। आंख बंद करेगा और वे ही दृश्य दिखाई पड़ने लगेंगे, वे ही छवियां पकड़ लेंगी। अब वह दौड़ा। अब वह बेचैन हुआ। अब वह परेशान हुआ।
अभी अमेरिका के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अब जब तक अमेरिका में फिल्म-टेलीविजन हैं, तब तक कोई पुरुष किसी स्त्री से तृप्त नहीं होगा और कोई स्त्री किसी पुरुष से तृप्त नहीं होगी। क्यों? क्योंकि टेलीविजन ने और सिनेमा के पर्दे ने स्त्रियों और पुरुषों की ऐसी प्रतिमाएं लोगों को दिखा दीं, जैसी प्रतिमाएं यथार्थ में कहीं भी मिल नहीं सकतीं; झूठी हैं, बनावटी हैं। फिर यथार्थ में जो पुरुष और स्त्री मिलेंगे, वे बहुत फीके- फीके मालूम पड़ते हैं। कहां तस्वीर फिल्म के पर्दे पर, कहां अभिनेत्री फिल्म के पर्दे पर और कहां पत्नी घर की! घर की पत्नी एकदम फीकी-फीकी, एकदम

व्यर्थ-व्यर्थ, जिसमें नमक बिल्कुल नहीं, बेरौनक, साल्टलेस मालूम पड़ने लगती है। स्वाद ही नहीं मालूम पड़ता। पुरुष में भी नहीं मालूम पड़ता।
फिर दौड़ शुरू होती है। अब उस स्त्री की तलाश शुरू होती है, जो पर्दे पर दिखाई पड़ी। वह कहीं नहीं है। वह पर्दे वाली स्त्री भी जिसकी पत्नी है, वह भी इसी परेशानी में पड़ा है। इसलिए वह कहीं नहीं है। क्योंकि घर पर वह स्त्री साधारण स्त्री है। पर्दे पर जो स्त्री दिखाई पड़ रही है, वह मैन्यूवर्ड है, वह तरकीब से प्रस्तुत की गई है, वह प्रेजेंटेड है ढंग से। सारी टेक्नीक, टेक्नोलाजी से, सारी आधुनिक व्यवस्था से--कैमरे, फोटोग्राफी, रंग, सज्जा, सजावट, मेकअप--सारी व्यवस्था से वह पेश की गई है। उस पेश स्त्री को कहीं भी खोजना मुश्किल है। वह कहीं भी नहीं है। वह धोखा है।
लेकिन वह धोखा मन को आंदोलित कर गया। आहार हो गया। उस स्त्री का आहार
हो गया भीतर। अब उस स्त्री की तलाश शुरू हो गई; अब वह कहीं मिलती नहीं। और जो भी स्त्री मिलती है, वह सदा उसकी तुलना में फीकी और गलत साबित होती है। अब यह चित्त कहीं भी ठहरेगा नहीं। अब इस चित्त की कठिनाई हुई। यह सारी की सारी कठिनाई बहुत गहरे में गलत आहार से पैदा हो रही है।
रास्ते पर आप निकलते हैं, कुछ भी पढ़ते चले जाते हैं, बिना इसकी फिक्र किए कि आंखें भोजन ले रही हैं। कुछ भी पढ़ रहे हैं! रास्ते भर के पोस्टर लोग पढ़ते चले जाते हैं। किसने आपको इसके लिए पैसा दिया है! काहे मेहनत कर रहे हैं? रास्ते भर के दीवाल-दरवाजे रंगे-पुते हैं; सब पढ़ते चले जा रहे हैं। यह कचरा भीतर चला जा रहा है। अब यह कचरा भीतर से उपद्रव खड़े करेगा।
अखबार उठाया, तो एक कोने से लेकर ठीक आखिरी कोने तक, कि किसने संपादित किया और किसने प्रकाशित किया, वहां तक पढ़ते चले जाते हैं! और एक दफे में भी मन नहीं भरता। फिर दुबारा देख रहे हैं, बड़ी छानबीन कर रहे हैं। बड़ा शास्त्रीय अध्ययन कर रहे हैं अखबार का! कचरा दिमाग में भर रहे हैं। फिर वह कचरा भीतर बेचैनी करेगा। घास खाकर देखें, कंकड़-पत्थर खाकर देखें, तब पता चलेगा कि पेट में कैसी तकलीफ होती है। वैसी खोपड़ी में भी तकलीफ हो जाती है। लेकिन वह, हम सोचते हैं, आहार नहीं है; वह तो हम पढ़ रहे हैं; ऐसी ही, खाली बैठे हैं। खाली बैठे हैं, तब कंकड़-पत्थर नहीं खाते!
नहीं; हमें ख्याल नहीं है कि वह भी आहार है। बहुत सूक्ष्म आहार है। कान कुछ भी सुन रहे हैं। बैठे हैं, तो रेडिओ खोला हुआ है! कुछ भी सुन रहे हैं! वह चला जा रहा है दिमाग के भीतर। दिमाग पूरे वक्त तरंगों को आत्मसात कर रहा है। वे तरंगें दिमाग के सेल्स में बैठती जा रही हैं। आहार हो रहा है।
और एक बार भोजन इतना नुकसान न पहुंचाए, क्योंकि भोजन के लिए परगेटिव्स उपलब्ध हैं। अभी तक मस्तिष्क के लिए परगेटिव्स उपलब्ध नहीं हैं। अभी तक मस्तिष्क में जब कब्ज पैदा हो जाए, और अधिक मस्तिष्क में कब्ज है--कांस्टिपेशन दिमागी--और उसके परगेटिव्स हैं नहीं कहीं। तो बस, खोपड़ी में कब्ज पकड़ता जाता है। सड़ जाता है सब भीतर। और किसी को होश नहीं है। संयमी या नियमी आहार वाले व्यक्ति से कृष्ण का मतलब है, ऐसा व्यक्ति,
जो अपने भीतर एक-एक चीज जांच-पड़ताल से ले जाता है; जिसने अपने हर इंद्रिय के द्वार पर पहरेदार बिठा रखा है विवेक का, कि क्या भीतर जाए। उसी को भीतर ले जाऊंगा, जो उत्तेजक नहीं है। उसी को भीतर ले जाऊंगा, जो शामक है। उसी को भीतर ले जाऊंगा, जो भीतर चित्त को मौन में, गहन सन्नाटे में, शांति में, विराम में, विश्राम में डुबाता है; जो भीतर चित्त को स्वस्थ करता है, जो भीतर चित्त को संगीतबद्ध करता है, जो भीतर चित्त को प्रफुल्लित करता है। ऐसा व्यक्ति भी, अगर कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से संयमी हो आहार की दृष्टि से, समस्त आहार की दृष्टि से--छुए भी वही, क्योंकि छूना भी भीतर जा रहा है; देखे भी वही, सुने भी वही, चखे भी वही, गंध भी उसकी ले--सब इंद्रियों से उसे ही भीतर ले जाए, जो आत्मा के लिए शांति का मार्ग है, तो ऐसा व्यक्ति भी उस परम सत्य को उपलब्ध हो जाता है। इस योग से भी, कृष्ण कहते हैं, अर्जुन! वहां पहुंचा जा सकता है।

ऐसा वह एक-एक कदम, एक-एक विधि की अर्जुन से बात कर रहे हैं। मैं भी आपसे एक-एक विधि की बात कर रहा हूं। किसी को कोई विधि जम जाए, किसी को कोई विधि ख्याल में आ जाए, कहीं चोट हो जाए, किसी को कुछ ठीक पड़ जाए, और उसकी जिंदगी में रूपांतरण हो जाए!
तो किसी भी विधि से, किसी भी बहाने से और किसी भी निमित्त से व्यक्ति परमात्मा तक पहुंच सकता है। सिर्फ वे ही नहीं पहुंचते, जो कभी पहुंचने की कोशिश ही नहीं करते किसी भी विधि से। गलत विधि से भी कोई चले उसकी तरफ, तो भी पहुंच सकता है; क्योंकि गलत विधि से चलने वाला थोड़ी देर में गलत को ठीक कर लेता है। गलत पर ज्यादा देर तक नहीं चला जा सकता।
लेकिन न चलने वाले के तो पहुंचने का कोई उपाय ही नहीं होता। वह गलत पर
भी नहीं चलता। वह बैठा ही रह जाता है। वह बैठा देखता रहता है। जिंदगी सामने से बहती चली जाती है, वह बैठा देखता रहता है।
कबीर ने कहा है, मैं बौरी खोजन गई, रही किनारे बैठ--मैं पागल खोजने गई
और किनारे बैठ गई! जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ--खोजा तो उन्होंने, जो गहरे पानी में डूबे हैं।
किनारे क्यों बैठ जाता है कोई? यह कबीर ने मजाक की है हमारे बाबत। कबीर तो गहरे पानी डूबे। हमारे बाबत मजाक की है कि किनारे पर बैठे हैं! किनारे पर कौन बैठ जाता है? किनारे पर वही बैठ जाता है, जो सोचता है, कोई भूल-चूक न हो जाए। पता नहीं, करेंगे तो परिणाम आएगा कि नहीं आएगा? पता नहीं, परिणाम होता भी है या नहीं होता? पता नहीं, जो कहा जा रहा है, वह कभी हुआ भी है? कभी होगा भी? ऐसा ही सोच-विचार करता जो बैठा रहता है किनारे पर... ।
बड़ा मजा है कि वह यह कभी नहीं सोचता कि किनारे पर बैठे-बैठे क्या हो जाएगा! गहरे पानी पैठने वाले कहते हैं कि मिला उन्हें। एक अवसर उनको भी परीक्षा का देना चाहिए। और किसी भी विधि और किसी भी तट से कूदकर देखना चाहिए। बैठे-बैठे तो किसी ने भी नहीं कहा कि मिल गया--किनारे पर बैठे-बैठे। कुछ भी नहीं मिला। सिर्फ जीवन हाथ से खो जाता है।
कृष्ण एक-एक बात कर रहे हैं कि कोई बात मेल खा जाए अर्जुन को और वह छलांग के लिए तैयार हो जाए।
आपसे भी कहता हूं, कोई बात मेल खा जाए, तो किनारे मत बैठे रहें, छलांग लगाएं, खोज पर निकलें। जो खोज पर निकलता है, वह जरूर एक दिन पहुंच जाता है। गलत भी कूदे, तो भी पहुंच जाता है। क्योंकि गलत कूदने वाले की आकांक्षा तो कम से कम सही होती ही है, पहुंचने की। गलत विधि का उपयोग करे, तो भी पहुंच जाता है। क्योंकि गलत विधि वाले की भी प्यास तो होती है, पाने की ही।
और जो प्रभु को पाने को प्यासा है, वह गलत से भी पा लेता है। और जो प्रभु को पाने का प्यासा नहीं है, उसके सामने ठीक विधि भी पड़ी रहे, तो वह कुछ भी नहीं पाता है।
अब संन्यासी हमारे भजन-कीर्तन में लगेंगे। आप भी--जो मित्र हिम्मत करें--कूदें। किनारे मत खड़े रहें, सम्मिलित हों। और जो देखना चाहें, वे देखें। देखने से भी तरंग पकड़ती है। दस मिनट इस कीर्तन में सम्मिलित होकर फिर विदा हों। यहां थोड़ी जगह बना लेंगे, थोड़े पीछे हट जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
तेरहवां प्रवचन

मृत्यु का साक्षात

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। 31।।
हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, यज्ञों के परिणामरूप ज्ञानामृत को भोगने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञरहित पुरुष को यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, तो फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा?

जीवन जिनका यज्ञरूप है, वासनारहित, अहंकारशून्य, ऐसे पुरुष परात्पर ब्रह्म को उपलब्ध होते हैं, अमृत को उपलब्ध होते हैं, आनंद को उपलब्ध होते हैं। लेकिन जिनका जीवन यज्ञ नहीं है, ऐसे पुरुष तो इस पृथ्वी पर ही आनंद को उपलब्ध नहीं होते, परलोक की बात तो करनी व्यर्थ है। इस सूत्र में कृष्ण ने दो-तीन बातें अर्जुन से कहीं।
एक, जिनका जीवन यज्ञ बन जाता!
जीवन के यज्ञ बन जाने का अर्थ क्या है? जब तक जीवन वासनाओं के आस-पास घूमता, तब तक यज्ञ नहीं होता है। जब तक जीवन स्वयं के अहंकार के ही आस-पास घूमता, तब तक जीवन यज्ञ नहीं होता। जैसे ही व्यक्ति वासनाओं को क्षीण करता और स्वयं के आस-पास नहीं, परमात्मा के आस-पास परिभ्रमण करने लगता है... । मंदिर को हम जानते हैं। मंदिर की वेदी के चारों तरफ बनी हुई परिक्रमा
को भी हम जानते हैं। लेकिन उसके अर्थ को हम नहीं जानते। हजारों बार मंदिर में गए होंगे और वेदी के आस-पास परिक्रमा लगाकर घर लौट आए होंगे। लेकिन मंदिर में परमात्मा की वेदी के आस-पास जो परिक्रमा है, वह प्रतीक है उस पुरुष का, जिसका अपना अहंकार नहीं रहा, जो अब परमात्मा के आस-पास ही जीवन में परिभ्रमण करता है, जो उसके चारों ओर ही घूमता है। अपना कोई केंद्र ही नहीं रहा, जिस पर घूम सके। परमात्मा का उपग्रह बन जाता है। वही हो जाता केंद्र में, हम हो जाते परिधि पर; उसके आस-पास ही घूमते हैं, परिभ्रमण करते हैं।
जैसे ही कोई व्यक्ति वासना और अहंकार से शून्य होता, उसका जीवन यज्ञ
हो जाता है। इस यज्ञ के संबंध में काफी बातें मैंने पीछे कहीं हैं, वह ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं।
दूसरी बात, कृष्ण कहते हैं, ऐसा पुरुष ज्ञानरूपी अमृत को उपलब्ध होता है। ज्ञानरूपी अमृत को!
इस जगत में अज्ञान के अतिरिक्त और कोई मृत्यु नहीं है। अज्ञान ही मृत्यु है; इग्नोरेंस इ.ज डेथ। क्या अर्थ हुआ इसका कि अज्ञान ही मृत्यु है?
अगर अज्ञान मृत्यु है, तो ही ज्ञान अमृत हो सकता है। अज्ञान मृत्यु है, इसका अर्थ हुआ कि मृत्यु कहीं है ही नहीं। हम नहीं जानते हैं, इसलिए मृत्यु मालूम पड़ती है। मृत्यु असंभव है। मृत्यु इस पृथ्वी पर सर्वाधिक असंभव घटना है, जो हो ही नहीं सकती, जो कभी हुई नहीं, जो कभी होगी नहीं। लेकिन रोज मृत्यु मालूम पड़ती है। यह मृत्यु हमें मालूम पड़ती है, क्योंकि हम जानते नहीं हैं। हम अंधेरे में खड़े हैं, अज्ञान में खड़े हैं। जो नहीं मरता, वह मरता हुआ दिखाई पड़ता है। इस अर्थ में अज्ञान ही मृत्यु है। और जिस दिन हम जान लेते हैं, उस दिन मृत्यु तिरोहित हो जाती है। कहीं थी ही नहीं कभी। अमृत ही, अमृतत्व ही शेष रह जाता है, इम्मारटेलिटी ही शेष रह जाती है। कभी आपने ख्याल किया, आपने किसी आदमी को मरते देखा? आप कहेंगे, बहुत लोगों को देखा। पर मैं कहता हूं, नहीं देखा। आज तक किसी व्यक्ति ने किसी को मरते नहीं देखा। मरने की प्रक्रिया आज तक देखी नहीं गई। जो हम देखते हैं, वह केवल जीवन के विदा हो जाने की प्रक्रिया है, मरने की नहीं।

बटन दबाई हमने, बिजली का बल्ब बुझ गया। जो नहीं जानता, वह कहेगा, बिजली
मर गई। जो जानता है, वह कहेगा, बिजली अभिव्यक्त थी, अब अप्रकट हो गई। प्रकट थी, अप्रकट हो गई। मर नहीं गई। फिर बटन दबेगा, बिजली फिर वापस लौट आएगी। फिर बटन दबाएंगे, बिजली फिर भीतर तिरोहित हो जाएगी।
जीवन समाप्त नहीं होता, केवल शरीर से विदा होता है। लेकिन विदाई हमें मृत्यु मालूम पड़ती है। क्यों मालूम पड़ती है? क्योंकि हमने कभी अपने भीतर शरीर से अलग किसी अस्तित्व का अनुभव नहीं किया है। हमारा अनुभव यही है कि मैं शरीर हूं, इसलिए जब शरीर समाप्त होगा, जलाने के योग्य हो जाएगा, तब स्वभावतः निष्कर्ष होगा कि मर गए।
शरीर से अलग जिसने अपने भीतर किसी तत्व को नहीं जाना, वह अज्ञानी है। अज्ञानी का मतलब यह नहीं कि जिसे यूनिवर्सिटी की डिग्री नहीं है, विश्वविद्यालय का कोई सर्टिफिकेट नहीं है। सच तो यह है कि विश्वविद्यालय ने जितने सर्टिफिकेट दिए, अज्ञान उतना बढ़ा है, कम नहीं हुआ। कारण है। कारण यह है कि विश्वविद्यालय के सर्टिफिकेट को लोग ज्ञान समझने लगे। इसलिए असली ज्ञान की खोज की कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती। अज्ञानी आदमी के पास सर्टिफिकेट नहीं होता; वह ज्ञान की खोज करता है। तथाकथित ज्ञानी के पास सर्टिफिकेट होता है; वह मान लेता है कि मैं ज्ञानी हूं। मेरे पास यूनिवर्सिटी की डिग्री है। और क्या चाहिए?
ज्ञान तो सिर्फ एक है, स्वयं का ज्ञान। बाकी सब सूचनाएं हैं, इनफर्मेशनस हैं, नालेज नहीं। बाकी सब परिचय है, ज्ञान नहीं।
बर्ट्रेंड रसेल ने ज्ञान के दो हिस्से किए हैं, नालेज और एक्वेनटेंस-- ज्ञान और परिचय। ज्ञान तो सिर्फ एक ही चीज का हो सकता है, जो मैं हूं; बाकी सब परिचय है, ज्ञान नहीं है। अपने से पृथक जिसे भी मैं जानता हूं, वह सिर्फ एक्वेनटेंस, परिचय है। जान तो सिर्फ अपने को सकता हूं; क्योंकि अपने से जो भिन्न है, उसके भीतर मेरा प्रवेश नहीं हो सकता, सिर्फ बाहर घूम सकता हूं। परिचय ही कर सकता हूं, ऊपर-ऊपर से जान सकता हूं, भीतर तो नहीं जा सकता। भीतर तो सिर्फ एक ही जगह जा सकता हूं, जहां मैं हूं।
यह बहुत मजे की बात है, अपना परिचय नहीं होता और दूसरे का ज्ञान नहीं होता। दूसरे का परिचय होता है, अपना ज्ञान होता है। अपना परिचय नहीं होता; क्योंकि अपने बाहर घूमने का उपाय नहीं है। दूसरे का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि दूसरे के भीतर प्रवेश नहीं है।
लेकिन हम बड़े अजीब लोग हैं! हम दूसरे का ज्ञान ले लेते हैं और अपना परिचय कर लेते हैं। हम अपना परिचय कर लेते हैं, जो कि हो नहीं सकता। और हम दूसरे के ज्ञान को ज्ञान समझ लेते हैं, जो कि हो नहीं सकता। यह अज्ञान की स्थिति है। अज्ञान में मृत्यु है।
जब आप एक व्यक्ति को बुझते देखते हैं--बुझते, मरते नहीं। इसलिए बुद्ध
ने ठीक शब्द का उपयोग किया है। वह शब्द है, निर्वाण। निर्वाण का अर्थ है, दीए का बुझना। बस, दीया बुझ जाता है; कोई मरता नहीं। दिखाई पड़ती थी ज्योति, अब नहीं दिखाई पड़ती। देखने के क्षेत्र से विदा हो जाती है, अदृश्य में लीन हो जाती है। फिर प्रकट हो सकती है, फिर लीन हो सकती है। यह प्रकट-अप्रकट होने का क्रम अनंत चल सकता है। जब तक कि ज्योति पहचान न ले कि प्रकट में भी मैं वही हूं, अप्रकट में भी मैं वही हूं; न मैं प्रकट होती, न मैं अप्रकट होती, सिर्फ रूप प्रकट होता और अप्रकट होता। वह जो रूप के भीतर छिपा हुआ सत्व है, वह न प्रकट में प्रकट होता, न अप्रकट में अप्रकट होता; न जीवन में जीवित होता, न मृत्यु में मरता। तब अमृत का अनुभव है।
हम दूसरों को मरते देखकर, बुझते देखकर, हिसाब लगा लेते हैं कि सब मरते हैं, तो मैं भी मरूंगा। लेकिन कभी किसी मरने वाले से पूछा कि मर गए? लेकिन वह उत्तर नहीं देता। इसलिए मान लेते हैं कि हां में उत्तर देता होगा। मौन को सम्मति का लक्षण समझने की बात सभी जगह ठीक नहीं है। मरे हुए आदमी से पूछो, मर गए? अगर वह उत्तर दे, तो समझना मरा नहीं; और अगर मौन रह जाए, तो हम समझ लेते हैं कि मर गया!
लेकिन मौन सम्मति का लक्षण नहीं है। नहीं बोल पा रहा है, इसलिए मर गया, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है।

दक्षिण के ब्रह्मयोगी, एक साधु ने आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी और कलकत्ता तथा रंगून यूनिवर्सिटी में मरने के प्रयोग करके दिखाए थे। वे दस मिनट के लिए मर जाते थे। कलकत्ता यूनिवर्सिटी में दस डाक्टर मौजूद थे, जिन्होंने सर्टिफिकेट लिखा कि यह आदमी मर गया है; क्योंकि मृत्यु के जो भी लक्षण हैं चिकित्सा-शास्त्र के पास, पूरे हो गए। श्वास नहीं; बोल नहीं सकता; खून में गति नहीं रही; ताप गिर गया; नाड़ी बंद हो गई; हृदय की धड़कन नहीं है। सब सूक्ष्मतम यंत्रों ने कह दिया कि आदमी मर गया। उन दस ने लिखा, दस्तखत किए, क्योंकि ब्रह्मयोगी कहकर गए थे कि दस्तखत करके सर्टिफिकेट, डेथ सर्टिफिकेट दे देना कि मैं मर गया।
फिर दस मिनट बाद सब वापस लौट आया। श्वास फिर चली; धड़कन फिर हुई; खून फिर बहा; उस आदमी ने आंख भी खोलीं; वह बोलने भी लगा; उठकर बैठ गया। उसने कहा, अब आपके सर्टिफिकेट के संबंध में मैं क्या मानूं? आप बड़े जालसाज हैं। जिंदा आदमी को मरने का सर्टिफिकेट देते हैं! उन्होंने कहा, जहां तक हम जानते थे, मौत घट गई थी। उसके आगे हम नहीं जानते।
लेकिन उनमें से एक डाक्टर ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उस दिन से मैं फिर मृत्यु का सर्टिफिकेट नहीं दे सका, किसी को भी। क्योंकि उस दिन जो मैंने देखा, उससे साफ हो गया कि मृत्यु के लक्षण सिर्फ विदा होने के लक्षण हैं। और चूंकि आदमी लौटना नहीं जानता है, इसलिए हमारे सर्टिफिकेट सही हैं, वरना सब गलत हो जाएं। वह ब्रह्मयोगी लौटना जानता है।
तीन बार, लंदन, कलकत्ता और रंगून विश्वविद्यालय में उन्होंने मरकर दिखाया और तीनों जगह, पृथ्वी पर पहला आदमी है, जिसने तीन दफे मृत्यु का सर्टिफिकेट लिया!
क्या, हुआ क्या? जब ब्रह्मयोगी से चिकित्सक पूछते कि हुआ क्या, किया क्या? तो वह कहते, मैं सिर्फ सिकोड़ लेता हूं अपने जीवन को। जैसे कि सूरज अपनी किरणों को सिकोड़ ले; जैसे कि फूल अपनी पंखुड़ियों को बंद कर ले; जैसे पक्षी अपने पंखों को सिकोड़कर और अपने घोंसले में बैठ जाए--ऐसे मैं सिकोड़ लेता हूं जीवन को भीतर, भीतर, वहां जहां तुम्हारे यंत्र नहीं पकड़ पाते। होता तो मैं हूं ही, इसीलिए वापस लौट आता हूं। फिर खोल देता हूं पंखों को, फिर जीवन के आकाश में उड़ आता हूं--घोंसले के बाहर।
हम सबके भीतर वह गुह्य स्थान है, जहां आत्मा सिकुड़ जाए, तो फिर यंत्र पता नहीं लगा पाते, इंद्रियां पता नहीं लगा पातीं। असल में यंत्र इंद्रियों के एक्सटेंशन से ज्यादा नहीं हैं। यंत्र हमारी ही इंद्रियों का विस्तार हैं। आंख है; तो हमने दूरबीन और खुर्दबीन बनाई। वह आंख का विस्तार है, आंख को मैग्नीफाई कर देती है, बढ़ा देती है। कान है; तो हमने टेलीफोन बनाया। वह कान का विस्तार है। मेरा हाथ है; यहां से बैठकर मैं आपको छू नहीं सकता। मैं एक डंडा हाथ में पकड़ लूं और उससे आपको छुऊं, तो डंडा मेरे हाथ का विस्तार हो गया।
सारे यंत्र हमारी इंद्रियों के विस्तार हैं। अब तक एक भी यंत्र नहीं बना, जो हमारी इंद्रियों से अन्य हो, विस्तार न हो। सब एक्सटेंशंस हैं। इंद्रियां जिसे नहीं पकड़ पातीं, यंत्र कभी-कभी उसे पकड़ता, सूक्ष्म होता तो, लेकिन जो अतींद्रिय है, उसे यंत्र भी नहीं पकड़ पाता।
सूक्ष्म हो, इंद्रिय की पकड़ के बाहर हो, तो यंत्र पकड़ लेता है। लेकिन
जो अतींद्रिय है, सूक्ष्म नहीं--अतींद्रिय, इंद्रियों के पार, पैरासाइकिक--उसको फिर यंत्र भी नहीं पकड़ पाता।
जीवन-ऊर्जा पैरासाइकिक है, अतींद्रिय है, इसलिए कोई यंत्र उसकी गवाही नहीं दे सकता। इस जीवन-ऊर्जा को जानने का एक ही उपाय है; वह इंद्रियों के द्वारा नहीं, इंद्रियों के पीछे सरककर; इंद्रियों के माध्यम से नहीं, इंद्रियों के माध्यम को छोड़कर। ज्ञानी इंद्रियों के माध्यम को छोड़कर स्वयं को जानता है। और एक क्षण भी यह झलक मिल जाए स्वयं की, तो वह अमृत उपलब्ध हो जाता है, जिसकी कोई मृत्यु नहीं; वह सत्व दिखाई पड़ जाता है, जिसका कोई प्रारंभ नहीं, कोई अंत नहीं। ज्ञानी अमृत को उपलब्ध हो जाते हैं।

इसलिए कृष्ण ने कहा, ज्ञानरूपी अमृत। कह सकते हैं, अज्ञानरूपी विष, अज्ञानरूपी मृत्यु; ज्ञानरूपी अमृत, ज्ञानरूपी अमृतत्व।
वह जो अल्केमिस्ट कहते हैं कि हम खोज रहे हैं वह तत्व, जिससे आदमी अमर
हो जाए। वे कभी न खोज पाएंगे। आदमी अमर है ही; किसी चीज से अमर करने की जरूरत नहीं है। चेतना अमर है ही।
और ऐसा मत सोचना आप कि पदार्थ मरता है और चेतना अमर है। पदार्थ भी अमर
है; चेतना भी अमर है। पदार्थ इसलिए अमर है कि वह जीवित ही नहीं है। जो जीवित हो, वह मर सकता है। पदार्थ कैसे मरेगा? वह जीवित ही नहीं है। पदार्थ इसलिए अमर है कि वह जीवित ही नहीं, उसकी मृत्यु का कोई उपाय नहीं। आत्मा इसलिए अमर है कि वह जीवित है, जो जीवित है, वह मर कैसे सकता है!
जीवन की कोई मृत्यु नहीं हो सकती, मृत्यु का कोई जीवन नहीं हो सकता। पदार्थ का सिर्फ अस्तित्व है, जीवन नहीं। आत्मा का जीवन भी है और अस्तित्व भी। इस बात को ख्याल में रख लें, एक्झिस्टेंस एंड लाइफ बोथ--आत्मा का। पदार्थ का एक्झिस्टेंस ओनली, सिर्फ अस्तित्व है। पदार्थ सिर्फ है। लेकिन पदार्थ को अपने होने का पता नहीं है। आत्मा है भी और उसे अपने होने का भी पता है। बस यह होने का पता उसे जीवन बना देता है।
लेकिन हम आत्मा तो हैं, हमें अपने होने का भी पता है, हम जीवित भी हैं; लेकिन हम क्या हैं, इसका हमें कोई भी पता नहीं है। होने का पता है, लेकिन क्या हैं, इसका कोई पता नहीं है।
होने का पता हो और यह पता न हो कि क्या हैं, तो अज्ञान की स्थिति है।
होने का पता हो और यह भी पता हो कि क्या हैं, तो ज्ञान की स्थिति है।
अज्ञानी में उतनी ही आत्मा है, जितनी ज्ञानी में; रत्तीभर कम नहीं है।
लेकिन अज्ञानी अपने प्रति बेहोश है। ज्ञानी अपने प्रति होश से भरा हुआ है।
ऐसे व्यक्ति जो ज्ञान-अमृत को उपलब्ध हो जाते हैं, वे परलोक में परम परात्पर ब्रह्म को पाते हैं।
परलोक का क्या अर्थ? क्या मरने के बाद? आमतौर से हमें यही ख्याल है कि परलोक का अर्थ मरने के बाद है। लेकिन जब आत्मा मरती ही नहीं, तो मरने के बाद परलोक का अर्थ ठीक नहीं है। परलोक इस लोक के साथ, यहीं और अभी मौजूद है, जस्ट बाई दि कार्नर। परलोक कहीं मरने के बाद और नहीं है। परलोक यहीं और अभी मौजूद है। पर हमें उसका कोई पता नहीं है। जिसे अपना पता नहीं, उसे परलोक का पता नहीं हो सकता; क्योंकि परलोक में जाने का द्वार स्वयं का अस्तित्व है, स्वयं का ही होना है।
जिसे अपना पता है, वह एक ही साथ परलोक और लोक की देहली पर, बीच में खड़ा
हो जाता है। इस तरफ झांकता है तो लोक, उस तरफ झांकता है तो परलोक। बाहर सिर करता है तो लोक, भीतर सिर करता है तो परलोक। परलोक अभी और यहीं है।
ब्रह्म कहीं दूर नहीं, आपके बिल्कुल पड़ोस में, आपके पड़ोसी से भी ज्यादा पड़ोस में है। आपके बगल में जो बैठा है आदमी, उसमें और आपमें भी फासला है। लेकिन उससे भी पास ब्रह्म है। आपमें और उसमें फासला भी नहीं है। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली
दिल के आईने में है तस्वीरे-यार।
बस, इतना ही फासला है, गर्दन झुकाने का। यह भी कोई फासला हुआ!
बाहर लोक है, भीतर परलोक है।
तो ध्यान रखें, लोक और परलोक का विभाजन समय में नहीं है, स्थान में है।
इस बात को ठीक से ख्याल में ले लें। लोक और परलोक का विभाजन टाइम डिवीजन नहीं है। कि मैं मरूंगा, मरने की घटना या विदा होने की घटना समय में घटेगी।
आज से समझें कल मरूंगा, दस साल बाद मरूंगा, घंटेभर बाद मरूंगा--समय में।
समय, घंटा बीत जाएगा, तब मैं मरूंगा। फिर उस मरने के बाद जो होगा, वह परलोक होगा।
हमने अब तक परलोक को टेंपोरल समझा है, टाइम में बांटा है। परलोक भी स्पेसिअल है, स्पेस में बंटा है, टाइम में नहीं। अभी-यहीं, लोक भी मौजूद है, परलोक भी मौजूद है। पदार्थ भी मौजूद है, परमात्मा भी मौजूद है। अभी-यहीं! फासला समय का नहीं, फासला सिर्फ स्थान का है।

और स्थान का भी फासला हमारी दृष्टि का फासला है, अटेंशन का फासला है। अगर हम बाहर की तरफ ध्यान दे रहे हैं, तो परलोक खो जाता है। अगर हम परलोक की तरफ ध्यान दें, तो लोक खो जाता है।
रात आप सो जाते हैं, तब लोक खो जाता है; परलोक शुरू नहीं होता, लोक खो जाता है। रात जब आप सोते हैं, तब आपको याद रहता है कि बाजार में आपकी एक दुकान है? कि आपका एक बेटा है? कि आपकी एक पत्नी है? कि आपका बैंक बैलेंस इतना है? कि आप कर्जदार हैं? कि लेनदार हैं? जब आप सोते हैं, तो लोक खो जाता है एकदम; परलोक शुरू नहीं होता! निद्रा, लोक और परलोक के बीच में है। निद्रा मूर्च्छा है। लोक भी खो जाता है। परलोक भी शुरू नहीं होता। ध्यान भी लोक और परलोक के बीच में है। लोक खोता है, परलोक शुरू हो जाता है।
जैसे एक आदमी अपने मकान के दरवाजे की देहली पर बैठ जाए आंख बंद करके,
तो न घर दिखाई पड़े, न बाहर दिखाई पड़े। फिर एक आदमी बाहर की तरफ देखे, तो भीतर का दिखाई न पड़े। फिर एक आदमी मुड़कर खड़ा हो जाए, भीतर का दिखाई पड़े, तो बाहर का दिखाई न पड़े। ऐसी तीन स्थितियां हुईं।

लोक की, जब हम बाहर देख रहे हैं, कांशसनेस, चेतना बाहर की तरफ जाती हुई। परलोक, चेतना भीतर की तरफ जाती हुई। निद्रा, चेतना किसी तरफ जाती हुई नहीं, सो गई है। परलोक यहीं है, अभी है।
कृष्ण जब कहते हैं कि परलोक में ऐसा पुरुष आनंद को उपलब्ध होता है, तो क्या इसका यह मतलब है कि जिस व्यक्ति ने ब्रह्म को जाना, आत्मा की अमरता को जाना, वह मरने के बाद आनंद को उपलब्ध होगा? अभी नहीं होगा? नहीं, अभी हो जाएगा, यहीं हो जाएगा।
लेकिन जो व्यक्ति इस अमृत को नहीं जानता, वह उस परलोक में, उस भीतर के लोक में, उस पार के लोक में, कैसे आनंद को उपलब्ध होगा? वह तो बाहर के लोक में भी आनंद को उपलब्ध नहीं हो पाता। वह संसार में भी दुख पाता है। वह बाहर भी दुख पाता है और भीतर भी दुख पाता है। इसे ठीक से समझ लें।
बाहर इसलिए दुख पाता है कि जिसको यह ख्याल है कि मृत्यु है, वह बाहर कभी सुख नहीं पा सकता। मृत्यु का ख्याल बाहर के सब सुखों को विषाक्त कर जाता है, पायजनस कर जाता है। बाहर अगर सुख लेना है थोड़ा-बहुत, तो मृत्यु को बिल्कुल भूलना पड़ता है। इसलिए हम मृत्यु को भुलाने की कोशिश करते हैं। लेकिन ध्यान रहे, जिसे भी हम भुलाते हैं, उसकी और याद आती है। स्मृति
का नियम है, भुलाएं, याद आएगी। करें कोशिश, जिसे भी भुलाने की, उसकी और भी याद आएगी। किसी को भूल जाना चाहते हैं। किसी को प्रेम किया और अब स्मृति दुख देती है; भूल जाना चाहते हैं। तो भुलाने की कोशिश करें, और याद आएगी। क्यों? क्योंकि भुलाने की कोशिश में भी तो याद करना पड़ता है। मैं चाहता हूं, किसी को भूल जाऊं। तो जब भी चाहता हूं भूल जाऊं, तब भी याद करना पड़ता है। और याद गहन होती चली जाती है।
मृत्यु को हम सब भुलाने की कोशिश किए हुए हैं, इसलिए मरघट हम गांव के बाहर बनाते हैं। बीच में बनाना चाहिए, नियमानुसार; क्योंकि मृत्यु जीवन का केंद्रीय तथ्य है। तथ्य, सत्य नहीं। ट्रुथ नहीं, फैक्ट। तथ्य है, केंद्र पर जीवन के।
मौत प्रतिक्षण घटित हो सकती है। जो घटना प्रतिक्षण घटित हो सकती है, उसको गांव के बाहर रखना ठीक नहीं है। अरथी निकलती है द्वार से, तो लोग घर का दरवाजा बंद करके बच्चों को भीतर कर लेते हैं, भीतर आ जाओ!
मौत याद न आ जाए! क्योंकि जिसे मौत याद आ गई, उसके जीवन में संन्यास को ज्यादा देर नहीं है। जो मौत को भुला ले, वही संसार में हो सकता है। जिसको मौत स्मरण आ जाए, उसका संसार संन्यास बनने लगता है।
इसलिए मौत को छिपाते हैं, हजार ढंग से छिपाते हैं। गांव के बाहर बनाते हैं मरघट। मरा नहीं आदमी कि ले जाने की इतनी जल्दी पड़ती है, जिसका हिसाब नहीं! इतनी जल्दी? रहने दें थोड़ी देर! लोगों को देख लेने दें; स्मरण कर लेने दें कि यही घटना उनकी भी घटने वाली है।
नहीं; बड़ी जल्दी मचती है। घर के लोग रोने-धोने में, पास-पड़ोस के लोग विदा करने में एकदम तीव्रता करते हैं। क्या कारण है? इतनी जल्दी क्या है?

जिस आदमी को वर्षों चाहा और प्रेम किया, उसको विदा करने की इतनी शीघ्रता क्या है?
शीघ्रता का आंतरिक कारण है, मनोवैज्ञानिक। मरे हुए की मौजूदगी हमें अपने मरे होने की खबर लाती है। जल्दी ले जाओ। जमीन में गड़ाओ कि आग लगाओ। मिटाओ, निशान हटाओ। मृत्यु का निशान न रह जाए जीवन के पर्दे पर कहीं; उसे अलग कर दो।
और मजे की बात यह है कि जन्म के बाद अगर कोई चीज की सरटेंटी है, कोई चीज निश्चित है, तो वह मृत्यु है। जन्म के बाद अगर कोई चीज प्रेडिक्टेबल है, किसी चीज की भविष्यवाणी की जा सकती है, तो वह मृत्यु है। बाकी किसी चीज की भी भविष्यवाणी की नहीं जा सकती। भविष्यवाणी का यह मतलब नहीं कि तारीख और दिन बताया जा सकता है। भविष्यवाणी का यह मतलब कि मृत्यु होगी, इतना तय है। बाकी सब चीजें हों भी, न भी हों। विवाह हो भी सकता है, न भी हो। स्वास्थ्य रहे भी, न भी रहे। बीमारी आए भी, न भी आए। धन मिले भी, न भी मिले। लेकिन मृत्यु के बाबत ऐसा नहीं कहा जा सकता कि हो भी, न भी हो।
जो इतनी निश्चित है घटना, उसे हम बाहर रखते हैं और कई चीजों से भुलाते हैं। कैसे-कैसे भुलाने का उपाय करते हैं! अरथी पर फूल ढांक देते हैं--ईसाई ढंग भुलाने का। फूलों से ढांक देते हैं अरथी को। फूलों के नीचे सड़ा हुआ शरीर है, सड़ता हुआ, डिटेरिओरेट होता हुआ शरीर है! फूल से ढांक देते हैं, ताकि फूल दिखाई पड़ें, मरता हुआ शरीर दिखाई न पड़े।
आदमी मरता, उसकी लाश ले जाते। जिस आदमी ने जिंदगीभर राम का नाम नहीं लिया, और जिन्होंने कभी राम का नाम नहीं लिया, वे भी उसकी अरथी के साथ राम नाम सत्य है, कहते हुए जाते हैं! क्या बात है? अटेंशन हटा रहे हैं, मौत से हट जाए। अगर कुछ न कहते हुए चुपचाप लोग अरथी के साथ जाएं, तो अरथी को भूलना मुश्किल हो जाए। कुछ कहते हुए जाते हैं; अरथी को भूलना आसान हो जाता है। अपने कहने में लग जाते हैं। राम की आड़ में मौत को छिपाने की कोशिश करते हैं। हालांकि राम उन्हीं को मिलता है, जो मौत को पार करते, आमना-सामना करते; उनको नहीं, जो राम की आड़ में मौत को छिपाने की कोशिश करते हैं! मृत्यु भुलाते हैं हम, जानते नहीं। जो भुलाता है, उसे याद आती चली जाती है। जो जानता है, उसके लिए समाप्त हो जाती है, होती ही नहीं। यह जो हमारा भुलावा चल रहा है जिंदगी में, इससे हम कभी भूल नहीं पाते। हर जगह उसकी खबर मिल जाती है।
फूल सुबह खिलता और सांझ मुर्झा जाता, और कह जाता कि मौत है। प्रेम घड़ीभर खिलता और सूख जाता, और खबर दे जाता, मौत है। जवानी आती और चली जाती, और खबर दे जाती, मौत है। हरे पत्ते लगते और पतझड़ में झड़ जाते, और खबर दे जाते, मौत है। सुबह सूरज उगता और सांझ डूबने लगता, और खबर दे जाता, मौत है। जिसकी जिंदगी में अभी अमृत का पता नहीं चला, उसका सब विषाक्त हो जाता है, सब पायजंड हो जाता है। कोई सुख हो नहीं सकता। जब तक मृत्यु की कालिमा पीछे खड़ी है, सब सुख अंधेरे हो जाते हैं।
सच तो यह है कि सुख के क्षण में मृत्यु की कालिमा और गहन होकर दिखाई पड़ती है। दुख के क्षण में उतनी गहन नहीं होती; सुख के क्षण में बहुत गहन हो जाती है।
कीर्कगार्ड ने लिखा है कि प्रेम के क्षण में मृत्यु जितनी प्रगाढ़ मालूम होती है, उतनी कभी नहीं मालूम होती।
अगर कृष्णमूर्ति को सुनें, अगर वे डेथ पर बोलना शुरू करें, तो लव पर जरूर बोलेंगे। अगर लव पर बोलना शुरू करें, तो डेथ पर जरूर बोलेंगे--उसी भाषण में, बाहर नहीं जा सकते वे। अगर वे प्रेम पर बोलना शुरू करेंगे, तो अनिवार्य मानना कि मृत्यु पर बोलकर रहेंगे। अगर मृत्यु पर बोलेंगे, तो प्रेम पर बोलकर रहेंगे। बात क्या है?
कृष्णमूर्ति जैसे आदमी को साफ पता है कि जहां भी प्रेम है; जहां प्रेम की, सुख की झलक आई, वहां तत्काल पता लगता है कि जिसे हम प्रेम कर रहे हैं, वह भी मरेगा; जो प्रेम कर रहा है, वह भी मर जाएगा; बीच में जो प्रेम बह रहा है, वह भी मर जाएगा।

प्रेम के सघन क्षण में मृत्यु बहुत प्रगाढ़ होकर दिखाई पड़ती है। प्रेम सुख लाता है, पीछे से मृत्यु का स्मरण ले आता है। जहां-जहां सुख है, वहां- वहां मौत पीछे खड़ी हो जाती है। इसलिए तो सुख क्षणभंगुर है। हम ले भी नहीं पाते, और मौत उसे हड़प जाती है।
जिसको भीतर के अमृत का पता नहीं, वह परलोक में तो आनंद पा ही नहीं सकता, इस लोक में भी सिर्फ दुख पाता है।
दूसरी बात भी कह देने जैसी है कि जो परलोक में आनंद पाता है, वह इस लोक में भी आनंद पाता है। ये जुड़े हुए हैं। जिसे भीतर आनंद मिला, उसे बाहर भी आनंद ही आनंद हो जाता है। ध्यान रखें, उसकी सारी दृष्टि बदल जाती है। जिसे भीतर आनंद नहीं मिला, उसे वसंत में भी मृत्यु नजर आती है, पतझड़ दिखाई पड़ता है। उसे बच्चे में भी बुढ़ापे की दृष्टि, बच्चे के पीछे भी बूढ़े का जीर्ण-जर्जर शरीर दिखाई पड़ता है। उसे जवानी की तरंगों में भी मौत का गिर जाना और मिट जाना दिखाई पड़ता है। उसे सुख के क्षण में भी पीछे खड़े दुख की प्रतीति होती है। जिसे अभी पता है कि मृत्यु है, अज्ञान में सब सुख दुख हो जाते हैं।
ज्ञान में सब दुख भी सुख हो जाते हैं। फिर उस तरह के व्यक्ति को पतझड़ में भी आने वाले वसंत की पदचाप सुनाई पड़ती है। वृक्ष से सूखे गिरते पत्ते में भी नए पत्ते के अंकुरित होने की ध्वनि का बोध होता है। सांझ डूबते हुए सूरज में भी सुबह के उगने वाले सूरज की तैयारी का पता चलता है। विदा होते बूढ़े में भी पैदा होने वाले बच्चों के जन्म की खबर मिलती है। मृत्यु का द्वार भी उसे जन्म का द्वार बन जाता है। अंधेरा भी उसे प्रकाश की पूर्व भूमिका मालूम पड़ती है। सुबह अंधेरा जब गहन हो जाता है, तब भी वह जानता है, आने वाली भोर निकट है। अंधेरा उसे भोर का स्मरण; मृत्यु उसे जन्म का स्मरण; दुख भी उसे सुख को लाता हुआ मालूम पड़ता है। दृष्टि बदल जाती है; सब उलटा हो जाता है।
अज्ञान में सुख भी दुख बन जाता है। ज्ञान में दुख भी सुख बन जाता है। अज्ञान में जन्म भी मृत्यु की ही खबर है। ज्ञान में मृत्यु भी जन्म की ही सूचना है। अज्ञान में वरदान भी अभिशाप ही होंगे; वरदान नहीं हो सकते। ज्ञान में वरदान तो वरदान होते ही हैं, अभिशाप भी वरदान हो जाते हैं। लेकिन अदभुत है मन! एक युवक ने कल संन्यास लिया। मां को, पिता को, वरदान मालूम पड़ना चाहिए। लेकिन मां मेरे पास आई। छाती पीटकर रोती है; कहती है, मैं जहर खाकर मर जाऊंगी; ये कपड़े उतरवा दो! वह मां कहती है, मेरे तीन बच्चे पहले मर चुके। मेरा मन उससे पूछने का होता है, लेकिन पूछता नहीं--कि तीन बच्चे मर गए, तब तूने जहर नहीं खाया! और इसने अभी कुछ भी नहीं किया, गेरुआ वस्त्र ऊपर डाले हैं, तू जहर खाकर मर जाएगी? यह तेरा लड़का चोर हो जाता, तब तू जहर खाकर मरती? यह लड़का बेईमान हो जाता, तब तू जहर खाकर मरती? यह लड़का पोलिटीशियन हो जाता, तब तू जहर खाकर मरती?
नहीं, तब अभिशाप भी वरदान मालूम होते हैं। अभी वरदान उतरा है इस लड़के
के ऊपर, मां को नाचना चाहिए; पिता को आनंद मनाना चाहिए। फिर यह कहीं जा नहीं रहा है छोड़कर; घर ही रहेगा। लेकिन नहीं; अज्ञान में वरदान भी अभिशाप मालूम पड़ते हैं। ज्ञान में अभिशाप भी वरदान हो जाते हैं। वह छाती पीटती है, रोती है। नहीं; कुछ आकस्मिक नहीं है। बड़ा स्वाभाविक है। अज्ञान बड़ा स्वाभाविक है, आकस्मिक नहीं है।
बुद्ध जैसे व्यक्ति ने भी संन्यास लिया और जब बारह वर्ष के बाद ज्ञान
के सूर्य को जगाकर घर वापस लौटे, तब भी बाप को दिखाई नहीं पड़ा कि बेटे का जीवन रूपांतरित हुआ है। बाप बारह साल बाद आए बुद्ध को... उन्हें दिखाई न पड़ा कि लाखों लोगों की जिंदगी में बुद्ध से रोशनी पहुंची है। दस हजार भिक्षु बुद्ध के साथ पीछे खड़े हैं। उनके पीत वस्त्रों में उनके भीतर का प्रकाश झलकता है। लेकिन बाप ने गांव के दरवाजे पर यही कहा कि मैं तुझे अभी भी माफ कर सकता हूं; बाप हूं। वापस लौट आ। यह भूल छोड़। बहुत हो चुका। यह नासमझी बंद कर। मुझ बूढ़े को इस बुढ़ापे में, मृत्यु के निकट होने में दुख मत दे! बाप को नहीं दिखाई पड़ सका कि किससे वे कह रहे हैं।

बुद्ध हंसने लगे। बुद्ध ने कहा, गौर से तो देखें! बारह वर्ष पहले जो घर
से गया था, वही वापस नहीं लौटा है। वह तो कभी का जा चुका। यह कोई और है। जरा गौर से तो देखें!
लेकिन बाप ने कहा, तू मुझे सिखाएगा? मैं तुझे जानता नहीं? मेरा खून बहता है तेरी नसों में। मैं तुझे जितना जानता हूं, उतना कौन तुझे जान सकता है?
बुद्ध ने कहा, आप अपने को ही जान लें तो काफी है। मुझे जानने के भ्रम में मत पड़ें। क्योंकि दूसरे को जानने के भ्रम में वही पड़ता है, जो स्वयं को नहीं जानता है।
बाप की तो आग भड़क गई। क्रोध भारी हो गया। और कहा, यह मैंने सोचा भी न था
कि तू अपने ही बाप से इस तरह की बातें बोलेगा!
बुद्ध जैसा बेटा भी घर में हो, तो बाप के लिए अभिशाप मालूम पड़ता है! अज्ञान सब वरदानों को अभिशाप कर लेता है, सब फूलों को कांटा बना लेता है। ज्ञान कांटों को भी फूल बना लेता है। दृष्टि बदली कि सब बदल जाता है। जिसे परलोक में आनंद है, अंतःलोक में आनंद है, उसे बाहर के जगत में दुख
की कोई रेखा भी शेष नहीं रह जाती। और जिसे बाहर के लोक में दुख है, उसे भीतर के लोक का कोई पता ही नहीं होता है, आनंद की तो बात ही मुश्किल है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि ज्ञानरूपी अमृत को पाकर आनंद की वर्षा हो जाती है। अज्ञानरूपी विष में जीते हुए सिवाए दुखों के गहन सागर, अतल सागर के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगता है।

प्रश्नः भगवान श्री, आपने अभी कहा कि ज्ञानी अपने प्रति जागा हुआ है
और अज्ञानी अपने प्रति सोया हुआ है, बेहोश है। कृपया बताएं कि अज्ञानी की बेहोशी के क्या-क्या कारण हैं?

अज्ञानी की बेहोशी और निद्रा का कारण क्या है? ज्ञानी के होश और जागरण
का भी कारण क्या है?
तीन बातें हैं। एक, अज्ञान अकारण है। पहली बात, कठिन पड़ेगी समझनी, अज्ञान अकारण है। अकारण क्यों? क्योंकि अज्ञान स्वाभाविक है, नेचुरल है। स्वाभाविक क्यों? जागने के पहले निद्रा स्वाभाविक है। होश के पहले बेहोशी स्वाभाविक है। जन्म के पहले गर्भ स्वाभाविक है। युवा होने के पहले बचपन स्वाभाविक है। बूढ़े होने के पहले जवानी स्वाभाविक है। अज्ञान, ज्ञान का विरोध ही नहीं है, ज्ञान की पूर्व अवस्था भी है।
जब हम अज्ञान को ज्ञान के विरोधी की तरह लेते हैं, तब कठिनाई शुरू होती है। अज्ञान ज्ञान का विरोध नहीं है। ज्ञान का विरोध, मिथ्या ज्ञान है। यह जरा कठिन पड़ेगा। फाल्स नालेज, मिथ्या ज्ञान, ज्ञान का विरोध है। अज्ञान ज्ञान का अभाव मात्र है।
एक आदमी सोया है। सोना जागने के विपरीत नहीं है; सिर्फ जागने की पूर्व अवस्था है। जो भी सोया है, वह जाग सकता है। सोने में से जागना निकलता है। सोना बीज है; जागना अंकुर है। बीज दुश्मन नहीं है अंकुर का; बीज अंकुर की भूमि है, वहीं से तो पैदा होगा।
लेकिन हम आमतौर से अज्ञान को ज्ञान के विपरीत मान लेते हैं। इसलिए कठिनाई में पड़ते हैं। हम मान लेते हैं, अज्ञान विरोध है। अगर अज्ञान बुरा है, उसे मिटाना है, तो फिर है ही क्यों? उसका कारण क्या है?
नहीं; अज्ञान विपरीत नहीं है ज्ञान के; अज्ञान ज्ञान का पहला चरण है। अज्ञान ज्ञान का बीज है। और परमात्मा भी सीधा ज्ञान नहीं ला सकता, अज्ञान से ही ला सकता है। वह भी सीधा वृक्ष नहीं ला सकता, बीज से ही ला सकता है। असल में बीज वृक्ष का बिल्ट-इन-प्रोग्रैम है। बीज जो है, वह होने वाले वृक्ष का ब्लूप्रिंट है।
अब वैज्ञानिक कहते हैं कि बीज को अगर हम पूरा जान सकें, तो हम चित्र बनाकर बता सकते हैं कि वृक्ष की शाखा कितनी बाएं घूमेगी, कितनी शाखाएं होंगी, कितने पत्ते होंगे, कितने फल लगेंगे, कितने फूल, कितने बीज। अगर हम

बीज का पूरा रहस्य जान सकें, तो हम वृक्ष की पूरी तस्वीर बनाकर रख देंगे कि ऐसा होगा। और वैसा ही होगा।
लेकिन बीज को तोड़ना पड़ता है वृक्ष होने के पहले। अगर बीज बीज ही रहने
की जिद करे, तब खतरा है। बीज के होने में खतरा नहीं है। बीज तो सहयोगी है वृक्ष के लिए। अगर ठीक से समझें तो बीज छिपा हुआ वृक्ष है। अज्ञान छिपा हुआ ज्ञान है; दुश्मन नहीं, मित्र। लेकिन बीज अगर जिद करे कि मैं बीज ही रहूंगा, तब दुश्मन हुआ। बीज कह दे कि मैं अपनी खोल को तोडूंगा नहीं, मैं मिट्टी में मिलूंगा नहीं, मैं मिटूंगा नहीं, मैं तो रहूंगा, तब फिर बिल्ट-इन-प्रोग्रैम की दुश्मनी शुरू हो गई।
अज्ञान अपने में विरोध नहीं है। अज्ञान तो तब विरोध बनता है, जब अज्ञान कहता है कि मैं रहूंगा। और कब कहता है अज्ञान? जब मिथ्या ज्ञान से भरता है तब कहता है कि मैं रहूंगा। अज्ञान तब कहता है कि मैं मिटूंगा नहीं, क्योंकि मैं तो खुद ही ज्ञान हूं।
गीता पढ़ ली किसी ने। कृष्ण ने जो कहा, कंठस्थ कर लिया। पता नहीं कुछ। मालूम नहीं कुछ। जाना नहीं कुछ। कहने लगे, आत्मा अमर है। अब खतरा है। बीज कह रहा है कि मैं वृक्ष हूं। मैं हूं ही। अब होने की कोई जरूरत न रही। अब बीज जिद करेगा कि मैं हूं ही।
उधार ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। अपना ज्ञान सम्यक ज्ञान है, राइट नालेज है। स्वयं जाना, तो वृक्ष हो जाएंगे। दूसरे के जाने को पकड़ा और कहा कि मेरा ही जानना है, तो फिर बीज ही रह जाएंगे।
तो यह मत पूछिए, अज्ञान का कारण क्या है? अज्ञान का कारण तो यही है कि ज्ञान होने के लिए अज्ञान से ही गुजरना अनिवार्य है। जागने के पहले नींद से गुजरना अनिवार्य है। सुबह के पहले रात से गुजरना अनिवार्य है।
सुबह होगी ही नहीं, अगर रात न हो। कैसे होगी सुबह? रात न हो, तो सुबह न होगी। इसलिए जो गहरा देखते हैं, वे मानते हैं, रात सुबह के आने की तैयारी है, जस्ट प्रिपरेशन; सुबह हो सके, इसकी पूर्व भूमिका है। सुबह के लिए ही रात है गर्भ, सुबह है जन्म। रात प्रेगनेंट है सुबह से; उसके गर्भ में छिपी है सुबह। रात मां है, सुबह बेटा है। अज्ञान मां है, ज्ञान बेटा है। उससे ही होगा।
नहीं कोई विरोध है। कारण की कोई बात नहीं। ऐसा नियम है, अगर विज्ञान
की भाषा में कहें तो।
अगर वैज्ञानिक से पूछें कि हाइड्रोजन और आक्सीजन मिलकर पानी क्यों बनता है, क्या कारण है? तो वह कहेगा, बनता है; कारण नहीं है। इट इ.ज सो, ऐसा है, ऐसी प्रकृति है। विज्ञान कहेगा, ऐसा है। ऐसा जीवन का नियमन है, दिस इ.ज दि ला, अल्टिमेट ला, आखिरी नियम है। अंडे से मुर्गी पैदा होती है, ऐसा है। एक वैज्ञानिक से कोई पूछ रहा था कि अंडे और मुर्गी में फर्क क्या है?
तो उसने कहा कि अंडा मुर्गी के पैदा होने की राह है, मार्ग है, दि वे; मुर्गी के पैदा होने का ढंग।
ज्ञान अज्ञान से जगता है, अज्ञान से पैदा होता है। रुकावट पड़ती है मिथ्या ज्ञान से। इसलिए मैं बताना चाहूंगा कि मिथ्या ज्ञान का कारण क्या है? उसका कारण है, आलस्य, लिथार्जी।
दूसरे का ज्ञान मुफ्त में मिल जाए, तो अपने ज्ञान को खोजने की मेहनत कौन करे, क्यों करे! प्रमाद। मुफ्त मिल जाए, तो खरीदने कौन जाए! सड़क पर पड़ा हुआ मिल जाए!
लेकिन ज्ञान के साथ यह खराबी है कि सड़क पर पड़ा हुआ कभी नहीं मिलता। और मिलता हो, तो झूठा सिक्का होगा। ज्ञान मिलता ही स्वयं की चेष्टा से है, श्रम से है, तपश्चर्या से है। अन्यथा नहीं मिलता है।
आलस्य मिथ्या ज्ञान को पकड़ा देता है। कहता है, क्या जरूरत! जब कृष्ण
को पता है, तो हम और नाहक क्यों खोजें? कृष्ण का ही वाक्य रट लें, न हन्यमाने--रट लें कृष्ण को ही, न हन्यते हन्यमाने शरीरे--नहीं मरता शरीर के मरने से कोई। कंठस्थ कर लें। नाहक ध्यान, तप, योग, इस उपद्रव में हम क्यों पड़ें? जब तुम्हें पता ही है, तुमने हमें बता दिया; हमने याद कर लिया। लेकिन यह होगी मेमोरी, ज्ञान नहीं। यह होगी स्मृति, याददाश्त, ज्ञान नहीं।

आलस्य कारण है मिथ्या ज्ञान का। और अहंकार कारण है मिथ्या ज्ञान का।
और आलस्य और अहंकार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां-जहां अहंकार, वहां- वहां आलस्य। जहां-जहां आलस्य, वहां-वहां अहंकार। सघन हो गया आलस्य ही तो अहंकार है। फैल गया अहंकार ही तो आलस्य है।
अहंकार क्यों? क्योंकि मैं अज्ञानी हूं, ऐसा मानना अहंकार के लिए कठिन पड़ता है। और जो यह नहीं मान पाता कि मैं अज्ञानी हूं, वह तो ज्ञान के अंडे को ही, बीज को ही इनकार कर रहा है। मुर्गी तो कभी फिर पैदा नहीं होगी। इसलिए ज्ञान की पहली शर्त है, अज्ञान की स्वीकृति। और अज्ञान को बचाना हो, तो पहली शर्त है, अज्ञान का अस्वीकार। अज्ञान है ही नहीं; मैं जानता ही हूं; फिर बात ही समाप्त हो गई।
इसलिए उपनिषद कहते हैं, अज्ञानी तो भटकते ही हैं, ज्ञानी और भी बुरी तरह भटक जाते हैं। अज्ञानी तो अंधकार में पड़ते ही हैं, ज्ञानी महाअंधकार में पड़ जाते हैं। बड़ा अदभुत वचन है।
किन ज्ञानियों की बात हो रही है? उन ज्ञानियों की बात हो रही है, जो मिथ्या ज्ञानी हैं। मिथ्या ज्ञान का कारण है, आलस्य। मुफ्त मिले, हम क्यों श्रम करें! पचा-पचाया मिले, तो हम क्यों चबाएं! हम ऐसे ही लील जाएं। यह नहीं हो सकता।
कारण है अहंकार। मन मानने को राजी नहीं होता कि मैं अज्ञानी हूं। कहता है, मैं जानता ही हूं। जो हम नहीं जानते, उसको भी हम कहते हैं कि हम जानते हैं। हम स्वीकार करने को तैयार ही नहीं होते कि हम अज्ञानी हैं। हम अपने अज्ञान को भी सिद्ध करने में लगे रहते हैं कि यही ज्ञान है।
सारी दुनिया में जितने विवाद हैं, वे अज्ञान को सिद्ध करने के विवाद हैं। इस दुनिया में जितने झगड़े हैं, वे सत्य के झगड़े नहीं हैं; वे अज्ञानियों के अपने अज्ञान को सिद्ध करने के झगड़े हैं। और अज्ञानी अपने अज्ञान को सिद्ध करने के लिए ज्ञानियों के कंधों तक पर बंदूक रख लेते हैं! उनके पीछे खड़े हो जाते हैं और उपद्रव मचाते हैं।
अज्ञान अज्ञान है, ऐसा जिसने जाना, उसके ज्ञान की पहली किरण फूट गई। अज्ञान अज्ञान है, ऐसा जिसने पहचाना--यह बहुत बड़ा ज्ञान है, यह छोटा ज्ञान नहीं है। अज्ञान को जानना कि अज्ञानी हूं मैं, बहुत बड़ी घटना है, शायद सबसे बड़ी घटना है। फिर जो भी घटेगा, इससे छोटा है।

जिस व्यक्ति को पता चल गया कि मैं सोया हूं, उसका जागरण शुरू हो गया। क्योंकि नींद में कभी पता नहीं चलता कि मैं सोया हूं। अगर आपको पता चल गया कि नींद में हूं, तो पता चल गया है कि जागा हूं। क्योंकि पता किसको चलेगा? आपने जाना कि अज्ञानी हूं, तो वह जानने वाला भीतर खड़ा हो गया, जो अज्ञान को जानता है। और जो अज्ञान को जानता है, वह ज्ञान है। टु बी अवेयर आफ वन्स इग्नोरेंस, अपने अज्ञान के प्रति होश से भर जाना पहला कदम है। पहला भी, शायद अंतिम भी। क्योंकि फिर सब इसी से निकलता है। अंकुर फूट गया। क्रांति घटित हो गई। बीज टूट गया, अंकुर फूट गया; अब वृक्ष बड़ा हो जाएगा। वह अंकुर का ही विस्तार है, कोई नई घटना नहीं है।
असली क्रांति तो उस वक्त है, जब बीज टूटता है और अंकुर मिट्टी की पर्तों को, अंधेरे को निकालकर, तोड़कर, बाहर फूटता है रोशनी में; सूरज को झांकता है और देखता है। असली क्रांति घट गई। अब तो फिर ठीक है। अब यही वृक्ष बड़ा हो जाएगा। इसमें फूल लगेंगे, फल लगेंगे; सब होगा। लेकिन अब रेवोल्यूशन नहीं है कोई। रेवोल्यूशन तो हो गई, क्रांति तो हो गई; जब बीज टूटा, उसी वक्त हो गई।
पहली क्रांति और आखिरी क्रांति अज्ञान का बोध है।
आलस्य और अहंकार के कारण यह बोध नहीं हो पाता।
आप पूछ सकते हैं कि आलस्य और अहंकार क्यों हैं? मैं कहूंगा, हैं। और जो
भी क्यों का उत्तर दे, वह नासमझ है। नासमझ इसलिए कि जो भी उत्तर होगा, उसके लिए भी पूछा जा सकता है, क्यों? उसका जो उत्तर दे, वह और भी ज्यादा नासमझ है। क्योंकि फिर भी पूछा जा सकता है कि वह क्यों? इनफिनिट रिग्रेस! फिलासफी इसी मूढ़ता में पड़ी है। सारी दुनिया की फिलासफी, सारी दुनिया का

दर्शनशास्त्र इसी उपद्रव में उलझा हुआ है। हर चीज पर हम पूछते चले जाते हैं, क्यों? क्यों? क्यों? और इसका कोई अंत नहीं हो सकता।
धर्म इस मूढ़ता में नहीं पड़ता। वह कहता है, ऐसा है। अब इसका हम क्या उपयोग कर सकते हैं, उसे करने में लगें। और आगे क्यों में न जाएं। क्योंकि क्यों का कोई अंत नहीं है, हमारा अंत है। हम क्यों पूछते-पूछते समाप्त हो जाएंगे।
इसलिए बुद्ध के पास जब भी कोई आता, तो वे कहते कि तुम क्रांति के लिए आए, अपने को बदलने के लिए आए, या कि सिर्फ जवाब चाहिए? अगर सिर्फ जवाब चाहिए, तो किताबों में काफी हैं, पंडितों के पास बहुत हैं; फिर मुझे परेशान मत करो। अगर जीवन में क्रांति चाहिए, तो फिर वही पूछो, जिससे क्रांति घटित हो सकती है। वह मत पूछो, जिसका कोई प्रयोजन नहीं, असंगत है, इररेलेवेंट है। इसलिए बुद्ध तो जिस गांव में जाते, उस गांव में डुंडी पिटवा देते, ग्यारह प्रश्न कोई न पूछे। ये प्रश्न कोई पूछे ही न। क्योंकि इन प्रश्नों को पूछने वाला पूछता ही चला जाता है।
नहीं, असली सवाल यह नहीं है कि आलस्य और अहंकार क्यों हैं। असली सवाल
यह है कि कैसे मिटेंगे? व्हाई दे आर, यह असली सवाल नहीं है। क्यों हैं? हैं।
लेकिन जिंदगी में हम कभी ऐसे सवाल नहीं पूछते। एक आदमी को मकान बनाना
है, तो वह यह नहीं पूछता कि नींव में पत्थर क्यों हैं? निकालकर बाहर कर दें। एक आदमी को आग को बुझाना है, तो वह यह नहीं पूछता कि आग पानी डालने से क्यों बुझती है? पानी डालता है और बुझा देता है। एक आदमी को टी.बी. हो गया है, तो वह डाक्टर से यह नहीं पूछता कि इस इंजेक्शन के देने से टी.बी. क्यों मिटता है? वह इंजेक्शन लेता है और मिटा देता है।
लेकिन जहां हम परमात्मा की तरफ आते हैं, वहां हम क्यों पूछते हैं। कुछ कारण होना चाहिए। असल में क्यों हमारी पोस्टपोन करने की तरकीब है। क्यों हम पूछ सकते हैं अंतहीन। और अंतहीन हम स्थगन कर सकते हैं। क्योंकि जब तक पूरा पता न चल जाए, तब तक हम बदलें भी कैसे! जब तक पूरा पता न चल जाए, तब तक हम बदलें भी कैसे!
धर्म दर्शन नहीं है। धर्म बहुत प्रेक्टिकल है। धर्म बहुत ही व्यावहारिक है। धर्म इसीलिए साइंटिफिक है, वैज्ञानिक है। धर्म एक प्रयोगशाला है। मैं जो भी कह रहा हूं, वह स्पेकुलेटिव नहीं है; वह सिद्धांतवादी नहीं है। उसमें नजर इतनी ही है कि आपको वे मूल सूत्र ख्याल में आ जाएं, जिनसे जिंदगी बदली जा सकती है।
आलस्य और अहंकार, मिथ्या ज्ञान का सहारा है। मिथ्या ज्ञान अज्ञान को बचाने का आधार है। अहंकार और आलस्य छोड़ें, मिथ्या ज्ञान गिर जाएगा। मिथ्या ज्ञान गिरा, अज्ञान का बोध होगा। अज्ञान का बोध हुआ, ज्ञान की यात्रा शुरू हो जाती है। और वे पुरुष, जो ज्ञान के अमृत को उपलब्ध हो जाते हैं, वे परलोक में आनंद को उपलब्ध होते ही हैं, इस लोक में भी आनंद से भर जाते हैं।
एक आखिरी श्लोक और।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। 32।।
ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार किए गए हैं। उन सबको शरीर, मन और इंद्रियों की क्रिया द्वारा ही उत्पन्न होने वाले जान। इस प्रकार तत्व से जानकर निष्काम कर्मयोग द्वारा संसार-बंधन से मुक्त हो जाएगा।

इन सारे यज्ञों के द्वारा, इन सारे यज्ञों को करते हुए, निष्काम कर्म
के भाव से दृष्टारूप हुआ व्यक्ति मुक्त हो जाता है।
यह सूत्र कनक्लूसिव है। वह जो भी कहा है इसके पहले, उसकी निष्पत्ति है। निष्पत्ति में, जीवन के समस्त कर्मों को कामना के कारण नहीं,

निष्कामना के आधार पर करते हुए, यह आधार है निष्पत्ति का। दो बातें आपसे कहूं, तो ख्याल में आ जाए।
एक, हम एक ही तरह के कर्म को जानते हैं अब तक। वह कर्म है, सकाम। बिना कामना के हमने कोई कर्म कभी जाना नहीं। इसीलिए तो हमने आनंद कभी जाना नहीं। सिवाय दुख के हमारा कोई परिचय नहीं है।
सकाम कर्म की एक खूबी है, जब तक नहीं पूरा होता, तब तक सुख की आशा रहती है। जब पूरा होता है, दुख के फल हाथ में आते हैं। निष्काम कर्म की एक खूबी है, जब तक करते हैं, तब तक कामना और आशा से शून्य होना पड़ता है; और जब कर्म पूरा हो जाता है, तो आनंद से भर जाते हैं, आपूरित हो जाते हैं।
सकाम कर्म को हम भलीभांति जानते हैं। हम सब ने सकाम कर्म किए हैं। हमने प्रेम किया, तो सकाम। हमने मित्रता की, तो सकाम। हमने दुकान चलाई, तो सकाम। हमने प्रार्थना भी की, तो सकाम। हम प्रभु के मंदिर में भी खड़े हुए, तो कामना को लेकर। हमने यज्ञ भी किया, तो कामना को लेकर। हमने भजन भी किया, तो भी कामना को लेकर। हमारा अनुभव कामना का अनुभव है। निष्पत्ति भी हमारी दुख की निष्पत्ति है। इतना हम भी जानते हैं।
कृष्ण जो कहते हैं, वह इससे उलटी बात कहते हैं।
हमारा अनुभव यह है कि हमने जहां-जहां कामना के फूल को तोड़ना चाहा, वहीं-वहीं दुख का कांटा हाथ में लगा। जहां-जहां कामना के फूल के लिए हाथ बढ़ाया, फूल दिखाई पड़ा जब तक, हाथ में न आया; जब हाथ में आया, तो सिर्फ लहू, खून; कांटा चुभा; फूल तिरोहित हो गया।
लेकिन मनुष्य अदभुत है। उसका सबसे अदभुत होना इस बात में है कि वह अनुभव से सीखता नहीं। शायद ऐसा कहना भी ठीक नहीं। कहना चाहिए, अनुभव से सदा गलत सीखता है। सीखता नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं। सीखता है; गलत सीखता है।
अगर हाथ बढ़ाया और फूल हाथ में न आया और कांटा हाथ में आया, तो वह यही सीखता है कि मैंने गलत फूल की तरफ हाथ बढ़ा दिया; अब मैं ठीक फूल की तरफ हाथ बढ़ाऊं। यह नहीं सीखता कि फूल की तरफ हाथ बढ़ाना ही गलत है। यह नहीं सीखता। और साधारण आदमियों का तो हम छोड़ दें। राम अपनी कुटिया के बाहर बैठे हैं। स्वर्णमृग दिखाई पड़ जाता है। स्वर्णमृग! सोने का हिरण! होता नहीं। पर जो नहीं होता, वह दिखाई पड़ सकता है। जिंदगी में बहुत कुछ दिखाई पड़ता है, जो है ही नहीं। और जो है, वह दिखाई नहीं पड़ता है।

स्वर्णमृग दिखाई पड़ता है राम को। उठा लेते हैं धनुष-बाण। सीता कहती है, जाओ, ले आओ। निकल पड़ते हैं स्वर्णमृग को मारने। यह कथा बड़ी मीठी है! राम स्वर्णमृग को मारने निकल पड़ते हैं! सोने का मृग कहीं होता है?
लेकिन आपको भी दिखाई पड़ जाए, तो रुकना मुश्किल हो जाए। असली मृग हो, तो रुक भी जाएं; सोने का मृग दिखाई पड़ जाए, तो रुकना मुश्किल हो जाएगा।
हम सभी तो सोने के मृग के पीछे भटकते हैं। एक अर्थ में हम सबके भीतर का राम सोने के मृग के लिए ही तो भटकता है। और हम सबके भीतर की सीता उकसाती है, जाओ, सोने के मृग को ले आओ।
हम सबके भीतर की कामना, हम सबके भीतर की वासना, हम सबके भीतर की डिजायरिंग कहती है भीतर की शक्ति को, ऊर्जा को, राम को--कि जाओ। इच्छा है सीता; शक्ति है राम। कहती है, जाओ, स्वर्णमृग को ले आओ। दौड़ते फिरते हैं। स्वर्णमृग हाथ में न आए, तो लगता है कि अपनी कोशिश में कुछ कमी रह गई। और दौड़ो। स्वर्णमृग को तीर मारो; गिर जाए, न लगे, तो लगता है और विषधर तीर बनाओ। लेकिन यह ख्याल में नहीं आता कि स्वर्ण का मृग होता ही नहीं है। कामना के फूल आकाश-कुसुम हैं; होते नहीं हैं; आकाश के फूल हैं। जैसे धरती पर तारे नहीं होते, वैसे आकाश में फूल नहीं होते हैं। कामना के कुसुम या तो धरती के तारे हैं या आकाश के फूल।
सकाम हमारी दौड़ है। बार-बार थककर, गिर-गिरकर भी, बार-बार कांटे से उलझकर भी फूल की आकांक्षा नहीं जाती है। दुख हाथ लगता है। लेकिन कभी हम दूसरा प्रयोग करने का नहीं सोचते।
कृष्ण कहते हैं, निष्काम भाव से... ।

बड़ा मजा है। निष्काम भाव से कांटा भी पकड़ा जाए, तो पकड़ने पर पता चलता
है कि फूल हो गया! ऐसा ही पैराडाक्स है। ऐसा जिंदगी का नियम है। ऐसा होता है।
आपने एक अनुभव तो करके देख लिया। फूल को पकड़ा और कांटा हाथ में आया, यह
आप देख चुके। और अगर ऐसा हो सकता है कि फूल पकड़ें और कांटा हाथ में आए, तो उलटा क्यों नहीं हो सकता है कि कांटा पकड़ें और फूल हाथ में आ जाए? क्यों नहीं हो सकता? अगर यह हो सकता है, तो इससे उलटा होने में कौन-सी कठिनाई है! हां, जो जानते हैं, वे तो कहते हैं, होता है।
तो एक प्रयोग करके देखें। चौबीस घंटे में एकाध काम निष्काम करके देखें। पूरा तो करना मुश्किल है, एकाध काम। चौबीस घंटे में एक काम सिर्फ, निष्काम करके देखें। छोटा-सा ही काम; ऐसा कि जिसका कोई बहुत अर्थ नहीं होता। रास्ते पर किसी को बिल्कुल निष्काम नमस्कार करके देखें। इसमें तो कुछ खर्च नहीं होता! लेकिन लोग निष्काम नमस्कार तक नहीं कर सकते हैं! नमस्कार तक में कामना होती है। मिनिस्टर है, तो नमस्कार हो जाती है! पता नहीं, कब काम पड़ जाए। मिनिस्टर नहीं रहा अब, एक्स हो गया, तो कोई उसकी तरफ देखता ही नहीं। वही नमस्कार करता है। वह इसलिए नमस्कार करता है कि अब फिर कभी न कभी काम पड़ सकता है।
कामना के बिना नमस्कार तक नहीं रही! कम से कम नमस्कार तो बिना कामना
के करके देखें। और हैरान हो जाएंगे। अगर साधारण से जन को भी, राहगीर को भी, अपरिचित को भी, भिखारी को भी हाथ जोड़कर नमस्कार कर ली, बिना कामना के, तो भीतर तत्काल पाएंगे कि आनंद की एक झलक आ गई। सिर्फ नमस्कार भी--कोई बड़ा कृत्य नहीं, कोई बड़ी डीड नहीं, कुछ नहीं--सिर्फ हाथ जोड़े निष्काम, और भीतर पाएंगे कि एक लहर शांति की दौड़ गई। एक अनुग्रह, एक ईश्वर की कृपा भीतर दौड़ गई।
और अगर अनुभव आने लगे, तो फिर बड़े काम में भी निष्काम होने की भावना जगने लगेगी। जब इतने छोटे काम में इतनी आनंद की पुलक पैदा होती है, तो जितना बड़ा काम होगा, उतनी बड़ी आनंद की पुलक पैदा होगी। फिर तो धीरे-धीरे पूरा जीवन निष्काम होता चला जाता है।
इन सब यज्ञों को करते हुए जो व्यक्ति निष्काम भाव में जीता है... ।
जीवन ही यज्ञ है। अगर कोई निष्काम भाव में जी सके, तो वह मुक्त हो जाता है। मुक्त--समस्त बंधनों से, दुखों से, पीड़ाओं से, संतापों से, चिंताओं से। अभी हम यहां कीर्तन के लिए अंत में इकट्ठे होंगे, निष्काम कम से कम कीर्तन ही कर लें। निष्काम, कोई कामना नहीं। निष्काम दस मिनट डूब जाएं उस परमात्मा के लिए प्रार्थना में। कुछ पाना नहीं है उसके बाहर; मिलेगा बहुत। जो पाने आया है, पाएगा कुछ भी नहीं। जिसकी कामना है कि कुछ मिल जाए दस मिनट के भजन से, उसे कुछ न मिलेगा। जिसकी कोई कामना नहीं है, वह दस मिनट में ऐसा पाएगा, फुलफिल्ड हुआ! भीतर भर गया कोई संगीत! डूब गया कोई आनंद! खिल गए कोई फूल!
दस मिनट संन्यासियों के साथ सम्मिलित हों। अपनी जगह पर भी रहें, तो ताली बजाएं, उनके स्वर में स्वर मिलाएं। अपनी जगह पर भी, मौज आ जाए, तो नाचें। यहां न आएं; जरूरी नहीं है। और बैठे रहें जिनको बैठना है, वे बैठकर ताली बजाएं, बैठकर स्वर दोहराएं। सम्मिलित हों! क्योंकि कुछ आनंद हैं, जो सम्मिलित होने से ही मिलते हैं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
चौदहवां प्रवचन

चरण-स्पर्श और गुरु-सेवा

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। 33।।
हे अर्जुन, सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ से ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ, संपूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञान में शेष होते हैं, अर्थात ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है।

मन मांगता रहता है संसार को; वासनाएं दौड़ती रहती हैं वस्तुओं की तरफ; शरीर आतुर होता है शरीरों के लिए; आकांक्षाएं विक्षिप्त रहती हैं पूर्ति के लिए--ऐसे एक यज्ञ तो जीवन में चलता ही रहता है। यह यज्ञ चिता जैसा है। आग तो जलती है, लपटें तो वही होती हैं। जो हवन की वेदी से उठती हैं लपटें, वे वे ही होती हैं, जो लपटें चिता की अग्नि में उठती हैं। लपटों में भेद नहीं होता। लेकिन चिता और हवन में तो जमीन-आसमान का भेद है।
हमारा जीवन भी आग की लपट है। लेकिन वासनाएं जलती हैं उसमें; उन लपटों में आकांक्षाएं, इच्छाएं जलती हैं। गीला ईंधन जलता है इच्छा का, और सब धुआं-धुआं हो जाता है। ऐसे आग में जलते हुए जीवन को भी यज्ञ कहा जा सकता है, लेकिन अज्ञान का, अज्ञान की लपटों में जलता हुआ।
इस अज्ञान की लपटों में जलते हुए, कभी-कभी मन थकता भी है, बेचैन भी होता है, निराश भी, हताश भी। हताशा में, बेचैनी में कभी-कभी प्रभु की तरफ भी मुड़ता है। दौड़ते-दौड़ते इच्छाओं के साथ, कभी-कभी प्रार्थना करने का मन भी हो आता है। दौड़ते-दौड़ते वासनाओं के साथ, कभी-कभी प्रभु की सन्निधि में आंख बंद कर ध्यान में डूब जाने की कामना भी जन्म लेती है। बाजार की भीड़-भाड़ से हटकर कभी मंदिर के एकांत, मस्जिद के एकांत कोने में भी डूब जाने का ख्याल उठता है।
लेकिन वासनाओं से थका हुआ आदमी मंदिर में बैठकर पुनः वासनाओं की मांग शुरू कर देता है। बाजार से थका आदमी मंदिर में बैठकर पुनः बाजार का विचार शुरू कर देता है। क्योंकि बाजार से वह थका है, जागा नहीं; वासना से थका है, जागा नहीं। इच्छाओं से मुक्त नहीं हुआ, रिक्त नहीं हुआ; केवल इच्छाओं से विश्राम के लिए मंदिर चला आया है। उस विश्राम में फिर इच्छाएं ताजी हो जाती हैं।
प्रार्थना में जुड़े हुए हाथ भी संसार की ही मांग करते हैं! यज्ञ की वेदी के आस-पास घूमता हुआ साधक भी, याचक भी पत्नी मांगता है, पुत्र मांगता है, गौएं मांगता है, धन मांगता है; यश, राज्य, साम्राज्य मांगता है!
असल में जिसके चित्त में संसार है, उसकी प्रार्थना में संसार ही होगा। जिसके चित्त में वासनाओं का जाल है, उसके प्रार्थना के स्वर भी उन्हीं वासनाओं के धुएं को पकड़कर कुरूप हो जाते हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, असली यज्ञ तो ज्ञान यज्ञ है। श्रेष्ठतम तो ज्ञान यज्ञ है। और ज्ञान यज्ञ का अर्थ हुआ, जिसमें कोई सांसारिक मांग नहीं है, जिसमें कोई सांसारिक आकांक्षा नहीं है।
यहां एक बात और समझ लेनी जरूरी है कि जब कहते हैं, सांसारिक मांग नहीं,
तो अनेक बार मन में ख्याल उठता है, तो गैर-सांसारिक मांग तो हो सकती है न! जब कहते हैं, संसार की वस्तुओं की कोई चाह नहीं, तो ख्याल उठ सकता है कि मोक्ष की वस्तुओं की चाह तो हो सकती है न! नहीं मांगते संसार को, नहीं मांगते धन को, नहीं मांगते वस्तुओं को; मांगते हैं शांति को, आनंद को। छोड़ें, इन्हें भी नहीं मांगते। मांगते हैं प्रभु के दर्शन को, मुक्ति को, ज्ञान को।
तो एक बात और समझ लेनी जरूरी है। सांसारिक मांग तो सांसारिक होती ही है; मांग ही सांसारिक होती है। वासनाएं सांसारिक हैं, यह तो ठीक है। लेकिन वासना मात्र सांसारिक है, यह भी स्मरण रख लें।

शांति की कोई मांग नहीं होती; अशांति से मुक्ति होती है और शांति परिणाम होती है। शांति के लिए मांगा नहीं जा सकता; सिर्फ अशांति को छोड़ा जा सकता है, और शांति मिलती है। और जो शांति को मांगता है, वह कभी शांत नहीं होता, क्योंकि उसकी शांति की मांग सिर्फ एक और अशांति का जन्म होती है। इसलिए साधारणतया अशांत आदमी इतना अशांत नहीं होता, जितना शांति की चेष्टा में लगा हुआ आदमी अशांत हो जाता है! अशांत तो होता ही है और यह शांति की चेष्टा और अशांत करती है। यह भी मांग है। यह भी इच्छा है। यह भी वासना है।
मोक्ष मांगा नहीं जा सकता। क्योंकि जब तक मोक्ष की मांग है, जब तक मांग है, तब तक बंधन है। और बंधन और मोक्ष का मिलन कैसे! मोक्ष मांगा नहीं जा सकता; क्योंकि मांग ही बंधन है। हां, बंधन न रहे, तो जो रह जाता है, वह मोक्ष है।
हम परमात्मा को चाह नहीं सकते; क्योंकि चाह ही तो परमात्मा और हमारे बीच बाधा है। ऐसा नहीं कि धन की चाह बाधा है; चाह ही--डिजायर एज सच। ऐसा नहीं कि इस चीज की चाह बाधा है और उस चीज की चाह बाधा नहीं है; चाह ही बाधा है। क्योंकि चाह ही तनाव है, चाह ही असंतोष है। चाह ही, जो नहीं है, उसकी कामना है। जो है, उसमें तृप्ति नहीं। चाह मात्र बाधा है।
अगर ठीक से कहें, तो सांसारिक चाह कहना ठीक नहीं, चाह का नाम संसार है। वासना संसार है; सांसारिक वासना कहना ठीक नहीं।
लेकिन हम भाषा में भूलें करते हैं। सामान्य करते हैं, तब तो कठिनाई नहीं आती; चल जाता है। लेकिन जब इतने सूक्ष्म और नाजुक मसलों में भूलें होती हैं, तो कठिनाई हो जाती है। भूलें भाषा में हैं। भूलें भाषा में हैं, क्योंकि अज्ञानी भाषा निर्मित करता है। और ज्ञानी की अब तक कोई भाषा नहीं है। उसको भी अज्ञानी की भाषा का ही उपयोग करना पड़ता है।
ज्ञानी की भाषा हो भी नहीं सकती, क्योंकि ज्ञान मौन है; मुखर नहीं, मूक है। ज्ञान के पास जबान नहीं है; ज्ञान साइलेंस है, शून्य है। ज्ञान के पास शब्द नहीं हैं। शब्द उठने तक की भी तो अशांति ज्ञान में नहीं है। इसलिए अज्ञानी की भाषा ही ज्ञानी को उपयोग करनी पड़ती है। और फिर भूलें होती हैं। अब जैसे यह भूल निरंतर हो जाती है। हम कहते हैं, संसार की चीजों को मत चाहो। कहना चाहिए, चाहो ही मत, क्योंकि चाह का नाम ही संसार है। हम कहते हैं, मन को शांत करो। ठीक नहीं है कहना। क्योंकि शांत मन जैसी कोई चीज होती नहीं। अशांति का नाम मन है। जब तक अशांति है, तब तक मन है; जब अशांति नहीं, तो मन भी नहीं।
शांत मन जैसी कोई चीज होती नहीं; साइलेंट माइंड जैसी कोई चीज होती नहीं। जहां शांति हुई, वहां मन तिरोहित हुआ। अशांत मन है, ऐसा कहना ठीक नहीं; अशांति का नाम मन है।
ऐसा समझें, तूफान आया है लहरों में सागर की। फिर हम कहते हैं, तूफान शांत हो गया। जब तूफान शांत हो जाता है, तो क्या सागर के तट पर खोजने से शांत तूफान मिल सकेगा? हम कहते हैं, तूफान शांत हो गया। तो पूछा जा सकता है, शांत तूफान कहां है? शांत तूफान होता ही नहीं। तूफान का नाम ही अशांति है। शांत तूफान! मतलब, तूफान मर गया; अब तूफान नहीं है। शांत मन का अर्थ, मन मर गया; अब मन नहीं है।
चाह के छूटने का अर्थ, संसार गया; अब नहीं है। जहां चाह नहीं, वहां परमात्मा है। जहां चाह है, वहां संसार है। इसलिए परमात्मा की चाह नहीं हो सकती। और अनचाहा संसार नहीं हो सकता। ये दो बातें नहीं हो सकतीं।
कृष्ण कहते हैं, ज्ञान यज्ञ... ।
अज्ञान का यज्ञ चल रहा है। पूरा जीवन अज्ञान यज्ञ है। फिर इस अज्ञान
से ऊबे, थके, घबड़ाए हुए लोग विश्राम के लिए, विराम के लिए, धर्म, पूजा, प्रार्थना, ध्यान, उपासना में आते हैं। लेकिन मांगें उनकी साथ चली आती हैं। चित्त उनका साथ चला आता है।
एक आदमी दूकान से उठा और मंदिर में गया। जूते बाहर छोड़ देता, मन को भीतर ले जाता। जूते भीतर ले जाए, तो बहुत हर्ज नहीं, मन को बाहर छोड़ जाए।
जूते से मंदिर अपवित्र नहीं होगा। जूते में ऐसा कुछ भी अपवित्र नहीं है।

मन? मगर जूते बाहर छोड़ जाता है और मन भीतर ले जाता है। घर से चलता है, तो स्नान कर लेता है।
मैं यह नहीं कह रहा हूं कि जूते आप ले जाना! घर से चलता है, स्नान कर लेता है, शरीर धो लेता है। मन? मन वैसे का वैसा बासा, पसीने की बदबू से भरा, दिनभर की वासनाओं की गंध से पूरी तरह लबालब, दिनभर के धूल कणों से बुरी तरह आच्छादित! उसी गंदे मन को लेकर मंदिर में प्रवेश कर जाता है।
फिर जब हाथ जोड़ता है, तो हाथ तो धुले होते हैं, लेकिन जुड़े हुए हाथों
के पीछे मन गैर-धुला होता है। आंखें तो परमात्मा को देखने के लिए उठती हैं, लेकिन भीतर से मन परमात्मा को देखने के लिए नहीं उठता। वह फिर वस्तुओं की कामना और वासना लौट आती है। हाथ जुड़ते हैं परमात्मा से कुछ मांगने के लिए। और जब भी हाथ कुछ मांगने के लिए जुड़ते हैं, तभी प्रार्थना का अंत हो जाता है। मांग और प्रार्थना का कोई मेल नहीं है।
फिर प्रार्थना क्या है? प्रार्थना सिर्फ धन्यवाद है, मांग नहीं; डिमांड नहीं, थैंक्स गिविंग; सिर्फ धन्यवाद। जो मिला है, वह इतना काफी है; उसके लिए मंदिर धन्यवाद देने जाना चाहिए।
धार्मिक आदमी वही है, जो मंदिर धन्यवाद देने जाता है। अधार्मिक? अधार्मिक वह नहीं, जो मंदिर नहीं जाता; वह तो अधार्मिक है ही। अधार्मिक असली वह है, जो मंदिर मांगने जाता है।
कृष्ण कहते हैं, ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठतम है, अर्जुन!
ज्ञान यज्ञ का अर्थ है, वासना के धुएं से मुक्त; जहां चेतना निर्धूम ज्योति की तरह जलती है। निर्धूम ज्योति। धुआं बिल्कुल नहीं; सिर्फ चेतना की ज्योति रह जाती। ऐसी ज्ञान की ज्योति जब जलती है व्यक्ति में, तो वासना का कोई भी धुआं कहीं नहीं होता; कोई मांग नहीं होती। परम तृप्ति होती है, वही होने में, जो हैं। वही, जो है, उसके साथ पूरा तालमेल, सामंजस्य होता है। इस ज्ञान यज्ञ के लिए कृष्ण ने बहुत-सी विधियां कही हैं।
अंत में वे कहते हैं, यह सर्वश्रेष्ठ है अर्जुन! छोड़ वासनाओं को, छोड़ भविष्य को, छोड़ सपनों को, छोड़ अंततः अपने को। ऐसे जी, जैसे प्रभु तेरे भीतर से जीता। ऐसे जी, जैसे चारों ओर प्रभु ही जीता। ऐसे कर, जैसे प्रभु ही करवाता। ऐसे कर, जैसे प्रत्येक करने के पीछे प्रभु ही फल को लेने हाथ फैलाकर खड़ा है। तब ज्ञान यज्ञ घटित होता है। और ज्ञान यज्ञ परम मुक्ति है, दि अल्टिमेट फ्रीडम।
अज्ञान बंधन है, ज्ञान मुक्ति है। अज्ञान रुग्णता है, ज्ञान स्वास्थ्य है।
यह स्वास्थ्य शब्द बहुत अदभुत है। दुनिया की किसी भाषा में उसका ठीक-ठीक अनुवाद नहीं है। अंग्रेजी में हेल्थ है; और-और पश्चिम की सभी भाषाओं में हेल्थ से मिलते-जुलते शब्द हैं। हेल्थ का मतलब होता है, हीलिंग, घाव का भरना। शारीरिक शब्द है; गहरे नहीं जाता। स्वास्थ्य बहुत गहरा शब्द है। उसका अर्थ हेल्थ ही नहीं होता; हेल्थ तो होता ही है, घाव का भरना तो होता ही है। स्वास्थ्य का अर्थ है, स्वयं में स्थित हो जाना, टु बी इन वनसेल्फ। आध्यात्मिक बीमारी से संबंधित है स्वास्थ्य।
स्वास्थ्य का अर्थ है, स्वयं में ठहर जाना। इंचभर भी न हिलना, पलकभर
भी न कंपना। जरा-सा भी कंपन न रह जाए भीतर। कंपन, वेवरिंग, जरा भी न रह जाए। बस, तब स्वास्थ्य फलित होता है! वेवरिंग क्यों है, कंपन क्यों है, कभी आपने ख्याल किया?
जितनी तेज इच्छा होती है, उतना कंपन हो जाता है भीतर। इच्छा नहीं होती, कंपन खो जाता है। इच्छा ही कंपन है। आप कंपते कब हैं? दीया जलता है। कंपता कब है? जब हवा का झोंका लगता है। हवा का झोंका न लगे, तो दीया निष्कंप हो जाता, ठहर जाता, स्वस्थ हो जाता। अपनी जगह हो जाता। जहां होना चाहिए, वहां हो जाता। हवा के धक्के लगते हैं, तो ज्योति वहां हट जाती, जहां नहीं होना चाहिए। जगह से च्युत हो जाती; रुग्ण हो जाती; कंपित हो जाती। और जब कंपित होती है, तो बुझने का, मौत का डर पैदा हो जाता है। जोर की हवा आती, तो ज्योति बुझने-बुझने को, मरने-मरने को होने लगती है।

ठीक ऐसे ही इच्छाओं की तीव्र हवाओं में, वासना के तीव्र ज्वर में कंपती है चेतना, कंपित होती है। और जब वासना बहुत जोर से कंपाती है, तो मौत का डर पैदा होता है।
इसलिए यह भी ख्याल में ले लें, जो वासना से मुक्त हुआ, वह मृत्यु के भय
से मुक्त हो जाता है। जो दीए की लौ हवा के धक्कों से मुक्त हुई, उसे क्या मौत का डर? मौत का डर खो गया।
लेकिन जब तूफान की हवा बहती है, तो दीया कंपता और डरता है कि मरा, मरा। लौट-लौटकर आता है अपनी जगह पर; हवा धक्के दे-देकर अपनी जगह से च्युत कर देती है। ठीक ऐसा हमारी अज्ञान की अवस्था में चित्त होता है। दीए की ज्योति वासना की वायुओं में जोर से कंपती है। कंपती ही रहती है; कभी ठहर नहीं पाती। एक कंपन छूटता, तो दूसरा कंपन शुरू होता है। एक वासना हटती, तो दूसरा झोंका वासना का आता है। कहीं कोई विराम नहीं, कहीं कोई विश्राम नहीं। बस, यह दीए का कंपन, और पूरे वक्त मौत का डर।
जितना वासनाग्रस्त आदमी, उतना मौत से भयभीत। जितना वासनामुक्त आदमी, उतना मौत से निर्भय, अभय। वासना ही भय है मृत्यु में। जितनी वासना का कंपन, उतना आत्मिक रोग, उतना स्प्रिचुअल डिसीज, उतनी ही आध्यात्मिक रुग्णता। क्योंकि कंपन रोग है। कंपने का अर्थ ही है, स्थिति में नहीं है; कोई भी धका जाता।
कृष्ण कहते हैं, ज्ञान यज्ञ परम मुक्ति है; क्योंकि ज्ञान परम स्वास्थ्य है। कैसे होगा उपलब्ध? वासना से जो मुक्त जो जाता-- मांग से, चाह से--वह ज्ञान की अग्नि में से गुजरकर खालिस सोना हो जाता है। यह परम यज्ञ कृष्ण ने अर्जुन को इस सूत्र में कहा।

प्रश्नः भगवान श्री, बत्तीसवें श्लोक में कहा गया है कि बहुत प्रकार
के यज्ञ ब्रह्मणो मुखे, ब्राह्मण मुख से विस्तार किए गए हैं। गीता प्रेस ने ब्रह्मणो मुखे का हिंदी अनुवाद किया है, वेद की वाणी में। कृपया बताएं कि ब्रह्मणो मुखे, ब्राह्मण मुख से यज्ञों के विस्तार होने का आप क्या अर्थ लेते हैं?

ब्रह्म के मुख से का बिल्कुल ठीक-ठीक अनुवाद नहीं है, वेद के मुख से।
या फिर वेद का अर्थ बहुत विस्तीर्ण करना पड़े।
ब्रह्म के मुख से बहुत-बहुत योगों का आविर्भाव हुआ है।
ब्रह्म का मुख कौन है? खुद ब्रह्म का मुख तो हो नहीं सकता। ब्रह्म को सदा ही किसी और के मुख का उपयोग करना पड़ता है। जिनके मुखों का ब्रह्म उपयोग करता है, वे वे ही लोग हैं, जो अपने को पूरी तरह ब्रह्म को समर्पित करते हैं, उपकरण बन जाते हैं, मीडियम। बांसुरी की तरह रख जाते हैं ब्रह्म के निराकार पर और निराकार उनकी बांसुरी से गूंजकर आकार की दुनिया में बसे हुए लोगों तक स्वर बनकर पहुंच जाता है।
जो व्यक्ति भी अपने को समग्ररूपेण प्रभु को समर्पित कर देता, वह ब्रह्म का मुख बन जाता है।
जैनों के तीर्थंकर ब्रह्म के मुख हैं। बुद्ध ब्रह्म के मुख हैं।
जीसस, मोहम्मद ब्रह्म के मुख हैं। लाओत्से, जरथुस्त्र ब्रह्म के मुख हैं।
मोजिज, इजेकिएल ब्रह्म के मुख हैं। सारी पृथ्वी पर अनंत-अनंत मुखों से ब्रह्म ने कहे हैं बहुत-बहुत मार्ग।
अगर वेद का अर्थ ऐसा हो कि इस हमारे मुल्क में पैदा हुआ जो शास्त्र वेद कहा जाता, उससे ही निकला हुआ जो है, वह ब्रह्म का कहा हुआ है। तो फिर जीसस के मुख से निकला हुआ ब्रह्म का कहा हुआ नहीं होगा। फिर महावीर के मुख से निकला हुआ ब्रह्म का कहा हुआ नहीं है। फिर लाओत्से के मुख से निकला हुआ ब्रह्म का कहा हुआ नहीं है।
वेद में जो कहा है, वह तो ब्रह्म के मुख से निकला ही है; लेकिन वेद का अर्थ अगर हम चार संहिताएं करें, तो हम ब्रह्म को बहुत सीमित करते हैं, अन्याय करते हैं।

वेद का ठीक-ठीक अर्थ करें, तो वेद का अर्थ होता है, नालेज, ज्ञान। वेद उसी शब्द से निर्मित होता है, जिससे विद्वान, विद्वता। वेद का अर्थ होता है, ज्ञान। विद का अर्थ होता है, टु नो, जानना। अगर ठीक-ठीक जो कि मौलिक अर्थ है, वेद का जो ठीक-ठीक अर्थ है, वह है, जानना। जहां भी जानने की घटना घटी है, वहीं वेद की संहिता निर्मित हो गई है।
अगर कोई मुझसे पूछे, तो मैं कहूंगा, बाइबिल वेद की एक संहिता है, कुरान वेद की एक संहिता है। पृथ्वी पर जहां-जहां ज्ञान उदघोषित हुआ है, ब्रह्म ने ही कहा है। किसी के मुख को माध्यम बनाया है। मुख अलग-अलग हैं, भाषाएं अलग-अलग हैं। मुख अलग-अलग हैं, परंपराएं अलग-अलग हैं। मुख अलग-अलग हैं, प्रतीक अलग-अलग हैं। लेकिन जो जानता है, वह सब भाषाओं, सब प्रतीकों के पार, उस एक वाणी को पहचानता है।
वेद की अनंत संहिताएं हैं। जो चार हमारे पास हैं, वे हमारे पास हैं। लेकिन पृथ्वी पर मनुष्य-जाति का कोई कोना ऐसा नहीं, जहां ब्रह्म ने किसी मुख का उपयोग न किया हो। अनंत मुखों से उसकी धारा बही है।
वेद का अर्थ है, जो भी जानने वाले लोगों के द्वारा कहा गया है--कहीं भी
और कभी भी, किसी काल में और किसी समय में।
लेकिन सांप्रदायिक मन ऐसी बात मानने को तैयार नहीं होता है। गीता प्रेस, गोरखपुर के लोग ऐसी बात मानने को तैयार नहीं होंगे। वे कहेंगे, वेद तो हमारा है। उतने में सीमा है। हमारा भी इतना नहीं कि महावीर को भी समा सके। हमारा भी इतना नहीं कि बुद्ध को भी समा सके। हमारा भी इतना नहीं कि वह सतत प्रवाहमान और ग्रोइंग हो--कि जो भी आए, उसे समा सके। सभी जातियों को ऐसी भ्रांति पैदा होती है।
लेकिन शब्द देखने जैसे हैं। जैसे कि बाइबिल के लिए शब्द जो है, बाइबिल। बाइबिल का मतलब होता है, दि बुक; सिर्फ किताब। कोई नाम नहीं है। जिन्होंने जाना, उनका संग्रह कर दिया। सिक्खों की किताब का नाम है, गुरुग्रंथ। जिन्होंने जाना, जो इस योग्य हुए कि दूसरों को जना सकें, उनके शब्द इकट्ठे कर दिए; नाम दिया, गुरुग्रंथ। वेद, जिन्होंने जाना, उनकी वाणी संगृहीत कर दी; नाम दिया, वेद। ये सारी किताबें साधारण किताबें नहीं हैं। इनकी कोई सीमा का, इनका कोई संप्रदाय का आग्रह खतरनाक है, मनुष्य को तोड़ने वाला है।
तो कृष्ण जब कहते हैं, ब्रह्म के मुख से, तो उनका प्रयोजन साफ है। वे
भी कह सकते थे, वेद के मुख से। वह उन्होंने नहीं कहा। नहीं कहा है, स्पष्ट जानकर ही। कहते हैं, ब्रह्म के मुख से। प्रयोजन यह है कि कहीं भी ब्रह्म का मुख खुल सकता है। जहां भी किसी व्यक्ति का अपना मुख बंद हो जाएगा, वहीं ब्रह्म का मुख खुल सकता है। जहां भी कोई व्यक्ति अपनी तरफ से बोलना बंद कर देगा, वहीं से प्रभु उससे बोलने लगता है। जहां भी कोई व्यक्ति अपने को पूरा सरेंडर कर देता है, वहीं से... । इसलिए वेद को हम कहते हैं, अपौरुषेय; मनुष्य के द्वारा निर्मित नहीं।
लेकिन सांप्रदायिक मन अजीब-अजीब अर्थ निकालता है। अज्ञान अर्थ निकालने में बहुत कुशल है; अज्ञान व्याख्या करने में भी बहुत कुशल है। अज्ञान अर्थ निकाल लेता है; वेद अपौरुषेय हैं, तो निकाल लेता है अर्थ कि वेद परमात्मा के द्वारा रचित हैं। फिर इतने से भी कोई खतरा नहीं है। फिर यह भी अर्थ संगृहीत होता चला जाता है कि सिर्फ वेद ही परमात्मा के द्वारा रचित हैं; फिर कोई और किताब परमात्मा के द्वारा रचित नहीं हो सकती। फिर उपद्रव शुरू होते हैं। फिर आदमी बीच में आ गया। जानने वालों की वाणी पर भी उसने कब्जा कर लिया।
वेद अपौरुषेय हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि परमात्मा के द्वारा रचित हैं; क्योंकि परमात्मा के द्वारा तो सभी कुछ रचित है। अलग से वेद को रचा हुआ कहने का कोई कारण नहीं। वेद अपौरुषेय हैं इस अर्थ में कि जिन्होंने उन्हें रचा, उनके भीतर अपना कोई अहंकार नहीं था, उनके भीतर अपना कोई भाव नहीं था कि मैं। पुरुष विदा हो गया था; अपुरुष भीतर आ गया था। पर्सन जा चुका था, नान-पर्सनल भीतर आ गया था। हट गए थे वे; और जगह दे दी थी प्रभु की अनंत सत्ता को। उसके द्वारा ही इनके हाथों ने रचे। रचे तो आदमी ने ही हैं।

हाथ तो आदमी का ही उपयोग में आया है। कलम तो आदमी ने ही पकड़ी है। शब्द तो आदमी ने बनाए हैं। लेकिन उस आदमी ने, जिसने अपने हाथ को प्रभु के हाथ में दे दिया; जो एक मीडियम बन गया; और कहा कि लिख डालो। फिर उसने नहीं लिखा। ऐसा एक बार हुआ। रवींद्रनाथ ने गीतांजलि लिखी, फिर अंग्रेजी में अनुवाद की। अनुवाद करके सी.एफ.एण्ड्रूज को दिखाई। सोचा, अंग्रेजी भाषा है, पराई, कोई भूल-चूक न हो जाए। एण्ड्रूज ने चार जगह भूलें निकालीं। कहा, यहां-यहां गलत है। ठीक-ठीक ग्रैमेटिकल, ठीक-ठीक व्याकरण के अनुकूल नहीं है। इन्हें ठीक कर लो। रवींद्रनाथ मान गए। एण्ड्रूज अंग्रेज, बुद्धिमान, विचारशील, ज्ञाता! बदलाहट कर ली। तत्काल काटकर, जो एण्ड्रूज ने कहा, वह लिख लिया।
फिर रवींद्रनाथ लंदन गए और वहां कवियों की एक छोटी-सी गोष्ठी में उन्होंने पहली दफा गीतांजलि सुनाई, जिस पर बाद में नोबल पुरस्कार मिलने को था। तब तक मिला नहीं था। छोटे-से, बीस कवियों के बीच में। एक कवि, अंग्रेज कवि यीट्स बीच में उठकर खड़ा हो गया और उसने कहा कि दो-चार जगह ऐसा लगता है कि शब्द किसी और के हैं! रवींद्रनाथ ने कहा, किस जगह? उस आदमी ने दो जगह तो बिल्कुल पकड़कर बता दी--इस जगह शब्द किसी और के हैं।
रवींद्रनाथ ने कहा, लेकिन समझ में कैसे पड़ा तुम्हें? सच ही ये शब्द किसी और के हैं। मैंने इन्हें बदला है। तो यीट्स ने कहा कि जब तुम गा रहे थे, तब एक धारा थी, एक बहाव था, एक फ्लो था। अचानक लगा कि कोई पत्थर आ गया बीच में, धारा टूट गई। कोई और आ गया बीच में। हटाओ इन शब्दों को। रवींद्रनाथ ने कहा, मैं अपने शब्द बताऊं, जो मैंने पहले रखे थे! यीट्स
ने कहा कि ये शब्द भाषा की दृष्टि से गलत हैं, लेकिन भाव की दृष्टि से सही हैं। इन्हें जाने दो। भाषा की गलती चलेगी। अटका हुआ पत्थर तो सब नष्ट कर देता; वह नहीं चलेगा। ये चलेंगे; इन्हें चलने दो। ये सीधे आए हैं।
जब कोई व्यक्ति परमात्मा की वाणी से भरता है, तो उसे एक ही ध्यान रखना पड़ता है कि वह बीच में न आ जाए खुद। जैसे यहां एण्ड्रूज बीच में आए रवींद्रनाथ के; ऐसे अगर परमात्मा की वाणी भर जाए किसी में, तो उसे एक ही ध्यान रखना पड़ता है कि वह खुद बीच में न आ जाए।
इसलिए अगर धर्मशास्त्रों में कहीं भूलें हैं, तो वे भूलें उन आदमियों
की वजह से हैं, जो कहीं बीच में आ गए हैं। आदमी को माध्यम बनाएंगे, तो कई डर हैं।
कूलरिज मरा, अंग्रेजी का एक बहुत बड़ा महाकवि जब मरा, तो उसके घर में चालीस हजार कविताएं अधूरी मिलीं। मरने के पहले कई बार मित्रों ने कहा कि तुम यह करते क्या हो! यह ढेर कब पूरा होगा? कहीं तीन पंक्तियां लिखीं, चौथी पंक्ति नहीं है। तो कूलरिज ने कहा, तीन ही आईं; चौथी मैं मिला सकता था, लेकिन फिर मैं बीच में आ जाता। तो मैंने रख दी। जब चौथी आएगी, तो जोड़ दूंगा; नहीं आएगी, तो बात खतम हो गई।
कूलरिज ने अपनी जिंदगी में केवल सात कविताएं पूरी की हैं। सात कविताएं लिखने वाला आदमी पृथ्वी पर दूसरा नहीं है, जो महाकवि कहा जा सके! कूलरिज महाकवि है। सात हजार लिखने वाले भी महाकवि नहीं हैं। कूलरिज सात लिखकर भी महाकवि है! क्या बात है?
बात है। बात यह है कि कूलरिज बिल्कुल ही एब्सेंट है। जब भी वह लिखता है, तब अपने को बिल्कुल ही हटा देता है। जो आता है अनंत से, उसी को उतर जाने देता है। चालीस हजार मौकों पर टेंपटेशन तो रहा ही होगा। होता ही है। एक कविता बन गई पूरी; एक पंक्ति अटक गई है; जोड़ दो, पूरी हो जाए। मन कहता है, जोड़ दो। लेकिन कूलरिज हिम्मत का आदमी है। नहीं जोड़ता। रख देता है एक तरफ। मर गया चालीस हजार कविताओं को अधूरा छोड़कर।
वेद जिन्होंने रचे हैं, उनकी भी कठिनाई वही है। उपनिषद जिन्होंने कहे हैं, उनकी भी कठिनाई वही है। महावीर के वचन, बुद्ध के वचन--कठिनाई वही है।
कुरान, बाइबिल--कठिनाई वही है।
जब कोई व्यक्ति अपने को पूरा छोड़ता है, तब एक ही कठिनाई है कि वह कहीं भी, रत्तीभर भी बाकी न रह जाए। जब वह बाकी नहीं रहता, तो वाणी वेद हो जाती है।

वेद कोई ऐसी चीज नहीं कि समाप्त हो गई। वेद कभी समाप्त नहीं होगा। वेद सदा ग्रोइंग है, बढ़ता रहेगा। नए-नए लोग समर्पित होकर प्रभु को जब उसके माध्यम बनेंगे, तो फिर वेद, फिर वेद पैदा होता रहेगा। वेद निरंतर जन्म रहा है। वेद जन्मता ही रहेगा।
इस अर्थ में अगर वेद लें, तो फिर अनुवाद ठीक है; अन्यथा कृष्ण का शब्द
ही ठीक है, ब्रह्म मुख से। उसमें झगड़ा नहीं है; उसमें उपद्रव नहीं है। प्रयोजन इतना ही है कि परमात्मा की निरंतर ही, निरंतर ही अस्तित्व के गहरे से, जगह-जगह अभिव्यक्तियां हुई हैं। फूट पड़ी है वाणी। जैसे कोई झरना दबा हो, पत्थर हट जाए और फूट पड़े फव्वारे की तरह। ऐसा जब भी कभी अहंकार का पत्थर किसी के हृदय से हटा है, तो झरने फूट पड़े हैं।
सबके भीतर छिपा है वेद; पत्थर अहंकार का रखा है ऊपर। हटा दें पत्थर, फूट पड़ेगा झरना। आपके भीतर ही वेद का जन्म हो जाएगा। आप जो कहेंगे, वही वेद हो जाएगा।
इस अर्थ में तो ठीक। लेकिन कोई कहता हो, ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, इन संहिताओं का नाम वेद है, तो वह भ्रांति की और अज्ञान की बात कह रहा है। ये वेद हैं जरूर, लेकिन और भी वेद हैं। और ब्रह्म मुख से सभी निकला है।
बहुत कुछ संगृहीत नहीं हुआ। बहुत कुछ संगृहीत नहीं हो सका। बहुत कुछ पहचाना नहीं गया। बहुत कुछ आया और खो गया। अनंत-अनंत ऋषियों की वाणी पृथ्वी पर रही और विलीन हो गई है। टूटा-फूटा संगृहीत है। जो संगृहीत है, वह भी पूरा नहीं है। उसमें भी संग्रह करने वालों के हाथों की छाप स्पष्ट है।
जो संगृहीत है, उसमें भी जोड़-तोड़ है। स्वभावतः, आदमी की सीमा है, कमजोरी है।
इसलिए किताबों को मैं वेद नहीं कहता। मैं तो वेद ज्ञान को कहता हूं।
जहां भी ज्ञान है, वहीं वेद है, वहीं ब्रह्म बोल रहा है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। 34।।
इसलिए तत्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से भली प्रकार दंडवत प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किए हुए प्रश्न द्वारा, उस ज्ञान को जान। वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

कीमती है यह सूत्र। कृष्ण कहते हैं, दंडवत कर प्रश्न पूछ, तो वे ज्ञानीजन जो जानते, उसे प्रकट कर देते हैं।
प्रश्न बहुत तरह से पूछे जा सकते हैं। इसलिए शर्त लगाते हैं, दंडवत कर। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। क्योंकि आज दंडवत कर प्रश्न पूछने वाला आदमी मुश्किल से कहीं मिलता है।
प्रश्न बहुत तरह से पूछे जाते हैं। सौ में से नब्बे प्रतिशत प्रश्न सिर्फ कुतूहल, क्यूरिआसिटी होते हैं। बच्चे पूछें, माफ किए जा सकते हैं। बूढ़े पूछें, माफ नहीं किए जा सकते। कुतूहल!
बच्चा चल रहा है बाप के साथ, कुछ भी पूछता चलता है। कुछ भी पूछता चलता है, कि घोड़े के दो कान क्यों हैं? और बाप बुद्धिमान हुआ, तो कुछ भी जवाब देता चलता है। नासमझ हुआ तो डांटता है; बुद्धिमान हुआ तो कुछ भी जवाब देता चलता है।
कुतूहल से जो प्रश्न पूछे गए होते हैं, वे किसी भी जवाब की फिक्र नहीं करते। मिले तो ठीक, न मिले तो ठीक। क्योंकि तब तक कुतूहल आगे बढ़ गया होता है।
मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, ब्रह्म के संबंध में कुछ बताइए। मैं मिनट दो मिनट और कुछ बात करता हूं, जानकर ही। फिर वे घंटेभर बैठे रहते हैं, फिर दुबारा ब्रह्म की बात ही नहीं पूछते! कुतूहल था। घोड़े के कितने कान होते हैं, उससे ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल नहीं था। सवाल महत्वपूर्ण दिखता था, ब्रह्म-जिज्ञासा का था। लेकिन कुतूहल था; बस, पूछ लिया था।
एक गांव में मैं ठहरा था। दो बूढ़े मेरे पास आए। एक जैन थे, एक हिंदू ब्राह्मण थे। दोनों पड़ोसी थे, बचपन के साथी थे। और निरंतर का विवाद था

दोनों के बीच। क्योंकि हिंदू ब्राह्मण कहता था, ईश्वर ने सृष्टि बनाई; क्योंकि बिना बनाए कोई चीज कैसे हो सकती है! जैन कहता था, कोई बनाने वाला नहीं है; क्योंकि अगर कोई बनाने वाला है, तो फिर तो बनाने वाले का भी बनाने वाला होना चाहिए! और अगर ईश्वर बिना बनाए हो सकता है, तो सृष्टि ही को बनाने वाले की क्या जरूरत है? वह भी बिना बनाए हो सकती है।
तो सृष्टि अनादि है, जैन कहता। और हिंदू कहता कि उसका भी प्रारंभ है परमात्मा से। विवाद उनका लंबा था। कोई साठ के करीब दोनों की उम्र थी। उन्होंने मुझसे आकर कहा, हमारा लंबा विवाद है। अब तक हल नहीं हो पाया। अब तो हम मरने के करीब आ गए, यह विवाद हल होता भी नहीं। न मैं इनकी मानता, न ये मेरी मानते। आपको हम निर्णायक बनाते हैं। हम दोनों का विवाद हल करें। मैंने कहा कि निर्णायक मैं बन जाऊं, लेकिन पहले मेरे दो-तीन सवालों का जवाब दे दें। उन्होंने कहा, क्या? मैंने कहा कि अगर यह तय हो जाए कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई, तो मैंने ब्राह्मण बूढ़े से पूछा कि फिर तुम क्या करोगे? उसने कहा, नहीं; करना क्या है! मैंने कहा कि अगर यह तय हो जाए कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई नहीं, वह है भी नहीं। और सृष्टि सदा से है, तो मैंने जैन बूढ़े से पूछा कि फिर तुम्हारे इरादे क्या हैं? उसने कहा, कोई और इरादे नहीं हैं, बस यह तय हो जाना चाहिए। मैंने कहा, तुम कितने दिन से इस पर विवाद करते हो? जिस विवाद के तय हो जाने का कोई जीवंत परिणाम होने वाला नहीं है, वह कुतूहल है। जिस विवाद के कनक्लूसिव हो जाने पर तुम कहते हो, कोई और बात नहीं है, बस यह तय हो जाना चाहिए। प्रयोजन क्या है? होगा क्या? करोगे क्या?
मैंने उस ब्राह्मण बूढ़े को कहा कि जितना तुमने इनसे विवाद करने में समय गंवाया, उतनी देर तुमने उस ईश्वर को खोजा जिसने सृष्टि बनाई है? उसने कहा कि नहीं; अभी तो इस दिशा में कुछ किया नहीं। मैंने कहा, जितने दिन तुम इनसे विवाद कर रहे थे, उतने दिन अगर खोजते, तो शायद वह मिल ही जाता। लेकिन शायद उसे खोजने का कोई सवाल नहीं है।
मैंने उस जैन बूढ़े को कहा कि तुम्हें पक्का हो गया है कि प्रभु ने प्रकृति नहीं बनाई; अनादि है सृष्टि; तो इस अनादि सृष्टि के रहस्य को जानने के लिए तुमने क्या किया है? या इस आदमी से विवाद कर रहे हो, इतना जानकर; बस इतना ही उपयोग है इस जानने का? कुतूहल!
इसलिए कृष्ण पहले ही कहते हैं, दंडवत करके; कुतूहल से नहीं। क्योंकि
जो कुतूहल से पूछेगा, उसे कभी गहरे उत्तर नहीं मिल सकते हैं। आपकी आंखों में दिखा कुतूहल, और उत्तर देने वाला बचाव कर जाएगा। क्योंकि जो जानता है, वह हीरे उन्हीं के सामने रख सकता है, जो हीरों को पहचान सकते हों। हर किसी के सामने हीरे रख देना नासमझी है। अर्थ भी नहीं है, प्रयोजन भी नहीं है। तो जो जानता है, वह कुतूहल का उत्तर नहीं दे सकता है।
दूसरी बात, कुतूहल न हो, जिज्ञासा हो, इंक्वायरी हो; क्यूरिआसिटी न हो, जिज्ञासा हो। कुतूहल नहीं है; सच में ही जानना चाहता है एक आदमी। ऐसा नहीं कि ऐसे ही पूछ लिया, बाई दि वे! ऐसा नहीं, चलते थे रास्ते से, पूछ लिया, ऐसा नहीं। सच में ही जानना चाहता है; जानने को बड़ा आतुर है। लेकिन आतुर तो जानने को है, बहुत आतुर है, लेकिन जिससे जानना चाहता है, उसे इतना भी आदर नहीं देना चाहता कि मैं तुमसे जानना चाहता हूं; तो जानने की आतुरता भी सार्थक जिज्ञासा नहीं बन सकती है।
वह ऐसा ही है कि एक आदमी बहुत प्यासा है। हाथ चुल्लू बांधकर खड़ा है नदी के किनारे; लेकिन झुकना नहीं चाहता है कि झुके और पानी भर ले; तो नदी अपने नीचे बहती रहेगी। कोई नदी छलांग लगाकर और किन्हीं की चुल्लुओं में नहीं आती। चुल्लुओं को ही नदी तक झुकना पड़ता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, दंडवत करके।
ज्ञान की भी एक नदी है, धारा है। उसे कोई अहंकार में अकड़कर खड़ा होकर चाहे कि ज्ञान पा ले, कि किसी प्रश्न का सार्थक उत्तर पा ले, तो असंभव है। क्योंकि वह अहंकार ही बताता है कि जो झुकने को राजी नहीं, उसका चुल्लू भरा नहीं जा सकता। झुके!
झुकने में राज क्या है? झुकने का इतना आग्रह क्या है?

दंडवत करके प्रतीकात्मक है। दंडवत का मतलब यह नहीं है कि सच में ही कोई आदमी सिर जमीन पर रख दे, तो कुछ हल हो जाए। नहीं; भाव चाहिए दंडवत का। अहंकार झुका हुआ चाहिए; क्योंकि जहां अहंकार झुकता है, वहां हृदय का द्वार खुलता है। उस खुले द्वार में ही रिसेप्टिविटी, ग्राहकता पैदा होती है।
जहां हृदय का द्वार बंद है, अहंकार अकड़कर खड़ा है, द्वार बंद है, वहां उत्तर प्रवेश भी नहीं कर सकता। इसलिए अहंकार से पूछी गई जिज्ञासा को ज्ञानीजन उत्तर नहीं देते हैं। वे कहते हैं, जाओ, अभी समय नहीं आया। शिष्य और गुरु के बीच जो संबंध है, वह जैसा प्रचलित है, वैसा नहीं है।
शिष्य का मतलब ही इतना है कि सीखने को जो तैयार है। शिष्य का मतलब ही इतना है कि सीखने को जो तैयार है। तैयार है, सीखने को! शिष्य का बिगड़ा हुआ एक रूप आप देखते हैं, सुनते हैं, सिक्ख। सिक्ख का मतलब है, सीखने को जो तैयार है।
हालांकि सिक्ख सीखने को तैयार मिलेगा नहीं। सिक्ख होना बहुत मुश्किल है। शिष्य होना बहुत मुश्किल है।
शिष्य होने का मतलब है, जो कि सीखने को, झुकने को, विनम्र होने को राजी है। क्योंकि ह्युमिलिटी में, विनम्रता में ही द्वार खुलता है। जब हम झुकते हैं, तभी द्वार खुलता है। अकड़कर खड़े हुए आदमी के द्वार बंद होते हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, दंडवत करके जो प्रश्न पूछता है!
दंडवत करके कौन प्रश्न पूछता है? और दंडवत करके कौन प्रश्न नहीं पूछता है?
जो आदमी दंडवत करके प्रश्न नहीं पूछता है, वह वह आदमी है, जो भीतर तो
यह मानकर ही चलता है कि मुझे तो खुद ही पता है। ऐसे ही पूछे ले रहे हैं एक विटनेस के बतौर कि अगर इनको भी पता हो, तो गवाही मिल जाए कि जो हम जानते थे, वह ठीक है। दंडवत करके वही पूछता है, जिसे बोध है अपने अज्ञान का।
मैंने सुबह आपसे कहा, अज्ञान का बोध ज्ञान यज्ञ का पहला चरण है। उसको कृष्ण फिर दोहराते हैं। अब वे एक नए रूप से कहते हैं कि दंडवत करके जो पूछता, झुककर जो पूछता!
एक बहुत मीठी कहानी है। मैंने सुना है, एक सम्राट ने अपने दरबार के बुद्धिमानों को कहा कि मैं जानना चाहता हूं कि ब्रह्म इस जगत में, कहते हैं लोग, इस भांति समाया है कि जैसे नमक सागर के जल में। दिखाओ मुझे, यह समाया हुआ ब्रह्म कहां है?
विद्वान थे दरबार में लोग। लेकिन दरबार में जैसे विद्वान हो सकते हैं, वैसे ही थे। दरबार में कोई ज्ञानी होगा, इसकी आशा तो मुश्किल है। दरबारी विद्वान थे। सब जगह मिलते हैं। अगर दिल्ली में जाइए तो बहुत हैं। तो दरबारी विद्वान! उनका काम दरबार की शोभा बढ़ाना।शृंगारिक उपयोग है उनका, डेकोरेटिव। तो सभी सम्राट अपने दरबार में विद्वान रखते थे, नहीं तो सम्राट मूढ़ समझा जाए। लेकिन मूढ़ के दरबार में जो विद्वान हों, वे कितने विद्वान होंगे, यह समझा जा सकता है।
विद्वान मुश्किल में पड़े। बहुत समझाने की कोशिश की। बड़े उद्धरण दिए। लेकिन सम्राट ने कहा, नहीं, मुझे दिखाओ निकालकर। जो सभी जगह छिपा हुआ है, थोड़ा-बहुत तो निकालकर कहीं से दिखाओ! हवा से निकाल दो, दीवाल से निकाल दो, मुझसे निकाल दो, खुद से निकाल दो! कहीं से तो निकालकर थोड़ी तो झलक दिखाओ! मुश्किल में पड़ गए। पर सम्राट ने कहा, नहीं बता सकोगे कल सुबह तक, तो छुट्टी! फिर लौटकर मत आना। बड़ी कठिनाई हो गई। बड़ी कठिनाई हो गई!
द्वारपाल भी खड़ा हुआ सुनता था। दूसरे दिन सुबह जब विद्वान नहीं आए, तो
उस द्वारपाल ने कहा, महाराज! विद्वान तो आए नहीं; समय हो गया। और जहां तक मैं समझता हूं, वे अब आएंगे भी नहीं; क्योंकि उत्तर होता, तो कल सांझ को ही दे देते। रातभर में उत्तर खोजेंगे कैसे? कहीं उत्तर रखा हुआ थोड़े ही है कि वे उठाकर ले आएंगे, ढूंढ़ लेंगे, कि तैयार कर लेंगे। अगर अनुभव होता उन्हें, तो कल ही कह दिए होते। तो अगर हो इरादा, तो मैं उत्तर दूं।
राजा ने कहा, हद हो गई! तू द्वारपाल; सदा दरवाजे पर खड़ा रहा। विद्वान हार गए; तू उत्तर देगा! उसने कहा, मैं उत्तर दूंगा। राजा ने कहा, भीतर आ; उत्तर दे। उसने कहा, पहले नीचे उतरो सिंहासन से। मैं सिंहासन पर बैठता

हूं। दंडवत करो नीचे। राजा ने कहा, पागल, किस तरह की बातें करता है! उसने कहा, तो फिर, फिर तुम्हें उत्तर कभी नहीं मिलेगा। जो तुम्हारे चरणों में बैठते हैं, उनसे तुम्हें उत्तर कभी भी नहीं मिलेगा। क्योंकि वे उत्तर देने योग्य होते, तो तुम्हें चरणों में बिठा लिया होता उन्होंने। उतरो नीचे, उस द्वारपाल ने कहा।
राजा एकदम घबड़ा गया! कोई था भी नहीं। दरबार में कोई था नहीं। कहा, उतर नीचे! जब प्रश्न पूछा है, तो उत्तर देकर रहेंगे। राजा घबड़ाकर नीचे बैठ गया। द्वारपाल सिंहासन पर बैठ गया। द्वारपाल ने कहा, दंडवत कर! सिर झुका! राजा ने सिर झुकाया। और जीवन में पहली बार उसे सिर झुकाने के आनंद का अनुभव हुआ--पहली बार!
सिर अकड़ाए रखने की बड़ी पीड़ा है। लेकिन जिंदगीभर अकड़ाए रखने से पैरालिसिस हो जाती है। अकड़ ही जाता है। फिर उसको झुकाना हो, तो बड़ी कठिनाई होती है।
बड़ी मुश्किल से तो झुकाया। लेकिन सिर झुकाकर जब उसके पैरों में पड़ रहा, तो उस द्वारपाल ने थोड़ी देर बाद कहा कि अब ऊपर भी उठा! पर सम्राट ने कहा, थोड़ी देर रुक। मैंने तो यह सुख कभी लिया नहीं। थोड़ा रुक। जल्दी नहीं है उत्तर की।
आधी घड़ी, घड़ी बीतने लगी। द्वारपाल ने कहा, अब सिर उठाओ। जवाब नहीं लेना है? उस सम्राट ने ऊपर देखा और उसने कहा, जवाब मुझे मिल गया। अकड़ा था, इसीलिए मुझे पता नहीं चला उस ब्रह्म का; आज झुका तो मुझे पता लगा कि कहां खोजता हूं बाहर! जब सब जगह है, तो भीतर भी तो होगा ही। झुके-झुके मैं उसी में खो गया। उत्तर मुझे मिल गया। तुम मेरे गुरु हो।
बिना कहे उत्तर मिल गया! बिना उत्तर दिए उत्तर मिल गया! हुआ क्या? हंबलनेस, ह्युमिलिटी, विनम्रता गहरे में उतार देती है और वहां से जो अंतर-ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं, वे उत्तर बन जाती हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, दंडवत करके प्रश्न पूछना ऐसे पुरुष से।
लेकिन प्रश्न पूछने वाले आते हैं; मेरे पास ही आ जाते हैं, तो चारों तरफ देखते हैं कि कहां बैठें? प्रश्न क्या पूछना है! शायद प्रश्न के बहाने कुछ बताने ही चले आए हों।
आज पृथ्वी पर पूछने की कला ही खो गई है। हाउ टु बी ए डिसाइपल, कैसे सीखने वाले बनना, वह बात ही खो गई है। इसलिए मैं निरंतर कहता हूं, गुरु की कोई जरूरत नहीं। मूढ़जन बहुत प्रसन्न होते हैं। इसलिए नहीं कि वे समझ जाते हैं मेरा मतलब कि गुरु की जरूरत नहीं; वे समझ जाते हैं कि शिष्य होने की कोई जरूरत नहीं। बड़े प्रसन्न होते हैं! उनकी प्रसन्नता देखकर मैं हैरान होता हूं।
गुरु की कोई जरूरत नहीं, जब मैं यह कहता हूं, तो मेरा मतलब होता है कि गुरु को पता ही नहीं होता कि वह गुरु है। लेकिन शिष्य को पूरा पता होना चाहिए कि वह शिष्य है। क्योंकि शिष्य को अभी सीखना है; गुरु को अब सीखना नहीं है। गुरु वहां पहुंच गया है, जहां कुछ भी याद रखने की जरूरत नहीं है। शिष्य को अभी बहुत कुछ याद रखना है; क्योंकि अभी यात्रा पूरी नहीं हो गई है।
मुझसे लोग कहते हैं कि आप पहले तो कहते थे, गुरु की कोई जरूरत नहीं है।
और अब आप कहने लगे कि जरूरत है!
तो मैंने कभी नहीं कहा कि गुरु की कोई जरूरत नहीं, इस अर्थ में कि शिष्य की कोई जरूरत नहीं। लेकिन दंभी प्रकृति के व्यक्ति इस बात को सुनकर बड़े प्रसन्न होते हैं। गुरु की कोई जरूरत नहीं, उसका मतलब यह कि अब किसी से सीखने की कोई जरूरत नहीं। अब तो हम खुद ही गुरु हो गए! गुरु की कोई जरूरत नहीं, मतलब हम खुद ही गुरु हैं! तो उन्हें लगता है कि मैं कंट्राडिक्शन करता हूं। कह देता हूं कभी कि गुरु की जरूरत है!
जब मैं कहता हूं, गुरु की जरूरत है, तो मैं शिष्यों से कह रहा हूं। और
जब मैं कहता हूं, गुरु की कोई जरूरत नहीं, तो गुरुडम चलाने वाले गुरुओं से कह रहा हूं। क्योंकि गुरुडम जो चलाता है, वह तो गुरु होता नहीं। जिसे गुरु होने की धारणा भी पकड़ जाती है, वह तो गुरु के योग्य नहीं रह जाता है।

ध्यान रहे, गुरु का जिसे खुद ख्याल पकड़ जाए कि मैं गुरु हूं, वह गुरु नहीं रह जाता। और जिस शिष्य को यह ख्याल न पकड़े कि मैं शिष्य हूं, वह शिष्य नहीं रह जाता। और ऐसा शिष्य चाहिए, जिसे पता हो कि वह शिष्य है। और ऐसा गुरु चाहिए, जिसे पता न हो कि वह गुरु है। तब गुरु-शिष्य का मिलन होता है। तब सीखने वाला चाहिए झुका हुआ, खुला द्वार, वलनरेबल, ताकि कोई चीज उसमें प्रवेश कर सके। कुछ डाला जा सके, तो झेला जा सके। उलटा पात्र नहीं चाहिए शिष्य का, कि कुछ गिरे, तो सब बाहर गिर जाए। सीधा पात्र चाहिए। बुद्ध कहा करते थे कि कई पात्र ठीक हैं बिल्कुल, लेकिन उलटे रखे हैं।
उन पर हम डालते हैं, बेकार चला जाता है। कई पात्र सीधे रखे हैं, लेकिन बिल्कुल फूटे हैं। उन पर डालते हैं, बह जाता है। पात्र ऐसा चाहिए कि फूटा न हो। और पात्र ऐसा चाहिए कि फूटा न हो और सीधा हो।
जब कोई दंडवत करता, तो फूटा पात्र नहीं होता; क्योंकि झुकने के लिए बड़ी सामर्थ्य चाहिए। इसे जरा कठिन लगेगा सोचना कि झुकने के लिए बड़ी सामर्थ्य चाहिए। झुका तो कमजोर भी सकते हैं, झुकना सिर्फ महाशक्तिशालियों का काम है। झुका लेना तो किसी को बड़ा आसान है; झुक जाना बड़ा कठिन है। और तब झुक जाना तो आसान है, जब कोई झुकाता हो। तब झुक जाना महान कार्य है, जब कोई झुकाता न हो।
कोई गुरु कहे, झुक! डंडे से झुका दे; चार आदमी लगाकर झुका दे; तो झुक जाएंगे। लेकिन तब झुकना बहुत आसान है। लेकिन गर्दन ही झुकाई जा सकेगी, और कुछ भी नहीं झुकेगा। लेकिन जब कोई कहता ही नहीं झुकने की कोई बात; कोई आतुर ही नहीं; तब झुकना, तब सहज, स्पांटेनियस--दंडवत का वही अर्थ है, अपनी ओर से सब छोड़कर पड़ जाना, सरेंडर्ड, समर्पित।
उस क्षण में ही प्रश्न पूछा जा सकता है। उस क्षण में प्रश्न न तो कुतूहल होता, न जिज्ञासा होता; बल्कि उस क्षण में प्रश्न मुमुक्षा बन जाता है। उस क्षण में प्रश्न प्यास हो जाता है। उस क्षण में प्रश्न ऐसा नहीं है कि चलते हुए पूछ लिया; प्रश्न ऐसा नहीं है कि जानना चाहते थे, इसलिए पूछ लिया। प्रश्न ऐसा है कि रूपांतरित होना चाहते हैं, इसलिए पूछा। बदलना चाहते हैं, क्रांति से गुजरना चाहते हैं, म्यूटेशन से जाना चाहते हैं, और हो जाना चाहते हैं।
प्रश्न ऐसा नहीं था, जैसे बच्चे पूछ लेते। प्रश्न ऐसा नहीं था, जैसा वैज्ञानिक पूछता। प्रश्न ऐसा था, जैसा साधक पूछता है। ऐसा प्रश्न पूछा जाए, तो ही ज्ञान जिसके जीवन में घटित हुआ, उससे धारा बहनी शुरू होती है। दंडवत का एक और अर्थ आपको स्पष्ट करना चाहूंगा। क्योंकि बड़ी भ्रांतियां हैं। मैं निरंतर कहता रहा हूं कि किसी के पैर मत छुओ। लोग मेरे पैर छू लेते हैं। तो लोग मेरे पास आ जाते हैं कि आपने कहा कि किसी के पैर मत छुओ और फलां आदमी आपका पैर छू रहा था! आपने रोका क्यों नहीं?
किसी के पैर मत छुओ का मतलब, औपचारिक मत छुओ, फार्मल मत छुओ, जानकर मत छुओ, कोशिश करके मत छुओ, चेष्टा करके मत छुओ, एफर्ट से मत छुओ, प्रयत्न-यत्न से मत छुओ; और दूसरे छू रहे हैं, इसलिए मत छुओ; कोई क्या कहेगा, इसलिए मत छुओ।
पैर छूना उस क्षण दंडवत बन जाता है, जिस क्षण आपको पता ही नहीं चलता कि
आप पैर छू रहे हैं। एफर्टलेस! पता ही तब चलता है, जब पैर छूने की घटना घट गई होती है, जब कहीं सिर रख जाता है किसी चरण पर। तब ध्यान रहे, जब ऐसी मनोदशा में सिर रख जाता है किसी चरण पर, तो प्रार्थना घटित हो जाती है, ध्यान घटित हो जाता है। तो ऐसे क्षण में वह विनम्रता घटित हो जाती है, जो शिष्यत्व है, डिसाइपलशिप है।
और ये पैर एकदम ही व्यर्थ नहीं हैं, इनका आकल्ट उपयोग भी है। कभी आपने ख्याल किया, किसी पर क्रोध आता है, तो उसका सिर खोल देना चाहते हैं। बहुत क्रोध आ जाता है किसी को... ।
अभी मैं बड़ौदा में था। एक आदमी को बहुत क्रोध आ गया मुझ पर, तो उसने एक जूता फेंककर मेरी तरफ मार दिया। फिर भी मैंने उससे कहा कि तेरा क्रोध पूरा नहीं है; नहीं तो दूसरा जूता क्यों रोका है? उसको भी फेंक। और फिर एक जूते का मैं क्या करूंगा? दो जूते होंगे, तो कुछ उपयोग में आ सकते हैं!

क्रोध तेजी से आ जाए, तो जूता फेंकने का मन होता है। क्या बात है? सिंबालिक है। क्रोध जोर से आ जाए, तो दूसरे के सिर में पैर मारने की तबियत होती है। अब पैर तो मार नहीं सकते। इतनी छलांग लगाना, कुछ थोड़े से हाई जंप करने वालों को संभव हो! बाकी किसी के सिर में पैर मारने जाओ, तो हाथ-पैर अपने टूट जाएं! उतनी मेहनत मुश्किल मालूम पड़ती है। इसलिए जूते को सिंबालिक एक्ट की तरह, प्रतीक-चिह्न की तरह उसके सिर पर फेंक देते हैं, कि यह ले!
जब क्रोध में ऐसा घटित होता है, तो क्या इससे विपरीत घटित नहीं हो सकता कि किसी के चरणों में सिर रखने का क्षण आ जाए? जब क्रोध से पीड़ित, विक्षिप्त चित्त दूसरे के सिर पर पैर रखना चाहता है, तो मौन से, प्रेम से, प्रार्थना से, शांत हुआ चित्त, अगर दूसरे के पैरों में सिर रखना चाहे, तो आश्चर्य क्या है?
लेकिन जो लोग जूते मारने में कोई आश्चर्य न देखेंगे, वे लोग पैर पर सिर रखने देने से बड़े आश्चर्यचकित हो जाते हैं! असल में उन्हें रहस्य का कोई पता नहीं।
फिर यह भी ध्यान रहे कि दंडवत इस मुल्क में एक बहुत साइंटिफिक प्रोसेस का हिस्सा थी, एक वैज्ञानिक प्रक्रिया थी। प्रत्येक व्यक्ति का शरीर विद्युत-ऊर्जा से भरा है। और यह विद्युत-ऊर्जा कोणों से, कोनिकल जगह से बहती है--अंगुलियों से और पैर की अंगुलियों से, हाथ की अंगुलियों से और पैर की अंगुलियों से। जब भी कोई व्यक्ति इस स्थिति में पहुंच जाता है, समर्पित परमात्मा पर, तो उसकी ऊर्जा परमात्मा से संबंधित हो जाती है। उसके पैरों पर अगर सिर रख दिया है, तो विद्युत-संचरण, तरंगों का प्रवाह भीतर तक दौड़ जाता है। उसके हाथों से भी यह होता है। इसलिए पैर पर सिर रखने का रिवाज था। और हाथ सिर पर रखकर आशीष देने का रिवाज था।
अगर किसी व्यक्ति के पैरों पर आपने सिर रखा और उसने भी आपके सिर पर हाथ रख दिया, तो आपके दोनों के शरीर इलेक्ट्रिक सर्किट बन जाते हैं और विद्युत-धारा दोनों तरफ से दौड़ जाती है। इस विद्युत-धारा के दौड़ जाने के गहरे परिणाम हैं।
लेकिन जीवन के बहुत-से सत्य समय की धूल से जमकर व्यर्थ हो जाते हैं। जीवन के बहुत-से सत्य गलत लोगों के हाथ में पड़कर खतरनाक भी हो जाते हैं। दंडवत करके पूछना, प्रश्न करना, जिज्ञासा, तो जिसने जाना है, उससे ज्ञान का अमृत तेरी तरफ बह सकता है अर्जुन, ऐसा कृष्ण कहते हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, इस श्लोक में यह भी कहा गया है कि सेवा और निष्कपट भाव से किए गए प्रश्न पर ज्ञानीजन उपदेश करते हैं। कृपया सेवा और निष्कपट भाव से किए गए प्रश्न का अर्थ स्पष्ट करें।

अकेला प्रश्न, कुछ लेने की आकांक्षा है। लेकिन जिसने कुछ दिया नहीं,
वह लेने का अधिकारी नहीं है। पूछने चल पड़े, तो मांगने तो चल पड़े, लेकिन प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य भी चाहिए। और सच तो यह है कि मांगने का हक मिलता है तब, जब देने का काम पूरा हो चुका हो।
इसलिए पुरानी भारतीय आध्यात्मिक धारणा थी कि जब कोई पूछने जाए, तो सीधा पूछने न चला जाए। क्योंकि कितने विराट की मांग कर रहे हो तुम! तुम कह रहे हो, सत्य की खबर दो मुझे! कह रहे हो, परमात्मा का इशारा बताओ मुझे! कह रहे हो कि आखिरी मंजिल का द्वार कहां? मार्ग कहां? विधि कहां? पूछते हो परम को--सीधा पूछते हो! बिना कुछ दिए पूछते हो! अशोभन है। सेवा से और निष्कपट भाव से की गई सेवा से पूछो।
इसलिए इस मुल्क की व्यवस्था थी। और इस मुल्क की व्यवस्था इस पृथ्वी
पर की गई मनुष्य की व्यवस्थाओं में सर्वाधिक गहरी थी। हजार-हजार वर्षों में हजार-हजार प्रयोगों के बाद नियत की गई थी। हजारों-लाखों अनुभवों के बाद सार-निचोड़ था।
तो गुरु के पास शिष्य जाता, तो वर्षों तो सेवा करता। कभी पैर दबा देता। कभी उसका पानी भर लाता। कभी उसकी लकड़ी चीर देता। कभी उसकी आग जला

देता। और प्रतीक्षा करता कि गुरु किसी दिन कहे, पूछो। अपनी तरफ से पूछता भी नहीं। क्योंकि अनधिकार होगा। पता नहीं, मैं पात्र भी हूं या नहीं। पता नहीं, मेरी योग्यता भी है या नहीं। पता नहीं, मैं इस जगह भी हूं या नहीं कि पूछूं। और अगर मैं पूछ लूं, अपात्र होऊं, तो गुरु को उत्तर देने के व्यर्थ के कष्ट में डालने वाला न बन जाऊं! रुकूं। जिस दिन गुरु कहेगा, पूछ! पूछ लूंगा। प्रतीक्षा करता। कभी-कभी वर्ष बीत जाते। धैर्य, अवेटिंग, धीरज से राह देखता। करता रहता काम।
फिर किसी दिन गुरु कहता, ठीक। अब तू आ। अब तू पूछ। तुझे देखा। तुझे जाना। तुझे परखा। तुझे निकट से समझा। पात्र है तू। उठा ला समिधा। प्रश्न जगा। पूछ ले।
जिस दिन गुरु कहता, पूछ ले, उस दिन गुरु उस प्रसन्नता में, उस पात्र को पहचान लेने की प्रसन्नता में, लबालब भरा होता। जैसे बादल भर जाते हैं वर्षा के पहले; आतुर धरती कहीं भी पुकारे, बरस पड़ते हैं। ऐसे ही भरा होता है उस प्रसन्नता में। उस क्षण प्रसाद बहने को तत्पर होता। उस क्षण दंडवत करके, उस दिन चरणों में सिर रखकर वह अपना प्रश्न उपस्थित करता।
अदभुत लोग रहे होंगे। एकाध प्रश्न पूछने के लिए दो-चार वर्ष प्रतीक्षा करना! अदभुत लोग रहे होंगे। जिज्ञासा नहीं रही होगी, कुतूहल नहीं रहा होगा, मुमुक्षा रही होगी प्राणों की; दांव रहा होगा सारी जिंदगी को लगाने का। सवाल सवाल नहीं था, जिंदगी का सवाल था। उसके तय होने पर सब कुछ निर्भर था। तो दो वर्ष प्रतीक्षा भी की थी।
आज तो हालतें बड़ी मजेदार हैं। मैं अभी बिहार में था कुछ समय पहले। रात
दस बजे बोलकर लौटा। कलेक्टर उस गांव के आए। पढ़े-लिखे आदमी हैं। दस बजे आए। मैंने कहा, अब तो मेरे सोने का समय हुआ। आप सुबह आ जाएं, आठ बजे। उन्होंने कहा, आठ बजे तो मैं न आ पाऊंगा; क्योंकि आठ बजे तो मेरे नाश्ते का समय है।
लाए थे ब्रह्म-जिज्ञासा; कहने लगे, आठ बजे नाश्ते का समय है! मैंने कहा, तो फिर दस बजे आ जाएं, क्योंकि आठ से दस शिविरार्थियों के लिए दिया है। दस बजे आ जाएं।
दस बजे तो नहीं आ सकता। दफ्तर जाऊंगा।
ब्रह्म-जिज्ञासा! एक दिन की छुट्टी नहीं ली जा सकती! तो मैंने कहा, परसों आ जाएं। उन्होंने कहा, परसों! सुबह तो नहीं आ सकूंगा। कुछ मेहमान आते हैं। ब्रह्म-जिज्ञासा! मेहमान आ रहे हैं! मैंने कहा, सांझ आ जाएं। कहा कि थियेटर के टिकट ले रखे हैं! ब्रह्म-जिज्ञासा! थियेटर के टिकट ले रखे हैं!
तो फिर मैंने कहा कि हाथ जोड़कर दंडवत करूं आपके और पूछूं कि कब आज्ञा
है कि आपके दरवाजे उपस्थित हो जाऊं! थोड़े घबड़ाए। विचलित हुए।
क्या, चाहते क्या हैं हम? चाहते भी हैं कुछ?
स्वभावतः, अगर ब्रह्म हमारे अनुभव से खो गया है, तो आश्चर्य नहीं है। पूछने वाले ही खो गए। सम्यकरूपेण जानने की आतुरता वाले ही खो गए। इतना-सा छोड़ने का मन नहीं है!
इसलिए कहते हैं कृष्ण, सेवापूर्वक, निष्कपट भाव से... ।
निष्कपट भाव क्यों जोड़ दिया? क्योंकि सेवा में भी कपट हो सकता है। सेवा में भी सिर्फ इतना ही मतलब हो सकता है कि कर रहे हैं सेवा, ऐज ए बार्गेन, एक सौदे की तरह कि हम कर देंगे सेवा, तुम बता देना ब्रह्म!
जहां सौदा है, वहां सेवा नहीं रह गई, वहां कपट आ गया। निष्कपट! सेवा को
और भी कठिन बना दिया। करना सेवा निष्कपट कि अगर चार साल सेवा करने के बाद गुरु कहे, जाओ। मत पूछो। तो यह न कह पाओ कि मैंने चार साल सेवा की! क्या इसलिए? यह भी न कह पाओ। गुरु कहे, नहीं; जाओ। तो चले जाना कि सेवा का अवसर दिया, यही धन्यभाग है। निष्कपट इसलिए है।
निष्कपट सेवा हो, झुका हुआ सिर हो, खुला हुआ मन हो, तो ज्ञान की गंगा कहीं भी, कहीं से भी उतर आने को सदा तत्पर है।
शेष कल सुबह।
अब संन्यासी कीर्तन करेंगे, डूबेंगे इस भाव में। आप अपनी जगह बैठे रहें। उठें न! कल जैसी भीड़ न कर लें, अपनी जगह बैठे रहें। बैठकर ही देखेंगे,

ज्यादा आनंद आएगा। आगे न बढ़ें। जिनको कीर्तन करना है, वे आगे आ जाएंगे।
बाकी अपनी जगह बैठे रहें। दस मिनट डूबें। ताली बजाएं साथ में। गाएं साथ में। भाव में एक साथ हों।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
पंद्रहवां प्रवचन

मोह का टूटना

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। 35।।
कि जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा; और हे अर्जुन, जिस ज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी अनंत चेतनरूप हुआ अपने अंतर्गत समष्टि बुद्धि के आधार संपूर्ण भूतों को देखेगा और उसके उपरांत मेरे में अर्थात सच्चिदानंद स्वरूप में एकीभाव हुआ
सच्चिदानंदमय ही देखेगा।

ज्ञान का पहला आघात मोह पर होता है। ज्ञान की पहली चोट ममत्व पर होती है। या उलटा कहें, तो ममत्व के विदा होते ही ज्ञान की किरण, पहली किरण, फूटती है। मोह के नाश होते ही ज्ञान के सूर्य का उदय होता है। ये दोनों घटनाएं युगपत हैं, साइमल्टेनियस हैं। इसलिए दोनों तरह से कहा जा सकता है, प्रकाश के फूटते ही अंधकार विलीन हो जाता, या ऐसा कहें कि जहां अंधकार विलीन हुआ, हम जानते हैं कि प्रकाश फूट गया है।
कृष्ण कहते हैं, सम्यक विनम्रता से पूछे गए प्रश्न के उत्तर में ज्ञानीजन से जो उपलब्ध होता, उससे मोह-नाश होता है अर्जुन।
मोह-नाश का क्या अर्थ है? मोह क्या है?
पहला मोह तो यह है कि मैं रहूं। गहरा मोह यह है कि मैं रहूं। जीवन की अभीप्सा; जीता रहूं; कैसे भी सही, जीऊं जरूर, रहूं जरूर; मिट न जाऊं--लस्ट फार लाइफ; जिजीविषा।
जीने का मोह पहला और गहरा मोह है। शेष सब मोह उसके आस-पास निर्मित होते हैं। यदि कोई मकान को मोह करता, तो मकान को कोई मोह नहीं करता। मकान का मोह--मैं रह सकूं ठीक से, मैं बच सकूं ठीक से, सरवाइव कर सकूं--उसी मोह का विस्तार है। कोई धन को मोह करता। धन का मोह अपने में व्यर्थ है। अपने में उसकी कोई जड़ नहीं। उसकी रूट्स, उसकी जड़ उस मैं के बचाए रखने में ही है। धन न होगा, तो बचूंगा कैसे? धन होगा, तो बचने की चेष्टा कर सकता हूं।
अगर और संक्षिप्त में कहें, तो मोह मृत्यु के विरुद्ध संघर्ष है। पति पत्नी को मोह करता; पत्नी पति को मोह करती; बाप बेटे को मोह करता, बेटा बाप को मोह करता। वे सब सिक्योरिटी मेजर्स हैं, सरवाइवल मेजर्स हैं, बचने के उपाय हैं। मिट न जाऊं, बचूं सदा--जीने की ऐसी जो आकांक्षा है, वह मोह का गहरा रूप है। फिर बाकी सब आकांक्षाएं मोह की इसी आकांक्षा से पैदा होती हैं।
कभी-कभी हैरानी होती है। राह पर देखकर कभी अंधे, लंगड़े, लूले, भिखारी को, मन में सवाल उठा होगा, किसलिए जीना चाहता है? अंग-अंग गल गए हैं! किसलिए जीना चाहता है? कभी सवाल उठा होगा। उसी लिए, जिस लिए हम जीना चाहते हैं। अंग गल जाएं, लेकिन जीने का मोह नहीं गलता। आंखें चली जाएं, पैर टूट जाएं, आदमी सड़ता हो, फिर भी जीने का मोह नहीं पिघलता!
कई बार लगता है कि बूढ़े कहते हुए सुनाई पड़ते हैं कि अब तो परमात्मा उठा ही ले। तो आप यह मत समझना कि वे सच ही उठ जाने को तैयार हैं। अगर आप सब मिलकर कोशिश करने लगें कि ठीक; उठवाए देते हैं! तब आपको पता चलेगा कि वे जब यह कह रहे हैं कि अब तो परमात्मा उठा ही ले, तो वे सिर्फ एक शिकायत कर रहे हैं कि इस तरह जिंदा रखने में कोई मजा नहीं; और तरह जिंदा रखे। गहरे में मरने की आकांक्षा उनकी भी नहीं है।
मैंने सुनी है एक घटना; एक अरेबियन कहानी है। एक लकड़हारा रोज लकड़ी काटता है। गांव में बेचता है। बूढ़ा हो गया है। एक दिन लौट रहा है, सिर पर भारी बोझ है। सुबह दोपहर बन रही है। पसीने से लथपथ बूढ़ा आदमी है; लकड़ियां ढोता हुआ गांव की तरफ जा रहा है। कमर झुकी जाती है; बोझ सहा नहीं जाता।
अचानक मन से निकला, हे परमात्मा! इससे तो अच्छा है कि अब मौत से ही मिला दे।

ऐसा होता नहीं, जैसा उस कहानी में हो गया। मौत कहीं पास से गुजरती थी
और उसने सुन लिया। उसने सोचा, बेचारा, सच में तकलीफ में है। ले ही जाऊं। मौत आ गई। मौत सामने आकर खड़ी हुई। लकड़हारे से कहा, तुमने याद किया; मैं आ गई। बोलो, क्या करूं?
लकड़हारे ने कहा, नहीं, और कुछ नहीं, सिर्फ जरा सिर से बोझ उतार दो। और किसी लिए याद नहीं किया; बोझ जरा सिर पर ज्यादा है; राह पर कोई दिखाई नहीं पड़ता है, इसे नीचे उतार दो। घबड़ा गया मौत को देखकर। जब पुकारा था, तब सोचा भी नहीं था... ।
यह ख्याल रख लें, अगर परमात्मा हमारी सारी प्रार्थनाएं सुन ले, तो हम प्रार्थना करना सदा के लिए बंद कर दें। नहीं सुनता है, इसलिए किए चले जाते हैं। शायद इसीलिए नहीं सुनता है, क्योंकि हम अपने ही खिलाफ प्रार्थनाएं किए चले जाते हैं। क्योंकि पूरी कर दे, तो हम फिर भी शिकायत करेंगे कि तूने पूरी क्यों कर दी? हमारा यह मतलब थोड़े ही था! जब एक आदमी कहता है, हे प्रभु, अब तो उठा लो! तो उसका मतलब यह नहीं है कि उठा लो। उसका मतलब है, इस भांति जिंदा मत रखो, ढंग से जिंदा रखो! सांकेतिक भाषा में बोल रहा है।
कोई मरना नहीं चाहता।
आप कहेंगे, कुछ लोग आत्मघात कर लेते हैं। निश्चित कर लेते हैं। लेकिन कभी आपने ख्याल किया कि आत्मघात कौन लोग करते हैं! वे ही लोग, जिनका जीवन का मोह बहुत गहन होता है, डेंस। यह बहुत उलटी बात मालूम पड़ेगी।
एक आदमी किसी स्त्री को प्रेम करता है और वह स्त्री इनकार कर देती है,
वह आत्महत्या कर लेता है। वह असल में यह कह रहा था कि जीऊंगा इस शर्त के साथ, यह स्त्री मिले; यह कंडीशन है मेरे जीने की। और अगर ऐसा जीना मुझे नहीं मिलता--उसका जीने का मोह इतना सघन है--कि अगर ऐसा जीवन मुझे नहीं मिलता, तो वह मर जाता है। वह मर रहा है सिर्फ जीवन के अतिमोह के कारण। कोई मरता नहीं है।
एक आदमी कहता है, महल रहेगा, धन रहेगा, इज्जत रहेगी, तो जीऊंगा; नहीं तो
मर जाऊंगा। वह मरकर यह नहीं कह रहा है कि मृत्यु मुझे पसंद है। वह यह कह रहा है कि जैसा जीवन था, वह मुझे नापसंद था। जैसा जीना चाहता था, वैसे जीने की आकांक्षा मेरी पूरी नहीं हो पाती थी। वह मृत्यु को स्वीकार कर रहा है, ईश्वर के प्रति एक गहरी शिकायत की तरह। वह कह रहा है, सम्हालो अपना जीवन; मैं तो और गहन जीवन चाहता था। और भी, जैसी मेरी आकांक्षा थी, वैसा।
एक व्यक्ति किसी स्त्री को प्रेम करता है, वह मर जाती है। वह दूसरी स्त्री से विवाह करके जीने लगता है। इसका जीवन के प्रति ऐसी गहन शर्त नहीं है, जैसी उस आदमी की, जो मर जाता है।
जिनकी जीवन की गहन शर्तें हैं, वे कभी-कभी आत्महत्या करते हुए देखे जाते हैं। और कई बार आत्महत्या इसलिए भी आदमी करता देखा जाता है कि शायद मरने के बाद इससे बेहतर जीवन मिल जाए। वह भी जीवन की आकांक्षा है। वह भी बेहतर जीवन की खोज है। वह भी मृत्यु की आकांक्षा नहीं है। वह इस आशा में की गई घटना है कि शायद इस जीवन से बेहतर जीवन मिल जाए। अगर बेहतर जीवन मिलता हो, तो आदमी मरने को भी तैयार है। मृत्यु के प्रति उन्मुखता नहीं है; हो नहीं सकती। जीवन का मोह है।
जीवन के इस मोह की फिर बहुत शाखाएं फैल जाती हैं। वे सभी चीजें, जो जीने में सहयोगी होती हैं, महत्वपूर्ण बन जाती हैं। इसलिए धन इतना महत्वपूर्ण है। लोग कहते हैं कि धन में कुछ भी नहीं रखा। गलत कहते हैं। मोह का प्राण है वहां। मोह की आत्मा धन में बसती है।
इतना धन क्यों महत्वपूर्ण हो गया है? क्या लोग पागल हैं? नहीं; लोग पागल नहीं हैं। धन के बिना जीना बहुत कठिन है। जीने की आकांक्षा जितनी प्रबल है, धन पर पकड़ भी उतनी ही प्रबल होती है। धन पर प्रबल पकड़ सिर्फ जीने की प्रबल पकड़ की सूचना देती है।
अगर महावीर या बुद्ध जैसे लोग सब धन छोड़कर चले जाते हैं, तो धन छोड़कर नहीं जाते हैं। अगर गहरे में देखें, तो जीवन का जो आग्रह है, वह छूटने की वजह से धन छूट जाता है। धन को करेंगे भी क्या बचाकर? कल हुआ जीवन, तो ठीक है; न हुआ, तो ठीक है। नहीं हुआ तो उतना ही ठीक है, जितना हुआ तो ठीक है।

मोहम्मद रात सोते, तो सांझ घर में जो भी होता, सब बांट देते। एक पैसा
भी न बचाते। कहते, कल सुबह जीए, तो ठीक है; और परमात्मा जिलाना चाहेगा, तो कल सुबह भी इंतजाम करेगा। आज इंतजाम किया था, कल भी इंतजाम किया था। जीवनभर का अनुभव कहता है कि अब तक जिलाना था, तो उसने इंतजाम दिया है। कल भी भरोसा रखें।
मोहम्मद कहते कि जो आदमी तिजोड़ी सम्हालकर रखता है, वह नास्तिक है। है भी। कहेंगे, नास्तिक की बड़ी अजीब परिभाषा है! हम तो नास्तिक उसको कहते हैं, जो भगवान को नहीं मानता। मोहम्मद नास्तिक उसको कहते हैं, जो धन को मानता है।
और ध्यान रखें, जो धन को मानता है, वह भगवान को मान नहीं सकता। और जो भगवान को मानता है, वह धन को मानना उससे ऐसे ही तिरोहित हो जाता है, जैसे सूखे पत्ते वृक्ष से गिर जाते हैं। क्योंकि जो भगवान को मानता है, वह अपने जीने का मोह छोड़ देता है। परमात्मा का जीवन ही उसका अपना जीवन है अब।
तो मोहम्मद सांझ सब बांट देते। मोहम्मद से अपरिग्रही आदमी पृथ्वी पर बहुत कम हुए हैं। और यह अपरिग्रह कई अर्थों में महावीर और बुद्ध के अपरिग्रह से भी कठिन है। क्योंकि महावीर और बुद्ध एकबारगी छोड़ देते हैं। छोड़कर बाहर हो जाते हैं। अपरिग्रह उनका इकट्ठा है। बाहर हो गए; बात समाप्त हो गई। मोहम्मद इस तरह बाहर नहीं हो जाते। रोज सुबह से सांझ तक परिग्रह इकट्ठा होता, सांझ सब बांट देते। रात अपरिग्रही हो जाते। सुबह फिर कोई भेंट कर जाता, तो फिर आ जाता। सांझ फिर बांट देते।
इकट्ठे परिग्रह से छलांग लगानी सदा आसान है। रोज-रोज, रोज-रोज, रोज-रोज... । एक क्षण में सब छोड़ देना आसान है। क्षण-क्षण, जीवनभर छोड़ते रहना बहुत कठिन है। मगर दिखाई नहीं पड़ सकता ऊपर से। इसलिए मोहम्मद को बहुत लोग तो मानेंगे कि अपरिग्रही हैं ही नहीं। पर मैं कहता हूं कि उनका अपरिग्रह बहुत गहरा है।
मरने के दिन, बीमार थे, तो चिकित्सकों ने मोहम्मद की पत्नी को कहा कि
आज रात शायद ही कटे। तो उसने पांच दीनार बचाकर रख लिए। दवा की जरूरत पड़ जाए; पांच रुपए बचाकर रख लिए। रात क्या भरोसा! दवा, चिकित्सक, कुछ इंतजाम करना पड़े।
बारह बजे रात मोहम्मद करवट बदलते रहे। लगे कि बहुत बेचैन हैं। लगे कि बहुत परेशान हैं। अंततः उन्होंने आंख खोली और अपनी पत्नी से कहा कि मुझे लगता है, आज मैं अपरिग्रही नहीं हूं। आज घर में कुछ पैसा है। मत करो ऐसा, क्योंकि परमात्मा अगर मुझसे पूछेगा कि मोहम्मद, मरते वक्त नास्तिक हो गया? जिसने जिंदगीभर दिया, वह एक रात और न देता? निकाल! पत्नी ने कहा, तुम्हें पता कैसे चला कि मैंने बचाया होगा? मोहम्मद ने कहा, तेरी आंखों की चोरी कहती है। तेरा डरापन कहता है। आज तू उतनी निर्भय नहीं है, जैसी सदा थी।
निर्भय सिर्फ अपरिग्रही ही हो सकता है; परिग्रही सदा भयभीत होता है। इसलिए परिग्रही के सामने बंदूक लिए हुए पहरेदार खड़ा रहता है। वह उसके भय का सबूत है।
परिग्रही भयभीत होगा। जहां मोह होगा, वहां भय होगा। भय मोहजन्य है।
भय मोह का ही फूल है। कांटे जैसा है, लेकिन है मोह का ही फूल। खिलता मोह में ही है, निकलता मोह में ही है।
ध्यान रखें, भय भी तो यही है कि मिट न जाएं। मोह यह है कि बचाएं अपने
को; भय यह है कि मिट न जाएं। इसलिए भय मोह के सिक्के का दूसरा हिस्सा है। जो आदमी निर्भय होना चाहता है, वह अमोही हुए बिना नहीं हो सकता। अभय अमोह के साथ ही आता है।
मोहम्मद ने कहा, तेरा डर कहता कि आज मोह से भरा हुआ है तेरा मन। तू आज मेरी आंखों के सामने नहीं देखती। कुछ तूने छिपाकर रखा है। निकाल ला और उसे बांट दे। बेचारी, पांच रुपए छिपा रखे थे बिस्तर के नीचे, उसने निकाल लिए। मोहम्मद ने कहा, जा सड़क पर, किसी को दे आ। पर उसने कहा, इतनी आधी रात सड़क पर मिलेगा भी कौन! मोहम्मद ने कहा, जिसने मुझे कहा है कि बांट दे, उसने उसको भी भेजा होगा, जो लेने को मौजूद होगा। वह बाहर गई और एक भिखारी खड़ा था! पैसे

देकर वह भीतर आ गई। भरोसा गहरा हुआ; ट्रस्ट बढ़ा। मोहम्मद ने कहा, जिसने मुझे कहा कि पैसे बांट दे, उसने उसको भी भेजा होगा जो द्वार पर खड़ा है। भीतर लौटकर आई। मोहम्मद ने आंखें बंद कीं। मुस्कुराए। चादर ओढ़ ली और श्वास छूट गई। जो जानते हैं, वे कहते हैं, मोहम्मद उतनी देर पांच रुपए बंटवाने को रुके। वह तड़फन यही थी कि कब वह पत्नी को राजी कर लें, छोड़ दे! लेकिन पत्नी ने भी क्यों बचाए थे पांच रुपए? वही जीवन का मोह। हम भी बचाते हैं, तो जीवन का मोह। सब बचाव जीवन के मोह में है। सब भय, मिट न जाएं, इस डर में हैं।
कृष्ण कहते हैं, ज्ञान की धारा जब बहती, तो सबसे पहले मोह को नष्ट करती
है अर्जुन। मोह को इसलिए नष्ट करती है कि मोह अज्ञान है।
अज्ञान को अगर हम समझें, तो कहें, अव्यक्त मोह है। और मोह को अगर ठीक समझें, तो कहें, व्यक्त अज्ञान है। जब अज्ञान व्यक्त होता, तब मोह की तरह फैलता है--व्यक्त अज्ञान, मैनीफेस्टेड इग्नोरेंस। जब तक भीतर छिपा रहता अज्ञान, तब तक ठीक; जब वह फूटता और फैलता हमारे चारों तरफ, तब मोह का वर्तुल बनता है। फिर मेरे मित्र, प्रियजन, पति, पत्नी, पिता, पुत्र, मकान, धन, दौलत--फैलता चला जाता है।
और मोह के फैलाव का कोई अंत नहीं है। इनफिनिट है उसका विस्तार। अनंत फैल सकता है। चांद-तारे भी मिल जाएं, तो तृप्त नहीं होगा। और आगे भी चांद-तारे हैं, वहां भी फैलना चाहेगा।
क्यों? इतना अनंत क्यों फैलना चाहता है मोह? इसलिए फैलना चाहता है कि जहां तक मोह नहीं फैल पाता, वहीं से भय की संभावना है। जो मेरा नहीं है, उसी से डर है। इसलिए सभी को मेरे बना लेना चाहता है। जो मकान मेरा नहीं है, वहीं से खतरा है। जो जमीन मेरी नहीं है, वहीं से शत्रुता है। जो चांद-तारा मेरा नहीं है, वहीं से मौत आएगी। तो जहां तक मेरे का फैलाव है, वहां तक मैं सम्राट हो जाता हूं; उसके बाहर मैं फिर भी भिखारी हूं। इसलिए मेरे को फैलाता चला जाता है आदमी।
कहते हैं, सिकंदर से जब किसी ने कहा--एक बहुत अदभुत आदमी ने--महावीर जैसा एक अदभुत आदमी हुआ यूनान में, डायोजनीज। डायोजनीज नग्न खड़ा था। सिकंदर से उसने कहा, सिकंदर! तू एक दफे यह भी तो सोच कि तू सारी दुनिया जीत लेगा, तो फिर क्या करेगा? क्योंकि दूसरी दुनिया नहीं है! कहते हैं, सिकंदर उदास हो गया। डायोजनीज खूब हंसने लगा। सिकंदर और उदास हो गया। और सिकंदर ने कहा, मेरी मजबूरी पर हंसो मत। सच ही दूसरी दुनिया नहीं है। यह मुझे ख्याल ही नहीं आया कि अगर मैं पूरी दुनिया जीत लूंगा, तो फिर क्या होगा? और दूसरी तो दुनिया नहीं है।
अभी जीती नहीं है दुनिया, लेकिन जीतने के ख्याल से उदासी आ गई। क्योंकि फिर मोह को फैलाने की और कोई जगह नहीं है। फिर क्या करूंगा! सिकंदर पूछने लगा, लेकिन डायोजनीज, तुम हंसते क्यों हो?
डायोजनीज बोला कि मैं हंसता इसलिए हूं कि तुझे पूरी दुनिया भी मिल जाए, तो भी उदासी ही हाथ में लगेगी। और हमारे पास कुछ भी नहीं है, और हम उदासी को खोजते फिरते हैं और हमें कहीं मिलती नहीं। हमारे पास कुछ भी नहीं है और हम आनंद में हैं। तेरे पास बहुत कुछ है और सब कुछ भी हो जाए, तो भी तू दुख में ही जाएगा।
मोह दुख के अतिरिक्त और कहीं ले जाता नहीं। अब ऐसा समझें, अज्ञान छिपा हुआ मोह है। अज्ञान प्रकट होता है, तो मोह बनता है। मोह सफल होता है, तो दुख बनता है; असफल होता है, तो दुख बनता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान की पहली धारा का जब आघात होता है, तो सबसे पहले मोह छूट जाता, टूट जाता, बिखर जाता। जैसे सूरज की किरणें आएं और बर्फ पिघलने लगे, ऐसे मोह का फ्रोजन बर्फ का पत्थर जो छाती पर रखा है, वह ज्ञान की पहली धारा से पिघलता शुरू होता है। और जब मोह पिघल जाता है, जब मोह मिट जाता है, तब व्यक्ति जानता है कि मैं जिसे बचा रहा था, वह तो था ही नहीं। जो नहीं था, उसको बचाने में लगा था, इसलिए परेशान था।

जो नहीं है, उसको बचाने में लगा हुआ आदमी परेशान होगा ही। जो है ही नहीं, उसे कोई बचाएगा कैसे? मैं हूं ही नहीं अलग और पृथक इस विश्व की सत्ता से। उसी को बचाने में लगा हूं। वही मेरी पीड़ा है।
एक लहर अपने को बचाने में लग जाए, फिर दिक्कत में पड़ेगी। क्योंकि लहर सागर से अलग कुछ है भी नहीं। उठी है, तो भी सागर के कारण; है, तो भी सागर के कारण; मिटेगी, तो भी सागर के कारण। नहीं थी, तब भी सागर में थी; है, तब भी सागर में है; नहीं हो जाएगी, तब भी सागर में होगी।
लेकिन एक लहर अगर सोचने लगे कि मैं अलग हूं; बस, लहर आदमी हो गई! अब लहर वही सब करेगी, जो आदमी करेगा। अब लहर सब तरफ से अपने को बचाने की कोशिश करेगी। भयभीत होगी मिट न जा, डरेगी। इस डर की कोशिश में लहर क्या कर सकती है? फ्रोजन हो जाए, बर्फ बन जाए, तो बच सकती है। सिकुड़ जाए, मर जाए। क्योंकि लहर तभी तक जिंदा है, जब तक बर्फ नहीं बनी। सब तरफ से सिकुड़ जाए, सख्त हो जाए।
अहंकार फ्रोजन हो जाता है। अहंकार सिकुड़कर पत्थर का बर्फ बन जाता है।
पानी नहीं रह जाता, तरल नहीं रह जाता, लिक्विड नहीं रह जाता, बहाव नहीं रह जाता।
अहंकार में बिल्कुल बहाव नहीं होता है। प्रेम में बहाव होता है।
इसलिए जब तक अहंकार होता है, तब तक प्रेम पैदा नहीं होता।
यह भी ख्याल रख लें कि प्रेम और मोह बड़ी अलग बातें हैं। अलग ही नहीं, विपरीत। जिनके जीवन में मोह है, उनके जीवन में प्रेम पैदा नहीं होता। और जिनके जीवन में प्रेम है, वह तभी होता है, जब मोह नहीं होता। लेकिन हम प्रेम को मोह कहते रहते हैं।
असल में हम मोह को प्रेम कहकर बचाते रहते हैं। धोखा देने में हमारा कोई मुकाबला नहीं है! हम मोह को प्रेम कहते हैं। बाप बेटे से कहता है कि मैं तुझे प्रेम करता हूं। पत्नी पति से कहती है कि मैं तुझे प्रेम करती हूं। मोह है।
इसलिए उपनिषद कहते हैं कि सब अपने को प्रेम करते हैं सिर्फ। अपने को
जो सहारा देता है बचने में, उसको भी प्रेम करते हुए मालूम पड़ते हैं। वह सिर्फ मोह है। प्रेम तो तभी हो सकता है, जब दूसरा भी अपना ही मालूम पड़े। प्रेम तो तभी हो सकता है, जब प्रभु का अनुभव हो, अन्यथा नहीं हो सकता है। प्रेम केवल वे ही कर सकते हैं, जो नहीं रहे। बड़ी उलटी बातें हैं।
जो नहीं बचे, वे ही प्रेम कर सकते हैं। जो हैं, बचे हैं, वे सिर्फ मोह
ही कर सकते हैं। क्योंकि बचने के लिए मोह ही रास्ता है। प्रेम तो मिटने का रास्ता है। प्रेम तो पिघलना है। इसलिए प्रेम वह नहीं कर सकता, जिसको अपने को बचाना है।
इसलिए देखें, जितना आदमी जीवन को बचाने की चेष्टा में रत होगा, उतना प्रेम शून्य हो जाएगा। तिजोड़ी बड़ी होती जाएगी, प्रेम रिक्त होता जाएगा। मकान बड़ा होता जाएगा, प्रेम समाप्त होता जाएगा।
दीन-दरिद्र के पास प्रेम दिखाई भी पड़ जाए; समृद्ध के पास प्रेम की खबर
भी नहीं मिलेगी। क्यों? क्या हो गया? असल में समृद्ध होने की जो तीव्र चेष्टा है, वह भी मैं को बचाने की है, मोह को बचाने की है। मोह जहां है, वहां प्रेम पैदा नहीं हो पाता।
कृष्ण कहते हैं, जब मोह पिघल जाता है अर्जुन, तो व्यक्ति मेरे साथ एकाकार हो जाता है; सच्चिदानंद से एक हो जाता है। फिर भेद नहीं रह जाता। भेद ही मोह का है। भेद ही, मैं हूं, इस घोषणा का है। अभेद, मैं नहीं हूं, तू ही है, इस घोषणा का है।
लेकिन यह घोषणा प्राणों से उठनी चाहिए, कंठ से नहीं। तू ही है, यह घोषणा प्राणों से आनी चाहिए, कंठ से नहीं। यह घोषणा हृदय से आनी चाहिए, मस्तिष्क से नहीं। यह घोषणा रोएं-रोएं से आनी चाहिए, खंड अस्तित्व से नहीं। उस क्षण में एकात्म फलित होता, अद्वैत फलित होता, दुई गिर जाती। परम हर्षोन्माद का क्षण है वह--परम हर्षोन्माद का, अल्टिमेट एक्सटैसी का। नाच उठता है फिर रोआं-रोआं; गीत गा उठते हैं फिर श्वास के कण-कण। लेकिन गीत--

अनगाए, आदमी के ओंठों से अस्पर्शित, जूठे नहीं। नृत्य--अनजाना, अपरिचित; ताल-सुर नहीं, व्यवस्था संयोजन नहीं।
एक बाउल फकीर गुजर रहा है बंगाल के किसी गांव से। लोग इकट्ठे हो गए हैं। बाउल नाच रहा है। तंबूरा बजा रहा है। हाथ ठीक पड़ते नहीं, व्यवस्था नहीं, सुर-संगीत नहीं, पैरों में ताल नहीं। कोई पूछता है, नाचना ठीक से आता नहीं, तो नाचते क्यों हो? बाउल फकीर कहता है, नाचता नहीं, नचाया जा रहा हूं। व्यवस्था, ताल-सुर की खबर कौन रखे? वह बचा ही नहीं, जो व्यवस्था कर सकता था। अब तो बहा जा रहा हूं। लोग पूछते हैं, ये जो गीत गा रहे, इनका अर्थ क्या? वह बाउल कहता है, मुझे पता नहीं। मैं जब तक था, तब तक ये गीत न थे। अब ये गीत हैं, तो मैं नहीं। अर्थ कौन बताए? अर्थ जान लोगे उस दिन, जब गीत तुम्हारे भीतर भी पैदा हों और तुम भी नाच सको। अनुभव ही अर्थ है।
कृष्ण कहते हैं, ज्ञान की धारा में टूटा मोह और व्यक्ति परम में निमज्जित हो जाता है। वही है परम अभिप्राय जीवन का, होने का।
मोह है, हमारी अहंकार की कुचेष्टा। मोह है, अपने ही हाथों अपने ही आस-पास परकोटा बनाना। बंद करना अपने को, सूर्य के प्रकाश से। तोड़ना अपने को, जगत के अस्तित्व से। बनाना अंधा अपने को, प्रभु के प्रसाद से।
इसलिए कृष्ण ने पहले सूत्र में कहा, दंडवत करके, विनम्रता से, छोड़कर अपने को, जब कोई किसी ज्ञान की धारा के निकट झुकता है और धारा उसमें बह जाती है, तब उसके भीतर सब मोह हट जाता है, मोह का तम कट जाता है। उस प्रकाश के क्षण में वह अपने को मेरे साथ एक ही जान पाता है, अर्जुन!

प्रश्नः भगवान श्री, श्लोक के अंतिम हिस्से में यह कहा गया है कि इस ज्ञान के द्वारा तू संपूर्ण भूतों को सर्वव्यापी अनंत चेतनरूप देखेगा तथा मेरे में अर्थात सच्चिदानंद रूप में एकीभाव हुआ सब कुछ सच्चिदानंदमय ही देखेगा। इसका अर्थ और अधिक स्पष्ट करने की कृपा करें।

इस ज्ञान में डूबा हुआ, इस ज्ञान में मुक्त हुआ, तू सर्व भूतों को सच्चिदानंद रूप देखेगा।
सर्व भूतों को! भूत का अर्थ होता है, अस्तित्ववान, दि एक्झिस्टेंट, जो
भी है। जो भी है, अस्तित्व जिसका है, उस सब में तू सच्चिदानंद को देखेगा। पत्थर में भी, पृथ्वी में भी, आकाश में भी; सब ओर, जो भी तू जानेगा, जानेगा सच्चिदानंद रूप है। क्यों? ऐसा क्यों होगा?
अभी हम क्या जानते हैं? अभी हमारा जानना क्या है? अभी हमारी प्रतीति क्या है? अभी हमारी प्रतीति है कि जो भी है, सब पदार्थ है। जो भी है, पदार्थ है, परमात्मा नहीं। पदार्थ दिखाई पड़ता है। अगर परमात्मा को कभी हम मान भी लेते हैं, तो वह सिर्फ मान्यता होती है, अनुभव नहीं होता। दिखता पदार्थ है।
एक मित्र को मेरे पास लाए थे। कहने लगे, पदार्थ में भी मुझे परमात्मा दिखता है; पत्थर में भी मुझे परमात्मा दिखता है। दो-चार दिन मेरे साथ थे। बगीचे में घूमते वक्त पत्थर उठाकर मैंने उनके पैर पर दे मारा। कहने लगे, पत्थर क्यों मारा? खून निकल आया! मैंने कहा, कहना था तुम्हें, परमात्मा क्यों मारा? कहते हो, पत्थर क्यों मारा? खून निकल आया; कहना था, परमात्मा निकल आया। पत्थर लगा तो चेहरा और हो जाता है; परमात्मा लगे तो और होना चाहिए था! कहने लगे, इसका यह मतलब थोड़े ही है कि कोई मुझे पत्थर मार दे! तब तो कोई मेरी हत्या ही कर दे। कल आप गर्दन पर मेरी छुरी ही चला दें और कहें कि छुरी भी परमात्मा है!
मान्यता थी विचारों की। मानते थे कि सब में है, दिखाई नहीं पड़ता था। दिखाई पड़ना बात और है। हमें तो पदार्थ दिखाई पड़ता है। सर्व भूत हमें पदार्थ हैं, मैटीरियल हैं।
पदार्थ का क्या मतलब होता है? पदार्थ का मतलब होता है, जिसमें आकार है, निराकार नहीं। पदार्थ का मतलब होता है, जिसमें वस्तु है, आत्मा नहीं। पदार्थ का मतलब होता है, जिसका अस्तित्व है, व्यक्तित्व नहीं। जो है, अस्तित्ववान, लेकिन जिसका जीवन नहीं है। हमें क्यों दिखाई पड़ता है ऐसा?

असल में, हमें वही दिखाई पड़ सकता है, जो हम हैं। हमें भीतर भी नहीं मालूम पड़ता कि कोई आत्मा है, कोई परमात्मा है। वह भी हमारी मान्यता है। वह भी सुनते हैं, पढ़ते हैं। कोई कहता है, तो समझ लेते हैं। गहरे में हम जानते हैं कि हम शरीर हैं। मैं शरीर हूं, यही गहरे में हम जानते हैं। जो हम अपने बाबत जानते हैं, उससे ज्यादा हम दूसरे के बाबत नहीं जान सकते। जितना हम अपने बाबत जानते हैं, उससे ज्यादा हम संसार के बाबत नहीं जान सकते। हमारे अपने स्वानुभव की सीढ़ी ही हमारे परानुभव की सीढ़ी है।
अगर ठीक से समझें, तो जगत दर्पण है, हम अपना ही चेहरा उसमें देखते हैं। जगत दर्पण है, हम अपना ही चेहरा उसमें देखते हैं। अगर पत्थर में सिर्फ पत्थर दिखाई पड़ता है, तो समझ लेना कि अपने भीतर भी शरीर से ज्यादा का कोई अनुभव नहीं है।
ठीक भी है। हम जो अपने भीतर नहीं जानते, उसे हम बाहर कैसे जान सकते हैं? जिस आदमी के सिर में दर्द नहीं हुआ, आप उससे कहिए कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है; वह भौचक्का खड़ा रह जाता है। वह कहता है, कैसा दर्द? सिर में दर्द होता है कभी? कैसा होता है? उसे कुछ पता नहीं चलता। पता चले भी कैसे! वही पता चल सकता है, जो इसके पहले उसे पता चल चुका हो। हम अपने अनुभव से समझते हैं; उसके अतिरिक्त समझने का कोई उपाय नहीं है। मानते हैं अपने को शरीर, वही मोह का, अज्ञान का परिणाम है। देखते हैं, जगत को पदार्थ।
जिस दिन ज्ञान की घटना घटती है--टूटता है मोह का तमस, टूटता है भ्रम शरीर का; बोध होता है स्वयं की चेतना का, चैतन्य का, कांशसनेस का--उसी क्षण सारा जगत चैतन्य हो जाता है। उसी क्षण, युगपत! एक क्षण की भी फिर देरी नहीं लगती; एक सेकेंड की भी फिर देरी नहीं लगती। इधर भीतर जाना कि मैं चेतना हूं, आंख खोली कि दिखता है कि सब चेतना है। एक क्षण में सब बदल जाता है, एक क्षण में!
इसलिए कृष्ण कहते हैं, जब ज्ञान की धारा भीतर बहती है और मोह का अंधकार टूटता है अर्जुन, तो सर्व भूतों में सच्चिदानंद दिखाई पड़ने लगता है। सर्व भूतों में, सर्व अस्तित्ववान में, जो भी है, फिर वही परमात्मा दिखाई पड़ने लगता है।
कभी जब ऐसा घटता है, जब सब में परमात्मा दिखाई पड़ने लगता है, तो स्वभावतः जीवन में फिर कहीं दुख नहीं रह जाता, शत्रु नहीं रह जाता। क्योंकि शत्रु में परमात्मा देखना, तो फिर परमात्मा में शत्रु देखना असंभव है। फिर मृत्यु नहीं रह जाती, क्योंकि परमात्मा की मृत्यु असंभव है। फिर कोई धोखा देने वाला नहीं रह जाता, क्योंकि परमात्मा धोखा दे, ऐसी धारणा असंभव है। फिर सब प्रीतिकर हो जाता है। सब प्रेमपूर्ण हो जाता है।
शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। मृत्यु भी जीवन हो जाती है।
इस अनुभूति को तभी उपलब्ध किया जा सकता है, जब भीतर से मोह टूटे।
क्यों? क्योंकि मोह की हिप्नोसिस, मोह का सम्मोहन हमें शरीर बनाए हुए है।
शरीर हम हैं नहीं। शरीर भी शरीर नहीं है। लेकिन सम्मोहन हमें बनाए हुए है।
मोह, सम्मोह, एक ही बात के दो नाम हैं। जिसको अंग्रेजी में हिप्नोसिस कहते हैं, उसी को सम्मोह कहते हैं, उसी को मोह कहते हैं।
सम्मोह को अगर ख्याल में ले लें और सम्मोहन की प्रक्रिया को, तो आपको पता चलेगा कि जो हम नहीं हैं, उसकी धारणा बन जाती है।
अगर आपने कभी किसी सम्मोहन करने वाले कुशल व्यक्ति को देखा है, तो आप हैरान रह गए होंगे। एक आदमी को सम्मोहित कर दो। सम्मोहित कर दो अर्थात बेहोश कर दो। सुझाव दो, सजेस्ट करो, कि तू बेहोश हो रहा है। और अगर वह कोआपरेट करे, सहयोग दे, तो बहुत जल्दी बेहोश हो जाएगा। जब बेहोश हो जाए, तब उस आदमी से कहो कि तुम पुरुष नहीं हो, स्त्री हो। वह आदमी मान लेगा कि स्त्री है। फिर उससे कहो, उठो और चलो; तो वह स्त्री की चाल चलेगा, पुरुष की चाल नहीं चलेगा। वह स्त्रियों जैसे हाथ मटकाएगा, पुरुषों जैसे हाथ नहीं मटका सकेगा। उसका ढंग स्त्रैण हो जाएगा। क्या हो गया उसको?
मान लिया उसके मन ने कि मैं स्त्री हूं, वह स्त्री हो गया। मान लिया उसके मन ने कि वह स्त्री है, वह स्त्री हो गया! उससे आप पूछो सवाल, वह जवाब स्त्रैण देगा। वह स्त्रीलिंग का प्रयोग करेगा। वह कहेगा, मैं जाती हूं।

वह नहीं कहेगा, मैं जाता हूं। क्या हो गया उसे? धारणा पकड़ गई कि मैं स्त्री हूं। मन है बेहोश, बेहोशी में जो कह दिया गया, वह उसने मान लिया।
बचपन में जैसे ही हम पैदा होते हैं, चारों तरफ की व्यवस्था हमें सम्मोहित करती है कि तुम शरीर हो। चारों तरफ अज्ञानियों का जाल है। मां है, बाप है, भाई है, बहन है, स्कूल है, शिक्षक है, सब तरफ जाल है अज्ञानियों का, वह सम्मोहित करता है कि तुम शरीर हो। सब इशारे शरीर की तरफ हैं।
इसलिए जिनके शरीर की तरफ ज्यादा इशारे हैं, वे ज्यादा शरीर हो जाते हैं। स्त्रियां ज्यादा शरीर हो जाती हैं पुरुषों की बजाय; क्योंकि उनके शरीर की तरफ ज्यादा इशारे होते हैं। वे ज्यादा सचेत हो जाती हैं, ज्यादा कांशस हो जाती हैं कि शरीर है। फिर शरीर के साथ ही उनकी जिंदगी बंध जाती है; फिर शरीर को भूलना उन्हें मुश्किल हो जाता है। गहरे सम्मोहन बैठ जाता है मन में कि मैं शरीर हूं।
यह सम्मोहन टूटे न, तो भीतर की आत्मा का अनुभव नहीं होता। यह सम्मोहन टूट जाए, तो भीतर की आत्मा का अनुभव होता है।
इस सम्मोहन के टूटने पर जब जाना जाता है कि मैं आत्मा हूं, उसी क्षण जाना जाता है कि सब आत्माएं हैं। सच तो यह है कि यह कहना कि सब आत्माएं हैं, ठीक नहीं। क्योंकि जिस क्षण जाना जाता है कि सब आत्माएं हैं, उस क्षण एक ही परमात्मा शेष रह जाता है। दो नहीं रह जाते। क्योंकि आकार हों, तो दो हो सकते हैं; निराकार हो, तो एक ही हो सकता है। निराकार दो नहीं हो सकते। अगर निराकार दो हों, तो फिर आकार उनमें आ जाएगा, क्योंकि दोनों एक-दूसरे की सीमा बनाएंगे। जहां सीमा बनी, वहीं आकार शुरू हो जाएगा।
निराकार एक है। शरीर अनेक हो सकते हैं, आत्मा एक ही हो सकती है। उसका कोई आकार नहीं है। तब बाहर और भीतर एक ही सच्चिदानंद ब्रह्म के दर्शन शुरू होते हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, मोह की निशा जब टूट जाती और जब ज्ञान
की सुबह होती, तो अंधेरे में जिन्हें अलग-अलग जाना था, उजाले में वे सब एक मालूम पड़ते हैं। अंधेरे में जिन्हें पदार्थ जाना था, प्रकाश में वे परमात्मा मालूम पड़ते हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, ज्ञान के अनुभव को सत, चित, आनंद क्यों कहा जाता है? इसे संक्षिप्त में स्पष्ट करने की कृपा करें।

ज्ञान का अनुभव सच्चिदानंद का अनुभव क्यों कहा जाता है?
ज्ञान के अनुभव में तीन प्रतीतियां प्रगाढ़ होकर प्रकट होती हैं--सत की, चित की, आनंद की। सत का अर्थ है, हूं; मैं नहीं, सिर्फ हूं। मैं हूं, ऐसा हमारा अनुभव है। ज्ञान के अनुभव में मैं गिर जाता, हूं बच रहता। अज्ञान के अनुभव में मैं प्रगाढ़ होता, हूं सिर्फ पूंछ की तरह सरकता रहता। मैं होता हाथी, हूं होती पूंछ। न हो, तो भी चल जाता। पूंछ के बिना हाथी हो सकता। अक्सर होता है। मैं का हाथी पूंछ के बिना ही होता है। हूं सिर्फ उपयोग होता है भाषा का।
जिस दिन अज्ञान टूटता, मैं गिर जाता, हूं बचता। हूं हाथी हो जाता--पूंछ भी, सिर भी, सभी कुछ। हूं का अनुभव सत का अनुभव है, एक्सपीरिएंस आफ दि एक्झिस्टेंशियल, अस्तित्व का अनुभव।
ख्याल रखें, जब हम कहते हैं, मैं हूं; तो लगता है, मैं अलग हूं और होना अलग है। जब हम कहते हैं, हूं; तो लगता है, होना और मैं एक ही चीज है।
इसीलिए अज्ञानी को मरने का डर लगता है। क्योंकि जो कहता है, मैं हूं, उसे डर लगता है कि नहीं हूं भी हो सकता हूं। हूं, तो नहीं हूं भी हो सकता हूं। रात है, नहीं भी हो जाती है। दिन है, नहीं भी हो जाता है। लेकिन है कभी नहीं नहीं होता। तो जिस चीज को हम कहते हैं, है; वह नहीं है भी हो सकती है। सिर्फ एक ही चीज है जगत में है, है पन, इ.जनेस, वह कभी नहीं नहीं होती। हूं का मतलब है, इ.जनेस, एमनेस, वह कभी नहीं नहीं होती।

सत का अर्थ है, अस्तित्व है, जो कभी नहीं नहीं होता; सनातन, शाश्वत, नित्य, सदा, सदैव, समय के बाहर। यह अनुभव पहला होता है, जैसे ही ज्ञान का विस्फोट होता है।
दूसरा अनुभव होता है कि अस्तित्व अकेला अस्तित्व ही नहीं है, सचेतन
भी है। एक्झिस्टेंस एक्झिस्टेंस ही नहीं है, कांशस एक्झिस्टेंस है--चित, कांशसनेस, चेतन। अस्तित्व सिर्फ अस्तित्व ही हो, तो पदार्थ हो जाएगा। अस्तित्व सचेतन हो, तो परमात्मा हो जाएगा। हमें भी अस्तित्व का पता चलता है। जिनको ख्याल है, मैं हूं, उनको भी पता चलता है कि अस्तित्व है। लेकिन अस्तित्व सचेतन पता नहीं चलता। जिनको पता चलता है, मैं तो नहीं, हूं ही, सिर्फ होना ही है, उनको तत्काल पता चलता है, अस्तित्व सचेतन है।
सब कुछ सचेतन है। निर्जीव, निश्चेतन, कुछ भी नहीं है। हां, चेतना के हजार-हजार तल हैं, जिन्हें हम पहचान नहीं पाते। हम कहते हैं, वृक्ष चेतन है, समझ नहीं पड़ता। क्योंकि हम बात नहीं कर पाते वृक्ष से, बोल नहीं पाते, चर्चा नहीं कर पाते। फिर कैसे मानें कि चेतन है? अचेतन लगता है। लेकिन वृक्ष की भी अपनी भाषा हो सकती है। और अगर वृक्ष की अपनी भाषा हो, तो आदमी अचेतन मालूम पड़ता होगा। क्योंकि आदमी की भाषा उसकी समझ में नहीं पड़ेगी। पत्थर है। फिर वृक्ष तो थोड़ा चेतन मालूम पड़ता है--बढ़ता है, घटता है, खिलता है; तोड़ दो उसकी शाखा, तो मुर्झाता है। कुछ-कुछ आदमी की भाषा में पकड़ आता है। पत्थर! फोड़ दो, तो कुछ उदासी नहीं आती उसमें; तोड़ दो, तो कुछ पता नहीं चलता। शायद उसकी भाषा और भी फारेन है, और भी विजातीय है। जो जानते हैं, वे कहते हैं, पत्थर भी बोलता है, वृक्ष भी बोलता है; वृक्ष भी देखता है, पत्थर भी देखता है। उनकी चेतना का और डायमेंशन है, और तल है।
समझ लें, करीब-करीब हालत ऐसी है कि एक आदमी गूंगा है, बोलता नहीं, फिर
भी हम उसको अचेतन नहीं कहते। क्योंकि हाथ के इशारे से कुछ बता देता है। हाथ के इशारे से बता देता है, इसलिए हम पहचान जाते हैं। क्योंकि गूंगे के पास हाथ हमारे जैसा है, और हाथ का इशारा भी हमारे जैसा है, गेस्चर की भाषा हमारी जैसी है, इसलिए हम पहचान जाते हैं।
एक आदमी बहरा है, उसे कुछ सुनाई नहीं पड़ता, वज्र बहरा है, स्टोन डेफ है,
तो हमारे ओंठ ही हिलते मालूम पड़ते हैं उसे। उसे शब्द सुनाई नहीं पड़ता। उसे कभी भी पता नहीं चलेगा कि शब्द होता है, कि लोग बोलते हैं। बोलने का उसके लिए मतलब होगा, ओंठ का चलाना। इसलिए बहरे हमारे ओंठ को समझने लगते हैं कि आप क्या बोल रहे हैं। ओंठ का चलाना उनके लिए भाषा होती है; ओंठ से निकला हुआ शब्द उनकी भाषा नहीं होती।
जगत हजार आयामी है, अनंत आयामी है। अनंत आयामों पर चेतना है। जिस दिन व्यक्ति जानता है अपनी चेतना की गहराई को, उसी दिन वह सारे जगत की चेतना को भी जान लेता है। इसलिए दूसरा अनुभव होता है चित का, चैतन्य का, सब चैतन्य है।
तीसरा अनुभव होता है आनंद का। तीसरा अनुभव पहले दो अनुभवों का अनिवार्य परिणाम है। जिसने जाना कि मैं नहीं है, उसका दुख गया, क्योंकि सब दुख मैं के साथ जुड़ा है। आप कोशिश करके देखें मैं के बिना दुखी होने की, तब आपको पता चलेगा। मैं के बिना आप दुखी नहीं हो सकते, इंपासिबल है।
और दुखी हों, तो मैं के बिना नहीं हो सकते। अगर दुखी हैं, तो मैं भीतर होगा ही किसी कोने पर; वही दुखी होता है। मैं को लगी चोट ही दुख है। मैं के घाव पर पड़ी चोट ही दुख है। और मैं एक वूंड है, घाव है। मैं चीज नहीं है, सिर्फ एक घाव है।
और ख्याल किया कि अगर कहीं भी घाव हो, पैर में जरा चोट लगी हो, तो दिनभर उसी में चोट लगती है! कभी हैरानी होती है कि बात क्या है। आज सारी दुनिया की चीजें क्या मेरे पैर के खिलाफ हो गईं? कल भी इसी दरवाजे से निकला था, तब देहली पैर को नहीं लगी! कल भी इसी आदमी से मिला था, लेकिन तब इसका पैर पैर को नहीं लगा! कल भी भीड़ से गुजरा था, लेकिन पैर को भीड़ ने ख्याल नहीं किया। आज जहां भी जाता हूं, पैर है, घाव है।
नहीं; चोट तो रोज लगती थी, लेकिन पता नहीं चलती थी। घाव की वजह से पता चलती है।

मैं एक घाव है, एक वूंड, उसमें पता लगता है पूरे वक्त। जिसका मैं खो गया, उसे चोट का पता नहीं लगता। उसे दर्द, दुख, पीड़ा--आहत अभिमान बड़ी पीड़ा है। सारी पीड़ा वहीं केंद्रित है। मैं गिर गया, दुख गिर गया। निषेधात्मक शर्त पूरी हो गई आनंद के आने की। एक शर्त पूरी हो गई आनंद के उतरने की कि दुख गिर गया। दूसरी शर्त, समस्त चैतन्य है जगत अगर, तो आनंद की पाजिटिव शर्त पूरी हो गई। क्योंकि आनंद हमें तभी मिलता है, जब चेतना चेतना से डायलाग में होती है, एक संवाद में होती है।
अच्छी से अच्छी कुर्सी पर बैठे रहें, अच्छे से अच्छे मकान में रहें अकेले, तो पता चलेगा कि आनंद एक शेयरिंग है, आनंद बांटना है। बंटता है, तो प्रतीत होता है; नहीं तो प्रतीत नहीं होता। फैलता है, तो प्रतीत होता है; नहीं तो प्रतीत नहीं होता।
इसलिए प्रियजन के पास बैठकर जो आनंद मिलता है, वह स्वर्ण-सिंहासन पर
भी नहीं मिलता। क्योंकि स्वर्ण-सिंहासन से कोई डायलाग नहीं हो सकता। और अगर स्वर्ण-सिंहासन पर ही किसी को बैठने दिया जाए और शर्त रखी जाए कि स्वर्ण-सिंहासन पर बैठो, स्वर्ण की थालियों में भोजन करो, बहुमूल्य से बहुमूल्य भोजन होगा, लेकिन आदमी से भर बात नहीं कर सकोगे, तो आदमी कहेगा कि हम झोपड़े में रहने को तैयार हैं; स्वर्ण-सिंहासन नहीं चाहिए। बात क्या है? स्वर्ण-सिंहासन से डायलाग नहीं हो सकता। स्वर्ण-सिंहासन से कहीं मेल नहीं हो सकता; कहीं दो हृदय नहीं मिल सकते, हार्ट टु हार्ट कोई चर्चा नहीं हो सकती; कुछ बांटा नहीं जा सकता। कुछ लिया-दिया नहीं जा सकता; कोई लेन-देन नहीं हो सकता। और जीवन सदा ही लेन-देन है। जीवन सदा ही, जैसे श्वास आती और जाती है, ऐसा ही है--आना और जाना, पूरे क्षण।
जब हम एक व्यक्ति को कभी अपने निकट पाते हैं और जब कभी कोई एक व्यक्ति
के प्रति हम इतने प्रेम से भर जाते हैं कि उसका शरीर हमें भूल जाता है--और ध्यान रहे, जिसका शरीर न भूले, उससे हमारा प्रेम नहीं है। प्रेम के क्षण में अगर शरीर याद रहे, तो समझना कि काम है, सेक्स है, प्रेम नहीं है। अगर प्रेम के क्षण में शरीर भूल जाए दूसरे का और वह आत्मा ही प्रतीत होने लगे, तो समझना कि प्रेम है।
इसीलिए तो प्रेम में आनंद मिलता है। क्योंकि एक व्यक्ति सचेतन हो जाता है; वस्तु नहीं रह जाता, व्यक्ति हो जाता है। एक आत्मा साथ हो जाती है। दो आत्माएं निकट होकर अपूर्व आनंद को अनुभव करती हैं। दो आत्माओं की निकटता ही आनंद है।
लेकिन जब सारा ही जगत आत्मवान हो जाता है, तब तो आनंद का हम क्या हिसाब लगाएं! जब वृक्ष के पास से निकलते हैं, तो वह भी डायलाग होता है। जब वृक्ष के पास खड़े होते हैं, तो मौन उससे भी मिलन होता है। जब पत्थर के पास होते हैं, तब उससे भी स्पर्श होता है वही, प्रेम का। जब आकाश की तरफ देखते हैं, तो विराट आकाश भी एक बड़ी आत्मा की तरह हम पर झुक आता है और हमें सब तरफ से घेर लेता है। जब सागर की लहरों के पास खड़े होते हैं, तो सागर की आत्मा भी लहरों से हमारी तरफ आती है, उछलती और कूदती हुई दिखाई पड़ती है। जब तारों की तरफ देखते हैं, तो उनसे आती हुई रोशनी भी कुछ संदेश लाती है; पत्रवाहक, वे किरणें भी मैसेंजर्स हो जाती हैं।
जब चारों तरफ से संदेश मिलने लगते हैं जीवन के और आत्मा के, तो सब तरफ चैतन्य का ही अनुभव होता है। जब सब तरफ मिलन घटने लगता है--क्योंकि जहां शरीर हटा, मिलन ही मिलन है, महामिलन है--उस क्षण आनंद फलित होता है। इसलिए तीसरी बात, दो का परिणाम है। जो दो को उपलब्ध हो गया, तीसरा तत्काल खिल जाता है फूल की भांति--ब्लिस।
हमें आनंद का कोई पता नहीं है। हम कभी-कभी जिसको आनंद कहते हैं, वह आनंद नहीं होता, सिर्फ भ्रम होता है। क्योंकि आनंद तो घटित ही तब हो सकता है, जब मैं न रहे और जब पदार्थ न रहे। दो चीजें मिटें, तो आनंद घटित होता है। अहंकार मिटे और पदार्थ मिटे; भीतर मिटे अहंकार, बाहर मिटे पदार्थ; भीतर हो आत्मा, बाहर हो आत्मा, भीतर हो चैतन्य, बाहर हो चैतन्य--दोनों के बीच की सारी दीवाल गिर जाए, तब सारा अस्तित्व नाच उठता है।

आनंद! आनंद बहुत अनूठा शब्द है। अनूठा इसलिए कि आनंद के विपरीत कोई शब्द नहीं है। सुख के विपरीत दुख है। प्रेम के विपरीत घृणा है। क्षमा के विपरीत क्रोध है। जन्म के विपरीत मृत्यु है। आनंद अद्वैतवाची है, उसके विपरीत कोई शब्द नहीं है। आनंद के विपरीत कोई स्थिति भी नहीं है।
सुख आता है, तो जानना कि दुख आएगा, क्योंकि विपरीत प्रतीक्षा कर रहा है। दुख आए, तो घबड़ाना मत; जानना कि सुख आएगा, क्योंकि विपरीत प्रतीक्षा कर रहा है। सुबह आए, तो डरना मत; सांझ आएगी। सांझ आए, तो डरना मत; सुबह आएगी। विपरीत का वर्तुल है, पोलेरेटीज, धु्रवीय, घूमता रहता है। घड़ी के कांटे की तरह है। फिर बारह बजते, फिर बिखर जाता। फिर बारह बजते, फिर बिखर जाता। घड़ी के कांटे बारह पर मिलते हैं एक सेकेंड को; एक हो जाते, अद्वैत हो जाता एक सेकेंड को। हो भी नहीं पाया, कि द्वैत शुरू हो जाता है।
आनंद द्वैत का अंत है; फिर द्वैत कभी शुरू नहीं होता। आनंद सुख नहीं है। सुख की कोई बहुत बड़ी मात्रा भी नहीं है आनंद। सुख का कोई बहुत गहन और घना, डेंस रूप भी नहीं है आनंद। आनंद का सुख से कोई संबंध नहीं है; उतना ही संबंध है, जितना दुख से है। आनंद न दुख है, न सुख। जहां दुख और सुख दोनों नहीं हैं, वहां जो घटित होता है, वह आनंद है।
दुख के लिए भी अहंकार चाहिए, सुख के लिए भी अहंकार चाहिए। आनंद के लिए अहंकार नहीं चाहिए। दुख के लिए भी पदार्थ चाहिए, सुख के लिए भी पदार्थ चाहिए। आनंद के लिए पदार्थ बिल्कुल नहीं चाहिए।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि जैसे ही ज्ञान की यह घटना घटती है, वैसे ही सच्चिदानंद रूप--सत, चित, आनंद रूप--में लीन हो जाता है व्यक्ति!
इसलिए परमात्मा के लिए जो निकटतम शब्द है आदमी के पास, वह सच्चिदानंद है। निकटतम, कम से कम गलत। गलत तो होगा ही; कम से कम गलत। गलत होगा ही; क्योंकि हमारा यह शब्द भी तीन की खबर लाता है, और वहां एक है। इससे लगता है कि तीन होंगे; वहां एक है। वह एक जब हम भाषा में बोलते हैं, तो तत्काल तीन हो जाता है। वहां सत का अनुभव, चित का अनुभव, आनंद का अनुभव, एक ही अनुभव है। लेकिन जब हम बोलते हैं, तो तत्काल प्रिज्म भाषा का तोड़ देता तीन में। फिर समझाने जाते हैं, तो हजार शब्दों का उपयोग करना पड़ता है। फिर उनको भी समझाने जाएं, तो लाख शब्द हो जाते हैं। सब फैल जाता है।
वहां गहन एक है; फिर सब फैलाव होता चला जाता है। जितना समझाने की कोशिश करें, उतना शब्दों का ज्यादा उपयोग करना पड़ता है। कम से कम, दि मिनिमम, जो आदमी की भाषा कर सकती है, वह तीन है। तीन से पीछे भाषा नहीं जा सकती; एक तक भाषा नहीं जा सकती है। बस, तीन पर भाषा मर जाती है। तीन के पीछे एक है। वह एक है। इसलिए हमने त्रिमूर्ति भगवान की मूर्ति बनाई।
ख्याल किया आपने, चेहरे तीन, और आदमी एक। चेहरे तीन, और मूर्ति एक। शक्लें तीन, और प्राण एक। देह एक, और चेहरे तीन। बाहर से देखो, तो तीन चेहरे। उस मूर्ति के भीतर खड़े हो जाओ, मूर्ति बन जाओ, तो फिर एक। समझाने के लिए तीन, जानने के लिए एक। व्याख्या के लिए तीन, अनुभव के लिए एक।
इसलिए कृष्ण ने दो बातें कहीं। उन्होंने कहा, वैसा व्यक्ति मुझको उपलब्ध हो जाता है। यह एक की तरफ इशारा करने को। फिर कहा, सच्चिदानंद रूप को, यह समझाने के लिए, तीन की तरफ इशारा करने को।
एक आखिरी श्लोक और।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।। 36।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। 37।।
और यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञानरूप नौका द्वारा निस्संदेह संपूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तर जाएगा।
क्योंकि हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्मसात कर देता है।

यह सूत्र बहुत अदभुत है और आपके बहुत काम का भी। यह प्रश्न सनातन है, सदा ही पूछा जाता है।
बहुत हैं पाप आदमी के, अनंत हैं, अनंत जन्मों के हैं। गहन, लंबी हैशृंखला पाप की। इस लंबी पाप कीशृंखला को क्या ज्ञान का एक अनुभव तोड़ पाएगा? इतने बड़े विराट पाप को क्या ज्ञान की एक किरण नष्ट कर पाएगी?
जो नीतिशास्त्री हैं--नीतिशास्त्री अर्थात जिन्हें धर्म का कोई भी पता नहीं, जिनका चिंतन पाप और पुण्य से ऊपर कभी गया नहीं--वे कहेंगे, जितना किया पाप, उतना ही पुण्य करना पड़ेगा। जितना किया पाप, उतना ही पुण्य करना पड़ेगा। एक-एक पाप को एक-एक पुण्य से काटना पड़ेगा, तब बैलेंस, तब ऋण-धन बराबर होगा; तब हानि-लाभ बराबर होगा और व्यक्ति मुक्त होगा।
जो नीतिशास्त्री हैं, मारलिस्ट हैं, जिन्हें आत्म-अनुभव का कुछ भी पता नहीं, जिन्हें बीइंग का कुछ भी पता नहीं, जिन्हें आत्मा का कुछ भी पता नहीं; जो सिर्फ डीड का, कर्म का हिसाब-किताब रखते हैं; वे कहेंगे, एक-एक पाप के लिए एक-एक पुण्य से साधना पड़ेगा। अगर अनंत पाप हैं, तो अनंत पुण्यों के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं।
लेकिन तब मुक्ति असंभव है। दो कारणों से असंभव है। एक तो इसलिए असंभव
है कि अनंतशृंखला है पाप की, अनंत पुण्यों कीशृंखला करनी पड़ेगी। और इसलिए भी असंभव है कि कितने ही कोई पुण्य करे, पुण्य करने के लिए भी पाप करने पड़ते हैं।
एक आदमी धर्मशाला बनाए, तो पहले ब्लैक मार्केट करे! ब्लैक मार्केट के बिना धर्मशाला नहीं बन सकती। एक आदमी मंदिर बनाए, तो पहले लोगों की गर्दनें काटे। गर्दनें काटे बिना मंदिर की नींव का पत्थर नहीं पड़ता। एक आदमी पुण्य करने के लिए, कम से कम जीएगा तो! और जीने में ही हजार पाप हो जाते हैं। चलेगा तो; हिंसा होगी। उठेगा तो; हिंसा होगी। बैठेगा तो; हिंसा होगी। श्वास तो लेगा!
वैज्ञानिक कहते हैं, एक श्वास में कोई एक लाख छोटे जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। बोलेगा तो! एक बार ओंठ ओंठ से मिला और खुला तो करीब एक लाख सूक्ष्म जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। किसी का चुंबन आप लेते हैं, लाखों जीवाणुओं का आदान-प्रदान हो जाता है। कई मर जाते हैं बेचारे!
जीने में ही पाप हो जाएगा। पुण्य करने के लिए ही पाप हो जाएगा। कम से
कम जीएंगे तो पुण्य करने के लिए! तब तो यह अनंत वर्तुल है, विसियस सर्किल है, दुष्टचक्र है; इसके बाहर आप जा नहीं सकते। अगर पुण्य से पाप को काटने की कोशिश की, तो पुण्य करने में पाप हो जाएगा। फिर उस पाप को काटने की पुण्य से कोशिश की, तो फिर उस पुण्य करने में पाप हो जाएगा। हर बार पाप को काटना पड़ेगा। हर बार पुण्य से काटेंगे। पुण्य नए पाप करवा जाएगा। यह वर्तुल कभी अंत नहीं होगा। यह सर्किल विसियस है।
इसलिए नैतिक व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकता। नैतिक दृष्टि कभी मुक्ति तक नहीं जा सकती। नैतिक दृष्टि तो चक्कर में ही पड़ी रह जाती है। कृष्ण एक बहुत ही और दृष्टि की बात कर रहे हैं। और जो भी जानते हैं, वे वही बात करेंगे। कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, तू अगर सब पापियों में भी सबसे बड़ा पापी है, दि ग्रेटेस्ट सिनर; अस्तित्व में जितने पापी हैं, उनमें तू सबसे बड़ा पापी है, तो भी ज्ञान की एक घटना तेरे सब पापों को क्षीण कर देगी। क्या मतलब हुआ इसका?
इसका मतलब यही हुआ कि पाप की कोई सघनता नहीं होती, पाप की कोई डेंसिटी नहीं होती। पाप है अंधेरे की तरह। एक घर में अंधेरा है हजार साल से, दरवाजे बंद हैं और ताले बंद हैं। हजार साल पुराना अंधेरा है। तो क्या आप दीया जलाएंगे, तो अंधेरा कहेगा, इतने से काम नहीं चलता! आप हजार साल तक दीए जलाएं, तब मैं कटूंगा!
नहीं; आपने दीया जलाया कि हजार साल पुराना अंधेरा गया। वह यह नहीं कह सकता है कि मैं हजार साल पुराना हूं। वह यह भी नहीं कह सकता है कि हजार सालों में बहुत सघन, कनडेंस्ड हो गया हूं, इसलिए दीए की इतनी छोटी-सी ज्योति मुझे नहीं तोड़ सकती!

हजार साल पुराना अंधेरा और एक रात का पुराना अंधेरा एक ही बराबर डेंसिटी के होते हैं। या कहना चाहिए कि नो डेंसिटी के होते हैं; उनमें कोई सघनता नहीं होती। अंधेरे की पर्तें नहीं होतीं; क्योंकि अंधेरे का कोई अस्तित्व नहीं होता। बस, आज आपने जलाई काड़ी, अंधेरा गया--अभी और यहीं। हां, अगर कोई अंधेरे को पोटलियों में बांधकर फेंकना चाहे, तो फिर मारेलिस्ट का काम कर रहा है, नैतिकवादी का। वह कहता है, जितना अंधेरा है, उसको बांधो टोकरी में, बाहर फेंक कर आओ। फेंकते रहो टोकरी बाहर और भीतर, अंधेरा अपनी जगह रहेगा। आप चुक जाओगे, अंधेरा नहीं चुकेगा।
पाप को पुण्य से नहीं काटा जा सकता, क्योंकि पुण्य भी सूक्ष्म पाप के बिना नहीं हो सकता। पाप को तो सिर्फ ज्ञान से काटा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान बिना पाप के हो सकता है।
ध्यान रखें, पाप को पुण्य से नहीं काटा जा सकता, क्योंकि पुण्य बिना पाप के नहीं हो सकता है। पाप को सिर्फ ज्ञान से काटा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान बिना पाप के हो सकता है। ज्ञान कोई कृत्य नहीं है कि जिसमें पाप करना पड़े। ज्ञान अनुभव है। कर्म बाहर है, ज्ञान भीतर है। ज्ञान तो ज्योति के जलने जैसा है। जला, कि सब अंधेरा गया।
फिर तो ऐसा भी पता नहीं चलता कि मैंने कभी पाप किए थे। क्योंकि जब मैं
ही चला जाए, तो सब खाते-बही भी उसी के साथ चले जाते हैं। फिर आदमी अपने अतीत से ऐसे ही मुक्त हो जाता है, जैसे सुबह सपने से मुक्त हो जाता है। क्या कभी आपने ऐसा सवाल नहीं उठाया, सुबह हम उठते हैं, रातभर सपना देखा, तो जरा-सा किसी ने हिलाकर उठा दिया, इतने से हिलाने से रातभर का सपना टूट सकता है? नहीं, जरा-सा किसी ने हिलाया; पलक खुली; सपना गया। फिर आप यह नहीं कहते
कि अब रातभर इतना सपना देखा, तो अब सपने के विरोध में इतना ही यथार्थ देखूंगा, तब सपना मिटेगा। सपना टूट जाता है।
पाप सपने की भांति है। ज्ञान की जो सर्वोच्च घोषणा है, वह है कि पाप स्वप्न की भांति है। फिर पुण्य भी स्वप्न की भांति है। और सपने सपने से नहीं काटे जाते हैं। सपने सपने से काटेंगे, तो भी सपना देखना जारी रखना पड़ेगा।
सपने सपने से नहीं कटते, क्योंकि सपनों को सपनों से काटने में सपने बढ़ते हैं। और सपने यथार्थ से भी नहीं काटे जा सकते; क्योंकि जो झूठ है, वह सच से काटा नहीं जा सकता। जो असत्य है, वह सत्य से काटा नहीं जा सकता। वह इतना भी तो नहीं है कि काटा जा सके। वह सत्य की मौजूदगी पर नहीं पाया जाता है; काटने को भी नहीं पाया जाता है।
इसलिए कृष्ण कहते कि कितना ही बड़ा पापी हो तू, सबसे बड़ा पापी हो तू, तो
भी मैं कहता हूं अर्जुन, कि ज्ञान की एक किरण तेरे सारे पापों को सपनों की भांति बहा ले जाती है। सुबह जैसे कोई जाग जाता--रात समाप्त, सपने समाप्त, सब समाप्त। जागे हुए आदमी को सपनों से कुछ लेना-देना नहीं रह जाता।
इसलिए जब पहली बार भारत के ग्रंथ पश्चिम में अनुवादित हुए, तो उन्होंने कहा, ये ग्रंथ तो इम्मारल मालूम होते हैं, अनैतिक मालूम होते हैं। खुद शॉपेनहार को चिंता हुई। मनीषी था गहरा। चिंतक था गहरा। उसको खुद चिंता हुई कि ये किस तरह की बातें हैं! ये कहते हैं कि एक क्षण में कट जाएंगे!
क्रिश्चियनिटी कभी भी नहीं समझ पाई इस बात को। ईसाइयत कभी नहीं समझ पाई इस बात को। एक क्षण में? क्योंकि ईसाइयत ने पाप को बहुत भारी मूल्य दे दिया, बहुत गंभीरता से ले लिया। सपने की तरह नहीं, असलियत की तरह। ईसाइयत के ऊपर पाप का भार बहुत गहरा है, बर्डन बहुत गहरा है। ओरिजिनल सिन! एक-एक आदमी का पाप तो है ही; वह पहले आदमी ने जो पाप किया था, वह भी सब आदमियों की छाती पर है। उसको काटना बहुत मुश्किल है।
इसलिए क्रिश्चियनिटी गिल्ट रिडेन हो गई; अपराध का भाव भारी हो गया।
और पाप से कोई छुटकारा नहीं दिखाई पड़ता। कितने ही पुण्य से नहीं छुटकारा दिखाई पड़ता। इसलिए ईसाइयत गहरे में जाकर रुग्ण हो गई।

जीसस को नहीं था यह ख्याल। लेकिन ईसाइयत जीसस को नहीं समझ पाई; जैसा
कि सदा होता है। हिंदू कृष्ण को नहीं समझ पाए। जैन महावीर को नहीं समझ पाए। ईसाइयत जीसस को नहीं समझ पाई।
न समझने वाले समझने का जब दावा करते हैं, तो उपद्रव शुरू हो जाता है। जीसस ने कहा, सीक यी फर्स्ट दि किंगडम आफ गॉड एंड आल एल्स शैल बी एडेड अनटु यू। जीसस ने कहा कि सिर्फ प्रभु के राज्य को खोज लो और शेष सब तुम्हें मिल जाएगा। वही जो कृष्ण कह रहे हैं कि सिर्फ प्रकाश की किरण को खोज लो और शेष सब, जो तुम छोड़ना चाहते हो, छूट जाएगा; जो तुम पाना चाहते हो, मिल जाएगा। भारतीय चिंतन इम्मारल नहीं है, एमारल है; अनैतिक नहीं है, अतिनैतिक है, सुपर मारल है, नीति के पार जाता है। यह वक्तव्य बहुत एमारल है, अतिनैतिक है। यह नीति-अनीति के पार चला जाता है, पुण्य-पाप के पार चला जाता है।
शेष फिर रात हम बात करेंगे।
अब कीर्तन में, धुन में संन्यासी डूबेंगे। जो मित्र सम्मिलित होना चाहें, वे सम्मिलित हो जाएं। अन्यथा बैठे रहें अपनी जगह। कम से कम ताली में साथ दें, धुन में साथ दें, बैठकर अपनी जगह। एक दस मिनट के लिए भूलें बुद्धि को, भूलें चिंतन को, भूलें विचार को।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
सोलहवां प्रवचन

ज्ञान पवित्र करता है

प्रश्नः भगवान श्री, सुबह सैंतीसवें श्लोक में कहा गया है कि ज्ञानरूपी अग्नि सर्व कर्मों को भस्म कर देती है। कृपया बताएं कि कर्म ज्ञानाग्नि से किस भांति प्रभावित होते हैं?

ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। किस भांति कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म होते हैं?
पहले तो यह समझ लेना पड़े कि कर्म किस भांति चेतना के निकट संगृहीत होते हैं! क्योंकि जो उनके संग्रह की प्रक्रिया है, वही विपरीत होकर उनके विनाश का उपक्रम भी है। यह भी समझ लेना जरूरी है कि कर्म क्या है। क्योंकि कर्म का जो स्वभाव है, वही उसकी मृत्यु का भी आधार बनता है।
कर्म कोई वस्तु नहीं है; कर्म है भाव। कर्म कोई पदार्थ नहीं है; कर्म
है विचार। कर्म का जन्मदाता व्यक्ति नहीं है, कर्म का जन्मस्रोत आत्मा नहीं है; कर्म का जन्मदाता है अज्ञान। अज्ञान से उत्पन्न हुआ विचार; अज्ञान में उठी भाव की तरंग; अज्ञान में भाव और विचार के आधार पर हुआ कृत्य। सबके मूल में आधार है अज्ञान का।
ज्ञान वस्तुतः कर्मों का नाश नहीं करता; परोक्ष में करता है। वस्तुतः
तो ज्ञान अज्ञान का नाश करता है। लेकिन अज्ञान के नाश होने से कर्मों की आधारशिला टूट जाती है। जहां वे संगृहीत हुए, वह आधार गिर जाता है। जहां से वे पैदा होते हैं, वह स्रोत नष्ट हो जाता है। जहां से वे पैदा हो सकते थे भविष्य में, वह बीज दग्ध हो जाता है।
ज्ञान वस्तुतः सीधे कर्मों को नष्ट नहीं करता; ज्ञान तो नष्ट करता है अज्ञान को। और अज्ञान है जन्मदाता कर्मों के बंधन का। अज्ञान नष्ट हुआ कि कर्म नष्ट हो जाते हैं।
ऐसा समझें, अंधेरा है भवन में। भय लगता है बहुत। जलाया दीया। कहते हैं हम, प्रकाश जल गया, भय नष्ट हो गया। लेकिन सच ही प्रकाश भय को सीधा कैसे नष्ट कर सकता है? प्रकाश तो नष्ट करता है अंधेरे को। अंधेरे के कारण लगता था भय; अंधेरा नहीं है, इसलिए भय भी नष्ट हो जाता है।
प्रकाश तो भय को छू भी नहीं सकता; प्रकाश तो अंधेरे को ही विसर्जित कर देता है। लेकिन अंधेरा था आधार, स्रोत। गया अंधेरा; भय भी गया। अगर उस भय से बचाव के लिए आपने हाथ में बंदूक पकड़ रखी थी, तो भय गया, तो बंदूक भी आपने टिका दी कोने में। प्रकाश बंदूक को हाथ से छुड़ा नहीं सकता। अंधेरा हटता है; अंधेरे से भय हटता है, भय हटने से बंदूक छूट जाती है। ये सब परोक्ष घटित होती घटनाएं हैं।
अज्ञान है हमारे समस्त कर्म-बंध का आधार। अनंत-अनंत जन्मों में जो भी हमने किया है, उस सबके पीछे अज्ञान है आधार। अगर अज्ञान न होता, तो हमें यह ख्याल ही पैदा न होता कि मैंने किया है। अगर अज्ञान न होता, तो हम जानते, हमने कभी कुछ किया नहीं है। हमारा अपना होना भी नहीं है।
अज्ञान में ही पता चलता है कि मैं हूं। अज्ञान नहीं है, तो परमात्मा है। अज्ञान नहीं है, तो मेरा कृत्य जैसा कोई कृत्य नहीं है। सभी कृत्य परमात्मा के हैं। शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा, जो भी है, उसका है। सभी उसको समर्पित है, सभी उसको... ।
अज्ञान के कारण लगता है कि मैं करता हूं। अज्ञान संगृहीत करता है कर्मों को कर्ता बनकर। फिर अज्ञान कल्पना करके योजना करता है कर्मों की भविष्य में; वासना बनता है। अतीत में अज्ञान बनता है कर्म की स्मृति, किया मैंने। भविष्य में बनता है स्वप्न, कर्म की वासना, करूंगा ऐसा। और इन दोनों के बीच में वर्तमान गुजरता। दो अज्ञानों के बीच में, अज्ञान की स्मृति और अज्ञान की कल्पना, इन दोनों के बीच में वर्तमान गुजरता।

ज्ञान की किरण के उतरते ही, ज्ञान की अग्नि के जलते ही, वह अंधेरा हट जाता है, जो वासना करता है; वह अंधेरा हट जाता है, जो कर्ता होने का भाव रखता है। सब कर्म तत्क्षण क्षीण हो जाते हैं। तत्क्षण! ज्ञान के समक्ष कर्म बचता नहीं, वैसे ही जैसे प्रकाश के समक्ष अंधकार बचता नहीं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं सब कर्म।
यह सिंबालिक है, प्रतीकात्मक है। ज्ञान-अग्नि; कर्मों का भस्म हो जाना--सब प्रतीक है। सूचना इतनी है कि कर्ता ज्ञान में नहीं टिकता है; अहंकार ज्ञान में नहीं टिकता है। और अहंकार नहीं, तो अहंकार के द्वारा संजोई गई कर्म की सारी व्यवस्था टूट जाती और नष्ट हो जाती है।
ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति ऐसा जानता ही नहीं कि मैंने कभी कुछ किया है। ऐसा भी नहीं जानता कि मैं कभी कुछ करूंगा। ऐसा भी नहीं जानता कि मैं कुछ कर रहा हूं। ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति कर्ता के भाव से कहीं भी ग्रसित नहीं होता।
कर्म आते हैं, जाते हैं। ज्ञानी पर भी कर्म आते हैं, जाते हैं। वह भी उठता-बैठता, खाता-पीता, बोलता-सुनता। ज्ञानी भी कर्म तो करता है। लेकिन ज्ञानी पर कर्म ऐसे हो जाते हैं, जैसे पानी पर खींची गई लकीरें। पानी पकड़ता नहीं है; लकीरें खिंचती हैं, खिंच भी नहीं पातीं कि खो जाती हैं। अज्ञानी पर कर्म ऐसे पकड़ते हैं, जैसे पत्थर पर खींची गई लकीरें। खिंच जाती हैं, तो मिटती मालूम नहीं पड़तीं। एक बार खिंच जाती हैं, तो और गहरी होती चली जाती हैं! फिर लकीर पर लकीर, और लकीर पर लकीर पड़कर पत्थरों पर घाव बना जाती हैं।
ज्ञानी पर कर्म ऐसे सरकता है, जैसे पानी पर खींची गई अंगुली, आप खींच
भी नहीं पाए और पानी सपाट है--खाली और मुक्त, रेखा से शून्य। लौटकर देखते हैं, रेखा कहीं नहीं है; जल की धार वैसी ही स्वच्छ बही जाती है। कितनी ही खींचें लकीरें, और पानी सब लकीरों को बहाकर फिर वैसा का वैसा ही हो जाता है। ऐसा ही है ज्ञानी।
कर्ता का पत्थर भीतर न हो, कर्ता का अहंकार भीतर न हो, तो कर्म की लकीरें खिंचती नहीं। जल की तरह तरल हो जाता है ज्ञानी; खिंचती है पानी पर रेखा, और खो जाती है।
कहें कि दर्पण की भांति हो जाता है। कोई आता है सामने, तो दिखाई पड़ता; दर्पण झलकाता। फिर विदा हो जाता, दर्पण मुक्त और खाली और शून्य हो जाता। दर्पण पर कोई रूपरेखा छूट नहीं जाती।
अज्ञानी का मन होता है फोटो-प्लेट की तरह, कैमरे के भीतर सरकने वाली फिल्म की तरह। जो पकड़ लिया, पकड़ लिया; उसे फिर छोड़ता नहीं। फोटो के कैमरे में भी आदमी की शकल दिखाई पड़ती है, लेकिन पकड़ी जाती है। दर्पण में भी शकल दिखाई पड़ती है, लेकिन पकड़ी नहीं जाती। अज्ञानी का मन पकड़ने में बहुत कुशल है। अज्ञान की वजह से क्लिंगिंग गहरी है, पकड़ गहरी है। जल्दी से मुट्ठी बांध लेता और पकड़ लेता है। इकट्ठा करता चला जाता है।
ज्ञान की रोशनी आती है, मुट्ठी खुल जाती है। दर्पण हो जाता है आदमी का मन। फिर कुछ पकड़ता नहीं। पिछले अतीत में देखे गए चित्र भी नहीं पकड़ता, आज देखे जाने वाले चित्र भी नहीं पकड़ता, भविष्य में देखे जाने वाले चित्र भी नहीं पकड़ता। ऐसा हो जाता है ज्ञानी का मन, जैसे बगुलों की कतार सुबह उड़ी हो झील के ऊपर से।
एक झेन फकीर बांकेई ने कहा है, उड़ती देखी बगुलों की कतार सुबह झील पर से; सूरज की रोशनी में चमकते वे शुभ्र पंख, झलके क्षणभर को झील में, और खो गए। न तो बगुलों को पता चला कि झील में प्रतिबिंब पकड़ा गया है, और न झील को पता चला कि बगुलों का प्रतिबिंब मैंने पकड़ा है।
ऐसा हो जाता है ज्ञानी का मन। सब होता है चारों तरफ, फिर भी कुछ नहीं होता है। पूरे जीवन के बीत जाने के बाद भी ज्ञानी के पास उसके मन में झांको, कुछ भी इकट्ठा नहीं होता है; खाली का खाली; रिक्त का रिक्त; शून्य का शून्य। आया-गया सब; भीतर कुछ छूट नहीं जाता है।
ज्ञान की अग्नि कर्मों को जला डालती, इसका अर्थ इतना ही है कि ज्ञान
की अग्नि में अज्ञान नहीं बचता है।

कर्म नहीं है असली सवाल; असली सवाल है कर्ता। कर्ता ही कर्म को पकड़ता
और इकट्ठा करता है। हम सब कर्ता बन जाते हैं, चौबीस घंटे, ऐसी चीजों के भी, जिनके कर्ता बनना कतई उचित नहीं है।
हम तो यहां तक कहते हैं कि श्वास लेता हूं मैं, जैसे कि कभी आपने श्वास
ली हो! श्वास आती है, जाती है; कोई लेता नहीं। अगर आप लेते होते, तो दूसरे दिन सुबह फिर कभी उठते ही नहीं। रात नींद में खो जाते; श्वास कौन लेता फिर? नहीं, श्वास हम नहीं लेते। श्वास आती है, जाती है।
श्वास जैसी जीवन की गहरी प्रक्रिया भी हम नहीं करते हैं। होती है। पर आदमी कहता है कि मैं श्वास लेता हूं। हद है! कभी किसी ने श्वास नहीं ली। न कोई कभी श्वास लेगा। श्वास बस आती और जाती है। आप ज्यादा से ज्यादा देख सकते हैं, जान सकते हैं। ज्यादा से ज्यादा भूल सकते हैं, विस्मरण कर सकते हैं; स्मरण रख सकते हैं, होश रख सकते हैं, बेहोश हो सकते हैं--लेकिन श्वास ले नहीं सकते। ज्ञाता हो सकते, साक्षी हो सकते, द्रष्टा हो सकते--कर्ता नहीं हो सकते हैं।
लेकिन हम हर चीज में जोड़ लेते हैं। और गौर से देखते चले जाएं, तो फिर किसी चीज में नहीं जोड़ पाएंगे। खोजते चले जाएं, तो पाएंगे कि कर्ता भ्रम है, दि ग्रेटेस्ट इलूजन। जो बड़े से बड़ा भ्रम है, वह कर्ता का भ्रम है।
मां कहती है कि मैं बेटे को जन्म देती हूं। किसी मां ने कभी नहीं दिया। होता है। अगर पति और पत्नी सोचते हों कि हम मिलकर बेटे को जन्म देते हैं, तो प्रकृति उन पर बहुत हंसती है। क्योंकि उनसे भी प्रकृति जन्माने का काम लेती है, वे जन्म देते नहीं हैं।
इसीलिए तो कामवासना इतनी प्रगाढ़ है, आपके वश में नहीं है। इतनी प्रगाढ़ है, इतनी बायोलाजिकल फोर्स है, इतना जैविक भीतर से धक्का है कि आपके वश में नहीं है। इसीलिए तो ब्रह्मचर्य बड़ी से बड़ी चीज समझी गई है। ब्रह्मचर्य के बड़े होने का और कोई मतलब नहीं है। इतना ही मतलब है कि ब्रह्मचर्य को केवल वही उपलब्ध हो सकता है, जो कर्ता के भाव से मुक्त हो गया हो। क्योंकि कर्ता से तो प्रकृति बाप बनने का, मां बनने का काम ले ही लेगी। वह अज्ञानी पक्का है। उसको तो भीतर से धक्का दे दिया जाएगा और उससे काम ले लिया जाएगा।
पशुओं की जिंदगी में अगर देखें, कीड़े-मकोड़ों की जिंदगी में अगर देखें, पौधों की जिंदगी में अगर देखें, तो सभी पैदा कर रहे हैं; सभी बच्चे पैदा कर रहे हैं। लेकिन कम से कम उनको शायद पता नहीं है कि वे कर्ता हैं। आदमी को यह ख्याल है कि वह कर्ता है।
बाप बेटे से कहता है, मैंने तुझे जन्म दिया। सारा जगत हंसता होगा अगर सुनता होगा कि पागल हुए हो! जन्म तुमने दिया? या कि जन्म की प्रक्रिया में तुम सिर्फ उपकरण बनाए गए, साधन बनाए गए? पैदा होना चाहता था कोई। जगत, अस्तित्व उसे पैदा करना चाहता था; आप सिर्फ उपकरण बने हैं, आप सिर्फ माध्यम बने हैं। लेकिन माध्यम अकड़कर कहता है, मैंने पैदा किया!
बुद्ध ने बारह वर्ष बाद घर लौटकर जब गांव के द्वार से प्रवेश किया, तो बुद्ध के पिता ने कहा, मैंने ही तुझे जन्म दिया। बुद्ध ने कहा, क्षमा करें। आप नहीं थे, तब भी मैं था। मेरी यात्रा बहुत पुरानी है। आपसे मेरा मिलन तो अभी-अभी हुआ, कुछ ही वर्ष पहले। मेरी यात्रा बहुत पुरानी है आपसे। आपकी भी यात्रा उतनी ही पुरानी है। आपने मुझे जन्म दिया, ऐसा मत कहें; ऐसा ही कहें कि आप एक चौराहे बने, जिससे मैं गुजरा और पैदा हुआ। लेकिन मैं गुजरा और पैदा हुआ, ऐसा भी कहना, बुद्ध ने कहा, ठीक नहीं; गुजारा गया और पैदा किया गया।
जैसे कोई चौराहे से गुजर जाए और चौराहा कहे कि मैंने ही तुम्हें पैदा किया; मेरे चौराहे से तुम गुजरे थे, अन्यथा हो न सकते थे! ऐसे ही मां-बाप एक चौराहे से ज्यादा नहीं हैं, जिनसे बच्चा पैदा होता है।
अनंत हैं शक्तियां, जिनके कारण यह घटना घटती है। छोटी से छोटी घटना अनंत चीजों पर निर्भर है। मूलतः तो अनंत परमात्मा पर निर्भर है। लेकिन हम कहते हैं कि मैं... ।

यह मैं अज्ञान का गढ़ है। ज्ञान की किरण, होश का क्षण, जागरूकता की एक झलक इस पूरे गढ़ को गिरा देती है। यह ताश के पत्तों का गढ़ है। यह पत्थरों का नहीं है, नहीं तो ज्ञान की किरण इसे न गिरा पाए। यह ताश के पत्तों का घर है। जरा-सा झोंका हवा का, और सब बिखर जाता है।

यह अहंकार बिल्कुल ताश के पत्तों का घर है। जरा-सा धक्का ज्ञान का, और
सब गिरकर जमीन पर पड़ जाता है। वर्षों की, जन्मों की मेहनत हो भला, लेकिन है ताश के घर का खेल।
ज्ञान क्या करता है? ज्ञान क्या है?
ज्ञान है स्मरण सत्य का, अज्ञान है विस्मरण सत्य का। अज्ञान है एक फार्गेटफुलनेस, एक विस्मृति। ज्ञान है एक स्मरण।
स्मरण सत्य का जैसे ही होता है, वैसे ही अंधेरे में, अज्ञान में पाली
गई सारी धारणाएं गिर जाती हैं। गिर ही जाएंगी। जैसे रात के अंधेरे में हमने सपने देखे और सुबह के जागरण पर सब खो गए। ऐसे ही।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान की अग्नि में समस्त कर्म जल जाते हैं अर्जुन! तू चिंता ही मत कर कर्मों की; तू चिंता कर कर्ता की।
पूरा जोर कृष्ण का इस बात का है, कर्म की छोड़ फिक्र, फिक्र कर कर्ता की। अगर कर्ता है तू, तो फिर कर्म तुझे बनते ही चले जाएंगे। और अगर कर्ता नहीं है तू, तो फिर चिंता छोड़। फिर झील पर उड़े हुए बगुलों की कतार की भांति कुछ भी तुझ पर बनेगा नहीं। यह महायुद्ध जो तेरे सामने खड़ा है, इससे भी गुजर; कर्ता भर मत हो। फिर ये गिरी हुई हजारों लाशें भी, तेरे ऊपर खून का एक दाग न छोड़ जाएंगी।
इससे बड़ी हिम्मत का वक्तव्य मनुष्य-जाति के इतिहास में दूसरा नहीं है। सच ए ग्रेट एंड बोल्ड स्टेटमेंट! कृष्ण कहते हैं, ये लाखों लोग, इनकी लाशें पट जाएं; अगर तू कर्ता नहीं है, तो छोड़ फिक्र, खून का एक दाग भी तेरे ऊपर नहीं पड़ेगा। और अगर तू कर्ता है, तो तू शून्य में से भी गुजर जा, तो भी तू कर्मों से भर जाएगा और लद जाएगा।
कर्ता अगर सोया भी रहे, तो भी कर्म अर्जित करता है; नींद में भी कर्म करता है। और अगर अकर्ता जागकर युद्धों में भी उतर जाए, तो भी कर्म फलित नहीं होता है। कर्ता की मृत्यु कर्म का समाप्त हो जाना है।
इस अर्थ में ज्ञान की अग्नि समस्त कर्मों का विनाश बन जाती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धिः कालेनात्मनि विन्दति।। 38।।
इसलिए इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने काल से अपने आप समत्व बुद्धिरूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धांतःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है।

ज्ञान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। ज्ञान के सदृश कुछ भी नहीं है। ज्ञान से ज्यादा पवित्र करने वाला कोई स्रोत, कोई झरना नहीं है। ज्ञान है मुक्ति। ज्ञान है अमृत।
ज्ञान की यह जो पवित्र करने की क्षमता है, यह जो ज्ञान की स्वच्छ करने
की क्षमता है, यह जो ज्ञान की ट्रांसफार्म करने की, रूपांतरित करने की शक्ति है, इसके संबंध में कृष्ण कह रहे हैं। तीन बातें कह रहे हैं। ज्ञान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं। ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं। ज्ञान को उपलब्ध हुआ आत्मा में प्रवेश कर जाता है। इन तीनों को अलग-अलग समझें।
अपवित्रता क्या है? इंप्योरिटी क्या है? अपवित्र क्यों है मनुष्य? कौन-सी है गंदगी उसके प्राणों पर, जो भारी है। कौन-सा है अस्वच्छ कचरा, जो उसके चित्त पर बोझ है? कौन-सी अशुचि है? कौन है, क्या है, जो उसे रुग्ण और बीमार किए है?
मन में जैसे ही उठती है वासना, वैसे ही अशुचि प्रवेश कर जाती है। मन में जैसे ही उठती है कामना, वैसे ही मन गंदगी से भर जाता है। मन में जैसे ही

उठी इच्छा कि ज्वर, फीवर प्रवेश कर जाता है। उत्तप्त हो जाता है सब। अस्वस्थ हो जाता है सब। कंपनशील हो जाता है सब। कामना ही--डिजायरिंग-- कामना ही अशुचि है, अस्वच्छता है, अपवित्रता है।
देखें; जब भी मन में कुछ चाह उठती है, तब देखें। भीतर से सुगंध खो जाती
और दुर्गंध शुरू हो जाती है। जब भी मन में कोई चाह उठती है, तब भीतर से शांति खो जाती और अशांति के वर्तुल खड़े हो जाते हैं, भंवर खड़े हो जाते हैं। जब भी मन में कोई चाह उठती है, तभी दीनता पकड़ लेती है। आदमी भिखारी की तरह भिक्षापात्र लेकर खड़ा हो जाता है, भिक्षु हो जाता है।
जब भी मन में चाह उठती है, तभी दूसरे से तुलना शुरू हो जाती है; ईर्ष्या निर्मित होती है, जेलेसी। और जेलेसी से ज्यादा गंदी और कोई चीज नहीं है चित्त में। जेलेसी, जलन से, प्रतिस्पर्धा से, तुलना से भरा हुआ मन ही कुरूप है, अग्ली है।
जैसे ही वासना उठती मन में, हिंसा उठती है। क्योंकि वासना को पूरा हिंसा के बिना किया नहीं जा सकता। फिर जो पाना है, वह किसी भी तरह पाना है। फिर चाहे कुछ भी हो, फिर उसे पा ही लेना है। फिर अंधा होता आदमी। जब वासना घनी होती है, तब ब्लाइंडनेस पैदा होती है। अंधा होता है। फिर आंख बंद करके दौड़ता पागल की तरह! क्योंकि अकेला ही नहीं दौड़ रहा है; और बहुत अंधे भी दा.ैड रहे हैं। कोई और न छीन ले! संघर्ष होता। वैमनस्य होता। क्रोध होता। घृणा होती।
और मजा यह है कि सफल हो जाए वासना, तो भी फ्रस्ट्रेशन, तो भी विषाद हाथ में आता है। और असफल हो जाए वासना, तो भी विषाद हाथ में आता है। दोनों ही स्थिति में अंततः दुख के आंसू हाथ में पड़ते हैं।
इसे थोड़ा ख्याल में ले लेना जरूरी है। क्योंकि हमारा मन कहेगा, नहीं; अगर सफल हो जाए, फिर क्या? फिर तो सब ठीक है!
यही है राज कि सफल होकर भी वासना कहीं भी नहीं ठीक करती। असफल होकर तो करती ही नहीं; सफल होकर भी नहीं करती।
मैंने सुना है कि एक बड़े पागलखाने में एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए गया है। चिकित्सक ने पागलखाने के, उसे पागलों को दिखाया है। एक कोठरी में एक पागल बंद है, जो हाथ में एक तस्वीर लिए है। छाती से लगाता है; फिर देखता है; फिर आंसू टपकाता है। रोता है, चिल्लाता है। पूछा उस मनोवैज्ञानिक ने चिकित्सक को पागलखाने के कि क्या हो गया? क्या कारण है इसके पागलपन का? चिकित्सक ने कहा, हाथ में जो तस्वीर लिए है, वही कारण है। इस स्त्री को प्रेम करता था। यह इसे मिल नहीं पाई। इसलिए दुखी और पीड़ित है। दिन-रात छाती पीटता रहता है।
फिर वे आगे बढ़े और दूसरी कोठरी के सामने एक दूसरे आदमी को बाल नोचते, चेहरे को लहूलुहान करते देखा। पूछा मनोवैज्ञानिक ने, इस आदमी को क्या हुआ है? उस चिकित्सक ने कहा, इस आदमी को वह स्त्री मिल गई, जो उस आदमी को नहीं मिल पाई। यह उसकी वजह से पागल हो गया! एक पागल है इसलिए कि जो उसने चाहा था, वह नहीं मिला। एक पागल है इसलिए कि जो उसने चाहा, वह मिल गया है!
ऐसा ही होता है। चाहा हुआ मिल जाए, तो भी पता चलता है, कुछ भी नहीं मिला। चाहा हुआ न मिले, तब तो फिर चित्त दुखी और पीड़ित होता ही है। और दुख में उठे आंसू जितनी गंदगी और अपवित्रता लाते हैं, उतना और कुछ भी नहीं लाता।
ध्यान रखें, आंसू आनंद में भी उठ सकते हैं। लेकिन आनंद के आंसू बड़े पवित्र होते हैं, उनकी सुवास की कोई सीमा नहीं है। दुख में भी आंसू गिरते हैं, तब उनकी अपवित्रता, उनकी गंध का कोई हिसाब नहीं है। आंसू वही होते हैं; भीतर का चित्त बदला होता है।
वासना, कामना, इच्छा कीड़ा है, जो भीतर गंदगी को पैदा करता है। हम सब हजार इच्छाओं में जीते हैं, हजार तरह की गंदगियों में जीते हैं।
ज्ञान की स्वच्छ करने की शक्ति यही है कि ज्ञान के उतरते ही इच्छा तिरोहित होती है। इच्छा की जगह अस्तित्व शुरू होता है। डिजायरिंग की जगह, एक्झिस्टेंशियल होता है आदमी। फिर मांगता नहीं कि क्या मिले; जो मिला है, उसे परम प्रभु को धन्यवाद देकर चुपचाप स्वीकार करता है। दौड़ता नहीं है

उसका चित्त कल के लिए; आज काफी है, पर्याप्त है। आज ही मिल गया है, यही क्या कम है। आज हूं, इतनी भी तो मेरी पात्रता नहीं है। जो मिला, वह मेरी योग्यता कहां है?
लेकिन कोई हममें से नहीं सोचता यह कि जो हमें मिला, उसकी हमारी योग्यता है? अगर मुझे आंखें न मिली होतीं, तो क्या मैं कह सकता था कि मेरी योग्यता है, मुझे आंखें दो! अगर मेरे पास हाथ न होते, तो क्या था प्रमाण मेरे पास कि मेरी योग्यता है, मुझे हाथ दो! अगर मैं जीवित ही न होता, तो क्या था उपाय कि मैं कहता कि मैं जीवन का अधिकारी हूं, मुझे जीवन दो! जो हमें मिला है, उसका हमें कोई हिसाब नहीं है, उसका कोई अनुग्रह नहीं है। क्योंकि वासना उसे दिखाई ही नहीं पड़ने देती, जो है। वासना कहती है वह, जो नहीं है।
वासना वैसी ही है, जैसे कभी दांत टूट जाए, तो जीभ वहीं-वहीं जाती है, जहां दांत नहीं है। सब दांतों को छोड़ देती है। दिनभर वहीं कुरेदती चली जाती है, जहां दांत नहीं है। उस जीभ से पूछो कि तू पागल हो गई! दांत इतने दिन था, तब कभी तूने छुआ भी नहीं। आज तुझे क्या हो गया है? खाली गड्ढे को छूने में तुझे क्या हो रहा है? जो नहीं है, उसमें बड़ा रस है। जो है, उससे कोई प्रयोजन नहीं है।
वासना भी टूटे दांत को छूती रहती है दिन-रात, जो नहीं है। और बहुत कुछ है, जो नहीं है। अनंत है विस्तार जीवन का। सभी कुछ मेरे पास नहीं है। यद्यपि मेरे पास जो है, वह सभी कुछ से जरा भी कम नहीं है। लेकिन उसको देखे कौन? उसकी तरफ नजर कौन उठाए?
सुना है मैंने, एक आदमी रो रहा था रास्ते पर खड़ा हुआ। और एक फकीर से उसने कहा कि मुझे तो भगवान उठा ही ले, तो अच्छा। मेरे पास कुछ भी नहीं है। आज सुबह की चाय पीने के लिए पैसे भी नहीं हैं। उस फकीर ने कहा, घबड़ा मत। मैं समझता हूं, तेरे पास बहुत कुछ है; मैं बिक्री करवा देता हूं। उसने कहा, मेरे पास कुछ भी नहीं है इस चीथड़े के सिवा, जो मेरे शरीर पर अटका हुआ है। इसकी क्या बिक्री होगी, खाक! अगर होती हो, तो मैं बेचने को तैयार हूं। फकीर ने कहा, तू मेरे साथ आ।
वह उसे सम्राट के पास ले गया गांव के। दरवाजे पर उसने कहा कि मित्र, पहले तुझे बता दूं; ऐसा न हो कि बाद में तू बदल जाए। दाम अच्छे मिल जाएंगे। लेकिन बेचने की तैयारी है? उसने कहा, तू पागल तो नहीं है! मेरे पास कुछ है नहीं, जो बेचने योग्य हो। और इस महल में इन चीथड़ों को खरीदेगा कोई? चीथड़ों की वजह से मुझे भी निकालकर वे बाहर फेंक देंगे। भीतर प्रवेश भी मुश्किल है। है क्या मेरे पास? उस फकीर ने कहा कि देख, बाद में बदल मत जाना; दाम अच्छे मिल जाएंगे। वह आदमी हंसने लगा। उसने कहा कि व्यर्थ मेरी सुबह खराब हुई तुम्हारे साथ आकर। तुम पागल मालूम पड़ते हो! फकीर ने कहा, तेरी मर्जी। अंदर चल!
सम्राट के पास जाकर कहा कि यह आदमी मैं ले आया। इस आदमी की दोनों आंखें आप खरीद लें। क्या दाम दे देंगे? आदमी घबड़ाया। उसने कहा, आंख! तुम बात क्या कर रहे हो? सम्राट ने कहा, लाख-लाख रुपया मैंने तय कर रखा है; जो भी आदमी आंख बेचे। वजीर को कहा, दो लाख रुपए ले आओ। और उस आदमी से कहा, सौदे में कोई तुम्हें एतराज तो नहीं है? कम तो नहीं हैं?
वह भिखारी एकदम भिखारी न रहा, एक क्षण में। क्योंकि भिखारी था वह टूटे हुए दांत पर जीभ मारने की वजह से। भिखारी न रहा। क्योंकि अब उसकी उन दांतों पर जीभ पड़ी, जो थे। उसने कहा, आप बात क्या करते हैं? आंखें मुझे बेचनी नहीं हैं। उस फकीर ने कहा, दो लाख मिलते हैं पागल! तू कहता था, कुछ भी मेरे पास नहीं है। भगवान को कोस रहा था। सुबह-सुबह दो लाख का सौदा करवाए देते हैं। तेरी ज्यादा मर्जी हो, तो ज्यादा बोल। कुछ ज्यादा भी मिल सकता है। उस आदमी ने कहा कि मुझे बाहर जाने का रास्ता बताओ। मुझे आंख बेचनी नहीं है। उस फकीर ने कहा, लेकिन लाखों की आंख तेरे पास हैं, कभी तूने भगवान को धन्यवाद दिया है?
लेकिन लाखों की आंख देखे कौन? आंखें तो कौड़ियों की इच्छाओं को देख रही हैं। आंखें तो कौड़ी भर इच्छा के पीछे दौड़ रही हैं। लाखों की आंख कौड़ियों

की इच्छा करती है! करोड़ों का मन--हिसाब नहीं है दाम का मन के लिए--क्षुद्र घास-पात के लिए पीड़ित है और तड़फता है। अरबों की विवेक-शक्ति--दाम नहीं लगते, अरबों में भी नहीं हो सकते दाम--किसी काम नहीं पड़ती। कोई जरा-सी गाली दे जाता है और करोड़ों की विवेक-शक्ति हम जमीन पर लुढ़का देते हैं। असीम, अनंत, अमूल्य आत्मा क्षुद्रतम के लिए दांव पर लगा दी जाती है।
नहीं; वह भिखारी हमसे ज्यादा होशियार था। इनकार कर दिया, नहीं बेचता हूं आंख! हम तो आत्मा बेच देते हैं! आत्मा बेचने में भी देर नहीं करते। टुकड़ों पर बिक जाती है आत्मा! पैसों में बिक जाती है। तांबे के ठीकरों में बिक जाती है।
वासना हमें बुरी तरह भिखारी बना देती है।
ज्ञान स्वच्छ करता है वासना से; तृप्त करता है, जो है, उसमें। दौड़ाता नहीं उसके पीछे, जो नहीं है। हृदय से आलिंगन करा देता है उसका, जो है। अदभुत है तृप्ति, संतुष्टि फिर। उस संतुष्टि में वासना के सारे रोग और सारे विकार विदा हो जाते हैं; मन स्वच्छ हो जाता है। एकदम स्वच्छ और ताजा हो जाता है।
क्षण में जो जीता है, कल का जिसे हिसाब नहीं है, बीते कल का; आने वाले
कल की जिसे अपेक्षा नहीं है; जो अभी और यहीं है, हियर एंड नाउ, उसकी स्वच्छता का कोई अंत नहीं है। वह पवित्रतम है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, ज्ञान की तरह पवित्र करने वाला, ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाली कोई कीमिया, कोई केमिस्ट्री नहीं है।
इसलिए अगर बुद्ध की आंखों में पवित्रता दिखाई पड़ती है ऐसी, कि जिससे झीलें भी झेंप जाएं। कि बुद्ध के चेहरे पर रेखाएं दिखाई पड़ती हैं ऐसी, कि छोटे बच्चे भी, नवजात शिशु भी शर्माएं। कि बुद्ध के चलने में चारों तरफ हवा बहती है स्वच्छता की, निर्मल, कि मलय पर्वत से उठी हुई सुगंधित हवाएं भी फिर से विचार करें कि वे मलय पर्वत से आती हैं या कहीं और से! अगर महावीर की नग्नता में भी पवित्रतम के दर्शन होते हैं, तो उसका कारण है। अगर जीसस सूली पर लटके हैं और मृत्यु के क्षण में भी उनके भीतर से जीवन की ऊर्जा ही झलकती और प्रकट होती है।
अगर मंसूर के हाथ-पैर काटे जा रहे हैं। हाथ से गिरते लहू में भी, पैर
से टपकते लहू में भी मंसूर हाथ के पंजों को लहू में लगा लेता; फिर दोनों बाहुओं पर लगाता है। लोग भीड़ में खड़े हैं जो पत्थर फेंक रहे हैं; वे पूछते हैं कि मंसूर यह तुम क्या कर रहे हो? तो मंसूर कहता है, मैं वजू कर रहा हूं। नमाज के पहले जैसे मुसलमान हाथ धो डालता है। खून से वजू कर रहा है। अपने ही खून से! हंसता है और कहता है, यह खून भी परमात्मा की नसों में बहता हुआ पानी है। वह नदियों में बहता हुआ पानी भी परमात्मा की नसों में बहता हुआ खून है। यह भी उसकी ही धारा है; वह भी उसकी ही धारा है। सौभाग्य मेरा कि तुमने आज इतने निकट की धारा तोड़ दी और वजू करने मुझे दूर नहीं जाना पड़ रहा है। वहीं खून से वजू कर रहा है; हंस रहा है; मुस्कुरा रहा है।
लोग पत्थर फेंक रहे हैं और वह हंस रहा है। और मरते दम किसी ने उससे पूछा कि मंसूर, हम तुम्हें काट रहे हैं और तुम हम पर प्रेम बरसा रहे हो; मत झेंपाओ हमें, मत शर्माओ इतना। तो मंसूर ने कहा, इसलिए ताकि तुम याद रख सको कि प्रेम को पत्थरों से पीड़ित नहीं किया जा सकता है। और आत्माओं को छुरों से, तलवारों से भोंका नहीं जा सकता है। और प्रार्थना को दुनिया की कोई भी गाली अपवित्र नहीं कर सकती है। ताकि तुम स्मरण रखो।
यह जो इन व्यक्तियों के भीतर, और ऐसे हजार-हजार और व्यक्ति भी हुए हैं,
इन सबके भीतर जो पवित्रता प्रकट होती है, वह कृष्ण के सूत्र का ही प्रमाण है। ज्ञान के सदृश और कुछ पवित्र करने वाला नहीं है।
ज्ञान ही एकमात्र पवित्रता है, नालेज इ.ज प्योरिटी। साक्रेटीज ने कहा है, नालेज इ.ज वर्च्यू, ज्ञान ही एकमात्र सदगुण है। वही कृष्ण कहते हैं। कृष्ण कहते हैं, ज्ञान से ऊपर कुछ भी नहीं।
है भी नहीं। परम शिखर जीवन के अनुभव का, जान लेना है। निकृष्टतम खाई अज्ञान की, न जानने में पड़े रहना है। आत्म-अज्ञान गहनतम नर्क है; आत्म-

243

ज्ञान श्रेष्ठतम स्वर्ग है। जो नहीं जानता अपने को, उससे नीचे और कुछ नहीं हो सकता। जो जान लेता अपने को, उसके ऊपर कुछ और नहीं है।
दो ही छोर हैं, अज्ञान और ज्ञान। इन दो के अतिरिक्त और कोई पोल्स नहीं हैं अस्तित्व के। एक तरफ अज्ञान का छोर है, जहां हम अपने को नहीं जानते। और जो अपने को नहीं जानता, वह और कुछ क्या जानेगा, खाक! कैसे जानेगा? उपाय क्या है? जो अपने को ही नहीं जानता, वह और क्या जानेगा? उसका सब जानना धोखा है। और जो अपने को जान लेता है, उसे और कुछ जानने को बचता नहीं। जिसने अपने को जान लिया, उसने सब जान लिया।
महावीर ने कहा है, जाना जिसने स्वयं को, जाना उसने सब। स्वयं को जाना,
तो सर्वज्ञ हुआ। सभी कुछ जान लिया। क्यों? इतना बड़ा वक्तव्य! ऐसा कैटेगोरिकल, ऐसा निरपेक्ष वक्तव्य, कि जिसने अपने को नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना। निश्चय ही, क्योंकि जानने की पहली किरण स्वयं से अगर न टूटे, तो और कहीं से नहीं टूट सकती।
जो आदमी भीतर ही अंधेरा है, जिसके अपने ही घर का दीया बुझा है, जिसको अपना बुझा दीया ही जिंदगी बनी है, अपना दीया जलाने का स्मरण भी जिसे नहीं आया अब तक, उसे कहीं और प्रकाश कहां हो सकता है? उसके हाथ में भी प्रकाश दे दो, तो बेमानी है।
मैंने सुना है, एक रात एक अंधा एक घर में मेहमान था। लौटने लगा। अमावस
की रात। घर से बाहर निकला। मित्र ने कहा, लालटेन साथ लेते चले जाएं। रास्ता बहुत अंधेरा है। अमावस की रात! अंधे ने कहा, मजाक करते हैं! भूल गए, मैं अंधा हूं। मुझे तो दिन भी अमावस ही है। क्या फर्क पड़ता है? पर मित्र भी साधारण न था। मजाक में बात न कही थी; अर्थ था, अभिप्राय था। कहा कि वह मैं जानता हूं। अंधे की मजाक करूं, इतना अंधा मैं नहीं। इतना कठोर मत समझो। नहीं, इसलिए नहीं कि तुम्हें प्रकाश में दिखाई पड़ने लगेगा, इसलिए नहीं कहता, लालटेन ले लो। इसलिए कहता हूं कि अंधेरे में कोई और तुमसे न टकरा जाए। हाथ में रहेगा प्रकाश, तो दूसरे को टकराने में थोड़ी असुविधा पड़ेगी। हालांकि प्रकाश रहते भी जिसको टकराना है, वह टकराता है; फिर भी थोड़ी सुविधा कम होगी। थोड़ी असुविधा, अड़चन आएगी। इसलिए लेते चले जाओ।
अंधे को भी कठिन हुआ। अब कोई उत्तर भी न था। ले ली लालटेन और चल पड़ा।
और दस कदम भी नहीं चला होगा, सड़क के किनारे पर कोने पर पहुंचा ही था कि भड़ाम! कोई उससे आकर टकरा गया। पूछा अंधे ने, क्या कर रहे हैं? मैं नहीं गलत कर पाया अपने मित्र को, आप किए दे रहे हैं! दिखाई नहीं पड़ती रोशनी? हाथ में लालटेन है! दूसरे आदमी ने कहा, क्षमा करें! लालटेन बुझ गई है, आपको पता नहीं।
अंधे को पता भी कैसे चले कि लालटेन बुझ गई! अंधे के हाथ में लालटेन जैसा अर्थ रखती है, ऐसा ही स्वयं का जिसके प्रति अज्ञान है, उसके हाथ में जगत का सारा ज्ञान भी हो, तो बस ऐसा ही अर्थ रखता है। टक्कर होगी। थोड़ी- बहुत देर में लालटेन बुझेगी। अंधे को पता कैसे चले?

और मैं अगर उस मित्र की जगह होता, जिसने अंधे को लालटेन दी, तो अंधे को लालटेन कभी न देता। क्योंकि अंधे के हाथ में लालटेन अगर न होती, तो मैं मानता हूं कि वह उस दिन न टकराता। आप कहेंगे, कैसे? इसलिए न टकराता कि अंधे के हाथ में लालटेन न होती, तो वह टटोल-टटोलकर, सम्हाल-सम्हालकर, चिल्ला- चिल्लाकर, आवाज दे-देकर चलता। लालटेन की वजह से चला अकड़कर कि लालटेन है हाथ में; अब कौन टकराने वाला है! टक्कर हो गई।
अज्ञानी के हाथ में सारे जगत का ज्ञान दे दें, तो खतरा ही है। अज्ञानी
के हाथ में ज्ञान न हो, वही बेहतर। आज यही तो हुआ है सारी दुनिया में। विज्ञान ने ज्ञान की राशि लगा दी अज्ञानी के हाथ में। परिणाम में हिरोशिमा, नागासाकी! परिणाम में तीसरा महायुद्ध किसी भी दिन! अज्ञानी के हाथ में ताकत है।
नादिरशाह ने एक दफा एक ज्योतिषी से पूछा कि मैंने एक किताब पढ़ी है-- धर्मग्रंथ! उसमें लिखा है, ज्यादा देर सोना अच्छा नहीं। लेकिन मैं सुबह दस बजे सोकर उठता हूं। आपका क्या ख्याल है? किताब ठीक कि मैं ठीक? ज्योतिषी

ने कहा, किताब ठीक नहीं है; आप ही ठीक हैं। और मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप चौबीस घंटे सोए रहें, तो बहुत अच्छा है! नादिरशाह ने कहा, तुम्हारा मतलब? हिम्मत का आदमी रहा होगा वह ज्योतिषी। उसने कहा, मेरा मतलब यह कि किताब अच्छे आदमियों को ध्यान में रखकर लिखी गई है, बुरे आदमियों को ध्यान में रखकर नहीं। अच्छा आदमी जितना जागे, उतना अच्छा; बुरा आदमी जितना सोए, उतना अच्छा। क्योंकि वह जितनी देर सोए, उतनी देर दुनिया के लिए वरदान है। जितनी देर जागे, उतनी देर उपद्रव; होगा ही कुछ!
नादिरशाह जागे, उपद्रव न हो, ऐसा नहीं हो सकता। अज्ञानी के हाथ में अज्ञान ही अच्छा है; अज्ञानी के हाथ में ज्ञान खतरनाक है। ज्ञानी के हाथ में अज्ञान भी खतरनाक नहीं है, ज्ञान की तो बात ही क्या है!
यहां ज्ञान की जो बात कृष्ण कह रहे हैं, वह आत्मज्ञान है। स्वयं का ज्ञान प्राथमिक, फाउंडेशनल, मूलभूत ज्ञान है। उस ज्ञान को पा लेने से, कृष्ण कहते हैं, आत्मा में प्रवेश हो जाता है।
यह आखिरी बात भी समझ लेनी जैसी है।
आत्मा में प्रवेश हो जाता है। आत्मा से एकता हो जाती है। आत्मा में द्वार मिल जाता है। आत्मा ही हो जाता है, वैसा जानने वाला। तो क्या हम आत्मा नहीं हैं? हम सभी आत्मा हैं। सब किताबों में लिखा है! खुद कृष्ण ही कहते हैं कि सबके भीतर आत्मा है, वह मरती नहीं। जब हम सभी आत्मा हैं, तो अब ज्ञान की और क्या जरूरत है?
जार्ज गुरजिएफ कहा करता था कि जिन लोगों ने लोगों को समझाया कि सबके भीतर आत्मा है, उन्होंने जगत की बड़ी हानि की है। और जब उसने यह कहा, तो उसने बहुत सोच-विचारकर कहा है। गुरजिएफ ने उलटी बात कहनी शुरू की। इस बात को भलीभांति जानते हुए कि सभी के भीतर आत्मा है, गुरजिएफ ने कहना शुरू किया, सभी के भीतर आत्मा नहीं है। जो आत्मा को पैदा कर ले, उसी के भीतर है; बाकी तो बिना आत्मा के हैं।
गुरजिएफ का मतलब था। गुरजिएफ कहता था, सभी को यह ख्याल हो गया है कि हमारे भीतर आत्मा है। जानें न जानें, है ही; पाएं न पाएं, है ही। फिर क्या फर्क पड़ता है? है तो। गुरजिएफ कहता था, तब तक है या नहीं बराबर है, जब तक जानी नहीं। जब तक जानी नहीं, तब तक न होने के बराबर है। उसके होने का क्या मतलब?
आपके घर में खजाना गड़ा है और आपको पता नहीं कि कहां गड़ा है। कुछ मतलब है? कोई बाजार में क्रेडिट मिलेगी उसकी? भिखमंगा हूं मैं और घर में खजाना गड़ा है। मेरा भिखमंगापन मिटेगा इससे? गड़ा रहे घर में खजाना; मुझे कुछ पता नहीं है, वह कहां है! जो खजाना पता न हो, वह न होने के बराबर है। जिसका पता हो, वही है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, जो जान लेता, वही आत्मा को उपलब्ध होता है। ज्ञान ही आत्मा है। अज्ञान का क्या अर्थ है, कि आत्मा है? सुनी हुई बातों की, खबरों की कोई कीमत है!
हम सबने सुना है, आत्मा है, बड़े निश्चिंत हैं। सोचते हैं, है ही। फर्क क्या है हममें और ज्ञानी में? थोड़ा ही फर्क है कि वह जानता है और हम नहीं जानते। फर्क कुछ भी नहीं है, हम सोचते हैं। फर्क बहुत बड़ा है। क्योंकि यह न जानना, न होने के बराबर है, इक्वीवेलेंट, बिल्कुल समतुल।
जब तक अज्ञान है, तब तक अनात्मा है। जब ज्ञान है, तभी आत्मा है। ज्ञान
के पहले यह कहना कि मेरे भीतर आत्मा है, धोखा है बड़े से बड़ा। दूसरे के लिए नहीं, अपने लिए धोखा है। क्योंकि हो सकता है, दोहराते-दोहराते कि मैं आत्मा हूं, मैं यह भूल ही जाऊं कि मुझे पता नहीं है और मैं उधार शब्द दोहरा रहा हूं!
इस मुल्क में ऐसी दुर्घटना घटी है। कभी-कभी सौभाग्य भी दुर्भाग्य हो जाते हैं। इस मुल्क ने कृष्ण की वाणी सुनी; इस मुल्क ने बुद्ध के वचन सुने; इस मुल्क ने महावीर के शब्द सुने; इस मुल्क ने पतंजलि, शंकर, नागार्जुन, वसुबंधु, धर्मकीर्ति, दिग्नाग--न मालूम कितने जानने वाले लोगों की वाणी को पीया। सौभाग्य होना चाहिए था यह; लेकिन हो गया दुर्भाग्य। सुन-सुनकर हम भी दोहराने लगे, हम भी कहने लगे, आत्मा है; ब्रह्म है।

पान की दुकान पर भी ब्रह्मचर्चा चलती है, विवाद चलते हैं! पान भी चलता है, ब्रह्मचर्चा भी चलती है! ऐसी ब्रह्मचर्चा महंगी पड़ी। महंगी इसलिए पड़ी कि सुन-सुनकर, सुन-सुनकर ऐसा लगा कि हम जानते हैं। और अज्ञान में ख्याल आ जाए कि जानते हैं, तो आत्मा में प्रवेश कभी नहीं हो पाता।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, जो जानता है, वही आत्मा को उपलब्ध होता है, वही प्रवेश कर पाता है, वही आत्मा हो पाता है।
आत्मा होना खेल नहीं है, बड़ी से बड़ी तपश्चर्या है। स्वयं को जानना लंबी यात्रा है। लेकिन दूसरे के उधार शब्दों को कंठस्थ कर लेना बड़ी सुगम बात है। स्कूल के बच्चे कर सकते हैं। बूढ़े भी वही करते रहते हैं।
मैं एक अनाथालय में गया था। बच्चे मुझे बताए गए। और शिक्षकों ने कहा
कि हम इन्हें धर्म-शिक्षा देते हैं। मैंने कहा, मैं भी जानूं; क्योंकि मैंने अब तक सुना नहीं कि धर्म की शिक्षा हो सकती है। उन्होंने कहा, क्या बात करते हैं? सब बच्चे परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए हैं धर्म की! मैंने कहा, धर्म की कोई परीक्षा हो सकती है? फिर भी मैं देखूं।
पूछा एक बच्चे को खड़ा करके उन्होंने कि बोलो, आत्मा है? उसने कहा, है। परमात्मा है? उसने कहा, है। और बाकी बच्चे भी हाथ हिलाने लगे। फिर उन्होंने पूछा, आत्मा कहां है? सब बच्चों ने अपने हृदय पर हाथ रख दिए कि यहां।
मैंने एक छोटे बच्चे से पूछा कि हृदय कहां है? उसने कहा, यह तो कोर्स में ही नहीं है। हृदय कहां है, यह लिखा ही नहीं है। पढ़ाया ही नहीं गया! मैंने उन शिक्षकों से कहा कि यह इनको तुमने कंठस्थ करवा दिया; इनका तुमने बड़ा अहित किया। अब ये याद कर-कर के जिंदगी में बाद में भूल ही जाएंगे कि हमको पता नहीं है। जब भी सवाल उठेगा, आत्मा है, बचपन में सीखा गया हाथ ऊपर हिलने लगेगा, है। कोई पूछेगा, आत्मा कहां है? यंत्र की तरह हाथ छाती पर चला जाएगा, यहां। इन्हें कुछ भी पता नहीं है कि ये कहां हाथ रख रहे हैं। वहां क्या है, उसका पता नहीं है। जो हाथ रख रहे हैं, उस हाथ में कौन है, उसका पता नहीं है। जो उत्तर दे रहा है, वह कौन है, उसका पता नहीं है। कुछ भी इन्हें पता नहीं है।
मैं निरंतर सोचता हूं कि इन बच्चों में और हमारे बूढ़ों में कोई बहुत फर्क है? उम्र का फर्क है। और उम्र के फर्क की वजह से याददाश्त धुंधली हो जाती है कि बचपन में हमने याद की थीं बातें। वह याद की थीं, जानी नहीं थीं। बुढ़ापे तक उनको दोहराते चले जाते हैं।
ऐसे नहीं होगा। इतना सुगम नहीं है। धर्म गणित की भांति नहीं है कि सीख लिया, दो और दो चार। धर्म फिजिक्स की भांति, भौतिकशास्त्र की भांति नहीं है कि सीख लिया, ग्रेविटेशन क्या है, गुरुत्वाकर्षण क्या है; कि न्यूटन के कानून क्या हैं; कि आइंस्टीन की रिलेटिविटी, सापेक्षता क्या है। सीख लिया, पढ़ लिया और सीख गए और जान गए। धर्म विज्ञान, साहित्य, काव्य, गणित, भाषा-- इनमें से किसी की भांति नहीं है।
धर्म है प्रेम की भांति। वही जानता है, जो करता है। वही जानता है, जो धर्म हो जाता है। और कोई उपाय नहीं है। इसलिए धर्म के हम कोई विश्वविद्यालय खड़े नहीं कर सकते हैं। हिंदू विश्वविद्यालय खड़ा कर सकते हैं, मुस्लिम विश्वविद्यालय खड़ा कर सकते हैं। धर्म का विश्वविद्यालय खड़ा नहीं कर सकते। क्योंकि धर्म का विश्वविद्यालय तो जीवन ही है। और यही जीवन नहीं, जो बाहर दिखाई पड़ता है; इससे भी ज्यादा वह जीवन, जो भीतर डूबा है और दिखाई नहीं पड़ता। उसको ही जान लेना ज्ञान है। और उस ज्ञान के बाद जो फलित होता है अनुभव, वह आत्मा है।
एक और अंतिम बात, कि आत्मा का जब अनुभव होता है, तो ऐसा नहीं होता कि मेरी है। आत्मा शब्द थोड़ा-सा गलत है। उसमें अपने का ख्याल पैदा होता है। आत्मा यानी मेरी, अपनी, स्वयं की! आत्मा शब्द थोड़ा-सा गलत है। शब्द तो सभी थोड़े-से गलत होंगे ही; क्योंकि सत्य किसी शब्द में बंधता नहीं, अटता नहीं। इसलिए बुद्ध ने तो इस गलत शब्द की वजह से कहना शुरू किया, आत्मा नहीं, अनात्मा है। इसलिए बुद्ध को बिल्कुल ही नहीं समझा जा सका। आत्मवादी भी नहीं समझ सके। वादी तो समझेगा क्या! वादी सदा अज्ञानी होता है। ज्ञानी

वादी नहीं होता। आत्मवादी भी नहीं समझ सके। उन्होंने कहा, अरे बुद्ध कहते हैं कि आत्मा नहीं, अनात्मा, अनत्ता, नो सेल्फ! यह आदमी तो खतरनाक है; यह आत्मा को इनकार करता है!
बुद्ध कह रहे थे बड़ी गहरी बात। वे कह रहे थे कि जब आत्मा का अनुभव होता है, तो ऐसा नहीं लगता कि मेरी है; इसलिए आत्मा कहना ठीक नहीं। ऐसा नहीं लगता कि यह मैं हूं; इसलिए मैं का कोई भी शब्द जोड़ना ठीक नहीं। ऐसा ही लगता है, सब है; आकाश की भांति, आंगन की भांति नहीं। घर के आंगन की भांति नहीं, चहारदीवारी में बंद; आकाश की भांति, कोई दीवाल नहीं, कोई सीमा नहीं।
तो बुद्ध ने कहा, आत्मा क्या कहूं! कहता हूं, अनात्मा है, नो सेल्फ। है
ही नहीं सेल्फ वहां। बड़ी अजीब बात है! बुद्ध कहते हैं, इन दि नोइंग आफ दि सेल्फ, देयर इ.ज नो सेल्फ, आत्मा के अनुभव में आत्मा है ही नहीं।
ठीक कहते हैं। एकदम ठीक कहते हैं। वहां कोई मैं का भाव नहीं रह जाता है। आत्मा यानी परमात्मा। जैसे ही किसी ने जाना कि मैं क्या हूं, वैसे ही उसने जाना कि मैं सब हूं।
जैसे ही बूंद ने पहचाना कि मैं कौन हूं, कि बूंद ने समझा कि मैं सागर हूं। जब तक बूंद ने नहीं जाना कि मैं कौन हूं, तब तक वह बूंद है। जिस दिन जाना कि मैं कौन हूं, उस दिन वह सागर है। क्योंकि एक छोटी-सी बूंद में पूरा का पूरा सागर मौजूद है। एक छोटी-सी बूंद के गुणधर्म को हम समझ लें, पूरे सागर का गुणधर्म समझ में आ जाता है। छोटी-सी बूंद मिनिएचर ओशन है, छोटा-सा सागर। कहीं सागर छोटे हुए! सागर तो पूरा है। छोटा-सा दिखाई पड़ता है। है पूरा का पूरा।
आत्मा का जानना यानी परमात्मा का जानना है।
इसलिए ज्ञान सर्वोच्च है, क्योंकि उसी से हम सर्वोच्च शिखर परमात्मा
को स्पर्श कर पाते हैं। अज्ञान निकृष्ट है, क्योंकि उसी के कारण हम सर्वोच्च के प्रति पीठ कर पाते हैं।
एक प्रश्न और ले लें।

प्रश्नः भगवान श्री, इस श्लोक में कहा गया है कि योग संसिद्धि अर्थात समत्वबुद्धिरूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्ध अंतःकरण का पुरुष ज्ञान को आत्मा में अनुभव करता है। कृपया योग संसिद्धि के अनुवाद, समत्वबुद्धिरूप योग का अर्थ स्पष्ट करें।

योग संसिद्धि, जहां योग सिद्ध हो जाता, उस घड़ी में। फिर सिर्फ सिद्ध नहीं, संसिद्ध, सम्यकरूप से सिद्ध हो जाता, उस घड़ी में। जहां योग सम्यकरूप से सिद्ध हो जाता; मिलन, जोड़, जहां बूंद और सागर जुड़ते, मिलते सम्यकरूप से, पूर्णरूप से, समग्ररूप से; जहां मिलन संसिद्ध होता, उस घड़ी में शुद्ध हुआ अंतःकरण। उसका रूपांतर ठीक है, समत्वबुद्धि को उपलब्ध। एक ही बात है। बुद्धि सम तभी होती, जब योग सिद्ध होता। जब व्यक्ति का समष्टि से मिलन होता, तभी बुद्धि सम होती। उसके पहले बुद्धि डोलती ही रहती; विषम होती। यहां से वहां, इधर से उधर डोलती रहती।
हमारी बुद्धि सदा विषम है, डोलती रहती है। और ऐसा भी नहीं है कि एक ही तरफ डोलती है, सदा विपरीत तरफ डोलती रहती है, कंट्राडिक्टरी डोलती रहती है, घड़ी के पेंडुलम की तरह।
घड़ी का पेंडुलम देखते हैं आप? कभी-कभी गौर से देखना चाहिए। पुरानी घड़ियां अच्छी थीं, जिनमें पेंडुलम होता था; उससे आदमी की खोपड़ी का पता चलता था। नई घड़ियां बहुत चालाक हैं, उनसे कुछ पता नहीं चलता।
पुरानी घड़ी का पेंडुलम डोलता रहता था नीचे, टिक-टिक। एक कोने से दूसरे कोने, टिक-टिक। कभी देखा ख्याल से? जब पेंडुलम बाईं तरफ जाता है, तब वह दाईं तरफ जाने का सामर्थ्य इकट्ठा करता है। जब वह बाईं तरफ जाता है, तब वह दाईं तरफ जाने का मोमेंटम पैदा करता है। असल में बाईं तरफ जाकर, वह दाईं तरफ जाने की शक्ति अर्जित करता है। बड़ी उलटी बात होती है। जब दाईं तरफ जाता है, तब बाईं तरफ जाने की तैयारी कर रहा है।

जब कोई आदमी आपकी प्रशंसा करता है, तब सम्हलना, अब वह थोड़ी देर में निंदा करेगा! पेंडुलम गया प्रशंसा की तरफ, वह तैयारी है निंदा की तरफ जाने की। हमेशा समझना कि अब यह बेचारा मुश्किल में पड़ता है थोड़ी-बहुत देर में। अब यह कहीं जाकर निंदा करेगा। तब लौटेगा पेंडुलम। नहीं तो वह लौटेगा कैसे? जो कोई आदमी प्रेम करता है, वह घृणा की तैयारी कर रहा है। जो घृणा करता है, वह प्रेम की तैयारी कर रहा है। बड़ी उलटी बात लगेगी। लेकिन ऐसा ही है।
कोई आदमी मुझे आदर दे जाता है, मैं समझ जाता हूं कि अब यह चौबीस घंटे
के भीतर निपटारा करेगा। रात बारह बजे तक जागकर गाली देगा किसी तालाब के किनारे बैठकर। बहुत मुश्किल है। इसको कुछ करना ही पड़ेगा। इसको करना ही पड़ेगा। यह कमिटमेंट हुआ। यह बच नहीं सकता। यह प्रतिबद्ध है।
इसलिए जब मुझे कोई दूसरे दिन सुबह आकर खबर देता है कि फलां आदमी रात बारह बजे तक तालाब के किनारे बैठकर आपको गाली देता था, तो वह चकित होकर आकर बताता; मैं कहता, मैं भलीभांति जानता, क्योंकि वह कल शाम मेरी प्रशंसा कर गया था। नींद कैसे आती? रात हलका हो गया होगा। पेंडुलम वापस लौट गया। वह घर आकर सो गया होगा।
ऐसा ही है। मन पूरे समय ऐसा ही है। विषम में डोलता रहता है, विपरीत में डोलता रहता है। ऐसे मन को लेकर प्रभु-मिलन नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? विषम बुद्धि वाला मन प्रभु-मिलन को क्यों उपलब्ध नहीं हो सकता? क्योंकि मंदिर में की गई प्रार्थना, दोपहर बाजार में इनकार की जाएगी; मंदिर में की गई प्रार्थना, बाजार की भीड़ में खंडित की जाएगी।
टाल्सटाय ने अपना एक संस्मरण लिखा है। एक दिन सुबह-सुबह जल्दी नींद खुल गई। और टाल्सटाय चल पड़ा चर्च की ओर। पहुंच गया। पांच बजे थे, कुहासा छाया था मास्को नगर में। चारों तरफ अंधेरा था। सूरज के उगने में घंटों की देर थी। चर्च के भीतर गया। आवाज सुनाई पड़ी। आवाज कुछ पहचानी मालूम पड़ी, तो चुपचाप धीरे-धीरे भीतर गया। कोई प्रायश्चित्त कर रहा है, कोई रिपेंटेंस कर रहा है। आवाज पहचानी हुई लगी कि कोई परिचित है।
टाल्सटाय शाही घराने का आदमी था; खुद काउंट था। कौन होगा? धीरे-धीरे सरककर पीछे पहुंचा। देखा, गांव का, मास्को का सबसे बड़ा धनपति खड़ा हुआ परमात्मा से कह रहा है अंधेरे में कि हे प्रभु, मैंने बहुत पाप किए। मैं चोर हूं, बेईमान हूं, बुरा हूं। मुझसे बुरा कोई भी नहीं है! टाल्सटाय ने कहा, अरे, यह आदमी इतना बुरा! क्योंकि इसको तो हम सोचते थे, बहुत अच्छा है। इसको तो गांव में लोग धर्मवीर कहते हैं। मंदिर बनाता, चर्च बनाता। यह चर्च भी उसका ही बनाया हुआ है। और यह आदमी पापी और सबसे बुरा।
स्वभावतः, टाल्सटाय को लगा, भागूं और जाकर बाजार में खबर करूं कि हम बड़ी भूल में पड़े हैं। पर कहा, थोड़ा रुक जाऊं, इससे मिलकर जाऊं।
उस आदमी की प्रार्थना पूरी हुई। सुबह की किरणें फूटने लगीं। उस आदमी
ने पीछे लौटकर देखा; देखा, लिओ टाल्सटाय! घबड़ाया। और उसने कहा, देखो महाशय, जो कुछ सुना है, उसे तत्काल भूल जाओ। वह मैंने कहा ही नहीं। टाल्सटाय ने कहा, आप क्या कह रहे हैं? अगर आपने नहीं कहा, तो किस चीज को भूलने के लिए कह रहे हैं! उसने कहा, ठीक से समझ लो। ये शब्द जो मैंने यहां कहे, भूल जाओ। समझो कि मैंने कहे ही नहीं। और अगर कहीं इन शब्दों को मैंने सुना कि तुमने किसी को बताया, तो अदालत में मानहानि का मुकदमा चलाऊंगा। टाल्सटाय ने कहा, गजब कर रहे हैं आप! अभी आप कह रहे थे कि मुझसे बड़ा पापी और कोई भी नहीं! टाल्सटाय को पता नहीं, पेंडुलम घूम गया। गया! बात खतम हो गई। वह आदमी मुकदमा चलाने को उत्सुक है; अभी प्रायश्चित्त करने को उत्सुक था! क्या हो रहा है?
ऐसा विषम मन कभी भी आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकता। आत्मा के प्रवेश
की जो पतली-सी द्वार-रेखा है--कहता हूं द्वार-रेखा, डोर लाइन; दरवाजा तो बहुत बड़ा होता है; रेखा मात्र है प्रवेश की--वह संतुलन है, वह बैलेंस है, समत्व है।
जहां चित्त न बाएं होता, न दाएं; मध्य में होता है; इतने मध्य में होता
है कि न तो हम कह सकते दाएं है, न हम कह सकते बाएं है; न हम कह सकते पक्ष में, न विपक्ष में; न हम कह सकते घृणा में, न प्रेम में; न हम कह सकते क्षमा में, न

क्रोध में; न हम कह सकते परिग्रह में, न अपरिग्रह में; न राग में, न विराग में। जहां व्यक्ति इतने बीच में खड़ा है कि न विरागी है, न रागी है, उस समत्व बुद्धि के क्षण में योग संसिद्धि होती है। या इस क्षण में बुद्धि समत्व को उपलब्ध होती है। बस, उसी क्षण में छलांग लग जाती है और व्यक्ति उस अपरिसीम में डूब जाता है।
ऐसी संसिद्धि से शुद्ध हुआ अंतःकरण!
समत्व में शुद्ध हो जाता है सब, क्योंकि अशुद्धि अति से आती है। अति अशुद्धि है, एक्सट्रीम इ.ज दि इंप्योरिटी। एक अति एक तरह की अशुद्धि है, दूसरी अति दूसरी तरह की अशुद्धि है। अनति, एक्सट्रीम नहीं, मध्य, जिसको बुद्ध ने कहा, मज्झिम निकाय, दि मिडिल पाथ, बीच का मार्ग, न इस ओर, न उस ओर, जहां ठीक बीच में... । एक छोटी-सी कहानी और अपनी बात मैं पूरी करूं।
बुद्ध के पास एक युवक दीक्षित हुआ। संगीत में कुशल था। अदभुत थी वीणा
की उसकी सामर्थ्य। लेकिन आया। था सम्राट; भोग में पला; भोग में जीया। आया तो दूसरी अति पर चला गया। दूसरे भिखारी, दूसरे भिक्षु, दूसरे साधु- संन्यासी रास्ते पर चलते, तो वह कांटों में चलता। दूसरे एक ही वस्त्र पहनते, तो वह नंगा खड़ा होता। दूसरे एक बार भोजन करते, तो वह दो दिन में एक बार भोजन करता।
छः महीने में सूखकर हड्डी हो गया। पैर घाव से भर गए। चेहरा पहचानना मुश्किल हो गया। सुंदर थी काया उसकी, बड़ी स्वर्ण-काया थी। आया था, तो कोई भी मोहित हो जाए, ऐसा शरीर था। अब तो देखकर विरक्ति होती, विकर्षण होता। कोई पास आता, तो बदबू आती!
भिक्षुओं ने बुद्ध से कहा, क्या कर रहा है तुम्हारा वह साधक? वह अपने
को मारे डाल रहा है! हम तो सोचते थे, इतने सुख में पला! कहते हैं, उसके घर में कभी वह गद्दियों से नीचे नहीं उतरा; मखमल के कालीनों से नीचे नहीं चला। कहते हैं, कभी उसने पैर पृथ्वी पर नहीं रखा; धूल नहीं छुई कभी उसके पैरों को। सुनते हैं, उसके घर में गुलाब के जल से स्नान करता था। सुनते हैं, उसके घर में वायु सदा सुवासित रहती थी दूर-दूर से आए इत्रों से। कहते हैं लोग, कथाएं हैं कि सीढ़ियां चढ़ता था, तो नग्न स्त्रियां सीढ़ी के किनारे खड़ी रहतीं रेलिंग की तरह; उन पर हाथ रखकर कंधे पर, ऊपर जाता था। ऐसा यह आदमी, इतना कष्ट झेलता है! असंभव घटित होता है!
बुद्ध ने कहा, नहीं भिक्षुओ! संभव घटित हो रहा है। जो आदमी एक अति पर रुग्ण होता, वह अक्सर दूसरी अति पर पुनः रुग्ण हो जाता है। मध्य में रुकना मुश्किल है--पेंडुलम की भांति।
पर उन्होंने कहा, अब वह मर जाएगा, जी न सकेगा। बिल्कुल सूखकर कांटा हो गया है। पहचानना मुश्किल है। पास खड़े होने में बदबू आती है। स्नान नहीं करता है वह। कहता है, स्नान करूंगा, तो शरीर की सज्जा हो जाएगी। वह जो इत्रों से नहाता था, अब साधारण से गांव के गंदे डबरे में भी नहीं नहाता है। कहता है, शुद्धि हो जाएगी शरीर की। शरीर को सजाना क्या? शरीर के सौंदर्य का प्रयोजन क्या?
बुद्ध उसके पास गए सांझ और कहा, भिक्षु श्रोण! मैंने सुना कि तू जब सम्राट था, तो तू वीणा बजाने में बड़ा कुशल था। एक प्रश्न पूछने आया हूं। वीणा के तार अगर बहुत ढीले हों, तो संगीत पैदा होता है? भिक्षु श्रोण ने कहा, पागल हुए हैं आप! आप जैसा ज्ञानी और ऐसे सवाल पूछता! वीणा के तार ढीले हों, तो संगीत पैदा कैसे होगा? टंकार ही पैदा नहीं होती। तो बुद्ध ने कहा, तार बहुत कसे हों, तब भिक्षु श्रोण संगीत पैदा हो सकता है? उसने कहा, नहीं; अगर तार बहुत कसे हों, तो टूट जाएंगे। संगीत पैदा नहीं होगा। तार चाहिए सम, न बहुत कसे, न बहुत ढीले। तार चाहिए मध्य, न इस तरफ, न उस तरफ। तार चाहिए ऐसे कि न तो कहा जा सके कि ढीले हैं, न कहा जा सके कि कसे हैं।
तो बुद्ध ने कहा कि मैं जाता हूं भिक्षु श्रोण! तू बुद्धिमान है।
तुझसे कुछ कहने की मुझे जरूरत नहीं है। कुछ कहने आया था, अब नहीं कहता हूं।
इतना ही कहता हूं कि जो वीणा में संगीत पैदा होने का नियम है, वही प्राणों में भी संगीत पैदा होने का नियम है। तार बहुत कस मत, बहुत ढीले भी मत छोड़।
समत्व को उपलब्ध हो। बीच में आ। मज्झिम निकाय। अति को छोड़।

कृष्ण कहते हैं, समत्व बुद्धि को उपलब्ध हुआ, योग संसिद्धि को उपलब्ध हुआ, शुद्ध अंतःकरण उस आत्मा से एक हो जाता है।
शेष सुबह हम बात करेंगे।
अभी संन्यासी धुन में प्रवेश करेंगे। तो आप थोड़े पीछे हट जाएं, जगह खाली छोड़ दें। और यहां मंच पर कोई न आए, पीछे हट जाएं। जिनको देखना है, वे देखें। बैठे रहेंगे, तो सबको देखना संभव हो जाएगा।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
सत्रहवां प्रवचन

इंद्रियजय और श्रद्धा

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। 39।।
और हे अर्जुन, जितेंद्रिय, तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शांति को प्राप्त हो जाता है।

जितेंद्रिय हुआ पुरुष, श्रद्धावान चित्त वाला ज्ञान को उपलब्ध होता है; ज्ञान से परम शांति को, परम प्रभु को उपलब्ध होता है।
पहली बात, जितेंद्रिय हुआ पुरुष--इंद्रियों को जिसने जीता, ऐसा पुरुष।
साधारणतः सोचते हैं हम कि जितेंद्रिय होगा वह, जो इंद्रियों से लड़ेगा, उन्हें हराएगा। यहीं भूल हो जाती है। जो इंद्रियों से लड़ेगा, वह हारेगा; जितेंद्रिय कभी भी नहीं हो सकेगा। इंद्रियों को जीतने का सूत्र इंद्रियों से लड़ना नहीं, इंद्रियों को जानना है। इंद्रियां जीती जाती हैं इंद्रियों के साक्षात्कार से। जो पुरुष इंद्रियों से लड़ने में लग जाता, वह इंद्रियों से निरंतर हारता है। जो लड़ेगा, वह हारेगा। जो जानेगा, वह जीतेगा।
ज्ञान विजय है। इंद्रियों का ज्ञान विजय है।
लड़ने से ज्यादा से ज्यादा दमन हो सकता है, सप्रेशन, रिप्रेशन हो सकता है। जिसे हम दबाते हैं, वह लौट-लौटकर उभरता है। जिसे हम दबाते हैं, उसे हम और शक्ति देते हैं। क्रोध को दबाया, तो और गहन हिंसा होकर प्रकट होगा। काम को दबाया, तो और विकृत, विषाक्त होकर प्रकट होगा। अहंकार को दबाया, तो एक कोने से दबाएंगे, दस कोनों से निकलना शुरू होगा।
इंद्रियों को दबाया नहीं जा सकता। क्यों? क्योंकि दबाता वही है, जो इंद्रियों को जानता नहीं है। जो जानता है, वह दबाता ही नहीं है। क्योंकि जो जान लेता है, इंद्रियां उसके वश में हो जाती हैं।
बेकन ने कहा है, नालेज इ.ज पावर, ज्ञान शक्ति है।
यह तो उसने विज्ञान की दृष्टि से कहा है, साइंस की दृष्टि से। यह तो उसने कहा है कि हम जितना जान लेंगे प्रकृति को, उतने ही हम शक्तिशाली हो जाएंगे। लेकिन उसका यह वचन अंतःप्रकृति के लिए भी सत्य है।
आकाश में चमकती है बिजली, सदा से चमकती रही है। जब तक नहीं जानते थे उसे, तब तक प्राण थरथराते थे और घबड़ाहट ही पैदा होती थी। जो नहीं जानते थे, वे सोचते थे कि इंद्र हमारे पापों के लिए, दंड देने के लिए टंकार कर रहा है। इंद्र हमें दंड देने के लिए शक्ति को फेंक रहा है। स्वाभाविक! गड़गड़ाहट बिजली की, चमकती हुई उसकी अग्नि, रात के अंधेरे में प्राणों को थर्रा जाती हो, आश्चर्य नहीं है।
क्या यह संभव था कि वे लोग, जो नहीं जानते थे कि विद्युत क्या है, अगर आकाश की बिजली से लड़ते, तो कभी जीत पाते? कभी भी नहीं जीत पाते। आकाश की बिजली से लड़ते, तो मरते, टूटते, नष्ट होते। लड़ भी न पाते; जीतने का तो उपाय नहीं था। लेकिन जिन्होंने आकाश की बिजली के राज को समझने की कोशिश की, रहस्य को जानने की, उसकी सीक्रेट-की, उसकी कुंजी को खोज लेने की, वे मालिक हो गए। आज बिजली, वही बिजली, जो आकाश में कंपती, गर्जन करती, प्राणों को घबड़ा जाती थी, वही बिजली अब घरों में प्रकाश बनकर, आपके हाथ में सेवक बनकर काम करती है। वही बिजली चाकर हो गई है! जो दंड देती मालूम पड़ती थी, वही सेवक हो गई है।
बेकन ने कहा था नालेज इ.ज पावर, बहिर्प्रकृति के संबंध में। जो-जो हम जान लेते हैं, उसके हम मालिक हो जाते हैं। टु नो इ.ज टु बी दि मास्टर, जाना कि मालिक हुए। नहीं जाना कि गुलामी भाग्य में होगी; गुलामी ही फिर नियति

है। जान लिया हमने जिस-जिस बात को, उस-उस के हम मालिक होते चले गए। अंतःप्रकृति के संबंध में भी यही सत्य है।
इसलिए जब कृष्ण कहते हैं, जितेंद्रिय पुरुष, तो भूलकर यह मत समझ लेना, जैसा आमतौर से समझा जाता है कि वह पुरुष, जिसने अपनी इंद्रियों पर काबू पा लिया। नहीं, जितेंद्रिय पुरुष वह है, जिसने अपनी इंद्रियों के सब सीक्रेट, सब राज जान लिए। जानते ही मालिक हो गया है, जितेंद्रिय हो गया है। इंद्रियां हार जाती हैं ज्ञान से; इंद्रियां प्रबल हो जाती हैं अज्ञान से। इंद्रियों से लड़ता है जो, वह इंद्रियों के ही चक्कर में पड़ता है। जितेंद्रिय होने का मार्ग, अंतःप्रकृति का ज्ञान है।
उदाहरण के लिए, आप जानते हैं, क्रोध क्या है? आकाश में गूंजती, आकाश में कंपती बिजली से कम रहस्यपूर्ण नहीं है। आपकी अंतःप्रकृति में बिजली कौंध गई है। जानते हैं, क्रोध क्या है? जानते नहीं हैं। किया होगा बहुत बार; क्योंकि आकाश में बिजली को बहुत बार चमकते देखा हो, तो भी हम जान नहीं लेते हैं। देख लेना, जान लेना नहीं है। पता हो जाना, जान लेना नहीं है। क्रोध का पता है कि भीतर कौंधता है, लेकिन क्रोध क्या है? यह अंतःआकाश में कौंध गई बिजली क्या है, जानते हैं? नहीं जानते। और अगर लड़ने गए, तो हारेंगे क्रोध से, जीतेंगे नहीं। कैसे जीतेंगे? जिसे जानते नहीं, उसे जीतने का उपाय नहीं है।
लेकिन क्रोध से हम लड़ते हैं। लड़कर हम क्या कर सकते हैं? हम इतना ही कर सकते हैं कि जब क्रोध आए, तो हम दबाएं। दबेगा कहां? और भीतर! दमन सब भीतर ही चला जाता है। उठेगा, हम दबा देंगे; और अंतःपुरों में प्रविष्ट हो जाएगा; और गहरे प्रकोष्ठों में दब जाएगा। फिर वहां प्रतीक्षा करेगा। रोज-रोज दबाएंगे, इकट्ठा होता जाएगा।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो लोग हत्याएं कर देते हैं, आमतौर से वे लोग होते हैं, जो रोज क्रोध नहीं करते हैं। जो लोग छोटी-छोटी बात में क्रोध कर लेते हैं, उनके बाबत एक भविष्यवाणी की जा सकती है कि हत्यारे वे नहीं हो सकते हैं। रोज-रोज निकल जाता है; इतना इकट्ठा नहीं हो पाता है कि हत्या कर पाएं। हत्या करने के लिए बहुत क्रोध इकट्ठा होना चाहिए। विस्फोट होता है फिर, एक्सप्लोजन होता है। रोज-रोज निकल जाता है, तो लीकेज, विस्फोट होने का मौका नहीं आ पाता। रोज-रोज भाप निकल जाती है।
इसलिए भले हैं वे लोग, जो रोज छोटा-मोटा क्रोध करके निपट लेते हैं। भले इस अर्थों में हैं कि उनसे बहुत बड़े खतरे की संभावना नहीं है। लेकिन खतरनाक हैं वे लोग, जो भले दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि वे इकट्ठा करते हैं। दस-पंद्रह दिन, महीना, दो महीना, वर्ष, दो वर्ष कोई इकट्ठा कर ले, तो फिर विस्फोट होता है। वह विस्फोट फिर इतना गहन हो जाता है, वह इतना इंटेंस हो जाता है कि वह आदमी खुद ही नहीं जानता कि क्या हो रहा है। हो जाता है। दुनिया के बड़े से बड़े पाप, इकट्ठे पाप का विस्फोट हैं। छोटे-छोटे उपद्रव कर लेने वाले लोग महापाप नहीं कर पाते हैं। रोज-रोज बह जाता है सब; कभी गंगा नहीं बन पाती। उनका काम झरने का ही होता है, उससे कुछ बहता नहीं, कोई पूर, बाढ़ नहीं आती। इकट्ठा हो जाता है जब बहुत, तब बाढ़ आती है। और जब भीतर बहुत इकट्ठा हो जाता है, इतना कि जितने भी सेफ्टी वाल्व्स हैं--भीतर बहुत सेफ्टी वाल्व्स हैं--उन सबको तोड़कर जब विस्फोट होता है, तो व्यक्तित्व सदा के लिए खंड-खंड, कांच के टुकड़ों जैसा हो जाता है, जिसका फिर जोड़ना मुश्किल होता है। स्प्लिट, सीजोफ्रेनिक हो जाता है। सब टूट जाता है। नहीं भी टूटे, और धीरे-धीरे कोई रोज बहाता रहे क्रोध को, तो भी शक्ति क्षीण होती है। क्योंकि क्रोध हमारी ही शक्ति है, जिससे हम परिचित नहीं। क्रोध वही शक्ति है, जो क्षमा बन जाती है। काम वही शक्ति है, जो ब्रह्मचर्य बनती है। लोभ वही शक्ति है, जो दान बनती है। घृणा वही शक्ति है, जो प्रेम में रूपांतरित होती है। तो जो रोज घृणा कर लेता है, माना कि कभी इतनी घृणा इकट्ठी नहीं कर पाता कि हत्या कर दे, कि छुरा भोंक दे, लेकिन जो रोज घृणा करता है, वह प्रेम करने के लायक शक्ति उसके पास बचती नहीं है। क्योंकि वही शक्ति प्रेम बनती है। जो रोज क्रोध कर लेता है, क्षमा करने योग्य उसके पास ऊर्जा, एनर्जी नहीं होती। बह जाती है सब। लीकेज से भी बह

जाती है। विस्फोट से इकट्ठी बहती है, लीकेज से धीरे-धीरे बहती है; लेकिन आदमी रिक्त हो जाता है।
रोज क्रोध, रोज घृणा, रोज लोभ करने वाला आदमी ठीक वैसा है, जैसे किसी आदमी ने कुएं में बाल्टी डाली, जिसमें हजार छेद हैं। पानी तो भरता हुआ दिखाई पड़ता है; जब तक बाल्टी पानी में डूबी रहे, तब तक लगता है, भरा। पानी के ऊपर उठी बाल्टी कि लगा कि निकला। कुएं में शोरगुल बहुत होता है; आवाज बहुत होती है; वर्षा मच जाती है; हजार-हजार छेद से बाल्टी के पानी टपकने लगता है; लेकिन जब तक हाथ में आती है बाल्टी, तब तक रिक्त हो गई होती है। जीवन में शोरगुल बहुत है हमारे, वैसा ही जैसे हजार छिद्रों वाली बाल्टी में पानी भरने पर कुएं में होता है। बड़ी वर्षा मालूम होती है। लेकिन जब मृत्यु के क्षण में हाथ लगती है बाल्टी जीवन की, तो उसमें बूंद भी नहीं बचती; सब रिक्त और खाली होता है।
दो खतरे हैं इंद्रियों के साथ। एक भोग का खतरा है। भोग का खतरा हजार छिद्रों वाली बाल्टी बन जाता है। दूसरा दमन का खतरा है। दमन का खतरा ऐसा है, जैसे चाय की केटली का मुंह किसी ने बंद कर दिया हो और ऊपर से पत्थर रख दिया हो और नीचे से आग भी दिए जा रहे हैं! तब फूटेगी केटली।
कृष्ण जब कहते हैं जितेंद्रिय, या महावीर जब कहते हैं जितेंद्रिय, या बुद्ध जब कहते हैं जितेंद्रिय, तो उनकी बात को समझना अत्यंत ही कठिन हुआ है। हम तत्काल जितेंद्रिय का अर्थ लेते हैं, दमन। क्योंकि हम भोग में खड़े हैं। हमारा मन दूसरी अति में अर्थ ले लेता है। भोग से हम परेशान हैं। जैसे ही हम सुनते हैं, जीतो इंद्रिय को; हम कहते हैं, दबाओ इंद्रिय को। जीत बन जाती है दमन, हमारे मन में। और तभी भूल हो जाती है।
जितेंद्रिय का अर्थ है, जानो इंद्रिय को। एक-एक इंद्रिय के रस को पहचानने से, परिचित होने से; एक-एक इंद्रिय की शक्ति के भीतर प्रवेश करने से, जीत फलित होती है। ज्ञान विजय बन जाता है। ज्ञान ही विजय है। कैसे जानेंगे?
कामवासना उठती है हजार बार। थोड़े अनुभव नहीं हैं। एक पुरुष अपने जीवन में, साधारण स्वस्थ पुरुष, चार हजार संभोग कर सकता है, करता है। चार हजार बार काम के अनुभव से गुजरता है एक पुरुष। स्त्री तो लाख बार गुजर सकती है। उसकी क्षमता गहन है। इसलिए पुरुष वेश्याएं नहीं हो सके; स्त्रियां वेश्याएं हो सकीं।
लाख बार भी काम के अनुभव से गुजरकर यह पता नहीं चलता कि यह काम-ऊर्जा,
यह सेक्स-एनर्जी क्या है? क्योंकि हम कभी काम पर ध्यान नहीं करते। कभी हम सेक्स पर मेडिटेशन नहीं करते।
इस जगत में जो भी ज्ञान उपलब्ध होता है, वह ध्यान से उपलब्ध होता है--
जो भी ज्ञान! चाहे विज्ञान की प्रयोगशाला में उपलब्ध होता हो; और चाहे योग की अंतःप्रयोगशाला में उपलब्ध होता हो। जो भी ज्ञान जगत में उपलब्ध होता है, वह ध्यान से उपलब्ध होता है। ध्यान ज्ञान को पाने का इंस्ट्रूमेंट, उपाय, विधि, मेथड है।
कभी आपने ध्यान किया है सेक्स पर?
आप कहेंगे, बहुत बार किया है। चिंतन किया है, ध्यान नहीं किया। सोचते
तो बहुत हैं; जितना करते नहीं, उतना सोचते हैं। काम के अनुभव से जितना गुजरते हैं, उससे लाख गुना ज्यादा काम के विचार से गुजरते हैं। चौबीस घंटे घूम-फिरकर काम मन में सरकता रहता है।
चिंतन तो किया है, ध्यान नहीं किया। चिंतन का अर्थ है, जो भीतर वासना घटती है, उसके साथ ही बह जाते हैं; दूर खड़े होकर देख नहीं पाते। मन में उठा काम का विचार, तो आप भी काम के विचार के साथ आइडेंटिफाइड हो जाते हैं; तादात्म्य हो जाता है। आप ही काम हो जाते हैं, यू बिकम दि सेक्स। फिर ऐसा नहीं होता कि काम की ऊर्जा उठी है, मैं दूर खड़ा देखता हूं, क्या है?
एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रवेश करता है, परीक्षण करता, खोज करता, प्रयोग करता, निरीक्षण करता, दूर खड़े होकर देखता, क्या हो रहा है? अगर वैज्ञानिक जो कर रहा है, उसके साथ आइडेंटिफाइड हो जाए... जैसे एक वैज्ञानिक एक केमिकल पर, एक रासायनिक द्रव्य पर खोज कर रहा है। वह खुद को

ही समझ ले कि मैं ही रासायनिक द्रव्य हूं, तो हो गई खोज! फिर कभी नहीं होगी। वह आदमी ही खो गया, जो खोज कर सकता था। केमिकल द्रव्य खोज कर सकते होते, तो उन्होंने कभी की खोज कर ली होती। वैज्ञानिक की शर्त यह है कि वह आब्जर्व कर सके, निरीक्षण कर सके! आब्जर्वेशन विज्ञान का मूल आधार है।
जिसे विज्ञान आब्जर्वेशन कहता है, निरीक्षण कहता है, उसे ही योग, धर्म, ध्यान कहता है। वह धर्म की पारिभाषिक शब्दावली ध्यान है। ध्यान का मतलब है, जो भी देख रहे हैं, उससे दूर खड़े होकर देख सकें, टु बी ए विटनेस। एक गवाह की तरह देख सकें; सम्मिलित न हो जाएं।
जिस इंद्रिय के साथ आपका एकात्म हो जाता है, उसे आप कभी न जान पाएंगे। जिस इंद्रिय के रस के साथ आप इतने डूब जाते हैं कि भूल जाते हैं कि मैं देखने वाला हूं, बस, फिर ध्यान नहीं हो पाता। फिर कभी इंद्रियों के रस का ज्ञान नहीं हो पाता।
क्रोध उठे, तो क्रोध से जरा दूर खड़े होकर देखें, क्या है? लेकिन हम भगवान पर तो ध्यान करते हैं, जिसका हमें कोई पता नहीं। जिसका हमें पता नहीं, उस पर तो ध्यान होगा कैसे। ध्यान तो उस पर हो सकता है, जिसका हमें पता है। भगवान पर ध्यान करते हैं, जिसका हमें कोई पता नहीं है। क्रोध पर, काम पर कभी ध्यान नहीं करते, जिसका हमें पता है।
और मजा यह है कि जो काम, क्रोध और बाकी इंद्रियों के समस्त उपद्रव के प्रति, ऊर्जा के प्रति, विस्फोट के प्रति ध्यान करने में समर्थ हो जाता है; जैसे-जैसे उसका ध्यान बढ़ता है इंद्रियों पर, वैसे-वैसे इंद्रियां विजित होती चली जाती हैं, हारती चली जाती हैं। वह जीतता चला जाता है; उतना रिकवर करता चला जाता है; उतनी जमीन वापस लेता चला जाता है। उतनी-उतनी इंद्रिय अपनी ताकत छोड़ती चली जाती है, जहां-जहां ध्यान की किरण प्रवेश कर जाती है। क्रोध को जिसने जान लिया, वह क्रोध नहीं कर सकता। काम को जिसने जान लिया, वह कामातुर नहीं हो सकता। लोभ को जिसने जान लिया, वह लोभ में नहीं पड़ सकता। अहंकार को जिसने पहचाना, वह अहंकार के बाहर है। करना क्या है?
लड़ना नहीं है, जानना है। रोज आता है क्रोध, परमात्मा की बड़ी कृपा है। आता है इसलिए, कि करो ध्यान। उठता है काम, बड़ी अनुकंपा है प्रभु की। उठता है इसलिए, कि करो ध्यान। जिंदगी में लाख मौके मिलते हैं। लेकिन हम चूकने में बड़े कुशल हैं! हम चूकते ही चले जाते हैं। हजार बार रखा जाता है हमारे सामने निशान लगाने के लिए, लेकिन हम धनुष-बाण ही नहीं उठाते। हम चूकते ही चले जाते हैं! पूरी जिंदगी--एक जिंदगी नहीं, अनंत जिंदगी चूकते चले जाते हैं। फिर तो हम चूकने के अभ्यस्त हो जाते हैं। अभ्यास इतना गहरा हो जाता है... ।
मैंने सुना है, एक सर्कस में ऐसा हुआ। एक आदमी रोज ही अपनी पत्नी को तख्ते पर रखकर और तीर से निशाना लगाता था। तीस तीर मारता था। लेकिन तीर ऐसे कि हाथ को छूकर तख्ते में चुभ जाते; कान को छूते हुए गुजरते और तख्ते में चुभ जाते। सिर को छूते हुए निकलते और तख्ते में चुभ जाते। पूरी पत्नी को चारों तरफ से तीरों से भर देता; लेकिन जरा भी पत्नी को खरोंच न लगती। ऐसा उसका तीस साल का अभ्यास था। तीस साल से वह यही काम कर रहा था।
एक दिन--ऐसे दिन बहुत आए थे, जब पत्नी से दिन में कलह हो गई थी। कई बार उसके मन में भी होता था कि आज तीर मार ही दूं बीच में ही, छाती में ही चुभ जाए। लेकिन अपने को सम्हाल गया था। सांझ होते-होते क्रोध चला गया था। एक दिन सांझ को इतना झगड़ा हो गया कि जब वह आया मंच पर और पत्नी खड़ी हुई तख्ते पर, तो उसने कहा, अब बहुत हो गया। उठाया तीर, आंख बंद कर लीं; क्योंकि अभ्यास इतना गहरा था कि आंख खुली रही, तो संभावना यही है कि तीर तख्ते में लगेगा, पत्नी में नहीं लगेगा। तीस साल का अभ्यास! आंख बंद कर लीं, कि आंख बंद करके मारूंगा तीर, तब तो लगने ही वाला है। आंख बंद कीं। सांस रोक ली। मारा तीर। हाल में तालियां बजीं। घबड़ाकर आंख खोली। तीर पत्नी को छूता हुआ तख्ते में लग गया था। तीस तीर आंख बंद करके मारे उसने, लेकिन तीर अपनी जगह पहुंचते रहे! बंद आंख से भी तीर पत्नी में न लग सका। अभ्यास गहरा था; तीस साल का था। बंद आंख में भी काम कर गया।

हमारा तो जन्मों का, लाखों जन्मों का अभ्यास है चूकने का। उठा क्रोध-- चूके, भूले कि ध्यान का मौका आया; अपरचुनिटी टु मेडिटेट।
इस सूत्र के साथ मैं आपसे कहना चाहता हूं, जब क्रोध उठे, तब उसकी फिक्र छोड़ दें, जिस पर क्रोध उठा; क्योंकि उसकी फिक्र की, तो चूके। उसकी फिक्र में ही चूकते हैं। किसी ने गाली दी; गाली की फिक्र छोड़ें; गाली देने वाले की फिक्र छोड़ें। इस वक्त तो उसको कहें कि अभी ठहरो जरा; मैं अपना काम करके आधा घंटे में लौटकर आता हूं। द्वार बंद करें, आंख बंद करें। बहुत मौका तो यही है कि आंख बंद करके भी वही होगा, जो उस सर्कस के आदमी का हुआ। जन्मों का अभ्यास है! आंख बंद करके भी क्रोध वही करेगा, जो सामने करता, आंख खोलकर करता।
नहीं; आंख बंद करें। भूलें बाहर को। धन्यवाद दें, जिसने क्रोध को उठाया, क्योंकि एक मौका दिया ध्यान का। आंख बंद करें और देखें कि क्रोध क्या है? कहां है? कैसे उठता? कैसे गहन होता? कैसे छा जाता है पूरे प्राणों पर धुएं की भांति? कैसे पकड़ लेता? कैसे खून-खून गरम हो जाता? कैसे रक्त का कण-कण विषाक्त हो जाता? कैसे सारा शरीर उत्तप्त और फीवरिश हो जाता? कैसे मन बेहोश हो जाता? देखें, और बहुत हैरान होंगे।
जैसे-जैसे देखने की क्षमता बढ़ेगी, जैसे-जैसे पहचानने की सामर्थ्य बढ़ेगी, जैसे-जैसे साक्षी जगेगा, वैसे-वैसे क्रोध तिरोहित होगा। किसी दिन जब पूरे क्रोध को आमने-सामने देख पाएंगे, इन इट्स टोटल नैकेडनेस, क्रोध को उसकी पूरी ही नग्नता में, रोएं-रोएं में जब क्रोध को पहचान पाएंगे, हृदय के कोने-कोने में, चेतन-अचेतन में सब तरफ जब क्रोध को देख पाएंगे कि यह रहा क्रोध, उसी दिन पाएंगे कि क्रोध रूपांतरित हो गया और क्षमा का जन्म हुआ है, उसी दिन क्षमा जन्म जाएगी। वही ऊर्जा जो ध्यान के अभाव में क्रोध है, वही ऊर्जा ध्यान के साथ क्षमा बन जाती है।
अगर मुझसे पूछें, तो गणित के सूत्र में ऐसा कहूं, क्रोध धन ध्यान = क्षमा; काम धन ध्यान = ब्रह्मचर्य; लोभ धन ध्यान = दान। फिर गणित को आप फैला लें। जहां ध्यान जुड़ा, वहीं रूपांतरण है। क्योंकि ध्यान के साथ आता ज्ञान; ज्ञान विजय है।
जितेंद्रिय पुरुष वह है, जिसने अपनी इंद्रियों के सब कोने-कातर, जिसने अपनी इंद्रियों के सब छिपे प्रकट-अप्रकट रूप जाने, पहचाने; जिसने अपनी इंद्रियों की प्रयोगशाला में उतरकर साक्षी का अनुभव किया, वह विजेता हो जाता है। ऐसा जितेंद्रिय पुरुष उपलब्ध होता है शांति को।
लेकिन एक और शर्त कृष्ण कहते हैं, श्रद्धावान भी। यह शब्द भी थोड़ा कठिन है। जैसे जितेंद्रिय शब्द के साथ भ्रांतियां जुड़ी हैं, वैसे ही श्रद्धा के साथ और भी गहरी जुड़ी हैं। क्योंकि जितेंद्रिय होने की कोशिश कम ही लोग करते हैं, इसलिए भ्रांति कम है। श्रद्धावान होने की कोशिश सभी लोग करते हैं, इसलिए भ्रांति और भी ज्यादा है।
श्रद्धा शब्द अध्यात्म के पास बहुत गहराइयों से जुड़ा है। हम सब जीते हैं सतह पर, गहराइयों का हमें कोई पता नहीं है। इसलिए हम सतह पर श्रद्धा का अनुवाद करते हैं। और जो हमारा अनुवाद है, वह बड़ा खतरनाक है। श्रद्धा का हमारा जो अनुवाद है, वह विश्वास है, बिलीफ है।
जो आदमी विश्वास करता है, हम कहते हैं, श्रद्धावान है। विश्वास श्रद्धा नहीं है। विश्वास श्रद्धा तो है ही नहीं; श्रद्धा के ठीक विपरीत है। भाषाकोश में नहीं है। वहां तो लिखा है, श्रद्धा यानी विश्वास, विश्वास यानी श्रद्धा। विश्वास श्रद्धा के बिल्कुल विपरीत है, जब मैं ऐसा कहता हूं, तो चौंकेंगे आप। लेकिन कहने का कारण है।
विश्वास वह आदमी करता है, जिसके भीतर अविश्वास है। और श्रद्धा उस आदमी में होती है, जिसके भीतर अविश्वास नहीं है। विश्वास हमारा कृत्य है, हमारे द्वारा किया गया काम है। श्रद्धा हमारी अनुपस्थिति में घटी घटना है। हैपनिंग है, डूइंग नहीं।
विश्वास हम करते हैं। क्यों करते हैं? क्योंकि संदेह के साथ जीना कठिन है। बहुत कठिन है। संदेह के साथ जीने से ज्यादा तपश्चर्या कोई और नहीं है। संदेह के साथ जीना बहुत आर्डुअस है। चौबीस घंटे संदेह में नहीं

जी सकते हैं। कहां-कहां संदेह करेंगे? इंच-इंच पर संदेह खड़ा है। अगर संदेह करेंगे, तो पैर भी न उठा सकेंगे; श्वास भी न ले सकेंगे; भोजन भी न कर सकेंगे। संदेह करेंगे, तो जीना क्षणभर भी मुश्किल है।
संदेह कठिन है, बहुत कठिन है। संदेह करेंगे, तो पिता को मानना पिता मुश्किल हो जाएगा। क्योंकि खुद तो कोई पता नहीं है कि वह पिता है। ऐसा लोग कहते हैं कि पिता है। खुद का तो कोई अनुभव नहीं है कि वह पिता है। मां को मां मानना मुश्किल हो जाएगा! संदेह करेंगे, तो मित्रता बनानी असंभव है। क्योंकि सब मित्रताएं अपरिचित, अनजान के प्रति भरोसे से पैदा होती हैं। संदेह करेंगे, तो सारा जगत शत्रु हो जाएगा। संदेह करेंगे, तो रात सो भी न सकेंगे। संदेह करेंगे, तो एक कौर भी मुंह में न डाल सकेंगे, क्योंकि जहर की संभावना सदा है। संदेह करेंगे, तो जी ही न सकेंगे; मर जाएंगे; जहां खड़े हैं, वहीं गिर जाएंगे।
संदेह के साथ बड़ी कठिनाई है। इसलिए विश्वास से हम संदेह को दबाते हैं। विश्वास के साथ जीया जा सकता है आसानी से। विश्वास कनवीनिएंट है, सुविधापूर्ण है। संदेह बहुत इनकनवीनिएंट है, बहुत असुविधापूर्ण है।
जिंदगी चलती है विश्वास के सहारे। मानना पड़ता है कि कोई पिता है।
मानना पड़ता है कि कोई गुरु है। मानना पड़ता है कि कुछ ऐसा है, कुछ वैसा है। सब मानकर चलता है।
इस मानने के बीच में श्रद्धा का हम अर्थ कर लेते हैं, विश्वास। तब जैसे हम पिता को मानते हैं, जैसे हम मित्र को मान लेते हैं, वैसे ही हम परमात्मा को भी मान लेते हैं। संदेह का कीड़ा भीतर सरकता रहता, ऊपर विश्वास का पलस्तर बिछा देते हैं; ऊपर से विश्वास की पर्त फैला देते हैं। भीतर संदेह की आग जलती रहती, ऊपर से विश्वास का आवरण छा देते हैं।
इसलिए विश्वासी के भीतर जरा-सा छेद करो, जरा-सी सर्जरी और संदेह बाहर
आ जाएगा। स्किन डीप, चमड़ी से ज्यादा गहरा नहीं होता विश्वास। और श्रद्धा? श्रद्धा गहराई का नाम है। विश्वास? विश्वास चमड़ी का नाम है। विश्वास ऊपर की चमड़ी है, जो काम चलाने के लिए पैदा की गई है।

ठीक है, मां को मान लेने में हर्जा भी नहीं है। न भी हो, तो कुछ हर्जा नहीं है। झूठ भी हो, और मां का काम कर दिया हो, तो बात हो गई। सच में पिता पिता न हो, कोई और ही पिता रहा हो, फर्क क्या पड़ता है? इट मेक्स नो डिफरेंस। और अभी तो थोड़ा-बहुत फर्क पड़ भी जाता होगा, भविष्य में बिल्कुल नहीं पड़ेगा। क्योंकि आर्टिफीशियल इनसेमिनेशन हो सकता है।
मैं आज मर जाऊं, दस हजार साल बाद मेरा बेटा पैदा हो सकता है। वीर्यकण
को संरक्षित किया जा सकता है, दस हजार साल बाद इंजेक्ट कर दोगे, बच्चा पैदा हो जाएगा। फिर जो इंजेक्शन लगाएगा, वही फादर हुआ! वैसे अभी भी पिता जो है, वह इंजेक्शन लगाने से ज्यादा काम नहीं कर रहा है। पर वह नेचरल इंजेक्शन है। वह आर्टिफीशियल होगा। इससे ज्यादा कुछ है नहीं मामला। तो चल जाता है; चल जाता है काम। इससे कोई बहुत दिक्कत नहीं आती है। इससे कोई जीवन की अतल गहराइयों का लेना-देना नहीं है। जो फादर्ली है, वह फादर है। जो पितृत्व दिखला रहा है, पिता है। जो मातृत्व दिखला रही है, वह मां है।
बहुत दिन तक जरूरी नहीं है; क्योंकि स्त्रियां बहुत दिन तक बच्चे रखने को राजी नहीं होंगी नौ महीने। जिस दिन स्त्री की इक्वालिटी पुरुष से पूरी हो जाएगी, उस दिन स्त्रियां नौ महीने बच्चे को पेट में रखने के लिए कांस्टीट्यूशनली गलत कहेंगी। गलत है। क्योंकि पुरुष तो अलग हो जाता है। भागीदार दोनों बराबर हैं। नौ महीने स्त्री ढोती है बेटे को! कुछ आश्चर्य नहीं कि भविष्य की कोई क्रांतिकारी सरकार साढ़े चार-चार महीने का बंटाव करे! अब हो सकता है। अब कठिनाई नहीं है। और या फिर स्त्री को नौ महीने के लिए मुक्त करे और बच्चे इनक्यूबेटर में, मशीन के गर्भ में रखे जाएं और बड़े हों।
इस सदी के पूरे होते-होते बच्चे स्त्रियों के पेट में नहीं रहेंगे। कभी कोई सोच नहीं सकता था कि स्त्रियां बच्चों को दूध पिलाने से इनकार कर देंगी। अमेरिका में उन्होंने कर दिया है। क्योंकि दूध पिलाने से उनकी

उम्र जल्दी ढल जाती है; शरीर दीन दिखाई पड़ने लगता है; शरीर की चुस्ती खो जाती है। नौ महीने बच्चे को पेट में रखने से और भारी नुकसान शरीर को होते हैं। व्यवस्था हुई जाती है, फिर इनक्यूबेटर ही मां होगा, इंजेक्टर पिता होगा!
कोई फर्क नहीं पड़ता है। अभी भी वही है। अभी भी जिसको हम मां कहते हैं, उसने इनक्यूबेटर का काम किया है। उसके पेट में प्राकृतिक इंतजाम हैं, जिसमें बच्चा नौ महीने रह लेता है। कल हम कृत्रिम इंतजाम कर लेंगे। शायद उससे भी बेहतर कर लेंगे।
यह कामचलाऊ जगत है। कठिनाई नहीं आती कि मित्र को मित्र मान लिया। बहुत से बहुत क्या करेगा! रात में सामान लेकर नदारद हो जाएगा। विश्वास से चलता है जगत। इसी विश्वास को हम परमात्मा में भी लगाते हैं, तब भूल शुरू होती है।
कृष्ण का अर्थ, जब वे कहते हैं श्रद्धावान, तो विश्वासी नहीं है। कृष्ण का क्या अर्थ होगा श्रद्धावान से? श्रद्धावान को समझने के लिए दो- तीन बातें विश्वास के संबंध में और ख्याल में रख लें।
विश्वास के पीछे सदा संदेह है, स्मरण रखें। संदेह को दबाने और मिटाने
के लिए किया गया है विश्वास। संदेह के खिलाफ इंतजाम है विश्वास। संदेह भीतर सरक रहा है।
एक आदमी कहता है, मैं ईश्वर में विश्वास करता हूं। उससे पूछें कि थोड़ा गहरे खोजो। सच विश्वास करते हो? अगर वह ईमानदार हो, आनेस्ट हो, नीयत उसकी साफ हो, तो पाएगा भीतर कि भीतर विश्वास नहीं है। विश्वासी से विश्वासी को पता चल जाता है कि भीतर कहीं संदेह का कण है; कहीं शक उठता है कि है ईश्वर या नहीं! है भी? आत्मा है? मृत्यु के बाद बचता है कुछ? प्रश्न उठते हैं भीतर। वहां संदेह है।
श्रद्धावान का अर्थ है, संशयहीन, संदेहहीन नहीं। संदेह का अर्थ है, डाउट; संशय का अर्थ है, इनडिसीजन। श्रद्धावान का अर्थ है, संशयहीन, संदेहहीन नहीं।
संदेह तो मनुष्य के साथ है। प्रश्न तो मनुष्य के साथ है, जिज्ञासा तो मनुष्य के साथ है। संदेह जिज्ञासा बने, शुभ है। संदेह विश्वास बने, खतरनाक है। संदेह अविश्वास बने, तो भी खतरनाक है। संदेह की सम्यक यात्रा इंक्वायरी है, जिज्ञासा है।
संदेह की असम्यक यात्रा दो तरह से हो सकती है। अगर राइटिस्ट हो, दक्षिणपंथी हो, पुराणपंथी हो, तो संदेह विश्वास बन जाता है। अगर लेफ्टिस्ट हो, वामपंथी हो, पुराण विरोधी हो, नवीनपंथी हो, तो संदेह अविश्वास बन जाता है। लेकिन अगर व्यक्ति न दक्षिणपंथी हो, न वामपंथी हो; संदेह का सम्यक उपयोग करना जानता हो, तो संदेह जिज्ञासा बनता है, प्रश्न बनता है, खोज बनता है, इंक्वायरी बनता है।
जिसने विश्वास से दबाया संदेह को, वह तथाकथित झूठा आस्तिक बन जाता है। जिसने अविश्वास से दबाया संदेह को... ।
ध्यान रहे, अविश्वास भी संदेह को दबाने की तरकीब है। एक आदमी को विश्वास नहीं आता; संदेह उठता है कि ईश्वर है? एक आदमी कहता है, है! और पर्त बना लेता है ऊपर होने की, और भूल जाता है। झंझट के बाहर हो जाता है। जिज्ञासा को मिटा देता है। कहता है, है। दूसरा आदमी कहता है, नहीं है। वह भी एक पर्त बना लेता है, न होने की। वह भी झंझट को मिटा देता है; इंक्वायरी को समाप्त कर देता है, जिज्ञासा बंद हो जाती है। है, तो भी जिज्ञासा बंद हो जाती है। नहीं है, तो भी जिज्ञासा बंद हो जाती है। जो है, ऐसा मान लिया, उसकी खोज की जरूरत नहीं रहती। जो नहीं है, ऐसा मान लिया, उसकी भी खोज की जरूरत नहीं रह जाती।
नहीं; संदेह बननी चाहिए जिज्ञासा। हमें पता नहीं कि है; हमें यह भी पता नहीं कि नहीं है। झूठे आस्तिक व्यर्थ; झूठे नास्तिक व्यर्थ। नास्तिक और आस्तिक का एक गहरा तालमेल जिज्ञासा बनाता है। पूछता है आदमी, है? प्रश्नवाची होती है उसकी जिज्ञासा। न स्वीकार, न अस्वीकार। पूछता है।

संदेह गहरे में जाए, तो एग्नास्टिक बनाता है। अज्ञेय है, अननोन है, जो
भी है। मुझे पता नहीं है। संदेह गहरा जाए, तो अहंकार को तोड़ता है; क्योंकि मुझे पता नहीं है; मैं अज्ञानी हूं।
आस्तिक भी ज्ञानी बन जाता, विश्वास पकड़कर; नास्तिक भी ज्ञानी बन जाता, अविश्वास पकड़कर। सिर्फ रहस्य में वह प्रवेश करता है, जो कहता है, मैं अज्ञानी हूं। मुझे पता नहीं कि है या नहीं है। सिर्फ प्रश्न का पता है; मुझे कुछ पता नहीं है।
यह तो संदेह का सम्यकरूप है, राइट डाउट। श्रद्धा का इससे कोई संबंध नहीं है। श्रद्धा का संबंध दूसरी बात से है।
एक और वृत्ति है मनुष्य के भीतर, संशय की, इनडिसीजन की, कि आदमी सदा डांवाडोल होता है। डांवाडोल होने का अर्थ है, कुछ भी, कुछ भी संकल्प नहीं बन पाता। क्षणभर बाएं चला जाता है, क्षणभर दाएं चला जाता है।
ध्यान रखें, मैंने कहा कि आस्तिक, झूठे विश्वास को पकड़कर जो बनता है,
वह दक्षिणपंथी है। उसने एक एक्सट्रीम पकड़ ली; अब वह पकड़े रहेगा, वह छोड़ेगा नहीं। दूसरे ने दूसरी एक्सट्रीम, अति पकड़ ली--वामपंथी, अविश्वास की। वह कहता है, नहीं है। एक कम्युनिस्ट है; कहता है, नहीं है। उसने पकड़ ली एक अति। ये एक अर्थ में डिसीसिव हैं; इनमें संशय नहीं है। ऊपर से दिखाई नहीं पड़ता; भीतर संदेह है; संशय नहीं दिखाई पड़ता।
आस्तिक कहता है, बिल्कुल है; जान लगा दूंगा अपनी। और कई आस्तिकों ने, जिन्हें बिल्कुल पता नहीं था, जान लगा दी। और अपनी तो कम लगाई, दूसरों की ज्यादा लगवा दी! कई नास्तिक जान लगा दिए हैं। अपनी कम, दूसरों की ज्यादा लगा दिए हैं।
और ध्यान रखें, जो आदमी भी कहता है, जान लगा दूंगा, वह खतरनाक है। क्योंकि जो जान लगा सकता है, वह जान ले सकता है। जो आदमी भी कहता है कि जिंदगी लगा दूंगा, शहीद हो जाऊंगा, उससे जरा सावधान रहना। क्योंकि शहीद होने के पहले, वह दस-पचास को शहीद करवाएगा, तभी शहीद हो सकता है। शहीद खतरनाक है। शहीदी का भाव खतरनाक है। क्योंकि जब वह अपनी जान लगा देता है, दो कौड़ी की समझता है अपनी जान, तो आपकी कितनी कौड़ी की समझेगा? किसी मूल्य की नहीं समझता है। आपको आदमी उतना ही मूल्य देता है, जितना अपने को देता है; उससे ज्यादा नहीं देता।
आस्तिक संशयहीन दिखाई पड़ता है, संदेह भीतर होता है। इसलिए उसका निःसंशय होना, सच्चा नहीं हो सकता; भीतर का कीड़ा धक्का देता रहता है। उसी को दबाने के लिए वह बिल्कुल पक्का मजबूती से खड़ा रहता है कि मैं मानता हूं कि ईश्वर है। और अगर किसी ने कहा, नहीं है, तो ठीक नहीं होगा। जब कोई कहे कि किसी ने कहा कि नहीं है, तो ठीक नहीं होगा, तब समझ लेना कि उसके भीतर संशय का कीड़ा है।
शास्त्र हैं ऐसे, जो कहते हैं, विरोधी की बात मत सुनना। बड़े कमजोर शास्त्र हैं! क्योंकि विरोधी की बात के सुनने में डर क्या है? डर यही है कि भीतर का अपना संशय कहीं विरोधी की बात सुनकर ऊपर न आ जाए। और कोई डर नहीं है।
नास्तिक भी घबड़ाता है। वह भी अपने अविश्वास को जोर से पकड़ता है। नास्तिक और आस्तिक डागमेटिस्ट होते हैं, पक्के रूढ़ि को पकड़े होते हैं। ऊपर से दिखता है, संशय बिल्कुल नहीं है; लेकिन भीतर संदेह का कीड़ा है। इसलिए वे निःसंशय हो नहीं सकते। निःसंशय कौन हो सकता है?
निःसंशय वही हो सकता है, जिसने संदेह को दबाया नहीं, संदेह को रूपांतरित किया, ट्रांसफार्म किया और जिज्ञासा बनाई। जिसने जिज्ञासा बनाई संदेह को, अब वह निःसंशय हो सकता है। संशय तो उसी को पैदा होता है, जिसका कोई विश्वास है। जिसका कोई भी विश्वास नहीं है, उसके संशय का कोई उपाय नहीं है। संदेह बन जाए जिज्ञासा, तो संशय बन जाता है श्रद्धा।
ध्यान रहे, अगर मैं कुछ मानता हूं, तो संशय हो सकता है। अगर मैं कुछ भी नहीं मानता, तो संशय नहीं होता। संशय मानने से पैदा होता है। अगर मैं कुछ भी नहीं मानता--यह भी नहीं, वह भी नहीं; हां भी नहीं, नहीं भी नहीं; स्वीकार

भी नहीं, अस्वीकार भी नहीं--अगर मैं कुछ भी नहीं मानता, तब संशय पैदा नहीं होता।
संदेह बने जिज्ञासा, तो संशय बनता है श्रद्धा। श्रद्धा उसके ही पास होती है, जिसके पास जिज्ञासा होती है। कठिन लगेगी यह बात। पर जीवन में जटिलताएं हैं।
जिज्ञासावान श्रद्धावान होता है। और श्रद्धावान ही जिज्ञासा कर सकता है। तब श्रद्धा का क्या अर्थ हुआ?
श्रद्धा का सिर्फ इतनी ही अर्थ हुआ कि इस आदमी के पास कोई विश्वास नहीं, कोई अविश्वास नहीं; यह मुक्त मन है, ओपन माइंड। श्रद्धावान वलनरेबल है, खुला हुआ है।
विश्वास क्लोज करते हैं, श्रद्धा खोलती है। श्रद्धा एक ओपनिंग है। विश्वास को पकड़ा हुआ आदमी ऐसा है, जैसे फूल की बंद कली। श्रद्धा को उपलब्ध हुआ आदमी ऐसा है, जैसे खिला हुआ फूल--प्रकाश को सब तरफ से झेलता हुआ; निःसंशय; सूर्य के साक्षात्कार में तत्पर; खोज को निकला; सूर्य के सामने नग्न उघाड़ा। श्रद्धावान का अर्थ है, नग्न, उघाड़ा, दिगंबर, निर्वस्त्र। कोई क्लोजिंग नहीं है। कोई ढांक नहीं है मन के ऊपर। कोई आवरण नहीं है। कोई पर्त नहीं है। विश्वास की नहीं, अविश्वास की नहीं। सब तरफ से खुला हुआ है। सब दीवालें तोड़ दी हैं। खुले आकाश के नीचे खड़ा है।
कौन खड़ा हो सकता है खुले आकाश के नीचे? जरा-सा भी संदेह हो, तो खुले आकाश के नीचे खड़ा नहीं हो सकता; अपने घर के भीतर छिपकर बैठेगा। संदेह डराता है। संशय हो, तो हजार इंतजाम करके बाहर आएगा। निःसंशय हो, तो आ जाता है बाहर।
ऐसा निःसंशय चित्त, श्रद्धावान चित्त, ऐसा खुला मन फूल की तरह, सूर्य
के समक्ष; ऐसा ही खुला मन, प्रभु के समक्ष, सत्य के समक्ष, अस्तित्व के समक्ष, श्रद्धावान है। जिसने अपनी अश्रद्धा को दबाने के लिए कोई विश्वास नहीं पकड़ा; जिसने अपने संदेह को दबाने के लिए विश्वास-अविश्वास के जाल में नहीं उलझा; जिसने कहा, मैं नहीं जानता, अज्ञानी हूं; अस्तित्व के सामने अज्ञानी की तरह जो खड़ा है, वह श्रद्धावान है।
अस्तित्व के समक्ष जो किसी भी तरह के ज्ञान को पकड़कर खड़ा होता है, वह श्रद्धावान नहीं है। अस्तित्व के समक्ष जो किसी तरह के सिद्धांत को पकड़कर खड़ा होता है कि सत्य मुझे मालूम है, वह अस्तित्व को जानने से डरता है, इसलिए सिद्धांत की आड़ में खड़ा होता है। और अस्तित्व को जानेगा नहीं कभी; सिद्धांत को ही अस्तित्व पर थोपेगा। कहेगा कि अस्तित्व ऐसा होना चाहिए, जैसा मेरा विश्वास है।
श्रद्धावान कहेगा, जैसा हो अस्तित्व, मैं वैसा ही उसे पी जाने को तत्पर और खुला हूं। मेरा कोई विश्वास नहीं, मेरा कोई सिद्धांत नहीं, मेरा कोई शास्त्र नहीं। मैं अज्ञानी हूं। मुझे कुछ पता नहीं। तो प्रभु मुझे जहां ले जाए। जिसे कुछ पता नहीं, वह जाने का आग्रह नहीं करता कि मैं यहां पहुंचूंगा, तो प्रभु मुझे वहां ले चलो। जिसका कोई विश्वास नहीं, वह अस्तित्व से कहता है, जहां ले जाओ, वही मंजिल है। जहां डूब जाए नाव, वही किनारा है। ऐसी, ऐसी चित्त दशा--जहां डूब जाए नाव, वही किनारा है। कोई किनारे का मुझे पता नहीं कि कहां ले चलो। नहीं; किसी लक्ष्य का मुझे पता नहीं कि कौन लक्ष्य है। किसी प्रयोजन का मुझे पता नहीं कि क्या प्रयोजन है। मुझे पता नहीं, मैं कौन हूं। मुझे पता नहीं, जगत क्या है। मुझे कुछ भी पता नहीं। इग्नोरेंस टोटल है, अज्ञान पूर्ण है। ऐसे पूर्ण अज्ञान में मैं कैसे कहूं कि मुझे कहां ले जाओ? मैं कैसे कहूं कि मुझे उस मंजिल पर पहुंचा दो? मैं कैसे हूं कि मैं वहां जाना चाहता हूं? मैं प्रभु को कैसे आदेश दूं? अश्रद्धावान आदेश देता है अस्तित्व को। श्रद्धावान अपना हाथ पकड़ा देता अस्तित्व को, ऐसे ही जैसे छोटा बच्चा अपने बाप के हाथ में हाथ दे देता है। फिर वह यह भी नहीं पूछता, कहां जा रहे हैं? कहां ले चल रहे हैं? क्या है लक्ष्य? भटका तो न देंगे? नहीं; वह छोटा बच्चा हाथ दे देता है।
कभी अपने ख्याल किया! छोटा बच्चा बाप के हाथ में हाथ देकर निश्चिंत चलता है। वह श्रद्धावान है, विश्वासी नहीं। क्योंकि विश्वास तो तभी होता

है, जब संदेह आ जाए; उसके पहले नहीं होता। वह श्रद्धावान है। बाप उसे रास्ते से मोड़ता है, तो मुड़ जाता है; सीधा जाता है, तो सीधा जाता है। बाप उसे कंधे पर उठा लेता है, तो कंधे पर बैठ जाता है। वह यह नहीं पूछता कि कहां पहुंचेंगे? कहीं भटका तो न दोगे? रास्ते में कोई दुर्घटना तो न करवा दोगे? जरा हाथ सम्हलकर पकड़ना। वह सारी फिक्र छोड़ देता है। वह हाथ छोड़ देता है। श्रद्धावान का अर्थ है, ऐसा व्यक्ति, जिसे ज्ञान का दंभ नहीं। ज्ञान
का दंभी कभी श्रद्धावान नहीं होता। दिखाई पड़ते हैं वही लोग श्रद्धावान। ज्ञान का दंभी कभी श्रद्धावान नहीं होता। तथाकथित पंडित कभी श्रद्धावान नहीं होते। अश्रद्धा के कारण ही पांडित्य का जाल बिछाए रहते हैं। श्रद्धावान होता है बालक की भांति। कहता है, मुझे कुछ पता नहीं, इसलिए जहां पहुंच जाऊं, वही मंजिल है। न पहुंचूं, तो वही मंजिल है। जो मिल जाए, वही उपलब्धि है; जो न मिले, वह भी उपलब्धि है। वैसा श्रद्धावान चित्त कहता है, जहां डूब जाए नाव, जहां लग जाए, वही किनारा है। ऐसा असंशय, ऐसा मुक्त, ऐसा खुला हुआ व्यक्ति, ऐसा निरहंकारी, ऐसा विनम्र, ऐसा आग्रहशून्य, श्रद्धावान है।
कृष्ण कहते हैं, जितेंद्रिय पुरुष और श्रद्धावान... ।
क्योंकि जितेंद्रिय हो जाए कोई और श्रद्धावान न हो, तो अहंकार को उपलब्ध हो सकता है। जितेंद्रिय हो जाए कोई, जीत ले अपनी इंद्रियों को और श्रद्धा न हो, तो इंद्रियों की जीत अहंकार को और प्रगाढ़ कर जाएगी, और अकड़ आ जाएगी भारी, कि मैंने क्रोध को जीत लिया; कि मैंने काम को जीत लिया; कि मैं ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हुआ हूं; कि मैं त्याग पा गया; कि मैं संन्यासी हूं; कि मैं साधु हूं; कि मैं तपस्वी हूं।
जिसको श्रद्धा न हो साथ, अगर वह इंद्रियों को जीत ले, तो वह वैसे ही भ्रम में पड़ जाएगा, जैसे बहिर्प्रकृति को जीतकर वैज्ञानिक भ्रम में पड़ जाता है कि मैं सब कुछ हूं; सुप्रीम हो गया! अंतःप्रकृति को जीतकर भी अहंकार आ सकता है, अगर श्रद्धा न हो। इंद्रियों की विजय भी अहंकार की विजय बन सकती है। हो सकता है। और अहंकार की विजय आत्मा की हार है।
इसलिए कृष्ण तत्काल जोड़ देते हैं, इतना ही कहकर छोड़ नहीं देते, जितेंद्रिय पुरुष; श्रद्धावान भी। वह कंडीशन गहरी है। वह पूरी न हो, तो जितेंद्रिय पुरुष अहंकारी हो सकता है।
अक्सर ऐसा होता है। जो आदमी थोड़ा-बहुत क्रोध करता है, वह उतना अहंकारी नहीं होता, जितना जो क्रोध नहीं करता, वह होता है। क्यों? क्योंकि जो क्रोध करता है, क्रोध उसे विनम्र भी कर जाता है; यह भी बता जाता है कि अपनी सामर्थ्य कितनी है! जरा-सी बात में तो अपनी केटली गरम हो जाती है; पतला है चद्दर, बहुत मोटा नहीं है। जो आदमी जरा-जरा सी बात में, क्षुद्र-क्षुद्र बात में होश खो देता है, उसे यह भी तो पता चलता है कि अपनी सीमा क्या है! ध्यान रहे, जो आदमी क्रोध कर लेता, काम के वशीभूत हो जाता, लोभ कर लेता,
वह जानता है--वह जानता है कि अपनी सीमा है। और ध्यान रहे, ऐसा आदमी बहुत अहंकारी नहीं हो सकता। क्योंकि अहंकार को खड़े होने के लिए उसके पास बहुत फाउंडेशंस नहीं होते। जरा-जरा सी बात में तो सब गड़बड़ हो जाता है! अपने पर ही तो भरोसा नहीं है। अहंकार क्या करें? और जो आदमी क्रोध करता, लोभ करता, बेईमानी भी कर लेता, वह दूसरों के प्रति भी दयावान होता है। क्योंकि वह जानता है, हम भी कमजोर हैं, दूसरे भी कमजोर हैं।
इसलिए साधु-संत अक्सर कठोर और क्रूर हो जाते हैं। क्योंकि वे क्रोध कभी नहीं करते; इसलिए दूसरा अगर क्रोध कर ले, तो उसकी गर्दन में फांसी लगाने की इच्छा पैदा हो जाती है। क्योंकि उन्होंने कभी वासना नहीं की; तो दूसरे के मन में वासना आ जाए, तो नर्क में डालने की इच्छा हो जाती है। साधु- संत, तथाकथित, श्रद्धावान नहीं, लेकिन जो किसी तरह इंद्रियों को जीतने की चेष्टा में लगे रहते हैं; खतरनाक हो जाता है उनका मामला बहुत बार। इसलिए साधु-संत को दयावान पाना जरा कठिन है।
साधु और दयावान पाना जरा कठिन है! इसका मतलब यह हुआ कि साधु पाना कठिन है। रास्ते पर चलते हुए जिस आदमी के मन में लोभ नहीं आया, क्रोध नहीं आया, वासना नहीं आई, काम नहीं आया, वह दूसरे के प्रति कभी भी दयावान हो नहीं

पाता। क्योंकि वह कहता है, जो मुझे नहीं हुआ, वह तुम्हें हो रहा है! पापी हो।
लेकिन जिसके मन में सब हुआ, जो दूसरे को हो रहा है, वह अनिवार्य रूप से, अनिवार्य रूप से विनम्र हो जाता है। और जानता है कि मुझ पर मेरा ही वश नहीं; अगर दूसरे का वश नहीं, तो कुछ नर्क में जाने की बात नहीं हो गई है! यह स्वभाव है मनुष्य का, टु इर इ.ज ह्यूमन। वह इस बात को समझ पाता है कि भूल आदमी से होती है।
जितेंद्रिय पुरुष अगर श्रद्धावान न हो, तो खतरे हैं। इसलिए कृष्ण तत्काल जोड़ते हैं, जितेंद्रिय और श्रद्धावान। श्रद्धावान होगा, तो जितेंद्रिय होकर, उसकी जो जितेंद्रिय से उपलब्ध शक्ति है, वह अहंकार को नहीं, आत्मा को मिलेगी। जितेंद्रिय, श्रद्धावान, शांति को उपलब्ध हो जाता है, परम शांति को उपलब्ध होता है।
शांति क्या है? दि सुप्रीम साइलेंस, अल्टिमेट साइलेंस, यह परम शांति क्या है?
अशांति क्या है? अशांति है चित्त का कंपन, उत्तेजना। उत्तेजित चित्त-दशा अशांति है। जैसे झील--आंधियों के थपेड़ों में; तूफान में चट्टानों से टकराती हुई लहरें, हवा से जोर मारती लहरें; सब उद्विग्न, उदभ्रांत--ऐसा चित्त अशांत है। शांत चित्त--झील की तरह मौन; हवाओं के थपेड़े नहीं; लहरों का शोरगुल नहीं; कोई संघर्ष नहीं; मौन।
सुख में भी उत्तेजना है, दुख में भी उत्तेजना है। इसलिए शांति सुख और दुख के पार है। सुखी आदमी शांत नहीं होता; सुखी आदमी भी अशांत होता है। दुखी आदमी भी शांत नहीं होता; दुखी आदमी भी अशांत होता है। क्योंकि सुख की अपनी उत्तेजना है; प्रीतिकर लगती है, यह हमारी धारणा है। दुख की अपनी उत्तेजना है; अप्रीतिकर लगती है, यह हमारी धारणा है।
और इसलिए जो एक को दुख है, वह दूसरे को सुख भी हो सकता है। और इसलिए जो
एक को सुख है, वह दूसरे को दुख भी हो सकता है। और इसलिए जो आज आपको सुख है, वह कल दुख हो सकता है। और इसलिए जो आज आपको दुख है, वह कल सुख हो सकता है। कनवर्टिबल है; सुख दुख में बदल सकते हैं। क्योंकि दोनों उत्तेजनाएं हैं। सिर्फ दृष्टिकोण से फर्क पड़ता है कि क्या सुख और क्या दुख।
सुख में भी हार्ट फेल हो जाते सुना जाता है। सुख में भी हृदय-गति बंद
हो जाती है। निश्चित ही, सुख बड़ी तीव्र उत्तेजना होगी। मिलता नहीं है हम सबको सुख, इसलिए सबका नहीं होता। मिलता ही कम है। या मिलता है, तो इतना रत्ती-रत्ती मिलता है कि हम इम्यून हो जाते हैं; हम समर्थ हो जाते हैं झेलने में। इकट्ठा मिल जाए, लाटरी की तरह मिल जाए, कि दस लाख रुपए की लाटरी मिल गई किसी को, तो खतरा है। लाटरी तो मिलेगी, लाटरी पाने वाला नहीं बचेगा। सुख इकट्ठा आ जाए, तो तोड़ जाता है, दुख से भी ज्यादा तोड़ जाता है। क्योंकि दुख परिचित है, उसके हम इम्यून हैं, वह रोज आता है। इसलिए कितना भी आ जाए, दुख में हार्ट फेल होते हुए नहीं सुने जाते। बड़े से बड़ा दुख आदमी झेल जाता है; हृदय-गति बंद नहीं होती। क्योंकि दुख इतने हैं जीवन में, हमारी दृष्टि ऐसी गलत है कि अधिक दुख हमने बना रखे हैं, तो हम झेल जाते हैं! लेकिन सुख? हमारी दृष्टि ऐसी है कि सुख हमने बनाए नहीं। कभी कोई सुख अगर हमारी दृष्टि के अनुकूल पड़कर हम पर छा जाता है, तो खतरा है। फिर सुख की उत्तेजना भी थोड़ी देर में अप्रीतिकर हो जाती है। सब उत्तेजनाएं अप्रीतिकर हो जाती हैं।
सुना है मैंने, नादिर एक स्त्री को प्रेम करता था। लेकिन उस स्त्री ने नादिर की तरफ कभी ध्यान नहीं दिया। नादिरशाह साधारण आदमी नहीं था, असाधारण आदमी था। हत्यारों में उस जैसा असाधारण दूसरा नहीं है। अभी-अभी हमने कुछ रिकार्ड तोड़े हैं--हिटलर, स्टैलिन के साथ। लेकिन हिटलर और स्टैलिन का जो हत्यारापन है, वह बड़ा परोक्ष है। उन्हें कभी ठीक पता नहीं चलता कि वे मार रहे हैं। नादिरशाह का हत्यारापन सीधा, प्रत्यक्ष था; वही मार रहा था सामने छाती में।
नादिरशाह को उस स्त्री ने ध्यान नहीं दिया। लेकिन जब नादिरशाह को पता चला कि वह उसके ही एक पहरेदार को, साधारण सिपाही को प्रेम करती है, तो पागल

हो गया। अपने बुद्धिमानों को उसने बुलाया और कहा कि सजा बताओ, क्या सजा दूं? बुद्धिमान हैरान हुए, क्योंकि नादिरशाह सजा इनवेंट करने में इतना कुशल था कि वह बुद्धिमानों से पूछे? बुद्धिमान थोड़े हैरान हुए! उन्होंने कहा, आपकी कुशलता हम न पा सकेंगे। आपसे ज्यादा कुशल और कौन है? सताने में आप ऐसी-ऐसी तरकीबें निकालते हैं! आपसे ज्यादा हम कुछ न बता सकेंगे। लेकिन नादिरशाह ने कहा कि नहीं; मैं जो भी सोच सका, सब कम पड़ता है। तुम कुछ ऐसा सोचकर आओ कि जैसा कभी किसी ने किसी को न सताया हो।
उसके विद्वानों में से एक मनसशास्त्री ने कहा कि अगर मेरी मानें, तो मैं आपको बताऊं। नादिरशाह मान गया, जो उसने बताया। और सजा दी गई। ऐसी सजा पहली दफा दी गई; और अगर बहुत दफे दी जाए, तो दुनिया में बड़ी मुसीबत हो जाए। सजा बड़ी अजीब थी। सोच भी नहीं सकते, ऐसी थी।
दोनों को नग्न करके, आलिंगन में बांधकर रस्सियों से, और एक खंभे में बांध दिया गया। न खाना, न पीना। दोनों के चेहरे एक-दूसरे की तरफ। क्षणभर को तो उन्हें लगा कि हमारे जीवन का स्वर्ग मिल गया। इसी के लिए आतुर थे कि एक-दूसरे की बांह में पहुंच जाएं! पहुंच गए! थोड़े हैरान हुए कि नादिर को यह क्या हुआ है! लेकिन उन्हें पता नहीं कि एक मनोवैज्ञानिक ने सलाह दी है। और राजनीतिज्ञों को जब भी मनोवैज्ञानिक सलाहकार मिल जाएंगे, तब दुनिया में जितनी दुर्घटनाएं होंगी, उतनी और कभी नहीं हो सकतीं।
मिनट, दो मिनट, फिर घबड़ाहट शुरू हुई। क्योंकि कोई किसी को आलिंगन में
ले ले, तो क्षणभर में आलिंगन टूट जाए, तो सुख का ख्याल रह जाता है। दस मिनट रह जाए, तो घबड़ाहट और बेचैनी शुरू हो जाती है। पंद्रह मिनट, आधा घंटा... । जिन ओंठों में समझा था कि गुलाब के फूल खिलते हैं, उनसे बदबू आने लगी। कहीं खिलते नहीं, किन्हीं ओंठों में गुलाब के फूल नहीं खिलते। सिर्फ उन कवियों की कविताओं में खिलते हैं, जिन्हें ओंठों का कोई पता नहीं है। जिनको भी ओंठों का थोड़ा अनुभव है, वे जानते हैं, फूल नहीं खिलते। सब तरह की बदबू मुंह से उठती है। उठने लगी।
दिन बीता, चौबीस घंटे हो गए। सोए नहीं। रातभर की तंद्रा आंखों में, शरीर में भर गई। ऐसा लगने लगा कि दोनों लाश हो गए हैं। आदमी जिंदा नहीं हैं। फिर मल-मूत्र भी बहने लगा; क्योंकि दो दिन बीत गए। फिर तो गंदगी भारी हो गई। फिर तो वे चीखने-चिल्लाने लगे कि हमें छुड़ा दो; माफ करो। लेकिन नादिर रोज आकर देख जाता कि प्रेमियों की क्या हालत है!
फिर तो ऐसा मन होने लगा कि अगर हाथ खुले हों, तो एक-दूसरे की गर्दन दबा दें। उस जगत में उन दोनों को उन क्षणों में जैसी शत्रुता अनुभव हुई होगी, ऐसी किन्हीं प्रेमियों को कभी नहीं हुई है।
प्रेमियों का सबसे बड़ा सौभाग्य यह है कि वे कभी मिल न पाएं। मिल जाएं,
तो उपद्रव शुरू होते हैं। और इस भांति मिल जाएं, इस पूरी तरह मिल जाएं, तब तो बहुत कठिनाई है। पंद्रह दिन बाद सोच सकते हैं कि क्या हालत हुई होगी! दो लाशों की तरह मुर्दा, पागल, विक्षिप्त!
कहते हैं कि जब पंद्रह दिन बाद मनोवैज्ञानिक ने सलाह दी कि अब छोड़ दो,
अब दूसरा मजा देखो, उन दोनों को छोड़ दिया। वे दोनों एक-दूसरे की तरफ पीठ करके जो भागे, तो दोबारा जिंदगी में फिर कभी नहीं मिले। फिर कभी एक-दूसरे को देखा भी नहीं। बड़ी कठिन रही होगी सजा।
सब सुख दुख हो जाते हैं। और सब दुख भी अभ्यास से सुख हो जाते हैं। एक आदमी पहली दफा सिगरेट पीता है, तो सुख नहीं मिलता, सिर्फ तिक्तता पहुंच जाती है मुंह में। गंदा धुआं; खांसी, और बदबू; और घबड़ाहट; बेचैनी! पहली दफा आदमी शराब पीता है, तो कभी सुख नहीं मिलता। लेकिन शराब पिलाने वाले कहते हैं, टेस्ट पैदा करना पड़ता है, ट्रेन करना पड़ता है। वे कहते हैं कि ऐसे थोड़े ही है, यह कोई साधारण चीज थोड़े ही है। यह शास्त्रीय संगीत जैसी चीज है। अभ्यास से स्वाद का जन्म होता है। मुंह में कड़वाहट छूट जाती है, छाती तक जलन पहुंच जाती है, श्वास की पूरी नली विरोध और बगावत करती है, पहले दिन शराब पीने पर। लेकिन अभ्यास से शराब प्रीतिकर हो जाती है।
सुख भी उत्तेजना, दुख भी उत्तेजना, इसलिए उत्तेजनाएं एक-दूसरे में बदल सकती हैं, बदल जाती हैं।

शांति, परम शांति वह है, जहां कोई उत्तेजना नहीं है--न सुख की, न दुख की। जहां सुख भी नहीं, जहां दुख भी नहीं, ऐसा जहां परम शांत हुआ चित्त, वहीं आनंद फलित होता है, वहीं प्रभु का द्वार खुलता है, वहीं परम सत्य में प्रवेश होता है।
जितेंद्रिय हुआ, श्रद्धा से युक्त, शांत हुआ मन, परम सत्य, निगूढ़ सत्य में प्रविष्ट हो जाता है।

प्रश्नः भगवान श्री, श्रद्धा ज्ञान का सहज परिणाम है, अथवा ज्ञान को उपलब्ध होने के पहले श्रद्धा का होना अनिवार्य है? कृपया इसे समझाएं।

श्रद्धा तो ज्ञान का अंतिम परिणाम है; लेकिन श्रद्धावान होना ज्ञान
का पहला चरण है। श्रद्धा तो पूर्णता है। इसलिए कृष्ण यह नहीं कह रहे, श्रद्धा; वे कह रहे हैं, श्रद्धावान। श्रद्धावान तो एप्टिट्यूड है, वह तो स्वभाव का एक लक्षण है, वह तो बीज है। श्रद्धा तो, पूर्ण श्रद्धा तो उपलब्ध होती है तब, जब सब जिज्ञासाओं का अंत हो जाता है, जब सब संदेह गिर जाते हैं। जब जानना घटित होता है, जब जान ही लिया जाता है, तब श्रद्धा उपलब्ध होती है।
लेकिन वह तो अंतिम है; उसकी बात करनी बेकार है। अर्जुन से तो बेकार है बात करनी। बुद्ध से बात कर रहे होते कृष्ण, तो करते। अर्जुन से तो श्रद्धावान होने की बात करनी अर्थपूर्ण है। यात्रा की मंजिल पर पहला चरण, श्रद्धावान। यात्रा के अंतिम पड़ाव पर, श्रद्धा। वह श्रद्धावान होना ही अंततः श्रद्धा बनती है। वह पहला चरण ही आखिर में मंजिल बन जाती है। इसलिए श्रद्धा के दोनों अर्थ ख्याल में रखें।
एक तो श्रद्धावान होने का मतलब है, अभिमुखता; श्रद्धा की तरफ यात्रा; श्रद्धा की तरफ आंखें; श्रद्धा की तरफ चलना, श्रद्धावान होने का अर्थ है। फिर जब पहुंच गए, जब श्रद्धा ही घटित हो जाती है, तब श्रद्धावान नहीं होता आदमी; आदमी ही श्रद्धा होता है। तब चित्त श्रद्धावान नहीं होता, तब चित्त श्रद्धा ही हो जाता है। तब श्रद्धा एक गुण नहीं होती; तब श्रद्धा समग्र अस्तित्व बन जाती है। तब श्रद्धा एक झुकाव नहीं होती--यात्रा नहीं, तीर की तरह कहीं जाती हुई नहीं--तब श्रद्धा मंजिल होती है। जाती हुई नहीं, ठहरी हुई, खड़ी हुई। नदी की तरह भागती हुई नहीं होती श्रद्धा, फिर सागर की तरह ठहरी हुई होती है।
श्रद्धावान, नदी की तरह भागती हुई श्रद्धा का नाम है। श्रद्धा, सागर
की तरह ठहराव का नाम है। श्रद्धा, अर्थात पहुंच गए। श्रद्धावान, अर्थात पहुंच रहे हैं। दोनों अर्थ हैं।
पर कृष्ण ने अर्जुन को जो कहा, वह पहले अर्थ की दृष्टि से कहा। दूसरे
की बात करनी बेकार है। वहां तो पहुंच जाएंगे। पहला होना चाहिए। यात्रा की बात ठीक है; मंजिल तो आ जाती है। रास्ते की बात ठीक है; मंजिल तो आ जाती है।
मंजिल की चर्चा की भी नहीं जा सकती। मंजिल को कहने का भी उपाय नहीं है।
प्रयोजन भी नहीं है।
इसलिए समस्त जानने वालों ने विधि की, मेथड की बात की है, मंजिल की नहीं। मंजिल की तरफ सिर्फ कभी-कभी इशारे हैं। कैसे पहुंचें, इसकी बात है।
मंजिल की तरफ कभी-कभी इशारा है, सिर्फ इसी को समझाने के लिए कि कैसे पहुंचें।
कभी-कभी, जैसे कृष्णमूर्ति के मामले में, मंजिल की बात ही की जाती है
और मार्ग की बात छोड़ दी जाती है। तब कृष्णमूर्ति जैसा व्यक्ति भूल जाता है कि सुनने वाले कृष्ण नहीं हैं, अर्जुन हैं। और सुनने वाले कृष्ण कभी भी नहीं होंगे; क्योंकि कृष्ण किसलिए सुनने आएंगे?
इसलिए इधर कृष्णमूर्ति को पीछे-पीछे बड़ा विषाद मालूम होता है, फ्रस्ट्रेशन भी मालूम होता है। भीतरी, आंतरिक नहीं, अपने लिए नहीं; लेकिन चालीस साल से जिनसे बोल रहे हैं उनके लिए। करुणापूर्ण है विषाद। विषाद मालूम होता है कि चालीस वर्ष से समझा रहा हूं इनको, ये वही के वही लोग! वही सामने हर बार आकर बैठ जाते हैं। फिर वही सुन लेते हैं; फिर सिर हिलाते हैं।

फिर वही सवाल पूछते हैं। फिर वही उत्तर पाते हैं। फिर खाली हाथ लौट जाते हैं। फिर अगले वर्ष खाली हाथ वापस आ जाते हैं। वही के वही लोग! अगर मरघट पर बोलते होते कृष्णमूर्ति, तो कोई खास नुकसान न होता। अगर दीवाल से बोलते होते, तो कोई खास नुकसान न होता।
कृष्णमूर्ति के साथ पहली दफा एक दुर्घटना घट गई और वह दुर्घटना यह है
कि वे मंजिल की बात कर रहे हैं, मार्ग की नहीं। वे मंजिल की इतनी बात कर रहे हैं, जितनी मार्ग की करनी चाहिए; और वे मार्ग की इतनी बात कर रहे हैं, जितनी मंजिल की करनी चाहिए। अगर कभी मार्ग के संबंध में कोई शब्द आ जाता है, तो घबड़ाहट से जल्दी वह उसको दूसरी पंक्ति में नष्ट कर देते हैं। मंजिल! क्या, हो क्या गया? ऐसा अब तक नहीं हुआ था। पृथ्वी पर ऐसा अब तक नहीं हुआ था कि किसी आदमी को ज्ञान की किरण के फूटने के साथ, अंतिम को, मंजिल को, कहने का ऐसा भाव नहीं हुआ था। कृष्णमूर्ति को हुआ। होने का कुछ विशेष कारण है।
कृष्णमूर्ति को दूसरे लोगों ने साधना करवाई; खुद नहीं की। कृष्णमूर्ति को दूसरे लोगों ने, लीडबीटर ने, एनीबीसेंट ने साधना करवाई। कृष्णमूर्ति पर साधना जैसे बाहर से आई। भीतर सत्व था, भीतर पिछले जन्म तक आ गई संभावना थी। भीतर मौजूद था। क्योंकि अकेले बाहर से कुछ करवाया नहीं जा सकता, जब तक भीतर मौजूद न हो। सूखी लकड़ी थी भीतर, बाहर से पकड़ाई गई आग। पकड़ गई। लेकिन पकड़ाई गई बाहर से। और जब भी कोई चीज बाहर से पकड़ाई जाती है, तो मन उसका विरोध करता है। अच्छी से अच्छी चीज का भी विरोध करता है। इसलिए कृष्णमूर्ति के मन में विधियों के प्रति, मेथड के प्रति एक अनिवार्य विरोध पैदा हो गया। वे बाहर से पकड़ाए गए उन्हें। गुरुओं के प्रति एक विरोध पैदा हो गया; क्योंकि गुरु उनको ऊपर से थोपे हुए मिले। चुने हुए नहीं थे, खोजे नहीं थे उन्होंने। अगर कोई आदमी खुद गुरु खोजता है, तो गुरु कभी दुश्मन नहीं मालूम पड़ता है। लेकिन अगर गुरु किसी को खोज ले, तो झंझट हो जाती है। हालांकि मजा यह है कि जब गुरु खोजता है, तो ठीक से खोजता है। और शिष्य जब खोजता है, तो गलत खोजता है। लेकिन अपनी गलत खोज भी ठीक मालूम पड़ती है, दूसरे की ठीक खोज भी गलत मालूम पड़ती है।
शिष्य कैसे खोजेगा गुरु को? अगर गुरु को खोजने की योग्यता हो, तो परमात्मा को खोजने में कोई बाधा नहीं है। जितनी योग्यता से गुरु खोजा जाता है, उतनी योग्यता से परमात्मा खोजा जा सकता है।
इसलिए शिष्य कभी गुरु को खोज नहीं सकता। हमेशा गुरु ही शिष्य को खोज सकता है। लेकिन गुरु को इतनी कुशलता बरतनी चाहिए कि शिष्य को ऐसा लगे कि उसने ही उसे खोजा है। नहीं तो कठिनाई हो जाती है। कृष्णमूर्ति के साथ यह दिक्कत हो गई।
कृष्णमूर्ति को कभी नहीं लगा कि उन्होंने इनको खोजा है; लीडबीटर और एनीबीसेंट ने ही उनको खोजा है। और वह सब मामला ऐसा हो गया कि गुरुओं के प्रति भी विरोध रह गया और विधि के प्रति भी विरोध रह गया। लीडबीटर को मरे लंबा वक्त हो गया। एनीबीसेंट को मरे लंबा वक्त हो गया। कृष्णमूर्ति के मन से वह बात अब तक जाती नहीं है। वे लड़े चले जाते हैं लीडबीटर से; लड़े चले जाते हैं विधियों से। और मंजिल की बात किए चले जाते हैं। जो सुनने वाले हैं, वे अगर कृष्ण की तरह हों, तब तो ठीक। वे समझ जाएं कि बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। लेकिन सुनने नहीं आता कृष्ण जैसा आदमी। सुनने तो अर्जुन जैसा आदमी आता है। इसलिए सब व्यर्थ हुआ जाता है।
वे श्रद्धा की बात कर रहे हैं, करनी चाहिए श्रद्धावान की। यह ख्याल में लेंगे, तो समझ में आ जाएगा।
कृष्ण श्रद्धावान की बात कर रहे हैं, जितेंद्रिय, श्रद्धावान!
शेष रात में लेंगे।
अब जो श्रद्धावान हैं, वे थोड़ा कीर्तन में डूब जाएं। जो अश्रद्धावान हैं, वे बिल्कुल चुपचाप चले जाएं। जो मध्य में हैं, वे बैठकर थोड़ी ताली बजाते रहें।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 4
अठारहवां प्रवचन

संशयात्मा विनश्यति

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। 40।।
और हे अर्जुन भगवत विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। उनमें भी संशययुक्त पुरुष के लिए तो न सुख है और न यह लोक है, न परलोक है। अर्थात यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिए भ्रष्ट हो जाते हैं।

संशय से भरा हुआ, संशय से ग्रस्त व्यक्तित्व विनाश को उपलब्ध हो जाता है। भगवत्प्रेम से रहित और संशय से भरा न इस लोक में सुख पाता, न उस लोक में। विनाश ही उसकी नियति है।
दो बातें ठीक से समझ लेनी इस श्लोक में जरूरी हैं।
एक तो भगवत्प्रेम से रहित, दूसरा संशय से भरा हुआ। दोनों एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं। संशय से भरा हुआ व्यक्ति भगवत्प्रेम को उपलब्ध नहीं होता है। भगवत्प्रेम को उपलब्ध व्यक्ति संशयात्मा नहीं होता है। लेकिन दोनों को कृष्ण ने अलग-अलग कहा, क्योंकि दोनों के तल अलग-अलग हैं।
संशय का तल है मन और भगवत्प्रेम का तल है आत्मा। लेकिन मन से संशय न जाए, तो आत्मा के तल पर भगवत्प्रेम का अंकुरण नहीं होता। और आत्मा में भगवत्प्रेम का अंकुरण हो जाए, तो मन संशयरहित होता है। दोनों ही गहरे में एक ही अर्थ रखते हैं। लेकिन दोनों की अभिव्यक्ति का तल भिन्न-भिन्न है। इसलिए यह भी ठीक से समझ लेना जरूरी है कि जब कहते हैं कि संशयात्मा-- संशय से भरी हुई आत्मा--विनष्ट हो जाती है, तो ठीक से समझ लेना, संशयात्मा का तल आत्मा नहीं है; तल मन है। आत्मा में तो संशय होता ही नहीं है। लेकिन जिसके मन में संशय है, उसे मन ही आत्मा मालूम होती है। इसलिए कृष्ण ने संशयात्मा प्रयोग किया है।
जिसके मन में संशय है, इनडिसीजन है, वह मन के पार किसी आत्मा को जानता नहीं; वह मन को ही आत्मा जानता है। और ऐसा मन को ही आत्मा जानने वाला व्यक्ति विनाश को उपलब्ध होता है।
संशय क्या है? संशय का, पहला तो ख्याल कर लें, अर्थ डाउट नहीं है, संदेह नहीं है। संशय का अर्थ इनडिसीजन है। अनिश्चय आत्मा, जिसका कोई भी निश्चय नहीं है; संकल्पहीन, जिसका कोई संकल्प नहीं है; निर्णयरहित, जिसका कोई निर्णय नहीं है; विललेस, जिसके पास कोई विल नहीं है। संशय चित्त की उस दशा का नाम है, जब मन ईदर-आर, यह या वह, इस भांति सोचता है।
एक बहुत अदभुत विचारक डेनमार्क में हुआ, सोरेन कीर्कगार्ड। उसने एक किताब लिखी है, नाम है, ईदर-आर--यह या वह। किताब ही लिखी हो, ऐसा नहीं; खुद भी इतने ही संशय से भरा था। एक युवती से प्रेम था, लेकिन तय न कर पाया वर्षों तक, विवाह करूं या न करूं! तय न कर पाया यह कि प्रेम विवाह बने या न बने! इतना समय बीत गया--इतना समय बीत गया कि वह युवती थक गई। उसने विवाह भी कर लिया। तब एक दिन उसके घर खबर करने गया कि मैं अभी तक तय नहीं कर पाया हूं। पर पता चला कि अब वह युवती वहां नहीं है। उसका विवाह हुए काफी समय हो गया है।
इस सोरेन कीर्कगार्ड ने किताब लिखी, ईदर-आर--यह या वह। उसे अनेक बार लोगों ने चौरस्तों पर खड़े देखा, दो कदम इस रास्ते पर बढ़ते, फिर लौट आते; फिर दो कदम दूसरे रास्ते पर बढ़ते, फिर लौट आते। गांव के बच्चे उसके पीछे दौड़ते और चिल्लाते, ईदर-आर--यह या वह! उसकी पूरी जिंदगी ऐसी ही इनडिसीजन में--टु बी आर नाट टु बी, होऊं या न होऊं, करूं या न करूं।
जब चित्त ऐसे संशय से बहुत गहन रूप से भर जाता है, तो विनाश को उपलब्ध होता है। क्यों? क्योंकि जो यही तय नहीं कर पाता कि करूं या न करूं, वह कभी

नहीं कुछ कर पाता। जो यही तय नहीं कर पाता कि यह हो जाऊं या वह हो जाऊं, वह कभी भी कुछ नहीं हो पाता।
सृजन के लिए निर्णय चाहिए, असंशय निर्णय चाहिए। विनाश के लिए अनिर्णय काफी है। विनाश के लिए निर्णय नहीं करना पड़ता।
किसी भी व्यक्ति को स्वयं को नष्ट करना हो, तो इसके लिए किसी निर्णय
की जरूरत नहीं होती। सिर्फ बिना निर्णय के बैठे रहें, विनाश अपने से घटित हो जाता है। किसी को पर्वत शिखर पर चढ़ना हो, तो श्रम पड़ता है, निर्णय लेना पड़ता है। लेकिन पत्थर की भांति पर्वत शिखर से लुढ़कना हो घाटियों की तरफ, तब किसी निर्णय की कोई जरूरत नहीं होती और श्रम की भी कोई जरूरत नहीं होती।
इस जगत में पतन सहज घट जाता है, बिना निर्णय के। इस जगत में विनाश स्वयं आ जाता है, बिना हमारे सहारे के। लेकिन इस जगत में सृजन हमारे संकल्प के बिना नहीं होता है। इस जगत में कुछ भी निर्मित हमारी पूरी की पूरी श्रम, शक्ति, चित्त, शरीर, सबके समाहित लग जाए बिना, इस जगत में कुछ निर्मित नहीं होता है। विनाश अपने से हो जाता है। बनाना हो, बनाना अपने से नहीं होता है।
संशय से भरा हुआ चित्त विनाश को उपलब्ध हो जाता है। इसका अर्थ है कि संशय से भरे चित्त को विनाश के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता है। विनाश आ जाता है, संशय से भरा हुआ चित्त देखता रहता है। घर में लगी हो आग, संशय से भरी आत्मा की क्या स्थिति होगी? बाहर निकलूं या न निकलूं? घर में लगी है आग, बाहर निकलूं या न निकलूं? संशय से भरे चित्त की यह स्थिति होगी।
आग नहीं रुकेगी आपके संशय के लिए, न आपके निर्णय के लिए। आग बढ़ती रहेगी। और संशय से भरा चित्त ऐसा होता है कि जितनी बढ़ेगी आग, उतना प्रगाढ़ हो जाएगा उसका भीतर का खंडन। उतना ही विचार तेज चलने लगेगा, निकलूं न निकलूं! आग नहीं रुकेगी। विनाश फलित होगा। वह आदमी घर के भीतर मरेगा। हम सब जिस जीवन में खड़े हैं--पदार्थ के, संसार के--वह आग लगे घर से कम नहीं है। बुद्ध को किसी ने पूछा जब वे घर छोड़कर चले गए, दूसरे गांव के सम्राट ने आकर कहा, सुना है मैंने, तुम राजपुत्र होकर घर-द्वार छोड़कर चले आए। नासमझी की है तुमने। अपनी पुत्री से तुम्हारा विवाह कर देता हूं; मेरे राज्य के आधे के मालिक हो जाओ।
बुद्ध ने कहा, क्षमा करें। जिसे मैं पीछे छोड़ आया हूं, वह मकान और घर नहीं था। आग लगी थी वहां। उस लगी हुई आग को छोड़कर आया हूं मैं। और तुम फिर मुझे आग लगे घर में प्रवेश के लिए निमंत्रण देते हो! धन्यवाद तुम्हारे निमंत्रण के लिए; लेकिन शोक तुम्हारे अज्ञान के लिए! दुखी हूं कि तुम उसे महल कह रहे हो, जिसे मैं छोड़ आया हूं। महल मैंने नहीं छोड़ा, छोड़ा है मैंने आग लगा हुआ संसार। लपटें ही थीं वहां। तुम भी छोड़ो!
उस सम्राट ने कहा, सोचूंगा। तुम्हारी बात पर विचार करूंगा।
बुद्ध ने कहा, घर में आग लगी हो, तब कोई सोचता है कि निकलूं या न निकलूं?
नहीं; घर में आग लगी हो, तो शायद ही ऐसा आदमी मिले, जो सोचे। लेकिन जीवन में आग लगी हो, तो अधिकतम लोग ऐसे हैं, जो यही सोचते हैं, निकलें, न निकलें? बदलें, न बदलें? करें, न करें?
संशय से भरा हुआ चित्त समय को गंवा देता है, इसलिए विनष्ट होता है। समय एक अवसर है, एक अपरचुनिटी। और ऐसा अवसर, जो मिल भी नहीं पाता और खो जाता है। क्षण आता है हाथ में; दो क्षण कभी एक साथ नहीं आते। एक क्षण से ज्यादा इस पृथ्वी पर शक्तिशाली से शक्तिशाली मनुष्य के पास भी कभी ज्यादा नहीं आता। एक ही क्षण आता है हाथ में, बारीक क्षण। जान भी नहीं पाते कि आया और निकल जाता है।
संशय से भरा हुआ व्यक्ति जीवन के सभी क्षणों को गंवा देता है। क्योंकि संशय के लिए काफी समय चाहिए, और क्षण एक ही होता है हाथ में। जब तक वह सोचता है, तब तक क्षण चला जाता है। जब तक वह सोचता है, फिर क्षण चला जाता है। अंततः मृत्यु ही आती है संशय के हाथ में; जीवन पर पकड़ नहीं आ पाती; जीवन खो जाता है। जीवन खो जाता है निर्णय में ही कि करूं, न करूं।

सुना है मैंने रथचाइल्ड अमेरिका का एक बहुत बड़ा अरबपति हुआ। उससे किसी ने पूछा कि तुम्हारी सफलता का राज क्या है? गरीब थे तुम, अरबपति हो गए; तुम्हारी सफलता का राज क्या है? उसने कहा, मैंने एक भी अवसर नहीं खोया। जब भी अवसर आया, मैंने छलांग लगाई और पकड़ा।
दूसरे व्यक्ति ने पूछा कि तुम्हारा अवसर को पकड़ने का सीक्रेट और कुंजी क्या है?
उसने कहा, जब अवसर आया, तब मैंने यह नहीं सोचा कि करूं या न करूं। मैंने सदा एक नियम बनाकर रखा कि पछताना हो, तो करके पछताना; न करके कभी नहीं पछताना। क्योंकि न करके पछताने का कोई मतलब ही नहीं है। पछताना हो, तो करके पछता लेना। न करके कभी मत पछताना। क्योंकि किए को अनकिया किया जा सकता है, दि डन कैन बी अनडन। जो किया, उसे अनकिया किया जा सकता है। लेकिन जो अनकिया छूट गया, उसे फिर किया नहीं किया जा सकता। जो मकान बनाया, वह गिराया जा सकता है। लेकिन जो नहीं बनाया, वह समय खो गया जिसमें बनता; अब नहीं बनाया जा सकता।
रथचाइल्ड ने कहा, मैंने सदा एक नियम रखा, करके पछता लूंगा। इसलिए मैंने कभी यह नहीं सोचा कि करूं या न करूं। किया। और मैं तुमसे कहता हूं कि करके मैं आज तक नहीं पछताया हूं।
असल में निःसंशय व्यक्ति कभी नहीं पछताता। जीवन का अंतिम जोड़ हमारे किए हुए का जोड़ कम, हमारे लिए गए निःसंशय निर्णय का जोड़ ज्यादा है। जिंदगी के अंत में, जो किया, वह खो जाता है; लेकिन जिसने किया, जिस मन ने, करने, और करने, और करने, और निर्णय लेने की क्षमता और संकल्प का बल और असंशय रहने की योग्यता इकट्ठी होती चली जाती है। वही अंतिम हमारे हाथ में संपदा होती है। हमारे निःसंशय किए गए निर्णय की क्षमता ही हमारी आत्मा होती है।
उस आदमी ने पूछा, मैं भी ऐसा करना चाहता हूं, लेकिन पता नहीं चलता कि अवसर कब आता है! तुम्हें कैसे पता चलता है कि अवसर आता है? और अगर कभी अवसर आता ही है, तो जब तक पता चलता है, तब तक जा चुका होता है! तो तुम छलांग कैसे लगाते हो पकड़ने को?
तो रथचाइल्ड ने कहा कि मैं छलांग लगाता नहीं, मैं छलांग लगाता ही रहता हूं। जब भी अवसर आए, सवार हो जाता हूं। ऐसा नहीं कि मैं खड़ा देखता रहता हूं कि अवसर आएगा, तो छलांग लगाऊंगा और सवार हो जाऊंगा। क्योंकि जब अवसर आएगा, और जब तक मुझे पता चलेगा, तब तक जा चुका होगा। इस जगत में सब क्षणभंगुर है। मैं छलांग लगाता ही रहता हूं। आई कंटीन्यू जंपिंग, मैं कूदता ही रहता हूं। कभी भी अवसर आ जाए, अवसर का घोड़ा, वह मुझे उचकता हुआ ही पाता है। मेरी छलांग लगती ही रहती है। क्योंकि रथचाइल्ड ने कहा, छलांग व्यर्थ चली जाए, इसमें कोई हर्ज नहीं है; लेकिन अवसर का घोड़ा खाली निकल जाए, इसमें बहुत हर्ज है। कृष्ण जब कहते हैं, संशयात्मा विनाश को उपलब्ध हो जाता है, तो वे और भी गहरे अवसर की बात कर रहे हैं। रथचाइल्ड तो इस संसार के अवसरों की बात कर रहा है। कृष्ण तो परम अवसर की बात कर रहे हैं कि जीवन एक परम अवसर है, इस परम अवसर में कोई चाहे तो परम उपलब्धि को पा सकता है--आनंद को, एक्सटैसी को, हर्षोन्माद को। उस उपलब्धि को पा सकता है कि जहां सब जीवन का कण-कण नाच उठता और अमृत से भर जाता है; जहां जीवन का सब अंधेरा टूट जाता; और जहां जीवन के सब फूल सुवासित हो खिल उठते हैं; जहां जीवन का प्रभात होता है और आनंद के गीत का जन्म होता है।
उस परम उपभोग के क्षण को हम चूक रहे हैं प्रतिपल, संशय के कारण। संशय कठिनाई में डालता है। जब भी कोई अवसर आता, हम बैठकर सोचते हैं, करें न करें! एक युवक आज संध्या संन्यास लेने के लिए बैठा हुआ था मेरे पास। एक बार भीतर गया, फिर बाहर आया; फिर उसने कहा कि मैं दुबारा भीतर आता हूं। फिर भीतर आया। फिर कहा कि मैं और जरा बाहर जाकर सोचता हूं। फिर वह कुर्सी पर बैठकर सोचता रहा, सोचता रहा! मैं दो-चार बार आस-पास से उसके गुजरा और मैंने पूछा, सोचा? उसने कहा कि जरा सोचता हूं।
एक और मजे की बात है। जब क्रोध आता है, तब कभी इतना सोचते हैं? जब घृणा आती है कभी, तब कभी इतना सोचते हैं? जब वासना उठती है मन में, तब कभी इतना सोचते हैं? नहीं, बुरे में तो हम बड़े असंशय चित्त से लागू होते हैं। बुरा आ

जाए द्वार पर, तो हम कहते हैं, आओ, स्वागत है! तैयार ही खड़े थे द्वार पर हम। शुभ आए, तो बहुत सोचते हैं!
यह भी बहुत मजे की बात है कि आदमी बुरे को करने में संशय नहीं करता, शुभ को करने में संशय करता है। क्यों? क्योंकि बुरे को करना पतन की तरह है; पहाड़ से पत्थर की तरह नीचे ढुलकना है। उसमें कुछ करना नहीं पड़ता। पत्थर तो महज जमीन की कशिश से खिंचा चला आता है। लेकिन शुभ, पर्वत शिखर की चढ़ाई है, गौरीशंकर की। चढ़ना पड़ता है। कदम-कदम भारी पड़ते हैं। और जैसे-जैसे शिखर पर ऊपर बढ़ती है यात्रा, वैसे-वैसे भारी पड़ते हैं। फिर एक-एक बोझ निकालकर फेंकना पड़ता है। अगर बहुत सोना-चांदी ले आए कंधे पर, तो छोड़ना पड़ता है। गौरीशंकर के शिखर तक जाने के लिए कंधे पर सोने-चांदी के बोझ को नहीं ढोया जा सकता। धीरे-धीरे शिखर तक पहुंचते-पहुंचते सब फेंक देना पड़ता है। वस्त्र भी बोझिल हो जाते हैं। ठीक ऐसे ही शुभ की यात्रा है। एक-एक चीज छोड़ते जानी पड़ती है।
अशुभ की यात्रा, सब पकड़ते चले जाओ; बीच में पड़े हुए पत्थरों के साथ भी आलिंगन कर लो। वे भी लुढ़कने लगेंगे। सब इकट्ठा करते चले आओ। बढ़ाते चले जाओ। कुछ छोड़ना नहीं पड़ता। पकड़ते चले जाओ, बढ़ाते चले जाओ। और गड्ढे में गिरते चले जाओ! जमीन खींचती चली जाती है।
क्रोध के लिए कोई सोचता नहीं। अगर कोई आदमी क्रोध के लिए दो क्षण सोच
ले, तो क्रोध से भी बच जाएगा। और दो क्षण अगर संन्यास के लिए भी सोच ले, तो संन्यास से भी चूक जाएगा।
अशुभ के साथ जितना सोचें, उतना अच्छा। शुभ के साथ जितना निःसंशय हों, उतना अच्छा।
फिर यह भी ध्यान रख लें कि अशुभ को करके भी कुछ नहीं मिलता, अशुभ में सफल होकर भी कुछ नहीं मिलता और शुभ में असफल होकर भी बहुत कुछ मिलता है। शुभ के मार्ग पर असफल हुआ भी बहुत सफल है। अशुभ के मार्ग पर सफल हुआ भी बिल्कुल असफल है। नहीं; जीवन के अंत में कुछ हाथ आता नहीं है।
सिकंदर मरा। जिस गांव में उसकी अर्थी निकली, गांव के लोग चकित हुए, उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर लटके हुए थे। लोग पूछने लगे, ये हाथ बाहर क्यों हैं? कभी किसी अर्थी के बाहर हाथ नहीं देखे! तो पता चला कि सिकंदर ने मरते समय अपने मित्रों को कहा, मेरे दोनों हाथ बाहर लटके रहने देना। मित्रों ने कहा, रिवाज नहीं ऐसा। हमने कोई अर्थी के हाथ बाहर लटके नहीं देखे! सिकंदर ने कहा, न हो रिवाज। बेईमान रहे होंगे वे लोग, जिन्होंने हाथ अर्थी के भीतर रखे। मेरे हाथ बाहर लटके रहने देना। मित्रों ने कहा, कैसी बातें करते हैं! क्या फायदा होगा? मतलब क्या? प्रयोजन क्या? सिकंदर ने कहा, मैं चाहता हूं कि लोग ठीक से देख लें, मैं खाली हाथ जा रहा हूं। वह जिंदगीभर जो मैंने इकट्ठा किया, उससे हाथ भरे नहीं।
सफल बहुत था सिकंदर। कम ही लोग इतने सफल होते हैं। पर मरते क्षण सिकंदर को यह ख्याल कि मेरे हाथ खाली लोग देख लें; समझें कि सिकंदर भी असफल गया है--रिक्त, खाली हाथ।
असफलता भी शुभ के मार्ग पर बड़ी सफलता है। साधु के पास कुछ भी नहीं होता, फिर भी बंधे हाथ जाता है; बहुत कुछ लेकर जाता है। कम से कम अपने को लेकर जाता है। आत्मा को विनष्ट करके नहीं जाता; आत्मा को निर्मित करके, सृजन करके, क्रिएट करके जाता है। इस पृथ्वी पर इस जीवन में उससे बड़ी कोई उपलब्धि नहीं है कि कोई अपने को पूरा जानकर और पाकर जाता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, संशय विनाश कर देता है अर्जुन! और अर्जुन बड़े संशय से भरा हुआ है। अर्जुन एकदम ही संशय से भरा हुआ है। उसे कुछ सूझ नहीं रहा है, क्या करे, क्या न करे! बड़ा डांवाडोल है उसका चित्त। अर्जुन शब्द का भी मतलब डांवाडोल होता है। ऋजु कहते हैं सरल को, सीधे को; अऋजु कहते हैं इरछे-तिरछे को, विषम को।
जो भी डांवाडोल है, इरछा-तिरछा होता है। वह ऐसे चलता है, जैसे शराबी चलता है। एक पैर इधर पड़ता है, एक पैर उधर पड़ता है। कभी बाएं घूम जाता है, कभी दाएं घूम जाता है। गति सीधी नहीं होती।

निःसंशय चित्त की गति स्ट्रेट, सीधी होती है। संशय से भरे चित्त की गति सदा डांवाडोल होती है। रखता है पैर, नहीं रखना चाहता। फिर उठा लेता है। फिर रखता है; फिर नहीं रखना चाहता। अर्जुन वैसी ही स्थिति में है। फिर कृष्ण साथ में यह भी कहते हैं, भगवत्प्रेम को उपलब्ध!
जगत में तीन प्रकार के प्रेम हैं। एक, वस्तुओं का प्रेम। जिससे हम सब परिचित हैं। जिससे हम सब परिचित हैं। अधिकतर हम वस्तुओं के प्रेम से ही परिचित हैं। दूसरा, व्यक्तियों का प्रेम। कभी लाख में एकाध आदमी व्यक्ति के प्रेम से परिचित होता है। लाख में एक कह रहा हूं। सिर्फ इसलिए कि आपको अपने को बचाने की सुविधा रहे! समझें कि दूसरे, मैं तो लाख में एक हूं ही! नहीं; इस तरह बचाना मत।
एक फ्रेंच चित्रकार सीजां एक गांव में ठहरा। उस गांव के होटल के मैनेजर ने कहा, यह गांव स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत अच्छा है। यह पूरी पहाड़ी अदभुत है। सीजां ने पूछा, इसके अदभुत होने का राज, रहस्य, प्रमाण? उस मैनेजर ने कहा, राज और रहस्य तो तुम रहोगे यहां, तो पता चल जाएगा। प्रमाण यह है कि इस पूरी पहाड़ी पर एक आदमी से ज्यादा प्रतिदिन नहीं मरता है। सीजां ने जल्दी से पूछा कि आज मरने वाला आदमी मर गया या नहीं? नहीं तो मैं भागूं।
आदमी अपने को बचाने के लिए बड़ा आतुर है। तो अगर मैं कहूं, लाख में एक;
आप कहेंगे, बिल्कुल ठीक। छोड़ा अपने को। आपको भर नहीं छोड़ रहा हूं, ख्याल रखना।
लाख में एक आदमी व्यक्ति के प्रेम को उपलब्ध होता है। शेष आदमी वस्तुओं के प्रेम में ही जीते हैं। आप कहेंगे, हम व्यक्तियों को प्रेम करते हैं। लेकिन मैं आपसे कहूंगा, वस्तुओं की भांति, व्यक्तियों की भांति नहीं।
आज एक मित्र आए संन्यास लेने; पत्नी को साथ लेकर आए। पत्नी को समझाया,
कि नहीं, वे घर छोड़कर नहीं जाएंगे। पति ही रहेंगे। पिता ही रहेंगे। संन्यास उनकी आंतरिक घटना है। चिंतित मत होओ। घबड़ाओ मत! लेकिन उस पत्नी ने कहा कि नहीं, मैं संन्यास नहीं लेने दूंगी। मैंने कहा, कैसा प्रेम है यह? अगर प्रेम गुलामी बन जाए, तो प्रेम है? प्रेम अगर स्वतंत्रता न दे, तो प्रेम है? प्रेम अगर जंजीरें बन जाए, तो प्रेम है? फिर यह पति व्यक्ति नहीं रहा, वस्तु हो गया; यूटिलिटेरियन; फिर यह व्यक्ति नहीं रहा। फिर पत्नी कहती है, मैं आज्ञा नहीं दूंगी, तो नहीं!
व्यक्ति का सम्मान न रहा, उसकी स्वतंत्रता का सम्मान न रहा; उसका कोई अर्थ न रहा; वह वस्तु हो गई।
हम व्यक्तियों को प्रेम भी करते हैं, तो पजेस करते हैं, मालिक हो जाते हैं। मालिक व्यक्तियों का कोई नहीं हो सकता। सिर्फ वस्तुओं की मालकियत होती है। अगर कोई पत्नी पति को पजेस करती है, कहती है, मालकियत है। कोई पति कहता है पत्नी को कि मेरी हो; तो फर्नीचर में और पत्नी में बहुत भेद नहीं रह जाता है। उपयोग हो गया, लेकिन व्यक्ति का सम्मान न हुआ। उस दूसरे व्यक्ति की निज आत्मा का कोई आदर न हुआ।
वस्तुओं को ही हम प्रेम करते हैं, इसलिए व्यक्तियों को भी प्रेम करते हैं, तो उनको भी वस्तु बना लेते हैं।
दूसरा प्रेम, व्यक्तियों का जो प्रेम है, वह कभी लाख में एक आदमी को, मैंने कहा, उपलब्ध होता है। व्यक्ति के प्रेम का अर्थ है, दूसरे का अपना मूल्य है; मेरी उपयोगिता भर मूल्य नहीं है उसका। यूटिलिटेरियन--मैं उसका उपयोग कर लूं--इतना ही उसका मूल्य नहीं है। उसका अपना निज मूल्य है। वह मेरा साधन नहीं है। वह स्वयं अपना साध्य है।
कांट ने, इमेनुएल कांट ने कहा है--नीति के परम सूत्रों में एक सूत्र। अनीति के लिए कांट कहता है, अनीति का एक ही अर्थ है, दूसरे व्यक्ति का साधन की तरह उपयोग करना अनैतिक है। और दूसरे व्यक्ति को साध्य मानना नैतिक है।
गहरे से गहरा सूत्र है कि दूसरा व्यक्ति अपना साध्य है स्वयं। मैं उससे प्रेम करता हूं एक व्यक्ति की भांति, एक वस्तु की भांति नहीं। इसलिए मैं उसका मालिक कभी भी नहीं हो सकता हूं।

लेकिन व्यक्ति के प्रेम को ही हम उपलब्ध नहीं होते।
फिर तीसरा प्रेम है, भगवत्प्रेम। वह अस्तित्व का प्रेम है, लव टुवर्ड्स दि एक्झिस्टेंस। लव टुवर्ड्स दि पर्सन, एंड लव टुवर्ड्स थिंग्स, आब्जेक्ट्स। वस्तुओं के प्रति प्रेम, मकान, धन-दौलत, पद-पदवी! व्यक्तियों के प्रति प्रेम, मनुष्य! अस्तित्व के प्रति प्रेम, भगवत्प्रेम है। समग्र अस्तित्व को प्रेम।
अब इसको थोड़ा ठीक से देख लेना जरूरी है। जब हम वस्तुओं को प्रेम करते हैं, तो हमें सारे जगत में वस्तुएं ही दिखाई पड़ती हैं, कोई परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि जिसे हम प्रेम करते हैं, उसे ही हम जानते हैं। प्रेम जानने की आंख है। प्रेम के अपने ढंग हैं जानने के। सच तो यह है कि प्रेम ही इंटिमेट नोइंग है। आंतरिक, आत्मीय जानना प्रेम ही है।
इसलिए जब हम किसी व्यक्ति को प्रेम करते हैं, तभी हम जानते हैं। क्योंकि जब हम प्रेम करते हैं, तभी वह व्यक्ति हमारी तरफ खुलता है। जब हम प्रेम करते हैं, तब हम उसमें प्रवेश करते हैं। जब हम प्रेम करते हैं, तब वह निर्भय होता है। जब हम प्रेम करते हैं, तब वह छिपाता नहीं है। जब हम प्रेम करते हैं, तब वह उघड़ता है, खुलता है; भीतर बुलाता है, आओ; अतिथि बनो! ठहराता है हृदय के घर में।
जब कोई व्यक्ति प्रेम करता है किसी को, तभी जान पाता है। अगर अस्तित्व
को कोई प्रेम करता है, तभी जान पाता है परमात्मा को। भगवत्प्रेम का अर्थ है, जो भी है, उसके होने के कारण प्रेम।
कुर्सी को हम प्रेम करते हैं, क्योंकि उस पर हम बैठते हैं, आराम करते हैं। टूट जाएगी टांग उसकी, कचरेघर में फेंक देंगे। उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। हटा देंगे। जो लोग मनुष्यों को भी इसी भांति प्रेम करते हैं, उनका भी यही है। पति को कोढ़ हो जाएगा, तो पत्नी डायवोर्स दे देगी, अदालत में तलाक कर देगी। टूट गई टांग कुर्सी की। हटाओ! पत्नी कुरूप हो जाएगी, रुग्ण हो जाएगी, अस्वस्थ हो जाएगी, अंधी हो जाएगी; पति तलाक कर देगा। हटाओ! तब तो वस्तु हो गए लोग।
जो व्यक्ति सिर्फ वस्तुओं को प्रेम करता है, उसके लिए सारा जगत मैटीरियल हो जाता है, वस्तु मात्र हो जाता है। व्यक्ति में भी वस्तु दिखाई पड़ती है। और भगवत चैतन्य तो कहीं दिखाई नहीं पड़ सकता।
भगवत चैतन्य को अनुभव करने के लिए पहले वस्तुओं के प्रेम से व्यक्तियों के प्रेम तक उठना पड़ता है; फिर व्यक्तियों के प्रेम से अस्तित्व के प्रेम तक उठना पड़ता है। जो व्यक्ति व्यक्तियों को प्रेम करता है, वह मध्य में आ जाता है। एक तरफ वस्तुओं का जगत होता है, दूसरी तरफ भगवान का अस्तित्व होता है, पूरा अस्तित्व। इन दोनों के बीच खड़ा हो जाता है। उसे दोनों तरफ दिखाई पड़ने लगता है। एक तरफ वस्तुओं का संसार है और एक तरफ अस्तित्व का लोक है। फिर वह आगे बढ़ सकता है।
सुना है मैंने, रामानुज एक गांव से गुजरते हैं। और एक आदमी आया। और उसने कहा कि मुझे भगवान से मिला दें। मुझे भगवान से प्रेम करा दें। मैं भगवत्प्रेम का प्यासा हूं। रामानुज ने कहा, ठहरो, इतनी जल्दी मत करो। तुमसे मैं कुछ पूछूं। तुमने कभी किसी को प्रेम किया? उसने कहा, कभी नहीं, कभी नहीं। मुझे तो सिर्फ भगवान का प्रेम है। रामानुज ने कहा, कभी किसी को किया हो भूल-चूक से? उस आदमी ने कहा, बेकार की बातों में समय क्यों जाया करवा रहे हैं? प्रेम इत्यादि से मैं सदा दूर रहा हूं। मैंने कभी किसी को प्रेम किया ही नहीं। रामानुज ने कहा, फिर तुमसे कहता हूं एक बार; एकाध बार, सोचो, किसी को किया हो--किसी पौधे को किया हो, किसी आदमी को किया हो, किसी स्त्री को किया हो, किसी बच्चे को किया हो--किसी को भी किया हो!
स्वभावतः, उस आदमी ने सोचा कि अगर मैं कहूं कि मैंने किसी को प्रेम किया है, तो रामानुज कहेंगे कि अयोग्य है तू। इसलिए उसने कहा, मैंने किया ही नहीं। साफ कहता हूं। प्रेम से मैं सदा दूर रहा हूं। मुझे तो भगवत्प्रेम की आकांक्षा है।
रामानुज ने कहा कि फिर मैं बड़ी मुश्किल में हूं। फिर मैं कुछ भी न कर पाऊंगा। क्योंकि अगर तूने किसी को थोड़ा भी प्रेम किया होता, तो उसी प्रेम

की किरण के सहारे मैं तुझे भगवत्प्रेम के सूरज तक पहुंचा देता। थोड़ा-सा भी तूने किसी में झांका होता प्रेम से, तो मैं तुझे पूरे अस्तित्व के द्वार में धक्का दे देता। लेकिन तू कहता है कि तूने किया ही नहीं। यह तो ऐसे हुआ कि मैं किसी आदमी से पूछूं कि तूने कभी रोशनी देखी, दीया देखा? मिट्टी का दीया जलता हुआ देखा? वह कहे, नहीं, मुझे तो सूरज दिखा दें। मैंने दीया कभी देखा ही नहीं। पूछता हूं कि कभी तुझे एकाध किरण छप्पर में से फूटती हुई दिखाई पड़ी हो? वह कहे, कहां की बातें कर रहे हैं? किरण वगैरह से अपना कोई संबंध ही नहीं है। हम तो सूरज के प्रेमी हैं। तो रामानुज ने कहा कि जैसे उस आदमी से मुझे कहना पड़े कि क्षमा कर! तू किरण भी नहीं खोज पाया, सूरज तक तुझे कैसे पहुंचाऊं? क्योंकि हर किरण सूरज का रास्ता है।
व्यक्ति का प्रेम भी भगवत्प्रेम की शुरुआत है। व्यक्ति का प्रेम एक छोटी-सी खिड़की है, झरोखा, जिसमें से हम किसी एक व्यक्ति में से परमात्मा को देखते हैं। खिड़की! अगर, रामानुज ने कहा, तू एक में भी झांक सका हो, तो फिर मैं तुझे सब में झांकने की कला बता दूं। लेकिन तू कहता है, तूने कभी झांका ही नहीं!
हम वस्तुओं में जीते हैं। हम व्यक्तियों में भी झांकते नहीं। क्यों? क्या बात है? वस्तुओं के साथ बड़ी सुविधा है, व्यक्तियों के साथ झंझट है। छोटे-से व्यक्ति के साथ! घर में एक बच्चा पैदा हो जाए; अभी दो साल का बच्चा है, लेकिन वह भी एक उपद्रव है। व्यक्ति है। वह भी स्वतंत्रता मांगता है। उससे कहो, इस कोने में बैठो। तो फिर उस कोने में बिल्कुल नहीं बैठता है! उससे कहो, बाहर मत जाओ, तो बाहर जाता है! उससे कहो, फलां चीज मत छुओ, तो छूकर दिखलाता है कि मेरी भी आत्मा है। मैं भी हूं। आप ही नहीं हैं।
इसलिए आज अमेरिका या फ्रांस में या इंगलैंड में लोग कहते हैं, एक बच्चे की बजाय एक टेलीविजन सेट खरीद लेना बेहतर। टेलीविजन सेट! जब चाहो बटन दबाओ, चले; बंद करो, बंद हो जाए। आन-आफ होता है।
व्यक्ति आन-आफ नहीं होता। उसको आप नहीं कर सकते आन-आफ। एक छोटे-से बच्चे को मां दबा-दबाकर सुला रही है; आफ करना चाह रही है। वे आन हो-हो जा रहे हैं! उठ-उठ आ रहे हैं! वे कह रहे हैं कि नहीं, अभी नहीं सोना है। छोटा-सा बच्चा भी इनकार करता है कि उसके साथ वस्तु जैसा व्यवहार न किया जाए। उसके भीतर परमात्मा है।
व्यक्ति से प्रेम करने में डर लगता है। क्योंकि व्यक्ति स्वतंत्रता मांगेगा। वस्तुओं से प्रेम करना बड़ा सुविधापूर्ण है; स्वतंत्रता नहीं मांगते। तिजोरी में बंद किया; ताला डाला; आराम से सो रहे हैं। रुपए तिजोरी में बंद हैं। न भागते, न निकलते; न विद्रोह करते, न बगावत करते; न कहते कि आज इरादा नहीं है चलने का हमारा, आज नहीं चलेंगे! नहीं; जब चाहो, तब हाजिर होते हैं; जैसा चाहो, वैसा हाजिर होते हैं। वस्तुएं गुलाम हो जाती हैं, इसलिए हम वस्तुओं को चाहते हैं।
जो आदमी भी दूसरे की स्वतंत्रता नहीं चाहता, वह आदमी व्यक्ति को प्रेम नहीं कर पाएगा। और जो व्यक्ति को प्रेम नहीं कर पाएगा, वह भगवत्प्रेम के झरोखे पर ही नहीं पहुंचा, तो भगवत्प्रेम के आकाश में तो उतरने का उपाय नहीं है।
भगवत्प्रेम का अर्थ है, सारा जगत एक व्यक्तित्व है, दि होल एक्झिस्टेंस इ.ज पर्सनल। भगवत्प्रेम का अर्थ है, जगत नहीं है, भगवान है। इसका मतलब समझते हैं? अस्तित्व नहीं है, भगवान है। क्या मतलब हुआ इसका? इसका मतलब हुआ कि हम पूरे अस्तित्व को व्यक्तित्व दे रहे हैं। हम पूरे अस्तित्व को कह रहे हैं कि तू भी है; हम तुझसे बात भी कर सकते हैं।
इसलिए भक्त--भक्त का अर्थ है, जगत को जिसने व्यक्तित्व दिया। भक्त का अर्थ है, जगत को जिसने भगवान कहा। भक्त का अर्थ है, ऐसा प्रेम से भरा हुआ हृदय, जो इस पूरे अस्तित्व को एक व्यक्ति की तरह व्यवहार करता है। सुबह उठता है, तो सूरज को हाथ जोड़कर नमस्कार करता है। सूरज को नमस्कार नासमझ नहीं कर रहे हैं। हालांकि बहुत-से नासमझ कर रहे हैं। लेकिन जिन्होंने शुरू किया था, वे नासमझ नहीं थे।

सूरज को नमस्कार उस आदमी ने किया था, जिसने सारे अस्तित्व को व्यक्तित्व दे दिया था। फिर सूरज का भी व्यक्तित्व था। तो हमने कहा, सूर्य देवता है; रथ पर सवार है; घोड़ों पर जुता हुआ है; दौड़ता है आकाश में। सुबह होता, जागता; सांझ होता, अस्त होता। ये बातें वैज्ञानिक नहीं हैं; ये बातें धार्मिक हैं। ये बातें पदार्थगत नहीं हैं; ये बातें आत्मगत हैं।
नदियों को नमस्कार किया; व्यक्तित्व दे दिया। वृक्षों को नमस्कार किया; व्यक्तित्व दे दिया। सारे जगत को व्यक्तित्व दे दिया। कहा कि तुममें भी व्यक्तित्व है। आज भी आप कभी किसी पीपल के पास नमस्कार करके गुजर जाते हैं। लेकिन आपने ख्याल नहीं किया होगा कि जो आदमी, आदमियों को वस्तु जैसा व्यवहार करता है, उसका पीपल को नमस्कार करना एकदम सरासर झूठ है। पीपल को तो वही नमस्कार कर सकता है, जो जानता है कि पीपल भी व्यक्ति है, वह भी परमात्मा का हिस्सा है; उसके पत्ते-पत्ते में भी उसी की छाप है। कंकड़-कंकड़ में भी उसी की पहचान है। जगह-जगह वही है अनेक-अनेक रूपों में। चेहरे होंगे भिन्न; वह जो भीतर छिपा है, भिन्न नहीं है। आंखें होंगी अनेक, लेकिन जो झांकता है उनसे, वह एक है। हाथ होंगे अनंत, लेकिन जो स्पर्श करता है उनसे, वह वही है।
गदर के समय, म्यूटिनी के समय, अठारह सौ सत्तावन में, एक मौन संन्यासी,
जो पंद्रह वर्ष से मौन था। नग्न संन्यासी। रात गुजर रहा था। चांदनी रात थी। चांद था आकाश में। वह नाच रहा था। धन्यवाद दे रहा था चांद को। उसे पता नहीं था कि उसकी मौत करीब है।
नाचते हुए नग्न वह निकला नदी की तरफ। बीच में अंग्रेज फौज का पड़ाव था। फौजियों ने समझा कि यह कोई जासूस मालूम पड़ता है। तरकीब निकाली है इसने कि नग्न होकर गीत गाता हुआ फौजी पड़ाव में से गुजर रहा है। उन्होंने उसे पकड़ लिया। और जब उससे पूछताछ की और वह नहीं बोला, तब शक और भी पक्का हो गया कि वह जासूस है। बोलता क्यों नहीं? हंसता है, मुस्कुराता है, नाचता है, बोलता क्यों नहीं?
मैंने कहा, गीत गाता हुआ, वाणी से नहीं। ऐसे भी गीत हैं, जो प्राणों से गाए जाते हैं। ऐसे भी गीत हैं, जो शून्य में उठते और शून्य में ही खो जाते हैं। वह तो मौन था, शब्द से तो चुप था। पर गीत गाता हुआ, नाचता हुआ, अपने समग्र अस्तित्व से पूर्णिमा के चांद को धन्यवाद देता हुआ!
सिपाहियों ने कहा कि बोलता क्यों नहीं है? मुस्कुराता है। आंखें कहती हैं। गाता है। नाचता है। बोलता क्यों नहीं है? बेईमान है। जासूस है! उन्होंने भाला उसकी छाती में भोंक दिया।
उस संन्यासी ने संकल्प लिया हुआ था कि एक ही शब्द बोलूंगा--आखिर, अंतिम, मृत्यु के द्वार पर। इस जगत से पार होते हुए धन्यवाद का एक शब्द इस पार बोलकर विदा हो जाऊंगा।
कठिन पड़ा होगा उसको कि क्या शब्द बोले! मुश्किल पड़ा होगा! एक ही वाक्य बोलना है--अंतिम!
छाती में घुस गया भाला। खून के फव्वारे बरसने लगे। वह जो नाचता था हृदय, मरने के करीब पहुंच गया। उस संन्यासी ने कहा, तत्वमसि श्वेतकेतु! उपनिषद का महावाक्य। उसने कहा, श्वेतकेतु, तू भी वही है। दैट आर्ट दाऊ। तू भी वही है।
नहीं समझे होंगे वे अंग्रेज सिपाही। लेकिन उसने उस सिपाही से कहा, तू
भी वही है--तत्वमसि! उस अंग्रेज सिपाही से, जिसने उसकी छाती में भोंका भाला, उससे उसने कहा, तू भी वही है।
इस खिड़की में से भी वह उसी को देख पाया। इस भाला भोंकती हुई खिड़की में
से भी उसी का दर्शन हुआ। भगवत्प्रेम को उपलब्ध हुआ होगा, तभी ऐसा हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता है।
भगवत्प्रेम का अर्थ है, सारा जगत व्यक्ति है। व्यक्तित्व है जगत के पास अपना, उससे बात की जा सकती है। इसलिए भक्त बोल लेता है उससे।
मीरा पागल मालूम पड़ती है दूसरों को, क्योंकि वह बातें कर रही है कृष्ण से। हमें पागल मालूम पड़ेगी, क्योंकि हमारे लिए तो वस्तुओं के अतिरिक्त जगत में कुछ भी नहीं है। व्यक्ति भी नहीं हैं, तो परम व्यक्ति तो होगा

कैसे? लेकिन मीरा बातें कर रही है उससे! सूरदास उसका हाथ पकड़कर चल रहे हैं! आदान-प्रदान हो रहा है। डायलाग है। चर्चा होती है। प्रश्न-उत्तर हो जाते हैं। पूछा जाता है, प्रतिसंवाद हो जाता है। व्यक्ति!
जब जीसस सूली पर लटके और उन्होंने ऊपर आंख उठाकर कहा कि हे प्रभु, माफ
कर देना इन सबको, क्योंकि इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं; तब यह आकाश से नहीं कहा होगा। आकाश से कोई बोलता है? यह आकाश में उड़ते पक्षियों से नहीं कहा होगा। पक्षियों से कोई बोलता है? भीड़ खड़ी थी नीचे, उसने भी आकाश की तरफ देखा होगा; लेकिन आकाश में चलती हुई सफेद बदलियों के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं पड़ा होगा। नीला आकाश--खाली और शून्य। हंसे होंगे मन में कि पागल है। लेकिन जीसस के लिए सारा जगत प्रभु है। कह दिया, क्षमा कर देना इन्हें, क्योंकि इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं।
भगवत्प्रेम हो, तो व्यक्ति और परम-व्यक्ति के बीच चर्चा हो पाती है, संवाद हो पाता है, आदान-प्रदान हो पाता है। और उससे मधुर संवाद, उससे मीठा लेन-देन, उससे प्रेमपूर्ण पत्र-व्यवहार और कोई भी नहीं है। प्रार्थना उसका नाम है। भगवत्प्रेम में वह घटित होती है।
तो कृष्ण कहते हैं, संशयमुक्त, भगवत्प्रेम से भरा हुआ व्यक्ति इस लोक में भी आनंद को उपलब्ध होता है, परलोक में भी। संशय से भरा हुआ, भगवत्प्रेम से रिक्त, इस लोक में भी दुख पाता है, उस लोक में भी।
दुख हमारा अपना अर्जन है, हमारी अपनी अर्निंग है। हमारा अपना अर्जित
है दुख। दुख पाना हमारी नियति नहीं, हमारी भूल है। दुख पाने के लिए हमारे अतिरिक्त और कोई उत्तरदायी नहीं है, और कोई रिस्पांसिबल नहीं है। दुखी हैं, तो कारण है कि संशय को जगह देते हैं। दुखी हैं, तो कारण है कि व्यक्ति को खोजा नहीं; परम व्यक्ति की तरफ गए नहीं।
आनंदित जो होता है, उसके ऊपर परमात्मा कोई विशेष कृपा नहीं करता है।
वह केवल उपयोग कर लेता है जीवन के अवसर का और प्रभु के प्रसाद से भर जाता है।
गड्ढे हैं। वर्षा होती है, तो गड्ढों में पानी भर जाता है और झीलें बन जाती हैं। पर्वत के शिखरों पर भी वर्षा होती है, लेकिन पर्वत के शिखरों पर झील नहीं बनती। पानी नीचे बहकर गड्ढों में पहुंचकर झील बन जाती है। पर्वत शिखरों पर भी वर्षा होती है, लेकिन वे पहले से ही भरे हुए हैं, उनमें जगह नहीं है कि पानी भर जाए। झीलों पर वर्षा होती है, तो भर जाता है। झीलें खाली हैं, इसलिए भर जाता है।
जो व्यक्ति संशय से भरा है, भगवत्प्रेम से खाली है, उसके पास संशय का पहाड़ होता है। ध्यान रखें, बीमारियां अकेली नहीं आतीं; बीमारियां सदा समूह में आती हैं। बीमारियां भीड़ में आती हैं। ऐसा नहीं होता है कि किसी आदमी में एक संशय मिल जाए। जब संशय होता है, तो अनेक संशय होते हैं। संशय भी भीड़ में आते हैं, एक नहीं आता। स्वास्थ्य अकेला आता है, बीमारियां भीड़ में आती हैं। श्रद्धा अकेली आती है, संशय बहुवचन में आते हैं।
संशय से भरा हुआ आदमी पहाड़ बन जाता है संशय का। उस पर भी प्रभु का प्रसाद बरसता है, लेकिन भर नहीं पाता। संशयमुक्त झील बन जाता है--गड्ढा, खाली, शून्य--प्रभु के प्रसाद को ग्रहण करने के लिए गर्भ बन जाता है। स्वीकार कर लेता है।
इसलिए ध्यान रखें, निरंतर भक्तों ने अगर भगवान को प्रेमी की तरह माना,
तो उसका कारण है। अगर भक्त इस सीमा तक चले गए कि अपने को स्त्रैण भी मान लिया और प्रभु को पति भी मान लिया, तो उसका भी कारण है। कारण है। और वह कारण है, गड्ढा बनना है, ग्राहक बनना है, रिसेप्टिव बनना है। स्त्री ग्राहक है, रिसेप्टिव है; गर्भ बनती है; स्वीकार करती है। नए को अपने भीतर जन्म देती है, बढ़ाती है। अगर भक्तों को ऐसा लगा कि वे प्रेमिकाएं बन जाएं प्रभु की, तो उसका कारण है। इसीलिए कि वे गड्ढे बन जाएं, प्रभु उनमें भर जाए।
लेकिन जो अहंकार के शिखर हैं, वे खाली रह जाते हैं। और जो विनम्रता के गड्ढे हैं, वे भर जाते हैं।
प्रभु का प्रसाद प्रतिपल बरस रहा है। उसके प्रसाद की उपलब्धि आनंद है, उसके प्रसाद से वंचित रह जाना संताप है, दुख है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।। 41।।
हे धनंजय, समत्वबुद्धिरूप योग द्वारा भगवत अर्पण कर दिए हैं संपूर्ण कर्म जिसने और ज्ञान द्वारा नष्ट हो गए हैं सब संशय जिसके, ऐसे परमात्मपरायण पुरुष को
कर्म नहीं बांधते हैं।

संशयरहित जो हो गया, कर्म जिसने अपने समर्पित कर दिए प्रभु को, बेशर्त दान है जिसका स्वयं का समग्र को; अपनी तरफ जो शून्य हो रहा; कह दिया प्रभु को पूर्ण जिसने; ऐसे पुरुष को--समर्पित, शून्य हुए, विनम्र, निःसंशय, भगवत्प्रेम से भरे हुए--ऐसे पुरुष को कर्म नहीं बांधते हैं।
कृष्ण बार-बार अर्जुन को हजार-हजार मार्गों से कह रहे हैं कि अर्जुन,
तू वह राज समझ ले, जिससे कर्म करते हुए भी बंधन नहीं बनता है।
समर्पण कर दिए जिसने सब कर्म प्रभु को, उसे बंधन नहीं होता है। फिर बंधेगा, तो प्रभु; खुलेगा, तो प्रभु। अपनी तरफ से उसने सारा बोझ उसे दे दिया है।
समर्पण ही लेकिन कठिनाई है। अहंकार बाधा है। अहंकार कहता है, मैं हूं। समर्पण कहेगा, तू है। अहंकार कहता है, मैं सब कुछ। समर्पण कहता है, मैं कुछ भी नहीं। और अहंकार इतना चालाक है, इतने सूक्ष्म हैं मार्ग उसके, इतनी महीन हैं तरकीबें उसकी; इतने होशियार, इतने गणित का खेल है उसका, कि जब अहंकार कहता है, मैं कुछ भी नहीं, तब भी वह कहता है, मैं कुछ हूं! कुछ भी नहीं हूं। मैं कुछ हूं। ना-कुछ होने में भी अहंकार खड़ा हो जाता है। समर्पण अति कठिन है।
रूमी ने एक छोटा-सा गीत लिखा है, वह इस सूत्र को समझाने को कहूं। रूमी
ने लिखा है कि प्रेमी अपनी प्रेयसी के द्वार पर गया। खटखटाया द्वार। जैसा कि प्रेमियों का मन आमतौर से होता है, अपेक्षाओं से भरा, ऐसा ही उसका भी भरा है। खटखटाया द्वार; आवाज नहीं दी। क्योंकि सोचा उस प्रेमी ने, मेरी खटखटाहट को भी तो पहचान लेगी प्रेयसी! मेरी खटखटाहट नहीं पहचानेगी क्या? मेरे पदचाप नहीं पहचानेगी क्या? प्रतीक्षा की होगी मेरी, तो जरूर मेरे पदचापों की आहट भी मिल गई होगी। और चाहा होगा मुझे, तो मेरे खटखटाने का ढंग भी तो मेरा है! नहीं दी आवाज; सिर्फ द्वार खटखटाया।
भीतर से पूछा उसकी प्रेयसी ने, कौन है द्वार पर! प्रेमी को दुख हुआ। प्रेमी को सुख मुश्किल से ही होता है। अपेक्षाएं होती हैं बहुत, उसी अनुपात में दुख भी बरसते हैं। दुख हुआ, पहचानी नहीं! प्रेम का सुख ही रिकग्नीशन है, कोई पहचाने! आना था दौड़ते हुए; खोलना था द्वार। कहना था कि पदचाप पड़े थे राह पर, तभी जान गई कि तुम आते हो। खटखटाया था द्वार, तभी खुल जाने थे द्वार और कहना था, तुम! आवाज तुम्हारी पहचानती हूं। लेकिन भीतर से पूछती है, कौन हो?
दुखी हुआ मन। कहा, मैं हूं। पहचाना नहीं? प्रेयसी ने कहा, जब तक तुम हो, तब तक प्रेम के द्वार खुलना भी चाहें, तो खुलेंगे कैसे? जाओ। जब बचो न, तब आ जाना।
प्रेम के द्वार अहंकार के लिए कभी नहीं खुलते हैं। हालांकि अहंकार प्रेम के द्वार निरंतर ठकठकाता है और खुलवाना चाहता है। अहंकार प्रेम के ऊपर सदा बलात्कार है। सदा! तोड़ देना चाहता है। खुलते तो कभी नहीं, तोड़ देता है। लेकिन तोड़े गए द्वार, खुले हुए द्वार नहीं हैं। और तोड़े गए द्वार को जिसने खुला हुआ द्वार समझा, वह पागल है। क्योंकि जब द्वार खुलते हैं प्रेम के अपने से, तब उसका रस, उसका रहस्य और ही है। और जब तोड़े जाते हैं, तब उसका विरस, उसकी अर्थहीनता और ही है।
सोचा प्रेमी ने कि ठीक ही है बात। जब तक मैं हूं, तब तक प्रेम कैसा? क्योंकि प्रेम तो तभी है, जब तू ही है, मैं नहीं हूं। लौट गया।

पुराना प्रेमी रहा होगा; ओल्ड फैशन्ड! नए ढंग का होता, बहुत उपद्रव मचाता। कहानी पुरानी है, रूमी ने लिखी है। और फिर उस तरह के प्रेमी ने लिखी, जो प्रभु के द्वार की बात कर रहा है।
लौट गया प्रेमी। वर्ष आए और गए। वर्षाएं आईं और बीतीं; पतझड़ हुए और चुके; वसंत खिले और मिटे। न मालूम कितने चांद पूरे हुए और अस्त हुए। न मालूम कितना समय बीता! निश्चय ही अहंकार को मिटाना लंबी यात्रा है; आर्डूअस है; तपश्चर्यापूर्ण है।
फिर वर्ष, वर्ष, वर्ष बीतने के बाद पता भी न रहा कि कितना समय बीता; वह प्रेमी वापस आया। द्वार खटखटाए। फिर वही आवाज भीतर से, कौन हो? लेकिन अब प्रेमी ने कहा, तू ही है। और रूमी कहता है, द्वार खुल गए। तू ही है--द्वार खुल गए। समर्पण हुआ। छोड़ा मैं को। प्रेम के द्वार खुले।
लेकिन शायद इस पृथ्वी के लिए तो ठीक है कि जिसे हम प्रेम करें, उसके सामने मैं को छोड़ दें और तू को मान लें, तो द्वार खुल जाएं। लेकिन रूमी तो अब कहीं खोजे से मिलेगा नहीं, अन्यथा उससे कहता कि अगर मेरा वश चले, तो कविता अभी भी पूरी नहीं करूंगा। कहलाता फिर भी मैं कि प्रेमी ने कहा, तू है, तो प्रेयसी ने कहा, लौट जाओ फिर, और कुछ दिन प्रतीक्षा करो। क्योंकि जब तक तू का ख्याल है, तब तक मैं कहीं न कहीं छिपा ही होगा। तू का ख्याल भी मैं के कहीं छिपे होने की खबर है; अन्यथा तू का भी पता नहीं चलता। अगर मैं होता, तो लौटा देता।
समर्पण अहंकार का पूर्ण विसर्जन है, इतना पूर्ण कि तू कहने की भी जगह
न रह जाए। तू कहने की भी जगह न रह जाए। लेकिन दूर की हुई यह बात। पहले तो हम तू कहने के योग्य बनें; मैं को छोड़ें! फिर हम तू से भी मुक्त हों; तू को भी छोड़ें। तब, कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, फिर कर्म का कोई भी बंधन नहीं है। फिर कर्म नहीं बांधते हैं। फिर व्यक्ति मुक्त ही है। फिर उसकी मुक्ति को कुछ भी नहीं छू पाता। फिर उसकी मुक्ति अग्नि जैसी है। कुछ भी फेंको कचरा उसमें, जलकर राख हो जाता है।
अग्नि निर्दोष, क्वांरी है वर्जिन बच जाती है पीछे। अग्नि सदा ही क्वांरी बच जाती है। अग्नि क्वांरी ही बच जाती है, उसका क्वांरापन अदभुत है। कुछ भी डालो उसमें, हो जाता है राख; अग्नि क्वांरी की क्वांरी वापस खड़ी हो जाती है--शुद्ध, ताजी।
जो व्यक्ति अहंकार को छोड़ देता, वह अग्नि की तरह क्वांरा और ताजा और शुद्ध हो जाता है। प्रभु के साथ मिलकर एक, इतना शुद्ध हो जाता है, फिर कुछ भी उसे अशुद्ध नहीं कर पाता है। इतना स्वतंत्र हो जाता है कि फिर कोई बंधन उसे बांध नहीं पाते हैं। इतना मुक्त कि फिर कोई कारागृह उसके लिए कारागृह नहीं बन सकता है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। 42।।
इससे, हे भरतवंशी अर्जुन, तू समत्वबुद्धिरूप योग में स्थित हो और अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय में स्थित, इस अपने संशय को ज्ञानरूप तलवार द्वारा छेदन करके युद्ध के लिए खड़ा हो।

इसलिए हे अर्जुन, तू समत्वबुद्धिरूप योग को पाकर, संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काट डाल।
दो बातें हैं। एक, समत्वबुद्धिरूपी योग को, समता को उपलब्ध हो। समता
का अर्थ है, निष्पक्षता को। समता का अर्थ है, तटस्थता को। समता का अर्थ है, दोनों के पार, दुई के पार, द्वैत के पार। समत्वबुद्धिरूपी योग को!
हमारी बुद्धि सदा असम्यक है। असम्यक बुद्धि का अर्थ है कि कभी इस तरफ डोल जाती है, कभी उस तरफ डोल जाती है। हमारी चाल ऐसी है, जैसे कभी नट को रस्सी पर चलते हुए देखा हो। देखा है, नट को रस्सी पर चलते हुए? हाथ में एक डंडा लिए रहता है। कभी बाएं डोलता, कभी दाएं डोलता। कभी बाएं, कभी दाएं। रस्सी पर चलता है; बाएं-दाएं डोलता है।

यह भी ख्याल में ले लेना कि जब वह बाएं डोल रहा है, तो उसका मतलब आप जानते हैं कि बाएं क्यों डोलता है? बाएं इसलिए डोलता है कि जब दाएं गिरने का डर पैदा होता है, तब वह बाएं डोलता है बैलेंस करने को। जब दाएं गिरने का डर पैदा होता है कि कहीं दाएं गिर न जाऊं, तो वह तत्काल बाएं डोलता है। जब बाएं गिरने का डर पैदा होता है, तब वह दाएं डोलता है।
हमारी बुद्धि नट जैसी है। रस्सी पर बारीक, कभी धर्म की तरफ डोलते, कभी अधर्म की तरफ; कभी हिंसा की तरफ, कभी अहिंसा की तरफ; कभी पदार्थ की तरफ, कभी परमात्मा की तरफ। लेकिन डोलते ही रहते हैं, समत्व को उपलब्ध नहीं होते। ऐसे नहीं, जैसे कोई व्यक्ति जमीन पर खड़ा है; डोलता ही नहीं--स्ट्रेट, सीधा। जैसे दीए की लौ ऐसे कमरे में हो, जहां के सब द्वार बंद हैं। हवा का कोई झोंका भीतर नहीं आता। ज्योति सीधी है; जरा भी कंपती नहीं; खड़ी है!
बुद्धि जब ऐसी खड़ी होती है, अन-डोली, अन-वेवरिंग, कंपनमुक्त, मध्य में;
न बाएं, न दाएं; न इस पक्ष में, न उस पक्ष में; जब मध्य में, समत्व को, समता को, समाधि को बुद्धि उपलब्ध होती है, तब वह समत्व बुद्धि को उपलब्ध हुआ व्यक्ति ही इस जगत के जाल, झंझट, समस्याओं की गांठ को काट पाता है। अन्यथा वह खुद ही उलझ जाता है, अपने ही कंपन से उलझ जाता है। हम अपने ही कंपन से उलझते चले जाते हैं, चौबीस घंटे।
कभी अपने मन की इस असम्यक, असम अवस्था की परीक्षा करना, निरीक्षण करना। देखना सुबह से एक दिन सांझ तक कि मन कैसा डोलता है! कितना डोलता है! सुना है मैंने, एक चर्च में सुबह रविवार के दिन लोग प्रार्थना, प्रवचन
को इकट्ठे हुए हैं। एक आदमी घर से तय करके आया कि सौ रुपए आज दान करने हैं। सौ रुपए लेकर आया। लेकिन जब वह सीढ़ियां चढ़ रहा था, उसने कहा, एकदम पूरे सौ रुपए! लौटा। चर्च के पास की किसी दूकान से रुपए भंजाकर लाया। सोचा पचास ही काफी होंगे देने। फिर अपनी हैसियत भी सौ देने की कहां है? अभी थी, पंद्रह मिनट पहले!
भीतर पहुंचा। ख्याल आया, पचास न भी दूं, कौन मुझे मजबूर कर रहा है? अपने ही हाथ से फंसता हूं। सोचा, दस से भी काम चल जाएगा। बड़ी राहत मिली। बोझ टल गया। अभी कुछ दिया नहीं था। सब भीतर चलता था। अभी किसी को पता भी नहीं था कि वह क्या कर रहा है। लेकिन दस देने हैं, इसलिए आगे की बेंच पर जाकर बैठा।
स्वभावतः, जिसके खीसे में दस का नोट है, वह पीछे कैसे बैठे! आगे बैठा। फिर दस देने भी हैं। तो अगर थोड़ा पीछे बैठे और जब बर्तन घूमे पैसा डालने का, तो कौन देखेगा? पादरी कम से कम देख तो ले कि दस का नोट डाला है!
फिर पादरी का प्रवचन शुरू हुआ। आधा प्रवचन चला था, तब उसे ख्याल आया
कि पांच डालने से भी काम चल सकता है। प्रवचन पचहत्तर प्रतिशत पूरा होने आया, तब उसे ख्याल आया कि इस तरह के भावावेश में पड़ना नहीं चाहिए। हजार और काम हैं। एक रुपया डालूं। कौन कहता है कि ज्यादा डालो? एक रुपया भी क्या कम है!
जब बर्तन घूमने लगा, तब उसके मन में आया कि कई लोग नहीं डाल रहे हैं; अगर मैं भी न डालूं, तो हर्ज क्या है? जब बर्तन उसके सामने आया, उसने चारों तरफ देखा कि कोई भी नहीं देख रहा है, तो सोचा कि एक रुपया उठा लूं!
ऐसा मन है। ऐसा ही है, पूरे समय। खोजेंगे अपने मन को, तो ऐसा ही पाएंगे,
नट रस्सी पर जितना कंपता है, उससे भी ज्यादा कंपता हुआ। ऐसे मन से संशय नहीं कट सकता। संशय तो कटेगा, समत्व होगा तब; समता होगी तब; बीच में कोई ठहरेगा तब; संतुलन होगा तब; बैलेंस होगा तब--तब कटेगा।
तो कृष्ण कहते हैं, समत्व बुद्धि को उपलब्ध हो और ज्ञान की तलवार से संशय को काट डाल अर्जुन!
ज्ञान सच में ही तलवार है। शायद वैसी कोई और तलवार नहीं है। क्योंकि जितना सूक्ष्म ज्ञान काटता है, उतना सूक्ष्म और कोई तलवार नहीं काटती। अभी वैज्ञानिकों ने कुछ किरणें खोज निकाली हैं, जो बड़ी शीघ्रता से, तेजी से काटती हैं; डायमंड को भी काटती हैं। लेकिन फिर भी ज्ञान की तलवार की बारीकी ही और है। संशय को वे भी नहीं काट सकते; डायमंड को काट सकते होंगे।

संशय बहुत अदभुत है। गहरे से गहरे और बारीक से बारीक अस्त्र को भी बेकार छोड़ जाता है; कटता ही नहीं। सिर्फ ज्ञान से कटता है।
ज्ञान का अर्थ? ज्ञान का अर्थ है, समत्वबुद्धिरूपी योग। वही, जब बुद्धि सम होती है, तो ज्ञान का जन्म होता है। बुद्धि की समता का बिंदु ज्ञान के जन्म का क्षण है। जहां बुद्धि संतुलित होती है, वहीं ज्ञान जन्म जाता है। और जहां बुद्धि असंतुलित होती है, वहीं अज्ञान जन्म जाता है। जितनी असंतुलित बुद्धि, उतना घना अज्ञान। जितनी संतुलित बुद्धि, उतना गहरा ज्ञान। पूर्ण संतुलित बुद्धि, पूर्ण ज्ञान। पूर्ण असंतुलित बुद्धि, पूर्ण अज्ञान। पूर्ण असंतुलित बुद्धि होती है विक्षिप्त की, पागल की, इसलिए उसके संशय का कोई हिसाब ही नहीं है। पागल, विक्षिप्त का संशय पूर्ण है। अपने पर ही संशय करता है पागल।
अभी-अभी अमेरिका से एक युवती मेरे पास आई। छः साल पागलखाने में थी। उसने अपने हाथ की कलाइयां मुझे बताईं, दोनों कलाइयां बिल्कुल कटी हुई। कई बार काटा उसने खुद ही। वही उसका पागलपन था, कलाई काट डालना! रेजर मिल जाए, कैंची मिल जाए, छुरा मिल जाए, सब्जी काटने की छुरी मिल जाए, कुछ भी मिल जाए, बस कलाई काटती।
मैंने उससे पूछा कि तुझे कलाई काटने का यह ख्याल क्यों चढ़ा था? उसने कहा, ख्याल! मुझे ऐसा लगता था कि अगर मेरे हाथ कहीं मेरी गर्दन दबा दें और मैं मर जाऊं। तो इनको काट डालूं। अपने ही हाथ पर संशय कि कहीं गर्दन न दबा दें!
विक्षिप्त इस स्थिति में पहुंच जाता है कि वह दूसरे पर संशय करता है, ऐसा नहीं; अपने पर भी संशय करता है। अपने पर भी!
विक्षिप्त का संशय पूर्ण हो जाता है, ज्ञान शून्य हो जाता है। विमुक्त का संशय शून्य हो जाता है, ज्ञान पूर्ण हो जाता है।
दो छोर हैं, विक्षिप्त और विमुक्त। और हम बीच में हैं, नट की तरह डोलते हुए। हम अपनी रस्सी पकड़े हुए हैं, कभी विक्षिप्त की तरफ डोलते, कभी विमुक्त की तरफ।
सुबह मंदिर जाते हैं, तो देखें चाल। फिर लौटकर बाजार जाते हैं, तब देखें अपनी चाल। सुबह जब मंदिर का घंटा बजाते हैं प्रभु को कहने को कि आ गया, मैं आया, तब देखें भाव। फिर उसी मंदिर से लौटकर भागते हैं दुकान की तरफ, तब देखें आंखें। तब बड़ी हैरानी होती है कि एक आदमी, इतना फर्क! वही बैठा है गंगा के किनारे तिलक-चंदन लगाए, पूजा-पाठ, प्रार्थना! वही बैठा है दफ्तर में; वही बैठा है नेता की कुर्सी पर, तब उसकी स्थिति!
एक ही आदमी सुबह से सांझ तक कितने चेहरे बदल लेता है! चेहरे बदलते हैं इसलिए कि भीतर बुद्धि बदल जाती है। करीब-करीब पारे की तरह है हमारी बुद्धि। वह जो थर्मामीटर में पारा होता है--ऊपर-नीचे, ऊपर-नीचे। लेकिन वह बेचारा तापमान की वजह से होता है! हम? हम तापमान की वजह से नहीं होते। हम अपनी ही वजह से होते हैं। क्योंकि हमारे पास ही कोई कृष्ण खड़ा है, कोई बुद्ध, कोई महावीर। उसका पारा जरा भी यहां-वहां नहीं होता; ठहरा ही रहता है; समत्व को उपलब्ध हो जाता है।
ज्ञान की तलवार से संशय को काट डाल अर्जुन। और मजा ऐसा है कि अगर अर्जुन इतना भी तय कर ले कि हां, मैं काटने को राजी हूं, तो कट गया। क्योंकि संशय तय नहीं करने देता। इतना भी तय कर ले... ।
रामकृष्ण के जीवन का एक संस्मरण कहूं, तो ख्याल में आ जाए। फिर आखिरी सूत्र ही है यह।
रामकृष्ण ने बहुत दिन तक काली की मूर्ति की, प्रतिमा की पूजा की।
स्वभावतः, भक्त थे, भाव से भरे थे। प्रतिमा बाहर की फिर गैर-जरूरी हो गई।
आंख बंद करते, प्रतिमा खड़ी हो जाती। पर रामकृष्ण का मन आकार से न भरा। जब तक निराकार न मिले, तब तक मन भरता भी नहीं है। फिर आकार वह देवता का ही क्यों न हो, आकार ही है। सीमा फिर वह देवी की ही क्यों न हो, सीमा ही है।
निराकार के पहले तृप्ति नहीं है। फिर भटकाव शुरू हो गया।

एक साधु रुका था आश्रम में, दक्षिणेश्वर के मंदिर में, तोतापुरी। रामकृष्ण ने कहा, मुझे निराकार समाधि चाहिए। तोतापुरी ने कहा, तू ज्ञान की तलवार उठा और भीतर जब काली की प्रतिमा आए, तो दो टुकड़े कर दे।
रामकृष्ण ने कहा, क्या कहते हैं? काली की प्रतिमा और दो टुकड़े, और मैं? ऐसे अपशकुन के शब्द न बोलो। तोतापुरी ने कहा, जब तक वह प्रतिमा न गिरे आकार की, तब तक निराकार का प्रवेश नहीं है। तो रामकृष्ण बहुत रोए। काली से जाकर बहुत माफी मांगी कि यह आदमी कैसी बातें कहता है!
लेकिन फिर बात तो ठीक थी। फिर राजी हुए। पर बैठें; आंख बंद करें; आंसू बहने लगें; आनंदमग्न हो जाएं। आंखें खोलें; तोतापुरी कहें कि काटा? तो वे कहें, भूल ही गए! फिर कहने लगे, तलवार! तलवार कहां से लाऊं? वहां भीतर तलवार कहां? तोतापुरी ने कहा, ज्ञानरूपी तलवार। फिर वे कहने लगे कि बहुत खोजता हूं, कोई तलवार तो मिलती नहीं। तलवार कहां से लाऊं?
तो तोतापुरी ने कहा, यह मूर्ति कहां से ले आए हो? मूर्ति लाते वक्त अड़चन न हुई? भीतर मूर्ति ले गए पत्थर की और तलवार लाते वक्त अड़चन होती है? बैठो! एक कांच का टुकड़ा ले आया तोतापुरी और उसने कहा कि आंख तुम बंद करो। और जब मैं देखूंगा तुम्हारी आंख में आनंद के आंसू आए, समझूंगा कि आ गई मूर्ति, तभी मैं तुम्हारे माथे को कांच से काट दूंगा। जब मैं काटूं, तब तुम हिम्मत से उठाकर तलवार मार देना मूर्ति में। जैसे मूर्ति ले आए हो, ऐसे तलवार भी ले आओ।
रोते रहे। तोतापुरी ने काट दिया माथा। हिम्मत की, तलवार उठाई, मूर्ति
को मारा। मूर्ति दो टुकड़े होकर गिर गई भीतर। रामकृष्ण गहरी समाधि में खो गए। तीन दिन तक उठ न सके। लौटकर कहा, दि लास्ट बैरियर--आखिरी बाधा गिर गई। और मैं भी कैसा पागल कि कहता था, तलवार कहां से लाऊं? मारने की हिम्मत नहीं थी, इसलिए कहता था कि कहां से लाऊं? मालूम तो था कि जब मूर्ति भीतर ला सकते हैं, तो तलवार क्यों नहीं ला सकते?
कृष्ण भी जो कह रहे हैं अर्जुन से कि तू उठाकर तलवार काट डाल संशय को, अगर अर्जुन कहे कि अच्छा मैं राजी काटने को, तो कट जाएगा संशय। सिर्फ इतना कहे कि मैं राजी। वह संशय वही तो नहीं कहने देता कि मैं राजी। वह फिर नए सवाल उठाएगा। गीता अभी आगे और भी चलेगी। वह नए सवाल उठाएगा।
आदमी का मन उत्तर से बचता है, सवालों को गढ़ता है। आदमी का मन, फिर से कहता हूं, उत्तर से बचता है, सवालों को गढ़ता है। आमतौर से जो लोग सवाल पूछते हैं, वे इसलिए नहीं कि उत्तर मिल जाए, बल्कि इसलिए कि कहीं उत्तर न मिल जाए; इसलिए सवाल पूछे चले जाओ!
अर्जुन पूछता चला जाएगा सवाल पर सवाल। उत्तर कृष्ण हजार बार दे चुके हैं इसके पहले भी, हजार बार देंगे इसके बाद भी; लेकिन अर्जुन सवाल उठाए चला जाता है। इसके पहले कि कृष्ण का उत्तर हो, वह नए सवाल खड़े कर देता है। सवाल पुराने ही हैं; नया कोई सवाल नहीं है। सवाल वही है; शब्द बदल जाते हैं; आकार बदल जाता है। कृष्ण के उत्तर भी नए नहीं हैं। उत्तर एक ही है। अगर अर्जुन कहता, मैं डाल-डाल, तो कृष्ण कहते, मैं पात-पात। ठीक, तुम उधर सवाल खड़ा करते हो, हम इधर जवाब देते हैं!
लेकिन अथक है कृष्ण का परिश्रम! इतना परिश्रम बहुत कम गुरुओं ने लिया है। अथक है परिश्रम! उत्तर मिल जाए अर्जुन को, इसकी चेष्टा सतत कृष्ण करते चले जाते हैं।
जो व्यक्ति भी ज्ञान की तलवार उठा ले--समत्व बुद्धि की--संशय को काट डाले, लास्ट बैरियर, संशय के साथ ही आखिरी बाधा गिर जाती है और वे द्वार खुल जाते हैं जो कि परमात्मा के हैं, आनंद के, मुक्ति के, परम शांति के, परम निर्वाण के हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, सवाल मेरे पास बिल्कुल नहीं हैं, लेकिन फिर भी एक बड़ा सवाल है। इस अध्याय के आखिर में लिखा गया है, ओम तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

ज्ञान-कर्म-संन्यास योग इस अध्याय का नाम दिया गया है; अतः ज्ञान-कर्म-संन्यास योग पर कुछ कहें।

ज्ञान-कर्म-संन्यास, ऐसा इस अध्याय का नाम है। एक ओर ज्ञान, दूसरी ओर संन्यास, बीच में कर्म। ज्ञान-कर्म-संन्यास योग। ज्ञान हो, कर्म न खोए, और संन्यास फलित हो।
ज्ञान से कर्म हो, तो संन्यास फलित होता है। ज्ञानपूर्ण कर्म हो, तो अकर्म बन जाता है। ज्ञानपूर्ण भोग हो, तो त्याग बन जाता है। ज्ञानपूर्ण अंधकार भी प्रभात है।
ये तीन शब्द बड़े सूचक हैं।
एक ओर ज्ञान; प्रारंभ ज्ञान से; स्रोत ज्ञान से। बहे कर्म में, संसार में। पहुंचे संन्यास तक, परमात्मा में। वर्तुल पूरा हो जाए।
ज्ञान जब कर्म बनता है, तभी संन्यास है। अगर ज्ञान पलायन बन जाए, तो फिर संन्यास नहीं है। ज्ञान अगर पलायन बन जाए, तो संन्यास नहीं है। ऐसा कहें, ज्ञान-पलायन-संन्यास योग; तो इससे विपरीत होगा।
आमतौर से संन्यासी यही करता है, ज्ञान-पलायन-संन्यास। कृष्ण उलटा अर्जुन को कह रहे हैं। उलटा इसलिए, संन्यासी से उलटा। वह तो सीधा ही कह रहे हैं। संन्यासी उलटा है। पलायन नहीं, एस्केपिज्म नहीं।
कृष्ण का मूल संदेश इस अध्याय में अपलायन का, नो एस्केपिज्म; भागो मत, बदलो। पीठ मत फेरो, मुकाबला करो। अस्तित्व का सामना करो; भागो मत। लेकिन अज्ञानी भी करते हैं सामना, तब वे लिप्त हो जाते हैं, और भोगी हो जाते हैं। ज्ञानी भी करते हैं सामना; लेकिन तब वे लिप्त नहीं होते और संन्यास को उपलब्ध हो जाते हैं।
ज्ञानपूर्ण हो जाए कर्म, वही संन्यास है। जो भी करें, समत्व बुद्धि से हो, प्रभु समर्पित हो, संन्यास है। अज्ञान से किया गया अकर्म भी संन्यास नहीं, ज्ञान से किया गया कर्म भी संन्यास है। अज्ञान में कोई कुछ भी न करे, तो भी पाप लगता है। ज्ञान में सब कुछ करे, तो भी पाप नहीं है।
अदभुत है संदेश!
इन नौ दिनों में इस ज्ञान-कर्म-संन्यास योग की बहुत-बहुत पहलुओं से मैंने बात आपसे की है, इस आशा में कि जल्दी, शीघ्र ही आए वह क्षण कि उठे ज्ञान की तलवार, टूट जाए संशय; खुले द्वार प्रभु का, उस उपलब्धि का, जिसे पाए बिना हमारे पास कुछ भी नहीं है; जिसे पाए बिना हाथ अर्थी पर खाली लटके होंगे। रिक्त, व्यर्थ, खोकर प्रभु के सामने खड़े होंगे, तो मुंह दिखाने का भी उपाय न होगा।
नहीं; जा सकें संपदा के साथ प्रभु के समक्ष; चढ़ा सकें नैवेद्य जीवन में जो पाया है उसका, इस आशा में ये बातें कहीं।
मेरे प्रिय आत्मन्, इन बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे प्रभु को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।
चले न जाएंगे, दस मिनट और बैठे रहें अपनी ही जगह। संन्यासी मंच पर आ जाएंगे सब, धुन चलेगी। इसीलिए आज संन्यासियों का आनंद आपमें बंट सके, तो उन्हें रोका है। वे रुकने को राजी न थे, उनके आनंद में कमी पड़ेगी, बैठकर ही उन्हें धुन में उतरना पड़ेगा। लेकिन बैठकर ही नाचें, नाचना आंतरिक है, बैठकर ही डोलें, बैठकर ही खो जाएं। संन्यासी मंच पर होंगे, वे धुन करेंगे, आप भी साथ दें। यह अंतिम समापन आप सबकी धुन के साथ समाप्त हो। कोई उठे न, इतनी देर बैठे रहे, अपनी जगह बैठ जाएं। कोई उठे न, ताली दें, स्वर में स्वर दें, डोलें, आंखें बंद कर लें। देखने की फिक्र छोड़ दें, ताकि आप भीतर देख सकें। एक दस मिनट धुन चलेगी फिर हम विदा हो जाएंगे।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
पहला प्रवचन

संन्यास की घोषणा

श्रीमद्भगवद्गीता
अथ पंचमोऽध्यायः
अर्जुन उवाच
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। 1।।
हे कृष्ण! आप कर्मों के संन्यास की और फिर निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं, इसलिए इन दोनों में एक जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक होवे,
उसको मेरे लिए कहिए।

मनुष्य का मन निरंतर ही आज्ञा चाहता है। मनुष्य का मन, कोई और तय कर दे, ऐसी आकांक्षा से भरा होता है। निर्णय करना संताप है; निर्णय करने में चिंता है; स्वयं ही विचार करना तपश्चर्या है। मनुष्य का मन चाहता है, निर्णय भी न करना पड़े। कुछ भी न करना पड़े। सत्य ऐसे ही उपलब्ध हो जाए, बिना थोड़े-से भी श्रम, विचार, तपश्चर्या के।
अर्जुन कृष्ण से कहता है, आपने कर्म-संन्यास की बात कही, आपने निष्काम कर्म की बात कही। लेकिन मुझे तो ऐसा सुनिश्चित मार्ग बता दें, जिसमें मैं आश्वस्त होकर चल सकूं।
इस संबंध में बहुत-सी बातें समझ लेने जैसी हैं। कृष्ण ने इस बीच जो भी बातें कहीं, वे अर्जुन को आदेश की तरह नहीं हैं; अर्जुन के सामने समस्याओं को खोलकर रख देने की कोशिश की है। जीवन के सारे रास्तों पर प्रकाश डालने की कोशिश की है। अंतिम निर्णय अर्जुन के हाथ में ही छोड़ा है कि वह निर्णय करे, संकल्प करे, निष्पत्ति अर्जुन स्वयं ले।
इस जगत में जो श्रेष्ठतम गुरु हैं, वे सदा ही शिष्यों को निष्पत्ति देने से बचते हैं, कनक्लूजंस देने से बचते हैं। क्योंकि जो निष्पत्ति दी हुई होती है, उधार, बासी, मृत हो जाती है। जो निष्पत्ति, जो निष्कर्ष स्वयं लिया होता है, उसकी जड़ें स्वयं के प्राणों में होती हैं। जिस नतीजे पर व्यक्ति अपने ही चिंतन और खोज और शोध से पहुंचता है, वह निर्णय उसके व्यक्तित्व को रूपांतरित करने की क्षमता रखता है।
जो निर्णय बाहर से आते हैं--उधार, विजातीय--उनकी कोई जड़ें व्यक्ति की स्वयं की आत्मा में नहीं हो पाती हैं। उन पर कोई अनुसरण भी करे, तो भी वे आचरण की सतह ही निर्मित करती हैं, आत्मा नहीं बन पाती हैं। जैसे बाजार से फूल लाकर हमने गुलदस्ते में लगा लिए हों, ऐसे ही दूसरे से मिले निर्णय भी गुलदस्ते के फूल बन जाते हैं; लेकिन जमीन में उगे हुए फूल नहीं हैं-- प्राणवान, जीवित, जमीन से रस को लेते हुए, सूरज से रोशनी को पीते हुए, हवाओं में नाचते हुए--जिंदा नहीं हैं।
लेकिन आदमी का मन इतने आलस्य से भरा है, इतने तमस से, इतनी लिथार्जी से
कि भोजन भी यदि किया हुआ मिल जाए, तो हम करना पसंद नहीं करेंगे। भोजन भी पचाया हुआ हो, तो पचाने को हम राजी नहीं होंगे। लेकिन जिस दिन भोजन पचाया हुआ मिल जाएगा, उस दिन हम प्लास्टिक के आदमी होंगे, जिंदा आदमी नहीं। जिंदगी की सारी गहरी प्रक्रिया स्वयं ही पचाने में निर्भर है। वह चाहे भोजन को पचाकर खून बनाना हो और चाहे जीवन के अनुभव को पचाकर ज्ञान की निष्पत्ति लेना हो। वह चाहे जगत में चलना हो और चाहे परमात्मा में प्रवेश हो। जिस बात को हम आत्मसात करते हैं, जो हमारे ही श्रम से फलित होती है, वही हमारी है। शेष सब उधार है और ठीक समय पर बेकार सिद्ध होता है, काम में नहीं आता है।
लेकिन अर्जुन की आकांक्षा वही है जो सभी आदमियों की आकांक्षा है। वह कहता है, मुझे सुनिश्चित कह दें; उलझाव में न डालें। ऐसी सब बातें न कहें,

जिनमें मुझे सोचना पड़े और तय करना पड़े। आप ही मुझे कह दें कि क्या ठीक है। जो बिल्कुल ठीक हो, मुझे कह दें।
कृष्ण को भी आसान है यही कि जो बिल्कुल ठीक है, वही कह दें। लेकिन जो आदमी ऐसी मांग कर रहा हो कि जो बिल्कुल ठीक है, वही मुझे कह दें, उससे बिल्कुल ठीक बात कहनी खतरनाक है। क्योंकि ठीक बात को पाकर वह सदा के लिए ही बचकाना, जुवेनाइल रह जाएगा। वह कभी मैच्योर और प्रौढ़ नहीं हो सकता है। इसलिए वे गुरु खतरनाक हैं, जिनके नीचे शिष्य सदा ही बचकाने, अप्रौढ़ रह जाते हों। वे गुरु खतरनाक हैं, जो निष्कर्ष दे देते हों। ठीक गुरु तो समस्याएं देता है। ठीक गुरु तो प्रश्न देता है। निश्चित ही ऐसे प्रश्न, ऐसी समस्याएं, ऐसे उलझाव, जिनसे गुजरकर अगर व्यक्ति चलने का साहस और हिम्मत जुटाए, तो निष्कर्ष पर जरूर ही पहुंच सकता है।
लेकिन बंधे-बंधाए, रेडिमेड उत्तर इस पृथ्वी पर किसी भी श्रेष्ठतम व्यक्ति ने कभी भी नहीं दिए हैं।
अर्जुन कहता है, मुझे तो तैयार--आप जानते ही हैं, वही कह दें, जो ठीक है। मुझे उलझाएं मत। मैं वैसे ही बड़े संभ्रम में, वैसे ही बड़े संशय में हूं, वैसे ही बहुत अनिश्चय में डूबा हुआ हूं। इतनी बातें न करें कि मैं और उलझ जाऊं। मैं कनफ्यूज्ड हूं।
अर्जुन जानता है कि उलझा हुआ है। लेकिन उलझे हुए मन को सुलझा हुआ सत्य
भी मिल जाए, तो उसे भी उलझा लेता है। सुंदरतम व्यक्ति को भी हम विकृत आईने के सामने खड़ा कर दें, तो आईना तत्काल उसे विकृत कर लेता है। श्रेष्ठतम चित्र को भी हम, आंखें कमजोर हों, बिगड़ गई हों, ऐसे आदमी के सामने रख दें, तो भी आंखें उस श्रेष्ठतम चित्र को कुरूप कर लेती हैं।
निश्चित ही कृष्ण सीधे निष्कर्ष की बात कह सकते हैं, लेकिन उलझा हुआ अर्जुन समझ कैसे पाएगा! अर्जुन उलझा हो, तो सुलझी हुई बात को भी उलझा लेगा। इसलिए कृष्ण को प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अर्जुन का उलझाव हल हो, तो ही सुलझे हुए सत्यों को सुनने की क्षमता आ सकती है।
हम वही समझ पाते हैं, जो हम समझ सकते हैं। हम अपने से ज्यादा कभी कुछ नहीं समझ पाते हैं। और हम वही अर्थ निकाल लेते हैं, जो हमारे भीतर पड़ा है। हम वही अर्थ नहीं निकाल पाते हैं, जो कृष्ण जैसा व्यक्ति बोलता है। अर्जुन के साथ कृष्ण की वार्ता सीधी नहीं है, बहुत उलझी और पगडंडियों
से भरी है, बहुत गोल चक्रों में घूमती हुई है। इस सारी गीता की चर्चा से कृष्ण अर्जुन को सुलझाने की कोशिश कर रहे हैं। सुलझ जाए, तो वे उसे निष्कर्ष की बात भी कह सकें। लेकिन अर्जुन सुलझने की पीड़ा से भी नहीं गुजरना चाहता है।
सुलझने की पीड़ा भी प्रसव की पीड़ा है। स्वयं का बहुत कुछ काटना, गिराना, हटाना पड़ेगा। सबसे बड़ी कठिनाई तो यही होती है कि मैं उलझा हुआ हूं, इसे इसकी पूरी नग्नता में जानना पड़ेगा। और कोई भी व्यक्ति मानने को राजी नहीं होता कि कनफ्यूज्ड है। कोई भी व्यक्ति मानने को राजी नहीं होता कि उसका मन उलझा हुआ है। सभी लोग मानकर चलते हैं कि वे सुलझे हुए हैं। अपने को धोखा देने की कुशलता भी अदभुत है। हर आदमी यह मानकर चलता है कि मैं सुलझा हुआ हूं।
इस दुनिया की सारी उलझनें निन्यानबे प्रतिशत कम हो जाएं, अगर लोगों
को यह पता चल जाए कि हम उलझे हुए हैं। लेकिन लोग बिल्कुल आश्वस्त हैं। लोग बिल्कुल आत्मविश्वास से भरे हैं कि हम सुलझे हुए लोग हैं। और सारी दुनिया इतने उलझाव में है, जिसका कोई हिसाब नहीं है। ये उलझाव कहां से आते हैं? हम सब सुलझे हुए लोग! ये इतने उलझाव इस जमीन पर पैदा कैसे होते हैं? यदि हम सब सुलझे हुए हैं, तो जगत एक शांत और एक आनंद से भरी हुई जगह होनी चाहिए-- स्वर्ग; लेकिन जगत है एक नर्क।
हम सब उलझे हुए हैं। और उलझाव और भी भयंकर है, क्योंकि प्रत्येक उलझा हुआ आदमी समझता है कि मैं सुलझा हुआ हूं। हर पागल समझता है कि पागल नहीं है। पागलखानों में ऐसा आदमी मिलना मुश्किल है, जो समझता हो कि मैं पागल हूं। पागलखाने के बाहर मिल भी जाए; पागलखाने के भीतर नहीं मिल सकता।

तो अर्जुन को यह भी दिखा देना जरूरी है कि वह कितना उलझा हुआ है। कृष्ण की अब तक की बातचीत से अर्जुन को एक बात तो कम से कम दिखाई पड़नी शुरू हो गई कि वह उलझा हुआ है। शुरू में जब उसने बोलना शुरू किया था, तो ऐसा लगता था कि वह जानकर बोल रहा है। धर्म और शास्त्र और नीति और परंपरा, इन सब की बात कर रहा था। ऐसा लगता था कि वह जानकर बोल रहा है। अज्ञानी आदमी जितने जानते हुए बोलते मालूम पड़ते हैं, उतने ज्ञानी कभी बोलते हुए मालूम नहीं पड़ते हैं।
बर्ट्रेंड रसेल ने कहीं कहा है कि जितना कम जानने वाला आदमी हो, उतनी दृढ़ता से बोल सकता है; उतना डाग्मैटिक हो सकता है। जितना जानने वाला आदमी हो, उतना हेजीटेट करता है; झिझकता है। क्योंकि जितना ज्यादा जानता है, उतना ही पाता है कि जीवन अति दुरूह है, गहन पहेली है। जितना जानता है, उतना ही पाता है कि जानना आसान नहीं है। और जितना जानता है, उतना ही पाता है कि जानने को अनंत शेष है।
अज्ञानी बिल्कुल दृढ़ता से बोल सकता है। इतना कम जानता है कि अज्ञान
का भी उसे पता नहीं है।
अर्जुन ने जब प्रश्न उठाने शुरू किए थे, तो वह ऐसे आदमी के प्रश्न थे, जिसे उत्तर पहले से ही पता हैं। अगर कृष्ण से पूछता था, तो इसलिए कि तुम भी शायद जो मैं कहता हूं वही कहोगे, गवाही मेरी बनोगे!
कृष्ण से अर्जुन ने गवाही, विटनेस ही मांगी थी, कि आप भी कह दें कि जो मैं कहता हूं, ठीक है। कि यह युद्ध व्यर्थ है। कि यह धन और राज्य के लिए संघर्ष गलत है। कि सब छोड़कर चले जाना धर्म की पुरानी व्यवस्था है। कि हिंसा पाप है; कि अहिंसा में, समस्त हिंसा का त्याग करके चले जाने में गौरव है।
अर्जुन ने जब ये बातें कही थीं, तो आश्वस्त भाव से कही थीं कि कृष्ण भी समर्थन करेंगे। लेकिन कृष्ण ने उनका समर्थन नहीं किया। और अब अर्जुन इस स्थिति में नहीं है कि कह सके कि मैं जानता हूं। इतना उसे साफ हुआ है कि मैं उलझा हुआ हूं। मुझे कुछ पता नहीं है।
यह बहुत बड़ी घटना है। ज्ञान के मार्ग पर पहला चरण है। ज्ञान के मार्ग
पर अज्ञान की दृढ़ता पिघल जाए, तो बहुत बड़ी उपलब्धि है। अज्ञान की मजबूती ढीली पड़ जाए, अज्ञान का आश्वासन डिग जाए--बड़ी उपलब्धि है।
अर्जुन इस जगह कृष्ण के द्वारा लाया जा सका है, जहां वह कहता है, मुझे कुछ पता नहीं है। यह बात कीमत की है। लेकिन तत्काल वह कहता है कि जो आपको पता हो, वह सीधा आप मुझे कह दें।
इतना तो अच्छा हुआ कि वह कहता है, मुझे कुछ पता नहीं है। लेकिन अब यह दूसरा खतरा उसके साथ जुड़ा है। अभी वह दूसरे से तैयार ज्ञान को पाने की आकांक्षा रखता है। वह भी उसकी भ्रांति है। कोई छोटा-मोटा गुरु होता कृष्ण की जगह, तो बहुत प्रसन्न होता और कहता कि यह जो मैं जानता हूं, तुझे दिए देता हूं। तेरा काम है कुल इतना कि मान ले चुपचाप और आचरण कर।
लेकिन कृष्ण उन मनोवैज्ञानिक गुरुओं में से एक हैं, जो जब तक कि पात्र पूरा तैयार न हो, जब तक कि क्षमता अर्जुन की इस योग्य न हो कि वह सत्य को समझने और सत्य को प्रतिध्वनित करने की स्थिति में आ जाए, तब तक वे अभी और कुछ बातें करेंगे, और भी मार्गों की।
अर्जुन के नीचे से उसके सारे आश्वासन की भूमि हट जानी चाहिए। और अर्जुन के मन से यह ख्याल भी हट जाना चाहिए कि कोई दूसरा दे सकेगा। इतनी तैयारी होनी चाहिए कि मैं खोजूं, श्रम करूं; सत्य को मुफ्त में पाने की आकांक्षा न करूं।
इसलिए कृष्ण ने वे सब मार्ग, जिनसे मनुष्य सरलता को, सत्य को, सुलझाव
को उपलब्ध हुआ है, उन सबको धीरे-धीरे खोलकर अर्जुन के सामने रखने का तय किया है। पर उसके मन की बात ठीक से आप समझ लेना, वह हम सबके मन की बात है। हम भी चाहेंगे कि इतनी लंबी चर्चा की क्या जरूरत है? कृष्ण भलीभांति जानते हैं कि सत्य क्या है। अर्जुन की स्थिति भी भलीभांति जानते हैं। अर्जुन के लिए क्या हितकर है, यह भी भलीभांति जानते हैं। तो दे ही क्यों नहीं देते!

कल ही मेरे पास कोई एक व्यक्ति आए और उन्होंने कहा कि मुझे कुछ सोचना- समझना नहीं है। मुझे तो आप बता दें। आप जानते हैं, तो मुझे बता दें। मैं उसे करने में लग जाऊं।
देखने में लगेगा कि बड़ी श्रद्धा की बात है। लेकिन जिस व्यक्ति को स्वयं श्रम करने की जरा भी श्रद्धा नहीं है, उसकी श्रद्धा बड़ी धोखे की है और झूठी है। जो इंचभर भी अंधेरे में, अनजान में, असुरक्षा में खोजने के लिए तैयार नहीं है; जो अज्ञात में नाव लेकर यात्रा पर निकलने के लिए साहस नहीं जुटा पाता; जो सदा दूसरे का सहारा खोजकर आंख बंद कर लेने के लिए आतुर है-- ऐसे आदमी की यात्रा सत्य की तरफ कभी भी नहीं हो सकती है। निश्चित ही ऐसे व्यक्ति को भी गुरु मिल जाएंगे, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का शोषण करने की बड़ी सुविधा है। उनका शोषण चल रहा है।
जो भी मांग की जाएगी, उसको सप्लाई करने वाले लोग सदा ही उपलब्ध हो जाते हैं। अगर आप मांगेंगे अंधापन, तो आपकी आंखें फोड़ने वाले लोग भी मिल जाएंगे। आप मांगेंगे बहरापन, तो आप पर कृपा करके आपको बहरा कर देने वाले लोग भी मिल जाएंगे। आप चाहेंगे कि मैं तो किसी का हाथ पकड़कर चलूं और अपना कोई भी श्रम न लगाना पड़े, तो ऐसे लोग भी आपको मिल जाएंगे, जो कहेंगे, यह रहा हाथ; पकड़ो और चलो!
लेकिन ध्यान रखना, जो भी ऐसा व्यक्ति आपको मिल जाएगा, वह व्यक्ति आपके ऊपर करुणा नहीं कर रहा है। क्योंकि करुणा सदा ही आपके पैर को सबल बनाती है, आपकी आंखों को मजबूत करती है, आपके बल को जगाती है। वह व्यक्ति आपका शोषण कर रहा है। और शोषण केवल वही कर सकता है, जो नहीं जानता है। इसलिए अंधे अक्सर अंधों को नेतृत्व करने के लिए मिल जाते हैं। सच तो यह है कि अंधों के बड़े समाज में आंख वाले आदमी को नेतृत्व करना अति कठिन है। अंधों का समाज, सजातीय अंधे को ही अपने आगे कर लेने को सदा उत्सुक रहता है।
कृष्ण वैसे गुरु नहीं हैं। वे अर्जुन को कुछ भी देने के लिए राजी नहीं हैं, जिसको पाने की क्षमता स्वयं अर्जुन में न हो। और अर्जुन में अगर उसे पा लेने की क्षमता हो, तो कृष्ण उसे देने को तैयार हो सकते हैं। फिर कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर एक व्यक्ति पाने के लिए तैयार है श्रम करने को, तो उसे सत्य की किरण दी भी जा सकती है।
यह बहुत मजे की और विरोधाभासी बात मालूम पड़ेगी। जिनकी क्षमता नहीं है, उन्हें दिया नहीं जा सकेगा; यद्यपि जिनकी क्षमता नहीं है, वे सदा भिखारी की तरह मांगते हैं। और जिनकी क्षमता है, उन्हें सदा दिया जा सकता है; यद्यपि जिनकी क्षमता है, वे कभी भी भिखारियों की तरह मांगते नहीं हैं। अब यह बड़ी उलटी बात है।
सत्य के द्वार पर जो भिखारी की तरह खड़ा होगा, वह खाली हाथ वापस लौटेगा। सत्य के द्वार पर तो जो सम्राट की तरह खड़ा होता है, उसे ही सत्य मिलता है।
अभी भी कृष्ण भिखारी को पा रहे हैं अर्जुन में। इस वचन में भी अर्जुन
ने अपने भिखारी होने की ही घोषणा की है।

श्री भगवानुवाच
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। 2।।
श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे अर्जुन! कर्मों का संन्यास और निष्काम कर्मयोग, ये दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं। परंतु दोनों में कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्मयोग, साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है।

कृष्ण ने कहा, कर्म-संन्यास और निष्काम कर्म दोनों ही परम श्रेय को उपलब्ध कराने के मार्ग हैं। पहले इसे समझें। फिर दूसरी बात उन्होंने कही, लेकिन फिर भी सुगम होने से निष्काम कर्म साधक के लिए ज्यादा कल्याणकर है। कर्म-संन्यास का अर्थ है, जो करने का जगत है, जहां हम सुबह से सांझ, सांझ से सुबह करने में संलग्न हैं। कर रहे हैं, बिना इस बात को ठीक से जाने

कि क्यों? किस लिए? बिना ठीक से समझे कि इस सब करने की निष्पत्ति और फल क्या है! बिना इस बात को विचारे कि अतीत में जो किया है, उससे हम कहां पहुंचे हैं!
समस्त कर्मों का रूप पानी पर खींची गई रेखाओं जैसा है। खींचते हैं, तब लगता है कि कुछ खिंचा। खींचते हैं, तब लगता है कि कुछ बना। लेकिन अंगुली आगे भी नहीं बढ़ पाती कि रेखाएं मिट जाती हैं, विदा हो जाती हैं।
जो भी हम कर रहे हैं, वह अस्तित्व में पानी पर खींची गई रेखाओं से ज्यादा कुछ भी निर्मित नहीं कर पाता है। हमसे पहले भी अरबों लोग इस पृथ्वी पर रहे हैं। जिस जगह आप बैठे हैं, एक-एक आदमी जहां बैठा है, वहां कम से कम एक-एक आदमी की जगह में दस-दस आदमियों की कब्र बन चुकी है। वे सारे लोग ही विराट कर्म में लीन रहे हैं। उन सबके कर्मों का इकट्ठा जोड़ क्या है?
यदि आज आदमी का समाज समाप्त हो जाए, तो आकाश के तारों को कुछ भी खबर न रहेगी कि कितना विराट कर्म चला है! वृक्षों को कुछ भी पता न होगा कि कितना विराट कर्म उनके नीचे चला है! पक्षी हमारे कर्म के इतिहास की कोई कथा न कहेंगे। सूरज उगता रहेगा। सागर की लहरें तटों से टकराती रहेंगी।
आदमी समाप्त हो जाए, तो कोई दस लाख वर्ष की लंबी यात्रा में आदमी ने जो कर्म किए हैं, उनका जोड़ क्या होगा? जैसे एक आदमी समाप्त होता है, तो उसके कर्मों का सब जोड़ तिरोहित हो जाता है; ऐसे ही सारी मनुष्यता भी समाप्त हो जाए, तो सब कर्मों का जोड़ तिरोहित हो जाएगा। उसकी कहीं रेखा भी छूटकर न रह जाएगी।
कर्म-संन्यास इस समझ का नाम है कि कर्म पानी पर खींची गई रेखाओं की भांति हैं। तो व्यर्थ क्यों खींचो! जो मिट ही जाता है, उसे खींचो ही क्यों! जो टिकता ही नहीं, उसे बनाने के पागलपन में क्यों पड़ो! जो अंततः स्वप्न सिद्ध होता है, उसे सत्य मानकर क्षणभर भी क्यों जीओ!
रात सपना देखते हैं। सपने में तो सपना बहुत सच होता है, सच से भी ज्यादा सच होता है। कभी पता नहीं चलता। और बड़े मजे की बात है कि जिंदगी में कई बार, करोड़ बार सपना देखा है। रोज सुबह पाया कि गलत है। और हर रात फिर भूल जाता है मन। कितने सपने देखे रोज! आज रात जब लौटकर फिर सपना देखेंगे, तो सपने में मन को याद न रहेगा कि पहले भी सपने देखे थे और सुबह पाया था कि सपने हैं। आज रात फिर सपना देखेंगे इसी भ्रम में कि सच है। आदमी का मन कुछ सीखता है या नहीं सीखता है? इतने सपने देखने के बाद भी रोज जब दुबारा फिर सपना आता है, तो फिर सच मालूम होता है।
कर्म-संन्यास कहता है कि कितने जन्मों में कितने कर्म किए, लेकिन हर बार भूल जाते हैं! फिर नया जन्म, फिर नया सपना शुरू हो जाता है। जैसे कल का सपना आज के सपने में जरा भी बाधा नहीं डालता और याद नहीं दिलाता, कोई रिमेंबरेंस पैदा नहीं होती, कोई स्मृति नहीं आती कि कल भी सपना देखा था, पाया सुबह कि गलत है। आज फिर सपना देख रहा हूं, उसी भ्रम में, जैसा कल, जैसा परसों, जैसा जीवनभर देखा है। इसका मतलब हुआ, मन ने कुछ सीखा नहीं।
हैरानी होती है। इतने सपने देखकर भी मन इतना-सा भी नहीं सीख पाता कि सपने सच नहीं हैं। जब आता है सपना, सब सच हो जाता है।
कर्म-संन्यास कहता है, हर जन्म इसी तरह विस्मरण हो जाता है। जन्म को छोड़ दें, आज तक जिंदगी में जो किया है, उससे क्या हो गया है? कुछ भी नहीं हुआ। पानी पर खींची रेखाओं की तरह सब मिट गया है। लेकिन आज भी रेखाएं खींचे चले जा रहे हैं; कल भी रेखाएं खींचेंगे। मरते वक्त पाएंगे, सब खो गया। नए जन्म में फिर नई रेखाएं खींचना शुरू कर देंगे।
कर्म-संन्यास कर्म के सत्य के प्रति इस होश का नाम है कि कर्म से कुछ
भी फलित नहीं होता है। कर्म एक खेल से ज्यादा नहीं है। तो जो प्रौढ़ हो जाएगा इस समझ से, वह कर्म के बाहर हो जाएगा। छोड़ देगा कर्म को। छोड़ देगा, कहना शायद ठीक नहीं है, कर्म छूट जाएंगे उससे।
जैसे बच्चा बड़ा हो गया। अब वह कंकड़-पत्थरों से नहीं खेलता। अब वह रेत
पर मकान नहीं बनाता। अब वह गुड्डे और गुड़ियों का विवाह नहीं रचाता। अब उससे कोई कहता है कि पहले तो तुम बहुत रस लेते थे, अब तुमने क्यों छोड़ दिए गुड़ियों के खेल? क्यों तुम रेत पर मकान नहीं बनाते? क्यों तुम रंगीन कंकड़-

284

पत्थर इकट्ठे नहीं करते? तो वह बच्चा यह नहीं कहता कि मैंने छोड़ दिया। वह कहता है, अब मैं बड़ा हो गया; वह सब छूट गया!
कर्म-संन्यास कर्म का त्याग नहीं, कर्म के प्रति इस सत्य का अनुभव है
कि कर्म का जगत स्वप्न का जगत है। तब कर्म छूट जाता है।
कृष्ण कहते हैं, यह मार्ग भी श्रेयस्कर है। यह मार्ग भी मंगलदायी है।
इस मार्ग से भी परम अनुभूति तक पहुंचा जाता है। पर कृष्ण कहते हैं, कठिन है यह मार्ग। दूसरे मार्ग को कृष्ण कहते हैं, सरल है निष्काम कर्म।
निष्काम कर्म में कर्म के ऊपर आग्रह नहीं है। निष्काम कर्म में कर्म
के पीछे जो फलाकांक्षा है, उसको समझने का आग्रह है। कर्म-संन्यास में कर्म को समझने का आग्रह है कि कर्म ही व्यर्थ है। निष्काम कर्म में कर्म की जो फलाकांक्षा है, उसको समझने का आग्रह है कि फलाकांक्षा व्यर्थ है।
कृष्ण कहते हैं, कर्म चलता रहे, भेद नहीं पड़ता; फलाकांक्षा भर विसर्जित हो जाए। खेल चलता रहे; कोई हर्जा नहीं; लेकिन बच्चा यह जान ले कि खेल है। यह भी तभी जाना जा सकता है, जब फलाकांक्षा दुख के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लाती, इसकी प्रतीति हो जाए।
कर्म-संन्यास तब आता है, जब प्रतीति हो जाए कि कर्म स्वप्नवत है, ड्रीम लाइक है। निष्काम कर्म तब फलित होता है, जब ज्ञात हो जाए कि फलाकांक्षा दुख है।
लेकिन फलाकांक्षा होती सुख के लिए है। कोई आदमी दुख की आकांक्षा नहीं करता। आकांक्षा सभी सुख की करते हैं। और बड़े मजे की बात है कि जब मिलता है, तो सिर्फ दुख मिलता है--सभी को। आकांक्षा सदा सुख की, फल सदा दुख! दौड़ते हैं पाने को स्वर्ग, मंजिल आती है सदा नर्क की। सोचते हैं, लगेगा हाथ आनंद का अनुभव, हाथ सिर्फ दुख-स्वप्न, पीड़ा और संताप लगते हैं।
निष्काम कर्म तब फलित होता है, जब कोई फलाकांक्षा की इस ट्रिक, फलाकांक्षा के इस रहस्य को समझ लेता है कि फलाकांक्षा सदा भरोसा देती है सुख का, लेकिन जब भी हाथ में आता है पक्षी सुख का, तो दुख का सिद्ध होता है। लेकिन होशियारी है। होशियारी यह है कि जो हाथ में आ जाता है, फलाकांक्षा उससे हट जाती; और जो पक्षी हाथ में नहीं, उस पर लग जाती है। हाथ में सदा दुख होता, आकांक्षा सदा उन पक्षियों के साथ उड़ती रहती, जो हाथ में नहीं हैं। जब उनमें से कोई भी पक्षी हाथ में आता, तो दुख सिद्ध होता। लेकिन और पक्षी उड़ते रहते हैं आकाश में, आकांक्षा उनका पीछा करती रहती है।
इसलिए आकांक्षा की इस निरंतर स्टुपिडिटी, इस निरंतर मूढ़ता का कभी अनुभव नहीं हो पाता। हाथ में आए पक्षी को हम कभी नहीं सोचते कि कल इसे भी चाहा था। आज हम कुछ और चाहने लगते हैं।
जिंदगीभर आकांक्षाएं फलित होती हैं, पूरी होती हैं, लेकिन हम कभी नहीं सोचते कि जो चाहा, वह मिला? जो चाहते हैं, वह कभी नहीं मिलता है। जो नहीं चाहते हैं, वह सदा मिलता है। लेकिन जो नहीं चाहते हैं, जब वह मिल जाता है, तो हम उसके दुख को फिर किसी नई चाह के सपने में भुला देते हैं, फिर नए सपने में हम डूब जाते हैं।
निष्काम कर्म का रहस्य है, फलाकांक्षा की इस तरकीब को ठीक से देख लेना
कि मन सदा ही, जो नहीं है पास, उसको खोजता रहता है। और जो पास है, उसमें दुख भोगता रहता है। और कभी यह गणित नहीं बिठाया जाता कि कल यह भी मेरे पास नहीं था, तब मैंने इसमें सुख चाहा था। और आज जब मेरे पास है, तो मैं दुख भोग रहा हूं। वर्तमान सदा दुख, भविष्य सदा सुख बना रहता है।
जब तक ऐसा दिखाई पड़ेगा कि वर्तमान दुख है और भविष्य सुख है, तब तक निष्काम कर्म फलित नहीं हो सकता। निष्काम कर्म फलित होगा, जब यह वर्तमान और भविष्य की स्थिति बिल्कुल उलटी हो जाए। वर्तमान सुख बन जाए।
जैसे ही वर्तमान सुख बनता है, भविष्य की आकांक्षा तिरोहित हो जाती है। भविष्य की आकांक्षा, भविष्य में सुख था, इसीलिए थी। वर्तमान में दुख है, इसलिए भविष्य में सुख को हम प्रोजेक्ट करते हैं। आज दुख है, तो कल की कामना करते हैं कि कल सुख मिलेगा। कल के सुख की कामना में आज के दुख को झेलने में जरूर ही सुविधा बनती है। अगर कल भी सुख न हो, तो आज को गुजारना

मुश्किल हो जाए। जो लोग कारागृह में बंद हैं, वे कारागृह के बाहर जब मुक्त होंगे, उस खुले आकाश की आकांक्षा में कारागृह को बिता देते हैं।
मैंने तो सुना है कि एक कारागृह में एक नया कैदी आया। उसे तीस वर्ष की सजा हुई है। वह भीतर सींकचों के गया। एक कैदी और उस कमरे में बंद है। उसने उससे पूछा कि भाई, तुम्हारी सजा कितनी है? उसने कहा कि मैं तो काफी, दस वर्ष काट चुका। मुझे सिर्फ बीस वर्ष और रहना है। तो उसने कहा कि तुम दरवाजे के पास स्थान ले लो, मुझे दीवाल के पास, क्योंकि तुम्हें जल्दी जाना पड़ेगा। मैं तीस वर्ष रहूंगा; तुम्हें बीस वर्ष ही रहना है। उसने अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर सींकचों के पास लगा लिया। जल्दी उसका वक्त आने वाला है। बीस साल बाद वह खुले आकाश के नीचे पहुंच जाएगा! बीस साल बाद की वह मुक्ति की संभावना, बीस साल के कारागृह को भी गुजार देगी।
रोज हम कल के लिए टाल देते हैं। आज को झेलने में सुविधा तो बन जाती है, लेकिन इससे जीवन की पहेली हल नहीं होती। कल फिर यही हाथ लगता है। फिर कल हम परसों के लिए सोचने लगते हैं। रोज यही होता है। हमें रोज जिंदगी पोस्टपोन करनी पड़ती है, कल के लिए स्थगित कर देनी पड़ती है। वह कल कभी नहीं आता। अंत में मौत आती है और कल का सिलसिला टूट जाता है।
इसलिए तो हम मौत से डरते हैं। मौत से हम न डरें, मौत से डर का असली कारण
कल के सिलसिले का टूट जाना है। मौत कहती है कि आगे कल नहीं होगा, इसलिए मौत से इतना डर लगता है। क्योंकि हम जीए ही नहीं कभी, हम तो कल की आशा में जीए। और मौत कहती है, अब कल नहीं होगा। इसलिए मौत घबड़ाती है।
अन्यथा मौत में डर का कोई भी कारण नहीं है। क्योंकि पहली तो बात यह है
कि जिसे हम जानते नहीं, उससे डरने का कोई कारण नहीं है। कोई नहीं कह सकता कि मौत बुरी है। क्योंकि जिससे हम परिचित नहीं हैं, उसको बुरा कैसे कहें? कोई नहीं कह सकता है कि मौत दुख देती है, क्योंकि जिससे हम परिचित नहीं हैं, उसे हम दुख देने वाली कैसे कहें! अपरिचित के संबंध में कोई भी निर्णय तो कैसे लिया जा सकता है!
नहीं; लेकिन मौत से हम नहीं डरते। डरने का कारण बहुत और है। वह डर यह
है कि हमने जिंदगी सदा कल पर टाली। जीए आज नहीं; कहा, कल जी लेंगे। आज तो झेल लो दुख। कल सुख आएगा; सब ठीक हो जाएगा। आज है अंधेरा, कल सूरज निकलेगा। आज हैं कांटे, कल फूल खिलेंगे। आज घृणा और क्रोध है जिंदगी में, तो कल प्रेम की वर्षा होगी। लेकिन मौत एक ऐसी घड़ी ला देती है कि कल का सिलसिला टूट जाता है; आज ही हाथ में रह जाता है। तब हम तड़फड़ाते हैं। तब हम घबड़ाते हैं। मौत का डर आज के साथ जीने का डर है, और आज हम कभी जीए नहीं।
निष्काम कर्म की धारणा कहती है कि कल पर जो जीवन को टाल रहा है अर्थात
फल की आकांक्षा में जो जी रहा है, वह पागल है। कल कभी आता नहीं। जो है, आज है, अभी है। अभी को जीने की कला चाहिए। अभी को जीने की क्षमता चाहिए। अभी को जीने की कुशलता चाहिए।
कृष्ण तो उसी को योग कहते हैं--आज और अभी, हिअर एंड नाउ, इसी क्षण जीने
की जो क्षमता है--वही। लेकिन जिसे इस क्षण जीना है, उसे फल की दृष्टि छोड़ देनी चाहिए। इस क्षण तो कर्म है। फल? फल सदा भविष्य में है, कर्म सदा वर्तमान में है। करना अभी है, होना कल है। किया अभी जाएगा, फल कल होगा। फल कभी वर्तमान में नहीं है।
फल को छोड़ दें। लेकिन फल को हम तभी छोड़ सकते हैं, जब फल विषाक्त सिद्ध हो। फल अगर अमृत का मालूम पड़े, तो छोड़ नहीं सकते हैं। और फल अमृत का मालूम पड़ता है। यद्यपि किसी को अमृत का फल कभी मिलता नहीं। धोखा सिद्ध होता है। लेकिन मालूम पड़ता है। इस प्रतीति से कैसे छुटकारा हो सके?
इस प्रतीति से छुटकारे का एक ही मार्ग है कि अपने अतीत में जितने फलों
की आकांक्षा आपने की है, उन्हें फिर से पुनर्विचार कर लें। वे मिल गए आपको। जो पत्नी चाही थी, वह मिल गई; जो पति चाहा था, वह मिल गया। जो नौकरी चाही थी, वह मिल गई; जो मकान चाहा था, वह मिल गया। ऐसा आदमी तो खोजना मुश्किल है, जिसे ऐसा कुछ भी न मिला हो, जो उसने चाहा था; कुछ न कुछ तो मिल ही गया होगा। उतना अनुभव के लिए काफी है। लेकिन मिलकर क्या मिला?

एक मित्र हैं मेरे। बड़े उद्योगपति हैं। स्वभावतः, जैसा होना चाहिए, नींद नहीं आती है रात। मुझसे आकर एक दिन सुबह कहा कि न मुझे परमात्मा की तलाश है, न मुझे आत्मा से प्रयोजन है, न मैं कोई बड़ा मोक्ष और स्वर्ग चाहता हूं। मुझे सिर्फ नींद आ जाए, तो मैं आपका जीवनभर ऋणी रहूंगा। बस मुझे नींद का सूत्र मिल जाए। मैंने कहा, सच! नींद मिलने से सब मिल जाएगा? उन्होंने कहा, सब मिल जाएगा। मेरा जीवन बिल्कुल ही नारकीय हो गया है। जो उन्होंने कहा था, वह पास में पड़े टेप पर मैंने रिकार्ड कर लिया था। मैंने कहा कि फिर दुबारा और कुछ तो मांगने नहीं आ जाइएगा? उन्होंने कहा कि कभी नहीं। सिर्फ धन्यवाद देने आऊंगा। नींद भर आ जाए।
उन्हें ध्यान के कुछ प्रयोग करवाए। पंद्रह दिन बाद वे आए। कहने लगे, नींद तो आ गई, लेकिन और कुछ नहीं मिला! कहने लगे, नींद आ गई, लेकिन और कुछ नहीं मिला। मैंने उनका जो टेप किया हुआ था वक्तव्य, उन्हें सुनवाया। कहा कि आप कहते थे, नींद मिल जाए, तो सब कुछ मिल जाए! अब आप कहते हैं, नींद मिल गई, और कुछ नहीं मिला। धन्यवाद तो दूर, आप तो कुछ मेरा कसूर बता रहे हैं! मुझसे कोई गलती हुई?
चौंके! सुना अपना वक्तव्य, तो चौंके। और उन्होंने कहा कि जब नींद नहीं आती थी, तब ऐसा ही लगता था कि नींद मिल जाए, तो सब मिल जाए। और अब ऐसा लगता है। अब मैं क्या करूं! उन्होंने कहा, इसमें असत्य नहीं है। तब ऐसा ही लगता था कि नींद मिल जाए, तो सब मिल जाए। और अब ऐसा ही लगता है कि नींद मिल गई, तो क्या मिल गया! तो मैंने कहा, अब आपका क्या ख्याल है? अब आप क्या चाहते हैं? और मैं आपसे कहूंगा, अगर वह भी मिल गया, तो आप फिर यही तो नहीं कहेंगे? परमात्मा आसानी से मिलता नहीं। नहीं तो आप जाकर उससे कहें कि आप मिल गए, और तो कुछ नहीं मिला! अब क्या करें? वह आसानी से मिलता नहीं, इसलिए यह मौका आता नहीं। इस संसार में सब चीजें मिल जाती हैं, इसलिए दिक्कत है। असल में जो भी फल की आकांक्षा से जी रहा है, उसे परमात्मा भी मिल जाए,
तो कुछ भी नहीं मिलेगा, क्योंकि फल की आकांक्षा भ्रांत स्वप्न है। जो फल की आकांक्षा के बिना जी रहा है, उसे कुछ भी न मिले, तो भी सब मिला हुआ है। उसे नींद की झपकी भी लग जाए, तो परम आनंद है। उसे रोटी का एक टुकड़ा भी मिल जाए, तो अमृत है। परमात्मा तो दूर। परमात्मा मिल जाए, तब तो उसकी खुशी का, उसके आनंद का, उसके अनुग्रह का कोई ठिकाना ही नहीं है। लेकिन परमात्मा की छोटी-सी कृपा भी मिल जाए, तो भी उसका अनुग्रह अनंत है। और जो आकांक्षा में जी रहा है फल की, उसे परमात्मा भी मिल जाए, तो वह उदास खड़े होकर यही कहेगा कि ठीक है; आप मिल गए, लेकिन कुछ मिला नहीं!
फल की आकांक्षा खाली ही करती है, भरती नहीं। इसलिए जिस समाज में जितने
फल मिल जाएंगे, जितनी आकांक्षाएं तृप्त हो जाएंगी, उतनी एंप्टीनेस पैदा हो जाएगी। गरीब मुल्क कभी भी इतना खाली नहीं होता, जितना अमीर मुल्क खाली हो जाता है। गरीब आदमी कभी भी इतना मीनिंगलेस अनुभव नहीं करता, कि अर्थहीन है मेरी जिंदगी, बेकार है। रोज काम बना रहता है। कल कुछ पाने को है। अमीर आदमी को एकदम डिसइलूजनमेंट होता है। एकदम विभ्रम। सब टूट जाता है। जो चाहा था, सब मिल गया। अब एकदम से सारी चीज ठहर गई होती है। अब कहीं कोई गति नहीं मालूम होती है। कल, खतम हो गया। अमीर आदमी--उस आदमी को अमीर कह रहा हूं, जिसे सब मिल गया, जो उसने चाहा था--वह मरने पर पहुंच गया। अब उसके आगे मौत के सिवाय कुछ भी नहीं है। इसलिए दुनिया के जो यूटोपियंस हैं, जो कल्पनावादी हैं, जो कहते हैं, जमीन पर स्वर्ग ला देना है, अगर वे किसी दिन सफल हो गए, तो सारी मनुष्यता आत्महत्या कर लेगी। उसके बाद फिर जीने का कोई कारण नहीं रह जाएगा।
यह बड़े मजे की बात है कि गरीब और भूखे आदमी की जिंदगी में थोड़ा अर्थ मालूम पड़ता है। और न्यूयार्क में रहने वाला जो अरबपति है, उसकी जिंदगी में अर्थ नहीं मालूम पड़ता। आज अगर पश्चिम, विशेषकर अमेरिका के दार्शनिकों से पूछें, तो वे कहते हैं, एक ही सवाल है--मीनिंगलेसनेस, एंप्टीनेस। एक ही सवाल है कि जीवन रिक्त क्यों है? खाली क्यों है? भरा हुआ क्यों नहीं है? गरीब कौमों ने कभी नहीं पूछा कि जीवन रिक्त क्यों है! क्योंकि आकांक्षाएं जीवन को भरे रहती हैं। फल की इच्छा भरे रहती है।

अमीर कौमों की इच्छाएं करीब-करीब पूरी होने के आ जाती हैं। जो भी मिल सकता है, वह मिल गया। अच्छी से अच्छी कार दरवाजे पर खड़ी है। अच्छा से अच्छा मकान पीछे खड़ा है। तिजोरी में जितनी संपत्ति चाहिए, उससे ज्यादा भरी है। जो भी मिल सकता है, वह है। अब सब मिल गया, और लगता है, कुछ भी नहीं मिला। निष्काम कर्म उस व्यक्ति को उपलब्ध होता है, जो फलाकांक्षा की इस व्यर्थता को अनुभव कर लेता है कि पाकर भी फल कुछ पाया नहीं जाता है। फल को पा लेना भी निष्फलता है, ऐसी जिसकी प्रतीति और समझ गहरी हो जाए, वह कर्म से नहीं भागेगा, कृष्ण कहते हैं, वह कर्म करता रहेगा। लेकिन तब कर्म उसे अभिनय से ज्यादा नहीं होगा।
कृष्ण कहते हैं, दूसरा मार्ग अर्जुन, सरल है।
इसमें एक बात आपसे कहना चाहूंगा कि यह कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि दूसरा मार्ग सरल है। यह विशेष रूप से अर्जुन से कही गई बात है। यह जरूरी नहीं है कि सबके लिए दूसरा मार्ग सरल हो। किसी के लिए पहला मार्ग भी सरल हो सकता है। इसलिए कोई इस ख्याल में न पड़े कि यह बात सामान्य है। यह अर्जुन के लिए एड्रेस्ड है। अर्जुन के ढंग के जो व्यक्ति हैं, उनके लिए दूसरा मार्ग सरल है। यह भी ख्याल में ले लें। क्योंकि यह जो चर्चा है, अर्जुन से सीधी है। यह सबसे नहीं है। सबसे कोई चर्चा होनी भी बहुत कठिन है।
किसी के लिए पहला मार्ग भी सरल हो सकता है। किस के लिए होगा? उस व्यक्ति के लिए पहला मार्ग सरल होगा, जिसके जीवन का प्रशिक्षण कर्म का न हो, जिसके जीवन का प्रशिक्षण स्वप्न का हो। जैसे एक कवि। एक कवि का सारा शिक्षण जो है जीवन की व्यवस्था का, वह स्वप्न का है।
एक चित्रकार। उसके जीवन की जो सारी व्यवस्था है, उसका जो प्रशिक्षण है, वह जैसे बड़ा हुआ है, वह स्वप्न का है। असल में जो जितना बड़ा स्वप्न देख सके, उतना ही बड़ा चित्रकार हो सकता है। जो जितना सपने में डूब सके, उतना बड़ा कवि हो सकता है।
एक संगीतज्ञ। वह ध्वनि में स्वप्नों को तैरा रहा है। वह ध्वनि के माध्यम से सपनों को रूपांतरित कर रहा है। उसकी सारी साधना स्वप्न को ध्वनि में रूपांतरित करने की है। वह सपने हवा में तैरा रहा है; हवा में उड़ा रहा है, सपनों को पंख दे रहा है।
अगर कृष्ण ने यह बात एक कवि से, एक संगीतज्ञ से, एक चित्रकार से कही होती, तो कृष्ण यह कभी नहीं कहते कि दूसरा मार्ग सरल है। पहला मार्ग सरल होता।
एक संगीतज्ञ को यह समझना सदा आसान है कि कर्म पानी पर खींची गई रेखाओं
से खो जाते हैं। कितनी मेहनत से सितार पर जिंदगीभर वह श्रम करता है! लहूलुहान हो जाती हैं अंगुलियां। पत्थर हो जाते हैं हाथ। दिन-रात मेहनत करके जब वह संगीत पैदा कर पाता है, तो क्षणभर भी तो नहीं टिकता। सारा श्रम-- संगीत--हवा में गया, और गया, और खो गया। इधर पैदा नहीं हुआ, वहां लीन हो गया। तानसेन जैसे व्यक्ति को जिंदगीभर की साधना के बाद अगर कृष्ण यह बात कहें कि दूसरा मार्ग सरल है तानसेन! तानसेन की समझ में नहीं पड़ेगा। पहला मार्ग तत्काल समझ में पड़ जाएगा। जिंदगीभर जो की थी मेहनत, जो श्रम, वह कहां है? पानी पर भी लकीर देर से मिटती है, संगीत का स्वर तो और भी जल्दी खो जाता है!
गाए गीत! रवींद्रनाथ से कोई कहे कि दूसरा मार्ग सरल है, तो मुश्किल पड़ेगा समझना। रवींद्रनाथ को पहली बात समझ में आ सकती है, कि सब गाए गीत हवा में खो गए। कहीं कुछ बचा नहीं। सब खो जाता है।
लेकिन अर्जुन से बात बिल्कुल ठीक है। अर्जुन के व्यक्तित्व के बिल्कुल अनुकूल है। अर्जुन की सारी व्यवस्था जीवन की कर्म की है, स्वप्न की नहीं। और उसका कर्म ऐसा है, अगर वह किसी की छाती में छुरा भोंक दे, तो कर्म डेफिनिट हो जाता है; संगीत की तरह खो नहीं जाता। वह मुर्दा लाश सामने पड़ी रह जाती है; और वह छुरा सदा के लिए डेफिनिट हो जाता है। वह कृत्य स्थिर मालूम होता है। हालांकि जो और गहरा जानते हैं, वे कहते हैं, वहां भी कोई भेद नहीं है। लेकिन वह बहुत गहरे देखने की बात है।

अर्जुन की जो शिक्षा है, उस शिक्षा में कर्म जो है, वह बहुत कठोर और ठोस है। उसकी हिंसा की शिक्षा है। वह क्षत्रिय है। वह सैनिक है। वह मारना और मरना ही जानता है। यह किसी की गर्दन काट देना, सितार पर तार छेड़ देने जैसा नहीं है--साधारणतः। अंततः तो ऐसा ही है। अंततः तो सितार का तार टूट जाए, कि आदमी की गर्दन टूट जाए, अंततः अल्टिमेटली कोई फर्क नहीं है। पर इमीजिएटली, अभी तो बहुत फर्क है।
अर्जुन की जो जीवन की सारी की सारी बनावट है, वह कर्म की है, स्वप्न की नहीं है। सपने उसने कभी नहीं देखे; उसने कृत्य किए हैं। उसने कविताएं नहीं लिखी हैं; उसने हत्याएं की हैं। उसने तार पर संगीत नहीं उठाया; उसने तो धनुष पर बाण खींचे हैं। कर्मठ होना उसकी नियति है, उसकी डेस्टिनी है। इसलिए कृष्ण उससे कहते हैं, अर्जुन! मार्ग तो दोनों ही ठीक हैं, फिर भी दूसरा सरल है। यह अर्जुन से कही जा रही है बात कि दूसरा सरल है।
इसलिए जब भी गीता को पढ़ें, तो सदा यह देख लें कि आप अर्जुन के ढंग के आदमी हैं, तो यह बात ठीक है। अगर अर्जुन से विपरीत आदमी हैं, तो उलटा कर लें सूत्र को--पहली बात सरल है। और दो ही तरह के लोग हैं जगत में, स्वप्न में जीने वाले, और कर्म में जीने वाले। भीतर, इंट्रोवर्ट, अंतर्मुखी; और एक्सट्रोवर्ट, बहिर्मुखी।
अर्जुन बहिर्मुखी है। बाहर जी रहा है।
एक कवि का जीवन भीतरी होता है। बाहर तो कभी-कभी कुछ बुदबुदे आ जाते हैं। असली जीवन तो भीतर होता है। कभी कुछ बाहर फूट जाता है, प्रासांगिक-- अनिवार्य नहीं है। अधिक कविताएं तो भीतर ही उठती हैं और खो जाती हैं। लाख कविताएं पैदा होती हैं रवींद्रनाथ जैसे व्यक्ति में, तो एक प्रकट हो पाती है। वह भी अधूरी, पंगु। वह भी कभी पूरी प्रकट नहीं हो पाती। उससे भी रवींद्रनाथ कभी तृप्त नहीं होते।
अंतर्मुखी आदमी के जीवन की धारा भीतर घूमती है; बाहर कर्म के जगत में उसके बहुत कम स्पर्श होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति की जीवन-धारा भीतर होती ही नहीं; उसके जीवन की सारी धारा बाहर घूमती है--अंतर्संबंधों में, संघर्षों में। बाहर के जगत में उसकी छाप होती है। पानी पर नहीं, वह पत्थर पर लकीरें खींचता मालूम पड़ता है। हालांकि लंबे अर्से में पत्थर भी पानी हो जाते हैं। लेकिन प्राथमिक, आज, अभी, पत्थर पर खींची गई लकीर ठहरी हुई मालूम पड़ती है।
इसलिए इस शर्त को समझ लेना आप। कृष्ण का यह वक्तव्य कंडीशनल है, शर्त
के साथ है; अर्जुन को दिया गया है। इसलिए उन्होंने दोनों बातें कह दी हैं। दोनों मार्ग से पहुंच जाते हैं अर्जुन! कर्म-संन्यास से भी--सब कर्मों को छोड़कर जो निर्जरा को उपलब्ध हो जाता है, जैसे कोई महावीर। सब कर्म छोड़कर! या निष्काम कर्म से--जैसे कोई जनक, सब कर्मों को करते हुए। लेकिन दूसरा मार्ग सरल है, सुगम है। यह अर्जुन को दृष्टि में रखकर दिया गया वक्तव्य है।

प्रश्नः भगवान श्री, आप इस बात पर जोर देते हैं कि आजकल के संन्यासियों को सक्रिय व सकर्म संन्यास में ही जीना चाहिए और आप कर्म-संन्यास को समाज के लिए हानिप्रद बताते हैं। समाज को ध्यान में रखते हुए, कर्म-संन्यास और निष्काम कर्म पर कुछ प्रकाश डालने की कृपा करें।

जैसा मैंने कहा, व्यक्ति होते हैं अंतर्मुखी, बहिर्मुखी; वे जो भीतर जीते हैं, और वे जो बाहर जीते हैं। जैसे व्यक्ति अंतर्मुखी और बहिर्मुखी होते हैं, ऐसे ही युग भी अंतर्मुखी और बहिर्मुखी होते हैं। हमारा युग बहिर्मुखी युग है, एक्सट्रोवर्ट एज! उपनिषद के ऋषियों का युग अंतर्मुखी युग है, इंट्रोवर्ट एज।
मैंने कहा, जैसे व्यक्तियों में भेद होता है, ऐसे युगों में भी भेद होता है। युग के भेद का मतलब यह है कि अंतर्मुखी युग में ऐसा नहीं कि बहिर्मुखी लोग नहीं होते। अंतर्मुखी युग में भी बहिर्मुखी लोग होते हैं, लेकिन न्यून, प्रभावहीन। प्रभाव अंतर्मुखी लोगों का होता है। शिखर पर वे

ही होते हैं। बहिर्मुखी युग में भी अंतर्मुखी लोग होते हैं, लेकिन न्यून और प्रभावहीन। शिखर पर बहिर्मुखी लोग होते हैं।
सोचें। उपनिषद के युग में लौटें एक क्षण को। तो गांव के भिखारी ब्राह्मण के चरण भी सम्राट छूता। क्यों? अंतर्मुखी शिखर पर था। सम्राट से ज्यादा बहिर्मुखी और कौन होगा? लेकिन गांव के भिखारी ब्राह्मण के चरण में भी सम्राट को सिर रखना पड़ता। शिखर पर! वह जो जीवन की लहर थी उस समय, अंतर्मुखी को शिखर पर लिए थी। नहीं था कुछ उसके पास, जिसकी बाहर से गणना की जा सके। न धन था, जो बाहर से गिना जा सके। न पद था, जो बाहर से समझा जा सके। न पदवी थी, जिसका बाहर से हिसाब बैठ सके। कोई कैलकुलेशन बाहर से नहीं हो सकता था, लेकिन भीतर कुछ था। और भीतर का मूल्य था। तो भिखारी के पैर में भी सम्राट को बैठ जाना पड़ता। सम्राट थे; नहीं थे, ऐसा नहीं। धनपति थे; नहीं थे, ऐसा नहीं। बाहर के जगत में सक्रिय लोग थे; नहीं थे, ऐसा नहीं। लेकिन अंतर्मुखी प्रमुख था; प्राधान्य था। उसके चरणों में ही सब झुक जाता। वह शिखर पर था।
आज हालत बिल्कुल उलटी है। आज हालत, बिल्कुल उलटी है; आज देश का साधु भी हो, तो दिल्ली के चक्कर लगाता है! अगर आज साधु को भी प्रतिष्ठा पानी है, तो किसी मंत्री से सत्संग साधना पड़ता है! मंत्री प्रतिष्ठित नहीं होते साधुओं से अब; अब साधु मंत्रियों से प्रतिष्ठित होते हैं!
सब साधुओं के शिष्यगण मंत्रियों का चक्कर लगाते हैं कि हमारे साधुजी
के पास चलें। कोई मंत्री जाता नहीं; लाए जाते हैं। चेष्टाएं की जाती हैं। किसी तरह साधु के पास में बिठाकर मंत्री की तस्वीर उतरवा लें, तो भारी कृत्य हो जाता है! ऐसा नहीं कि साधु की, कीमत वह मंत्री की ही है। धर्म की सभा का भी उदघाटन हो, तो राजनेता चाहिए!
बहिर्मुखी युग है। जो बाहर से आंकी जा सकती है प्रतिष्ठा, उसकी ही कीमत है। भीतर का कोई मूल्य नहीं। कवि भी आदृत होगा, ज्ञानी भी आदृत होगा, तो वह बाहर से आंका जा सके, अन्यथा नहीं आदृत हो सकेगा। ऐसा नहीं है कि अंतर्मुखी लोग नहीं हैं, लेकिन अंतर्मुखी प्रभाव की धारा पर नहीं है। युग बहिर्मुखी है।
युग भी रूपांतरित होते हैं। जीवन में सब चीजें बदलती रहती हैं। हर चीज ऋतु के अनुसार बदलती रहती है। हर अंतर्मुखी युग के बाद बहिर्मुखी युग होता है। बहिर्मुखी के बाद अंतर्मुखी युग होता है।
मैं जानकर जोर देता हूं कि इस युग को ऐसे संन्यासी की जरूरत है, जो कर्म-संन्यास में नहीं, बल्कि निष्काम कर्म में आस्थावान हो।
आज के युग को ऐसे संन्यासी की जरूरत है, जो जीवन की प्रगाढ़ धारा के बीच खड़ा हो जाए। जो जीवन को छोड़कर न हटे, न भागे। इसका यह मतलब नहीं है कि जो अंतर्मुखी हैं, उनको भी मैं खींचकर कहूंगा कि वे भी जीवन की धारा में खड़े हो जाएं। नहीं; पर वे न के बराबर हैं। उन्हें खींचकर खड़ा करने की कोई भी जरूरत नहीं है। वे भी पहुंच सकते हैं अपने मार्ग से। लेकिन उनके मार्ग से युग नहीं पहुंच सकता है। वे पहुंच जाएंगे अपने मार्ग से प्रभु तक। वे जाएं अपनी यात्रा पर। लेकिन यह जो विराट आज का युग है, यह जो बाहर संलग्न, इस बाहर संलग्न युग की धारा को अगर धार्मिक बनाना हो, तो धर्म को अंतर्मुखी सीमाओं को तोड़कर कर्म के बहिर्मुखी जाल में पूरी तरह छा जाना होगा।
अगर हम कर्मठ संन्यासी पैदा कर सकें, तो ही इस युग को प्रभावित करेगा। अगर हम ऐसा संन्यासी पैदा कर सकें जिसका चिंतन, जिसका मनन और जिसका आचरण, जिसका समस्त जीवन कर्म के जगत को भी रूपांतरित करता हो, ट्रांसफार्म करता हो; जो आंतरिक क्रांति से ही नहीं गुजरता हो, जो बाहर जीवन को भी क्रांति का उदघोष करता हो, तो हम इस युग को धार्मिक बना पाएंगे। अन्यथा धर्म सिकुड़ जाएगा कुछ अंतर्मुखी लोगों की गुफाओं में; और ये बहिर्मुखी लोग अधर्म की तरफ बढ़ते चले जाएंगे।
इन बहिर्मुखी लोगों के लिए बहिर्मुखी संन्यास। और ऐसा नहीं कि बहिर्मुखी संन्यास से पहुंचा नहीं जा सकता है। बिल्कुल पहुंचा जा सकता है।

कृष्ण ने अर्जुन से जो कहा, वैसी बात आज पूरे युग से कही जा सकती है, अधिक लोगों से कही जा सकती है। लेकिन फिर भी, जिनकी यात्रा अंतर्मुखता की है, उन्हें कोई कारण नहीं है कि वे खींचकर कर्म के जगत और जाल में आएं। उन्हें उनकी नियति से हटाने का कोई भी प्रयोजन नहीं है।
लेकिन यदि हम सोचते हों कि अंतर्मुखता ही धर्म है, इंट्रोवर्शन ही धर्म है, और कर्म त्याग करके ही कोई संन्यासी हो सकता है, तो हम इस जगत को धार्मिक बनाने में सफल न हो पाएंगे।
और ध्यान रहे, अगर यह हमारी पृथ्वी अधार्मिक रह गई, यह हमारा युग अधार्मिक से अधार्मिक होता चला गया, तो इसका जिम्मा अधार्मिक लोगों पर नहीं होगा, बल्कि उन धार्मिक लोगों पर होगा, जिन्होंने इस युग के योग्य धर्म की अवतारणा नहीं की; जो इस युग के योग्य धर्म को अवतरित नहीं कर पाए; जो इस युग के प्राणों को स्पर्श कर सके, ऐसे धर्म का उदघोष न दे सके; जो ऐसा संदेश और मैसेज न दे सके, जो इस युग की भाषा और इस युग के प्राणों को स्पंदित कर दे।
इसलिए मैं जोर देता हूं कि अब संन्यासी निष्कामकर्मी हो। यह जोर मेरा वैसा ही है, जैसा कृष्ण का जोर था, कंडीशनल है। यह जोर वैसा ही है, जैसा कृष्ण का जोर था अर्जुन से कि दूसरा मार्ग तेरे लिए सुगम है। पहले मार्ग से भी पहुंचा जा सकता है। ठीक ऐसे ही मैं कहता हूं, इस युग के लिए, बीसवीं सदी के लिए निष्काम कर्म ही सुगम है, सरल है, मंगलदायी है। पहले मार्ग से भी पहुंचा जा सकता है, लेकिन अब वह मार्ग इंडिविजुअल होगा। अब उसमें इक्के-दुक्के लोग जा सकेंगे। राजपथ अब उसका नहीं होगा; अब पगडंडी होगी। अब राजपथ पर तो बहिर्मुखता का संन्यास ही गति कर सकता है।
और बहिर्मुखी संन्यास में और अंतर्मुखी संन्यास में रूप का ही भेद है, अंतिम मंजिल का कोई भी नहीं। शरीर का भेद है, आत्मा का कोई भी नहीं। आकार का भेद है, निराकार निष्पत्ति में कोई भी अंतर नहीं है। युग के अनुकूल, युगधर्म!
संन्यासी अब करीब-करीब जंगल, पहाड़ और गुफा में उपयोगी नहीं है। अगर पहाड़, गुफा और जंगल संन्यासी जाए भी, तो सिर्फ इसीलिए कि वहां से तैयार होकर उसे लौट आना है यहीं बाजार में, क्योंकि अब जीवन की विराट धारा जंगल और पहाड़ पर नहीं है।
और वे युग गए, जब अंतर्मुखता का आदर था। तो बाजार में जो बैठा था, उसकी
भी आंख जंगल की तरफ थी। बैठता था बाजार में, इरादे उसके भी जंगल जाने के थे। और नहीं जा पाता था, तो पीड़ित अनुभव करता था। और कभी-कभार जब मौका पाता था, तो किसी जंगल के वासी के पास चरणों में जाकर, सिर रखकर सांत्वना ले आता था। अब हालत उलटी है। अब वहां कोई नहीं जाएगा। वह कट गया रास्ता।
जैसे, मैं अभी एक गांव में ठहरा हुआ था। इंदौर के पास एक जगह है, मांडू। मैं हैरान हुआ। मैंने इतिहास की किताबों में पढ़ा था कि मांडू की आबादी कभी नौ लाख थी। ज्यादा दिन पहले नहीं, सात सौ साल पहले। मांडू पहुंचा, तो बस स्टैंड पर जो तख्ती लगी थी, उस पर लिखा था, नौ सौ सत्ताइस आबादी। सात सौ साल पहले नौ लाख की आबादी की बस्ती सात सौ साल के भीतर नौ सौ सत्ताइस की आबादी रह गई! नौ सौ! क्या हुआ इस मांडू को? जहां कभी नौ लाख लोग रहते थे, उस जमाने के बड़े से बड़े महानगरों में एक था। उस गांव की मस्जिद जाकर मैंने देखी, तो मस्जिद में दस हजार लोग एक साथ नमाज पढ़ सकें, इतनी बड़ी मस्जिद थी। धर्मशाला जाकर देखी, तो दस हजार लोग इकट्ठे ठहर सकें, इतनी- इतनी बड़ी धर्मशालाएं हैं। सब खंडहर! नौ लाख लोगों के खंडहर! नौ सौ आदमी रहते हैं अब। हो क्या गया!
मैंने पूछा कि बात क्या हो गई! इतना एकदम से परिवर्तन कैसे हुआ? पता चला कि आवागमन के मार्ग बदल गए! सात सौ साल पहले जब ऊंट ही आवागमन का बुनियादी साधन था, तो मांडू अड्डा था ऊंटों के गुजरने का। फिर ऊंट ही खो गए, वह मार्ग ही बदल गया। अब मांडू से कोई यात्री ही नहीं गुजरते, तो मांडू में जो बसे थे बाजार, वे उजड़ गए! बाजार उजड़ गए, तो मस्जिदें और मंदिर उजड़ गए। धर्मशालाओं में कौन ठहरेगा! वह सब समाप्त हो गया।

नौ लाख की आबादी तिरोहित हो गई स्वप्न की तरह, क्योंकि पास से जो जत्थे गुजरते थे व्यापारियों के, उन्होंने कहीं और से गुजरना शुरू कर दिया। उन्होंने नए वाहन चुन लिए।
पुरानी दुनिया के सारे बड़े नगर नदियों के किनारे बसे हैं, क्योंकि नदियां जीवन का साधन थीं। उतने पानी के बिना बड़े नगर नहीं बस सकते थे। अब नया कोई नगर नदी के किनारे बसे, न बसे, कोई भेद नहीं पड़ता। आज के जमाने के सारे बड़े नगर समुद्रों के किनारे बसे हैं। बहुत दिन तक बसे रहेंगे, इस भ्रम में रहने की कोई जरूरत नहीं है। कभी बंबई भी मांडू हो जाएगी। वह तो जैसे ही कम्युनिकेशन के साधन बदले कि सब बदल जाता है।
यह मैंने इसलिए कहा कि जिस तरह ये बाहर के यात्रा-पथ हैं, ऐसे ही अंतर
के चेतना के भी यात्रा-पथ हैं। उपनिषद के जमाने में अंतर्मुखी व्यक्ति के पास से अधिक लोगों को गुजरने का मौका था। आज अंतर्मुखी के पास से अधिक लोग नहीं गुजरेंगे। पगडंडियां रह गईं, कभी कोई जाता है। अब तो बहिर्मुखी के पास से अधिक लोग गुजरेंगे। यात्रा-पथ बदल गया है।
विज्ञान ने, समृद्धि ने, संख्या ने, सभ्यता ने सब दिशाओं से बहिर्मुखता को इतना प्रबल कर दिया है कि धर्म अगर अंतर्मुखी होने की जिद्द करे, तो वह जिद्द महंगी पड़ेगी। वह जिद्द महंगी पड़ रही है। इसलिए जो धर्म अंतर्मुखी होने का ध्यान रखे हुए हैं, वे पिछड़ गए।
ख्याल करें, हिंदू धर्म पृथ्वी पर पुराने से पुराना धर्म है। कहें कि जिसका पीछे कोई छोर नहीं मिलता; सनातन है। लेकिन पिछड़ गया। क्योंकि हिंदू धर्म के पास संन्यासी अभी भी अंतर्मुखी हैं। क्रिश्चियनिटी फैली सारे जगत में। कोई और कारण नहीं है। क्रिश्चियनिटी के पास जो उपदेशक हैं, वे बहिर्मुखी हैं। और कोई कारण नहीं है। आज सिर्फ कैथोलिक क्रिश्चियनिटी के पास बारह लाख संन्यासी हैं। सारे जगत में फैले हैं। कुछ बुरा नहीं है। क्रिश्चियनिटी फैल जाए, उससे कुछ हर्ज नहीं है। कोई वहां से पहुंचे, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। कोई कहां से पहुंचे, इससे कोई भेद नहीं है। मैंने उदाहरण के लिए कहा।
मैं यह कह रहा हूं कि अगर अंतर्मुखी धर्म अपने को अंतर्मुखी रखने की जिद्द रखेंगे, तो सिक.ुडते चले जाएंगे। दुनिया वहां से नहीं गुजरती अब। दुनिया जहां से गुजरती है, धर्म को वहां खड़ा होना चाहिए। अब अगर मांडू में हम जाकर तीर्थ बना लेंगे, तो ठीक है; बन सकता है। लेकिन मांडू के तीर्थ से अब ज्यादा लोग नहीं गुजरेंगे। अब मांडू की मस्जिद में दस हजार लोग नमाज नहीं पढ़ सकते। नौ सौ की आबादी में दस पढ़ लें, तो बहुत।
अंतर्यात्रा का जो पथ है मनुष्य की चेतना का, वह बहिर्मुखी है आज। सदा रहेगा, ऐसा नहीं है। सौ वर्ष में स्थिति बदल जाएगी। हमेशा बदल जाती है। पीरियाडिकल है। जैसे रात के बाद दिन आता है, दिन के बाद रात आती है, ऐसे अंतर्मुखता के बाद बहिर्मुखता आती है, बहिर्मुखता के बाद अंतर्मुखता आती है।
लेकिन ध्यान रहे, अभी पूरब को अंतर्मुख होने में बहुत समय लगेगा, क्योंकि अभी पूरब पूरी तरह बहिर्मुखी नहीं हुआ। अभी यहां दिन ही नहीं हुआ, तो रात कैसे होगी? पश्चिम अब जल्दी ही अंतर्मुख हो जाएगा। अभी पूरब को तो बहिर्मुखता में से गुजरना पड़ेगा। पश्चिम अंतर्मुख हो जाएगा, क्योंकि बहिर्मुखता अपने पूरे शिखर पर आ गई। और हर चीज जब अपने शिखर पर आ जाती है, तो लौटना शुरू हो जाता है। जब फल पक जाते हैं, तो गिर जाते हैं। पकना मौत है।
पश्चिम अंतर्मुखी होगा, जल्दी। लेकिन पूरब तो अभी बहिर्मुखी होगा। और अभी तो पश्चिम भी बहिर्मुखी है। अभी तो और एकाध-दो कदम वह अपने शिखर पर उठा सकता है।
इसलिए मैं कहता हूं कि नव-संन्यास की मेरी जो धारणा है, वह बहिर्मुखी संन्यास की है; वह निष्काम कर्म वाले संन्यास की है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो कर्म त्याग कर संन्यास की तरफ जाते हैं, मैं उनके विरोध में हूं। मेरी उनके लिए शुभकामना है। लेकिन वे पगडंडी पर हैं; राजपथ आज उनका नहीं है।

प्रश्नः भगवान श्री, आप कहते हैं कि इस युग के लिए निष्कामकर्मी संन्यासी अधिक उपयोगी हैं। इस संदर्भ में कृपया यह बताएं कि निष्कामकर्मी गृहस्थ और निष्कामकर्मी संन्यासी में क्या अंतर होगा?

निष्कामकर्मी गृहस्थ और निष्कामकर्मी संन्यासी में क्या अंतर होगा? गहरे में कोई अंतर नहीं होगा। ऊपर से अंतर हो सकता है।
असल में गृहस्थ और संन्यासी का जो अंतर है, वह कर्म-संन्यास वाला अंतर है। गृहस्थ और संन्यासी का जो भेद है, वह कर्म-संन्यास के मार्ग का भेद है। गृहस्थ उसको कहता है कर्म-संन्यासी, जो कर्म में उलझा हुआ है। संन्यासी उसे कहता है, जिसने कर्म छोड़ दिया।
निष्कामकर्मी संन्यासी के लिए गृहस्थ और संन्यासी में गहरे में कोई भेद नहीं है। ऊपर से भेद हो सकता है; गौण, घोषणा का; इससे ज्यादा नहीं। गृहस्थ अगर पूर्ण निष्काम से जी रहा है, तो संन्यासी है--अघोषित। उसने घोषणा नहीं की है। उसने जाहिर नहीं किया है कि मैं संन्यासी हूं। वह चुपचाप, मौन, संन्यास में जी रहा है। उसका संन्यास उसकी निजी आंतरिक धारणा है, सामाजिक व्यवस्था नहीं।
निष्कामकर्मी संन्यासी घोषणा करके जी रहा है कि मैं संन्यासी हूं। उसकी संन्यास की व्यवस्था भीतर तक, निज तक सीमित नहीं है। औरों तक भी उसने खबर कर दी है। इससे ज्यादा भेद नहीं है। निष्काम कर्म संन्यास में गृहस्थ और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। हां, उस गृहस्थ में तो भेद है, जो सकामी है। लेकिन निष्कामकर्मी गृहस्थ में और निष्कामकर्मी संन्यासी में कोई भेद नहीं है; घोषणा का भेद है।
एक व्यक्ति ने अपने पुराने ही वस्त्र पहन रखे हैं, अपना नाम नहीं बदला है, घोषणा नहीं की है, जगत के सामने डिक्लेरेशन नहीं किया है कि मैं संन्यासी हूं। लेकिन निष्काम से जी रहा है, तो संन्यासी है। लेकिन उसके संन्यास का लाभ उसके लिए ही होगा। घोषणा के बाद उसका लाभ औरों के लिए भी हो सकता है। घोषणा के बाद उसका कमिटमेंट भी है, जिसमें वह अपने को धोखा देना कठिन पाएगा। जिसने घोषणा नहीं की है, वह अपने को धोखा देना आसान पाएगा। एक व्यक्ति ने घोषणा कर दी है बाजार में खड़े होकर कि अब मैं संन्यासी हूं। दुकान पर बैठकर उसे चोरी करने में कठिनाई होगी। शराबखाने के सामने खड़े होने में झिझक आएगी। उसका कमिटमेंट है, उसका डिक्लेरेशन है। लोग जानते हैं, वह संन्यासी है। उसके गैरिक वस्त्र हैं।
अभी पूना में एक मित्र संन्यास लेने आए। उन्होंने कहा, मैं संन्यास
तो लेना चाहता हूं, लेकिन मैं शराब की दुकान पर शराब बेचने का काम करता हूं। तो मैं संन्यास ले लूं? गेरुए वस्त्र पहनकर शराब बेचूंगा! मैंने कहा, शराब पीते तो नहीं हो? उसने कहा, शराब पीता नहीं हूं। मैंने कहा, तुम बेफिक्री से जाओ और ले लो। क्योंकि असली सवाल शराब पीने का है। उसने कहा, लेकिन आप मुझे मुश्किल में डाल रहे हैं! मैंने कहा, घोषणा करना संन्यास की मुश्किल में पड़ना है। पर इतनी मुश्किल उठाने की हिम्मत होनी चाहिए। दूसरे दिन वह आया और उसने कहा कि मैंने नौकरी छोड़ दी है। इसलिए नहीं; लेकिन अब गैरिक वस्त्र पहनकर इन हाथों से किसी को शराब दूं, तो जहर देना है।
यह घोषणा का अंतर है। वह भीतर से संन्यासी रह सकता था; कोई कठिनाई न थी। शराब बेच सकता था, कर्तव्य की तरह, नौकरी की तरह, कोई प्रयोजन न था। चुपचाप लौटकर आ जाता, ध्यान करता, प्रार्थना करता, पूजा करता, प्रभु को स्मरण करता, अपने भीतर जीता रहता; शराब बेचता रहता। लेकिन तब समाज को उससे फायदा न हो पाता। उसकी घोषणा उसका कमिटमेंट है।
और एक बड़े मजे की बात है कि जब तक हम विचार को भीतर रखते हैं, तब तक विचार सदा आकाश में होता है। जब हम उसे बाहर प्रकट कर देते हैं, तो उसकी जमीन में जड़ें चली जाती हैं। अगर आपने संन्यास का ख्याल भीतर रखा, तो वह हमेशा हवाई होगा। उसकी जड़ें नहीं होंगी। आपने घोषणा कर दी; उसकी जड़ें जमीन में गड़ जाएंगी। और हर चीज रोकने लगेगी--हर चीज!

एक आदमी बाजार सामान खरीदने जाता है, गांठ लगा लेता है कपड़े में। अब गांठ से कहीं सामान लाने का कोई भी संबंध है! लेकिन वह गांठ उसे दिनभर याद दिलाती रहती है कि गांठ लगी है, सामान ले जाना है। वह जब भी दिन में गांठ दिखाई पड़ती है, ख्याल आता है, सामान ले जाना है।
मैंने सुना है कि एक संन्यासी को एक बार एक दुकानदार ने नौकरी पर रख लिया। संन्यासी से उसने कहा भी कि दुकान है, नौकरी पर रहोगे, कहीं ऐसा न हो कि बिगड़ जाओ। संन्यासी ने कहा, बिगड़ने का डर होता, तो नौकरी स्वीकार न करते। इतने सस्ते में संन्यास न खोते। रहेंगे। लेकिन ध्यान रखना, मेरे साथ आप भी बिगड़ सकते हो। वह सेठ हंसा; अपनी पूरी चालाकी में हंसा। उसने कहा, फिक्र छोड़ो। हम काफी होशियार हैं।
इस दुनिया में होशियार आदमी से ज्यादा नासमझ आदमी खोजने मुश्किल हैं। बहुत होशियार!
संन्यासी दुकान पर बैठने लगा। दिन में पच्चीस दफे उस व्यवसायी को उसके गेरुए वस्त्र दिखाई पड़ते। पच्चीस बार उसके मन में होता, यह आनंद! पता नहीं क्या! क्या इसे मिला है, पता नहीं! जब भी नजर जाती, उसे वह ख्याल आता। सालभर बीत गया, तो संन्यासी ने कहा कि अब अगले वर्ष मेरा इरादा तीर्थयात्रा पर जाने का है। आप भी चलें! लालच उसे भी लगा, कि चलो हर्ज नहीं है, हो आऊं। पर उस व्यवसायी ने कहा कि तैयारी क्या करनी होगी? उसने कहा, कोई ज्यादा तैयारी नहीं करनी होगी। जो तैयारी करनी है, मैं करवाता रहूंगा।
सालभर में वह संन्यासी परिचित हो गया था सेठ की चालबाजियों से, दुकानदारी की बेईमानियों से, धोखाधड़ियों से। जब भी सेठ कुछ कम चीज तौलने लगता, तब वह संन्यासी कहता, राम! तीर्थयात्रा पर चलना है। वह सेठ घबड़ा जाता। यह बड़ा मुश्किल हो गया! वह कभी कुछ ज्यादा दाम किसी को बताने लगता किसी चीज का, और वह कहता, ओम! तीर्थयात्रा पर चलना है। वह तो घबड़ा जाता। सालभर वह चोरी न कर पाया। सालभर वह बेईमानी न कर पाया। जब वे तीर्थयात्रा पर चलने लगे, तो उस संन्यासी से उसने कहा कि लेकिन तीर्थ तो पूरा हो गया! मैं पवित्र हो गया। स्नान हो गया। पर तूने भी खूब किया! तीर्थयात्रा के बहाने सालभर एक स्मृति का तीर--तीर्थयात्रा पर चलना है! और जब तीर्थयात्रा पर जाना है, तो चोरी तो मत करो। चोरी करोगे, तो जाना बेकार है। जाकर भी क्या करोगे!
बाहर की घोषणा आपके ऊपर एक रिमेंबरिंग की गांठ बन जाती है, एक चुभता हुआ तीर बन जाती है, जो छिदता रहता है। और जिंदगी बड़ी छोटी-छोटी चीजों से निर्मित है। इसलिए संन्यासी में और गृहस्थ में, जहां तक निष्काम कर्मयोग का संबंध है, भीतर से कोई भेद नहीं, बाहर से भेद है।
गृहस्थ निष्कामकर्मी, अघोषित संन्यासी है; निष्कामकर्मी संन्यासी, घोषित संन्यासी है। उसने जगत के सामने घोषणा कर दी है। और बहुत आश्चर्य की बात है कि बहुत बार घोषणा करते ही हम मजबूत हो जाते हैं। सच तो यह है कि घोषणा करते ही इसलिए नहीं, कि भीतर डर लगता है, कि कमजोर हैं। करें, न करें? घोषणा करने के लिए जो बल जुटाना पड़ता है भीतर, वही घोषणा के साथ प्रकट होते से और गहरे बल में ले जाता है। और एक बार एक बात की घोषणा हो जाए, तो हमारा एक कमिटमेंट, हमारा विचार कृत्य बन गया। और इस जगत में विचार में धोखा देना आसान, कृत्य में धोखा देना थोड़ा कठिन है। बस, इतना ही फर्क है।
अभी पांच मिनट आप रुकेंगे। पांच मिनट ये जो हमारे निष्काम संन्यासी हैं, ये कीर्तन करेंगे। पांच मिनट आप बैठे रहेंगे और कीर्तन के बाद हम विदा होंगे। शेष कल आपसे बात करेंगे। पांच मिनट बैठे रहें। उनके कीर्तन में आप भी आनंद लें और ताली बजाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
दूसरा प्रवचन

निष्काम कर्म

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काड्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। 3।।
हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है, और न किसी की आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि रागद्वेषादि द्वंद्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बंधन से मुक्त हो जाता है।

जीवन में या तो हम खिंचते हैं किसी से, आकर्षित होते हैं; या हटते हैं
और विकर्षित होते हैं। या तो कहीं हम आकांक्षा से भरे हुए बंध जाते हैं, या कहीं हम विपरीत आकांक्षा से भरे हुए मुड़ जाते हैं। लेकिन ठहरकर खड़ा होना-- आकर्षण और विकर्षण के बीच में रुक जाना--न हमें स्मरण है, न हमें अनुभव है। और आश्चर्य यही है कि न आकर्षण से कभी कोई व्यक्ति आनंद को उपलब्ध होता है और न विकर्षण से। दोनों के बीच जो ठहर जाता है, वह आनंद को उपलब्ध होता है। राग का अर्थ है, खिंचना; द्वेष का अर्थ है, हटना। साधारणतः राग और द्वेष विपरीत मालूम पड़ते हैं, एक-दूसरे के शत्रु मालूम पड़ते हैं। लेकिन राग और द्वेष की जो शक्ति है, वह एक ही शक्ति है, दो नहीं। आपकी तरफ मैं मुंह करके आता हूं, तो राग बन जाता हूं। आपकी तरफ पीठ करके चल पड़ता हूं, तो द्वेष बन जाता हूं। लेकिन चलने वाले की शक्ति एक ही है। जब वह आपकी तरफ आता है, तब भी; और जब आपसे पीठ करके जाता है, तब भी।
सभी आकर्षण विकर्षण बन जाते हैं। और कोई भी विकर्षण आकर्षण बन सकता है। वे रूपांतरित हो जाते हैं। इसलिए राग-द्वेष दो शक्तियां नहीं हैं, पहले तो इस बात को ठीक से समझ लेना चाहिए। एक ही शक्ति के दो रूप हैं। घृणा और प्रेम दो शक्तियां नहीं हैं; एक ही शक्ति के दो रूप हैं। मित्रता और शत्रुता भी दो शक्तियां नहीं हैं; एक ही शक्ति की दो दिशाएं हैं।
इसलिए सारा जगत, सारा जीवन, इस तरह के द्वंद्वों में बंटा होता है-- राग-द्वेष, शत्रुता-मित्रता, प्रेम-घृणा। ये एक ही शक्ति के दो आंदोलन हैं। और हमारा मन या तो प्रेम में होता है या घृणा में होता है। प्रेम सुख का आश्वासन देता है; घृणा दुख का फल लाती है। राग सुख का भरोसा देता है; द्वेष दुख की परिणति बन जाता है। राग आकांक्षा है, द्वेष परिणाम है। ये दोनों एक ही प्रक्रिया के दो अंग हैं, आकांक्षा और परिणाम।
कृष्ण कहते हैं निष्काम कर्मयोग की परिभाषा में, कि जो व्यक्ति राग-द्वेष दोनों के अतीत हो जाता है, वह निष्काम कर्म को उपलब्ध होता है। राग-द्वेष दोनों के द्वंद्व के बाहर जो हो जाता है! लेकिन हम कभी द्वंद्व के बाहर नहीं होते। जिन्हें हम त्यागी कहते हैं, वे भी द्वंद्व के बाहर नहीं होते। वे भी केवल विरागी होते हैं। उनका राग उलटा हो गया होता है। घर को छोड़ते हैं, भागते हैं, घर को पकड़ते नहीं। धन को त्यागते हैं, छाती से नहीं लगाते। लेकिन त्याग करने में उतने ही आब्सेशन से, उतनी ही तीव्रता से भरे होते हैं, जितना धन को पकड़ने की आकांक्षा से भरे हुए थे। त्याग सहज नहीं, विकर्षण है। किसी की तरफ मैं जाऊं, तो भी मैं उससे बंधा हूं। और उससे भागूं, तो भी उससे ही बंधा हूं। जब जाता हूं, तब लोगों को दिखाई पड़ता है कि बंधा हूं।
विवेकानंद ने कहीं एक संस्मरण लिखा है। लिखा है कि जब पहली-पहली बार धर्म की यात्रा पर उत्सुक हुआ, तो मेरे घर का जो रास्ता था, वह वेश्याओं के मोहल्ले से होकर गुजरता था। संन्यासी होने के कारण, त्यागी होने के कारण, मैं मील दो मील का चक्कर लगाकर उस मुहल्ले से बचकर घर पहुंचता था। उस मुहल्ले से नहीं गुजरता था। सोचता था तब कि यह मेरे संन्यास का ही रूप है। लेकिन बाद में पता चला कि यह संन्यास का रूप न था। यह उस वेश्याओं के मुहल्ले का आकर्षण ही था, जो विपरीत हो गया था। अन्यथा बचकर जाने की भी कोई

जरूरत नहीं है। गुजरना भी सचेष्ट नहीं होना चाहिए कि वेश्या के मुहल्ले से जानकर गुजरें। जानकर बचकर गुजरें, तो भी वही है; फर्क नहीं है। विवेकानंद को यह अनुभव एक बहुत अनूठी घड़ी में हुआ। जयपुर के पास एक छोटी-सी रियासत में मेहमान थे। विदा जिस दिन हो रहे थे, उस दिन जिस राजा के मेहमान थे, उसने एक स्वागत-समारोह किया। जैसा कि राजा स्वागत-समारोह कर सकता था, उसने वैसा ही किया। उसने बनारस की एक वेश्या बुला ली विवेकानंद के स्वागत-समारोह के लिए। राजा का स्वागत-समारोह था; उसने सोचा भी नहीं कि बिना वेश्या के कैसे हो सकेगा!
ऐन समय पर विवेकानंद को पता चला, तो उन्होंने जाने से इनकार कर दिया।
वे अपने तंबू में ही बैठ गए और उन्होंने कहा, मैं न जाऊंगा। वेश्या बहुत दुखी हुई। उसने एक गीत गाया। उसने नरसी मेहता का एक भजन गाया। जिस भजन में उसने कहा कि एक लोहे का टुकड़ा तो पूजा के घर में भी होता है, एक लोहे का टुकड़ा कसाई के द्वार पर भी पड़ा होता है। दोनों ही लोहे के टुकड़े होते हैं। लेकिन पारस की खूबी तो यही है कि वह दोनों को ही सोना कर दे। अगर पारस पत्थर यह कहे कि मैं देवता के मंदिर में जो पड़ा है लोहे का टुकड़ा, उसको ही सोना कर सकता हूं और कसाई के घर पड़े हुए लोहे के टुकड़े को सोना नहीं कर सकता, तो वह पारस नकली है। वह पारस असली नहीं है।
उस वेश्या ने बड़े ही भाव से गीत गाया--प्रभुजी, मेरे अवगुण चित्त न धरो! विवेकानंद के प्राण कंप गए। जब सुना कि पारस पत्थर की तो खूबी ही यही है कि वेश्या को भी स्पर्श करे, तो सोना हो जाए। भागे! तंबू से निकले और पहुंच गए वहां, जहां वेश्या गीत गा रही थी। उसकी आंखों से आंसू झर रहे थे। विवेकानंद ने वेश्या को देखा। और बाद में कहा कि पहली बार उस वेश्या को मैंने देखा, लेकिन मेरे भीतर न कोई आकर्षण था और न कोई विकर्षण। उस दिन मैंने जाना कि संन्यास का जन्म हुआ है।
विकर्षण भी हो, तो वह आकर्षण का ही रूप है; विपरीत है। वेश्या से बचना
भी पड़े, तो यह वेश्या का आकर्षण ही है कहीं अचेतन मन के किसी कोने में छिपा हुआ, जिसका डर है। वेश्याओं से कोई नहीं डरता, अपने भीतर छिपे हुए वेश्याओं के आकर्षण से डरता है।
विवेकानंद ने कहा, उस दिन मेरे मन में पहली बार संन्यास का जन्म हुआ।
उस दिन वेश्या में भी मुझे मां ही दिखाई पड़ सकी। कोई विकर्षण न था।
यह जो कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि द्वंद्वातीत महाबाहो! जिस दिन राग और द्वेष दोनों के अतीत कोई हो जाता, उस दिन निष्काम कर्म को उपलब्ध होता है।
कठिन मामला मालूम होता है। क्योंकि कर्म हम दो ही कारणों से करते हैं। या तो आकर्षण हो, तो करते हैं; और या विकर्षण हो, तो करते हैं। या तो कुछ पाना हो, तो करते हैं; या कुछ छोड़ना हो, तो करते हैं। हमारे कर्म की जो मोटिविटी है, जो मोटिवेशन है, हमारे कर्म की जो प्रेरणा है, वह दो से ही आती है। या तो मुझे धन कमाना हो, तो मैं कुछ करता हूं; या धन त्यागना हो, तो कुछ करता हूं। या तो कोई मेरा मित्र हो, तो उसकी तरफ जाता हूं; या मेरा कोई शत्रु हो, तो उसकी तरफ से हटता हूं। लेकिन मेरा कोई मित्र नहीं, मेरा कोई शत्रु नहीं, तो फिर मैं चलूंगा कैसे? कर्म कैसे होगा? फिर मोटिवेशन नहीं है। यह बात ठीक से समझ लेनी जरूरी है।
पश्चिम के मनोवैज्ञानिक मानने को राजी नहीं हैं कि अनमोटिवेटेड एक्शन हो सकता है। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक मानने को राजी नहीं हैं कि बिना किसी अंतर्प्रेरणा के कर्म हो सकता है। सब कर्म मोटिवेटेड हैं। सभी कर्मों के पीछे करने की प्रेरणा होगी ही, अन्यथा कर्म फलित नहीं होगा। कर्म है, तो भीतर मोटिवेशन होगा।
कृष्ण कहते हैं, कर्म है और भीतर करने का कोई कारण है-- सुखद या दुखद; आकर्षण का या विकर्षण का; राग का या द्वेष का--अगर कोई भी भीतर कारण है कर्म का, तो कर्म फिर बंधन का निर्माता होगा। और अगर कोई कारण नहीं है भीतर, फिर कर्म फलित हो, तो निष्काम कर्म है। और सुख के मार्ग से व्यक्ति बंधन के बाहर हो जाता है।

लेकिन मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि ऐसा कर्म हो नहीं सकता। कर्म होगा,
तो आकर्षण से या विकर्षण से। इसलिए इसे थोड़ा गहरे में समझ लेना जरूरी है। पश्चिम की पूरी साइकोलाजी की यह चुनौती है। पश्चिम के मनसशास्त्र का
यह दावा है कि कर्म तो होगा ही कारण से। अकारण--न राग, न द्वेष; कहीं पहुंचना भी नहीं है, कहीं से बचना भी नहीं है--तो कर्म नहीं होगा।
अगर यह बात सच है, तो कृष्ण का पूरा विचार धूल में गिर जाता है। फिर उसकी कोई जगह नहीं रह जाती। क्योंकि कृष्ण की सारी चिंतना इस बात पर खड़ी है कि ऐसा कर्म संभव है।
जिसमें राग और द्वेष न हों, ऐसा कर्म कैसे संभव है? हम तो जो भी करते हैं, अगर हम अपने किए हुए कर्मों का विचार करें, तो पश्चिम के मनोविज्ञान का दावा सही मालूम पड़ता है। लेकिन हमारे कर्म रुग्ण मनुष्यों के कर्म हैं। हमारे कर्मों के ऊपर से निर्णय लेना ऐसे ही है, जैसे दस अंधे आदमियों की आंखों को देखकर यह निर्णय ले लेना कि जो भी आदमी चलते हैं, वे सब अंधे हैं। क्योंकि दस अंधे आदमी चलते हैं। दसों ही अंधे हैं और चलते हैं; इसलिए यह निर्णय ले लेना कि आंख वाला आदमी चलेगा ही नहीं, क्योंकि दस अंधे आदमी चलते हैं, और चलने वाले दसों अंधे हैं!
पश्चिम का मनोविज्ञान एक बुनियादी भ्रांति पर खड़ा है। वह बुनियादी भ्रांति दोहरी है। एक तो यह कि पश्चिम के मनोविज्ञान के सारे नतीजे बीमार लोगों को देखकर लिए गए हैं, पैथालाजिकल हैं। पश्चिम के मनोविज्ञान ने जिन लोगों का अध्ययन किया है, वे रुग्ण, विक्षिप्त, पागल, न्यूरोटिक हैं।
यह बहुत हैरानी की बात है कि पश्चिम के मनोविज्ञान के सारे निष्कर्ष बीमार आदमियों के ऊपर निर्भर हैं। सच बात तो यह है कि मनोवैज्ञानिक के पास कोई स्वस्थ आदमी कभी जाता नहीं। जाएगा किसलिए? मनोवैज्ञानिक जिनका अध्ययन करते हैं, वे रुग्ण हैं और बीमार हैं, करीब-करीब विक्षिप्त हैं। कहीं न कहीं कोई साइकोसिस, कोई न्यूरोसिस, कोई मानसिक रोग उन्हें पकड़े हुए है।
फ्रायड से लेकर फ्रोम तक पश्चिम के सारे मनोवैज्ञानिकों का अध्ययन बीमार आदमियों का अध्ययन है। बीमार आदमियों से वे सामान्य आदमी के संबंध में नतीजे लेते हैं, जो कि गलत है।
दूसरी बात, सामान्य आदमी के अध्ययन से भी नतीजे लेने गलत होंगे, क्योंकि सामान्य आदमी भी पूरा आदमी नहीं है। कृष्ण ने जो नतीजा लिया है, वह पूरे आदमी से लिया गया नतीजा है। इस मुल्क का मनोविज्ञान बुद्ध, महावीर, कृष्ण, शंकर, नागार्जुन, रामानुज, इन लोगों के अध्ययन पर निर्भर है। मनुष्य जो हो सकता है परम, उस मनुष्य की परम संभावनाओं के अध्ययन पर इस मुल्क का मनसशास्त्र ठहरा हुआ है।
पश्चिम का मनसशास्त्र, मनुष्य जहां तक गिर सकता है आखिरी, उस आखिरी सीमा-रेखा पर खड़ा हुआ है। निश्चित ही, पश्चिम के मनोविज्ञान और पूरब के मनोविज्ञान का कोई तालमेल नहीं हो पाता।
हमने श्रेष्ठतम पर ध्यान रखा है, उन्होंने निकृष्टतम पर। हमने चोटी
पर ध्यान रखा है, उन्होंने खाई पर। निश्चित ही, जो खाई का अध्ययन करेगा और जो शिखर का अध्ययन करेगा, उनके अध्ययन के नतीजे भिन्न होने वाले हैं। जो शिखर का अध्ययन करेगा, वह कहेगा कि शिखर पर सूरज की किरणों का बहुत स्पष्ट फैलाव है। बादल छूते हैं। जो खाई का अध्ययन करेगा, वह कहेगा कि अंधकार सदा भरा रहता है। बादलों का कभी कोई पता नहीं चलता है।
मनुष्य में दोनों हैं, ऊंचाइयां भी और खाइयां भी। मनुष्य में बुद्ध जैसे शिखर भी हैं; हिटलर जैसी रुग्ण खाइयां भी हैं। मनुष्य एक लंबा रेंज है। मनुष्य कहने से कुछ पता नहीं चलता। मनुष्य में आखिरी मनुष्य भी सम्मिलित है और प्रथम मनुष्य भी सम्मिलित है। जो ऊंचे से ऊंचे तक पहुंचा है शिखर पर जीवन के, वह भी सम्मिलित है; और जो नीचे से नीचे उतर गया है, वह भी सम्मिलित है। वे जो पागलखाने में बंद हैं विक्षिप्त, वे भी सम्मिलित हैं; और जो परम आनंद को उपलब्ध हुए हैं विमुक्त, वे भी सम्मिलित हैं। पश्चिम ने विक्षिप्त लोगों के अध्ययन पर जो नतीजा लिया है, वह अपनी सीमा में ठीक है। विक्षिप्त आदमी कभी भी राग और द्वेष से मुक्त नहीं हो

सकता। राग और द्वेष के कारण ही तो वह विक्षिप्त और पागल होता है; मुक्त होगा कैसे? वे तो उसके पागल होने के बुनियादी आधार हैं। विमुक्त मनुष्य राग और द्वेष के बाहर होता है। बाहर होता है, तभी विमुक्त है। अन्यथा विमुक्त नहीं है।
भारत ने श्रेष्ठतम को आधार बनाया। मुझे लगता है, उचित है यही। क्योंकि हम श्रेष्ठतम को आधार बनाएं, तो शायद हमारे जीवन में भी यात्रा हो सके। हम निकृष्टतम को आधार बनाएं, तो हमारे जीवन में भी पतन की संभावना बढ़ती है।
अगर हमें ऐसा पता चले कि आदमी कभी आनंद को उपलब्ध हो ही नहीं सकता, तो
हम अपने दुख में ठहर जाते हैं। अगर हमें ऐसा पता चले कि जीवन में प्रकाश संभव ही नहीं है, तो फिर हम अंधेरे से लड़ने का संघर्ष बंद कर देते हैं। अगर हमें ऐसा पता चले कि हर आदमी बेईमान है, चोर है, तो हमारे भीतर वह जो बेईमान है और चोर है, वह जस्टीफाइड हो जाता है; वह न्याययुक्त ठहर जाता है, कि जब सभी लोग चोर और बेईमान हैं, तो वह जो पीड़ा है चोर और बेईमान होने की, विदा हो जाती है। हम अपनी चोरी और बेईमानी में भी राजी हो जाते हैं।
निकृष्टतम को आधार बना लिया जाए, तो मनुष्य रोज नीचे गिरेगा। और पचास सालों में पश्चिम के मनोविज्ञान ने आदमी को नीचे गिराने की सीढ़ियां निर्मित की हैं।
और बड़े मजे की बात है, जब आदमी नीचे गिरता है, तो पश्चिम का मनोवैज्ञानिक कहता है कि हम तो पहले ही कहते थे कि नीचे गिरने के सिवाय और कुछ हो नहीं सकता। सेल्फ फुलफिलिंग प्रोफेसीज! कुछ भविष्यवाणियां ऐसी होती हैं, जो खुद होकर अपने को पूरा कर लेती हैं।
किसी आदमी से कह दें कि तुम पंद्रह साल बाद फलां दिन मर जाओगे। जरूरी नहीं है कि यह भविष्यवाणी उसकी मृत्यु की जानकारी से निकली हो। लेकिन इस भविष्यवाणी से उसकी मृत्यु निकल सकती है। सेल्फ फुलफिलिंग हो जाएगी। पंद्रह साल बाद मरना है, यह बात ही आधा मार डालेगी। फिर वह रोज मरने की ही तैयारी करेगा या मरने से बचने की तैयारी करेगा, जो कि दोनों एक ही बात हैं। जिसमें कोई फर्क नहीं है। मरने से बचने की तैयारी करेगा या मरने की तैयारी करेगा, दोनों हालत में मृत्यु ही उसके जीवन की आधारशिला और केंद्र बन जाएगी। आब्सेस्ड हो जाएगा, फोकस्ड। मौत पर उसकी आंखें ठहर जाएंगी। सारी जिंदगी से सिकुड़ जाएंगी आंखें, और मौत पर ठहर जाएंगी।
पश्चिम के मनोविज्ञान ने पचास साल में जो-जो घोषणाएं की थीं, वे सब सही हो गईं। सही इसलिए नहीं हो गईं कि सही थीं, सही इसलिए हो गईं कि सही मान ली गईं। और आदमी ने कहा कि जब हो ही नहीं सकता अनमोटिवेटेड एक्ट, तो पागलपन है। उसे करने की कोशिश छोड़ दो।
लेकिन मैं कहता हूं, हो सकता है। उसे समझना पड़ेगा कि कैसे हो सकता है। तीन बातें ध्यान में ले लेनी जरूरी हैं, तो कृष्ण का निष्काम कर्मयोग ख्याल में आ जाए।
पहली बात, कभी आप खेल खेलते हैं। न कोई राग, न कोई द्वेष; खेलने का आनंद
ही सब कुछ होता है। आदतें हमारी बुरी हैं, इसलिए खेल को भी हम काम बना लेते हैं। वह हमारी गलती है। समझदार तो काम को भी खेल बना लेते हैं। वह उनकी समझ है।
हम अगर शतरंज भी खेलने बैठें, तो थोड़ी देर में हम भूल जाते हैं कि खेल
है और सीरियस हो जाते हैं। वह हमारी बीमारी है। गंभीर हो जाते हैं। हार-जीत भारी हो जाती है। जान दांव पर लग जाती है। कुल जमा लकड़ी के हाथी और घोड़े बिछाकर बैठे हुए हैं! कुछ भी नहीं है; खेल है बच्चों का। लेकिन भारी हार-जीत हो जाएगी। गंभीर हो जाएंगे। गंभीर हो गए, तो खेल काम हो गया। फिर राग-द्वेष आ गया। किसी को हराना है; किसी को जिताना है। जीतकर ही रहना है; हार नहीं जाना है। फिर द्वंद्व के भीतर आ गए। शतरंज न रही फिर, बाजार हो गया। शतरंज न रही, असली युद्ध हो गया!
मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि शतरंज भी कोई पूरे भाव से खेल ले, तो उसकी लड़ने की क्षमता कम हो जाती है, क्योंकि लड़ने का कुछ हिस्सा निकल जाता है। निकास हो जाता है। हाथी-घोड़े लड़ाकर भी, लड़ने की जो वृत्ति है, उसको

थोड़ी राहत मिल जाती है। हराने और जिताने की जो आकांक्षा है, वह थोड़ी रिलीज, उसका धुआं थोड़ा निकल जाता है।
हम खेल को भी बहुत जल्दी काम बना लेते हैं। लेकिन खेल काम नहीं है। बच्चे खेल रहे हैं। खेल काम नहीं है। खेल सिर्फ आनंद है, अनमोटिवेटेड। रस इस बात में नहीं है कि फल क्या मिलेगा। रस इस बात में है कि खेल का काम आनंद दे रहा है।
सुबह एक आदमी घूमने निकला है, कहीं जा नहीं रहा है। आप उससे पूछें, कहां जा रहे हैं? वह कहेगा, कहीं जा नहीं रहा, सिर्फ घूमने निकला हूं। कहीं जा नहीं रहा, कोई मंजिल नहीं है। यही आदमी इसी रास्ते पर दोपहर अपने दफ्तर भी जाता है। रास्ते के किनारे खड़े होकर देखें, सुबह जब यह घूमने जाता है, तब इसके चेहरे को, इसके पैरों की गति को, इसके हल्केपन को, इसकी ताजगी को। दोपहर उसी रास्ते से, वही आदमी, उन्हीं पैरों से दफ्तर जाता है, तब उसके भारीपन को, उसके सिर पर रखे हुए पत्थर को, उसकी छाती पर बढ़े हुए बोझ को--वह सब देखें। सुबह क्या था? मोटिवेटेड नहीं था, कहीं पहुंचना नहीं था, कोई अंत नहीं था। घूमना अपने में पर्याप्त था, घूमना ही काफी था।
हां, कुछ लोग घूमने को भी मोटिवेटेड बना ले सकते हैं। अगर नेचरोपैथ हुए, तो घूमने को भी खराब कर लेंगे! अगर कहीं प्राकृतिक चिकित्सा के चक्कर में हुए, तो घूमना भी खराब कर लेंगे। घूमना भी फिर सिर्फ घूमना नहीं है। फिर घूमना बीमारी से लड़ना है। और जो आदमी घूम रहा है बीमारी से लड़ने के लिए, वह बीमारी से तो शायद ही लड़ेगा, बीमारी उसके घूमने में भी प्रवेश कर गई! तब घूमना हल्का-फुल्का आनंद नहीं रहा; भारी काम हो गया। बीमारी से लड़ रहे हैं! स्वास्थ्य कमाने जा रहे हैं! फिर कहीं पहुंचने लगे आप। मोटिव भीतर आ गया।
लेकिन क्या कभी ऐसा जिंदगी में आपके नहीं हुआ कि शरीर ताकत से भरा है, सुबह उठे हैं और मन हुआ कि दस कदम दौड़ लें? अनमोटिवेटेड! कोई कारण नहीं है। सिर्फ शक्ति भीतर धक्के दे रही है। उसी तरह जैसे कि झरना बहता है पहाड़ से, फूल खिलते वृक्षों में, पक्षी सुबह गीत गाते हैं--अनमोटिवेटेड। कोई राग-द्वेष नहीं है; ऊर्जा भीतर है, वह बहना चाहती है, आनंदमग्न होकर बहना चाहती है।
कृष्ण कह रहे हैं कि जब भी कोई व्यक्ति राग और द्वेष दोनों को समझ लेता, तब उसकी ऊर्जा तो रहती है, जो राग-द्वेष में लगती थी, ऊर्जा कहां जाएगी? मुझे किसी से लड़ना नहीं है; मुझे किसी से जीतना नहीं है; फिर भी मेरी ताकत तो मेरे पास है। वह कहां जाएगी? वह बहेगी। वह अनमोटिवेटेड बहेगी। वह कर्म बनेगी, लेकिन अब उस कर्म में कोई फल नहीं होगा। अब वह बहेगी, लेकिन बहना अपने में आनंद होगा।
लेकिन हम इतने बीमार और रुग्ण हैं कि हमें कभी सुबह ऐसा मौका नहीं आया। कभी-कभी बाथरूम में आप गा लेते होंगे। शायद उतना ही है अनमोटिवेटेड-- बाथरूम सिंगर्स। किसी को सुनाना नहीं है। कोई ताली नहीं बजाएगा। कोई अखबार में नाम नहीं छपेगा। कोई सुनने वाला श्रोता नहीं है। अकेले हैं अपने बाथरूम में। एक गीत की कड़ी फूट पड़ी है। शायद ठंडा पानी सिर पर गिरा हो। फव्वारे के नीचे खड़े हो गए हों। सुबह की ताजी हवा ने छुआ हो। फूलों को छूती हुई एक गंध आपके कमरे में आ गई हो। कोई पक्षी बाहर गाया हो। किसी मुर्गे ने बांग दी हो। आपके भीतर की ऊर्जा भी जग गई है; उसने भी एक कड़ी गुनगुनाई है, अनमोटिवेटेड, कोई कारण नहीं है। भीतर एक शक्ति है, जो बाहर अभिव्यक्त होना चाहती है।
साधारण लोगों की जिंदगी में बस ऐसे ही छोटे-मोटे उदाहरण मिलेंगे। आपके उदाहरण ले रहा हूं, ताकि आपको ख्याल में आ सके। कृष्ण जैसे लोगों की पूरी जिंदगी ही ऐसी है--पूरी जिंदगी, चौबीस घंटे!
लेकिन अगर एक क्षण ऐसा हो सकता है, तो चौबीस घंटे भी हो सकते हैं। कोई बाधा नहीं रह जाती। क्योंकि आदमी के हाथ में एक क्षण से ज्यादा कभी नहीं होता। दो क्षण किसी आदमी के हाथ में नहीं होते। एक ही क्षण हाथ में होता है। अगर एक क्षण में भी एक कृत्य ऐसा घट सकता है, जिसमें कोई राग-द्वेष

नहीं था, जिसमें भीतर की ऊर्जा सिर्फ उत्सव से भर गई थी, फेस्टिव हो गई थी, समारोह से भर गई थी और फूट पड़ी थी... ।
दुनिया से समारोह कम हो गए हैं। क्योंकि दुनिया से वह जो रिलीजस फेस्टिव डायमेंशन है, वह जो उत्सव का आयाम है, वह क्षीण हो गया है। लेकिन दुनिया की अगर हम पुरानी दुनिया में लौटें, या आज भी दूर गांव-जंगल में चले जाएं, खेत में जब फसल आ जाएगी, तो गांव गीत गाएगा--अनमोटिवेटेड। उस गीत गाने से खेत की फसल के गेहूं ज्यादा बड़े नहीं हो जाएंगे। उस गीत के गाने से कोई फसल के ज्यादा दाम नहीं आ जाएंगे। लेकिन खेत नाच रहा है फसल से भरकर। पक्षी उड़ने लगे हैं खेत के ऊपर। चारों तरफ खेत के खेत में आ गई फसलों की सुगंध भर गई है। सोंधी गंध चारों तरफ तैरने लगी है। उसने गांव के मन-प्राण को भी पकड़ लिया है। खेत ही नहीं नाच रहे, गांव भी नाचने लगा है।
दुनिया के पुराने सारे उत्सव मौसम और फसलों के उत्सव थे। गांव भी नाच रहा है। रात, आधी रात तक चांद के नीचे पूरा गांव नाच रहा है। उस नाचने से कुछ मिलेगा नहीं। वह कोई गणतंत्र दिवस पर दिल्ली में किया गया लोक-नृत्य नहीं है। उससे कुछ मिलने को नहीं है। उसकी कोई तैयारी नहीं है। लेकिन भीतर ऊर्जा है और वह बहना चाहती है।
कृष्ण जब अर्जुन को कह रहे हैं कि राग-द्वेष से मुक्त होकर यदि तू कर्म में संलग्न हो जाए, तो सुखद मार्ग से समस्त बंधनों के बाहर हो जाएगा। तो पहली बात तो यह समझ लेनी जरूरी है, ऊर्जा हो भीतर, राग-द्वेष न हो बाहर, तो भी ऊर्जा सक्रिय होगी, क्योंकि ऊर्जा बिना सक्रिय हुए नहीं रह सकती। एनर्जी, ऊर्जा अनिवार्य रूप से क्रिएटिव है। वह सृजन करेगी ही। वह बच नहीं सकती। इसीलिए तो बच्चों को आप बिठा नहीं पाते। आपको बहुत बेहूदगी लगती है बच्चों के कामों में। कहते हैं कि बेकाम क्यों कूद रहा है! आप बहुत समझदार हैं! आप कहते हैं, कूदना हो तो काम से कूद। मैं भी कूदता हूं दफ्तर में, दुकान में, लेकिन काम से! बेकाम क्यों कूद रहा है?
अब आपको पता ही नहीं है कि बेकाम क्यों कूद रहा है। ऊर्जा भीतर है; ऊर्जा कूद रही है। काम का कोई सवाल नहीं है। शक्ति भीतर नाच रही है, स्पंदित हो रही है।
धार्मिक व्यक्ति पूरे जीवन बच्चे की तरह है। निष्काम कर्म उसको ही फलित होगा, जिसका शरीर तो कुछ भी उम्र पा ले, लेकिन जिसका मन कभी भी बचपन की ताजगी नहीं खोता। वह फ्रेशनेस, वह ताजगी, वह क्वांरापन बना ही रहता है। इसीलिए तो कृष्ण जैसा आदमी बांसुरी बजा सकता है, नाच सकता है। वह बालपन कहीं गया नहीं।
ऊर्जा भीतर हो, तो ऊर्जा निष्क्रिय नहीं होती। ध्यान रहे, शक्ति हो,
तो शक्ति सक्रिय होगी ही। चाहे कोई कारण न हो, अकारण भी शक्ति सक्रिय होगी। शक्ति का होना और सक्रिय होना, एक ही चीज के दो नाम हैं। शक्ति निष्क्रिय नहीं हो सकती। लेकिन चूंकि हम कभी राग और द्वेष के बाहर नहीं होते, इसलिए शक्ति राग और द्वेष की चैनल्स में चली जाती है। इसलिए दूसरी बात समझ लेनी जरूरी है। पहली बात, कर्म राग-द्वेष से पैदा नहीं होता; कर्म पैदा होता है भीतर की ऊर्जा से। इनर एनर्जी से पैदा होता है कर्म। चांद-तारे भी चल रहे हैं बिना किसी राग-द्वेष के। कहीं उन्हें पहुंचना नहीं है। कण-कण के भीतर परमाणु घूम रहे हैं, नाच रहे हैं, नृत्य में लीन हैं। कुछ उन्हें पाना नहीं है। फूल खिल रहे हैं। पक्षी उड़ रहे हैं। आकाश में बादल हैं। झरने नदियां बनकर सागर की तरफ जा रहे हैं। सागर भाप बनकर आकाश में उठ रहा है। कहीं कोई राग-द्वेष नहीं है, सिर्फ आदमी को छोड़कर। कहीं कोई मोटिवेशन नहीं है।
पूछें गंगा से कि क्यों इतनी परेशान है? सागर पहुंचकर भी क्या होगा? गंगा उत्तर नहीं देगी। क्योंकि उत्तर देना भी बेकार है। गंगा है, तो सागर पहुंचेगी ही। गंगा सागर पहुंच रही है, यह कोई चेष्टा नहीं है। गंगा के भीतर पानी है, तो वह सागर पहुंचेगा ही।
आदमी को छोड़ दें, तो सारा जगत कर्म में लीन है, लेकिन कर्म राग-द्वेष रहित है। आदमी का क्या पागलपन है कि आदमी इस सारे जगत में बिना राग-द्वेष के कर्म में लीन न हो सके? आदमी भी हो सकता है।

पहली बात यह समझ लेनी जरूरी है कि कर्म का जन्म राग-द्वेष से नहीं होता; कर्म का जन्म भीतर की ऊर्जा से होता है। ऊर्जा कर्म है। लेकिन अब यह ऊर्जा जो कर्म बनती है, आप चाहें तो इसको किसी भी खूंटी पर टांग सकते हैं। मेरे पास कोट है, मैं किसी भी खूंटी पर टांग सकता हूं। किसी खूंटी के कारण मेरे पास कोट नहीं है, ख्याल रखें। खूंटी के कारण मेरे पास कोट नहीं है, कोट मेरे पास है; अब मैं किसी भी खूंटी पर टांग सकता हूं। राग की खूंटी पर टांग दूं, द्वेष की खूंटी पर टांग दूं। मेरे भीतर ऊर्जा है।
जीवन ऊर्जा है। लाइफ इ.ज एनर्जी। और तो कुछ जीवन है नहीं; ऊर्जा है। नाचती हुई शक्ति है। अनंत शक्ति का नृत्य है भीतर।
और अभी तो विज्ञान ने छोटे-से परमाणु में अनंत ऊर्जा को खोजकर बता दिया। जब हम पहले कभी यह कहते रहे कि एक-एक आदमी के भीतर परमात्मा की अनंत शक्ति भरी है, तो हंसी की बात मालूम पड़ती थी। लेकिन अब तो एक-एक परमाणु के भीतर अनंत शक्ति भरी है, तो एक-एक आदमी के भीतर क्यों भरी हुई नहीं हो सकती! और अगर मिट्टी के कण के भीतर, मृत कण के भीतर इतनी शक्ति है, तो मनुष्य के जीवित कोष्ठ, जीवित सेल के भीतर उससे अनंत गुनी हो सकती है।
अभी पश्चिम का विज्ञान एटम को तोड़ पाया है, कल सेल को भी तोड़ लेगा। जिस दिन जेनेटिक सेल तोड़ी जा सकेगी, उस दिन हम पाएंगे कि वह जो पूरब सदा से कहता रहा था कि छोटे-से पिंड में ब्रह्मांड है, उस नतीजे पर विज्ञान आज नहीं कल पहुंच जाएगा।
एक-एक व्यक्ति अनंत ऊर्जा से भरा हुआ है। इस ऊर्जा से कर्म पैदा होता है। यह पहली बात समझ लें। इस कर्म को हम चाहें, तो राग पर टांग सकते हैं, चाहें तो द्वेष पर टांग सकते हैं। यह हमारा चुनाव है। और चाहें तो अनटांगा छोड़ सकते हैं; यह भी हमारा चुनाव है। खूंटी कहती नहीं कि मुझ पर टांगो। मैं कोट को नीचे भी पटक दे सकता हूं। कोई खूंटी मुझे मजबूर नहीं करती। मैं चाहूं तो अपनी जीवन ऊर्जा को किसी आकर्षण में लगा दूं। किसी के पीछे दौड़ने लगूं। कोहिनूर के पीछे दौड़ सकता हूं। कोहिनूर मुझसे नहीं कहता कि मेरे पीछे दौड़ो। मैं कोहिनूर के पीछे दौड़ सकता हूं, कि जब तक कोहिनूर न मिल जाए, मेरा जीवन बेकार है।
अब मैंने एक खूंटी चुन ली, जिस पर मैं अपने को टांग कर रहूंगा। और सोचता हूं, टंग जाऊंगा, तो सब पा लूंगा। कोहिनूर मिल जाए, तो कुछ मिलना नहीं है। सिर्फ ऊर्जा व्यय हुई। और इतने दिन तक पीछे दौड़ने की जो आदत पड़ गई, वह फिर कहेगी, अब और किसी के पीछे दौड़ो। अब कोई और राग खोजो। कोई और आकर्षण, उसके पीछे दौड़ो।
चाहूं तो मैं द्वेष पर भी अपने को टांग सकता हूं। द्वेष पर भी टांग सकता हूं! मैं किसी के विरोध में लग जाऊं, मैं किन्हीं को नष्ट करने में लग जाऊं, मैं कुछ छोड़ने में लग जाऊं, तो भी मैं अपनी शक्ति को टांग सकता हूं। दो ही तरह के लोग हैं। एक वे, जो किसी चीज को पाने में लग जाते हैं। एक वे, जो किसी चीज को छोड़ने में लग जाते हैं। एक को हम गृहस्थ कहते हैं, दूसरे को हम संन्यासी कहते हैं। हमारी आम बातचीत में, पकड़ने वाले को हम गृहस्थ कहते हैं, छोड़ने वाले को हम त्यागी कहते हैं। लेकिन कृष्ण नहीं कहेंगे। कृष्ण तो कहते हैं, जो दोनों के बाहर है, वह संन्यासी है। वह निष्काम कर्म को उपलब्ध हुआ, जो दोनों के बाहर है; जो अपनी ऊर्जा को किसी पर टांगता ही नहीं।
ध्यान रहे, जब आप अपनी ऊर्जा को न राग पर टांगेंगे, न द्वेष पर, तो भी ऊर्जा होगी। फिर ऊर्जा कहां जाएगी? अनटांगी गई ऊर्जा परमात्मा पर समर्पित हो जाती है; विराट में लीन हो जाती है। बिना टांगी गई ऊर्जा, अनफोकस्ड, अनंत के प्रति, अनंत के चरणों में बहने लगती है। जिस क्षण राग और द्वेष नहीं हैं, उसी क्षण व्यक्ति का समस्त जीवन परमात्मा को समर्पित हो जाता है।
तीन तरह के समर्पण हुए, राग को समर्पित, द्वेष को समर्पित, राग-द्वेष दोनों के अतीत परमात्मा को समर्पित। यह परमात्मा को समर्पित जीवन ही निष्काम कर्मयोग है।

और कृष्ण ने एक और बात उसमें कही। उन्होंने कहा कि यह बड़े सुख से बंधन
के बाहर हो जाना है।
दुख से भी बंधन के बाहर हुआ जा सकता है। लेकिन दुख से बंधन के बाहर जो
हो जाता है, उसके हाथों में पैरों में बंधन की थोड़ी-बहुत रेखा और चोट रह जाती है। जैसे कोई कच्चे पत्ते को वृक्ष से तोड़ ले। कच्चा पत्ता भी वृक्ष से तोड़ा जा सकता है। पत्ते में भी घाव रह जाता है, वृक्ष में भी घाव छूट जाता है। एक पका पत्ता वृक्ष से गिरता है। कहीं खबर नहीं होती--मौन, निष्पंद, चुपचाप। कहीं कोई आवाज भी नहीं होती कि पत्ता गिर गया। न वृक्ष को पता चलता, न पत्ते को पता चलता। कहीं कोई घाव नहीं छूटता। चुपचाप! कृष्ण कहते हैं, सुखद ढंग से बंधन के बाहर हो जाने की राह मैं कह रहा हूं महाबाहो! तू कर्म कर और द्वंद्व, राग और द्वेष से दूर खड़े होकर कर्म में लग जा। एक दिन तू पके पत्ते की तरह चुपचाप बाहर हो जाएगा।
कच्चे पत्ते की तरह भी बाहर हुआ जा सकता है। संघर्ष से, समर्पण से नहीं। संकल्प से, समर्पण से नहीं। लड़कर, जूझकर, चुपचाप विसर्जित होकर नहीं। कोई लड़ भी सकता है। ध्यान रहे, राग और द्वेष से भी अगर कोई लड़ने में लग जाए, तो वह फिर द्वेष का ही नया रूप है।
इसलिए कृष्ण कह रहे हैं कि राग-द्वेष को समझकर!
जो यह देख लेता है कि राग भी दुख है, द्वेष भी दुख है। जो यह देख लेता है, राग भी पीड़ा में ले जाता, द्वेष भी पीड़ा में ले जाता। जो यह देख लेता है कि राग और द्वेष से कभी कोई आनंद फलित नहीं होता; कभी जीवन में उत्सव की घड़ी नहीं आती; नर्क ही निर्मित होता है। चाहते तो हैं कि बना लें स्वर्ग; जब बन जाता है, तो पाते हैं कि बन गया नर्क। चाहते तो हैं कि बना लें मंदिर; जब बन जाता है, तो पाते हैं कि अपने ही हाथ कारागृह निर्मित हो गया। ऐसा जो समझकर, ऐसी प्रज्ञा से, ऐसे बोध से जो दोनों के बाहर हो जाता है, वह बड़े सुखद मार्ग से--सूखे पत्ते की तरह--बंधन के बाहर गिर जाता है। कहीं कोई पता भी नहीं चलता है।
संन्यास तो वही अर्थपूर्ण है, जो इतना संगीतपूर्ण हो। इतना-सा भी विसंगीत पैदा नहीं होना चाहिए। जरा-सी भी चोट कहीं पैदा नहीं होनी चाहिए।
कर्म छोड़कर जो जाएगा, उससे तो चोट पैदा होगी। एक आदमी घर छोड़कर जाएगा।
पत्नी रोएगी। आंसू पीछे होंगे ही। क्योंकि किसी की अपेक्षाएं टूटेंगी।
बच्चे पीड़ित होंगे; अनाथ हो जाएंगे। कहीं किसी की छाती पर पत्थर गिरेगा ही। कहीं कुछ उजड़ जाएगा।
और ऐसा आदमी, जो सब छोड़कर जा रहा है, बहुत गहरे में स्वार्थी नहीं मालूम पड़ता? अपनी मुक्ति के लिए वह अपने चारों तरफ एक मरघट बनाकर जा रहा है। चीजें टूटेंगी; चारों तरफ दुख निर्मित होगा।
लेकिन कृष्ण कहते हैं, निष्काम कर्मयोग!
पत्नी को छोड़कर कहीं जाना नहीं। चुपचाप भीतर ही पत्नी के प्रति राग
और द्वेष छोड़ देना। पत्नी को भी पता नहीं चलेगा।
बड़े मजे की बात है। अगर चुपचाप भीतर से ही राग-द्वेष छोड़ दिया जाए, किसी को कहीं पता नहीं चलेगा सिवाय आपके। और अगर किसी को पता भी चलेगा, तो सुखद पता चलेगा। क्योंकि हम राग करके भी किसी को सुख नहीं दे पाते, सिर्फ दुख देते हैं। और द्वेष करके तो दुख देते ही हैं।
जैसे ही भीतर राग-द्वेष गिर जाता है, हम हलके हो जाते हैं। आनंदपूर्ण
हो जाते हैं। संबंध सहज और सरल हो जाते हैं। हमारे भीतर से पत्नी मिट जाती है। दूसरी तरफ भी परमात्मा हो जाता है। पति मिट जाता है, परमात्मा हो जाता है। बेटा मिट जाता है, परमात्मा हो जाता है। फिर भी उस बेटे को स्कूल में भेज आते हैं। उसके भोजन का इंतजाम कर देते हैं। लेकिन अब यह इंतजाम परमात्मा के लिए है। बेटे को कभी पता नहीं चलेगा। बल्कि बेटा तो आनंदित होगा, क्योंकि जिसके पिता के मन में बेटे के लिए परमात्मा का भाव आ गया हो, उसके बेटे को दुख का कोई भी कारण नहीं है। आनंद ही आनंद का कारण है।
कृष्ण कहते हैं, सुख से, चुपचाप, अत्यंत शांतिपूर्ण मार्ग से निष्काम कर्मयोगी बंधन के बाहर हो जाता है। कोई जल्दी नहीं करता तोड़ने की, चुपचाप चीजों से सरक जाता है।

और जो तोड़कर सरकता है, वह बहुत कुशल नहीं है। जो तोड़कर हटता है, वह बहुत कलात्मक नहीं है। जो तोड़कर हटता है, उसे संगीत का बहुत बोध नहीं है। उसे सौंदर्य का बहुत बोध नहीं है। उसे मानवीय जीवन की गरिमा का बहुत स्पष्ट ख्याल नहीं है। वह अपने ही लिए जी रहा है। धन कमाता था, तो अपने लिए; धर्म कमा रहा है, तो अपने लिए। लेकिन चारों तरफ और भी परमात्माओं के दीए जल रहे हैं, वे बुझ जाएं, इसकी उसे चिंता नहीं है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि निष्काम कर्म को करते हुए कोई भी व्यक्ति सुख से, कहीं भी दुख का कोई स्पंदन खड़ा किए बिना, बाहर हो जाता है। राग-द्वेष के अतीत होते ही ऊर्जा--अनमोटिवेटेड--सक्रिय हो जाती है। निश्चित ही, जो ऊर्जा बिना किसी लक्ष्य के, बिना किसी अंत के सक्रिय होगी, वह ऊर्जा अधर्म के लिए सक्रिय नहीं हो सकती। उस ऊर्जा की सक्रियता अनिवार्यरूपेण धर्म के लिए, मंगल के लिए, श्रेयस के लिए होगी। ऐसे व्यक्ति का सारा जीवन धर्म-कृत्य, धार्मिक कृत्य बन जाता है।

प्रश्नः भगवान श्री, आपने कहा कि अकारण, अनमोटिवेटेड कर्म, निष्काम कर्म आनंद का स्रोत है। लेकिन निश्चित ही जीवन में ऐसी चीजें भी हैं, जिनमें मोटिवेशन की जरूरत पड़ती है। जैसे औद्योगिक, यांत्रिक काम आदि। तो कृपया बताएं कि जीवन में मोटिवेटेड कर्म के साथ अनमोटिवेटेड कर्म का संतुलन कैसे किया जाए?

संतुलन करने में जो पड़ेगा, वह बड़ी दुविधा में पड़ेगा। संतुलन नहीं किया जा सकता। जरूरत भी नहीं है।
जिस व्यक्ति को निष्काम कर्म का रस आ गया, वह अपनी दुकान भी उसी रस से चलाएगा। जिस व्यक्ति को निष्काम कर्म का रस आ गया, वह अपने उद्योग को भी उसी रस से चलाएगा।
कबीर ने दुकान बंद नहीं की। कबीर कपड़ा बुनता रहा। लोगों ने कहा भी कि
अब तुम कपड़ा बुनो, यह अच्छा नहीं मालूम पड़ता! कबीर ने कहा, पहले जो कपड़ा बुना था, उसमें यह मजा न था। अब जो मजा है, वह बात ही और है। पहले तो कपड़ा बुनते थे, तो एक मजबूरी थी; अब आनंद है। पहले कपड़ा बुनते थे, तो किसी ग्राहक का शोषण करना था। अब कपड़ा बुनते हैं, तो किसी राम के अंग को, तन को ढंकना है।
कपड़ा बुनना जारी है। अब कबीर कपड़ा बुनता है और गाता रहता है, झीनी झीनी बीनी रे चदरिया। वह गा रहा है! वह बाजार कपड़े लेकर जाता है, तो दौड़ता हुआ ग्राहकों को बुलाता है कि राम, बहुत मजबूत चीज बनाई है। तुम्हारे लिए ही बनाई है!
आनंद आ गया निष्काम कर्म का, तो भूलकर भी आप सकाम कर्म न कर पाएंगे। वहां भी, जहां सकाम कर्म का जगत घना है, वहां भी निष्काम कर्म हो जाएगा। आनंद ही रह जाएगा।
अब किसी आदमी का आनंद हो सकता है कि वह एक बड़ा कारखाना चलाए। लेकिन तब
वह आनंद परमात्मा को समर्पित हो जाएगा। तब वह किसी के शोषण के लिए नहीं है। बड़े कारखाने को चलाना उसका आनंद है। और यह आनंद अगर निष्काम कर्म का है, तो वह बड़ा कारखाना एक कम्यून बन जाएगा। उस बड़े कारखाने में मजदूर और मालिक नहीं होंगे। उस बड़े कारखाने में मित्र हो जाएंगे।
और इस पृथ्वी पर अगर कभी भी दुनिया में सच में ही कोई समता की घटना घटेगी, तो समाजवादियों से घटने वाली नहीं है। इस दुनिया में कभी भी कोई समता की घटना घटेगी, तो वह उन धार्मिक लोगों से घटेगी, जिनके भीतर अनमोटिवेटेड कर्म पैदा हुआ है; जिनके भीतर निष्काम कर्म पैदा हुआ है। कुछ भी किया जा सकता है, एक बार ख्याल में आ जाए।
और जहां खतरा ज्यादा है, जैसे एक अंधा आदमी पूछ सकता है, एक अंधा आदमी पूछ सकता है कि जब मेरी आंखें ठीक हो जाएंगी, तो मैं टटोलने में और चलने में क्या समन्वय करूंगा? क्या संतुलन करूंगा? स्वभावतः, एक अंधा आदमी अभी टटोलकर चलता है। अभी उसने टटोलकर ही चलना जाना है। एक ही चलने का ढंग है, टटोलना। उससे हम कहते हैं कि तेरी आंखें ठीक हो जाएंगी। तो वह कहता है, मैं

समझ गया। जब आंखें ठीक हो जाएंगी, तो बिना टटोलकर मैं चल सकूंगा। लेकिन फिर टटोलने में और न टटोलकर चलने में, दोनों में संतुलन कैसे करूंगा?
हम उससे कहेंगे, संतुलन की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। तू बिल्कुल पागल है!
जब आंखें मिल जाएंगी, तो टटोलने की जरूरत ही नहीं रहेगी। वह आदमी कहेगा, लेकिन अंधेरे में तो टटोलना ही पड़ेगा! हम उससे कहेंगे कि आंख आ जाए, तब तू जानेगा कि टटोलने की जो प्रक्रिया थी, वह अंधे की प्रक्रिया थी। आंख वाले की वह प्रक्रिया नहीं है। संतुलन नहीं बनाना पड़ेगा। और जब तक आंख नहीं है, तब तक चलने से टटोलने का संतुलन बनाने का तो कोई सवाल नहीं है।
सकाम आदमी जहां जी रहा है, वह अंधे की दुनिया है। वहां वह फल को टटोलकर
ही कर्म करता है। उसे अभी कर्म के आनंद का पता ही नहीं है। उसे एक ही पता है कि फल में आनंद है; कर्म में कोई आनंद नहीं है। अभी वह दुकान में बैठता है, तो दुकान में आनंद नहीं है। जो ग्राहक सामने खड़ा है, उसमें परमात्मा नहीं है। उसका परमात्मा तो उस रुपए में है, जो ग्राहक से मिलेगा, मिलने वाला है; जिसे वह तिजोड़ी में कल बंद करेगा। जिसे परसों गिनेगा और बैंक बैलेंस में इकट्ठा करेगा। उसका आनंद वहां है। यह कर्म जो घटित हो रहा है, इसमें उसका कोई आनंद नहीं है।
और जिस कर्म में आनंद नहीं है, हम पागल हैं, उसके फल में कैसे आनंद हो सकेगा? क्योंकि फल कर्म से पैदा होता है। जब बीज में आनंद नहीं है, तो फल में कैसे आनंद आ जाएगा? जब बीज जहर मालूम पड़ रहा है, तो फल अमृत कैसे हो जाएगा?
जिस कृत्य में आनंद नहीं है, उस कृत्य के फल में कभी आनंद नहीं हो सकता। लेकिन सकाम आदमी का मन फल में अटका है। वह कह रहा है, किसी तरह काम तो कर डालो। यह तो एक मजबूरी है। इसे करके निपटा दें। आनंद तो फल में है। फल मिल जाएगा और आनंद मिल जाएगा।
कृष्ण जिस आदमी की बात कर रहे हैं, वह यह कह रहे हैं, कर्म में ही आनंद है। कर्म किया, यही आनंद है। और जिसे कर्म में अभी आनंद मिल रहा है, उसे सदा आनंद मिल जाएगा। जो अभी ही आनंद ले लिया, वह सदा आनंद लेने का राज पहचान गया।
सकाम आदमी फल में आनंद देखता है, कर्म को करता है मजबूरी में। निष्काम आदमी कर्म में ही आनंद देखता है, कर्म को करता है आनंद से। कोई भी कर्म हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। युद्ध क्यों न हो। आखिर कृष्ण अर्जुन को कह ही रहे हैं कि तू युद्ध में जूझ जा। लेकिन किसी तरह की कामना लेकर नहीं। किसी तरह की कामना लेकर नहीं, कोई राग-द्वेष लेकर नहीं। तेरा स्वधर्म है। तू क्षत्रिय होकर ही आनंद को उपलब्ध हो सकता है। वही तेरा प्रशिक्षण है। तेरी जीवन ऊर्जा क्षत्रिय की तरह ही प्रकट हो सकती है, अभिव्यक्त हो सकती है। तू किसी तरह के लक्ष्य की फिक्र मत कर। तू क्षत्रिय होने में लीन हो जा। फल की चिंता छोड़ दे। तू कर्म को पूरा कर ले। यही तेरी निष्पत्ति है। यह जो युद्ध के मैदान तक पर कृष्ण कह सकते हैं, तो दुकान तो युद्ध से बड़ा मैदान नहीं है। न दफ्तर बड़ा है; न उद्योग बड़ा है। दृष्टि का फर्क है। आप कहां हैं और क्या काम कर रहे हैं, यह सवाल नहीं है। आप क्या हैं और किस आंतरिक दृष्टि से काम कर रहे हैं, यही सवाल है।
कभी भी संतुलन नहीं बनाना पड़ेगा दोनों में, क्योंकि दोनों में से एक
ही रहता है हाथ में, दोनों कभी नहीं रहते। या तो सकाम कर्म रहता है हाथ में, तब निष्काम से कोई तालमेल नहीं बिठाना है। और जब निष्काम आता है, तो सकाम चला जाता है। उससे तालमेल नहीं बिठाना पड़ता है। ठीक ऐसे ही जैसे एक कमरे में मैं रोशनी लेकर चला जाऊं। फिर अंधेरे और रोशनी के बीच कोई तालमेल नहीं बिठाना पड़ता। या तो अंधेरा रहता है या रोशनी रहती है। या तो ज्ञान रहता है या अज्ञान रहता है। या तो कामना रहती है, वासना रहती है, या प्रज्ञा रहती है। दोनों साथ नहीं रहते हैं। इसलिए दोनों को मिलाने की कभी भी जरूरत नहीं पड़ती।
लेकिन हमारे मन में यह सवाल उठेगा। क्यों? क्योंकि हम सकाम होना तो छोड़ना नहीं चाहते, और निष्काम का लोभ भी मन को पकड़ता है। हमारी तकलीफ जो है, वह यह है, हम टटोलने का मजा भी नहीं छोड़ना चाहते और आंख भी पाना चाहते

हैं। हम चाहते हैं, जो सकाम जगत चल रहा है, वह भी चलता रहे, और यह जो निष्काम आनंद की बात चल रही है, यह भी चूक न जाए। हम चाहते हैं, फल का भी चिंतन करते रहें, और कर्म में भी आनंद ले लें। ये दोनों बात साथ संभव नहीं हैं। यह गली बहुत संकरी है, इसमें दो नहीं समाएंगे।
इसलिए जब तक लोभ मन को है--राग का, द्वेष का, पाने का, खोने का, हारने का, जीतने का--तब तक निष्काम न हो सकेंगे आप। और जिस क्षण यह बोध आ जाएगा कि दोनों बेकार हैं, उसी क्षण निष्काम हो जाएंगे। और निष्काम हो जाने के बाद सकाम बचेगा नहीं, जिससे संतुलन बिठालना पड़े, जिससे तालमेल करना पड़े।
यह बहुत मजे की बात है। अज्ञानी को निरंतर यह कठिनाई होती है कि कैसे मैं तालमेल बिठाऊं! उसका तालमेल बिठाना हमेशा खतरनाक है। एक आदमी कहता है, ठीक है। आप कहते हैं, निरअहंकार बड़ी अच्छी चीज है। लेकिन अहंकार से कैसे तालमेल बिठाऊं? अब अहंकार से निरअहंकार के तालमेल का कोई मतलब होता है? आप कहते हैं, अमृत बड़ी अच्छी चीज है, लेकिन जहर और अमृत को मिलाऊं कैसे? कहीं जहर और अमृत मिले हैं! मिलने का कोई उपाय नहीं है। जिस आदमी के हाथ में जहर है, उसके आदमी के हाथ में अमृत नहीं होता। और जिस आदमी के हाथ में अमृत आता है, उसके हाथ में जहर नहीं होता। दो में से एक ही सदा हाथ में होते हैं। दोनों हाथ में नहीं होते।
इसलिए लोग अक्सर पूछते हैं कि धर्म का और संसार का तालमेल कैसे करें? परमात्मा को और संसार को कैसे मिलाएं? ये मोक्ष को, परलोक को और इस लोक को कैसे मिलाएं? उनके सवाल बुनियादी रूप से गलत हैं, एब्सर्ड हैं, असंगत हैं। परमात्मा उतर आए, तो संसार खो जाता है; संसार होता ही नहीं। उसका मतलब, संसार परमात्मा ही हो जाता है। कुछ बचता नहीं परमात्मा के सिवाय। और जब तक संसार होता है, तब तक संसार ही होता है, परमात्मा नहीं होता। ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।
जिसने परमात्मा को जाना, उसके लिए संसार नहीं है। जो संसार को जान रहा है, उसके लिए परमात्मा नहीं है। और ऐसा कभी भी नहीं हुआ, इंपासिबल है, असंभव है कि एक आदमी परमात्मा और संसार दोनों को जान रहा हो। यह ऐसे ही असंभव है, जैसे रास्ते से मैं गुजर रहा हूं, अंधेरा है, और एक रस्सी मुझे पड़ी दिखाई पड़ गई और मैंने समझा कि सांप है। भागा! तब किसी ने कहा, रुको! मत भागो! रस्सी है, सांप नहीं है। पास गया। देखा, कि रस्सी है। क्या मैं पूछूंगा कि रस्सी और सांप में कैसे तालमेल बिठाऊं? जब तक मुझे सांप दिखाई पड़ता है, तब तक रस्सी दिखाई नहीं पड़ती। जब मुझे रस्सी दिखाई पड़ जाती है, तो सांप दिखाई नहीं पड़ता। तालमेल नहीं बैठता। सांप दिखाई पड़ता है, तो भागता रहता हूं। रस्सी दिखाई पड़ती है, तो खड़ा हो जाता हूं। लेकिन ऐसा आदमी खोजना कठिन है, जिसे सांप और रस्सी दोनों एक साथ दिखाई पड़ जाएं। या कि संभव है? या कि आप सोचते हैं, ऐसा आदमी मिल सकता है, जिसे रस्सी और सांप एक साथ दिखाई पड़ जाएं? अब तक ऐसा नहीं हुआ। अगर ऐसा आदमी आप खोज लें, तो मिरेकल, चमत्कार होगा। रस्सी दिखाई पड़ेगी, तो रस्सी दिखाई पड़ेगी, सांप खो जाएगा। सांप दिखाई पड़ेगा, तो सांप दिखाई पड़ेगा, रस्सी खो जाएगी।
जब तक सकाम सांप दिखाई पड़ रहा है, तब तक निष्काम रस्सी दिखाई नहीं पड़ेगी। इसलिए प्रश्न संगत मालूम पड़ता है। भाषा में बिल्कुल ठीक लगता है कि कैसे तालमेल बिठाएं? तालमेल कभी बिठाया नहीं जाता। इसलिए जो आदमी कहता है, मुझे संसार में परमात्मा दिखाई पड़ता है, वह गलत कहता है। जो आदमी कहता है मुझे संसार दिखाई नहीं पड़ता, परमात्मा दिखाई पड़ता है; वह आदमी ठीक कहता है। जो आदमी यह कहता है, कण-कण में परमात्मा है, वह गलत कहता है। जो कहता है, परमात्मा ही परमात्मा है, कण कहां है! वह ठीक कहता है।
लेकिन भाषा की कठिनाइयां हैं। भाषा की कठिनाइयां इसलिए हैं कि दो तरह
के लोगों के बीच बात चल रही है सदा से। चाहे वह कृष्ण और अर्जुन के बीच हो; चाहे वह बुद्ध और आनंद के बीच हो; चाहे वह जीसस और ल्यूक के बीच हो; चाहे वह किसी के बीच हो। इस जगत का जो संवाद है, बड़ी मुश्किल का है। वह ज्ञानी और अज्ञानी के बीच चल रहा है।
अज्ञानी को सांप दिखाई पड़ रहा है, ज्ञानी को रस्सी दिखाई पड़ रही है। ज्ञानी कहे चला जाता है कि सांप नहीं है। अज्ञानी कहता है कि आप कहते हैं,

तो ठीक ही कहते होंगे। लेकिन सांप है। मैं तालमेल कैसे बिठाऊं! अज्ञानी की वजह से ज्ञानी को भी गलत भाषा बोलनी पड़ती है। उसे कहना पड़ता है कि जिसे तुम सांप कह रहे हो, वह असल में रस्सी है। उसे कहना पड़ता है, सांप में रस्सी है। जब कि सांप है ही नहीं।
यह जो दो तलों की बात है, दो भिन्न तलों की बात है। इतने भिन्न, डायमेट्रिकली अपोजिट, एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत। ज्ञानी को दिखाई पड़ रहा है कि जो आपको दिखाई पड़ रहा है, वह है ही नहीं। आपको वह दिखाई ही नहीं पड़ रहा है, जो ज्ञानी को दिखाई पड़ रहा है। और दोनों के बीच बातचीत है। यह भी मजे की बात है।
दो ज्ञानियों के बीच कभी बातचीत नहीं हो सकती; जरूरत नहीं है। दो अज्ञानियों के बीच कितनी ही बातचीत हो, बातचीत हो नहीं पाती; सिर्फ उपद्रव होता है। बातचीत बहुत होती है!
दो ज्ञानियों के बीच बातचीत हो सकती थी, लेकिन होती नहीं, क्योंकि जरूरत नहीं है। दोनों जानते हैं, कहने को कुछ भी नहीं है। अगर मुझे भी दिखाई पड़ रहा है कि सांप नहीं है, रस्सी है; और आपको भी दिखाई पड़ रहा है कि सांप नहीं है, रस्सी है; तो कौन बोले कि सांप नहीं है! जो बोले, वह पागल। जब दिखाई ही पड़ रहा है कि रस्सी है, तो पागल ही बोलेगा।
दो ज्ञानियों के बीच बातचीत नहीं हुई आज तक। एक बार ऐसा भी हो गया कि बुद्ध और महावीर एक ही धर्मशाला में ठहर गए, लेकिन बात नहीं हुई। बातचीत का कोई कारण नहीं था। बात करते भी क्या! अगर बुद्ध महावीर से कहते या महावीर बुद्ध से कहते कि सांप नहीं है, रस्सी है, तो दूसरा हंसता कि तुम पागल हो! है ही नहीं, तो बात क्या कर रहे हो!
दो ज्ञानियों के बीच बातचीत हो सकती है, लेकिन होती नहीं। दो अज्ञानियों के बीच हो ही नहीं सकती, लेकिन बहुत होती है, सुबह से सांझ, अनंतकाल से चल रही है! बोलते रहते हैं, जो जिसे बोलना है।
ज्ञानी और अज्ञानी के बीच बातचीत अति कठिन है। असंभव नहीं है, अति कठिन है। दो ज्ञानियों के बीच असंभव है, क्योंकि जरूरत नहीं है। दो अज्ञानियों के बीच असंभव है, क्योंकि दोनों को ही पता नहीं है। एक ज्ञानी और दूसरे अज्ञानी के बीच संभव है, लेकिन अति कठिन है। क्योंकि दो तलों पर बातचीत होती है।
ज्ञानी जो बोलता है, वह कुछ और जान रहा है। अज्ञानी जो सुनता है, वह कुछ और जान रहा है। ज्ञानी से बात अज्ञानी के पास गई कि उसका अर्थ बदल जाता है। ज्ञानी कुछ भी कहे, अज्ञानी वही समझेगा, जो समझ सकता है। वह तत्काल पूछेगा कि माना कि ईश्वर है... । मान सकता है वह। है, ऐसा जानता तो नहीं है। माना, कि कठिनाई शुरू हुई।
वह कहता है, मान लेते हैं कि सांप नहीं है! है तो ही! आप कहते हैं, मान लेते हैं कि सांप नहीं है। आप कहते हैं, मान लेते हैं कि रस्सी है। हालांकि है नहीं! क्योंकि अगर हो, रस्सी पता चल जाए, तो मानने की संभावना समाप्त हो गई। फिर कहने की जरूरत नहीं है कि हम मान लेते हैं कि रस्सी है; मान लेते हैं कि सांप नहीं है। फिर बात खतम हो गई। दिखाई पड़ गया। नहीं; वह कहता है, मान लेते हैं कि सांप नहीं है। मान लेते हैं कि रस्सी है। अब कृपा करके यह बताइए कि दोनों में तालमेल कैसे करें?
उसका प्रश्न संगत, कंसिस्टेंट मालूम होता है, लेकिन संगत है नहीं, बिल्कुल असंगत है।
तो मैं भी आपसे कहना चाहूंगा, कभी ऐसी घड़ी नहीं आती, जब अज्ञान और ज्ञान में कहीं भी कोई मेल होता हो। अज्ञान गया कि ज्ञान। ज्ञान जब तक नहीं है, तब तक अज्ञान।
सकाम कर्म को निष्काम कर्म से मिलाने की कोशिश न करें। सकाम कर्म को समझने की कोशिश करें। सकाम कर्म की पीड़ा, संताप को अनुभव करें। सकाम कर्म के नर्क को भोगें, देखें, पहचानें। सकाम कर्म जब ऐसा लगने लगे, जैसे मकान में आग लगी है, चारों तरफ लपटें ही लपटें हैं, तब अचानक आप छलांग लगाकर बाहर हो जाएंगे। और जब आप बाहर हो जाएंगे, तब ठंडी हवाएं और शीतल हवाएं और खुला आकाश--निष्काम कर्म का--आपको मिल जाएगा। लेकिन जब तक आप सकाम लपटों के

भीतर खड़े हैं, तब तक मकान, जलते हुए मकान के भीतर से मत पूछें कि मैं शीतल हवाओं में और आग लगी लपटों में कैसे तालमेल करूं!
वह कृष्ण कह रहे हैं, छलांग लगा। द्वंद्व के बाहर आ जा। बाहर निकल आ।
यह ख्याल में आ जाए, तो सकाम कर्म और निष्काम कर्म के बीच कोई समझौता, कोई कंप्रोमाइज नहीं है। लेकिन हम सदा ऐसा ही करते हैं। हम दुकान और मंदिर के बीच समझौता कर लेते हैं। हम आत्मा और शरीर के बीच समझौता कर लेते हैं। हम हर चीज में समझौता करते चले जाते हैं। हमारी जिंदगी एक लंबा समझौता है। और समझौते का अर्थ है कि धोखा। समझौते का अर्थ है कि खो दिया हमने अवसर, जहां कि सत्य मिल सकता था।
जो आदमी समझौते में जीएगा, वह सत्य को कभी भी उपलब्ध नहीं होगा। जितनी बड़ी कंप्रोमाइज, उतना बड़ा अनट्रुथ, उतना बड़ा झूठ। और ध्यान रहे, समझौते में सदा झूठ जीतता है, सत्य हार जाता है।
मैंने सुना है, एक बार ऐसा एक गांव में हुआ। एक आदमी ने रास्ते पर चलते
एक आदमी को पकड़ लिया। और कहा कि हद हो गई! अब बहुत हो गया; अब बर्दाश्त के बाहर है। वह सौ रुपए जो आपने लिए थे, मुझे वापस लौटा दें! वह आदमी चौंका। उसने कहा कि क्या कह रहे हैं आप? मैंने और आपसे सौ रुपए कभी उधार लिए! मैंने आपकी शकल भी पहले नहीं देखी। उस आदमी ने कहा कि लो, सुनो मजाक! लेते वक्त पुराने परिचित थे, देते वक्त शकल भी पहचान में नहीं आती!
भीड़ इकट्ठी हो गई है! रास्ते पर चारों तरफ लोग आ गए हैं! लोगों ने कहा
कि भई, क्या बात है! उस आदमी ने चिल्लाकर कहा कि मेरे सौ रुपए लूटे ले रहा है यह आदमी। कहता है, मेरी शकल भी नहीं देखी! उस आदमी ने कहा कि हैरान कर रहे हैं आप! सच में ही मैंने आपकी शकल नहीं देखी! लोगों को भी शक हुआ कि इतना झूठ तो कोई भी नहीं बोलेगा कि शकल भी न देखी हो और सौ रुपये!
अंततः लोगों ने, जैसा कि लोग होते हैं, उन्होंने कहा कि कंप्रोमाइज कर लो, पचास-पचास पर निपटारा कर लो! जिस आदमी को देने थे, उसने कहा, क्या कह रहे हैं आप? मैं इसकी शकल नहीं जानता। लोगों ने कहा, अब तुम ज्यादती कर रहे हो! उस आदमी ने कहा कि भई, ठीक है। हम पचास छोड़े देते हैं। और क्या! पचास छोड़े देता हूं, लोगों ने कहा, इनकी बात का ख्याल रखकर! स्वभावतः, लोग उसके और साथ हो गए। उन्होंने कहा, पचास तो तुम दे ही दो!
मैं यह कह रहा हूं कि जब भी सच और झूठ में समझौता हो, तो झूठ जीतता है।
जब भी! क्योंकि झूठ को खोने को कुछ भी नहीं है उसके पास। सच को खोने को कुछ है। झूठ का मतलब ही यह है कि खोने को कुछ भी नहीं है। अगर पूरा भी झूठ सिद्ध हो जाए, तो भी कुछ नहीं खोता। झूठ था! और सत्य का कुछ भी खो जाए, तो सब कुछ खो जाता है।
और यह भी मैं आपसे कह दूं कि सत्य जब खोता है, तो आधा नहीं खोता, पूरा
ही खो जाता है। क्योंकि सत्य एक आर्गेनिक यूनिटी है; वह आधा नहीं खोता। सत्य के दो टुकड़े नहीं किए जा सकते। झूठ के हजार किए जा सकते हैं। वह मुर्दा चीज है। वह है ही नहीं। वह सिर्फ कागजी है। कैंची चलाएं और हजार टुकड़े कर लें। सत्य जीवंत है; उसके टुकड़े नहीं होते।
सकाम कर्म, अपने ही हाथों पैदा किया गया एक असत्य है। निष्काम कर्म जीवन की शाश्वत धारा का सत्य है। उस सत्य और इस असत्य के बीच कोई समझौता नहीं है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। 4।।
और हे अर्जुन! ऊपर कहे हुए संन्यास और निष्काम कर्मयोग को मूर्ख लोग अलग-अलग फल वाले कहते हैं, न कि पंडितजन। क्योंकि दोनों में से एक में भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष, दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है।

इस जगत के सारे भेद मूढ़जनों के भेद हैं। इस जगत के बाहर जाने वाले मार्गों के सारे विरोध नासमझों के विरोध हैं। चाहे हो कर्म-संन्यास, चाहे

हो निष्काम कर्म, ज्ञानी जानता है कि दोनों से एक ही अंत की उपलब्धि होती है।
रास्ते हैं अनेक, मंजिल है एक। नावें हैं बहुत, पार होना है एक। कहीं
से भी कोई चले, कैसे भी कोई चले, आकांक्षा हो सत्य की खोज की; कैसे भी कोई यात्रा करे, कैसे भी वाहन से और कैसे ही पथों और कैसी ही सीढ़ियों से, आकांक्षा हो एक, आनंद को पाने की, तो सब मार्गों से, सब द्वारों से वहीं पहुंच जाता है व्यक्ति; एक ही जगह पहुंच जाता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं इस वक्तव्य में... । कृष्ण जैसे व्यक्तियों को निरंतर ही सचेत होकर बोलना पड़ता है। पहले उन्होंने दो मार्गों की बात कही। कहा कि एक मार्ग है, कर्म का त्याग। दूसरा मार्ग है, कर्म में आकांक्षा का त्याग। ये दो मार्ग हैं। दोनों श्रेयस्कर हैं। लेकिन दूसरा सरल है। अर्जुन से कहा, दूसरा सरल है। फिर दूसरे मार्ग पर उन्होंने इतनी व्याख्या की और कहा कि दूसरे मार्ग का क्या अर्थ है। राग और द्वेष के द्वंद्व के बाहर हो जाना दूसरे मार्ग का अर्थ है। लेकिन तत्काल उन्हें इस सूत्र में कहना पड़ता है कि मूढ़जन ही दोनों को विपरीत मान लेंगे या भिन्न मान लेंगे, ज्ञानी तो दोनों को एक ही मानते हैं।
ऐसा क्या कहने की जरूरत पड़ती है? ऐसा कहने की इसलिए जरूरत पड़ती है कि
जब भी एक मार्ग की बात कही जाती है, तो भला कहने वाला जानता हो कि बाकी मार्ग भी सही हैं, लेकिन जिससे वह कह रहा होता है, उससे तो वह एक ही मार्ग की बात कह रहा होता है। कहीं उसे यह भ्रांति न पैदा हो जाए कि यही मार्ग ठीक है।
ऐसी भ्रांति रोज पैदा हुई है। कृष्ण का सचेत होना संगतिपूर्ण है, अर्थपूर्ण है। ऐसी भूल रोज हुई है। महावीर ने एक बात कही लोगों को। जिनसे कही थी, उनके काम की जो बात थी, वह कह दी थी। लेकिन सुनने वाले ने समझा कि यही मार्ग सच है। बाकी सब मार्ग गलत हो गए। बुद्ध ने एक बात कही, जो सुनने वाले के लिए काम की थी। उस युग के लिए जो धर्म थी, उस मनुष्य की चेतना के लिए जो सहयोगी थी--कही। सुनने वाले ने समझा कि यही मार्ग है; बाकी सब गलत है। क्राइस्ट ने कही एक बात; मोहम्मद ने कही एक बात। वे सभी बातें सही, सभी सार्थक। लेकिन सभी को सुनने वाले मान लेते हैं कि यही ठीक है; बाकी गलत है। और अज्ञानी को खुद को ठीक मानना तब तक आसान नहीं होता, जब तक वह दूसरों
को गलत न मान ले। अपने को ठीक मानता ही इसीलिए है कि दूसरे गलत हैं। अगर दूसरे भी सही हों, तो फिर खुद के सही होने की संभावना क्षीण हो जाती है। उसका अपने पर भरोसा ही तब तक रहता है, जब तक दूसरे गलत हों। अगर दूसरे गलत न हों, तो उसका खुद का आत्मविश्वास क्षीण हो जाता है। तो खुद के आत्मविश्वास को बढ़ाने के लिए वह सबको गलत कहता रहता है। वह-वह गलत; मैं ठीक।
इसलिए कृष्ण जैसे व्यक्ति को निरंतर सचेत रहना पड़ता है कि कहीं एक मार्ग को समझाते वक्त यह ख्याल पैदा न हो जाए कि दूसरा मार्ग बिल्कुल गलत है, भिन्न, अलग है, उससे नहीं पहुंचा जा सकता है।
मगर जो कृष्ण की मजबूरी है, उससे उलटी मजबूरी अर्जुन की है। अगर कृष्ण स्पष्ट रूप से कह दें कि यही ठीक, और दूसरी बात न करें, तो अर्जुन निश्चिंत होकर मार्ग पर लग जाए। अभी उसको कुछ थोड़ी निश्चिंतता बंधी होगी। सुना उसने कि निष्काम कर्म ज्यादा हितकर है, तो उसने सोचा होगा कि ठीक है, संन्यास बेकार है। अब निष्काम कर्म में लग जाना चाहिए। तत्काल कृष्ण कहते हैं कि मूढ़जन ही ऐसा समझते हैं कि दोनों भिन्न हैं।
अब फिर मुश्किल खड़ी हो जाएगी। अगर दोनों ही ठीक हैं, तो फिर चुनाव का सवाल खड़ा हो गया। एक गलत और एक ठीक है, तो चुनाव आसान हो जाए। अगर दोनों ही ठीक हैं, तो फिर चुनाव! और दो ही नहीं, अनंत हैं मार्ग।
चुनने वालों की वजह से समझदारों को भी नासमझों की भाषा में बोलना पड़ा
और कहना पड़ा कि यही ठीक है। और अगर किसी समझदार ने ऐसा कहा कि यह भी ठीक है, वह भी ठीक है; यह भी ठीक है, वह भी ठीक है, तो सुनने वाले उसे छोड़कर चले गए। देखें महावीर! इतनी प्रतिभा के आदमी पृथ्वी पर दो-चार ही हुए हैं, लेकिन महावीर को कोई जगत में स्थान नहीं मिल सका। न मिलने का कुल एक कारण है; एक भूल हो गई उनसे, नासमझों की भाषा बोलने से चूक गए। महावीर ने कह

दिया, यह भी ठीक, वह भी ठीक। महावीर का विचार कहलाता है, स्यातवाद। वे कहते हैं, सब ठीक! वे कहते हैं, ऐसा झूठ भी नहीं हो सकता, जिसमें कुछ ठीक न हो। यह भी ठीक है, इससे उलटा भी ठीक है; दोनों से उलटा भी ठीक है। सुनने वालों ने कहा कि फिर माफ करिए; तब हम जाते हैं! हम उस आदमी को खोजेंगे, जो कहता हो, यह ठीक। या तो आपको पता नहीं, और या फिर आपको कुछ ऐसा पता है, जो अपने काम का नहीं।
महावीर को मरे पच्चीस सौ साल हुए। हिंदुस्तान में महावीर को मानने वालों की संख्या आज भी तीस लाख के ऊपर नहीं जा पाती। पच्चीस सौ साल में पच्चीस आदमी भी अगर महावीर से दीक्षित हुए होते, तो उनकी संतान इतनी हो जाती! क्या हुआ?
और ये जो तीस लाख मानते हैं, इनमें से तीन भी मानते हों, ऐसा नहीं है।
ये तीस लाख जन्म से मानते हैं। क्योंकि महावीर से राजी होना बहुत मुश्किल है। वे कहते हैं कि जो आदमी कहता है, यही ठीक, वह बिल्कुल उपद्रव की बात कर रहा है। यह कभी मत कहो, यही ठीक। इतना ही कहो, यह भी ठीक, वह भी ठीक। पर ऐसे आदमी को अनुयायी नहीं मिल सकता। ऐसे आदमी को कैसे अनुयायी मिलेगा!
कृष्ण की भी वही कठिनाई है। वे अर्जुन को जब बताते हैं कोई बात ठीक, तो
यह वक्तव्य जो उन्होंने दूसरा दिया, अर्जुन की आंख में देखकर दिया होगा। इसमें तो उल्लेख नहीं है, लेकिन निश्चित आंख को देखकर दिया होगा।
जब कृष्ण समझा रहे होंगे निष्काम कर्म, तब अर्जुन धीरे-धीरे अकड़कर बैठ गया होगा। उसने कहा होगा कि तब ठीक है। तो सब संन्यासी गलत। हम पहले ही जानते थे कि संन्यास वगैरह से कुछ होने वाला नहीं! छोड़ने से क्या मिलेगा! जब उसकी आंख में यह झलक देखी होगी कृष्ण ने कि वह सोच रहा है कि सब संन्यासी गलत, ये बुद्ध और महावीर, ये सब छोड़कर चले गए लोग नासमझ, तब तत्काल वे चौंके होंगे। उसकी आंख की चमक उन्हें पकड़ में आई होगी। उन्होंने फौरन कहा कि मूढ़जन ही ऐसा समझते हैं अर्जुन, कि ये दोनों मार्ग अलग हैं। पंडितजन तो समझते हैं, दोनों एक हैं। तब उसको बेचारे को उसकी भभक थोड़ी-सी आई होगी। उस पर उन्होंने फिर पानी डाल दिया। वह अर्जुन फिर बेकार हुआ। वह फिर अपनी जगह शिथिल होकर बैठ गया होगा--शिथिल गात। फिर सोचने लगा होगा, टु बी, आर नाट टु बी! अब क्या करना है, यह या वह?
कृष्ण उसकी अकड़ नहीं टिकने देते। ऐसा गीता में बहुत बाहर आएगा। जब भी
वे देखेंगे कि अर्जुन अकड़ा, लगा कि समझदार हुआ जा रहा है, फौरन थोड़ा-सा पानी डालेंगे। उसकी अकड़, उसका कलफ फिर धुल जाएगा।
बीच में जरूर अर्जुन की आंख में कृष्ण ने देखा है। अन्यथा अभी मूर्खों को याद करने की कोई जरूरत न थी। अर्जुन में मूर्ख आ गया होगा। अन्यथा यह वक्तव्य बेमानी है। अर्जुन की आंख में मूर्ख दिखाई पड़ गया होगा।
और ऐसा नहीं है कि मूर्ख ही मूर्ख होते हैं। समझदार से समझदार आदमी के मूर्ख क्षण होते हैं। समझदार से समझदार आदमी की आंखों में से कभी मूर्ख झांकने लगता है। और कभी-कभी महा मंदबुद्धि आदमी की आंख से भी बुद्धिमान झांकता है। आदमी के भीतर की चेतना बड़ी तरल है।
तो जब वह कृष्ण अर्जुन को देखते होंगे, कुछ बुद्धिमान हो रहा है, तब वे कुछ और कहते हैं। जब वे देखते होंगे कि मूर्खता सघन हो रही है, तब वे कुछ और कहते हैं।
चूंकि यह वक्तव्य सीधा अर्जुन को दिया गया है, इसलिए अर्जुन का एक-एक हाव, एक-एक भाव, एक-एक आंख की भंगिमा, एक-एक इशारा, इसमें सब पकड़ा गया है। गीता सिर्फ कही नहीं गई है; लिखी नहीं गई है; संवाद है दो जीते व्यक्तियों के बीच। पूरे वक्त चेतना तालमेल कर रही है। पूरे वक्त एक डायलाग है। पश्चिम में एक बहुत बड़ा विचारक अभी था, मार्टिन बूवर। वह कहता था, जगत में सबसे बड़ी घटना है, डायलाग, संवाद। क्या मतलब था? वह कहता था, संवाद बड़ी घटना है। संवाद का अर्थ है, दो व्यक्तियों के बीच के हृदय ऐसे मिल जाएं कि जरा-सा अंतर, और संवादित हो सके। जरा-सा भेद, और तरंगें पहुंच जाएं, तरंगों को खबर मिल जाए।

यह मार्टिन बूवर को पता हो या न हो, दुनिया में अगर कुछ डायलाग हुए... फिल्मों के डायलाग की बात नहीं कर रहा हूं। क्योंकि जो पहले से तैयार कर लिया गया हो, वह डायलाग नहीं होता। वह तो सिर्फ आदमी नहीं बोल रहा, हिज मास्टर्स वाइस का वह जो कुत्ता बैठा रहता है, वही बोल रहा है। आदमी नहीं है वहां।
गीता एक डायलाग है, एक संवाद है। वहां कृष्ण जरा-सी भी झलक अर्जुन की आंख और चेहरे पर पकड़ रहे हैं। जरा-सा मुद्रा का परिवर्तन, और उन्होंने कहा कि अर्जुन! मूर्खजन ऐसा समझ लेते हैं कि दोनों अलग हैं। अर्जुन को ठिकाने लगाया होगा उन्होंने। सिर्फ एक डंडा मारा, वह अर्जुन फिर अपनी जगह बैठ गए होंगे।
आज के लिए इतना ही। एक पांच मिनट रुकेंगे। कोई जाएगा नहीं। पांच मिनट बैठे रहें। इतनी देर बैठे हैं, पांच मिनट और बैठे रहें। संन्यासी कीर्तन में संलग्न होते हैं। पांच मिनट अपनी जगह बैठकर चुपचाप उनके भाव को पी जाएं। और फिर चले जाएं। यह संकीर्तन प्रसाद है, इसको लेकर जाएं। बैठे रहें!

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
तीसरा प्रवचन

सम्यक दृष्टि

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। 5।।
तथा ज्ञानयोगियों द्वारा जो परमधर्म प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग को फलरूप से एक देखता है, वह ही यथार्थ देखता है।

देखते सभी हैं; यथार्थ बहुत कम लोग देखते हैं। जो हमें दिखाई पड़ता है,
वह वही नहीं होता, जो है। वरन हम वही देख लेते हैं, जो हम देखना चाहते हैं। हमारी दृष्टि दर्शन को विकृत कर जाती है। हमारी आंखें दृश्य को देखती ही नहीं, दृश्य को निर्मित भी कर जाती हैं।
जीवन में चारों ओर बिना व्याख्या के हम कुछ भी अनुभव नहीं कर पाते हैं। और व्याख्या के साथ किया गया अनुभव विकृत अनुभव है। जो भी हम देखते हैं, उसमें हम भी सम्मिलित हो जाते हैं। दर्शन विकृत हो जाता है।
एक छोटी-सी घटना मुझे याद आती है। सुना है मैंने कि रामदास ने हजारों वर्षों बाद, राम के होने के हजारों वर्षों बाद, राम की कथा पुनः लिखी। राम तो एक हुए हैं, लेकिन कथाएं तो उतनी हो सकती हैं, जितने लिखने वाले हैं। लेकिन कथा कुछ ऐसी थी कि हनुमान को खबर लगी कि तुम्हारे भी सुनने योग्य है। हनुमान तो प्रत्यक्षदर्शी थे कथा के। फिर भी रोज-रोज खबर आने लगी, तो हनुमान चोरी से उस कथा को सुनने जाते थे जिसे रामदास दिनभर लिखते और सांझ इकट्ठे भक्तों के बीच सुनाते। कहानी है, पर अर्थपूर्ण है। और बहुत बार कहानियां सत्य से भी ज्यादा अर्थपूर्ण होती हैं।
राम की कथा चलती रही। हनुमान आनंदित थे। हैरान थे यह बात जानकर, कि रामदास हजारों साल के बाद, कथा को ठीक वैसा कह रहे हैं, जैसी वह घटी थी। यह बड़ी कठिन बात है। जो आंख के सामने देखते हैं, वे भी ठीक वैसा ही वर्णन नहीं करते, जैसा घटता है। आंख सम्मिलित हो जाती है। दृष्टि प्रवेश कर जाती है। हजारों साल बाद यह आदमी कहानी कह रहा है और ठीक ऐसी कि हनुमान भी भूल-चूक नहीं निकाल पाते हैं। कहीं जैसे कोई व्याख्या नहीं है। जैसे घटना सामने घटती हो।
लेकिन एक जगह हनुमान को भूल मिल गई। हनुमान ने खड़े होकर कहा कि माफ करें, और सब तो ठीक है, इसमें थोड़ी-सी बदलाहट कर लें। आप कह रहे हैं कि हनुमान जब अशोक वाटिका में गए, तो चारों तरफ शुभ्र, चांद की चांदनी की तरह फूल खिले थे। यह बात गलत है। हनुमान जब अशोक वाटिका में गए, तब फूल सुर्ख चारों ओर खिले थे, सफेद फूल नहीं खिले थे। लेकिन रामदास ने कहा, चुपचाप बैठ जाओ। बकवास मत करो। फूल सफेद थे।
अभी हनुमान अप्रकट थे। जाहिर होकर उन्होंने नहीं कहा था कि मैं हनुमान हूं। उन्होंने फिर कहा कि महाशय, सुधार कर लें। मैं किसी कारण से कह रहा हूं। रामदास ने कहा, बीच में गड़बड़ मत करो। फूल सफेद थे। और चुपचाप बैठ जाओ। मजबूरी में हनुमान को क्रोध आ गया। और खुद की देखी हुई बात को कोई आदमी झूठ कहे! तो वे प्रकट हुए और उन्होंने कहा, मैं खुद हनुमान हूं। अब बोलो तुम क्या कहते हो? फूल लाल थे। सुधार कर लो! रामदास ने कहा कि फिर भी कहता हूं कि चुपचाप बैठ जाओ और गड़बड़ मत करो। हनुमान हो, तो भले हो। फूल सफेद थे।
यह तो बहुत उपद्रव की बात हो गई। कोई रास्ता न था, तो हनुमान और रामदास
को राम के सामने ले जाया गया। और हनुमान ने कहा कि यह एक आदमी है जिसको मैं कह रहा हूं कि फूल लाल थे, और जो कहता है कि फूल सफेद थे। मैं हनुमान हूं। हजारों साल बाद ये सज्जन कहानी लिख रहे हैं। लेकिन हद जिद्दी आदमी है! मुझसे कहता है, चुपचाप बैठ जाओ। अब आप ही निर्णय दे दें।

राम ने कहा, हनुमान, तुम क्षमा मांग लो। फूल सफेद ही थे; रामदास ठीक कहते हैं। तुम इतने क्रोध में थे कि तुम्हारी आंखें खून से भरी थीं। तुमने लाल फूल देखे होंगे। लेकिन फूल सफेद ही थे।
संभव है। कहानी भला संभव न हो, लेकिन खून से भरी आंखों में सफेद फूल लाल दिखाई पड़ सकते हैं, यह संभव है।
हम जो देखते हैं, उसमें हमारी आंख तत्काल प्रविष्ट हो जाती है। हम वही नहीं देखते, जो है। और जो व्यक्ति वही देखने में समर्थ हो जाता है, जो है, उसे ही कृष्ण ज्ञानी कहते हैं।
कृष्ण यहां कह रहे हैं कि कर्म से, निष्काम कर्म से या कर्म-संन्यास से; कर्मयोग से या कर्मत्याग से, एक ही परम स्थिति उपलब्ध होती है।
लेकिन ऐसा तो केवल वे ही देख पाते हैं, जो वही देखते हैं, जो है। जिनकी दृष्टि दर्शन में बाधा नहीं बनती। जिनके अपने ख्याल यथार्थ के ऊपर आरोपित नहीं होते, इम्पोज नहीं होते। जो अपने को हटाकर देखते हैं, या ऐसा कहें कि जो शून्य होकर देखते हैं, जो बीच में नहीं आते। वे तो ऐसा ही देखते हैं कि चाहे कोई कर्म के जगत में जीकर आकांक्षाओं को छोड़कर चले, या कोई कर्म को ही छोड़कर चल दे, अंतिम उपलब्धि एक ही होती है।
लेकिन यह उनकी प्रतीति है, जिनके पास अपने कोई विचार आरोपित करने को नहीं हैं। यह उनकी स्थिति है, जो निर्विचार हैं। यह उनकी स्थिति है, जिनके पास अपना कोई भी ख्याल यथार्थ के ऊपर रोपने को नहीं है। लेकिन बाकी शेष सारे लोग दोनों में विरोध देखेंगे।
विरोध दिखाई पड़ता है। कहां तो कर्म का जीवन, और कहां सारे कर्म को छोड़कर चले जाने वाला जीवन! अगर ये दोनों विरोधी नहीं हैं, तो फिर इस जगत में क्या विरोधी हो सकता है! कहां तो एक व्यक्ति, जो दैनंदिन जीवन के छोटे- छोटे कर्मों में घिरा है! कृष्ण, युद्ध के मैदान पर खड़े हैं। कहां बुद्ध, जीवन का सारा संघर्ष छोड़कर हट गए हैं। कहां जनक, महलों में, जीवन के घने बाजार के बीच, साम्राज्य के बीच खड़े हैं! कहां महावीर, वस्त्र के भी रहने से शरीर पर कहीं कर्म का कोई लेप न चढ़ जाए, इसलिए वस्त्र भी छोड़कर नग्न हो गए हैं! कहां मोहम्मद, तलवार लेकर जूझने को तैयार। कहां महावीर, पैर भी फूंककर रखेंगे कि चींटी न दब जाए! इन दोनों आदमियों को एक देख पाना अति कठिन है। सहज ही प्रतीत होता है कि विपरीत हैं दोनों बातें। विपरीत ही दिखाई पड़ती हैं दोनों बातें।
लेकिन कृष्ण कहते हैं, विपरीत उसे दिखाई पड़ती हैं, जो अज्ञानी है। इसे थोड़ा ठीक से समझ लेना चाहिए।
इस जगत में जो-जो चीज विपरीत दिखाई पड़ती है, वह अज्ञान के कारण ही विपरीत दिखाई पड़ती है। जहां-जहां भेद, जहां-जहां द्वैत, डुअलिटी दिखाई पड़ती है, वह अज्ञान के कारण ही दिखाई पड़ती है। अंधेरे और प्रकाश में भी विरोध नहीं है। और जन्म और मृत्यु में भी विरोध नहीं है। जन्म भी वही है, जो मृत्यु है। और अंधेरा भी वही है, जो प्रकाश है।
लेकिन यह उसे दिखाई पड़ता है, जिसकी आंखों से सारा धुआं विचार का हट गया और जिसके प्राणों से अहंकार की बदलियां हट गईं। और जिसका अंतःप्राण पारदर्शी, ट्रांसपैरेंट हो गया। जो दर्पण की तरह हो गया। जिसके पास अपना कुछ भी नहीं है; जो दिखाई पड़ता है, वही झलकता है।
जो दर्पण की तरह हो गया, निर्द्वंद्व, उसे तो सारे रास्ते परमात्मा तक
ही पहुंचते हुए दिखाई पड़ते हैं। वह तो कहेगा कि रावण भी अपने रास्ते से परमात्मा तक ही पहुंच रहा है। और राम भी अपने रास्ते से परमात्मा तक ही पहुंच रहे हैं। उतना गहरा देखने पर तो राम और रावण के बीच का भी फासला गिर जाएगा। लेकिन उतना गहरा देखना तभी संभव है, जब हमारे भीतर विचार का द्वैत विसर्जित हो गया हो।
हम देखते नहीं, हम विचार से देखते हैं। इस फर्क को ख्याल में ले लें।
एक फूल के पास खड़े हैं; गुलाब का फूल खिला है। आप सोचते होंगे, गुलाब के फूल को देखते हैं, तो गलत सोचते हैं। गुलाब के फूल को देख भी नहीं पाते कि मन के जगत में विचारों का जाल खड़ा हो जाता है। लगता है मन को, सुंदर है फूल! एक विचार आ गया। अतीत में जो-जो गुलाब का अनुभव है, उस सबकी स्मृति बीच में

खड़ी हो गई। जो-जो सुना है, बचपन से जो-जो कंडीशनिंग हुई है। जरूरी नहीं है कि अगर आपको बचपन से न समझाया गया हो कि गुलाब सुंदर है, तो आपको सुंदर दिखाई पड़े। जरूरी नहीं है। बहुत कुछ तो सिखावन है।
अगर चीन में जाकर पूछें, तो गाल पर अगर हड्डी निकली हो, तो सुंदर है। हिंदुस्तान में नहीं होगी। बचपन से जाना है जिसे सुंदर, वह सुंदर प्रतीत होने लगा है। सारी दुनिया में सौंदर्य के अलग-अलग मापदंड हैं। नीग्रो के लिए ओंठ का मोटा होना बहुत सुंदर है। इसलिए नीग्रो स्त्रियां अपने ओंठ में पत्थर बांधकर और लटकाकर उसको चौड़ा करती रहेंगी। लेकिन हमारे मुल्क में ओंठ का पतला होना सौंदर्य है। ओंठ किसी का मोटा है, तो उसको भीतर दबाता रहेगा कि मोटा ओंठ बाहर दिखाई न पड़ जाए।
गुलाब का फूल सुंदर दिखाई पड़ता है, यह सुना-सीखा संस्कार है। यह विचार
है या कि यह दर्शन है? यह दर्शन तो तभी होगा, जब गुलाब के फूल के पास खड़े हों और सिर्फ खड़े हों, सोचें जरा भी न। आंख से गुलाब को उतर जाने दें, विचार को बीच में न आने दें। उसे प्राणों तक पहुंच जाने दें, विचार को बीच में न आने दें। वह घुल जाए, मिल जाए श्वासों में। वह एक हो जाए प्राणों से। चेतना भीतर की, और गुलाब की चेतना कहीं आलिंगन में बद्ध हो जाए; कोई विचार न उठे; तब जो आप जानेंगे, वह गुलाब को जानना है। अन्यथा जो आप जानते हैं, वह गुलाब के संबंध में जाने हुए को दोहराना है। वह गुलाब को जानना नहीं है।
जो व्यक्ति जीवन में इस भांति निर्विचार देखने में समर्थ हो जाता है,
उस व्यक्ति को अत्यंत विरोधी मार्ग भी एक ही मालूम पड़ते हैं। वह कह सकता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, मूढ़जन को तो, बुद्धिहीन को तो बड़े विपरीत मालूम पड़ेंगे। लगेगा कि कहां संसार के कर्म का जाल और कहां सब छोड़कर किसी गुफा में बैठ जाना मौन, बड़ी विपरीत हैं बातें। लेकिन कृष्ण कहते हैं, नहीं हैं विपरीत। क्यों नहीं हैं विपरीत? नहीं हैं विपरीत इसलिए, कि चाहे कोई आकांक्षाओं को छोड़ दे, और चाहे कोई कर्म को छोड़ दे, दोनों से चित्त में एक ही अवस्था घटित होती है।
जिसने आकांक्षा को छोड़ दिया, उसके लिए कर्म अभिनय से ज्यादा, एक्टिंग
से ज्यादा नहीं रह जाता। जिसने फल की आकांक्षा छोड़ दी, उसे कर्म खेल से ज्यादा, लीला से ज्यादा नहीं रह जाता। वह कर्म को छोड़े या न छोड़े, कर्म की कोई भी प्रभावना उसकी चेतना पर अंकित नहीं होती है। क्योंकि कर्म अंकित नहीं होते, फल की आकांक्षा अंकित होती है।
कभी आपने सोचा कि आप कर्म से कभी पीड़ित नहीं हैं, आप पीड़ित फल की आकांक्षा से हैं! और अगर कर्म से पीड़ित होते हैं, तो फल की आकांक्षा के कारण पीड़ित होते हैं। पीड़ा का जो जहर है, वह फल की आकांक्षा में है, अपेक्षा में है, एक्सपेक्टेशन में है। जितनी बड़ी अपेक्षा, उतनी ही पीड़ा कर्म देता है। जितनी छोटी अपेक्षा, उतनी ही पीड़ा कम हो जाती है। जितनी शून्य अपेक्षा, उतनी ही पीड़ा विदा हो जाती है। लेकिन हम कोई कर्म जानते नहीं, जो हमने बिना फल की अपेक्षा के किया हो।
प्रयोग करें। चौबीस घंटे में तय कर लें कि एक छोटा-सा काम बिना फल की आकांक्षा के करेंगे। राह पर जा रहे हैं। किसी आदमी का छाता गिर गया है। उसे उठाकर दे दें। लेकिन लौटकर रुकें न, कि वह धन्यवाद दे। और धन्यवाद न दे, तो मन में देखें कि कहीं पीड़ा तो नहीं खटकती है? अगर धन्यवाद न दे, तो जरा मन में देखें कि कहीं विषाद का धुआं तो नहीं उतरता है? कहीं ऐसा तो नहीं लगता है कि कैसा आदमी है, धन्यवाद भी न दिया!
अगर धन्यवाद की भी अपेक्षा है, जो कि बहुत छोटी अपेक्षा है, नामिनल, न
के बराबर... ।
इसीलिए समझदार आदमी दिनभर धन्यवाद देते रहते हैं, ताकि जो व्यर्थ की अपेक्षाएं हैं लोगों की, वे उनकी तृप्त होती रहें। धन्यवाद देने वाले का कुछ भी नहीं बिगड़ता, लेकिन लेने वाले को बहुत कुछ मिलता हुआ मालूम पड़ता है। अपेक्षा पर निर्भर है।
छोटा-सा शब्द धन्यवाद, भीतर जैसे फूल खिल जाता है। नहीं दिया धन्यवाद, भीतर की कली कुम्हला जाती है। इतनी छोटी-सी अपेक्षा भी प्राणों को उदास

करती और प्रफुल्लित करती है। जितनी बड़ी अपेक्षाएं होंगी, फिर उतनी ही उदासी और प्रफुल्लता की अपेक्षा के अनुपात में दुख का भार बढ़ता चला जाएगा।
दिन में चौबीस घंटे में जो आदमी एक काम अपेक्षारहित कर ले, उसने प्रार्थना की, उसने नमाज पढ़ी, उसने ध्यान किया। एक काम आदमी अगर चौबीस घंटे में अपेक्षारहित, फलरहित कर ले, तो बहुत देर नहीं लगेगी कि उसके कर्मों का जाल धीरे-धीरे अपेक्षारहित होने लगे। क्योंकि उस छोटे-से काम को करके वह पहली दफे पाएगा कि जीवन न दुख में है, न सुख में है, वरन परम शांति में उतर गया। उस छोटे-से कृत्य के द्वारा शांत हो गया।
अपेक्षा सुख का आश्वासन देती है, दुख का फल लाती है। अपेक्षारहित कृत्य गहन शांति के सागर में डुबा जाता है। अपेक्षारहित कृत्य आनंद के द्वार खोल देता है।
देखें, प्रयोग करें। और जैसे-जैसे ख्याल में आएगा, वैसे-वैसे समझ में आएगा कि अगर अपेक्षारहित कृत्य किया, तो वही अंतिम फल मिलता है, जो कर्म को छोड़ने वाले को मिलता होगा। जो आदमी कर्म छोड़कर भाग गया है, वह भी शांत हो जाता है, अशांति का कोई कारण नहीं रह जाता। लेकिन जिस आदमी ने फल की आकांक्षा छोड़ दी है, अशांति के सारे कारण मौजूद रहते हैं, लेकिन भीतर अशांति को पकड़ने वाली ग्राहकता, रिसेप्टिविटी नष्ट हो जाती है।
दो रास्ते हैं। एक दर्पण है। और मैं उसके सामने खड़ा हूं। मैं हट जाऊं,
तो दर्पण पर तस्वीर मिट जाती है। दर्पण को तोड़ दूं, मैं खड़ा रहूं, तो भी तस्वीर मिट जाती है। दर्पण को तोड़ दूं, तो भी परिणाम यही होता है कि तस्वीर मिट जाती है। मैं हट जाऊं, दर्पण को बना रहने दूं, तो भी परिणाम यही होता है कि तस्वीर मिट जाती है। दोनों कृत्य बहुत अलग हैं। लेकिन परिणाम दोनों का एक है कि तस्वीर मिट जाती है।
दर्पण को तोड़ना कर्म को छोड़ने जैसा है। और आकांक्षा को तोड़ना स्वयं दर्पण से हट जाने जैसा है। दर्पण अपनी जगह है, मैं ही हट गया। कर्म अपनी जगह है, मैंने ही कर्म से अपनी आकांक्षा हटा ली, अहंकार को हटा लिया। मैं पीछे हो गया।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, दोनों में से कुछ भी हो जाए अर्जुन, परिणाम एक
ही होता है। लेकिन ऐसा ज्ञानीजन जानते हैं। और जो ऐसा जानते हैं, उनका ही दर्शन सम्यक है। उनका ही देखना ठीक देखना है। जो ऐसा नहीं जानते, उनका देखना मिथ्या देखना है।
एक अंतिम बात और इस संबंध में आपसे कहूं, और वह यह है, न देखना, गलत देखने से बेहतर है। न देखना, आंख का बंद होना, मिथ्या देखने से बेहतर है। न देखने वाला किसी न किसी दिन जल्दी ही देखने पर पहुंच जाएगा। लेकिन गलत देखने वाले की ठीक देखने पर पहुंचने में बड़ी लंबी यात्रा है।
अज्ञान मिथ्या ज्ञान से भी खतरनाक है। फाल्स नालेज इग्नोरेंस से भी खतरनाक है। क्योंकि अज्ञान में एक विनम्रता है, मिथ्या ज्ञान में विनम्रता नहीं है। अज्ञानी कहता है, मैं नहीं जानता। एक गहरी विनम्रता है, ईगोलेसनेस है। अज्ञानी अनुभव करता है कि मैं नहीं जानता, तो जानने की संभावना निरंतर मौजूद रहती है।
मिथ्या ज्ञानी सोचता है कि मैं जानता हूं, बिल्कुल ठीक से जानता हूं, जानने का द्वार भी बंद हो गया। जानने की यात्रा भी शुरू नहीं होगी। और मिथ्या ज्ञानी को ख्याल है कि मैं जानता हूं, तो वह जिस चीज को जानता है, उसे जोर से पकड़े बैठा रहता है। और जब तक मिथ्या ज्ञान न हट जाए, तब तक सम्यक ज्ञान के उतरने का कोई उपाय नहीं है।
हाथ खाली हो, बेहतर। तो किसी दिन हीरे दिखाई पड़ जाएं, तो खाली हाथ उन्हें उठा ले सकते हैं। लेकिन हाथ कंकड़-पत्थर को हीरे समझकर बांधकर मुट्ठियां बंद हुए बैठे हों, तो खतरनाक। क्योंकि हीरे भी दिखाई पड़ जाएं, तो शायद ही दिखाई पड़ें। क्योंकि जिसकी मुट्ठी में रंगीन पत्थर बंद हैं और जो सोच रहा है कि मेरे पास हीरे हैं, वह शायद ही अपनी मुट्ठी को छोड़ इस बड़े जगत में खोजने निकले कि हीरे कहीं और हैं। हीरे तो उसके पास हैं ही, इसलिए उसकी यात्रा बंद है।

कृष्ण कहते हैं, जो इन दो विरोधों के बीच एक को देख पाता है, वही ठीक देखता है।
दो विरोधों के बीच एक को देख पाना इस जगत का सबसे बड़ा अनुभव है। दो विरोधों के बीच एक को देख पाना गहरी से गहरी, सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि है। नहीं दिखाई पड़ता। आकाश और पृथ्वी एक नहीं दिखाई पड़ते। कहां आकाश, कहां पृथ्वी! दो दिखाई पड़ते हैं साफ। जन्म और मृत्यु एक दिखाई नहीं पड़ते; साफ दो दिखाई पड़ते हैं। पत्थर और चेतना एक नहीं दिखाई पड़ते; साफ दो दिखाई पड़ते हैं।
लेकिन हमारा साफ दिखाई पड़ना बहुत ही गलत है। आकाश और पृथ्वी दो नहीं हैं। बता सकते हैं, कहां पृथ्वी समाप्त होती है और कहां आकाश शुरू होता है? आकाश पृथ्वी को सब ओर से घेरे हुए है। गड्ढा खोदें पृथ्वी में। तो कुआं खोदते हैं, तब आप सोचते हैं कि आप पृथ्वी खोद रहे हैं? आप गलती कर रहे हैं। आप सिर्फ मिट्टी अलग कर रहे हैं और आकाश को प्रकट कर रहे हैं। जब आप गड्ढा खोदकर कुआं खोदते हैं, तो जमीन के भीतर आकाश मिल जाता है। खोदते चले जाएं और आकाश मिलता चला जाएगा। आर-पार हो जाएं; यहां से खोदें और अमेरिका में निकल जाएं, तो बीच में आकाश ही आकाश मिलता चला जाएगा।
वैज्ञानिक कहते हैं कि पृथ्वी भी श्वास लेती है, पोरस है। पृथ्वी भी छिद्रहीन नहीं है; सछिद्र है। वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर हम पृथ्वी को कनडेंस कर सकें, उसमें जितना आकाश है उसको बाहर निकाल सकें, तो एक छोटी-सी बच्चे के खेलने की गेंद के बराबर कर सकते हैं। लेकिन वह बच्चे की गेंद भी पोरस होगी और विज्ञान अगर किसी दिन और समर्थ हो जाए, तो उसे और छोटा कर सकता है।
आकाश और पृथ्वी अलग नहीं, एक ही हैं। पृथ्वी आकाश से ही बनती है, वैज्ञानिक कहते हैं। आकाश से ही जन्मती है। जैसे पानी में भंवर पड़ती है, पानी की ही भंवर। ऐसे ही आकाश जब भंवर से भर जाता है, नेबुला बन जाता है, तो पृथ्वी बनती है। फिर एक दिन पृथ्वी आकाश में खो जाती है।
रोज न मालूम कितने ग्रह आकाश में वापस खो रहे हैं, जैसे रोज आदमी मृत्यु में खो जाते हैं। और रोज बच्चे पैदा होते रहते हैं। आदमी ही पैदा होते हैं, ऐसा नहीं; चांद-तारे भी रोज पैदा होते हैं। और रोज चांद-तारे मरते रहते हैं। पैदा होते हैं शून्य आकाश से, विलीन हो जाते हैं शून्य आकाश में। आकाश और पृथ्वी दो नहीं।
गेहूं आप खा लेते हैं, खून बन जाता है। चेतना बन जाती है। कहते हैं, पत्थर और चेतना अलग है। सिर्फ नासमझ कहते हैं। क्योंकि मिट्टी भी आपके भीतर जाकर चेतन हो जाती है। आपका शरीर मिट्टी से ज्यादा क्या है? इसलिए कल जब मर जाएंगे, तो डस्ट अनटु डस्ट, मिट्टी मिट्टी में गिर जाएगी। मरे हुए आदमी को हम कहते हैं कि मिट्टी उठाओ जल्दी। कल तक आदमी था, जिंदा था, जीवित था। कोई कह देता, मिट्टी हो, तो छुरा निकालकर खड़ा हो जाता। आज हम कहते हैं, मिट्टी जल्दी उठाओ।
सब मिट्टी में खो जाता है। मिट्टी से ही आया था, इसीलिए मिट्टी में खो जाता है। रोज मिट्टी ही खा रहे हैं। जिसको आप भोजन कहते हैं, मिट्टी से ज्यादा नहीं है। हां, दो-चार स्टेजेज पार करके आता है, इसलिए ख्याल में नहीं आता।
अभी अमेरिका में एक वैज्ञानिक ने, एक वनस्पति-शास्त्री ने एक बहुत अनूठा प्रयोग किया और बहुत हैरान हुआ। उसने एक वट-वृक्ष लगाया एक गमले में। गमले की मिट्टी नापकर लगाया। जितना पानी उसमें डालता था, उसका नाप रखता था। वृक्ष बड़ा होने लगा। फिर जब वृक्ष पूरा बड़ा हो गया, तो वृक्ष और गमले को उसने नापा। हैरान हुआ। वृक्ष को निकालकर नापा, तो और हैरान हुआ। वृक्ष तो सैकड़ों पौंड का हो गया और गमले की मिट्टी केवल डेढ़ पौंड कम हुई। और वह भी उसका कहना है कि वृक्ष में नहीं गई। वह डेढ़ पौंड मिट्टी भी पानी डालने में, हवा में, यहां-वहां उड़ गई।
यह वृक्ष कहां से आया? यह सैकड़ों पौंड का वृक्ष! इसमें थोड़ा-सा दान मिट्टी ने दिया, बड़ा दान आकाश ने दिया, हवाओं ने दिया, पानी ने दिया।

और शायद अभी हमें पता नहीं--विज्ञान को कम से कम पता नहीं--कि इस सब दान
के बाद भी एक और अज्ञात स्रोत है परमात्मा का, जो प्रतिपल दे रहा है। उसने दिया। पर उसका तो किसी पौंड में वजन नहीं नापा जा सकता। वह किसी माप के बाहर है। लेकिन वैज्ञानिक सोचते थे कि शायद यह सारी की सारी मिट्टी है, तो गलत हो गई बात। इसमें आकाश भी समाया हुआ है। इसलिए जब इसको जला देंगे, तो आकाश आकाश में चला जाएगा। पानी पानी भाप बन जाएगा। मिट्टी जितनी है, वह फिर वापस राख होकर मिट्टी में खो जाएगी।
नहीं, आकाश और पृथ्वी अलग नहीं हैं। नहीं, मिट्टी और चेतना भी अलग नहीं हैं। नहीं, पदार्थ और परमात्मा भी अलग नहीं हैं। लेकिन अज्ञानी सब चीजों को दो में करके देखते हैं--विरोध में, पोलेरिटी में। जब तक अज्ञानी दो न बना ले, तब तक देख ही नहीं पाता है। और ज्ञानी जब तक दो में एक को न देख ले, तब तक देख ही नहीं पाता।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, जो ऐसा देखता है, वही देखता है। कर्म-संन्यास
भी और कर्मयोग भी एक ही परम स्थिति को उपलब्ध करा देते हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, पहले दिन आपने कहा कि कर्म-संन्यास अंतर्मुखी व्यक्ति की साधना है तथा निष्काम कर्म बहिर्मुखी व्यक्ति की साधना है। लेकिन लोगों का अनुभव है कि कभी वे बहिर्मुखी होते हैं, तो कभी अंतर्मुखी। इस स्थिति में कृपया समझाएं कि कोई व्यक्ति ठीक-ठीक कैसे निर्णय करे कि वह अंतर्मुखी है अथवा बहिर्मुखी है?

बहिर्मुखता का अर्थ है, कि व्यक्ति की चेतना निरंतर बाहर की तरफ दौड़ती है। वह बाहर कोई भी हो सकता है। धन हो सकता है, धर्म हो सकता है। पद हो सकता है, परमात्मा हो सकता है। इससे फर्क नहीं पड़ता। किस चीज की तरफ दौड़ती है, इससे फर्क नहीं पड़ता। बहिर्मुखी चेतना, एक्सट्रोवर्ट कांशसनेस, बाहर की तरफ दौड़ती है। भीतर से बाहर की तरफ यात्रा होती रहती है।
इसका पता लगाया जा सकता है। कभी आंख बंद करके बैठें। देखें कि चेतना कहां दौड़ रही है। अगर बहिर्मुखी हैं, तो चेतना बाहर की तरफ दौड़ती हुई पाएंगे। धन के संबंध में सोच रहे होंगे, मित्रों के संबंध में, शत्रुओं के संबंध में या परमात्मा के संबंध में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। बाहर, कोई और, कोई आब्जेक्ट चित्त को पकड़े रहेगा। दौड़ते रहेंगे बाहर की तरफ। बहिर्मुखी लोगों ने ही परमात्मा को ऊपर आकाश में बना रखा है। हाथ भी जोड़ेंगे वे, तो आकाश के परमात्मा को जोड़ेंगे। पूछें, परमात्मा कहां है? तो बहिर्मुखी आकाश की तरफ देखेगा। पूछें, परमात्मा कहां है? तो अंतर्मुखी आंख बंद करके भीतर की तरफ देखेगा।
अंतर्मुखी का लक्षण यह है कि जब आप आंख बंद करके बैठें, तो पाएं कि बाहर की तरफ चित्त नहीं दौड़ता। भीतर की तरफ डूबता जा रहा है, सिंकिंग की फीलिंग होगी, जैसे कोई नदी में डूब रहा है। भीतर की तरफ डूबते जा रहे हैं। बहिर्मुखी को बाहर दौड़ने में बड़ा रस मालूम पड़ेगा। अंतर्मुखी को भीतर डूबने में बड़ा रस मालूम पड़ेगा। बहिर्मुखी को भीतर डूबना मौत जैसा मालूम पड़ेगा कि मर जाएंगे। इससे तो बेहतर है कि कुछ और कर लें। अंतर्मुखी को बाहर की बात सोचना-विचारना बहुत ही कष्टपूर्ण, बहुत भारी, बहुत बोझिल हो जाएगा। अंतर्मुखी एकांत मांगेगा, बहिर्मुखी भीड़ चाहेगा। ये लक्षण बता रहा हूं।
अंतर्मुखी को एकांत में छोड़ दो, तो प्रसन्न हो जाएगा। भीड़ में खड़ा कर दो, तो उदास हो जाएगा। अंतर्मुखी भीड़ से लौटेगा, तो उसको लगेगा, कुछ खोकर लौट रहा हूं। और एकांत से लौटेगा, तो फुलफिल्ड, कुछ भरकर लौट रहा हूं; कुछ पाकर लौट रहा हूं। बहिर्मुखी को एकांत में रख दो, तो निर्जीव हो जाएगा। फीका, पीला पड़ जाएगा। जिंदगी लगेगी बेकार है। कुछ सार नहीं। क्लब में रख दो, मंदिर में रख दो, मस्जिद में रख दो, भीड़ में ले आओ--जिंदगी वापस लौट आएगी। पत्ते लहलहा उठेंगे। फूल खिलने लगेंगे।
यह एक-एक व्यक्ति को अपने जीवन की स्थितियों में जांचते रहना चाहिए
कि उसकी अंतर्धारा बाहर की तरफ बहने को आतुर रहती है या भीतर की तरफ बहने

को आतुर रहती है। टर्निंग इन, ऐसी है उसकी धारा, भीतर की तरफ मुड़ती चली जाती है; कि ऐसी है धारा कि बाहर की तरफ दौड़ती है, टर्निंग आउट।
यह प्रत्येक व्यक्ति अपने को कस ले सकता है। भीड़ में अच्छा लगता है कि अकेले में? कोई नहीं होता है कमरे में, सन्नाटा होता है, तब अच्छा लगता है? कि कमरे में कोई हो, तभी अच्छा लगता है? खाली बैठे रहते हैं, तो बेचैनी मालूम पड़ती है? कि खाली बैठे रहते हैं, तो रिलैक्स्ड, शांत, मौन मालूम पड़ता है? घर में मेहमान आते हैं, तब अच्छा लगता है? कि जब जाते हैं, तब अच्छा लगता है?
इसकी थोड़ी जांच करते रहना चाहिए। नहीं मेहमान आते हैं, तो बेचैन हो जाती है तबियत, उठाकर फोन करने लगते हैं? अखबार में जरा देर हो जाती है आने में, तो बेचैनी होती है, रेडियो खोल लेते हैं? कभी अपने को अकेला छोड़ते हैं या नहीं छोड़ते हैं? कोई न कोई होना ही चाहिए--कंपेनियन, साथी, संगी, मित्र, पत्नी, पति, बच्चे--कोई न कोई होना ही चाहिए? कि कभी ऐसा भी लगता है कि कोई भी न हो? अकेला! किस चीज का स्वाद है, इसे पहचानना चाहिए।
आज के युग में सौ आदमी में मुश्किल से एक आदमी स्वभावतः अंतर्मुखी है। निन्यानबे मौके पर आप पाएंगे, आप बहिर्मुखी हैं। और अगर लगता है कि आप बहिर्मुखी हैं, तो भूलकर भी अंतर्मुखी धर्म की बातों में मत पड़ जाना, अन्यथा बहुत कठिनाई में पड़ेंगे। और उसका एक ही परिणाम होगा, फ्रस्ट्रेशन। अगर बहिर्मुखी व्यक्ति अंतर्मुखी बातों में पड़ जाए, तो वह अपने को पापी, अपराधी, गिल्टी, नारकीय समझेगा। क्योंकि वह अंतर्मुखी तो हो नहीं पाएगा। तब वह समझेगा कि हम न मालूम किन जन्मों का पाप भोग रहे हैं! ध्यान करने बैठते हैं, एक क्षण ध्यान नहीं लगता! न मालूम कहां-कहां की बातें ख्याल आती हैं!
नहीं, आप अपने स्वधर्म को नहीं पहचान रहे हैं। इसलिए परेशान हैं। और चूंकि पूरब का धर्म का बड़ा हिस्सा, अगर हम कृष्ण को छोड़ दें पूरब में, तो पूरब के बुद्ध और महावीर, नागार्जुन और शंकर, सब के सब अंतर्मुखी हैं। उन सब की बातों ने पूरब के मन को अंतर्मुखी धर्म का ख्याल दे दिया है। और सौ में से निन्यानबे आदमी बहिर्मुखी हैं। इसलिए बड़ी बेचैनी हो गई, बड़ी मुश्किल हो गई।
तो बहिर्मुखी आदमी सोचता है, अपने वश का नहीं है धर्म। अपने भाग्य में नहीं है। मौन तो होता ही नहीं मन; ठहरता ही नहीं। भीतर तो कुछ पता ही नहीं चलता। भीतर तो जाना होता ही नहीं। तो जरूर हम किसी पिछले जन्मों के पापों और कर्मों का फल भोग रहे हैं।
नहीं; जरूरी नहीं है। आप सिर्फ एक भ्रांति का फल भोग रहे हैं। आप ठीक
से समझ नहीं पाए कि आप बहिर्मुखी हैं। अगर बहिर्मुखी हैं, तो धर्म की रूप-रेखा आपके लिए बिल्कुल अलग होगी। अगर बहिर्मुखी हैं, तो आपको धर्म भी ऐसा चाहिए, जो आपकी बहिर्मुख चेतना का उपयोग कर सके। अंतर्मुखी धर्म के लिए, ध्यान; बहिर्मुखी धर्म के लिए, प्रार्थना।
कभी आपने ख्याल किया कि ध्यान और प्रार्थना बड़े अलग रास्ते हैं! ध्यान का मतलब है, अंतर्मुखी का धर्म। प्रार्थना का अर्थ है, बहिर्मुखी का धर्म। ध्यान में परमात्मा की भी गुंजाइश नहीं है। ध्यान का मतलब है, अकेले, अकेले, और अकेले। ध्यान का मतलब है, उस जगह पहुंच जाना है, जहां मैं ही अकेला रह जाऊं और कुछ न बचे। और प्रार्थना का मतलब है, परमात्मा; अकेले नहीं, दो। और प्रार्थना का मतलब है, उस जगह पहुंच जाना अंततः कि परमात्मा ही बचे, मैं न बचूं। इन दोनों का अंतिम फल एक हो जाएगा। लेकिन प्रार्थना दूसरे से शुरू होगी, परमात्मा से; और ध्यान स्वयं से शुरू होगा।
इसलिए ध्यान के जो धर्म हैं, जैसे जैन, वे परमात्मा को इनकार कर देंगे। परमात्मा को इनकार करने का बुनियादी कारण यह नहीं है कि परमात्मा नहीं है। परमात्मा को इनकार करने का बुनियादी कारण यह है कि महावीर का स्वधर्म अंतर्मुखी है। महावीर इंट्रोवर्ट हैं। परमात्मा की कोई जरूरत नहीं है, नान एसेंशियल है। महावीर के लिए परमात्मा की कोई भी जरूरत नहीं है। इसलिए महावीर कहेंगे, मैं ही परमात्मा हूं, और कोई परमात्मा नहीं है।

जब वे अंतर्मुख होकर पूरे अपने भीतर पहुंचेंगे, तो पहुंच जाएंगे वहीं, जहां बहिर्मुखी व्यक्ति परमात्मा को प्रार्थना कर-करके पहुंचता है। ख्याल किया आपने! परमात्मा की यात्रा करने वाला आखिर में कहेगा, परमात्मा है, मैं नहीं हूं। अंतर्मुखी अंत में कहेगा, मैं ही हूं, अहं ब्रह्मास्मि, और कोई परमात्मा नहीं है। दोनों एक ही जगह पहुंच गए। लेकिन उनके वक्तव्य बड़े भिन्न हैं। उनकी यात्रा बड़ी भिन्न है। भिन्न है, विरोधी नहीं। और चूंकि एक ही जगह पहुंचाती है, इसलिए जो जानते हैं, वे कहेंगे, एक ही है।
मैंने कहा आपसे कि कृष्ण जो संदेश दे रहे हैं अर्जुन को, वह बहिर्मुखी
के लिए है। इसलिए इस बात की बहुत संभावना है कि आने वाले भविष्य में गीता का मूल्य रोज-रोज बढ़ता जाएगा। बुद्ध और महावीर से भी ज्यादा शायद कृष्ण भविष्य के लिए ज्यादा उपयोगी सिद्ध होंगे। क्योंकि चेतना बहिर्मुखी होती चली जाती है। आदमी बाहर, और बाहर, और बाहर भटकता है।
अगर बाहर ही भटकना है, तो परमात्मा पर भटके, प्रार्थना का इतना ही मतलब है। बाहर ही भटकना है, धन पर भटकते हैं, धन पर न भटकें, परमात्मा पर भटकें। बाहर ही चेतना जाती है, मित्र ही खोजना है, तो शरीरधारी मित्र को न खोजें, अशरीरी मित्र को खोज लें। बिना कंपेनियन के नहीं चलता, तो साधारण साथी मत खोजें; परम साथी खोज लें। अगर पढ़ना ही है अखबार, तो अखबार न पढ़कर गीता ही पढ़ लें। अगर सुनना ही है संगीत, तो जरूरी क्या है कि फिल्म का संगीत सुनें! मीरा का पद या कबीर का पद सुन लें। बाहर ही जाएं, लेकिन बाहर की यात्रा को ही धर्म की यात्रा बना लें। तब आप अपराधी अनुभव नहीं करेंगे और ऐसा नहीं लगेगा कि मैं कोई पाप कर रहा हूं।
अगर बहिर्मुखी धर्म में कोई अंतर्मुखी व्यक्ति फंस जाए, तो वह भी दिक्कत में पड़ेगा। वह अगर परमात्मा के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो, आंख बंद करेगा, परमात्मा खो जाएगा। मूर्ति नदारद हो जाएगी, वह अकेला ही रह जाएगा। वह भी पछताएगा। वह भी कहेगा कि मैं कैसा पापी हूं! परमात्मा का इतना ध्यान करता हूं, लेकिन भीतर मूर्ति नहीं बनती।
अंतर्मुखी के भीतर परमात्मा की मूर्ति नहीं बनेगी, सिर्फ बहिर्मुखी
के भीतर बन सकती है। अंतर्मुखी तो तत्काल भीतर चला जाएगा, मूर्ति सब बाहर रह जाएंगी। परमात्मा की मूर्ति भी बाहर रह जाएगी। मूर्ति मात्र बाहर रह जाएगी। क्योंकि मूर्त का अर्थ है, बाहर। अमूर्त ही रह जाएगा। तो बेचारा वह भी तकलीफ में पड़ेगा, वह भी घबड़ाएगा।
इसलिए अगर क्रिश्चियनिटी में या इस्लाम में अंतर्मुखी व्यक्ति पैदा
हो जाए, तो मुश्किल में पड़ जाता है, क्योंकि वे धर्म बहिर्मुखी हैं। अगर महावीर के धर्म में बहिर्मुखी पैदा हो जाए, तो मुश्किल में पड़ जाता है, क्योंकि वह धर्म अंतर्मुखी है।
इसलिए मोहम्मद के पीछे चलने वाले लोगों ने नासमझी से मंसूर जैसे अंतर्मुखी को काटकर दो टुकड़े कर दिया। क्योंकि मंसूर उनकी समझ में नहीं पड़ा। मंसूर कहने लगा, अहं ब्रह्मास्मि, अनलहक, मैं ही ब्रह्म हूं। उन्होंने कहा, पागल हो गए हो! कभी भूलकर यह मत कहना कि तुम परमात्मा हो। कहां परमात्मा और कहां हम नाचीज? यह तो कुफ्र है। यह तो तुम काफिर की बात बोल रहे हो। तुम परमात्मा होने का दावा नहीं कर सकते हो। लेकिन मंसूर ने कहा कि मेरे अलावा और कौन परमात्मा होने का दावा कर सकता है! मैं कहता हूं, तुम भी परमात्मा होने का दावा कर सकते हो। तब तो उन्होंने कहा कि यह हद की बात कर रहा है! यह आदमी पागल हो गया।
बहिर्मुखी व्यवस्था है धर्म की, तो अंतर्मुखी व्यक्ति पागल मालूम होने लगेगा। मंसूर को काट डाला, मार डाला। और कठिनाई यह है कि बहिर्मुखी व्यक्ति कभी भी अंतर्मुखी की भाषा नहीं समझ पाएगा। अंतर्मुखी की भाषा बहिर्मुखी नहीं समझ पाएगा। उन दोनों की भाषाएं बड़ी दूर हैं। बड़ी कठिनाई है।
इसलिए मैंने कहा कि बहिर्मुखता के लिए निष्काम कर्मयोग; अंतर्मुखता, इंट्रोवर्शन के लिए कर्म-संन्यास।

असल में जो व्यक्ति अंतर्मुखी है, उसे करने की इच्छा ही नहीं होती। उसे कर्म का भाव ही पैदा नहीं होता। क्योंकि कर्म का अर्थ ही बाहर जाकर करना है। भीतर तो कर्म हो नहीं सकता। भीतर कर्म का कोई उपाय नहीं है। एक्शन बाहर ही जाकर करना पड़ेगा। भीतर कोई कर्म नहीं हो सकता। भीतर तो सिर्फ चैतन्य हो सकता है, कांशसनेस हो सकती है, एक्शन नहीं हो सकता। और अगर किसी को कर्म करना हो, तो बाहर ही हो सकता है, भीतर नहीं हो सकता। भीतर आप क्या कर्म करिएगा? भीतर सिर्फ चेतना हो सकती है।
इसलिए जो व्यक्ति अंतर्मुखी चेतना में साधना कर रहा हो, वह धीरे-धीरे कर्म से हटता चला जाएगा। कहना ठीक नहीं है कि कर्म से हटता चला जाएगा, धीरे-धीरे कर्म उससे हटते चले जाएंगे।
अब जैसे कि रमण हैं। सारा कर्म गिर जाएगा। बस उठने-बैठने के, खाने- पीने के, इतने ही अत्यंत अत्यल्प, जीवन के लिए बिल्कुल ही अनिवार्य कर्म शेष रह जाएंगे। वह भी रमण जैसा आदमी इस तरह करेगा, जैसे कि न करना पड़ता, तो अच्छा! अगर बिना उठे चल जाता, तो अच्छा। देखी है रमण की फोटो! वह एक ही गद्दी पर बैठे रहेंगे दिनभर। वह तो हाथ ही मुश्किल में पड़ जाएगा टिका-टिका और हाथ ही कहेगा कि अब बहुत हो गया, जरा करवट बदल लो, तो वे करवट बदल लेंगे। एक्सट्रोवर्ट को यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आएगी कि यह आदमी आलसी है! यह क्या कर रहा है? यह तो तमस हो गया, यह तो आलस्य हो गया। कुछ कर्म करो! लेकिन ऐसे व्यक्ति के भीतर कर्म उठता ही नहीं। वह हंसेगा। सब शांत हो गया भीतर। भीतर लौट गई धारा। वह अपने में लीन हो गया। कर्म तक पहुंचने की कोई संभावना नहीं रही। कोशिश भी करे, तो नहीं पहुंच सकता।
बहिर्मुखी उलटी हालत में होता है। बहिर्मुखी एक जगह बैठ जाए, तो टांग
ही हिलाता रहेगा, कुछ नहीं तो। कुछ भी नहीं हिलाने का मौका है, तो बैठकर टांग ही हिला रहा है!
बुद्ध के सामने एक दिन एक आदमी बैठकर टांग हिला रहा है। बोल रहे हैं बुद्ध। उन्होंने बोलना बीच में बंद कर दिया। उन्होंने कहा, यह टांग क्यों हिला रहे हो? उस आदमी ने कहा, आप भी कहां की फिजूल की बात में आ गए! यों ही हिला रहे हैं। हमको कुछ पता ही नहीं था। बुद्ध ने कहा, तेरी टांग, और तुझे पता नहीं, और हिल रही है! टांग किसकी है यह? उस आदमी ने कहा, है तो मेरी। फिर तू क्यों हिला रहा है? उसने कहा, आप बड़ा कठिन सवाल पूछते हैं! इतना ही कह सकता हूं कि बिना हिलाए मैं रह नहीं सकता। कुछ न कुछ हिलाता ही रहूंगा। रात में भी बड़बड़ाता हूं, नींद में भी बोलता हूं।
महावीर जैसा आदमी एक ही करवट सोता है रातभर। करवट नहीं बदलेंगे रातभर। रातभर जहां पैर है वहीं पैर, जहां हाथ है वहीं हाथ! रात में एक दफा करवट न बदलेंगे। कोई पूछता है महावीर को या बुद्ध को... । बुद्ध भी करवट नहीं बदलते रातभर। वे कहते, अकारण! एक ही करवट से चल जाता है।
अब यह जो भाव दशा है। हम तो जागे में भी करवट बदलते रहते हैं। वे कहते हैं, नींद में एक ही करवट से... । एक करवट भी जैसे मजबूरी है! यानी एक करवट के बिना तो सो ही नहीं सकते। एक करवट तो लेनी ही पड़ेगी, इसलिए लेते हैं। मिनिमम, जो न्यूनतम संभव है, वह लेते हैं। आप कितनी करवट लेते हैं? मैक्जिमम! जितनी ज्यादा संभव है। बिस्तर भी थक जाता है रातभर!
अपने को पहचानें। यदि आपकी चित्त-दशा कर्म की तरफ दौड़ने वाली है, तो आपका मार्ग होगा, निष्काम कर्म। अगर आपकी चित्त-दशा अकर्म की तरफ दौड़ने वाली है, तो आपका मार्ग होगा, कर्म-संन्यास। दोनों से ही पहुंच जाते हैं। दोनों से ही लोग पहुंचते रहे हैं। दोनों से ही सदा पहुंचते रहेंगे। लेकिन प्रत्येक युग में पलड़ा बदल जाता है। कभी अंतर्मुखता की धारा होती है जगत में, तो अंतर्मुखी धर्म निर्मित होते हैं। और जितने धर्म निर्मित हुए भारत में, वे करीब-करीब सब अंतर्मुखी हैं। वही धारा थी। भारत के बाहर जितने धर्म निर्मित हुए, वे सब बहिर्मुखी हैं। चाहे इस्लाम हो और चाहे ईसाइयत हो, धारा बहिर्मुखता की थी। इसलिए ईसाइयत और इस्लाम में ध्यान की धारणा विकसित न कर पाए वे। प्रेयर, प्रार्थना से आगे बात नहीं गई। प्रार्थना से काम चल गया। ध्यान की धारणा तो अंतर्मुखी साधकों ने विकसित की।

आप अपने लिए खोज लें। और कठिन नहीं है खोजना। जांच बड़ी आसान है। इसलिए
और भी आसान है कि सौ में से निन्यानबे मौके पर बहिर्मुखी होंगे आप। एकाध आदमी अंतर्मुखी होता है। लेकिन दो-तीन जांच-परख के लिए नियम बना लेंः अकेले में कैसा लगता है, भीड़ में कैसा लगता है? स्वाद क्या है दोनों बातों का? अकेले में स्वाद मुंह का कड़वा हो जाता है कि मिठास से भर जाता है? भीड़ में स्वाद मधुर हो जाता है कि तिक्त हो जाता है? कर्म में अच्छा लगता है कि विश्राम में डूब जाते हैं, तो अच्छा लगता है?
ध्यान रहे, विश्राम का मतलब आलस्य नहीं है। आलस्य और विश्राम में बड़ा फर्क है। आलसी विश्राम में नहीं होता, सिर्फ श्रम से बचाव में होता है; एस्केप में होता है। विश्राम तो बड़ी पाजिटिव स्थिति है, निगेटिव नहीं है। विश्राम तो बड़ी जीवंत अवस्था है।
बुद्ध की मूर्ति देखें, तो आलसी नहीं मालूम पड़ते। चेहरे पर चमक है।
आंखों में ज्योति है। शरीर पर आलस्य की छाया नहीं है। शरीर पर जागती हुई सुबह की रोशनी है। महावीर को देखें, खड़े हुए उनकी मूर्ति को देखें, तो भीतर से प्राण फूटे पड़ रहे हैं, बहे जा रहे हैं। आलस्य नहीं है, विश्राम है। आलस्य, कहना चाहिए, चमकहीन होता है। विश्राम चमक से भरा होता है। विश्राम--भीतर तो झरना लबालब भरा है ऊर्जा का, लेकिन कर्म की इच्छा नहीं है। आलस्य--कर्म की तो इच्छा है, लेकिन शक्ति नहीं है, ऊर्जा नहीं है, इसलिए पड़े हैं! कर्म की तो बड़ी इच्छा है। दिल तो अपना भी है कि सिकंदर हो जाते, कि इंदिरा गांधी हो जाते। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। बाकी ऊर्जा नहीं है; भीतर एनर्जी नहीं है। पड़े हैं अपने बिस्तर से टिके हुए। ऊर्जा नहीं है, शक्ति नहीं है। इरादे तो बहुत हैं कि जीत लें दुनिया को। इरादे कर रहे हैं आंख बंद करके वहीं दुनिया को जीतने के। आलस्य में पड़े हुए लोग भी सिकंदर से कम यात्राएं नहीं करते! लेकिन भीतर ही भीतर करते हैं, बाहर नहीं। आलस्य और विश्राम में भेद है।
कर्म-संन्यास विश्राम की अवस्था है, आलस्य की नहीं। कर्मयोग और कर्म-संन्यास दोनों के लिए शक्ति की जरूरत है। दोनों के लिए। आलसी दोनों नहीं हो सकता। आलसी कर्मयोगी तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि कर्म करने की ऊर्जा नहीं है। आलसी कर्मत्यागी भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म के त्याग के लिए भी विराट ऊर्जा की जरूरत है। जितनी कर्म को करने के लिए जरूरत है, उतनी ही कर्म को छोड़ने के लिए जरूरत है। हीरे को पकड़ने के लिए मुट्ठी में जितनी ताकत चाहिए, हीरे को छोड़ने के लिए और भी ज्यादा ताकत चाहिए। देखें छोड़कर, तो पता चलेगा। एक रुपए को हाथ में पकड़ें। पकड़े हुए खड़े रहें सड़क पर, और फिर छोड़ें। पता चलेगा कि पकड़ने में कम ताकत लग रही थी, छोड़ने में ज्यादा ताकत लग रही है।
कर्म-संन्यास भी शक्ति मांगता है। और कर्मयोग तो शक्ति मांगता ही है। आलसी के लिए दोनों मार्ग नहीं हैं। आलसी, अगर हम ठीक से कहें, तो थर्ड सेक्स है, नपुंसक। बहिर्मुखी भी नहीं है वह, अंतर्मुखी भी नहीं है; बीच की देहली पर खड़े हैं! थर्ड सेक्स, न पुरुष हैं, न स्त्री। न अंतर्मुखी, न बहिर्मुखी। बीच में खड़े हैं। उनकी कोई भी यात्रा नहीं है। न वे भीतर जाते, न वे बाहर जाते। वे कहीं जाते ही नहीं। वे अपनी देहली पर बैठे हुए हैं! भीतर जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाते, बाहर जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। जाने के लिए तो हिम्मत चाहिए, साहस चाहिए। यात्रा कोई भी हो, कहीं से भी जाना हो, बिना ऊर्जा, बिना साहस के कोई यात्रा संभव नहीं है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।। 6।।
परंतु हे अर्जुन! निष्काम कर्मयोग के बिना संन्यास अर्थात मन, इंद्रियों और शरीर द्वारा होने वाले संपूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है। और भगवत स्वरूप को मनन करने वाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

फिर पुनः कृष्ण कहते हैं! शायद फिर अर्जुन की आंख में झलक लगी होगी कि
जब दोनों ही मार्ग ठीक हैं, और जब कर्म को छोड़ने वाला भी वहीं पहुंच जाता है, जहां कर्म को करने वाला। तो अर्जुन के मन को लगा होगा, फिर कर्म को छोड़ ही दूं। छोड़ना चाहता है। छोड़ना चाहता था, इसीलिए तो यह सारा संवाद संभव हो सका है। सोचा होगा, कृष्ण अब बिल्कुल मेरे अनुकूल आए चले जाते हैं। अब तो वही कहते हैं मेरे मन की, मनचाही, मनचीती बात। यही तो मैं चाहता हूं कि छोड़ दूं सब। और जब छोड़ने से भी पहुंच जाते हैं वहां, तो इस व्यर्थ के युद्ध के उपद्रव को मैं मोल क्यों लूं!
ये सब सपने उसकी आंखों में फिर तिर गए होंगे। ये सब उसकी आंखों में भाव फिर आ गए होंगे। उसे फिर जस्टीफिकेशन मिला होगा। उसे फिर लगा होगा कि फिर मैं ही ठीक था, फिर कृष्ण क्यों इतनी देर तक लंबी बातचीत किए! जब मैंने गांडीव रखा था और शिथिल गात होकर बैठ गया था, तभी मुझसे कहते कि हे अर्जुन, हे महाबाहो, तू तो कर्म-संन्यासी हो गया है। और कर्म-संन्यास से भी लोग वहीं पहुंच जाते हैं, जहां कर्म करने वाले पहुंचते हैं। प्रसन्न हुआ होगा मन में कहीं। जो चाहता था, वही करीब दिखा होगा। वही कृष्ण के मुंह से भी उसे सुनाई पड़ा होगा। वही कृष्ण की बात में भी ध्वनित हुआ होगा।
उसे देखकर ही कृष्ण तत्काल कहते हैं, लेकिन अर्जुन, जब तक आकांक्षा न छूट जाए और कर्म में निष्कामता न सध जाए, तब तक कोई व्यक्ति कर्म को छोड़ना आसान नहीं पाता है।
फिर दुविधा उन्होंने खड़ी कर दी होगी! अर्जुन से फिर छीन लिया होगा उसका मिलता हुआ आश्वासन। सांत्वना बंधती होगी, कंसोलेशन उतर रहा होगा उसकी छाती पर, वह फिर हटा दिया होगा। कहा कि नहीं, आकांक्षा छोड़कर कर्म का जो अभ्यास न कर ले, वह कर्म भी छोड़ पाए, यह बहुत कठिन है। क्योंकि जो आकांक्षा नहीं छोड़ पाता, वह कर्म क्या छोड़ पाएगा! जो आकांक्षा तक छोड़ नहीं सकता, वह कर्म क्या छोड़ पाएगा! और जो आकांक्षा नहीं छोड़ सकता और कर्म छोड़कर भाग जाएगा, बहुत डर तो यही है कि सिर्फ कर्म ही छूटेगा, आकांक्षा न छूटेगी। खतरा है। कर्म छोड़ना एक लिहाज से आसान है।
एक चोर है। हम जब उसे जेल में बंद कर देते हैं, तो चोरी का कर्म छूट जाता है। कर्म-संन्यास हो गया? कर्म तो छूट गया। चोरी तो नहीं कर पाता है अब। लेकिन चोर होना बंद नहीं होता। चोर होना जारी है। चोर वह अब भी है। प्रतीक्षा कर रहा है, कब अवसर मिले। शायद और बड़ा चोर होकर बाहर निकलेगा। अब तक तो यही हुआ है। अब तक कोई कारागृह किसी चोर को चोरी से मुक्त नहीं करा पाया है, सिर्फ निष्णात चोर बनाकर बाहर भेजता है--ट्रेंड! क्योंकि और सदगुरु वहां उपलब्ध हो जाते हैं! और भी गहन ज्ञानी, अनुभवी पुरुष! और चोर को भी पता चल जाता है कि यह चोरी का दंड नहीं मिल रहा है। यह दंड तो चोरी ठीक से न करने का मिल रहा है। अभ्यास करूं, और-और साधूं कुशलता, तो फिर यह भूल नहीं होगी।
कोई अदालत, कोई जेलखाना अब तक किसी चोर को चोरी से नहीं छुड़ा पाया। कर्म से छुड़ा देता है। वही भ्रम है, जो कई बार कर्मत्यागी भी कर बैठता है कर्मत्यागी सोचता है कि ठीक है, बाजार में बैठता हूं, तो लोभ पकड़ता है। तो बाजार छोड़ दूं। जैसे कि बाजार में लोभ पैदा करने का कोई उपाय हो! लोभ तो होता है भीतर। बाजार में तो लोभ नहीं होता। सोचता है, बाजार में लोभ पकड़ता है, बाजार छोड़ दूं। स्त्री को देखकर वासना जगती है, स्त्री की तरफ पीठ कर लूं। पद को देखकर मन होता है कि पद पर चढ़कर बैठ जाऊं, तो ऐसी जगह चला जाऊं, जहां पद ही न हो। तो कोई कर्म को छोड़कर भाग सकता है। सौ में से निन्यानबे मौके पर डर इस बात का है कि कर्म तो छूट जाए और आकांक्षा और वासना न छूटे। तब वह जंगल के झाड़ के नीचे बैठकर भी वही आदमी होगा, जो बाजार में था। आदमी में कोई क्वालिटेटिव, कोई गुणात्मक अंतर नहीं पड़ेगा। परिस्थिति बदल जाएगी, मनःस्थिति नहीं बदलेगी।
मनःस्थिति बदलनी बड़ी कठिन बात है! और जो मनःस्थिति बदल सकता है, कृष्ण कहते हैं, वह छोड़कर भी क्यों जाएं? वह यहां भी बदल सकता है। और जो यहां नहीं बदल सकता, क्या भरोसा है कि वह वहां बदल सकेगा? जाऊंगा तो मैं ही, मैं चाहे बाजार में रहूं और चाहे हिमालय पर चला जाऊं। बाजार तो यहीं रह जाएगा

बंबई में, मैं हिमालय चला जाऊंगा। लेकिन मैं तो अपने साथ ही चला जाऊंगा। मेरे सारे रोग, मेरे सारे मन की रुग्णताएं मेरे साथ चली जाएंगी। उनको यहां नहीं छोड़कर जा सकूंगा।
हां, अवसर हो सकता है यहां छूट जाए। हो सकता है, दर्पण यहां छूट जाए, लेकिन चेहरा तो मेरा मेरे साथ चला जाएगा। और यह भी हो सकता है कि दर्पण न हो, तो चेहरा दिखाई न पड़े। लेकिन इससे चेहरा नहीं है, यह तो नहीं है। चेहरा तो है ही। कभी किसी झील में दिखाई पड़ जाएगा। कभी किसी पानी के झरने में दिखाई पड़ जाएगा। कभी कोई राहगीर गुजरता होगा, उसकी आंख में दिखाई पड़ जाएगा।
सुना है मैंने कि एक संन्यासी तीस वर्ष तक हिमालय पर था। तीस वर्ष जिस चीज को छुड़ाने आया था, वह कभी की छूट गई। फिर आश्वस्त हो गया। अहंकार से पीड़ित था, उसी से बचने सब छोड़कर हिमालय आया था। गल गया, हिमालय की ठंड! नहीं बचा होगा। लेकिन कहीं ठंड से, सर्दी से अहंकार गलते हैं? हिमालय की ऊंचाई अहंकार न चढ़ पाया होगा! इतनी ऊंचाई पर थक गया होगा, सांस भर गई होगी! नीचे ही रुक गया होगा, संन्यासी ऊपर चला गया होगा! लेकिन अहंकार कहीं थकता है ऊंचाइयां चढ़ने से?
सच तो यह है कि अहंकार ऊंचाइयां चढ़ने से बड़ा प्रसन्न होता है। अहंकार ऊंचाइयां चढ़ने की आकांक्षा का नाम है। जितना ऊंचा शिखर हो, उतना ही उसका दम फूलता नहीं और मजबूत होता है।
लेकिन तीस साल अहंकार की रेखा भी पता न चलती थी। भरोसा हो गया पक्का। बहुत तरह से खोजकर देखा, कहीं अहंकार न था। फिर उसने सोचा, अब क्या डर है! अब वापस चलूं। नीचे उतरकर एक गांव के पास रहने लगा। गांव के लोग आने लगे। दर्पण वापस लौट आए। कोई पैर छूने लगा, कोई महात्मा कहने लगा। भीतर कोई चीज जो तीस साल से बिल्कुल पता न थी, धीरे-धीरे उठने लगी। पर अभी भी उसे पता नहीं है, क्योंकि पहचान भूल गई, रिकग्नीशन भूल गया। तीस साल से देखा नहीं, एकदम से समझ में नहीं आता कि क्या हो रहा है। लेकिन कुछ हो रहा है। कोई चीज, कोई गर्मी, कोई ऊष्मा चारों तरफ खून में फैलती चली जाती है।
फिर बड़ा मेला भरता था, कुंभ का भरता होगा। कुंभ का मेला महात्माओं की परीक्षा के लिए बड़ी अच्छी जगह है!
गांव के लोगों ने कहा, इतने बड़े महात्मा और कुंभ के मेला नहीं चलेंगे,
तो नहीं चलेगा। बड़ा महात्मा और कुंभ के मेला न जाए, ऐसा हो नहीं सकता। चलना ही पड़ेगा। फिर महात्मा ने कहा, अब डर भी क्या है! जिस चीज से डरते थे, वह तो खतम ही हो चुकी। चल सकते हैं।
लेकिन यह ख्याल भी आ जाना कि मेरा अहंकार खतम हो चुका है, बड़ा गहरा अहंकार है। इसका उसे पता नहीं। चल पड़ा। जब कुंभ के मेले में पहुंचे, भीड़ थी भारी, महात्मा को कोई पहचानता न था। और महात्मा को पहचानते न हों आप, तो महात्मा और गैर-महात्मा में कोई फर्क होता है? पहचान का ही फर्क होता है। ऐसा नहीं कि महात्मा और गैर-महात्मा में फर्क नहीं होता, लेकिन वह भीतरी फर्क है, वह आपकी पकड़ में नहीं आता। आप तो पहचान से ही पकड़ते हैं। अगर बगल में एक महात्मा बैठा हो और आप पहचानते न हों, तो बिल्कुल नहीं पता चलेगा कि महात्मा बैठा है। पहचानते हों, तो पता चलेगा कि महात्मा बैठा है। पहचानते हों कि चोर है, तो पता चलेगा कि चोर बैठा है। बेईमान है, तो बेईमान बैठा है। भीतर जो है, वह तो बहुत गहरे में है, उसका आपको पता नहीं चलता। उसका तो खुद को भी पता चल जाए, तो काफी है। दूसरे को पता चलना तो बहुत मुश्किल है। वहां कोई पहचानता नहीं था महात्मा को। गांव के थोड़े-से लोग पहचानते थे। वहां भारी भीड़; धक्का-मुक्की हो गई। किसी ने पैर पर जूता रख दिया महात्मा के। महात्मा को गुस्सा आ गया। उचककर उसकी गर्दन पकड़ ली और कहा, गर्दन दबा दूंगा! जानता नहीं मैं कौन हूं!
तब अचानक ख्याल आया कि तीस साल विलीन हो गए एकदम! तीस साल पहले का आदमी वापस खड़ा हो गया। तीस साल पहले यही आदमी था वह, कि कोई पैर पर जूता रख देता, तो गर्दन पकड़ लेता और कहता, जान से मार डालूंगा। जानता नहीं मैं कौन हूं! वे तीस साल बीच के एकदम तिरोहित हो गए, जैसे थे ही नहीं। जैसे फिल्म में सिनेमा के पर्दे पर कैलेंडर एकदम से उड़ता है न; तारीख एकदम बदलती चली जाती

है। तीन घंटे में कई साल बिताने पड़ते हैं। एक सेकेंड में तीस साल का कैलेंडर एकदम हवा में उड़ गया! वापस वह आदमी वहीं खड़ा हो गया, जिस दिन हिमालय गया था--अहंकार अपनी जगह, गर्दन पर हाथ कसे हुए!
लेकिन फिर उसने झुककर उस आदमी के पैर पड़ लिए, जिसकी गर्दन पकड़ी थी। वह आदमी बहुत हैरान हुआ। उसने कहा, यह क्या करते हो! उस संन्यासी ने कहा कि आपने मुझ पर बड़ी कृपा की जो मेरे पैर पर जूता रख दिया। हिमालय तीस साल तक जो मुझे न बता पाया, वह आपके जूते ने मुझे बता दिया। तीस साल हिमालय में मुझे पता न चला कि अहंकार है, वह एक आदमी की जरा-सी चोट से पता चल गया। आपकी बड़ी अनुकंपा है। बड़ी कृपा है।
कृष्ण कहते हैं, कर्म से छोड़कर भाग जाना तो कठिन नहीं है, लेकिन अगर आकांक्षा न गई हो और अगर निष्काम कर्म न सध गया हो, तो कर्म छोड़ने से भी कुछ होगा नहीं।
अर्जुन की आंख में देखकर उन्होंने फिर बात खड़ी की होगी। और अर्जुन से कहा होगा, ऐसा मत सोच कि मैं कह रहा हूं कि तू छोड़कर चला जा। पहले तू निष्काम कर्म साध। यदि निष्काम कर्म सध जाए, तो कर्मत्याग भी कर सकता है। लेकिन बड़े मजे की बात यह है कि अगर निष्काम कर्म सध जाए, तो कर्मत्याग करना, न करना बराबर है। कोई भेद नहीं है। फिर वह व्यक्ति की अंतर्मुखता या बहिर्मुखता पर निर्भर करेगा। अगर निष्काम कर्म सध जाए, तो बहिर्मुखी व्यक्ति कर्म को करता चला जाएगा, अंतर्मुखी व्यक्ति कर्म को अचानक पाएगा कि वे बंद हो गए हैं। लेकिन वासना से मुक्ति तो सधनी ही चाहिए, निष्कामता तो सधनी ही चाहिए। वह तो अनिवार्य शर्त है। उससे कोई बचाव नहीं है। इसलिए कृष्ण ने पुनः अर्जुन को याद दिला दी।
कृष्ण पूरे समय अर्जुन को पढ़ते चलते हैं। और गुरु वही है, जो शिष्य को
पढ़ ले। शिष्य तो गुरु को कैसे पढ़ेगा! वह तो बहुत मुश्किल है, असंभव है। अगर शिष्य गुरु को पढ़ सके, तो वह खुद ही गुरु हो गया। उसके लिए अब किसी गुरु की जरूरत नहीं है। गुरु वही है, जो शिष्य को पढ़ ले खुली किताब की तरह, उसके एक-एक अध्याय को उसके जीवन के; उसके मन की एक-एक पर्त को झांक ले। गुरु वह नहीं है कि शिष्य जो कहे, वह उसे बता दे। गुरु वह है, जो वही बताए, जो शिष्य के लिए जरूरी है। गुरु वह नहीं है, जो शिष्य के लिए सिर्फ सिद्धांत जुटा दे। गुरु वह है, जो शिष्य के लिए ट्रांसफार्मेशन, रूपांतरण, क्रांति का मार्ग व्यवस्थित कर दे।
अर्जुन तो यही चाहता है कि कृष्ण कह दें कि अर्जुन, छोड़ दे, तो अर्जुन प्रफुल्लित हो जाए। और सारी दुनिया में डंके से कह दे कि कोई मैंने छोड़ा, ऐसा मत कहना। असल में अर्जुन चाहता है कि कृष्ण की गवाही मिल जाए, तो वह सारी दुनिया को कह सके कि मैं कोई कायर नहीं हूं। डर तो उसे यही है गहरे में, बहुत गहरे में। क्षत्रिय है वह। एक ही डर है उसे कि कोई कायर न कह दे। इसलिए वह फिलासफी की बातें कर रहा है। वह यह कह रहा है कि मुझे कोई दार्शनिक सिद्धांत मिल जाए, जिसकी आड़ में मैं पीठ दिखा सकूं और मैं दुनिया से कह सकूं कि मैं कोई कायर नहीं हूं। मैंने कर्म-त्याग कर दिया है। और अगर तुम कहते हो कि मैं गलत हूं, तो पूछो कृष्ण से। कृष्ण की गवाही से छोड़ा है। ये गवाह हैं।
लेकिन उसे पता नहीं कि वह जिस आदमी को गवाह बना रहा है, उस आदमी को गवाह बनाना बहुत आसान नहीं है। और जिस आदमी से वह अपनी कायरता के लिए, भागने के लिए, एस्केप के लिए, पलायन के लिए सहारे खोज रहा है, उस आदमी से इस तरह के सहारे खोजने संभव नहीं हैं। कृष्ण उसे क्रांति दे सकते हैं, सहारा नहीं दे सकते। कृष्ण उसे रूपांतरित कर सकते हैं, लेकिन पलायन नहीं करवा सकते। कृष्ण उसे नया व्यक्तित्व दे सकते हैं, लेकिन उसके भीतर छिपी हुई कमजोरियों के लिए आड़ नहीं बन सकते हैं।
इसलिए बार-बार कृष्ण जब भी--जब भी--कर्म-संन्यास की कोई बात कहते हैं, अर्जुन प्रफुल्लित मालूम होता है। वह कहता है, यही, यही! बिल्कुल ठीक कह रहे हैं।
ऐसा मैं देखता हूं रोज। रोज मैं देखता हूं, साधुओं और संन्यासियों और गुरुओं के पास जो लोग बैठे होते हैं, वे कहते हैं कि बिल्कुल ठीक कह रहे

हैं महाराज! वे उसी वक्त कहते हैं, बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, जहां उनको कोई सहारा मिलता है; जहां उन्हें लगता है कि ठीक, अपनी बेईमानी में कुछ सहारा मिल रहा है; अपनी चोरी में कुछ सहारा मिल रहा है। अगर कोई महात्मा समझाता है कि आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध है, आत्मा ने कभी पाप ही नहीं किए; तो पापी बड़े सिर हिलाते हैं। वे कहते हैं, बिल्कुल ठीक! यही तो हम कहते हैं। पापी को बड़ा रस आता है कि बिल्कुल ठीक। महात्मा भी यही कह रहे हैं।
इसलिए महात्माओं के पास अगर पापी इकट्ठे हो जाते हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन हिम्मत कृष्ण जैसी महात्माओं में जब तक न हो, तब तक सुनने वालों का कोई भी लाभ नहीं होता, हानि होती है। और मेरा ऐसा अनुभव है कि सौ में निन्यानबे महात्मा सुनने वालों को हानि पहुंचाते हैं, सहारा बन जाते हैं।
कृष्ण सहारा नहीं बनेंगे। इसलिए जरा-सी भी कोई बात ऐसी होती है कि अर्जुन उसको मैनिपुलेट कर सके, उसको घुमा-फिराकर अपना सहारा बना सके, कृष्ण फौरन छिन-भिन्न कर देते हैं; तलवार उठाकर काट देते हैं। वे कहते हैं, इस भूल में मत पड़ जाना। यह मत समझ लेना तू कि कर्म छोड़ना आसान है। जब तक निष्कामता न सध जाए, तब तक कर्म छोड़ना बहुत कठिन है।
और दूसरी बात यह कहते हैं कि अर्जुन, निष्काम कर्म सरल है। जो अर्जुन
को कठिन मालूम पड़ रहा है, उसे वे सरल कहते हैं; और जो अर्जुन को सरल मालूम पड़ रहा है, उसे वे कठिन कहते हैं। इसे ख्याल में रख लें।
अर्जुन को यही सरल मालूम पड़ रहा है, कर्म-त्याग बिल्कुल सरल है। पत्नी
को छोड़कर भाग जाना कोई कठिन बात है! दूकान को छोड़कर भाग जाना कोई बहुत कठिन बात है! जब कि दिवाला भी निकल रहा हो, तब तो और भी सरल है, तब तो कर्म-त्याग बिल्कुल ही आसान है! दुख की घड़ी में कर्म को छोड़ देना कोई कठिन बात है? सुख की घड़ी में कोई छोड़ता नहीं।
यह अर्जुन कभी भी नहीं आज तक इसके पहले--यह कोई अर्जुन की कृष्ण की पहली मुलाकात नहीं है। जिंदगीभर के साथी हैं। गीता को अब तक पैदा होने का मौका नहीं आया था। अर्जुन अब तक ऐसे उपद्रव में, ऐसी क्राइसिस, ऐसे संकट में पड़ा नहीं था। और वह तो जरा दुविधा हो गई, नहीं तो वह संकट में पड़ता नहीं।
अगर दुश्मनी साफ-साफ होती, जैसे कि हिंदू-मुसलमानों का दंगा हो जाता है, तो कोई दिक्कत नहीं होती। क्योंकि उस तरफ न कोई अपनी पत्नी का भाई होता, न कोई मामा होता, न कोई गुरु होता, न कोई रिश्तेदार होता। हिंदू- मुस्लिम का दंगा हो जाता, तो दंगा बड़ा मजेदार होता--सीधा। कोई झगड़ा नहीं। कोई कांसिएंस को अर्जुन की दिक्कत न होती, अगर हिंदू-मुस्लिम का दंगा होता।
लेकिन यह दंगा हिंदू-मुस्लिम का नहीं, एक परिवार का था, एक घर का था।
उस तरफ भी अपने लोग थे, जिनके साथ खेले और बड़े हुए, जिनसे सीखे और जिनकी गोद में बैठे। गुरु थे, पितामह थे, भाई थे, मित्र थे--सब अपने थे। उस तरफ भी अपने थे, इस तरफ भी अपने थे। दोनों तरफ परिवार बंटकर खड़ा था।
इसलिए प्रासांगिक रूप से आपसे कहता हूं, अगर कभी दुनिया में हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्धों के दंगे मिटाने हों, तो जब तक हिंदू-मुसलमान परिवार नहीं बन जाते, तब तक दंगे नहीं मिट सकेंगे। जब उस तरफ भी अपना कोई मरने को हो, तभी मरने से रोका जा सकता है, नहीं तो नहीं रोका जा सकता। इसलिए धार्मिक लोग शादी नहीं होने देते हैं एक-दूसरे में। क्योंकि शादी हो गई, तो दंगे नहीं करवाए जा सकते। अगर मेरी पत्नी मुसलमान के घर में है, और मेरे भाई की पत्नी ईसाई के घर में है, और मेरी बहन किसी जैन के घर में है, और मेरी मां यहूदी है, तो दंगा करना बहुत मुश्किल मामला हो जाएगा। दंगा होगा किससे? दंगा हो सकता है, क्योंकि चीजें कटी हैं।
अर्जुन क्राइसिस में पड़ गया, क्योंकि परिवार सब बंटा हुआ सामने खड़ा था। यहां भी अपने थे। जीतेंगे तो, हारेंगे तो, मरेंगे अपने ही। कुछ भी हो, अपने मर जाएंगे। इससे बेचैनी खड़ी हो गई। इसलिए मुश्किल में पड़ गया। इसलिए अब वह राह खोजने लगा, ज्ञान की बातें करने लगा। उसके मन में कभी भी, कभी भी हिंसा के प्रति कोई अड़चन न थी। वह इतनी मौज से मार सकता था कि वह हाथ भी

नहीं धोता और मजे से खाना खाता। उसको कोई मारने में तकलीफ नहीं थी। मारने में वह कुशलहस्त है। उससे ज्यादा कुशलहस्त आदमी खोजना मुश्किल है मारने में। लेकिन आज क्या अड़चन थी! सोचता है, सरल तो यही है कि सब छोड़ दूं। और कृष्ण कैसा उलटा आदमी मिल गया! कहां गलत आदमी को सारथी बना लिया!
इसलिए भगवान को सारथी बनाने से जरा बचना चाहिए। वे दिक्कत में रखेंगे। आपके रथ को ऐसी जगह ले जाएंगे, जहां आप नहीं चाहते कि जाए। उसी दिन गलती हो गई, जिस दिन कृष्ण को सारथी बना लिया। जिसने भी कृष्ण को सारथी बनाया, फिर रास्ता सुगम नहीं है। रास्ता अड़चन का होगा, यद्यपि परम उपलब्धि आनंद की होगी। मार्ग कठिन होगा, फल अमृत के होंगे। और गलत सारथी मिला, तो मार्ग तो बड़ा सरल होगा, लेकिन फल नर्क हो सकता है। अंधेरी रात के गड्ढ में गिरा देता है।
जैसे ही कृष्ण को दिखाई पड़ा कि उसको लग रहा है कि अब मैं उसके करीब आ रहा हूं, वे तत्काल हट जाते हैं। आते हैं और हट जाते हैं। उन्होंने फौरन कहा कि ध्यान रख, निष्काम कर्म साधे बिना कर्म-त्याग नहीं हो सकता। पहले तू युद्ध कर। ऐसे कर कि फल की कोई आकांक्षा न हो। अगर तू युद्ध करके फल की आकांक्षा के पार उठ गया, तो ठीक है; फिर तू कर्म भी त्याग कर देना। अर्जुन कहेगा, फिर कर्म-त्याग करने से मतलब ही क्या है! वक्त ही निकल गया। फिर तो राज्य हाथ में होगा। फिर त्याग करने का क्या मतलब है? कृष्ण कहते हैं, युद्ध तो कर ले, फल की आकांक्षा छोड़कर। और जब राज्य मिल जाए और युद्ध गुजर जाए और तू निष्काम साध ले, तब तू त्याग कर देना!
अर्जुन को यह बहुत कठिन लगता है। दुख की घड़ी तो गुजारो और सुख की घड़ी में छोड़ देना! लेकिन ध्यान रहे, धर्म की यही अपेक्षा है। सुख की घड़ी में जो छोड़े, वही धर्म को उपलब्ध होता है। दुख की घड़ी में कोई कितना ही छोड़े, धर्म को उपलब्ध नहीं होता है। दुख की घड़ी में कोई भी छोड़ना चाहता है। दुख की घड़ी में छोड़ना नैसर्गिक है, धार्मिक नहीं। सुख की घड़ी में छोड़ना एक बड़ी इंपासिबल रेवोल्यूशन, एक बड़ी असंभव क्रांति से गुजरना है। वह कृष्ण कहते हैं, उस असंभव क्रांति से गुजरना ही होगा अर्जुन!
आज इतना ही।
अब पांच मिनट उठेंगे नहीं जरा भी! एक भी नहीं उठेगा। क्योंकि और कोई प्रसाद बांटने के लिए हमारे संन्यासियों के पास नहीं है। वे अपना कीर्तन पांच मिनट आपको बांट देंगे। वह आपके मन में गूंजता हुआ घर ले जाएं। वह उनका प्रसाद लेकर जाएं। और बीच में कोई न उठे। एक जन उठ जाता है, तो बाकी लोगों को भी उठना पड़ता है। पांच मिनट बैठे रहें और पांच मिनट इस आनंद को लें और फिर चुपचाप चले जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
चौथा प्रवचन

वासना अशुद्धि है

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 7।।
तथा वश में किया हुआ है शरीर जिसके, ऐसा जितेंद्रिय और विशुद्ध अंतःकरण वाला, एवं संपूर्ण प्राणियों के आत्मरूप परमात्मा में एकीभाव हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता।

शरीर वश में किया हुआ है जिसका! इस बात को सबसे पहले ठीक से समझ लें। साधारणतः हमें पता ही नहीं होता कि शरीर के अतिरिक्त भी हमारा कोई होना है। वश में करेगा कौन? वश में होगा कौन? हम तो स्वयं को शरीर मानकर ही जीते हैं। और जब तक कोई व्यक्ति स्वयं को शरीर मानकर जीता है, तब तक शरीर वश में नहीं हो सकता, क्योंकि वश में करने वाले की हमें कोई खबर ही नहीं है।
शरीर से अतिरिक्त कुछ और भी है हमारे भीतर, इसका अनुसंधान ही हम कभी नहीं करते हैं। जहां तक बाहर के जीवन की जरूरत है, स्वयं को शरीर मानकर काम चल जाता है। लेकिन जहां तक गहरे जीवन, परमात्मा की, अमृत की, आनंद की खोज की जरूरत है, वहां शरीर की अकेली नाव से काम नहीं चलता है। शरीर की नाव संसार के लिए पर्याप्त है। लेकिन जिसने आत्मा की नाव नहीं खोजी, वह प्रभु के सागर में प्रवेश नहीं कर पाएगा।
और जिसे थोड़ा-सा भी पता चलना शुरू हुआ कि मैं शरीर से भिन्न हूं, उसे शरीर को वश में करना नहीं होता, शरीर तत्काल वश में होना शुरू हो जाता है। इस बात का अनुभव कि मैं शरीर से अलग, पृथक और ऊपर हूं, ट्रांसेंडेंटल हूं, शरीर का अतिक्रमण करता हूं, मालिक के आ जाने की खबर है। जैसे किसी कक्षा में शिक्षक भीतर आ जाए, शोरगुल बंद हो जाए। जैसे नौकरों के बीच में मालिक आ जाए और नौकर सम्हलकर अनुशासित हो जाएं। शरीर के भीतर इस बात का स्मरण भी आ जाए कि मैं भिन्न हूं, तो शरीर तत्काल अनुशासन में खड़ा हो जाता है।
शरीर वश में हो गया जिसका!
किसका? सिर्फ उसका ही होता है शरीर वश में, जिसको स्वयं के अशरीरी होने का अनुभव शुरू हुआ है।
लेकिन साधारणतः लोग शरीर को वश में करने में लग जाते हैं, बिना अशरीरी
को खोजे। शरीर को वश में करने जो लग जाएगा बिना आत्मा की खोज के, वह शरीर को दो हिस्सों में बांट लेगा। और शरीर को ही शरीर से लड़ाता रहेगा। कभी भी शरीर वश में नहीं होगा। शरीर को भी शरीर से लड़ाया जा सकता है। लेकिन शरीर को शरीर से लड़ाकर कोई वश नहीं होता।
समझें, एक आदमी के मन में कामना है, वासना है। जहां भी आंख जाती है, वहीं वासना के विषय दिखाई पड़ते हैं। वह अपने हाथ से आंख फोड़ लेता है। वह शरीर से ही शरीर को लड़ा रहा है। हाथ भी शरीर है, आंख भी शरीर है।
शरीर से शरीर को लड़ाकर कोई भी शरीर को वश में नहीं कर सकता है। मन से
मन को लड़ाकर कोई मन को वश में नहीं कर सकता है। कोई भी चीज वश में तभी होती है, जब उसके पार किसी तत्व का अनुभव शुरू होता है। अन्यथा वश में नहीं होती।
हमेशा जो पार है, वह वश में करने वाला सिद्ध होता है। शरीर से श्रेष्ठतर को खोज लें अपने भीतर और शरीर वश में हो जाएगा। श्रेष्ठतर के समक्ष निकृष्ट अपने आप ही झुक जाता है, झुकाना नहीं पड़ता है। और मजा नहीं है कि झुकाना पड़े। और जिसे जबर्दस्ती झुकाया है, वह आज नहीं कल बदला लेगा। जो सहज झुक गया है, श्रेष्ठ के आगमन पर जो उसके चरणों में गिर गया है, तो ही वश में हो पाता है।
शरीर से लड़कर, शरीर-दमन से, कृच्छ साधनाओं से, शरीर को कोड़े मारकर, शरीर को कांटों पर लिटाकर, शरीर को धूप में बिठाकर, शरीर को बर्फ में लिटाकर, शरीर को कितना ही कोई सताए, शरीर को कितना ही कोई परेशान करे, इससे

कभी शरीर वश में नहीं होता। शरीर को परेशान करना और शरीर को सताना भी शरीर के द्वारा ही हो रहा है। इससे कभी भी शरीर वश में नहीं होता। हां, निर्बल हो सकता है, दीन हो सकता है, कमजोर हो सकता है। और निर्बलता से धोखा पैदा होता है कि वश में हो गया।
यदि हम एक आदमी को भोजन न दें, इतना कम भोजन दें, इतना न्यून कि उसकी शरीर की जरूरतें उस भोजन से पूरी न हो पाएं, तो उसमें वीर्य निर्मित नहीं होगा। वीर्य सदा अतिरिक्त शक्ति से निर्मित होता है। और तब उसे यह भ्रम पैदा हो सकता है कि मेरी कामवासना पर मेरा काबू हो गया। धोखे में है वह। अगर एक व्यक्ति के शरीर को दीन कर दिया जाए, हीन कर दिया जाए, उसकी शक्ति ही छीन ली जाए--अनशन से, सताकर, परेशान करके, शरीर को उसकी पूरी जरूरतें न देकर--तो शरीर कमजोरी की वजह से वासना की तरफ उठने में असमर्थ हो जाएगा। लेकिन इससे धोखे में नहीं पड़ जाना है।
अभी केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी में कुछ विद्यार्थियों पर वे एक प्रयोग कर रहे थे। तीस विद्यार्थियों को तीस दिन तक भूखा रखा था। दस दिन के बाद ही उन विद्यार्थियों की काम में, यौन में, सेक्स में कोई रुचि न रह गई। वे कोई संन्यासी न थे; न ही वे कोई साधक थे; न ही वे कोई योगी थे। लेकिन दस दिन के बाद नंगी तस्वीरें उनके पास पड़ी रहें, तो वे उनको उठाकर भी नहीं देखेंगे। पंद्रह दिन के बाद तो उनसे अगर कोई बात करना चाहे वासना की, तो वे बिल्कुल ही विरस हो गए। उनके चेहरों का रंग खो गया, उनके चेहरों की ताजगी खो गई, उनके शरीर की शक्ति खो गई। तीस दिन पूरे होने पर तीसों से पूछा गया और उन तीसों ने कहा कि हमें याद भी नहीं आता कि कभी हमारे मन में कामवासना भी उठती थी।
सब सूख गया। क्या शरीर वश में हो गया? दो दिन भोजन दिया गया, सब हरा हो गया। फिर वही वापस। फिर वे नंगी तस्वीरें सुंदर मालूम पड़ने लगीं। फिर नंगी फिल्म को देखने का रस आने लगा। फिर वही बात, फिर वही मजाक, फिर वही अश्लीलता! सब लौट आई। क्या हुआ!
अगर इन युवकों को जिंदगीभर न्यून भोजन पर रखा जाए, तो जिंदगी में अब वासना फिर न सिर उठाएगी। लेकिन यह शरीर पर विजय न हुई, यह शरीर की निर्बलता हुई।
शरीर पर तो तभी विजय है, जब शरीर हो पूरा सबल; शरीर निर्मित करता हो सभी रसों को; शरीर की शक्तियां हों पूर्ण युवा; शरीर के भीतर सब हो हरा और ताजा; और फिर भी, फिर भी वश में हो, तभी जानना कि शरीर वश में है। लेकिन यह तभी हो पाएगा, जब आत्मा सबल हो।
दो रास्ते हैं शरीर को वश में करने के। एक--झूठा, धोखे का, डिसेप्टिव। प्रतीत होता है, वश में हुआ; होता कभी भी नहीं। वह रास्ता है, शरीर को निर्बल करो। एक दूसरा रास्ता है, वास्तविक, प्रामाणिक, आथेंटिक, जिससे ही केवल शरीर वश में होता है। वह है, आत्मा को सबल करो।
शरीर को निर्बल करो, तो भी वश में मालूम होता है; आत्मा को सबल करो, तो
वश में हो जाता है। शरीर को निर्बल करने से आत्मा सबल नहीं होती। आत्मा तो वहीं के वहीं होती है, जहां थी; सिर्फ शरीर निर्बल हो जाता है। आत्मा के सबल होने से शरीर को निर्बल नहीं करना पड़ता; लेकिन आत्मा पार उठ जाती है, सबल होकर शरीर के ऊपर मालिक हो जाती है।
और ध्यान रहे, सबलता अपने आप में, अपने आप में विजय है। इसलिए निर्बल
के लिए मार्ग नहीं है।
लेकिन शरीर को वश में करने के नाम पर बहुत हैरानी की घटनाएं सारी दुनिया में घटी हैं। आसान है शरीर को निर्बल करना; कठिन है आत्मा को सबल करना। भूखा मरना बहुत कठिन नहीं है। न ही शरीर को सताना बहुत कठिन है। कुछ लोगों के लिए तो बहुत आसान है। जिन लोगों को भी सताने की वृत्ति है किसी को, किसी को भी सताने की जिनके मन में वृत्ति है... । दूसरे को सताने में कानून बाधा बनता है। पुलिस है, अदालत है। दूसरे को सताइएगा, झंझट में पड़िएगा। सताना अगर निरापद रूप से करना है, तो अपने को सताइए। न कोई पुलिस रोक सकती है, न कोई कानून। बल्कि लोग जुलूस भी निकालेंगे, शोभा-यात्रा भी कि तपस्वी हैं आप!

इसलिए जो दुष्टजन हैं, वायलेंट, जिनके मन में गहरी हिंसा है, दूसरे पर हिंसा प्रकट करने में कठिनाई है, वे अपने पर हिंसा शुरू कर देते हैं। और आत्म-हिंसा को लोग तपश्चर्या समझ लेते हैं। तपश्चर्या आत्महिंसा नहीं है।
और ध्यान रहे, जो आदमी अपने पर हिंसा करेगा, वह दूसरे पर कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता है। जो अपने पर अहिंसक नहीं हो सका, वह इस पृथ्वी पर किसी पर भी अहिंसक नहीं हो सकता है। जीवन की सारी यात्रा स्वयं से शुरू होती है। इसलिए मैं आपसे कहना चाहूंगा, और कृष्ण को जो जानते हैं थोड़ा भी, वे स्वभावतः समझते हैं भलीभांति कि कृष्ण का अर्थ, शरीर को जीत लेता है जो, उससे किसी निर्बल, शरीर को सताने वाले, मैसोचिस्ट, दुखवादी, आत्मपीड़क, आत्महिंसक व्यक्ति का नहीं होगा, नहीं हो सकता है। कृष्ण तो शरीर को बड़ा प्रेम करने वाले व्यक्तियों में से एक हैं।
ध्यान रहे, शरीर से भयभीत वही होता है, जिसकी आत्मा कमजोर है। क्योंकि अगर शरीर सबल हुआ, तो कमजोर आत्मा मुश्किल में पड़ जाएगी। शरीर लेकर भागेगा। रथ है बहुत कमजोर, घोड़े हैं बहुत मजबूत, गड्ढे में गिरना निश्चित! डरेगा आदमी। लेकिन रथ भी है मजबूत, सारथी भी है सबल, कुशलता भी है लगाम को हाथ में साधने की, फिर मजबूत घोड़ों का मजा है। फिर घोड़ों को निर्बल करने की जरूरत नहीं है।
कृष्ण घोड़ों को निर्बल करने के पक्ष में नहीं हैं। कृष्ण आत्मा को सबल करने के पक्ष में हैं। यह आत्मा सबल कैसे हो जाएगी?
तो कृष्ण कहते हैं, अंतःकरण शुद्ध है जिसका!
जितना अंतःकरण अशुद्ध होगा, आत्मा उतनी निर्बल होगी। आत्मा की निर्बलता हमेशा अशुद्धि से आती है। आत्मा की सबलता शुद्धि से आती है। वह जितनी प्योरिफाइड, जितनी पवित्र हुई चेतना है, उतनी ही सबल हो जाती है। आत्मा के जगत में पवित्रता ही बल है और अपवित्रता निर्बलता है।
इसलिए जब भी कोई अपवित्र काम आप करेंगे, तत्काल पाएंगे, आत्मा निर्बल
हो गई। जरा चोरी करने का विचार करके सोचें। करना तो दूर, थोड़ा सोचें कि पड़ोस में रखी हुई आदमी की चीज उठा लें। अचानक भीतर पाएंगे कि कोई चीज निर्बल हो गई, कोई चीज नीचे गिर गई। सोचें भर कि चोरी कर लूं, और भीतर कोई चीज निर्बल हो गई। सोचें कि किसी को दान दे दूं, और भीतर कोई चीज सबल हो गई। सोचें मांगने की, और भीतर निर्बलता आ जाती है। सोचें देने की, और भीतर कोई सिर उठाकर खड़ा हो जाता है।
जहां अशुद्धि है, वहां निर्बलता है। जहां शुद्धि है, वहां सबलता है।
और निर्बल और सबल होने को आप अशुद्धि और शुद्धि का मापदंड समझें। जब मन भीतर निर्बल होने लगे, तो समझें कि आस-पास जरूर कोई अशुद्धि घटित हो रही है। और जब भीतर सबल मालूम पड़ें प्राण, तब समझें कि जरूर कोई शुद्धि की यात्रा पर आप निकल गए हैं। ये दोनों बंधी हुई चीजें हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, अंतःकरण जिसका शुद्ध है! अंतःकरण जिसका शुद्ध है... ।
यह अंतःकरण की शुद्धि और अशुद्धि को ठीक से समझ लेना जरूरी है।
अंतःकरण कब होता है अशुद्ध? जब भी--जब भी--हम किसी दूसरे पर निर्भर होते हैं, किसी भी सुख के लिए। किसी भी सुख के लिए जब भी हम किसी दूसरे पर निर्भर होते हैं, तभी अंतःकरण अशुद्ध हो जाता है। दूसरे पर निर्भरता अशुद्धि है। और दूसरे पर निर्भरताएं सभी बहुत गहरे अर्थ में पाप हैं। लेकिन हम कुछ पापों को सोशियलाइज किए हुए हैं, उनको हमने समाजीकृत किया हुआ है। इसलिए अंतःकरण को पता नहीं चलता।
अगर एक आदमी सोचता है कि आज मैं वेश्या के घर जाऊं, तो मन निर्बल होता मालूम पड़ता है कि पाप कर रहा हूं। लेकिन सोचता है, अपनी पत्नी के पास जाऊं, तो मन निर्बल होता नहीं मालूम पड़ता है। पत्नी के पास जाते समय मन निर्बल मालूम नहीं पड़ता है, क्योंकि पत्नी और पति के संबंध को हमने समाजीकृत किया है, सोशियलाइज किया है। वेश्या के पास जाते वक्त निर्बलता मालूम पड़ती है, क्योंकि वह पाप सोशियलाइज नहीं है, इंडिविजुअल है। पूरा समाज उसमें सहयोगी नहीं है, आप अकेले जा रहे हैं।

लेकिन जो आदमी गहरे में समझेगा, उसे समझ लेना चाहिए कि जिस क्षण भी मैं अपने सुख के लिए किसी के भी पास जाता हूं--चाहे वह पत्नी हो, चाहे वह पति हो, चाहे वह मित्र हो, चाहे वह वेश्या हो--जब भी मैं किसी और के द्वार पर भिक्षा का पात्र लेकर खड़ा होता हूं, तभी आत्मा अशुद्ध हो जाती है। न दिखाई पड़ती हो, लंबी आदत से अंधापन पैदा हो जाता है। बहुत बार एक ही बात को दोहराने से, करने से, मजबूत यांत्रिक व्यवस्था हो जाती है।
चोर भी रोज-रोज थोड़े ही अनुभव करता है कि आत्मा पाप में पड़ रही है। नियमित चोरी करने वाला धीरे-धीरे चोरी में इतना गहरा हो जाता है कि अंतःकरण की आवाज फिर सुनाई नहीं पड़ती है। फिर तो किसी दिन चोरी करने न जाए, तो लगता है कि कुछ गलती हो रही है।
लेकिन आत्मा निरंतर आवाज देती है। और इसलिए दूसरी बात आपसे कह दूं कि
जब भी आप कोई पहला काम कर रहे हों जीवन में, तब बहुत गौर से आत्मा से पूछ लेना, उस वक्त आवाज बहुत साफ होती है। जितना ज्यादा करते चले जाएंगे, उतनी आवाज धीमी होती चली जाएगी। आदतें मजबूत हो जाएंगी। अशुद्धि ही शुद्धि मालूम पड़ने लगेगी। गंदगी ही सुगंध मालूम पड़ने लगेगी।
आदत दूसरा स्वभाव है। जोर से उसकी पर्त बन जाती है, फिर भीतर की आवाज आनी बंद हो जाती है। फिर ख्याल में नहीं आता कि भीतर की कोई आवाज है। हमने उसको बंद कर दिया, और हमने इतनी बार ठुकराया। अब भी आत्मा बोलती है, लेकिन रोज धीमी हो जाती है, और धीमी आवाज होती चली जाती है। या हम इतने बहरे होते चले जाते हैं आदत से, कि वह आवाज सुनाई नहीं पड़ती है।
इसलिए पहली बार जब भी जो आप कर रहे हों, करने के पहले भीतर देख लेना, निर्बल होते हैं या सबल। जिस चीज से भी सबलता आती हो भीतर, उस चीज को समझना कि वह आत्मा के पक्ष में है। और जिस चीज से निर्बलता आती हो, समझना कि वह विपक्ष में है।
दूसरे पर निर्भर सभी सुख दुर्बल कर जाते हैं। असल में दूसरे के द्वार
पर खड़े होना भिखारी होना है। वह भीख कितनी ही सूक्ष्म हो सकती है। इसलिए यह भी हो सकता है कि सिकंदर जैसा आदमी, बहादुर है, तलवार से भयभीत नहीं होता, युद्ध में मौत से नहीं डरता, लेकिन यह इतना बहादुर शेर जैसा आदमी भी घर आकर पत्नी से डरता है। यह क्या बात है? यह पत्नी से क्यों डरता है? इसने दुनिया में किसी और से कभी कुछ नहीं मांगा, लेकिन पत्नी के पास आकर कमजोर हो जाता है।
अक्सर यह होगा कि जो लोग मकान के बाहर बहुत हिम्मतवर दिखाई पड़ेंगे, मकान के भीतर बहुत कमजोर दिखाई पड़ेंगे। और स्त्रियां उनके राज को जानती हैं कि उनके सामने वे किसी गहरे अर्थ में भिखारी हैं। किसी सुख के लिए उन पर निर्भर हैं। उस सुख की निर्भरता उन्हें कमजोर बनाती है।
इसलिए पति चाहे कितनी ही बहादुरी करता हो बाहर, भला किसी युद्ध में चैंपियन हो जाता हो, वह घर आकर पत्नी के सामने एकदम दब्बू हो जाता है। वहां भीख शुरू हो गई। वहां गुलामी शुरू हो गई। वहां कुछ मांगना है उसे। वहां किसी पर निर्भर होना है। बस, उपद्रव शुरू हो गया।

यह मैं पति के लिए नहीं, सभी के लिए कह रहा हूं। जहां भी हम किसी पर कुछ मांगने को निर्भर होते हैं, वहां चित्त दीन होने लगता है।
कृष्ण कहते हैं, अंतःकरण है शुद्ध जिसका।
तो एक, निर्भर नहीं है जो अपने सुखों के लिए किसी पर। दूसरी बात, चित्त में अशुद्धियां, इंप्योरिटीज किस द्वार से प्रवेश करती हैं?
कल-परसों मैंने आपसे बात की कि कामना, आकांक्षा, वासना के द्वार से अशुद्धियां प्रवेश करती हैं। वासना से ग्रस्त, पैसोनेट, इच्छा से भरा हुआ मन, कमजोर भी होता है, अशुद्ध भी होता है, दुखी भी होता है, अंधकार में भी डूबता है। मजा यह है कि इच्छा पूरी हो जाए, तो भी सुख नहीं मिलता! इच्छा पूरी हो जाए, तो भी सुख नहीं मिलता; इच्छा पूरी न हो, तब तो दुख मिलता ही है। मुझे याद आती है एक यूनानी कथा। सुना है मैंने कि यूनान में एक सम्राट हुआ, मिडास। कहते हैं, सारी पृथ्वी जीत ली है उसने। सुंदर-सुंदर स्वर्ण के महल हैं उसके पास। अदभुत बगीचे हैं। ऐसे अदभुत बगीचे हैं कि एक दिन खबर

मिली मिडास को कि स्वर्ग का देवता डिनोशियस उसके बगीचे को देखने आ रहा है। बड़े अदभुत झरने हैं उसके बगीचे में और एक तो उसका अपना बहुत ही प्यारा झरना है। उसने सोचा, डिनोशियस को वह झरना तो दिखाएंगे ही। फिर उसे ख्याल आया कि डिनोशियस हो सकता है कि झरने का पानी पीने को आतुर हो जाए। इतना स्फटिक जैसा स्वच्छ जल है वहां! तो उसने एक तरकीब की। सोचा कि यदि डिनोशियस प्रसन्न हो जाए, तो कुछ वरदान मांग लूं। उसने झरने में शराब मिलवा दी।
और जब डिनोशियस आया, तो झरना सचमुच ऐसा सुगंध से भरा था और ऐसा स्फटिक जैसा स्वच्छ था कि उस देवता डिनोशियस को भी स्वर्ग के झरने फीके मालूम पड़े। और उसने कहा कि तुम्हारे झरने का पानी मैं जरूर ही पीऊंगा। उसने पानी पीया, शराब में डूबकर बेहोश हो गया। बेहोशी में मिडास ने उससे वरदान मांग लिया। मांग लिया वरदान कि मैं जो कुछ भी छुऊं, वह सोने का हो जाए। और उस दिन से मिडास जो भी छूता, सोने का हो जाता।
लेकिन मुश्किल शुरू हो गई। सोचता था कि किसी दिन अगर यह वरदान मिल जाए
कि जो भी छुऊं सोने का हो जाए, तो मुझसे ज्यादा सुखी कोई भी न होगा। लेकिन मिडास से ज्यादा दुखी आदमी पृथ्वी पर कभी भी नहीं हुआ।
पत्नी को छुआ, वह सोने की हो गई। बेटी को छुआ, वह सोने की हो गई। खाने
को छुआ, वह सोने का हो गया। पानी को छुआ, वह सोने का हो गया। एक दिन, दो दिन, भूखा-प्यासा चीखने-चिल्लाने लगा। पागल होने के करीब आ गया। लोग उसे देखकर भागने लगे कि कहीं छू न ले। घर के लोग भी ताले लगाकर अपने कमरों में छिप गए कि कहीं छू न ले। वजीरों ने छुट्टियां ले लीं। सेनापतियों ने कहा, क्षमा करो! पहले इस वरदान से छुटकारा लो, फिर हम आ सकते हैं। द्वारपाल अब तक लोगों से रक्षा करते थे उसकी। अब द्वारपाल बंदूकें उलटी लेकर खड़े हो गए और लोगों की रक्षा करने लगे उससे।
मिडास बड़ी मुश्किल में पड़ गया। चिल्लाता है, रोता है, मगर डिनोशियस का कोई पता नहीं लगता। कहते हैं, मरा; और जब वह मरा, तो उसके मुंह से जो वचन निकले, उसके मरते वक्त भी वह यही कह रहा था, बिफोर गोल्ड किल्स मी, एज इट किल्स आल मेन, डियर डिनोशियस, गिव मी बैक टेन फिंगर टिप्स, दैट लीव दि वर्ल्ड अलोन। इसके पहले कि सोना मुझे मार डाले, जैसा कि सभी को मार रहा है, मार डालता है, प्यारे डिनोशियस, वापस लौटा दो मुझे मेरी वे दस अंगुलियां, जिनसे मैं दुनिया को छुऊं, लेकिन दुनिया उनसे अस्पर्शित रह जाए। लेकिन वह यह कहते हुए ही मरा।
इच्छा पूरी न हो, तब तो दुख देती ही है; इच्छा पूरी हो जाए, तो और भी भयंकर दुख देती है। और दुख गंदगी है। सारे प्राण गंदगी से भर जाते हैं। दुख अंधेरा है, दुख धुआं है। जहां दुख नहीं है प्राणों में, वहां प्राणों की ज्योति उज्ज्वल जलती है, धुएं से मुक्त। ज्योति होती है सिर्फ, धुएं से रिक्त।
तो कृष्ण कहते हैं, अंतःकरण है शुद्ध जिसका... ।
वासना के द्वार से जिसने भी खोज की, उसका अंतःकरण शुद्ध नहीं होगा। सड़ेगा। वासना सड़ाती है। उससे ज्यादा सड़ाने वाला और कोई तत्व पृथ्वी पर नहीं है, और कोई केमिकल नहीं है। जितने ढंग से वासना सड़ाती है, उतने ढंग से कोई केमिकल नहीं सड़ाता है। व्यक्ति सड़ता चला जाता है।
तीसरी बात कृष्ण कहते हैं कि जिसने जीता शरीर को; जिसका अंतःकरण शुद्ध है; और जिसने जाना अपने को प्रभु के साथ एक!
दो शर्तें पूरी हों, तो ही तीसरी बात पूरी हो सकती है। शरीर पर हो विजय, तो ही अंतःकरण शुद्ध हो सकता है। नहीं तो शरीर ऐसे रास्तों पर ले जाएगा कि आत्मा अशुद्ध होती ही रहेगी। अंतःकरण हो शुद्ध, आत्मा हो पवित्र, तो उस पवित्रता के क्षण में ही विराट के साथ एकात्म सध सकता है। अपवित्रता दीवाल है। पवित्रता में सब दीवालें गिर जाती हैं। खुले आकाश से मिलन हो जाता है। अपवित्रता की दीवाल ही हमें परमात्मा से अलग किए हुए है। हमारी ही वासनाओं की अपवित्र दीवाल और ईंटें हमें मजबूती से अपने भीतर बंद किए हैं। गिर जाए दीवाल, तो व्यक्ति जान पाता है कि मैं और प्रभु एक हैं।

इस बात को ऐसा भी समझ लें, जो जानता है कि मैं और शरीर एक हैं, वह कभी नहीं जान पाएगा कि मैं और परमात्मा एक हैं। जो जान लेगा, मैं और शरीर भिन्न हैं, वह जान पाएगा कि मैं और परमात्मा एक हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसने अपने को शरीर से जोड़ रखा है, वह परमात्मा से टूटा हुआ पाएगा। और जिसने अपने को शरीर से तोड़ा, वह परमात्मा से जुड़ा हुआ पाएगा। जिसकी नजर शरीर से जुड़ी है, उसकी पीठ परमात्मा पर होगी। और जिसकी नजर शरीर से हटी, उसकी आंख परमात्मा पर पड़ जाएगी। इसलिए शरीर से मुक्त, शरीर के पार उठना अनिवार्य है।
शुद्ध अंतःकरण, वासनाओं की गंदगी की दीवाल बीच में नहीं चाहिए, तभी एकात्म--प्रभु और स्वयं के बीच ऐसा मिलन, जैसे मटकी टूट जाए और मटकी के भीतर का पानी सागर के पानी से एक हो जाए। मिट्टी की मटकी सागर के पानी को और गगरी के पानी को अलग-अलग रखती है। मिट्टी टूट जाए, बीच से हट जाए!
लेकिन अगर गगरी का पानी समझता हो कि मैं मिट्टी की गगरी हूं, तब कभी भी नहीं तोड़ेगा। फिर तो मैं ही टूट जाऊंगा! अगर गगरी के भीतर का पानी सोचता हो कि यह मिट्टी की जो पर्त मेरे चारों तरफ गगरी की है, यही मैं हूं, तो सागर से मिलन कभी भी न होगा। लेकिन पानी को पता चल जाए कि मैं गगरी नहीं, पानी हूं, तो गगरी तोड़ी जा सकती है। और गगरी टूटे, तो भीतर का पानी और बाहर का पानी एक हो जाए। वह जो भीतर की आत्मा और बाहर की आत्मा है, एक हो जाए।
और जब ऐसा हो जाए, तो कृष्ण कहते हैं, ऐसा व्यक्ति सब कुछ करे--सब कुछ, अनकंडीशनली; कोई शर्त नहीं है ऐसे व्यक्ति पर--सब कुछ करे, तो भी कर्म उससे चिपकते नहीं हैं। कर्मों का उस पर कोई भी लेप नहीं चढ़ता है।
इस वक्तव्य से बहुत-से लोगों को कठिनाई होती है। पूछता है आदमी, सब कुछ करे! चोरी करे, बेईमानी करे! तब वह फिर समझा नहीं बात। चोरी-बेईमानी करे, तो यहां तक पहुंचेगा नहीं। यहां पहुंच जाए, तो चोरी करने योग्य कुछ बचता नहीं। चोरी किसकी करे, वह भी नहीं बचता। चोरी कौन करे, वह भी नहीं बचता। मन होगा, पूछेगा कि कृष्ण कहते हैं, ऐसा आदमी कुछ भी करे! तो ऐसे आदमी पर कोई नैतिक बंधन नहीं?
बिल्कुल नहीं। क्योंकि नीति के बंधन अभी जिसके ऊपर हैं, उसके भीतर अनीति होनी चाहिए। अनीति के लिए नीति के बंधन जरूरी हैं। और जो अभी अनीति से भरा है, वह तो अभी गंदगी से मुक्त नहीं हुआ, अंतःकरण शुद्ध नहीं हुआ। वह यहां तक आएगा नहीं। यह जो बात है, सब कुछ करे ऐसा व्यक्ति, उसके पहले तीन बातों को स्मरण रख लेना, शरीर पर पाई जिसने विजय, अंतःकरण हुआ जिसका शुद्ध, परमात्मा से जानी जिसने एकता!
इन तीन शर्तों के बाद बेशर्त, कृष्ण कहते हैं, ऐसा व्यक्ति कुछ भी करे। ऐसा व्यक्ति कुछ भी करेगा नहीं, इसीलिए कह पाते हैं कि ऐसा व्यक्ति कुछ भी करे। आपसे नहीं कह रहे हैं। अर्जुन से भी नहीं कह रहे हैं। ये तीन सीढ़ियां पार कर लेने के बाद ऐसा व्यक्ति कुछ भी करे। ऐसे व्यक्ति पर कोई भी नियम नहीं है, कोई नीति नहीं, कोई धर्म नहीं। क्योंकि ऐसा व्यक्ति उस जगह आ गया है, जहां अनीति बची ही नहीं। और जब अनीति न बचती हो, तो नीति की क्या सार्थकता है? अधर्म बचा नहीं। और जहां अधर्म न बचता हो, वहां धर्म बेकार है। और जिसने स्वयं को प्रभु के साथ एक जाना, जिसकी अस्मिता और अहंकार न बचा, अब कोई उपाय नहीं रहा कि उससे कुछ गलत हो जाए।
हमसे गलत होता है। ज्यादा से ज्यादा गलत हम रोक पाते हैं। ऐसे व्यक्ति से गलत होता ही नहीं। ऐसा व्यक्ति जो भी करता है, वही सही है। हमें वह करना चाहिए, जो सही है; वह नहीं करना चाहिए, जो गलत है। ऐसा व्यक्ति, जिसकी कृष्ण बात कर रहे हैं, जो करता है, वही सही है; जो नहीं करता, वही गलत है। ऐसे व्यक्ति मापदंड हैं। ऐसे व्यक्ति चरम हैं, परम मूल्य है उनका। ऐसे व्यक्ति के लिए जो वक्तव्य है, वह वक्तव्य सबके लिए नहीं है।
अन्यथा चोर भी पढ़कर प्रसन्न होता है गीता के इस वचन को, कि ठीक है, कुछ
भी करो! बेईमान भी पढ़कर प्रसन्न हो सकता है। और यह भी सोच सकता है कि ज्यादा तो हमसे नहीं बनता, पहली तीन चीजें नहीं बनतीं, कम से कम चौथी चीज तो करो ही। जितना बने, उतना ही क्या बुरा है!

नहीं, इसमें क्रम है। तीन के बिना चौथा पढ़ना ही मत। चौथे को काट देना गीता से अभी। जब तीन पूरी हो जाएं, तब तीन को काट देना, चौथी को पढ़ना। बेशर्त, अनकंडीशनल वही व्यक्ति हो सकता, जिसने अनिवार्य तीन शर्तें पूरी कर ली हैं।
यह बात, पश्चिम में जब पहली दफे गीता के अनुवाद हुए, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी में, तो वहां भी कठिनाई हुई। उनको भी हैरानी हुई। क्योंकि बाइबिल टेन कमांडमेंट्स के ऊपर नहीं जाती। बाइबिल में एक भी कमांडमेंट ऐसा नहीं है, एक भी आदेश ऐसा नहीं है, कि जो करना हो, करो। बाइबिल कहती है, चोरी मत करो; बेईमानी मत करो; दूसरे की औरत को बुरी नजर से मत देखो; यह सब कहती है पड़ोसी को प्रेम करो; यह सब कहती है। ऐसा एक भी वक्तव्य बाइबिल में नहीं है, जो इसके मुकाबले हो। जो वक्तव्य यह कहता हो कि अब तुम्हें जो भी करना हो, करो।
तो जब पहली दफा गीता का अनुवाद हुआ, तो कठिनाई मालूम पड़ी। स्पष्ट लगा बाइबिल को पढ़ने वाले और प्रेम करने वाले लोगों को कि यह किताब तो थोड़ी-सी इम्मारल मालूम होती है, अनैतिक मालूम होती है। इसमें ऐसी बात भी है, कुछ भी करो! तो फिर टेन कमांडमेंट्स का क्या हुआ, चोरी मत करो, बेईमानी मत करो, व्यभिचार मत करो! उनका क्या होगा? क्या व्यभिचार भी करो?
उन्हें पता नहीं कि जीसस जिन लोगों से बोल रहे थे, उनसे यह चौथी बात नहीं कही जा सकती थी। जिस समाज में बोल रहे थे, उस समाज में यह चौथी बात नहीं कही जा सकती थी। जिन लोगों के बीच बोल रहे थे, उनके जीवन का एक स्तर था, समझ की एक सीमा थी। ध्यान रहे, जीसस अत्यंत ही अविकसित समाज में बोल रहे थे, नहीं तो सूली न लगती। नासमझों के बीच बोल रहे थे।
कृष्ण नासमझ से नहीं बोल रहे हैं। कृष्ण एक बहुत संभावी आत्मा से बोल रहे हैं, जिसका बहुत विकास संभव है। एक बुद्धिमान आदमी से बोल रहे हैं, जो धर्म के संबंध में बहुत कुछ जानता है। अनुभव नहीं है उसे; जानता है, सुना है, पढ़ा है, सुशिक्षित है, सुसंस्कृत है। अर्जुन जैसे सुसंस्कृत आदमी कम होते हैं। उस जमाने में, जिसको हम कहें, शिखर पर जो संस्कृति के रहा होगा, ऐसा व्यक्तित्व है। कृष्ण भी जिसको सखा मान सकते हों, मित्र मान सकते हों, वह संस्कृति के शिखर पर है। उससे बात कर रहे हैं। जानते हैं, भूल नहीं हो पाएगी। इसलिए तीन शर्तों के बाद चौथी बात भी कह देते हैं।
जीसस ने कभी ऐसी बात नहीं कही। मोहम्मद ने कभी ऐसी बात नहीं कही। मोहम्मद और जीसस एक लिहाज से अभागे समाज में पैदा हुए, उन लोगों के बीच, जिनसे इतनी ऊंची बातें नहीं कही जा सकती थीं। ऊंची बातें कहने का अवसर, समय और स्थिति उनको नहीं मिली।
इसलिए गीता को जो पढ़ता है, उसे कुरान कभी फीका लग सकता है। लेकिन इसमें ज्यादती कर रहे हैं। कुरान को फीका मत देखना। जो गीता को पढ़ता है, उसे बाइबिल उतनी गहरी नहीं मालूम पड़ेगी। लेकिन ज्यादती मत करना।
जीसस और मोहम्मद, कृष्ण जैसे ही गहरे व्यक्ति हैं। लेकिन अर्जुन जैसा शिष्य पाना सदा आसान नहीं है। बात तो अर्जुन से कही जा रही है, इसलिए तीन शर्तें पूरी करके उन्होंने चौथी, अंतिम, दि अल्टिमेट, आखिरी बात भी कह दी कि फिर व्यक्ति कुछ भी करे, उस पर कोई नियम, कोई मर्यादा नहीं है।
राम की भी हिम्मत नहीं होती यह कहने की। राम भी मोहम्मद और जीसस से ऊंची बात नहीं कह पाते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मर्यादा की बात करते हैं। इस बात से तो राम भी थोड़े चौंकते कि कुछ भी करे! इससे राम को भी अड़चन पड़ती! राम नैतिक चिंतन की पराकाष्ठा हैं।
लेकिन धर्म वहीं शुरू होता है, जहां नीति समाप्त होती है। धर्म आगे की यात्रा है और, जहां सब नियम गिर जाते हैं। क्योंकि नीति के नियम, माना कि बहुत सुंदर हैं, लेकिन नियम ही हैं। माना कि मर्यादाएं बड़ी अदभुत हैं, लेकिन मर्यादाएं ही हैं। माना कि दीवारें सोने की हैं, लेकिन फिर भी दीवारें हैं। माना कि बंधन नीति के सोने के हैं, लोहे की जंजीरें नहीं हैं; हीरे-जवाहरातों से जड़ी हैं, लेकिन फिर भी जंजीरें हैं।
कृष्ण तो परम मुक्ति की बात कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, ये तीन शर्त तू पूरी कर, फिर तू कुछ भी कर। फिर अगर तू भागता भी हो यहां से, तो मैं तुझसे

नहीं कहूंगा कि तू रुक। तू लड़ता हो, तो मैं नहीं कहूंगा कि मत लड़। लेकिन ये तीन शर्त पूरी हो जानीं चाहिए।
इस लिहाज से इस जमीन पर जगत के श्रेष्ठतम वक्तव्य दिए जा सके हैं। पृथ्वी पर किसी भी देश में इतने श्रेष्ठ वक्तव्य देने की स्थिति कभी भी पैदा नहीं हुई थी। इतनी उड़ान की और इतनी ऊंची बात, बादलों के पार, जहां सब अतिक्रमण हो जाता है, वहीं है परम स्वतंत्रता और परम मुक्ति। ऐसे व्यक्ति को कोई भी कर्म नहीं बांधता है।

प्रश्नः भगवान श्री, आपने कर्म-संन्यास का अर्थ कर्म-त्याग कहा है। लेकिन पिछले छठवें श्लोक में कर्म-संन्यास का अर्थ संपूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग कहा गया है। कृपया कर्म-संन्यास के इन दो अर्थों में दिखाई पड़ने वाली भिन्नता को स्पष्ट करें।

कर्म-संन्यास का बहिअर्र्थ तो कर्म का त्याग है। अंतअर्र्थ भी है। क्योंकि मनुष्य के जीवन में जो भी घटना घटेगी, उसके दो पहलू होंगे, बाहर भी, भीतर भी। अगर कर्म-संन्यासी को आप देखेंगे बाहर से, तो दिखाई पड़ेगा कि कर्म का त्याग किया।
महावीर चले जंगल की तरफ; छोड़ दिया राजमहल, धन, घर, द्वार, प्रियजन, परिजन। हम देखने खड़े होंगे मार्ग में, तो क्या दिखाई पड़ेगा? दिखाई पड़ेगा कि महावीर जा रहे हैं सब छोड़कर। कर्म छोड़कर जा रहे हैं। अगर हम कहेंगे कि महावीर के कर्म संन्यास का क्या अर्थ है? तो अर्थ होगा, कर्म का त्याग। लेकिन अगर महावीर से पूछें कि उनके भीतर क्या हो रहा है? क्योंकि घर-द्वार, महल, हाथी, घोड़े भीतर नहीं हैं। कर्म, प्रिय, परिजन भीतर नहीं हैं। भीतर क्या है?
जब बाहर से कोई कर्म छोड़ता है, तो भीतर क्या छूटता है? भीतरी हिस्सा क्या है कर्म का? भीतरी हिस्सा कर्ता है, दि डुअर। डूइंग बाहर है; डुअर भीतर है। ये एक ही घटना के दो हिस्से हैं। बाहर कर्म छूटे, तो भीतर कर्ता विदा हो जाएगा। सच में ही कर्म छूट जाए, तो कर्ता तत्काल विदा हो जाएगा, क्योंकि कर्म के बिना कर्ता हो नहीं सकता। कर्ता का मतलब ही यह है कि जो कर्म करता है।
लेकिन भाषा में गलती होती है। एक पंखा है आपके हाथ में। मैं पूछता हूं, पंखे का क्या अर्थ है? आप कहते हैं, जो हवा करता है। लेकिन अभी पंखा हवा नहीं कर रहा है, आप हाथ में पकड़े हुए बैठे हैं। अभी पंखा है या नहीं? पंखे की परिभाषा है, जो हवा करता है; डोलता है, हवा करता है। अभी डोल नहीं रहा है। तो अगर ठीक सिमैनटिक्स, ठीक भाषा का प्रयोग करें, तो अभी वह पंखा है नहीं। पंखा तो वह है, जो पंख की तरह हवा करता है। पोटेंशियल है अभी, कर सकता है। इसलिए हम कामचलाऊ दुनिया में कहते हैं, पंखा है। इसका मतलब यह है कि पंखा हो सकता है। इसका उपयोग करें, तो यह पंखे का काम दे सकता है।
एक किताब रखी है। किताब का मतलब यह है कि जिसमें कुछ ज्ञान संगृहीत है। लेकिन मैं किताब उठाकर आपके सिर पर मार देता हूं, उस वक्त वह किताब नहीं है। उस वक्त वह पत्थर का काम कर रही है। भाषा में तो अब भी किताब है। हम कहेंगे, किताब फेंककर मार दी। लेकिन किताब, किताब का मतलब ही यह है कि जिसमें ज्ञान संगृहीत है। कहीं संगृहीत ज्ञान फेंककर मारा जा सकता है? लेकिन जब मैं किताब को फेंककर मार रहा हूं, तो वस्तुतः मैं किताब का उपयोग किताब की तरह नहीं कर रहा हूं, पत्थर की तरह कर रहा हूं। अगर वैज्ञानिक ढंग से कहना हो, तो उसको अब किताब नहीं कहना चाहिए। अब वह किताब नहीं है। अब इस वक्त वह पत्थर है।
जब तक आप कर्म कर रहे हैं, तब तक आप कर्ता हैं। कर्म बंद हुआ, कर्ता खो गया। कर्ता बचता नहीं। इससे उलटा भी सही है। कर्ता खो जाए, कर्म खो जाता है।
जहां तक दूसरों के देखने का संबंध है, वहां पहले कर्म खोता है। और जहां तक स्वयं के देखने का संबंध है, पहले कर्ता खोता है। अगर मैं अपने भीतर से देखूं, तो पहले मेरा कर्ता खो जाएगा, तभी मेरा कर्म खोएगा। पहले

मैं कर्ता नहीं रह जाऊंगा, तभी मेरा कर्म गिर जाएगा। लेकिन जहां तक आप देखेंगे, पहले कर्म गिरेगा, पीछे आप अनुमान लगाएंगे कि कर्ता भी खो गया होगा। क्योंकि मेरे भीतर के कर्ता को आप देख नहीं सकते, सिर्फ मैं ही देख सकता हूं।
इसलिए कृष्ण जो कह रहे हैं कि जहां कर्तृत्व खो गया, जहां कर्ता खो गया! यह अंतर्व्याख्या है। भीतर से साधक को जानना पड़ेगा कि मेरा जो करने वाला था, वह अब नहीं रहा। अब कोई करने वाला भीतर नहीं है।
कब खोता है करने वाला? इसके लिए भी दो-तीन सूत्र ख्याल में लेंगे, तो उपयोगी होंगे। साधक की दृष्टि से बड़ी कीमत के हैं।
या तो कर्ता तब खोता है, जब आप समझें कि मैं शून्यवत हूं; हूं ही नहीं। समझें कि मैं क्या हूं? कुछ भी तो नहीं; मिट्टी का एक ढेर। कभी आंख बंद करके देखें, तो क्या पता चलता है? क्या हूं? सांस की धड़कन? क्या हूं? जैसे कि लोहार की धौंकनी चलती हो। कभी सांस को चलने दें, आंख बंद कर लें। और भीतर खोजें कि मैं कौन हूं!
क्या पता चलेगा? बस इतना ही पता चलेगा कि धौंकनी चल रही है। लोहार की धौंकनी ऊपर-नीचे हो रही है। श्वास भीतर आ रही है, बाहर जा रही है। अगर पूरे शांत होकर देखेंगे, तो सिवाय श्वास के चलने के कुछ भी पता नहीं चलेगा। क्या श्वास का चलना भर इतनी बड़ी बात है कि मैं कहूं कि मैं हूं! और फिर श्वास भी मैं तो नहीं चला रहा हूं! जब तक चलती है, चलती है; जब नहीं चलती है, तो नहीं चलती है। जिस दिन नहीं चलेगी, मैं चला नहीं सकूंगा। एक श्वास भी नहीं ले सकूंगा, जिस दिन नहीं चलेगी। श्वास ही चल रही है; वह भी मैं नहीं चला रहा। पता नहीं कौन अज्ञात शक्ति चला रही है! बस, इतना-सा खेल है। इस इतने से खेल को इतनी अकड़ से क्यों ले रहा हूं?
तो एक मार्ग तो है कि मैं खोजूं कि मैं हूं क्या! तो पता चले कि कुछ भी नहीं हूं।
बुद्ध का यह मार्ग है। बुद्ध कहते हैं, खोजो, तुम क्या हो! क्या-क्या हो, खोज लो। थोड़ी-सी मिट्टी है, थोड़ा-सा पानी है, थोड़ी-सी आग है, थोड़ी-सी हवा है।
वैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहता है, कोई चार और पांच रुपए के बीच का सामान है। थोड़ा एल्युमिनियम भी है, थोड़ा तांबा भी है, थोड़ा लोहा भी है। मुश्किल से चार-पांच रुपए के बीच; चार-पांच इसलिए कि दाम घटते-बढ़ते रहते हैं! बाकी इससे ज्यादा का सामान नहीं है आदमी के पास। हालांकि मर जाए, तो इतना पैसा भी मिल नहीं सकता। पांच रुपए में भी कोई खरीदने को राजी नहीं होगा। क्योंकि वह सामान भी इतना उलझा हुआ है कि उसको निकालने में बहुत रुपए लग जाएं। वह पांच रुपए के लायक नहीं है! बहुत गहरी खदान है। खोदने में ज्यादा पैसा खराब होगा, निकलेगा कुछ खास नहीं। इसीलिए तो जला देते हैं या गाड़ देते हैं। आदमी के शरीर का अब तक कोई उपयोग नहीं है।
तो बुद्ध कहते हैं कि खोजो कि तुम क्या-क्या हो? कुछ थोड़ी-सी चीजों का जोड़ हो। सांस चल रही है इस धौंकनी में। बस, यही हो? कहोगे कि थोड़े विचार भी हैं मेरे पास। माना। विचार भी क्या हैं? हवा में बने हुए खिलौने। पानी पर खींची गई रेखाएं। बहुत इम्मैटीरियल। क्या मतलब है! और एक आदमी की गर्दन काट कर खोजो, तो विचार कहीं भी नहीं मिलते। हवा के झोंके की तरह हैं। हवा के झोंके में पत्ते हिलते रहते हैं, जिंदगी के धक्के में विचार हिलते रहते हैं। किसी ने गाली दी, धक्का आया भीतर, थोड़े विचार हिलने लगे। गाली उठने लगी। किसी ने प्रशंसा की, गले में माला डाल दी, भीतर हवा का धक्का पहुंचा। बड़े प्रसन्न हो गए; छाती फूल गई; सांस जरा जोर से चलने लगी।
तो बुद्ध कहते हैं, जरा ठीक से देख लो कि तुम्हारा पूरा जोड़ क्या है। इसी जोड़ पर इतने अकड़े हुए हो? तो बुद्ध कहते हैं, संघात हो, सिर्फ एक जोड़ हो। नाहक परेशान मत होओ। शून्य समझो अपने को। जो इस जोड़ को ठीक से समझ ले, वह शून्यवत हो जाएगा। शून्यवत हो जाए, तो कर्ता खो जाता है।
एक और रास्ता है। वह रास्ता यह है कि न मैं पैदा हुआ; न मैं मरूंगा अपने हाथ से, न अपने हाथ से पैदा हुआ। जन्मते वक्त कोई मुझसे पूछता नहीं कि जन्मना चाहते हो? मरते वक्त कोई मुझसे दस्तखत नहीं करवाता कि अब आपके

इरादे जाने के हैं? मुझसे कोई पूछता ही नहीं। मैं बिल्कुल गैर-जरूरी हूं। जिंदगी मेरी, कहता हूं कि जिंदगी मेरी। और मुझसे बिना पूछे भेज दिया जाता हूं! कहता हूं, जिंदगी मेरी। और मुझसे बिना पूछे विदा कर दिया जाता हूं! कोई मुझसे इसके लिए भी नहीं पूछता कि आप जाना चाहते हैं, आना चाहते हैं, क्या इरादे हैं? नहीं, मेरी कोई पूछताछ ही नहीं है।
तो एक दूसरा मार्ग है, जो है नियति का, डेस्टिनी का। उस मार्ग से ही भाग्य की बहुत गहरी धारणा पैदा हुई। हमने तो उसके बहुत दुरुपयोग किए, लेकिन वह धारणा बड़ी गहरी है। वह यह कहती है कि मैं हूं ही नहीं, भाग्य है। न मालूम कौन मुझे पैदा कर देता, न मालूम कौन मुझे चलाता, न मालूम कौन मुझे विदा कर देता। मैं कुछ भी नहीं हूं।
एक सूखा पत्ता हवाओं में उड़ता हुआ। हवाएं जहां ले जाती हैं, चला जाता है। पत्ते की कोई आवाज नहीं, पत्ते की कोई पूछ नहीं। पत्ता कहे कि मुझे पूरब जाना है; कोई सुनता ही नहीं। पत्ता पश्चिम चला जाता है! पत्ता कहे, मुझे जमीन पर विश्राम करना है, हवाएं उसे आकाश में उठा देती हैं। तो नियति की एक धारणा है, वह हिंदू विचार की बहुत गहरी धारणा है।
बुद्ध ने शून्य का प्रयोग किया, हिंदू विचार ने नियति का प्रयोग किया। और कहा कि सब नियंता के हाथ में है। पता नहीं कौन अज्ञात, कोई अननोन शक्ति भेज देती है, वही बुला लेती है। जब हम कुछ हैं ही नहीं, तो हम नाहक क्यों इतराए हुए घूमें? क्यों परेशान हों? परमात्मा है, उसके हाथ में छोड़ देते हैं। तब कर्ता शून्य हो जाता है। जब हम कुछ करने वाले नहीं, तो जो उसकी मर्जी है, वह करा लेता है। नहीं मर्जी है, नहीं कराता है। ऐसा जो अपने को छोड़ दे पूरी तरह समर्पण में, तो भी कर्ता खो जाता है।
तीसरा एक रास्ता और है। और वह तीसरा रास्ता है, उसको जान लेने का, जो हमारे भीतर है। कृष्ण का वही रास्ता है, उसको जान लेने का, जो हमारे भीतर है। महावीर का भी वही रास्ता है।
निरंतर कहे चले जाते हैं, मैं, मैं, मैं। बिना इसकी फिक्र किए कि यह मैं कौन है? क्या है? इसका हम कोई पता नहीं लगाते। भीतर प्रवेश करें। इसके पहले कि मैं कहें, ठीक से जान तो लें, यह मैं किसको कह रहे हैं। जितने भीतर जाते हैं, उतना ही मैं खोता जाता है--जितने भीतर। जितने ऊपर आते हैं, उतना मैं होता है। जितने भीतर जाते हैं, उतना मैं खोता जाता है। एक घड़ी आती है कि आप तो होते हैं और मैं बिल्कुल नहीं होता। एक ऐसा बिंदु आ जाता है भीतर, जो बिल्कुल ईगोलेस, बिल्कुल मैं शून्य है; जहां मैं की कोई आवाज ही नहीं उठती।
उसको जान लें, तो कर्ता खो जाता है। क्योंकि उसको जान लेने के बाद मैं
का भाव नहीं उठता; और मैं का भाव न उठे, तो कर्ता निर्मित नहीं होता। कर्ता के निर्माण के लिए मैं का भाव अनिवार्य है। मैं की ईंट के बिना कर्ता का भाव निर्मित नहीं होता।
ये तीनों एक अर्थ में एक ही बात हैं। चाहे जान लें कि मैं कुछ भी नहीं हूं, तो भी कर्ता गिर जाता है। जान लें कि परमात्मा सब कुछ है, तो भी कर्ता गिर जाता है। जान लें कि मैं ऐसी जगह हूं, जहां मैं है ही नहीं, तो भी कर्ता गिर जाता है। तीनों स्थितियों से कर्ता शून्य हो जाता है। भीतर कर्ता शून्य होता है, बाहर कर्म गिर जाते हैं। वह उसका ही दूसरा हिस्सा है। दोनों तरफ से चल सकते हैं। बाहर कर्म को छोड़ दें पूरी तरह अगर, तो भीतर कर्ता को न बचा सकेंगे। वह गिर जाएगा। भीतर कर्ता को विदा कर दें, तो बाहर कर्म को न बचा सकेंगे; वह खो जाएगा। कर्म-संन्यास की जो बहिर्व्याख्या है, वह कर्म-त्याग है। कर्म-संन्यास की जो अंतर्व्याख्या है, वह कर्ता-त्याग है।

प्रश्नः भगवान श्री, इसी संबंध में एक बात और स्पष्ट कर लेने को है। कृष्ण कर्म-संन्यास अर्थात कर्मों में कर्तापन के त्याग को अर्जुन के लिए कठिन बता रहे हैं। तथा निष्काम कर्मयोग को सरल बता रहे हैं। कृपया स्पष्ट करें कि कर्मों में कर्तापन के त्याग के बिना निष्काम कर्म कैसे संभव होता है?

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि यह जो उन्होंने कर्म-संन्यास की बात कही है, यह कठिन है। और निष्काम कर्म की जो दूसरी पद्धति कही है, वह सरल है। निष्काम कर्म की पद्धति में कर्म भी नहीं छोड़ना पड़ता, कर्ता भी नहीं छोड़ना पड़ता। न कर्म के त्याग का सवाल है, न कर्ता के त्याग का सवाल है। प्राथमिक शर्त नहीं है वह। निष्काम कर्मयोग में सिर्फ कर्म के फल को छोड़ना पड़ता है-- सिर्फ कर्म के फल को। यद्यपि कर्म का फल जिस दिन छूट जाता है, उस दिन कर्ता छूट जाता है। लेकिन वह परिणाम है।
कर्म-संन्यास में जो पद्धति सीढ़ियां बनाती है, निष्काम कर्मयोग में
वह पद्धति परिणाम में आती है। फल छोड़ दो! फल छूटा, तो कर्ता नहीं बचता है। और जब कर्ता न बचे, तो कर्म अभिनय रह जाता है, खेल! दूसरों के लिए, अपने लिए नहीं। अपने लिए समाप्त हुआ।
ठीक ऐसे ही, जैसे पिता अपने बच्चे के साथ खेल रहा है। उसकी गुड़िया को सजा रहा है, उसके गुड्डे को तैयार करवा रहा है। बारात निकलवा रहा है। उसके लिए खेल है अब। बच्चे के लिए खेल नहीं है। खेल में सम्मिलित है, सम्मिलित होने से बिल्कुल सम्मिलित नहीं है। सम्मिलित है पूरा, पर कहीं भी इनवाल्व्ड, कहीं भी डूबा हुआ नहीं है। मौज से खेल रहा है। बच्चा तो बहुत उद्विग्न और परेशान रहेगा कि पता नहीं गुड्डा ठीक बनता है कि नहीं! कोई वधू राजी होती है कि नहीं! पता नहीं शादी निपट पाएगी ठीक से कि नहीं निपट पाएगी! कोई अड़चन तो नहीं आ जाएगी! कोई ग्रह, मंगल बाधा तो नहीं देंगे! कोई पंडित पत्री में उपद्रव तो खड़ा नहीं करेगा! बच्चा बहुत चिंतित है। उसके लिए खेल नहीं है। उसके लिए मामला गंभीर है; काम है। बाप मजे से खेल रहा है साथ में। कर्म तो कर रहा है, भीतर कर्ता बिल्कुल नहीं है।
कर्म तो कर रहा है, कर्ता क्यों नहीं है? क्योंकि बच्चा फल में उत्सुक है, एक्साइटेड है, उत्तेजित है। सांझ बैंड-बाजे बजेंगे, बारात निकलेगी। भारी काम उसके सिर पर है। सब ठीक से निपट जाए, इसकी चिंता है। सारे मित्र इकट्ठे होने वाले हैं, कोई भूल-चूक न हो जाए। चिंतित है, उद्विग्न है, परेशान है। हो सकता है, रातभर नींद न आए। रातभर सपने में भी शादी करे, तैयारियां करे। उठ-उठकर बैठ जाए। यह सब हो सकता है। लेकिन पिता भी वही तैयारी कर रहा है, लेकिन कोई फल का सवाल नहीं है। सांझ क्या होगा, इससे कोई मतलब नहीं है। खेल है, फल का कोई सवाल नहीं है।
कृष्ण कहते हैं, दूसरी बात अर्जुन, सरल है कि तू फल का ख्याल छोड़ दे और कर्म में लगा रह।
फल का ख्याल छोड़ते ही कर्ता तो गिर जाएगा। क्योंकि फल अगर न हो, तो कर्ता को कोई मजा ही नहीं है; उसको बचने का कोई रस नहीं है। मैं कर्म करने से नहीं बचता हूं; मैं बचता हूं, कर्म से जो मिलेगा, उसकी आकांक्षा से, उसको पाने से, उसको इकट्ठा करने से। मेरा जो लोभ है, वह फल के लिए है।
अगर आपको कोई कहे कि आप जो कर्म कर रहे हैं, यह बिना किए आपको फल मिल सकता है, आप कर्म करने को राजी नहीं होंगे। आप कहेंगे, बिल्कुल ठीक। यही तो हम पहले से चाहते थे। नहीं मिल सकता था बिना कर्म के, इसलिए कर्म करते थे। अगर बिना कर्म के मिल सकता है, तो सिर्फ पागल ही कर्म करने को राजी होगा।
हम अभी तैयार हैं।
आपकी उत्सुकता कर्म में नहीं है; कर्म मजबूरी है। आपकी उत्सुकता फल में है। फल आकांक्षा है, कर्म मजबूरी है। कर्म करना पड़ता है, क्योंकि उसके बिना फल नहीं है। फल मिल जाए बिना कर्म के, तो कर्म फौरन छोड़ देंगे आप।
कर्ता का रस कहां है, कर्म में या फल में? कर्ता का रस फल में है। दिखता है जुड़ा हुआ कर्म से, असल में जुड़ा है फल से। कर्ता जो है, वह एरोड टुवर्ड्स दि रिजल्ट। उसका तीर जो है, वह हमेशा फल की तरफ है। कर्म की तरफ तो मजबूरी है।
इसलिए जिनको भी फल मिल सकता है बिना कर्म के, वे जरूर फल को बिना कर्म
के पाने की कोशिश करेंगे। जो विद्यार्थी बिना पढ़े पास हो सकता है, वह पढ़ना छोड़ देगा। अगर सरल कर्म से काम हो सकता है, कि शिक्षक को जरा छुरा दिखाने से काम हो सकता है, तो सरल कर्म कर लेगा। चोरी से हो सकता है, तो उससे कर

लेगा। सालभर का उपद्रव छोड़ देगा, दो-चार दिन में हो सकता है, उससे कर लेगा।
रिश्वत से हो सकता है, उससे कर लेगा।
किसी का भी रस कर्म में नहीं है। ध्यान रहे, दुनिया में रिश्वत न हो, बेईमानी न हो, अगर लोगों का रस कर्म में हो। रस तो है फल में, तो फल फिर जैसे मिल जाए, उससे ही आदमी पा लेता है। और कम कर्म से मिल जाए, तो और बेहतर है।
खुशामद से मिल जाए, और बेहतर।
मंदिर में जाकर लोग परमात्मा के सामने खुशामद कर रहे हैं, स्तुति कर रहे हैं, रिश्वत का वचन दे रहे हैं कि एक नारियल चढ़ा देंगे पांच आने का, जरा लड़के को पास करा दो! पक्का रहा, पांच आने का नारियल जरूर देंगे।
अब जिसके पास सब कुछ हो, उसको आप पांच आने का नारियल और देने का वायदा
कर रहे हैं! अगर मान जाए, तो बुद्धू है। अगर परमात्मा आपकी मान जाए पांच आने के नारियल से, तो बुद्धू है निपट! लेकिन बुद्धू आप ही हैं। क्या देने गए हैं? क्या रिश्वत बता रहे हैं?
इसलिए भारत जैसे मुल्क में इतनी रिश्वत बढ़ सकी, उसका कारण है गहरे में
कि हम तो रिश्वत देने वाली पुरानी कौम हैं। हम तो भगवान को सदा से--जब भगवान तक रिश्वत में पांच आने के राजी होता है, तो डिप्टी कलेक्टर नहीं होगा? तो कोई डिप्टी कलेक्टर भगवान से बड़ी चीज है? कि कोई मिनिस्टर कोई भगवान से बड़ी चीज है? अरे! हम भगवान को भी रास्ते पर ले आते हैं पांच आने का नारियल चढ़ाकर! मिनिस्टर है बेचारा! इसको तो निपटा ही लेंगे। और जब मिनिस्टर देखता है कि भगवान तक नहीं छोड़ रहे हैं नारियल, तो हम काहे को छोड़ें!
और अगर किसी दिन कोई दिक्कत भी आई भगवान के सामने, तो कह देंगे कि तुम
तो हजारों साल से ले रहे हो; हमने तो अभी-अभी, अभी यही कोई बीस साल पहले शुरू किया। इतना अनुभव भी नहीं है। और तुम तो सदा से बैठे हो सिंहासन पर, तुम्हें कोई जल्दी भी नहीं है। हमारे सिंहासन का कोई भरोसा ही नहीं है। तो जितनी जल्दी ले लें, ले लेते हैं।
यह जो हमारा चित्त है, वह सदा फल के लिए उत्सुक है। इसलिए कुछ भी कर्म
से बच सके और फल मिल जाए, तो हम ले लेंगे। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि निष्काम कर्मयोग चिंता नहीं करता कि तुम कर्म छोड़ो। वह चिंता करता है कि तुम फल छोड़ो। तुम फल की फिक्र छोड़ दो।
और फल की फिक्र दो तरह से छोड़ी जा सकती है। एक रास्ता तो यह है कि हम मान लें कि परमात्मा है; जो उसकी मर्जी। वह नियतिवादी जो मैंने बात कही, जो मानता है कि नियति है, परमात्मा को फल देना है, देगा; नहीं देना है, नहीं देगा। जो नियति की धारणा से जीता है गहरे में, वह छोड़ पाता है। वह कहता है, ठीक है; फल हमारे हाथ में नहीं है; परमात्मा जाने। हम ही हमारे हाथ में नहीं हैं, तो फल भी हमारे हाथ में कैसे हो सकता है?
या फिर वह फल छा.ेड़ देता है, दूसरा, जो कि मानता है कि मैं तो हूं ही नहीं। मिट्टी का जोड़ हूं। मुझसे क्या फल आएगा! मैं क्या फल निकाल पाऊंगा! ना-कुछ हूं, मुझसे कुछ भी निकलने वाला नहीं है। बुद्ध का मार्ग है, वह कहता है, कुछ निकलने वाला नहीं है, इसलिए फल छोड़ देता है। मैं ही नहीं हूं, तो फल लेगा कौन? इसलिए फल छोड़ देता है।
तीसरा भी मार्ग है, वह कृष्ण का मार्ग या महावीर का मार्ग, कि पीछे, भीतर प्रवेश करता है और उसको खोज लेता है, जिसे किसी फल की जरूरत नहीं है। उसे खोज लेता है, जिसे सब मिला ही हुआ है। इसलिए कोई मांग नहीं रह जाती। तो भी फल गिर जाता है। फल गिर जाए, तो कर्ता खो जाता है। लेकिन निष्काम कर्म में कर्म बना रहता है और कर्म-संन्यास में कर्म भी गिर जाता है, उतना ही फर्क है।
अर्जुन से कहते हैं कृष्ण कि सरल है निष्काम कर्म। अर्जुन को देखकर कहते हैं, मैं फिर दोहरा दूं। जरूरी नहीं है कि आपके लिए भी सरल हो। अर्जुन से कहते हैं कि तेरे लिए सरल है अर्जुन, निष्काम कर्म। अर्जुन के लिए आसान है फल को छोड़ना। कर्म को छोड़ना कठिन है।
इसके लिए दो-तीन बातें ख्याल में ले लें।

मां के पेट में सात महीने का बच्चा करीब-करीब पच्चीस प्रतिशत निर्मित
हो जाता है; पच्चीस प्रतिशत। बाकी पचहत्तर प्रतिशत बाकी सत्तर साल में निर्मित होगा। सात महीने का बच्चा पच्चीस प्रतिशत बिल्कुल निर्मित हो जाता है, जिसमें अब कोई अंतर नहीं पड़ेंगे। सात साल का बच्चा तो पचहत्तर प्रतिशत निर्मित हो जाता है, जिसमें अब कोई फर्क नहीं पड़ेंगे! जिंदगी, जब हम पाते हैं जीने के लिए, खड़े होते हैं, तब तक करीब-करीब हमारे भीतर तय हो गई होती है। उसका एक पैटर्न, उसका एक ढांचा निर्मित हो गया होता है। अर्जुन आज युद्ध के मैदान पर खड़ा है, कोरी स्लेट की तरह नहीं। अगर कोरी स्लेट की तरह होता, तो कृष्ण उससे कहते कि ये दो रास्ते हैं, तू कोई भी लिख ले; दोनों ही सरल हैं। क्योंकि तेरी स्लेट कोरी है। कुछ भी लिख। जो भी लिखेगा, वही काम दे जाएगा। लेकिन अर्जुन कोरी स्लेट की तरह नहीं खड़ा है।
बहुत कुछ लिखा जा चुका है। जगह अब कुछ और लिखने को है नहीं; भरा हुआ खड़ा है।
क्षत्रिय होना निर्णीत हो चुका है। क्षत्रिय होना उसका पूरा हो चुका है।
अब उसको ब्राह्मण बनाने की कोशिश बड़ी उपद्रव की है।
ब्राह्मण बनाने का मतलब है, नई, अ ब स से शुरू करनी पड़ेगी यात्रा।
अर्जुन को अगर वापस उसकी मां के पेट में, गर्भ में ले जाया जा सके, तो फिर से बात हो सकती है। अन्यथा नहीं हो सकती है। या फिर उसका पूरा ब्रेनवाश करना पड़े। तब कृष्ण के वक्त में उसका उपाय नहीं था; अब है। उसकी खोपड़ी बिल्कुल साफ करनी पड़े बिजली के धक्कों से। हालांकि जरूरी नहीं है कि खोपड़ी साफ करने के बाद वह कोई बेहतर आदमी बन सके। जरूरी नहीं है। बहुत डर तो यही है कि वह आदमी सदा के लिए लंगड़ा हो जाए। क्योंकि तीस साल की उम्र में अगर हम किसी आदमी के मस्तिष्क को फिर से साफ करें, तो उसकी उम्र तो तीस साल होगी और पहले दिन के बच्चे जैसा व्यवहार करेगा। बहुत उपद्रव का मामला है।
तो अर्जुन एक सुनिश्चित व्यक्तित्व लेकर खड़ा है, एक पर्सनैलिटी है उसके पास। तो जब कृष्ण उससे कहते हैं कि अर्जुन, तू जो कि कर्म में ही जीया और बड़ा हुआ है, कर्म ही जिसका स्वभाव है, कर्म के बिना जिसने कभी कुछ न जाना, न सोचा, न किया। जिसके व्यक्तित्व की सारी गरिमा उसके कर्म के शिखर पर है। जिसका सारा गौरव, जिसकी सारी चमक, जिसकी सारी सफलता उसके कर्म की कुशलता है। इस आदमी को कृष्ण कहते हैं कि तेरे लिए सरल है कि तू फल को छोड़ दे।
और ध्यान रखें, क्षत्रिय के लिए फल को छोड़ना आसान है, कर्म को छोड़ना कठिन है। क्षत्रिय के लिए फल को छोड़ना आसान है, कर्म को छोड़ना कठिन है। ब्राह्मण के लिए कर्म को छोड़ना आसान है, फल को छोड़ना कठिन है। व्यक्तित्व की बनावटें हैं।
ब्राह्मण वैसे ही कर्म में नहीं होता। ब्राह्मण कर्म के जाल के बाहर खड़ा रहता है। समाज ने फल उसके लिए निश्चित कर रखा था। फल से वह राजी था। कर्म वह सदा से छोड़े हुए था। यद्यपि थोड़ा कर्म करने से ज्यादा फल मिल सकता था, लेकिन नहीं, वह बहुत थोड़े फल से राजी था, लेकिन कर्म की झंझट में नहीं था। कर्म छोड़कर खड़ा था।
अब महावीर या बुद्ध कर्म करें, तो क्या पैदा नहीं कर ले सकते हैं! लेकिन महावीर या बुद्ध भिक्षा का पात्र लेकर दो रोटी भीख मांग लेते हैं। उतने से तृप्त हैं। ब्राह्मण इस देश का सदा से कर्म छोड़कर जीया है। थोड़े- से फल से राजी है, अल्प फल से राजी है। कर्म के छोड़ने में उसे कोई कठिनाई नहीं है।
क्षत्रिय फल को बिल्कुल छोड़ सकता है, लेकिन कर्म को नहीं छोड़ सकता। क्षत्रिय के लिए सवाल यह नहीं है कि हारूंगा या जीतूंगा। क्षत्रिय के लिए यह भी सवाल नहीं है कि विजय मिलेगी या हार हो जाएगी। क्षत्रिय के लिए सवाल यह है कि मैं लड़ा या नहीं लड़ा। क्षत्रिय को अंततः निर्णय इससे होगा कि वह लड़ा या नहीं लड़ा। लड़ने से भागा तो नहीं! क्षत्रिय अगर लड़ते हुए मर जाएगा, तो भी भागे हुए क्षत्रिय से ज्यादा शांति से मरेगा। कर्म से नहीं भागा; कर्म से नहीं हटा। लड़ लिया। जो कर सकता था, वह किया। जो हो सकता था, वह हुआ। फल का कोई बड़ा सवाल नहीं है उसके लिए।

और क्षत्रिय अगर फल की सोचे, तो क्षत्रिय नहीं हो सकता। क्योंकि युद्ध के क्षण में फल को भूल जाना पड़ता है। दुकान एक बात है, युद्ध दूसरी बात है। दुकान पर आप बैठकर आराम से सोच सकते हैं कि क्या लाभ होगा, क्या हानि होगी। क्योंकि कर्म कोई जान नहीं ले रहा है अभी आपकी। ग्राहक कोई आपकी गर्दन नहीं पकड़े हुए है। ग्राहक सामने बैठा है; आप सोच सकते हैं। आज नहीं करेंगे सौदा, कल कर लेंगे। क्षत्रिय के सामने तो कर्म इतना प्रखर है कि अगर वह फल को सोचने में चला जाए, चूक जाए, तो गर्दन कट जाए। उसको तो कर्म में ही होना चाहिए।
इसलिए जापान में, जहां कि क्षत्रियों का शायद आज की दुनिया में जीवित वर्ग है, समुराई। सारी पृथ्वी पर क्षत्रियों का एकमात्र, ठीक जैसा कि अर्जुन रहा होगा। अर्जुन को मैं समुराई कहता हूं! कभी समुराई हमने पैदा किए थे। अब वे नहीं हैं। जापान में एक छोटा-सा वर्ग है, समुराई। लड़ना ही उसका जीवन, उसका आनंद और उसकी कला है।
समुराई के युद्ध का जो सूत्र है, वह यह है कि जब तुम तलवार चलाओ, तब तलवार ही बचे, तुम न बचो। तलवार ही चले। तुम तो अपने को छोड़ो। तलवार ही हो जाओ। और यह भी मत सोचना कि एक क्षण बाद क्या होगा, क्योंकि एक क्षण के बाद का तुम सोचोगे, तो तुम्हारे सामने की तलवार तुम्हारी गर्दन काट जाएगी। तुम तो अभी देखना, जो हो रहा है। एक क्षण के बाद भी हटे, चेतना इतनी भी हटी, कि चूके।
तो अगर दो समुराई कभी युद्ध में पड़ जाएं, तो बड़ा मुश्किल हो जाता है। युद्ध निर्णायक नहीं हो पाता। बड़ी कठिनाई हो जाती है, क्योंकि दोनों उसी क्षण में जीते हैं। जो भी आगे की सोचता है, वही हार जाता है।
तो क्षत्रिय के लिए सरल है कि फल की फिक्र छोड़ दे। वैश्य के लिए सरल नहीं है कि फल की फिक्र छोड़ दे। वैश्य कह सकता है, कर्म छोड़ सकते हैं। फल! फल जरा छोड़ना मुश्किल है। क्षत्रिय कह सकता है, फल छोड़ सकते हैं। लेकिन कर्म! कर्म छोड़ना जरा मुश्किल है। ट्रेनिंग है, प्रशिक्षण है।
तो कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि तेरे लिए सुगम है, सरल है, फल की आकांक्षा छोड़, युद्ध में उतर जा। कर्म पूरा कर और शेष प्रभु पर छोड़ दे। तेरे लिए पहली बात आसान नहीं है कि तू कहे कि मैं कर्म छोड़कर चला जाऊं। अगर यह अर्जुन कर्म छोड़कर चला भी जाए, मान लें एक क्षण को कि गीता यहीं समाप्त हो जाती है और अर्जुन छोड़कर चले जाते हैं जंगल में। क्या करेंगे? कोई आसनी बिछाकर किसी झाड़ के नीचे ध्यान करेंगे? ध्यान भी करेंगे, तो पास की झाड़ी में चलता हुआ शेर दिखाई पड़ेगा। धनुष-बाण खींच लेंगे। पक्षी सुनाई पड़ेंगे वृक्ष पर; याद आएगी बचपन की कि निशानेबाज था। आंख ही दिखाई पड़ती थी मुझे। और मेरे सारे साथियों को पूरा पक्षी दिखाई पड़ता था। गुरु द्रोण ने कहा था कि तू ही एक धनुर्धर है। यह याद आएगा। यह ट्रेनिंग है उसकी। ज्यादा देर ध्यान-व्यान नहीं करेगा, बहुत जल्दी शिकार करने में लग जाएगा। आदमी वैसा है।
कृष्ण उसे भलीभांति पहचानते हैं। कृष्ण उसके मन में गहरे देखते हैं
कि वह आदमी कैसा है। वह लड़ने का कोई न कोई उपाय खोज लेगा जंगल में। वह कोई न कोई उपद्रव में पड़ेगा। वह बिना लड़े नहीं जी सकेगा। क्योंकि बिना लड़े तलवार पर जंग चढ़ जाएगी। बिना लड़े क्षत्रिय पर भी जंग चढ़ जाती है। उसकी तो धार, क्षत्रिय की धार तो उसके लड़ने में है।
मैंने सुना है कि एक समुराई तीस वर्ष तक एक ही तलवार से लड़ता रहा--एक
ही तलवार से। और जब जापान के एक सम्राट ने उसे बुलाकर उसकी तलवार देखी, तो दंग रह गया। जैसे कल ही उस पर धार रखी गई हो! तो सम्राट ने पूछा कि क्या धार अभी रखवाई है? उसने कहा, समुराई को तलवार पर धार रखवानी नहीं पड़ती। लड़ने से रोज धार बनती रहती है। और जिस दिन समुराई को तलवार पर धार रखवानी पड़े, उस दिन वह गया, हारा। क्योंकि तलवार जंग खा गई, उतनी देर में समुराई भी जंग खा जाएगा।
अर्जुन तो तलवार की चमक है। उस पर जंग न चढ़ जाए। जंग उसको डुबा देगी।
वह युद्ध भी खोएगा, क्षत्रित्व भी खोएगा, और ब्राह्मण हो नहीं सकता। उसके

लिए अगले जन्म की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अगले जन्म में भी डर है। वह क्षत्रिय है। अगले जन्म में भी बहुत डर तो यह है कि क्षत्रिय ही होगा। इसलिए कृष्ण उससे कहते हैं कि तुझे देखकर मैं कहता हूं कि तेरे लिए यही निज-धर्म है। तेरी यही निजता है, तेरी यही इंडिविजुअलिटी है। तू इसके लिए निर्मित हुआ है। यही तेरी नियति है, यही तेरा भाग्य है कि तू लड़, तू कर्म में उतर। फल को जाने दे। फल हटा, कर्ता हट जाएगा, कर्म रह जाएगा। और अकेला कर्म रह जाए, तो निष्काम कर्म फलित हो जाता है।
अब पांच मिनट हम कीर्तन करेंगे। कोई उठे न। पांच मिनट संन्यासी जो देते हैं, उसे लेते हुए जाएं। उनका प्रसाद स्वीकार करें। कोई भी न उठे। पांच मिनट के लिए इतनी जल्दी न करें। और साथ दें। ताली तो बजा ही सकते हैं! आनंद में सम्मिलित हो जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
पांचवां प्रवचन

मन का ढांचा--जन्मों-जन्मों का

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यंशृण्वस्पृशिंजघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन्।। 8।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। 9।।
और हे अर्जुन, तत्व को जानने वाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आंखों को खोलता और मींचता हुआ भी, सब इंद्रियां अपने-अपने अर्थों में बर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ निःसंदेह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूं।

तत्व को जानता हुआ पुरुष सब करते हुए भी ऐसा ही जानता है, जैसे मैं कुछ
भी नहीं करता हूं। इंद्रियां बर्तती हैं अपने-अपने स्वभाव से। इंद्रियों के वर्तन को, तत्व को जानने वाला पुरुष, अपना कर्म नहीं मानता है। तत्व को जानने वाला पुरुष कर्ता नहीं होता, वरन इंद्रियों के कर्मों का मात्र साक्षी होता है।
इसे दो-तीन आयामों से समझ लेना उपयोगी है।
एक, तत्व को जानने वाला पुरुष। कौन है जो तत्व को जानता है? ध्यान रहे, कृष्ण नहीं कहते, तत्वों को जानने वाला पुरुष। कहते हैं, तत्व को जानने वाला पुरुष।
तत्व एक ही है। वह जो जीवन के, गहन जीवन के प्राण में छिपा है, वह अस्तित्व एक ही है।
हम साधारणतः पांच तत्वों की बात करते हैं, वे तत्व नहीं हैं। मिट्टी है, पानी है, आग है, आकाश है, वायु है; वे वस्तुतः तत्व नहीं हैं। और विज्ञान तो एक सौ आठ तत्वों की बात करता है। लेकिन अब इधर विज्ञान को यह ख्याल आना शुरू हुआ कि जो उसने एक सौ आठ तत्व सोचे थे, वे कोई भी तत्व नहीं हैं। विज्ञान भी एक सौ आठ तत्वों की लंबी संख्या के बाद एक नए नतीजे पर पहुंच रहा है और वह यह कि ये एक सौ आठ तत्व भी एक ही तत्व के रूप हैं। उस तत्व को विज्ञान इलेक्ट्रिसिटी कहता है, विद्युत कहता है। कृष्ण उस तत्व को विद्युत नहीं कहते, चेतना कहते हैं, कांशसनेस कहते हैं। शायद बहुत शीघ्र विज्ञान को स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि वह तत्व चेतना ही है। क्यों? क्योंकि अब तक विज्ञान यह भी मानने को राजी नहीं था कि एक तत्व है। वह कहता था, एक सौ आठ तत्व हैं।
ऊपर से देखने पर अनंत तत्व मालूम पड़ते हैं जगत में। तत्वों के भीतर जब विज्ञान का प्रवेश हुआ, तो पता चला कि सभी तत्व एक ही तत्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। जैसे एक ही सोने के बहुत-से आभूषण हों। रूप अलग हैं। वह जो रूपायित हुआ है, जो पीछे छिपा है, वह एक है। इसे विज्ञान अब स्वीकार करता है कि वह एक तत्व विद्युत ऊर्जा है, शक्ति है। अभी उसे धर्म की दूसरी बात से भी सहमत होना पड़ेगा। अब तक वह पहली बात से भी सहमत नहीं था कि तत्व एक है। वह कहता था, तत्व अनेक हैं।
अब तक विज्ञान प्लूरालिस्ट था, अनेक को मानता था। अब विज्ञान मानिस्ट हुआ, अब वह एक को मानने लगा। वह कहता है, एक ही ऊर्जा है। पानी में भी वही ऊर्जा है और पत्थर में भी वही ऊर्जा है। उस ऊर्जा के कणों का विभिन्न जमाव है। बस, उसका ही सारा अंतर है। वह अंतर ठीक आभूषण जैसे सोने के विभिन्न जमाव से निर्मित होते हैं, वैसा ही अंतर है। और बहुत देर नहीं है कि एक तत्व को हम अब दूसरे तत्वों में रूपांतरित कर सकेंगे।
बहुत जमाने तक अल्केमिस्ट खोजते थे, कोई ऐसी तरकीब कि जिससे लोहा सोना हो जाए। अब बहुत कठिन नहीं है। क्योंकि लोहा भी उसी ऊर्जा से बना है, जिससे सोना बना है। और लोहा सोना बन सकता है और सोना लोहा बन सकता है।

ज्यादा देर नहीं है, मौलिक बात तय हो गई है कि दोनों को बनाने वाला संघटक एक ही तत्व है। इसलिए रूपांतरण हो सकता है।
ऐसे भी आप देखते हैं, कोयले को पड़ा हुआ। सोचते न होंगे कि हीरा भी कोयला है। हीरा भी कोयला है! हीरा भी कोयले का ही रूप है। लाखों साल तक जमीन के नीचे गर्मी में दबा रहने पर कोयला हीरे में रूपांतरित होता है। एक ही तत्व हैं; दोनों में कोई भी भेद नहीं है।
सारे तत्वों के भीतर एक है। धर्म की इस पहली घोषणा से विज्ञान रिलक्टेंटली, बहुत झिझकते-झिझकते राजी हो गया है। मजबूरी थी। विज्ञान सत्य को इनकार नहीं कर सकता है। अब दूसरा कदम और शेष रह गया है। और वह कदम यह है कि वह एक तत्व चेतन है या अचेतन? अब तक विज्ञान माने चला जाता है कि वह अचेतन है। यह उसका दूसरा आग्रह है। पहला आग्रह था, अनेक हैं तत्व। वह गिर गया। दूसरा आग्रह अभी शेष है कि वह तत्व अचेतन है।
धर्म का ख्याल है कि वह तत्व अचेतन नहीं है। और उसके कारण हैं। क्योंकि धर्म का ख्याल है कि निकृष्ट से श्रेष्ठ अगर जन्मता है, तो मानना होगा कि वह उसमें कहीं छिपा था, सदा मौजूद था। अगर बीज से वृक्ष पैदा होता है, तो चाहे दिखाई पड़ता हो और चाहे न दिखाई पड़ता हो, वृक्ष बीज में छिपा था, पोटेंशियली मौजूद था। अन्यथा पैदा नहीं हो सकता है। यदि चेतना पैदा हो रही है जगत में कहीं भी, और पदार्थ से ही पैदा हो रही है, तो समझना पड़ेगा कि वह पदार्थ में कहीं गहरे में छिपी है, मौजूद है। उसकी मौजूदगी को इनकार करना अवैज्ञानिक है, वैज्ञानिक नहीं। जो भी प्रकट हो सकता है, वह छिपा है और मौजूद है। अनमैनिफेस्टेड है, अव्यक्त है, अप्रकट है।
लेकिन विज्ञान कहता है कि एक ही चीज है अब जगत में, वह है विद्युत ऊर्जा। और धर्म भी कहता है, एक ही चीज है जगत में, वह है चेतना। यह चेतना अप्रकट हो सकती है विद्युत ऊर्जा में। मनुष्य में आकर विकसित होकर प्रकट हो जाती है।
एक छोटा बच्चा है। वह कल जवान होगा, परसों बूढ़ा होगा। आज विज्ञान मानता है कि जवान और बूढ़े होने का बिल्ट-इन-प्रोग्रेम उसके जेनेटिक सेल में मौजूद है। वह जो बच्चे का पहला अणु है मां-बाप से मिला, उसमें उसकी पूरी जिंदगी का ब्लूप्रिंट, पूरा नक्शा मौजूद है। अन्यथा वह हो नहीं सकता।
एक बीज आप जमीन में गाड़ देते हैं। फिर उसमें से अंकुर निकलता है, फिर पत्ते आते हैं। बड़ी हैरानी की बात है कि इस बीज में ठीक वैसे ही पत्ते आते हैं, जैसे इस बीज के पिता वृक्ष में थे। यह पत्तों का बिल्ट-इन-प्रोग्रेम अगर बीज के भीतर छिपा हुआ न हो, तो बड़ा चमत्कार है। यह वैसे ही पत्ते वापस कैसे आ सकते हैं? या तो फिर यह बीज अदभुत होशियार है, या फिर इस बीज के पीछे कोई बहुत बड़ा जादूगर बैठा है। इस बीज में भी वैसे ही फूल लगेंगे, जैसे उस वृक्ष में लगे थे, जिससे यह बीज आया है। वे ही वृक्ष की पत्तियां होंगी, वे ही शाखाएं होंगी। वही फैलाव होगा। वही रूप-रंग होगा। वही फूल फिर से खिलेंगे। और इस एक बीज से फिर करोड़ों बीज पैदा होंगे--वही बीज, जिनसे यह पैदा हुआ था। इस बीज के भीतर बिल्ट-इन, छिपा हुआ प्रोग्रेम है।
वैज्ञानिक आज कह सकते हैं कि बीज में वृक्ष पूरी तरह छिपा हुआ है। प्रकट होने की देर है। समय लगेगा प्रकट होने में। लेकिन जो प्रकट होगा, वह मौजूद था। कह सकते हैं, बीज वृक्ष है, अदृश्य; और वृक्ष बीज है, दृश्य हो गया।
लेकिन इतनी जगत में चेतना दिखाई पड़ती है, यह पदार्थ में अगर छिपी न हो,
तो प्रकट कहां से होगी! यह भी बिल्ट-इन है, इसका भी पदार्थ में छिपा हुआ रूप है। फिर यह कहना गलत है कि पदार्थ में छिपी है, क्योंकि धर्म भी कहता है, एक ही तत्व है; और विज्ञान भी कहता है, एक ही तत्व है। पदार्थ में छिपी है, ऐसा कहने से दो तत्वों का ख्याल आता है--पदार्थ है कुछ, चेतना उसमें छिपी है। इसलिए विज्ञान के हिसाब से भी कहना ठीक नहीं कि पदार्थ में छिपी है। धर्म के लिहाज से भी कहना ठीक नहीं कि पदार्थ में छिपी है। फिर तो यही कहना ठीक है कि विज्ञान जिसे विद्युत कहता है, धर्म उसे चेतना कहता है। और धर्म की

बात ही ज्यादा सही मालूम पड़ती है। क्योंकि जो प्रकट होता है, वह कहीं मौजूद होना चाहिए। अन्यथा वह प्रकट नहीं हो सकता है।
कृष्ण कहते हैं, जो इस एक तत्व को जानता है।
इसलिए तत्वों की बात उन्होंने नहीं कही। एक ही काफी है। अज्ञानी बहुत चीजों को जानते हैं; ज्ञानी एक को ही जानता है। इसलिए कई बार ऐसा हो सकता है कि अज्ञानी के साथ ज्ञानी परीक्षा में हार जाए।
अगर हम बुद्ध और महावीर को किसी अज्ञानी के साथ परीक्षा में बिठा दें,
तो हार जाने का डर है! अज्ञानी बहुत चीजें जानता है। अगर अज्ञानी पूछने लगे कि आक्सीजन क्या है? तो बुद्ध जरा मुश्किल में पड़ेंगे। या अज्ञानी पूछने लगे कि साइकिल का पंक्चर कैसे जुड़ता है? तो महावीर को जरा अड़चन आएगी। और जरा क्या, काफी अड़चन आएगी! साइकिल रिपेयरिंग से उनका कभी कोई संबंध नहीं रहा।
अज्ञानी बहुत चीजें जानता है। एक को छोड़कर सब जानता है। ज्ञानी सबको छोड़ देता है और एक को जानता है। लेकिन उस एक को जानकर वह सब जान लेता है। और अज्ञानी सबको जानकर कुछ भी नहीं जानता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, एक को जान लेता है जो--एक तत्व को--ऐसे ज्ञानवान व्यक्ति को, ऐसे सांख्य को उपलब्ध व्यक्ति को, इंद्रियों का कर्म अपना किया हुआ नहीं, इंद्रियों का ही किया हुआ मालूम पड़ता है।
यह दूसरी बात समझ लेनी जरूरी है।
इंद्रियां आपके काम कर रही हैं, लेकिन निरंतर आप एक भ्रांत आइडेंटिटी, एक झूठा तादात्म्य कर लेते हैं और सोचते हैं, मैं कर रहा हूं। जब आपको भूख लगती है, तब आप कहते हैं, मुझे भूख लगी है। कृपा करके फिर से सोचना, भूख आपको लगती है या पेट को लगती है? भूख आपको लगती है या आपको पता चलती है?
इन दोनों में फर्क है। भूख का लगना एक बात है, भूख का पता लगना दूसरी बात है। आपके पेट में जब भूख लगती है, तब आपको पता चलता है कि भूख लगी है। लेकिन भूख तो पेट को ही लगती है। और पेट को जरा से में धोखा दिया जा सकता है। और आपकी भूख मिट जाएगी। एक शक्कर की गोली आपके पेट में डाल दी जाए, पेट धोखे में आ जाएगा। भूख मर जाएगी। आप कहेंगे, भूख खतम हो गई। शक्कर की गोली से भूख खतम नहीं होती। सिर्फ शक्कर की गोली से पेट खबर देना बंद कर देता है कि भूख लगी है। खबर आपको नहीं मिलती; भूख खतम हो जाती है।
भूख तो लगती है पेट को। पेट की इंद्रिय को भूख लगती है। लेकिन आप कहते हैं, मुझे भूख लगी। कान को सुनाई पड़ता है, आप तो सिर्फ जानते हैं कि कान को सुनाई पड़ा। लेकिन आप कहते हैं, मुझे सुनाई पड़ता है। आंख से दिखाई पड़ता है, आपको तो पता चलता है कि आंख को दिखाई पड़ता है। आपको दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन आप कहते हैं, मुझे दिखाई पड़ता है।
प्रत्येक इंद्रिय से हम अपने को जोड़ लेते हैं। असल में बहुत निकट है इंद्रिय, इसलिए जोड़ना आसानी से हो जाता है। आप चश्मा लगाए हुए हैं। चश्मे से आपको दिखाई पड़ता है, तो भी आप सोचते हैं, मुझे दिखाई पड़ता है। चश्मे को दिखाई पड़ता है। चश्मे से आंख को दिखाई पड़ता है। आंख से आपको पता चलता है कि दिखाई पड़ रहा है। लेकिन चश्मा अलग हटाकर देखें, तब आपको पता चलेगा। तब आपको पता चलेगा कि नहीं, अब मुझे दिखाई नहीं पड़ रहा। आप तो वहीं हैं, बीच से चश्मा हट गया। आंख बंद कर लें; आप तो अब भी वहीं हैं, जहां आंख खुली थी तब थे; लेकिन अब दिखाई नहीं पड़ रहा है। दिखाई आंख से पड़ता है। आंख यंत्र है, उपकरण है। सारी इंद्रियां काम करती हैं और आप अपने को जोड़ लेते हैं कि मैं। मुझे दिखाई पड़ता है; मुझे सुनाई पड़ता है; मुझे भूख लगती है; मुझे प्यास लगती है।
कृष्ण कहते हैं, जो उस एक तत्व को जान लेता है, वह यह भी जान लेता है, इंद्रियां अपना काम कर रही हैं, मैं कर्ता नहीं हूं। और इसलिए कई बार ऐसा भी हो जाता, कई बार ऐसा भी हो जाता है कि इन इंद्रियों के साथ निरंतर तादात्म्य के कारण आप अपने को यही समझ लेते हैं कि मैं इंद्रियों का जोड़ मात्र हूं। इंद्रियों का जोड़ मात्र! फिर उसका कभी पता नहीं चलता, जो जोड़ के पार है। जो ट्रांसेंडेंटल है, उसका कभी पता नहीं चलता।

इंद्रियों से यह जोड़ तोड़ देना पड़ेगा। इसे तोड़ने के दो उपाय हैं। एक तो निरंतर ख्याल रखें कि जो इंद्रियों को हो रहा है, वह इंद्रियों को हो रहा है; आपको नहीं हो रहा है। इसकी रिमेंबरिंग चाहिए निरंतर, सतत स्मरण कि भूख पेट को लगी है; दर्द पैर में हो रहा है; कांटा हाथ में चुभा है; शरीर थक गया है। निरंतर, जिन-जिन क्रियाओं के पीछे आप निरंतर मैं का उपयोग करते हैं, बड़ी कृपा होगी, उसके पीछे उनसे संबंधित इंद्रियों का उपयोग करें। कहें कि पैर थक गया है।
और हैरानी होगी, यह बात अनुभव करने से फर्क मालूम पड़ेगा। जब आप कहेंगे, पैर थक गया है, तो इसका परिणाम चित्त पर बिल्कुल दूसरा होगा, बजाय उसके, जब आप कहते हैं, मैं थक गया हूं। मैं बहुत बड़ी चीज है। पैर बहुत छोटी चीज है। पैर के थकने से जरूरी नहीं है कि मैं थक जाऊं। मैं बहुत ही और हूं। पैर से अपने को थोड़ा अलग करके देखना शुरू करें। इंद्रियों से थोड़ा दूर खड़े होकर देखना शुरू करें। जैसे-जैसे यह समझ गहरी होगी, वैसे-वैसे लगेगा, इंद्रियां अपना काम करती हैं। मैं कोई कर्ता नहीं हूं।
एक झेन फकीर से किसी ने जाकर पूछा, आपकी साधना क्या है? उसने कहा, जब भूख लगती, तब मैं खाना दे देता हूं। जब नींद आती है, तो मैं बिस्तर लगा देता हूं। तो उस आदमी ने पूछा, किसके लिए? तो झेन फकीर ने कहा, जिसको नींद आती है, उसके लिए; जिसको भूख लगती है, उसके लिए। उस आदमी ने पूछा, आप किस तरह की बातें कर रहे हैं! इस मकान में, इस झोपड़े में आप अकेले ही दिखाई पड़ते हैं, और तो कोई भी नहीं है!
उस फकीर ने कहा, जब मैं अज्ञानी था, तब मुझे भी एक ही दिखाई पड़ता था इस झोपड़े में। अब मुझे दो दिखाई पड़ते हैं। एक मैं, जो जानने वाला है; और एक वह, जो करने वाला है। जिसे भूख लगती है, वह मैं नहीं हूं। जिसे नींद आती है, वह मैं नहीं हूं। जो थक जाता है, वह मैं नहीं हूं। जो देखता है, जो सुनता है, वह मैं नहीं हूं। अब इस कमरे में एक वह भी है, जो थकता है; और एक वह भी है, जो कभी नहीं थका। एक वह भी, जो दुखी और सुखी होता रहता है; और एक वह भी, जो कभी दुखी और सुखी नहीं हुआ।
कृष्ण कहते हैं, ऐसा व्यक्ति इंद्रियों के काम को इंद्रियों का काम समझता है। जोड़ता नहीं अपने को, अलग जानता है। जितना यह ज्ञान बढ़ता जाता है कि मैं पृथक हूं, उतना ही इंद्रियां मालिक नहीं रह जातीं; गुलाम हो जाती हैं। उतना ही शरीर पर वश, शरीर की मालकियत आ जाती है।
लेकिन हम सारे लोग दुनिया में दूसरों की मालकियत करने में समय गंवा देते हैं, अपनी मालकियत का ख्याल ही नहीं आ पाता। दूसरों की मालकियत! लेकिन ध्यान रहे, दूसरों की कितनी ही मालकियत आप कर लें, मालिक आप कभी न हो पाएंगे। मालिक तो सिर्फ वही हो सकता है, जो अपना मालिक हो जाता है। और दूसरों के जो मालिक होते हैं, वे गुलामों के भी गुलाम होते हैं।
मैंने सुना है, एक आदमी एक गाय को रस्सी से बांधकर एक सड़क से गुजरता है। एक फकीर भी निकल रहा है वहां से। उस फकीर ने अपने शिष्यों से कहा कि देखते हो तुम, यह एक आदमी और यह एक गाय दोनों बंधे हैं। जो गाय को बांधे हुए था, उसने कहा, माफ करिए, आप गलत बोलते हैं! मैं नहीं बंधा हूं; मैं गाय को बांधे हुए हूं। उस फकीर ने कहा, देखते हो शिष्यों, ये दोनों एक-दूसरे से बंधे हैं। उस आदमी ने कहा, गलत बोलते हैं आप। मैं गाय से नहीं बंधा हूं; गाय मुझसे बंधी है। मैंने गाय को बांधा हुआ है। उस फकीर ने कहा, अच्छा तो तुम गाय को छोड़ दो। फिर देखें, कौन किसके पीछे भागता है! जो पीछे भागेगा, वही गुलाम है, उस फकीर ने कहा। और मैं तुमसे कहता हूं, गाय बांधी गई है; तुम बंधे हो। गाय को तुम जबर्दस्ती बांधे हो, खुद को तुम स्वेच्छा से बांधे हुए हो। गाय मजबूरी में गुलाम है; तुम अपनी इच्छा से गुलाम हो। छोड़ो गाय को, जरा हम भी देखें कि कौन किसके पीछे भागता है! उस आदमी ने कहा कि यह तो नहीं हो सकेगा। गाय खरीदकर ला रहा हूं। तो उसने अपने शिष्यों से कहा कि देखते हो! अभी जो मैंने कहा था, वह गलत था। अब मैं तुमसे कहता हूं, गाय इस आदमी से नहीं बंधी है, यह आदमी गाय से बंधा है। यह आदमी गाय का गुलाम है। असल में जिसको हम बांधते हैं, उससे हम बंध जाते हैं। जिसको हम गुलाम बनाते हैं, उसके हम गुलाम बन जाते हैं। इसलिए इस दुनिया में जितने ज्यादा

गुलाम जिस आदमी के पास, उतनी बड़ी उसकी गुलामी। लेकिन दूसरे पर मालकियत का मजा बड़ा है।
और ध्यान रहे, दूसरे की मालकियत का मजा केवल उन्हीं को है, जिन्होंने अपनी मालकियत का रस नहीं जाना। जिसने एक बार भी अपनी मालकियत का रस जाना, वह इस दुनिया में किसी का मालिक न होना चाहेगा। क्योंकि वह जानता है कि किसी का मालिक होना, अपनी गुलामी के आधार रखना है। लेकिन हम बड़ा रस लेते हैं।
मैंने सुना है, एक दिन एक आदमी ने अपने मकान को पोतने के लिए एक आदमी
को ठेका दिया है। दो रुपया घंटे से वह मकान पोतने का ठेका देकर गया है। जब सांझ को वापस लौटा, तो देखा कि वह आदमी झाड़ के नीचे आराम से लेटा हुआ है। उसने पूछा कि क्या कर रहे हो? मकान की पोताई नहीं कर रहे? उसने कहा कि कर रहा है; देखो! मकान की तरफ देखा, एक दूसरा आदमी पोताई कर रहा है! उस मकान के मालिक ने पूछा कि मैं समझा नहीं! तो उसने कहा कि मैंने दो रुपया घंटे के हिसाब से इस आदमी को काम करने के लिए रखा है। उस मकान मालिक ने पूछा, बड़े पागल हो! इससे तुम्हें फायदा क्या होगा? क्योंकि दो रुपए घंटे पर मैंने तुम्हें रखा है। दो रुपए घंटे पर तुमने इसे रखा है। फायदा क्या है? उसने कहा कि कभी-कभी मालिक होने का मजा हम भी लेना चाहते हैं! हम जरा वृक्ष के नीचे लेटे हैं। इट इ.ज वर्थ टु बी दि बास फार सम टाइम। कभी थोड़ा बास हो जाने में थोड़ा मजा आता है। आज दिनभर से लेटे हैं और आज्ञा दे रहे हैं कि यह कर, ऐसा कर। फायदा तो कुछ भी नहीं, उसने कहा। दिनभर गंवाया, लेकिन जरा मालिक होने का मजा!
जिंदगी के आखिर में ऐसी हालत न हो कि पाएं कि जिंदगी गंवायी, थोड़ा मालिक होने का मजा लिया।
यह आदमी मूढ़ मालूम पड़ता है। लेकिन इससे कम मूढ़ आदमी खोजना मुश्किल है। यह आदमी मूढ़ मालूम पड़ता है; आप हंसते हैं इस पर। लेकिन जिंदगी के आखिर में अपना हिसाब करीब-करीब ऐसा पाएंगे कि थोड़ा बास होने का मजा लिया! हाथ में कुछ होगा नहीं। हाथ में तो केवल उनके कुछ होता है, जो अपने मालिक।
तो कृष्ण कहते हैं, वैसा व्यक्ति जो तत्व को जान लेता, इंद्रियां अपना काम करती हैं, ऐसा जान लेता, और ऐसा जानते ही दूर खड़ा हो जाता है इंद्रियों के सारे धुएं के बाहर। इंद्रियों की बदलियों के बाहर सूरज के साथ एक हो जाता है।
वह जो सूरज के साथ एक हुआ है, वह मालिक है। उसकी कोई गुलामी नहीं है। ऐसा व्यक्ति ही निष्काम कर्म को उपलब्ध होता है। ऐसे व्यक्ति के आनंद की कोई सीमा नहीं है। ऐसे व्यक्ति की मुक्ति का कोई अंत नहीं है। और जब तक ऐसा न हो जाए, तब तक जीवन हम गंवा रहे हैं; तब तक हम जीवन से कुछ कमा नहीं रहे हैं। चाहे हम कितना ही कमाते हुए मालूम पड़ रहे हों, हम सिर्फ गंवा रहे हैं। यहां ढेर लग जाएगा धन का, और वहां जिंदगी चुक जाएगी। यहां सामान इकट्ठा हो जाएगा, और आदमी खो जाएगा। और यहां संसार की विजय-यात्रा पूरी हो जाएगी, और भीतर हम पाएंगे कि हम खाली हाथ आए और खाली हाथ जा रहे हैं।
इंद्रियों पर थोड़ी जागरूकता लानी जरूरी है। इसलिए कृष्ण के ये वचन सिर्फ व्याख्या से समझ में आ जाएंगे, इस भूल में पड़ने की कोई भी जरूरत नहीं है। ये सारे सूत्र साधना के सूत्र हैं।
लेकिन मजा है, हमारे मुल्क में लोग गीता का पाठ कर रहे हैं! सोचते हैं, पाठ से कुछ हो जाएगा। पाठ तोते भी कर लेते हैं। और पाठ करने वाले अक्सर धीरे-धीरे तोते हो जाते हैं। सब कंठस्थ हो जाता है। दोहराना आ जाता है। यंत्रवत गीता बोलने लगते हैं। सब अर्थ उन्हें पता हैं। सब शब्द उन्हें पता हैं। गीता पूरी कंठस्थ है। करने को कुछ बचता नहीं। कृष्ण अपना सिर ठोकते होंगे।
गीता के सूत्र साधना के सूत्र हैं। समझ लिया कि ठीक बात है, इंद्रियां अपना काम करती हैं। लेकिन कल सुबह फिर कहा कि मुझे भूख लगी है, तो गलती है। फिर समझे नहीं। फिर भीतर से थोड़ा सोचना चाहिए, मुझे भूख लगती है? इंद्रियों के प्रत्येक कृत्य में खोजकर देखें, कर्ता आप नहीं हैं।
इंद्रियों का समस्त कर्म प्रकृति से हो रहा है। आपकी कोई भी जरूरत नहीं

है। कभी आप ख्याल करते हैं! खाना तो आप मुंह में डाल लेते हैं; पचाते आप हैं? कौन पचाता है? खाना आप खाते हैं; पचाता कौन है? कभी पता चलता है, कौन पचा रहा है? इंद्रिय पचा रही है। पता ही नहीं चलता, कौन पचा रहा है! कौन इस रोटी को खून बना रहा है! मिरेकल घट रहा है पेट के भीतर।
अभी वैज्ञानिक फिलहाल समर्थ नहीं हैं। कहते हैं कि शायद अभी और काफी समय लगेगा, तब हम रोटी से सीधा खून बना सकेंगे। आपका पेट कर ही रहा है वह काम बिना किसी बड़े आइंस्टीन की बुद्धि के। इंद्रिय कुछ आइंस्टीन से कम बुद्धिमान मालूम नहीं पड़ती! प्रकृति कुछ कम रहस्यपूर्ण नहीं मालूम पड़ती। वैज्ञानिक कहते हैं, और अगर हम किसी दिन रोटी से खून बनाने में समर्थ
भी हो गए, तो एक आदमी का पेट जो काम करता है, उतना काम करने के लिए कम से कम एक वर्ग मील जमीन पर फैक्टरी बनानी पड़ेगी! एक पेट में जो काम चलता है, एक वर्ग मील का भारी कारखाना होगा, तब कहीं हम रोटी को खून तक ले जा सकते हैं। वह भी अभी सूत्र साफ नहीं हो सके। लेकिन आप रोज कर रहे हैं। कौन कर रहा है? आप कर रहे हैं? आप तो सो जाते हैं रात, तब भी होता रहता है। आप शराब पीकर नाली में पड़े रहते हैं, तब भी होता रहता है।
मैं एक स्त्री को देखने गया, वह नौ महीने से बेहोश थी, कोमा में पड़ी है। और डाक्टर कहते हैं, अब कभी होश में नहीं आएगी। चार साल तक बेहोश रह सकती है और बेहोशी में ही मर जाएगी। लेकिन बराबर ग्लूकोज दिया जा रहा है, दूध पिलाया जा रहा है, पेट पचा रहा है; वह नौ महीने से बेहोश है। शरीर खून बना रहा है। सांस चल रही है। कौन ले रहा है? यह काम कौन कर रहा है? आप? तो वह औरत तो बेहोश पड़ी है; वह तो है ही नहीं अब एक अर्थ में। प्रकृति किए चली जा रही है!
इंद्रियां प्रकृति के हाथ हैं, हमारे भीतर फैले हुए। इंद्रियां प्रकृति के हाथ हैं, हमारे द्वारा बाहर के आकाश और जगत तक फैले हुए। इंद्रियां प्रकृति का यंत्र हैं, वे अपना काम कर रही हैं, भूलकर उनसे अपने को न जोड़ें। जो इंद्रियों से अपने को जोड़ता है, वह अज्ञानी है। जो इंद्रियों से अपने को अलग देख लेता है, वह ज्ञानी है।

प्रश्नः भगवान श्री, कल आपने अंतर्मुखी व बहिर्मुखी व्यक्तित्व की सविस्तार चर्चा की। इस संबंध में एक बात और स्पष्ट करना है। किसी का अंतर्मुखी होना अथवा किसी का बहिर्मुखी होना, इसके क्या मौलिक आधार व कारण हैं? और क्या बहिर्मुखता या अंतर्मुखता अपरिवर्तनीय है? स्वतः कृष्ण अंतर्मुखी हैं या बहिर्मुखी?

जो भी हम हैं, जहां भी हम हैं, जैसे भी हम हैं, वह हमारे अनंत जन्मों की यात्राओं का इकट्ठा जोड़ है। अनंत संस्कार का जोड़ है। बहिर्मुखी हैं तो, अंतर्मुखी हैं तो। जो हमने किया है--अंतहीन आवर्तन लिए हैं जीवन के--जो हमने किया है, उस सबका इकट्ठा रूप ही हमारा आज का होना है।
उदाहरण के लिए, कल आपने दिन में आठ दफे क्रोध किया। आठ बार क्रोधित हुए, नाराज हुए, आग से भर गए, आंखें खून से भर गईं। मैं भी कल था; कल मैंने आठ बार क्रोध नहीं किया। हम दोनों रात साथ-साथ सोए। एक ही कमरे में सोए। लेकिन मेरे सपने अलग होंगे, आपके सपने अलग होंगे। कमरा एक होगा। बिस्तर एक जैसा हो सकता है। सब एक जैसा है। मेरे सपने अलग होंगे, आपके सपने अलग होंगे। क्योंकि आठ बार दिन में क्रोध किया, सपनों में जुड़ेगा। नहीं किया आठ बार, सपनों में घटेगा।
फिर हम दोनों सुबह उठे। मैंने पाया कि मेरी चाय आने में थोड़ी देर हो गई। आपने भी पाया कि चाय आने में थोड़ी देर हो गई। तो हम दोनों की प्रतिक्रियाएं अलग होंगी। जिसने कल आठ बार क्रोध किया है, वह आज फिर सुबह तैयार उठ रहा है। फिर संभावना बहुत है कि वह तत्काल क्रोध कर ले। जिसने कल आठ बार क्रोध नहीं किया, उसकी संभावना है कि वह क्रोध का कोई मौका आए, तो छोड़ जाए, बच जाए, वंचित रह जाए।
एक-एक व्यक्ति अपने जीवन में जो भी कर रहा है--इस जीवन में तो ही, पिछले जीवनों में भी--उन सबका जोड़ है।

बहिर्मुखी का अर्थ है, ऐसा व्यक्ति, जिसने निरंतर बहिर्मुखता को साधा है। निरंतर! धन खोजा कभी, कभी यश खोजा, कभी वासना, और चक्कर लेता रहा उन्हीं के। तो धीरे-धीरे, धीरे-धीरे मन की वह जो अंतर्मुखता की धारणा है, वह क्षीण होती चली जाती है। और अंतर्मुखी जो द्वार है, वह निरंतर बंद रहने से जंग खा जाता है। फिर उसे एकदम से खोला नहीं जा सकता। जैसे घर में कोई एक दरवाजे को दो-चार-दस साल बंद रखे, तो फिर एकदम से खोलना मुश्किल हो जाए। वह चूं- चर्राहट करे, बहुत आवाज करे; मुश्किल पड़े; तोड़ना पड़े। लेकिन जिस दरवाजे को हम रोज खोलते हैं, वह भी बीस साल पुराना होगा, लेकिन वह खुलने में सुगमता पाता है। जो हम करते रहते हैं निरंतर, वह सुगम हो जाता है।
हम सभी बहिर्मुख जीवन में जीते हैं। सारी शिक्षा, सारा समाज, परिवार, जगत बहिर्मुखी होने के लिए तैयारी करवाता है। एक-एक बच्चे को हम तैयार करते हैं, शिक्षा देते हैं। ध्यान की कभी नहीं देते, प्रतियोगिता की देते हैं, कांपिटीशन की देते हैं; एंबीशन, महत्वाकांक्षा की देते हैं। शांति की कभी नहीं देते, मौन की कभी नहीं देते, शब्द की जरूर देते हैं। शब्द सिखाते हैं हम हर बच्चे को, मौन किसी बच्चे को नहीं सिखाते। और शब्द में जो जितना कुशल हो जाए, संभव है कि उतना सफल हो जाए। मौन जो रह जाए, हो सकता है जिंदगी में हार जाए, असफल हो जाए।
पूरी जिंदगी हम बाहर की तरफ जीते हैं। सारा शिक्षण, सारी सफलता, सारा इंतजाम जगत का बहिर्मुखी है। और हम उसमें ही दौड़ते चले जाते हैं। बच्चे आते हैं, हम पागलों की दौड़ में हम उनको भी सम्मिलित कर लेते हैं। जैसे किसी पागलखाने में हम एक बच्चे को भेज दें। बहुत संभावना है कि बच्चा पागल हो जाएगा। पागलों के साथ रहेगा, पागल अपने ढंग सिखा देंगे। और अगर बच्चे न सीखें ढंग, तो मां-बाप नाराज होते हैं कि हम तुम्हें अपने ढंग सिखा रहे हैं और तुम सीखते नहीं! और मां-बाप कभी नहीं सोचते कि उनके ढंग से वे खुद कहां पहुंचे हैं! कहीं नहीं पहुंचे हैं। लेकिन बड़ा आग्रह है कि अपने ढंग बच्चों पर थोप दें।
सब पीढ़ियां अपने बच्चों को बहिर्मुखी कर जाती हैं। और बच्चे भी पिछले जन्म से बहिर्मुखी होकर आते हैं। ध्यान रहे, जो बच्चा आपके घर में पैदा होता है, वह थोड़ी ही देर पहले बूढ़ा रह चुका है। एकदम बच्चा तो इस जमीन पर कोई पैदा होता नहीं। बूढ़े पैदा होते हैं। वह तो बहिर्मुखी होने की सारी यात्रा लेकर आ ही रहे हैं। फिर दुबारा चारों तरफ से दबाव पड़ता है उनके बहिर्मुखी होने का। ऐसा जन्मों-जन्मों तक चलता है।
इस जन्मों-जन्मों की यात्रा में अगर धीरे-धीरे सौ में से निन्यानबे आदमी बहिर्मुखी हो जाते हैं, तो आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि कुछ लोग फिर भी अंतर्मुखी रह जाते हैं, हमारी सारी व्यवस्था के बावजूद, हमारे बावजूद! हमारे सारे इंतजाम को तोड़कर भी कुछ लोग भाग निकलते हैं।
यह बहिर्मुखता जीवन में उपयोगी है, इसलिए हम सीख लेते हैं; युटिलिटेरियन है। अंतर्मुखी आदमी जीवन में असफल हो जाता है। आप जानते हैं, हम अंतर्मुखी आदमी को कहते हैं, बुद्धू। लेकिन कभी समझा आपने, सोचा कि यह बुद्धू शब्द जो है बुद्ध से बना है!
असल में जब पहली दफा बुद्ध बैठ गए सब घर-द्वार छोड़कर, तो जो बुद्धिमान
थे गांव में, उन्होंने कहा, बुद्धू निकला! बुद्ध को। क्योंकि बुद्धूपन तो था ही हम सबकी आंखों में, हम सबकी दुनिया में, हिसाब में। सुंदर स्त्रियां थीं, जैसी कि किसी आदमी को शायद ही कभी मिली हों। छोड़कर भाग गया! यह आदमी बुद्धू है। साम्राज्य था। हम जिंदगीभर खोजते हैं, और नहीं पाते। नाक रगड़ते रहते हैं पत्थरों पर और नहीं पहुंच पाते। और इस आदमी को जन्म से मिला था साम्राज्य। सिंहासन पर बैठने का क्षण आता था और भाग खड़ा हुआ! बुद्धू है।
बुद्ध को तो सीधा सामने किसी ने भी नहीं कहा होगा। लेकिन जब कोई और आदमी बुद्ध की तरह झाड़ के नीचे हाथ बांधकर बैठने लगा, तो उन्होंने कहा, यह भी बुद्धू हुआ; यह भी बुद्ध जैसा हुआ!

यह जो हमारा जगत है, वहां केवल बहिर्मुखता उपयोगी मालूम पड़ती है, अंतर्मुखी का कोई मूल्य नहीं है। कोई मूल्य नहीं है। लेकिन जीवन की गहराइयों में अंतर्मुखता का ही मूल्य है।
बुद्धू हम जिनको कहते हैं, वे हमको बुद्धू मानते हैं। बुद्ध से हम पूछने जाएंगे, तो वे हम को अज्ञानी मानते हैं। वे मानते हैं कि तुम सब नासमझ हो। क्योंकि तुम जो कर रहे हो, उससे कहीं पहुंचोगे नहीं। और जिन चीजों में तुम मूल्य देख रहे हो, उनमें कोई भी मूल्य नहीं है। अगर हार गए, तब तो हारोगे ही; अगर जीत गए, तो भी मुश्किल में पड़ोगे।
जिंदगी बहुत कंपनसेशन करती है, बहुत हैरानी के। जो लोग जिंदगी में असफल रहते हैं, उनको जिंदगी में तकलीफ होती है। असफलता की पीड़ा, अहंकार को चोट लगती है। जो लोग सफल हो जाते हैं, उनको मरते वक्त भारी पीड़ा होती है। बराबर हो जाता है दोनों का पलड़ा। मरते वक्त सफल आदमी को भारी पीड़ा होती है कि सब किया-कराया गया!
मैंने सुना है, एक आदमी बड़ा व्यवसायी है। लेकिन धीरे-धीरे कुछ दिन से पता चलता है कि उसका मुनीम पैसे हड़प रहा है। धीरे-धीरे बात पक्की हो गई, प्रमाण हाथ लग गए, तो उस मालिक ने उस मुनीम को एक दिन बुलाया और कहा कि तुम्हारी तनख्वाह कितनी है? उस मुनीम ने कहा कि पंद्रह सौ रुपए महीना। उस मालिक ने कहा, मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं। और आज से तुम्हारी तनख्वाह करते हैं दो हजार। फिर कहा, नहीं-नहीं-नहीं, दो हजार तो कम ही होगा। तुम्हारा काम देखते हुए ढाई हजार करना ठीक होगा। मुनीम तो एकदम हैरानी से खड़ा हो गया। उसने कहा, क्या कह रहे हैं आप! एकदम हजार रुपए की बढ़ती! छाती जोर से धड़कने लगी। मालिक ने कहा कि इतने से तुम खुश हो गए? मैंने तो सोचा था कि तीन हजार... । उस मुनीम ने हाथ पकड़ लिए और कहा, धन्यवाद! मालिक ने कहा कि एक आखिरी बात और कि आज से तुम्हारी नौकरी खतम। उस आदमी ने कहा, आप क्या कह रहे हैं? अगर नौकरी ही खतम करनी थी, तो तीन हजार तक तनख्वाह क्यों बढ़ाई? उस मालिक ने कहा, अब तुम जरा ज्यादा परेशान रहोगे। पंद्रह सौ की नौकरी नहीं छूट रही है, तीन हजार की छूट रही है! अब जाओ।
सफल आदमी मरते वक्त पाता है कि तीन हजार की नौकरी गई। मुश्किल से तो राष्ट्रपति हो पाए थे, वह गया मामला! चपरासी मरते वक्त इतनी तकलीफ नहीं पाता। चपरासी जिंदा में बहुत तकलीफ पाता है, कि सिर्फ चपरासी! राष्ट्रपति मरते वक्त तकलीफ पाता है कि राष्ट्रपति हुए और मरे। तीन हजार तनख्वाह मिली, एंड फायर्ड!
जिंदगी बराबर कर देती है चपरासी और राष्ट्रपति को। चपरासी को जिंदगी में तकलीफ मिल जाती है, राष्ट्रपति को मरने में। अगर हिसाब लगाने जाएं, तो कुछ फर्क नहीं रहता। पलड़े बराबर हो जाते हैं।
बुद्ध जैसा आदमी कहेगा, तुम यह सब पाकर करोगे क्या? आखिर में एकदम हटा दिए जाओगे सबसे। और जो चीज छीन ही ली जानी हैं, उन्हें हम खुद छोड़ देते हैं अपनी मौज से। जो स्त्रियां छिन जाएंगी, जो धन छिन जाएगा, वह हम छोड़ देते हैं अपनी मौज से। हम मालिक हैं अपने। तुम गुलाम हो। तुम तड़पते हुए मरोगे; हम खुशी से जिंदा रहेंगे। और मौत हमसे कुछ भी न छीन पाएगी। मौत हमारे पास आकर थक जाएगी और हार जाएगी और मुश्किल में पड़ जाएगी कि क्या छीनो! क्योंकि हम सब पहले ही दे चुके, जो मौत हमसे ले लेती।
इस पृथ्वी पर बुद्धिमान लोगों ने वह सब खुद ही छोड़ दिया है, जो मौत उनसे छीन लेती है। और जिस व्यक्ति को मौत का ख्याल है, वह अंतर्मुखी हो जाएगा; और जिसको जिंदगी का ख्याल है, वह बहिर्मुखी हो जाएगा। जिंदगी में बहिर्मुखता उपयोगी है। मौत को ध्यान में रखिएगा, तो अंतर्मुखता उपयोगी है।
इसलिए जिन समाजों में मौत का स्मरण रहा है सदा, वे अंतर्मुखी रहे। और जिन समाजों में मौत भुला दी गई, उन समाजों में बहिर्मुखता बढ़ गई।
बुद्ध के पास कोई जाता, तो वे कहते, पहले ध्यान मत करो, पहले मरघट पर तीन महीने रहकर आओ। वह कहता, लेकिन मुझे ध्यान सीधा सिखा दें; मरघट से क्या मतलब है? बुद्ध कहते, जो आदमी मौत के प्रति जागा नहीं, वह अंतर्मुखी, इंट्रोवर्ट नहीं हो सकता। पहले तुम देखकर आओ, जिंदगी का फल क्या है! तब

तुम्हारी बहिर्मुखता टूटेगी। पहले तुम देखो कि जो सफल हुए थे, वे कहां जा रहे हैं! जिन्होंने जिंदगी में सब पा लिया था, आखिर में वे अर्थी पर बंधे हुए मरघट पहुंच जाते हैं। तुम जरा मरघट पर तीन महीने रहकर देख आओ कि बहिर्मुखता का अंतिम परिणाम क्या है! फिर तुम अंतर्मुखी हो सकोगे।
लेकिन हम मौत की बात ही नहीं करते। बच्चों को हम कभी मौत की बात नहीं बताते। अर्थी निकलती हो, तो बच्चों को मां घर में बुला लेती है, भीतर आ जा। बाहर कोई अर्थी निकल रही है! बुद्धिमान मां हो, तो बच्चे को बाहर ले आना चाहिए कि देख, अर्थी निकल रही है। लेकिन तब मुश्किल में पड़ेगी वह। क्योंकि कहीं बच्चा अगर ज्यादा बुद्धिमान हो जाए, तो मुश्किल आ सकती है। बच्चा अगर पूछने लगे, अगर सभी को मर जाना है, तो फिर इस सब दौड़-धूप का क्या फायदा? लेकिन मां-बाप अपने बच्चे के कंधे पर यात्रा करना चाहते हैं लंबी। वह श्रवण के अंधे मां-बाप ने तो तीर्थयात्रा की थी, बाकी सब मां-बाप भी अपने बच्चों पर धन की, यश की यात्रा करना चाहते हैं। सभी अंधे यात्रा करना चाहते हैं। वह कोई श्रवण के मां-बाप करना चाहते थे, ऐसा नहीं। सभी अंधे यात्रा करना चाहते हैं। फिर भी उन्होंने बेचारों ने तीर्थयात्रा की थी। सभी मां-बाप अपने बच्चों के कंधों से यात्रा करना चाहते हैं, इसलिए बच्चा अगर यात्रा करने में सहायता न दें, तो मां-बाप बड़े पीड़ित होते हैं।
एक मेरे मित्र हैं। उनका युवा पुत्र मर गया। पुत्र एक राज्य में मिनिस्टर था। बड़े पीड़ित हुए, बड़े दुखी हुए। मेरे निकट हैं। मैंने उनसे पूछा, इतनी पीड़ा, इतना दुख, बात क्या है? कहने लगे कि अगली बार उसके चीफ मिनिस्टर हो जाने की बिल्कुल संभावना थी। मैं तो बहुत चौंका। मैंने सोचा भी नहीं था कि गहरे में पीड़ा कहां छिदती है।
चीफ मिनिस्टर हो जाने की संभावना थी! खुद भी होना चाहा है जिंदगीभर उन्होंने; हो नहीं पाए हैं। अब अपने अहंकार को पुत्र के कंधों पर रखकर यात्रा करना चाहते थे। वह हो जाता। वह मर गया। कहने लगे कि अब मैं तो बिल्कुल मरा ही जैसा हो गया हूं। मैंने कहा, अभी दूसरा बेटा है, उस पर कुछ इरादे बांधो! कहे, वह है तो जरूर, लेकिन उतना योग्य नहीं है।
जिस दिन उनके घर गया, पुत्र मर गया है, लेकिन वे सब तारों की गड्डी पास में लिए बैठे हैं! जब मैं उनके घर गया सांत्वना प्रकट करने कि न हों परेशान, तो गड्डी उन्होंने सरका दी। कहा कि देखें, राष्ट्रपति का भी तार आया, प्रधान मंत्री का भी तार आया। लड़के का मरना, आंसू बह रहे हैं। लेकिन राष्ट्रपति का तार आया है, उसकी चमक भी है आंखों में। आदमी का मन!
बाप बेटों पर यात्रा करना चाहते हैं। जो खुद नहीं कर पाए, अनफुलफिल्ड ड्रीम्स, अधूरे रह गए, अतृप्त सपने बच्चों पर पूरा करना चाहते हैं। तो इसलिए वे उनको बहिर्मुखी बनाएंगे ही; वे उनको छोड़ नहीं सकते। अंतर्मुखी वे हो जाएं, तो कठिनाई हो जाएगी।
जिंदगी का ख्याल रखा, तो जिंदगी में उपयोगिता बहिर्मुखता की है। अगर मृत्यु का स्मरण रखा, तो उपयोगिता अंतर्मुखता की है। और ध्यान रखें, जिंदगी तो चली जाएगी; मृत्यु बहुत थिर और स्थायी है। और जिंदगी का आखिरी पड़ाव मौत है। जो आखिरी पड़ाव को सम्हाल लेता है, वही आगे की यात्रा को सम्हालता है। और जो यहां बीच की व्यर्थ की बातों को सम्हाल रहा है, वह कुछ सम्हाल नहीं पाता, सिर्फ समय को खोता है। इसलिए हम बहिर्मुखी हो जाते हैं। लेकिन जो बहिर्मुखी है, आज अगर हम उसे चाहें कि वह अंतर्मुखी हो जाए,
तो बहुत कठिन है। जन्मों की यात्रा है उसकी बहिर्मुखता की। अगर हम कहें कि तू अंतर्मुखी हो जा, तो वह कहेगा कि असंभव मालूम होता है। फिर अगले जन्म तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन अगले जन्म में भी वह अंतर्मुखी हो नहीं पाएगा। क्योंकि इस जिंदगी का और जुड़ जाएगा बहिर्मुखता की यात्रा का हिस्सा। वह और भी बहिर्मुखी हो जाएगा।
इसलिए कोई जरूरत नहीं है कि बहिर्मुखी अंतर्मुखी हो, तभी धार्मिक हो सके। बहिर्मुखी बहिर्मुखी रहते हुए धार्मिक हो सकता है। उसकी धर्म की साधना में भेद होंगे। वही भेद कृष्ण स्पष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, भेद यही है कि बहिर्मुखी कर्म को छोड़ नहीं सकेगा। कर्म को करे, फल को छोड़ दे। कर्म में दौड़े, फल को छोड़ दे। कर्म करे, कर्ता को भुला दे। बहिर्मुखी रहे,

लेकिन इस बहिर्मुखी यात्रा को भी धन से हटाकर धर्म पर लगा दे। पदार्थ से हटाकर परमात्मा पर लगा दे। पद से हटाकर परमपद पर लगा दे। इतना करे। धीरे- धीरे वहीं पहुंच जाएगा, जहां अंतर्मुखी पहुंचता है।
अंतर्मुखी का मार्ग अलग होगा। यह बदलाहट कठिन है। लेकिन कभी-कभी बदलाहट होती है। असंभव नहीं है। मैंने कहा, साधारणतः बहिर्मुखी अंतर्मुखी नहीं बनाया जा सकता। अंतर्मुखी बहिर्मुखी नहीं बनाया जा सकता। लेकिन कभी-कभी बदलाहट होती है।
बदलाहट दो कारणों से होती है। या तो कोई इतना बहिर्मुखी हो कि उसके जीवन में अंतर्मुखता न के बराबर, शून्य शेष रह जाए। सिर्फ बहिर्मुखी ही हो जाए। धन ही धन, धन ही धन; मकान, धन, दौलत, यश, इसी-इसी में डूब जाए। इतना डूब जाए, और उसी डूबे में कोई इतना बड़ा धक्का, कोई इतना बड़ा शॉक आ जाए कि सब छितर-बितर हो जाए, तो एकदम से कनवर्शन होता है। इतना बड़ा धक्का आए कि उसके बाहर के बनाए हुए सारे महल ताश के पत्तों की तरह एकदम गिर जाएं। सब राख हो जाए। इतने बड़े धक्के में संभावना है कि वह एकदम लौट जाए।
लेकिन अगर छोटा-मोटा बहिर्मुखी होगा, तो नहीं लौटेगा। आखिरी एक्सट्रीम पर गया हुआ बहिर्मुखी होगा, तो लौट सकता है। अंत पर पहुंच गया हो, जो भी पाने जैसा था पा लिया हो, और फिर सब जमीन पर गिरकर मिट्टी में मिल जाए। तो ऐसा आदमी--अब आगे तो कोई उपाय बचता नहीं--पीछे लौट जाता है।
लेकिन अगर पूरा बहिर्मुखी न हो, पचहत्तर परसेंट हो, तो अभी पच्चीस परसेंट आगे यात्रा बाकी रहती है। वह सोचता है, कोई बात नहीं। इस मध्यावधि चुनाव में नहीं आए, कोई फिक्र नहीं। डेढ़ साल और रुक जाओ। और रुक जाओ, डेढ़ साल और प्रतीक्षा करो। फिर एक दांव लगाया जाए। अभी मोरारजी तक नहीं थके हैं। अभी डेढ़ साल के बाद दांव लगाने की आकांक्षा है! बहिर्मुखता अगर पूरी हो, तो भी किसी बड़ी दुर्घटना के क्षण में--दुर्घटना के क्षण में--व्यक्ति सब छोड़ देता है, कि ठीक है, जाने दो। मिट्टी हो गया जो किया। ठीक उलटे पर लौट जाता है।
इसलिए कभी कोई वाल्मीकि गहन पाप करते-करते क्षणभर में संत हो जाता है। बहिर्मुखी है पूरा; अंतर्मुखी हो जाता है। एक गहन घटना घट गई, एक बहुत बड़ा शॉक, जो सोचा भी नहीं था। वाल्मीकि को ख्याल न था। वाल्मीकि तो बाद में हुए। तब तो उनका नाम बाल्या भील था। काम था, डकैती, हत्या।
एक साधु को लूट लिया। पर उस साधु ने कहा कि तुम इतना उपद्रव, इतनी लूट-खसोट, यह सब करते हो। किसके लिए? मुझे मारना जरूर। रस्सी से बांधकर एक वृक्ष से कस दिया। कहा, मारना जरूर। लेकिन इतना जवाब तो दे दो! क्योंकि मेरा तो काम पूरा हो गया, साधु ने कहा, मेरे मरने से कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन इतना तो बता दो कि यह करते किसलिए हो? उसने कहा, अपने घर वालों के लिए। तो उस साधु ने कहा, मुझे यहां बांध जाओ और जरा घर वालों से पूछकर आओ कि इस हत्या का जो फल होगा, उसके लिए वे बंटाने को राजी हैं? भागीदार होंगे? आदमी शांत और सीधा मालूम पड़ता था। मरने को तैयार था। भागता नहीं था। सीधा बंधकर खड़ा हो गया था। बाल्या ने सोचा, पूछ लूं। हर्ज क्या है! लौटकर घर जाकर पत्नी से पूछा कि मैं इतनी हत्याएं करता हूं, इतने डाके डालता हूं। कल अगर इसके फल में मुझे नर्क जाना पड़े, तो कौन-कौन मेरे साथ चलेगा? पत्नी ने कहा, यह तुम जानो। यह तुम्हारा काम! इससे हमारा क्या लेना-देना? हमें तो तुम पत्नी बनाकर घर ले आए हो। दो रोटी दे देते हो, काफी है। तुम कहां से रोटी लाते हो, यह तुम जानो। तुम कैसे रोटी लाते हो, यह तुम्हारा काम है। पिता से पूछा। पिता ने कहा कि मुझ बूढ़े को क्यों फंसाते हो? तुम्हारा काम, तुम जानो! बूढ़ा आदमी हूं, मुझे दो रोटी देते हो, इतना तुम्हारा कर्तव्य है बेटे होने की तरह।
सारा भवन गिर गया उसका। सारी हत्याएं आंख के सामने खड़ी हो गईं, सारे डाके। जिनके लिए किए थे, वे भागीदार बनने को राजी नहीं हैं! लौट पड़ा। आदमी बदल गया। कोई सोच नहीं सकता था, इस डकैत और लुटेरे से रामायण का जन्म होगा। लौट गया बिल्कुल। बात ही खतम हो गई। वह जिस साधु से उसको संदेश मिला था, वह साधु तो पीछे पड़ गया होगा, वाल्मीकि और भी आगे निकल गया।

क्या हुआ? एक दुर्घटना। एक ऐसा धक्का, जिसमें सारा मकान जिस बुनियाद
पर खड़ा था, वह ढह गया। कभी ऐसा कनवर्शन... ।
इसी को मैं कनवर्शन कहता हूं। हिंदू मुसलमान हो जाए, इसको मैं कनवर्शन नहीं कहता। यह निपट नासमझी है। ईसाई हिंदू हो जाए, यह पागलपन है। इसमें कोई मतलब नहीं है। ये सब पोलिटिकल स्टंट हैं कि कोई हिंदू को ईसाई बनाता रहे; कोई ईसाई को हिंदू बनाता रहे। कोई आर्यसमाजी किसी को शुद्ध करे; कोई किसी को अशुद्ध करे। यह सब पागलपन है।
एक ही कनवर्शन है, और वह कनवर्शन है, संसार से चित्त हट जाए और परमात्मा की तरफ चला जाए। एक ही रूपांतरण है, और कोई रूपांतरण नहीं है। ऐसे क्षणों में कभी होता है कि बहिर्मुखी एकदम अंतर्मुखी हो जाता है।
लेकिन यह कभी-कभी होता है। मुश्किल से होता है। इसका हिसाब नहीं रखना चाहिए। यह एक्सेप्शनल है, अपवाद है। इसको नियम नहीं बनाना चाहिए। नियम तो यही है कि आप जो हैं, उसका ही उपयोग करके धर्म की यात्रा पर निकलें।
प्रतीक्षा न करें कि अंतर्मुखी हो जाएंगे, तब।
इसमें एक-दो बातें और ख्याल में ले लें।
साधारणतः आदमी बीच में होते हैं, न पूरे अंतर्मुखी होते हैं, न पूरे बहिर्मुखी होते हैं; मीडियाकर होते हैं। इनकी बड़ी तकलीफ होती है। इनकी जिंदगी में सब कुछ कुनकुना, ल्यूकवार्म होता है। न तो इतना उबलता कि भाप बन जाए, न इतना ठंडा होता कि बर्फ बन जाए। बस कुनकुना रहता है! दोनों तरफ यात्रा हो सकती है। पानी बहुत ठंडा हो जाए, तो बर्फ हो जाता है; पानी नहीं रह जाता। उबल जाए, भाप बन जाए, तो फिर पानी नहीं रह जाता। लेकिन कुनकुना बना रहे--न इधर, न उधर--वह पानी ही बना रहता है। न कभी वह सौ डिग्री तक पहुंचता है कि भाप बनकर उड़ जाए आकाश में। न कभी वह इतने शून्य डिग्री के नीचे पहुंचता है कि जमकर पानी बर्फ हो जाए।
अंतर्मुखता भी एक छोर है, बहिर्मुखता दूसरा छोर है। दोनों छोरों में
से कहीं से भी छलांग लग सकती है। लेकिन बीच में से कहीं छलांग नहीं लग सकती। इसलिए बीच के लोग सबसे ज्यादा तकलीफ में पड़ जाते हैं। फिर भी बीच में भी बहुत कम लोग हैं, न के बराबर। और जिसकी समझ में आ जाए कि मैं बीच में हूं, उसे भी देखना चाहिए कि उसका झुकाव क्या है। अगर बहिर्मुखता का है, तो ठीक है। अंतर्मुखता का है, तो ठीक है। और अपनी नियति और अपने व्यक्तित्व को, अपने साइकोलाजिकल टाइप को ठीक से समझकर उसके अनुकूल साधना पद्धति को चुन लेना चाहिए।
यहां कृष्ण दो की बात कर रहे हैं, कर्म-संन्यास और कर्म-त्याग। इन दो में से कोई भी एक चुन लेना चाहिए। क्या चुनते हैं, इससे फर्क नहीं पड़ता। कहां पहुंचते हैं, असली सवाल यही है।

प्रश्नः कृष्ण का व्यक्तित्व?

हां, पूछते हैं, कृष्ण का व्यक्तित्व कैसा है? यह थोड़ा कठिन है। यह थोड़ा कठिन इसलिए है कि कृष्ण के पास व्यक्तित्व नहीं है। इसलिए कठिन है। जो पहुंच जाता है, उसके पास व्यक्तित्व खो जाता है। व्यक्तित्व उनके पास होते हैं, जो यात्रा में हैं। मंजिल पर व्यक्तित्व नहीं होते। मंजिल पर तो परमात्मा ही बचता है। व्यक्तित्व यात्रा में होते हैं। जैसे वाहन! मैं बैलगाड़ी पर बैठा हूं, आप हवाई जहाज पर बैठे हैं, कोई रेलगाड़ी में बैठा है, कोई मोटरगाड़ी में बैठा है। ये वाहन तो यात्रा में होते हैं। मंजिल पर पहुंचे कि वाहन से उतर जाता है आदमी। फिर न हवाई जहाज में होते हैं आप, न बैलगाड़ी में होते हैं। बैलगाड़ी भी गई, हवाई जहाज भी गया, मंजिल आ गई। कृष्ण जैसे लोग मंजिल पर खड़े हुए लोग हैं। ये व्यक्तित्व से उतर गए। व्यक्तित्व गया। उसी व्यक्ति को हम अवतार कहते हैं, जिसका व्यक्तित्व नहीं है। इसको समझ लें। उसी व्यक्ति को अवतार कहते हैं, जिसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। जब अपना व्यक्तित्व नहीं होता, तभी तो परमात्मा प्रकट होता है। जब तक अपना व्यक्तित्व होता है, तब तक प्रकट नहीं होता।

कृष्ण तो बांसुरी की तरह हैं। अपना कोई स्वर नहीं है। परमात्मा जो बजा दे, वही। बांसुरी को कुछ गाना नहीं है। बांसुरी के पास अपना गीत गाने को नहीं है। बांसुरी तो पोली है, बांस का टुकड़ा है पोला। बस, परमात्मा जो बजा दे, वही बज जाएगा। कृष्ण जैसे व्यक्ति इसीलिए अवतार हैं, व्यक्ति नहीं हैं। पर्सनैलिटी गई। शून्य की भांति हैं खाली, रिक्त। अपना कुछ भी नहीं बचा। अब तो परमात्मा जो करवा ले। इसलिए कृष्ण के पास व्यक्तित्व नहीं है, न बहिर्मुखी, न अंतर्मुखी। कृष्ण के पास व्यक्तित्व ही नहीं है।
इसमें एक ख्याल और ले लें।
महावीर भी जब ज्ञान को उपलब्ध हो जाते हैं, तो उनके पास कोई व्यक्तित्व नहीं बचता। बुद्ध भी जब ज्ञान को उपलब्ध हो जाते हैं, तो उनके पास भी कोई व्यक्तित्व नहीं बचता। लेकिन महावीर की जो साधना पद्धति है, उस साधना पद्धति के कारण एक व्यक्तित्व हमें मालूम पड़ता है। उनका कोई व्यक्तित्व बचता नहीं, लेकिन साधना पद्धति का एक व्यक्तित्व हमें मालूम पड़ता है। बुद्ध का भी एक व्यक्तित्व मालूम पड़ता है। उनकी भी एक साधना पद्धति है।
कृष्ण इस मामले में बहुत विशिष्ट हैं। उनकी एक साधना पद्धति नहीं है।
वे समस्त साधना पद्धतियों की बात करते हैं। इसलिए उनका कोई व्यक्तित्व भी मालूम नहीं पड़ता। इसलिए कृष्ण को कोई जैसा चाहे, वैसा देख ले सकता है। भागवतकार कुछ और अर्थों में देखते हैं कृष्ण को; कवि कुछ और अर्थों में देखते हैं। केशव से पूछें, तो कुछ और कहेगा। सूर से पूछें, तो कुछ और कहेंगे। गीता के कृष्ण कुछ और मालूम होते हैं, भागवत के कुछ और मालूम होते हैं! हजार तरह की बातें उनके व्यक्तित्व से झलकती हैं। शून्य हैं। कोई एक साधना की पद्धति नहीं है।
इसीलिए राम को हमने कभी पूर्णावतार नहीं कहा। क्योंकि राम की एक विशिष्ट साधना पद्धति है, जीवन की एक व्यवस्था है। वह व्यवस्था ही उनका व्यक्तित्व मालूम पड़ती है। वे हमारे जगत से संबंधित होते हैं एक विशेष व्यक्तित्व को बीच में लेकर। कृष्ण हमसे सीधे संबंधित हैं; कोई व्यक्तित्व नहीं है। नग्न! कोई वस्त्र साथ में नहीं है। कोई मर्यादा नहीं, कोई सीमा नहीं।
इसलिए इस देश में हमने किसी को पूर्ण अवतार नहीं कहा सिवाय कृष्ण के। उसका कारण है। पूर्ण प्रकट हो रहा है उनसे। व्यक्तित्व से सदा अपूर्ण प्रकट होता है, चुना हुआ प्रकट होता है।
खतरे हैं पूर्ण प्रकट करने में। खतरा सबसे बड़ा तो यह है कि बहुत मिसअंडरस्टैंडिंग पैदा होगी। महावीर के संबंध में इतनी गलतफहमी नहीं हो सकती, क्योंकि उनकी रूप-रेखा साफ है। वे जो कहते हैं, वह एक साधना है। बुद्ध के संबंध में भ्रांति नहीं हो सकती, वे एक साधना हैं।
राम के संबंध में भ्रांति नहीं हो सकती; बात साफ है। राम प्रेडिक्टेबल हैं। अगर हमें पता भी न हो, अगर रामायण का एक पन्ना खो जाए, बिल्कुल खो जाए, तो उस पन्ने को हम फिर से लिख सकते हैं। आगे के पन्ने और पीछे के पन्ने बता देंगे कि इस आदमी ने बीच में क्या किया होगा। प्रेडिक्टेबल है। अगर रामायण का एक अध्याय खतम हो जाए, तो फिर से लिखा जा सकता है; इसमें अड़चन नहीं आएगी। क्योंकि राम का व्यक्तित्व एक लीक में बंधा हुआ है, सीधा है। हम जानते हैं कि दो और दो चार हुए हैं, इतना सीधा है। लेकिन कृष्ण के मामले में तय नहीं है। अगर एक अध्याय खो जाए, तो उसको दुबारा नहीं लिखा जा सकता, जब तक कृष्ण फिर से पैदा न हों। उसको कोई पूरा नहीं कर सकेगा। क्योंकि कुछ नहीं कहा जा सकता, यह आदमी क्या करेगा। यह बांसुरी बजाएगा बीच में, कि युद्ध में लड़ेगा, कि सखियों के साथ नाचेगा, कि स्त्रियों के कपड़े उठाकर वृक्ष पर चढ़ जाएगा! बीच में क्या करेगा, कुछ पक्का नहीं है। बीच में कुछ भी हो सकता है। अनप्रेडिक्टेबल है।
पूर्ण आदमी सदा ही भविष्यवाणी के बाहर होगा। और इसलिए पूर्ण व्यक्ति
को समझना कठिन होगा। इसलिए कृष्ण को मानने वाले, प्रेम करने वाले बहुत हैं, लेकिन फिर भी कृष्ण को मानने वाले न के बराबर हैं।

कृष्ण को मानना बहुत दुरूह है, बहुत कठिन है। इसलिए जो भी मानता है, वह
भी चुन लेता है। वह भी पूरे कृष्ण को नहीं मानता, वह भी चुनाव कर लेता है। कुछ लोग हैं, जो बाल-कृष्ण को मानते हैं। वे युवा-कृष्ण की बिल्कुल बात ही नहीं करते। वे कहते हैं, हमारे तो बाल-गोपाल भले हैं। क्योंकि वह बाद का कृष्ण खतरनाक मालूम पड़ता है। तो वे तो कहते हैं, छोटा कन्हैया। उससे ही वे अपना काम चला लेते हैं। उनका डर अपना है। क्योंकि बाद में वह जो कृष्ण जवान हो जाता है और जवान होकर जो करता है, वह उनके लिए घबड़ाने वाला है।
अब सूरदास कैसे जवान कृष्ण को मानें! वे तो स्त्रियों को देखकर आंख फोड़ लिए! बड़ी कठिनाई है। कृष्ण और सूर के बीच, जवान कृष्ण और सूर के बीच तालमेल नहीं हो सकता। क्योंकि कहां सूरदास! देखा कि आंख भटकाती है वासना में, फोड़ दो आंख। आंख फोड़ दी! और कहां कृष्ण कि पूरी आंखें नचाकर बांसुरी बजा सकते हैं। और कहां सूरदास, आंख फोड़कर बैठ गए। सूरदास कहेंगे कि बाद का कृष्ण भरोसे का नहीं है। अपना बाल-कृष्ण ठीक है। वह सूरदास की सीमा है। इसलिए बाल-कृष्ण से अपना काम चला लेंगे।
अब अगर कोई केशव को कहे कि बाल-कृष्ण से काम चला लो--दही की मटकी तोड़े,
यह करे, वह करे--वे कहेंगे, उसमें कुछ रस नहीं है। उसमें कोई खास बात नहीं है। केशव के लिए तो युवा कृष्ण, यौवन के पूरे राग-रंग में नाचता हुआ। क्योंकि केशव कहते हैं कि जो परमात्मा राग-रंग में पूरा न नाच सके, वह अभी कमजोर है। अभी उसे भी भय है क्या? आदमी भयभीत हो, समझ में आ जाए। परमात्मा भी भयभीत हो, तो फिर समझ में नहीं आता। वह तो अभय होकर... ।
तो केशव बच्चे कृष्ण को छोड़ देंगे, युवा कृष्ण की कथा के आस-पास उनके
सब गीत रचे जाएंगे। वह जो गीत-गोविंद का रूप होगा, वह युवा का होगा। वह राग-रंग है, युवा काव्य है, सौंदर्य है, संगीत है, वह सब उसमें आएगा।
ये अपने-अपने चुनाव होंगे। और कृष्ण इतने विराट हैं कि पूरा पचाने की हिम्मत न के बराबर होती है। थोड़ा-थोड़ा अपना जितना पच सके, आदमी चुन लेता है।
लेकिन मेरा कहना है, जब भी कोई चुनेगा, तब वह खंड कर देगा। और खंडित कृष्ण का कोई अर्थ नहीं होता। अखंड कृष्ण का ही कुछ अर्थ है। इसलिए मैं कहता हूं कि मानने वाले बहुत हैं, फिर भी मानने वाले न के बराबर हैं। क्योंकि जो पूरे अखंड कृष्ण को जान पाए, वही मान पाएगा, अन्यथा नहीं मान सकता है।
तो कृष्ण का कोई अपना व्यक्तित्व नहीं है। कृष्ण के सब व्यक्तित्व अपने हैं। इसलिए कृष्ण के हमने कितने नाम रखे, ख्याल किया! इतने नाम रखे कृष्ण के, जिसका हिसाब नहीं। जितने नाम हो सकते हैं, सब कृष्ण के रख दिए। क्योंकि इतने आदमी इसमें झलके एक साथ! इतने व्यक्तित्व इसमें दिखाई पड़े। कौन सोच सकता है कि जो आदमी बांसुरी बजाने जैसे कोमल जगत में जीता हो,
वह आदमी चक्र लेकर खड़ा हो जाएगा! कोई सोच नहीं सकता कि जिन अंगुलियों ने बांसुरी बजाई हो, वे हत्या का चक्र भी हाथ ले सकती हैं! ये अंगुलियां बड़ी अजीब हैं! इनका व्यक्तित्व क्या है? बांसुरी बजाने वाली अंगुलियां चक्र हाथ में नहीं ले सकती हैं। सुदर्शन लेकर हत्या का इंतजाम करना, अचूक हत्या का इंतजाम करना, बांसुरी बजाने वाली अंगुलियों का काम नहीं है! इन अंगुलियों का कोई व्यक्तित्व अगर होता, तो यह मुश्किल था।
हम सोच भी नहीं सकते कि बुद्ध या महावीर या जीसस चक्र लेकर खड़े हो जाएंगे। सोच भी नहीं सकते। लेकिन कृष्ण सोचे जा सकते हैं। इनकंसिवेबल हैं, सोचना कठिन पड़ता है, लेकिन वे कर सकते हैं।
यह जो व्यक्ति है, इसके पास अपना कोई निजी व्यक्तित्व नहीं है। इसलिए
इस मुल्क के समझदार लोगों ने इसे पूर्ण अवतार कहा। पूर्ण अवतार इसीलिए कि जिसके पास अपनी कोई धारणा नहीं, जिसके पास अपना कोई वाहन नहीं, जिसके पास अपना कुछ भी नहीं है; पूरा परमात्मा जैसा प्रकट होना चाहे, हो सकता है। जो जरा भी बाधा नहीं देगा।
अगर राम से परमात्मा कहे कि जरा नाचो, तो राम कहेंगे, ठहरिए! यह हमसे न
हो सकेगा। नाचना! तो राम परमात्मा से कहेंगे, सम्हालिए। इतना आगे हम न जा सकेंगे। यह हमसे न होगा। राम परमात्मा में भी चुनाव कर लेंगे। वे कहेंगे,

इतना हम प्रकट कर सकते हैं, इसके आगे हमसे प्रकट न होगा। हमारी सीमा है। लेकिन कृष्ण से कुछ भी कहे, वे राजी हो जाएंगे। राजी क्या, वे देर ही नहीं लगाएंगे। वे नाचने लगेंगे!
यह जो कृष्ण की स्थिति है, यह एक व्यक्तित्व-मुक्त, ट्रांस-पर्सनैलिटी, यह व्यक्तित्व-अतीत उनकी स्थिति है। और इसीलिए उनको हम पूर्ण कह पाए।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सड्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। 10।।
जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की सदृश पाप से लिपायमान नहीं होता।

परमात्मा को समर्पण करके समस्त कर्मों को जीता है जो पुरुष, वह कमल के पत्तों की भांति जल में रहते हुए भी जल से, पाप से लिप्त नहीं होता है। दो-तीन छोटी-सी बातें ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं। पहली बात, परमात्मा को समर्पित कर देता है जो!
हम भी परमात्मा को समर्पित करना चाहते हैं। कभी-कभी करते हैं, लेकिन केवल अपनी असफलताएं! सफलताएं कभी भी नहीं। केवल पराजय, जीत कभी भी नहीं। केवल दुख, सुख कभी भी नहीं।
कोई हार जाता है, तो कहता है, भाग्य। और कोई जीत जाता है, तो कहता है, मैं। कोई टूट जाता है, गिर जाता है, तो कहता है, अवसर, समय। सफल हो जाता है, तो कहता है, मैं। सफलताएं सब मैं को समर्पित कर देते हैं; असफलताएं सब परमात्मा को समर्पित कर देते हैं! दुख आते हैं, तो परमात्मा की तरफ हाथ उठाकर कहते हैं कि क्यों देता है दुख! सुख आते हैं, तो अकड़कर निकलते हैं कि देखा, सुख निर्मित कर लिया!
इसलिए कृष्ण कहते हैं, सब समर्पित कर देता है जो।
समर्पित तो हम भी करते हैं, सब नहीं, चुन-चुनकर समर्पित करते हैं। सब!
कह देता है, हार तेरी, जीत तेरी। कह देता है, तू ही है, मैं नहीं। कह देता है, फल तेरे। न फल आएं, तो निष्फलता तेरी। मेरा कुछ भी नहीं। स्वभावतः, जो इतनी सामर्थ्य दिखा पाएगा... ।
और ध्यान रहे, समर्पण से बड़ी सामर्थ्य नहीं है। समर्पण से बड़ा संकल्प
भी नहीं है। समर्पण कमजोरों की दुनिया की बात नहीं है, समर्पण इस जगत में बड़ी से बड़ी शक्ति की घटना है।
जो कह देता है, सब तेरा, स्वभावतः उसी क्षण बाहर हो जाता है। स्वभावतः, उसी क्षण सारी झंझट के बाहर हो जाता है। फिर छुएगा कैसे! फिर पाप छुएंगे कैसे? जब कर्म ही नहीं छूता, तो पाप कैसे छुएंगे! पुण्य भी नहीं छुएंगे, ध्यान रखना। नहीं तो भूल होती है निरंतर गीता पढ़ने वालों को। वे सोचते हैं कि ऐसे आदमी को पाप नहीं छूते, पुण्य इकट्ठे करता चला जाता है! पुण्य भी नहीं छुएंगे। जिसे पाप नहीं छूते, उसे पुण्य छुएंगे? वह जो कमल का पत्ता होता है; क्या आप सोचते हैं, गंदा पानी उसको नहीं छूता, स्वच्छ पानी छू लेता है? क्या पानी में इत्र डाल देंगे, तो छू लेगा?
नहीं, जब कर्म ही नहीं छूते, तो न पाप छूता है, न पुण्य छूते हैं। कुछ
भी नहीं छूता। वैसा आदमी अस्पर्शित, अनटच्ड जीवन से गुजर जाता है। बस, ठीक कमल के पत्ते की तरह। जल में ही होता है। पूरे समय जल की धार भी उस पर पड़ती है। कभी जल की लहरें छलांग मारकर उसकी छाती पर पड़ जाती हैं। बूंदें चमकने लगती हैं उसकी छाती पर मोतियों की तरह। लेकिन अस्पर्शित; पत्ते को छू नहीं पातीं। पड़ी रहती हैं ऊपर, तो पड़ी रहें। परमात्मा को समर्पित। सागर जाने, सागर की लहरें जानें। जब वापस लेना होगा हवा के झोंकों को, फिर उतर जाएंगी बूंदें। लेकिन पत्ता अस्पर्शित रह जाता है।
ठीक ऐसे ही, जो पुरुष कर देता सब कर्म समर्पित प्रभु को, वह भी अस्पर्शित जीवन में यात्रा करता है। और जिसे न पाप छुएं और न पुण्य, उसकी

ताजगी, उसका क्वांरापन, उसकी वर्जिनिटी... । सच पूछें, तो वही क्वांरा है। जिसे छू जाएं पाप और पुण्य, वह क्वांरा न रहा।
ईसाइयों की कथा है कि जीसस क्वांरी लड़की से पैदा हुए। ईसाई समझाने में बड़ी मुश्किल में पड़ते हैं कि कैसे पैदा हुए होंगे क्वांरी लड़की से! बड़ी मुश्किल में रहे हैं। ईसाइयों को बड़ी कठिनाई आई है कि कैसे समझाएं कि क्वांरी लड़की से पैदा हुए होंगे।
काश! जीसस को समझाने वालों को पता होता कि कर्मों के बाहर कमल के पत्ते की तरह भी रहा जा सकता है। अगर कर्मों के बाहर रहा जा सकता है, तो संभोग के क्षण में भी संभोग के बाहर रहा जा सकता है। अगर संभोग के क्षण में संभोग के बाहर रहा जा सके; वह व्यक्ति कहीं भी संभोग में सम्मिलित न हो, न पुरुष, न स्त्री; संभोग बाहर घटती घटना हो, परमात्मा को समर्पित; तो निश्चित कहना पड़ेगा कि यह बेटा वर्जिन मां का है; क्वांरी मां का बेटा है। और मुझे लगता है कि जीसस क्वांरी मां से ही पैदा हुए होंगे। सच तो यह
है कि जीसस के संबंध में यह बात दुनिया को पता चल गई। कृष्ण भी क्वांरी मां से पैदा होंगे। महावीर और बुद्ध भी क्वांरी मां से पैदा होंगे। क्योंकि इतना पवित्र पुत्र जिस मां से पैदा हो, उस मां को अगर क्वांरापन न हो, तो पैदा हो नहीं सकता।
पर क्वांरेपन का बहुत गहरा अर्थ है--अस्पर्शित, कृत्य के बाहर। कर्म परमात्मा को समर्पित है तब। तब कोई भी व्यक्ति इस जीवन से ऐसे गुजर जाता है, जैसे आया ही न हो। ऐसे गुजर जाता है कि जैसे हवा का झोंका आया और निकल गया। जैसा आया, वैसा ही निकल गया।
यह सूत्र, निष्काम कर्मयोगी हो कोई या कोई कर्म-त्याग के संन्यास में
जी रहा हो, दोनों के लिए सार्थक है। एक ही बात स्मरण रखने की है, सारे कर्म परमात्मा को समर्पित!
वही है धार्मिक, जो कहता है कि करने वाला परमात्मा है। वही है अधार्मिक, जो कहता है, करने वाला मैं हूं। अगर आपने प्रार्थना करने में भी यह कहा कि मैंने प्रार्थना की है, तो आप अधार्मिक हो गए। आपने पूजा करके भी यह कहा कि मैंने पूजा की है, तो आप अधार्मिक हो गए! जहां कृत्य का भाव स्वयं से जुड़ा, अधर्म आ गया। और जहां कृत्य परमात्मा पर छोड़ दिया, वहीं धर्म है। आज इतना ही! फिर कल हम बात करेंगे।
पांच मिनट बैठे रहेंगे, वैसे ही जैसे कमल का पत्ता पानी में बैठा रहता है। थोड़ा इस कीर्तन को इस कीर्तन की लहरों को उछल जाने दें आपके पास। शायद कुछ बूंद पड़ी रह जाएं! बैठे रहें पांच मिनट। इतनी देर बैठे रहे हैं, पांच मिनट जल्दी न करें। कोई एकाध जन बीच में उठता है, दूसरों को तकलीफ होती है।
तो पांच मिनट भजन का आनंद लें, और फिर चुपचाप चले जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
छठवां प्रवचन

अहंकार की छाया है ममत्व

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सड्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। 11।।
इसलिए निष्काम कर्मयोगी ममत्व बुद्धिरहित केवल इंद्रिय, मन, बुद्धि
और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अंतःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

ममत्व बुद्धि को त्यागकर अंतःकरण की शुद्धि के लिए, जो जानते हैं, वे पुरुष शरीर, मन, इंद्रियों से काम करते हैं।
इस संबंध में दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी चाहिए।
एक, मनुष्य ने जो भी किया है अनंत जीवन में, आज तक, इस घड़ी तक, उस कर्म
का एक बड़ा जाल है। और आज ही मैं सब करना बंद कर दूं, तो भी मेरे पिछले अतीत जन्मों के कर्मों का जाल टूट नहीं जाता है। उसका मोमेंटम है। जैसे मैं साइकिल चला रहा हूं। पैडल बंद कर दिए हैं, अब नहीं चला रहा हूं, लेकिन साइकिल चली जा रही है--मोमेंटम है। दो मील से चलाता हुआ आ रहा हूं, साइकिल के चाकों ने गति पकड़ ली है। अगर दो-चार-पांच मिनट मैं बंद भी कर दूं, तो भी साइकिल चलती चली जाती है। फिर अगर उतार हो जीवन में, तब तो मीलों भी चली जा सकती है। चढ़ाव हो, तो जल्दी रुक जाएगी।
और जीवन में हमारे उतार है, चढ़ाव नहीं है। जैसे हम जीते हैं, वह सदा ही उतार में जीते हैं--और नीचे, और नीचे, और नीचे। बच्चे शिखर पर होते हैं, बूढ़े घाटियों में पहुंच जाते हैं। होना नहीं चाहिए। होना चाहिए उलटा, होता यही है। बच्चे एकदम पवित्र सुगंध लेकर आते हैं, बूढ़े सिवाय दुर्गंध के और कुछ भी लेकर जाते हुए मालूम नहीं पड़ते हैं। जिंदगी में हम कमाते कम, लुटते ज्यादा हैं। पाते कम, खोते ज्यादा हैं।
जिंदगी एक उतार है हमारी। रोज हम नीचे उतरते जाते हैं। कल जिसने चोरी
की थी, वह आज और भी ज्यादा चोरी करेगा। कल जो झूठ बोला था, आज वह और भी ज्यादा झूठ बोलेगा। कल जो क्रोधी था, वह आज और क्रोधी हो जाएगा। और रोज यह क्रोध, यह हिंसा, यह घृणा, यह काम, यह वासना, रोज बढ़ते चले जाएंगे। फिर मन एक निश्चित आदत बना लेता है। फिर अपनी आदतों को दोहराए जाता है, बढ़ाए चला जाता है।
हम उतार पर हैं। बच्चे श्रद्धा से भरे होते हैं, बूढ़े चालाकी से भर जाते हैं। बच्चे सरल होते, बूढ़े जटिल हो जाते हैं। जिंदगी के सारे अनुभव उन्हें और गड्ढों में पहुंचा देते हैं।
तो हम उतार पर हैं, एक तो यह बात ख्याल में ले लें। और अनंत जन्मों का हमारे कर्मों का मोमेंटम है, गति है। अगर मैं आज सारे काम बंद भी कर दूं, तो कोई अंतर नहीं पड़ता; मेरा मन फिर भी उतरता चला जाएगा।
इसलिए कृष्ण ने इसमें एक बहुत अदभुत बात कही। उन्होंने कहा है कि ऐसे पुरुष, जो निष्काम कर्म में जीते हैं, वे अपने पिछले कर्मों की जो गति है, उसे काटने के लिए कर्म में रत होते हैं। वह जो उन्होंने गति दी है पिछले जन्मों में अपने कर्मों की, वह जो किया है, उसे अनडन करने के लिए, उसे पोंछ डालने के लिए, कर्म में रत होते हैं।
अगर उन्होंने क्रोध किया है अतीत जन्मों में, तो वे क्षमा के कर्म में
लग जाते हैं। अगर उन्होंने कठोरता और क्रूरता की है, तो वे करुणा के कृत्य में लीन हो जाते हैं। अगर उन्होंने वासना और कामना में ही जीवन को बिताया है अनंत-अनंत बार, तो अब वे सेवा में जीवन को लगा देते हैं। ठीक जो उन्होंने किया है अब तक, उससे बिल्कुल विपरीत, उतार की तरफ जाने वाला नहीं, चढ़ाव की तरफ जाने वाला कर्म वे शुरू कर देते हैं।

लेकिन उसमें भी एक शर्त कृष्ण की है। और वह जिसे ख्याल में न रहेगी, वह भूल में पड़ सकता है। वह शर्त यह है कि ममत्व को छोड़कर! क्योंकि कोई आदमी ममत्व के साथ, और ऊपर की यात्रा करना चाहे, तो गलती में है, यह असंभव है। ममत्व नीचे की यात्रा पर सहयोगी है, ममत्व ऊपर की यात्रा पर बाधा है। कर्म निर्मित करने हों, तो ममत्व कीमिया है, केमिस्ट्री है। उसके बिना कर्म निर्मित नहीं होते। और कर्म काटने हों, तो ममत्व तत्काल ही अलग कर देना जरूरी है, अन्यथा कर्म कटते नहीं।
ममत्व से अर्थ क्या है? ममत्व से अर्थ है, एक तो हूं मैं, जैसे मैं खड़ा
हो जाऊं धूप में, तो एक तो मैं हूं जो खड़ा हूं, और धूप में मेरी एक छाया बनेगी। वह छाया मेरे चारों तरफ, जहां मैं जाऊंगा, घूमती रहेगी। मैं तो ईगो है और ममत्व ईगो की छाया है, अहंकार की छाया है। मैं तो मेरा ख्याल है कि मैं हूं; और मैं अकेला नहीं हो सकता, इसलिए मैं मेरे के एक जाल को फैलाता हूं अपने चारों तरफ।
मेरे के बिना मैं के खड़े होने में बड़ी कठिनाई है। इसलिए मेरे की छाया जितनी बड़ी हो, उतना ही लगता है कि मैं बड़ा हूं। मेरा धन, मेरे मित्र, मेरा परिवार, मेरा मकान, मेरा महल, मेरे पद जितने बड़े हों... ।
मैंने सुना है, एक दिन सुबह-सुबह एक लोमड़ी शिकार के लिए निकली है। चली
है शिकार को। देखा है कि उसकी बड़ी लंबी छाया बनती है। सूरज निकल रहा है पीछे, बड़ी लंबी छाया है! उस लोमड़ी ने अपनी छाया देखी और सोचा, आज तो एक ऊंट शिकार को मिल जाए, तभी काम चलेगा! स्वभावतः, इतनी बड़ी छाया बनती है, तो लोमड़ी छोटी नहीं हो सकती! लोमड़ी के तर्क में कहीं कोई गलती नहीं है। गणित ठीक है। इतनी बड़ी छाया बन रही है कि एक ऊंट मिले शिकार में, तो ही काम चल सकेगा, लोमड़ी ने सोचा।
दिनभर खोजते दोपहर हो गई है। शिकार मिला नहीं। सूरज सिर पर आ गया है। लोमड़ी भूखी है। नीचे की तरफ देखा, छाया बड़ी छोटी बनती है, न के बराबर। उसने कहा, क्या हुआ! क्या भूख में मैं इतनी सिकुड़ गई? अब तो एक चींटी भी मिल जाए, तो शायद काम चल जाए!
लोमड़ी का तर्क ठीक है। हम अपनी छाया से ही सोचते हैं कि हम कितने बड़े हैं। छाया को नाप लेते हैं, सोच लेते हैं कि इतने बड़े हैं। अगर छाया बड़ी है मेरे की--मेरा मकान बड़ा है, तो मैं बड़ा; और अगर मेरा मकान छोटा है, तो मैं छोटा। मेरे धन का ढेर बड़ा है, तो मैं बड़ा; और मेरे धन का ढेर छोटा है, तो मैं छोटा। मुझे नमस्कार करने वाले लोग ज्यादा हैं, तो मैं बड़ा; और मुझे नमस्कार करने वाले लोग थोड़े हैं, तो मैं छोटा! छाया!
और जिंदगी के शुरू में सभी को वही भूल होती है, जो उस लोमड़ी को हुई थी।
जब जिंदगी शुरू होती है, तो हर आदमी सोचता है कि मैं! मेरे जैसा कोई भी नहीं। सारी जमीन भी छोटी पड़ेगी। और जब जिंदगी अंत होने के करीब आती है, तो पता चलता है कि अब तो कुछ भी नहीं रहा, छाया सिकुड़ गई है!
हम छाया को देखकर जीते हैं, इसलिए हम छाया को बढ़ाते रहते हैं, बड़ा करने
की कोशिश में लगे रहते हैं। मेरे का अर्थ है, मैं की छाया, शैडो आफ दि ईगो। मैं तो झूठा है। ध्यान रहे, कोई भी झूठ खड़ा करना हो, तो और पच्चीस झूठ का सहारा लेना पड़ता है। सत्य को खड़ा करना हो, तो सत्य अकेला खड़ा हो जाता है, इंडिपेन्डेंट, स्वतंत्र। कोई झूठ अकेला खड़ा नहीं होता। किसी झूठ को आप अकेला कभी खड़ा नहीं कर सकते; उसको तो बैसाखियां लगानी पड़ती हैं और नए झूठों की।
झूठ को खड़ा करना हो, तो पच्चीस झूठों का जाल खड़ा करना पड़ता है। और ऐसा नहीं है कि बात यहीं समाप्त हो जाती है। वे जो पच्चीस झूठ आपने खड़े किए, प्रत्येक उनमें से एक के लिए भी पच्चीस। और यह इनफिनिट रिग्रेस है। और यह रोज करते रहना पड़ेगा।
मैं बड़ा से बड़ा झूठ है मनुष्य की जिंदगी में। अगर इस अस्तित्व में किसी को मैं कहने का हक हो सकता है न्यायसंगत, तो वह सिवाय परमात्मा के और किसी को नहीं हो सकता है। लेकिन उसने कभी कहा नहीं कि मैं हूं। लोग बहुत दफे चिल्लाकर पूछते हैं, कहां हो तुम? तो भी बोलता नहीं। लोग खोजने भी निकल जाते हैं, पहाड़ की कंदराओं को खोद डालते हैं, नदियों के उदगम तक चले

जाते हैं, सारी जमीन छान डालते हैं, आकाश-पाताल एक कर देते हैं, फिर भी उसका पता नहीं चलता कि कहां है वह!
जिसे अधिकार है कहने का कि कह सके मैं, वह चुप है। और जिन्हें कोई अधिकार नहीं है, वे जिंदगीभर सुबह से सांझ तक बोलते रहते हैं--मैं, मैं, मैं। शायद इसीलिए परमात्मा नहीं बोलता, क्योंकि वह आश्वस्त है कि है। और हम इसीलिए बोलते हैं कि हमें कोई भरोसा नहीं है। बोल-बोलकर भरोसा पैदा करते रहते हैं कि हूं! चौबीस घंटे दोहरा-दोहराकर भरोसा पैदा करते रहते हैं अपने ही मन में, आटोहिप्नोटिक, खुद को सम्मोहित करते रहते हैं कि मैं हूं। इसलिए अगर कोई आपके मैं को जरा-सी भी चोट पहुंचा दे, तो आप तिलमिला उठते हैं। क्योंकि आपका झूठ बिखर सकता है।
इस मैं के बड़े झूठ को खड़ा करने के लिए मेरे का जाल फैलाना पड़ता है, उसको कृष्ण ममत्व कहते हैं। मेरे का जाल।
मैं अकेला खड़ा नहीं रह सकता। अगर आपसे आपका मकान छीन लिया जाए, तो आप
यह मत सोचना कि सिर्फ मकान छिना, आपके मैं की भी दीवालें गिर गई हैं। अगर आपसे आपका धन छीन लिया जाए, तो सिर्फ तिजोड़ी खाली नहीं होती, आप भी खाली हो जाते हैं। आपसे आपका पद छीन लिया जाए, तो पद ही नहीं छिनता, आपके भीतर की अकड़ भी छिन जाती है।
वह मैं मेरे के छिनने से क्षीण होता है। मेरे के बढ़ने से बड़ा होता है।
तो जिसे भी धोखे में रखना है अपने को कि मैं हूं, उसे मेरे को बनाए जाना चाहिए, बढ़ाए जाना चाहिए। और जिसे धोखा तोड़ना हो, उसे ममत्व को छोड़कर देखना चाहिए कि मेरे को छोड़कर मैं बचता हूं?
जिसने मेरे को छोड़ा, वह अचानक पाता है, मैं भी खो गया। और जब तक मैं न
खो जाए, तब तक कर्मों की धारा बंद नहीं होती। और जब तक मेरा न खो जाए और मैं न खो जाए, तब तक ऊर्ध्व यात्रा, ऊपर की यात्रा शुरू नहीं होती। मैं का पत्थर हमारी गर्दन में लटका हुआ हमें नीचे डुबाए चला जाता है।
अहंकार से बड़ा पाप नहीं है। बाकी सारे पाप उसी से पैदा होते हैं। संततियां हैं। मूल अहंकार है। फिर लोभ, और क्रोध, और काम, सब उस अहंकार के आस-पास जन्म लेते चले जाते हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, ममत्व को छोड़ दे जो!
मेरा क्या है? हाथ, जब मैं विदा होंऊगा, बिल्कुल खाली होंगे। और जिसे मैं ले जा न सकूंगा, वह मेरा कैसे है? और जिसे मैं मेरा कह रहा हूं, वह मेरे पहले भी था; मैं उसे लाया नहीं, वह मेरा कैसे है? और जिसे मैं मेरा कह रहा हूं, मुझसे पहले न मालूम कितने लोगों ने उसे मेरा कहा है। वे सब खो गए। वह अभी भी बना है। हम भी खो जाएंगे, वह फिर भी बना रहेगा।
जमीन को हम कहते हैं, मेरी जमीन। उस जमीन ने हमारे जैसे बहुत-से पागल देखे हैं। जिन्होंने मेरे की घोषणा की, लड़े, कटे और मिट्टी में खो गए। वह जमीन हंसती होगी कि दावेदार खोते नहीं! वही पुराना दावा जारी रहता है! कितने लोग दावेदार हो चुके हैं उस जमीन के टुकड़े के, जिसके आप भी दावेदार हैं! कितने लोगों ने नहीं कहा कि मेरा है। फिर वे सब मेरे का दावा करने वाले लोग खो गए; वह जमीन अपनी जगह पड़ी है। वह जमीन हंसती होगी, जब आप अपने घर पर तख्ती लगाते होंगे कि मेरी जमीन, तब जमीन जरूर मुस्कुराती होगी कि फिर कोई पागल आ गया! फिर वही भूल!
इस दुनिया में नई भूलें करने वाले लोग तक खोजना मुश्किल हैं। लोग पुरानी भूलें ही किए चले जाते हैं। नई भूल करना है भी मुश्किल। आदमी सब भूलें कर चुका है; हजारों बार कर चुका है।
कृष्ण कहते हैं, ममत्व छूट जाए, कर्म जारी रहे, तो ऊर्ध्व यात्रा शुरू
हो जाती है। अतीत के कर्म कटते हैं और आदमी ऊपर उठता है।
लेकिन ममत्व बहुत गहरा है। धन का तो है ही, पद का तो है ही; ज्ञान का और त्याग तक का ममत्व होता है। आदमी कहता है, मैं इतना जानता हूं। जानने पर भी मेरे को हावी कर लेता है। हद हो गई! ममत्व अज्ञान का हो, तो समझ में आ सकता है। ज्ञान का भी ममत्व!
इसलिए उपनिषद कहते हैं कि अज्ञानी तो भटकते ही हैं अंधकार में, कभी- कभी ज्ञानी महा अंधकार में भटक जाते हैं। अगर किसी ने ज्ञान पर कहा कि

मेरा, तो वह अज्ञानी से भी लंबी भटकन में पड़ जाएगा। क्योंकि अज्ञानी क्षमा किया जा सकता है; ज्ञानी क्षमा नहीं किया जा सकता।
त्याग को भी लोग कहते हैं, मेरा। आदमी बहुत अदभुत है। एक आदमी कहता है,
धन मेरा; एक आदमी कहता है कि धन मेरा था, अब त्याग मेरा है। मैंने लाख रुपये त्याग कर दिए! अब वह त्याग पर भी मेरे होने का दावा करता है। धन पर कोई दावा करे, समझ में आता है; पागल है। लेकिन त्याग का भी कोई दावा करे, तब तो महा पागल है। एक आदमी कहता है, मेरे पास लाख रुपए हैं। अकड़कर चलता है रास्ते पर। दूसरा आदमी कहता है, मैंने लाख रुपए त्याग कर दिए हैं। वह और भी ज्यादा अकड़कर चलता है रास्ते पर। त्याग भी मेरा! तब लगता है कि आदमी के पागलपन की कोई सीमा नहीं है और अहंकार की तरकीबों का कोई अंत नहीं है। वह कहीं से भी रास्ता खोज लेता है।
इस पृथ्वी पर जो मान ले कि मैं अज्ञानी हूं, समझना कि उसने ज्ञान का बहुत बड़ा कदम उठाया। जो मान ले कि मैं भोगी हूं, समझना कि उसने त्याग का बहुत बड़ा कदम उठाया। क्योंकि यह मान्यता, यह समझ विनम्र कर जाती है और अहंकार को तोड़ती है। लेकिन इस पृथ्वी पर कोई मानने को राजी नहीं है कि मैं अज्ञानी हूं।
मैंने सुना है कि एक ज्ञानी एक चर्च में गया, एक पादरी। और जो भी धर्मशास्त्र पढ़ लेते हैं, वे ज्ञानी हो जाते हैं! ज्ञानी होना बड़ा सरल है! है नहीं, मान लेना बहुत सरल है। उस पादरी को ख्याल है कि मैं जानता हूं। आते ही उसने पहली धाक लोगों पर जमा देनी चाही। उसने खड़े होकर लोगों से कहा कि मैं तुमको समझाऊंगा बाद में, पहले मैं यह पूछ लूं कि तुम में कोई अज्ञानी हो, तो खड़ा हो जाए।
कौन खड़ा होता! लोग एक-दूसरे की तरफ देखने लगे। जैसे मैं आपसे पूछूं कि कोई अज्ञानी हो, तो खड़ा हो जाए। तो जो जिसको अज्ञानी समझता होगा--अपने को छोड़कर ही समझेगा सदा--वह उसकी तरफ देखेगा कि फलां खड़ा हो रहा है कि नहीं? अब तक खड़ा नहीं हुआ! पत्नी पति की तरफ देखेगी, पति पत्नी की तरफ देखेगा; बाप बेटे की तरफ देखेगा, बेटा बाप की तरफ देखेगा कि अभी तक खड़े नहीं हो रहे! कोई खड़ा नहीं होगा।
कोई खड़ा नहीं हुआ। उस पादरी ने कहा, कोई भी अज्ञानी नहीं है? धक्का लगा उसे। क्योंकि वह सोचता था, वह ज्ञानी है। और जब कोई भी खड़ा नहीं होता, तो सभी ज्ञानी हैं! तभी एक डरा हुआ सा आदमी, बहुत दीन-हीन सा आदमी झिझकता हुआ, चुपचाप उठकर खड़ा हो गया। उस पादरी ने कहा, आश्चर्य! चलो, एक आदमी तो अज्ञानी मिला। क्या तुम अपने को अज्ञानी समझते हो? उसने कहा कि नहीं महानुभाव, आपको अकेला खड़ा देखकर मुझे बड़ी शर्म मालूम पड़ती है, इसलिए मैं खड़ा हो गया हूं। आप अकेले ही खड़े हैं! अच्छा नहीं मालूम पड़ता, शिष्टाचार नहीं मालूम पड़ता। आप अजनबी हैं, बाहर से आए हैं। इसलिए मैं खड़ा हो गया हूं, अज्ञानी मैं नहीं हूं।
इस पृथ्वी पर कोई अपने को अज्ञानी मानने को राजी नहीं है। कोई अपने को भोगी मानने को राजी नहीं है। कोई अपने को अहंकारी मानने को राजी नहीं है।
कोई अपने को ममत्व से घिरा है, ऐसा मानने को राजी नहीं है। और सब ऐसे हैं।
और जब बीमारी अस्वीकार की जाए, तो उसे ठीक करना मुश्किल हो जाता है।
बीमारी स्वीकार की जाए, तो उसका इलाज हो सकता है, निदान हो सकता है, चिकित्सा हो सकती है।
देख लेना ठीक से। कृष्ण कहते हैं, ममत्व को छोड़ देता है जो!
पर ममत्व को मानना पहले कि ममत्व है आपकी जिंदगी में, तभी छोड़ सकेंगे।
जो बहुत चालाक हैं, वे कहेंगे, छोड़ना क्या है! ममत्व तो हमारी जिंदगी में है ही नहीं। धोखा पक्का हो गया।
ममत्व है। लगता है, कोई मेरा है--चाहे पत्नी, चाहे पिता, चाहे मां, चाहे बेटा, चाहे मित्र, चाहे शत्रु--मेरा है! शत्रु तक से ममत्व होता है। इसलिए ध्यान रखना, जब शत्रु मरता है, तब भी आप कुछ कम हो जाते हैं, समथिंग लेस। क्योंकि उसकी वजह से भी आपमें कुछ था। वह भी आपको कुछ बल देता था। उसके खिलाफ लड़कर भी कुछ कमाई चलती थी। वह भी आपके ममत्व का हिस्सा था।

ममत्व जो छोड़ दे, फिर भी कर्म में संलग्न हो। इंद्रियों और शरीर के कर्मों को करता चला जाए, इसलिए ताकि पिछले कर्मों की गति कटे और कर्म-बंधन से मुक्ति हो, ऐसे व्यक्ति को कृष्ण निष्काम कर्मयोगी कहते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फलै सक्तो निबध्यते।। 12।।
इसी से निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फल को परमेश्वर के अर्पण करके भगवत प्राप्ति रूप शांति को प्राप्त होता है। और सकामी पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है।

दो ही प्रकार के वर्ग हैं जगत में, दो ही प्रकार के लोग हैं जगत में, सकामी और निष्कामी। आध्यात्मिक अर्थों में दो ही विभाजन हो सकते हैं। वे, जो कर्म में लीन होते हैं तभी, जब फल की आकांक्षा से उत्प्रेरित होते हैं। जब तक फल की आकांक्षा का तेल न मिले, तब तक उनके कर्म की ज्योति जलती नहीं। फ्यूल जो है, वह फल की आकांक्षा से मिलता है। वह जो ईंधन है, उसके बिना उनकी कर्म की अग्नि जलती नहीं। उनके कर्म की अग्नि को जरूरी है कि ईंधन मिले फल की आकांक्षा का।
और ध्यान रहे, फल की आकांक्षा बड़ी गीली चीज है; सूखी चीज नहीं है। होगी
ही गीली। क्योंकि सूखी चीज भविष्य में कभी नहीं होती। सूखी चीज सदा अतीत में होती है। भविष्य में तो गीली आकांक्षाएं होती हैं। हो सकता है, हो भी जाएं; हो सकता है, न भी हों। पता नहीं क्या मार्ग लें, क्या फल आए। कुछ पक्का नहीं होता।
भविष्य बहुत गीला है। गीली लकड़ी की तरह है; मुड़ेगा; मुड़ सकता है। अतीत सूखा होता है, सूखी लकड़ी की तरह; मुड़ नहीं सकता। भविष्य की आकांक्षाओं को जो ईंधन बनाते हैं अपने जीवन की कर्म-अग्नि में, धुएं से भर जाते हैं। गीला है ईंधन। हाथ में फल नहीं लगता है, सिर्फ धुआं लगता है--दुख--आंखों में आंसू भर जाते हैं धुएं से, और कुछ परिणाम नहीं लगता है हाथ में।
एक तो इस तरह के लोग हैं जो कर्म में इंचभर भी न चलेंगे, जब तक फल उनको खींचे न। फल उनको ऐसे ही न खींचे, जैसे कि कोई जानवर की गर्दन में रस्सी बांधकर खींचता है। क्या आपको पता है कि पशु हम जानवर को इसीलिए कहते हैं। पशु संस्कृत का बहुत अदभुत शब्द है। उसका अर्थ है, जिसे खींचना हो, तो गले में पाश बांधना पड़ता है, उसको पशु कहते हैं। जिसे खींचने के लिए पाश बांधना पड़े, वह पशु। इसलिए बहुत पुराने ज्ञानी हमको पशु ही कहेंगे। जो भी भविष्य की आकांक्षा से बंधे हुए चलते हैं, वे पशु हैं।
पशु का मतलब, कर्म से नहीं चलते, फल से बंधे हुए चलते हैं। गर्दन फंसी
है एक जाल में। भविष्य के हाथ में है वह रस्सी। वह खींच रहा है। या तो भविष्य खींचे, तो हम चलते हैं; कोई हमारी गर्दन में रस्सी बांध ले। और या अतीत धक्का दे, तो हम चलते हैं। जैसे कोई जानवर को पीछे से लकड़ी मारे या कोई बाहर से रस्सी खींचे आगे से। या तो कोई पुल करे या पुश करे, तो ही जानवर चले।
तो पुराने ज्ञानी कहते हैं कि वह आदमी पशु है, जो या तो अतीत के कर्मों
के धक्के की वजह से चलता है और या भविष्य की आकांक्षाओं के पाश में बंधकर खिंचता है। वह आदमी नहीं है अभी।
आदमी कौन है? आदमी वह है, जो अतीत के धक्के को भी नहीं मानता और जो भविष्य की आकांक्षा को नहीं मानता, जो वर्तमान के कर्म में जीता है। जो अतीत के धक्के को भी स्वीकार नहीं करता और जो भविष्य के आकर्षण को भी स्वीकार नहीं करता। जो कहता है, मैं तो अभी, यह जो क्षण मिला है, इसमें जीऊंगा।
लेकिन यह जीना तभी संभव है, जब कोई अतीत को और भविष्य को परमात्मा पर समर्पित कर दे। अन्यथा अतीत धक्के मारेगा, अन्यथा भविष्य खींचेगा।
आदमी बहुत कमजोर है। आदमी स्वभावतः बहुत सीमित शक्ति का है। आदमी भविष्य को और अतीत को बिना परमात्मा के सहारे के छोड़ना बहुत मुश्किल पाएगा। लेकिन परमात्मा को समर्पित करके आसान हो जाती है बात। छोड़ देता है

कि जो तेरी मर्जी होगी, कल वह हो जाएगा। अभी जो समय मुझे मिला है, वह मैं काम में लगा देता हूं। और मेरा आनंद इतना ही है कि मैंने काम किया; फल से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है।
आनंद जिसका कर्म बन जाता है! लेकिन तभी बन पाता है, जब कोई प्रभु पर समर्पित करने की सामर्थ्य रखता है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, फल की आकांक्षा को छोड़कर, निष्काम होकर प्रभु को समर्पित कर देता है जो सारा जीवन, वही आनंद को उपलब्ध होता है। कामीजन, सकामीजन कभी आनंद को उपलब्ध नहीं होते। दुख का धुआं ही उनका फलश्रुति है।
लेकिन हम तो अगर मंदिर में परमात्मा पर कुछ समर्पण भी करने जाएं, तो सकाम होते हैं। प्रार्थना भी हम मुफ्त में नहीं करते; प्रार्थना में भी हम कुछ पाना चाहते हैं! हाथ भी जोड़ते हैं परमात्मा को, तो शर्त, कंडीशन होती है। कुछ मिल जाए। जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह मंदिर जाता नहीं। जाता ही तब है कोई, जब उसे कुछ चाहिए।
और ध्यान रहे, जब कोई कुछ मांगने मंदिर जाता है, तो मंदिर पहुंच ही नहीं पाता। मंदिर पहुंच ही नहीं सकता है। मंदिर के द्वार पर ही निष्काम हो जाए जो, वही भीतर प्रवेश कर सकता है।
आप कहेंगे, हम तो मंदिर में रोज प्रवेश कर जाते हैं।
आप मकान में प्रवेश करते हैं, मंदिर में नहीं। मंदिर और मकान में बड़ा फर्क है। जिस मकान में भी आप निष्काम प्रवेश कर जाएं, वह मंदिर हो जाता है। और मंदिर में भी सकाम प्रवेश कर जाएं, वह मकान हो जाता है।
यह आप पर निर्भर करता है कि जहां आप प्रवेश कर रहे हैं, वह मंदिर है या मकान। जिस भूमि पर आप निष्काम होकर खड़े हो जाएं, वह तीर्थ हो जाती है। और जिस भूमि पर आप सकाम होकर खड़े हो जाएं, वह पाप हो जाती है। भूमि पर निर्भर नहीं है यह। यह आप पर निर्भर है। लेकिन हम तो पूरे समय कामवासना से ही जीते हैं। कुछ भी करेंगे... ।
एक मित्र कल मेरे पास आए। उन्होंने कहा कि इस भजन-कीर्तन से क्या मिलेगा? मैं भी करना चाहता हूं, लेकिन मिलेगा क्या? स्वाभाविक। न मिले, तो नाहक परेशान होने से कोई सार नहीं। मैंने उनसे कहा कि जब तक मिलने का ख्याल है, तब तक कीर्तन न कर पाओगे। क्योंकि मिलने के ख्याल से तो कीर्तन का कोई संबंध ही नहीं जुड़ता। फिर दूकान करो।
कीर्तन का तो अर्थ ही यह है कि कुछ घड़ी ऐसी भी है, जब हम कुछ भी नहीं पाना चाहते। कुछ दस क्षण के लिए हम ऐसे जीना चाहते हैं कि कुछ पाना नहीं, नान-परपजिव, कोई प्रयोजन नहीं है। जीवन मिला है, इसके आनंद में, इसके उत्सव में नाच रहे हैं। श्वास चल रही है, इसके आनंद-उत्सव में नाच रहे हैं।
परमात्मा ने हमें भी इस योग्य समझा कि जीवन दे, इसकी खुशी में नाच रहे हैं। कुछ पाने के लिए नहीं, धन्यवाद की तरह, एक आभार, ग्रेटिट्यूड की तरह। कीर्तन एक आभार है, थैंक्स गिविंग। कुछ पाने के लिए प्रयोजन नहीं है। कुछ मिलेगा नहीं उससे।
ऐसा जब मैं कहता हूं, कुछ मिलेगा नहीं उससे, तो आप यह मत समझ लेना कि जो कीर्तन करते हैं, उन्हें कुछ मिलता नहीं है। ऐसा मत समझ लेना। जब मैं कहता हूं, कुछ मिलेगा नहीं, तो मैं यह कहता हूं कि कीर्तन में आना हो, तो मिलने का ख्याल छोड़कर आना। जो आ जाता है, उसे तो बहुत मिलता है, जिसका कोई हिसाब नहीं है। लेकिन उसका ख्याल रखकर जो आएगा, उसको नहीं मिलेगा। यह कठिनाई है। अगर आप यह ख्याल रखकर आए कि बहुत कुछ मिलेगा, तो आप खाली हाथ लौट जाएंगे। और अगर आप खाली मन आए; कुछ लेने नहीं, सिर्फ प्रभु को धन्यवाद देने, बेशर्त; हृदय भर जाएगा किसी अनूठे आनंद से। एक नया ही द्वार खुल जाएगा।
ध्यान रहे, कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि जो निष्काम कर्म करता है, उसे
फल मिलता नहीं है। इस भूल में मत पड़ जाना कि उसको फल नहीं मिलता। और इस भूल में भी मत पड़ जाना कि जो सकाम कर्म करता है, उसको फल मिलता है। हालत बिल्कुल उलटी है।
जो सकाम जीता है, उसे फल कभी नहीं मिलता। और जो निष्काम जीता है, उसके जीवन पर प्रतिपल फल की वर्षा होती है! लेकिन बड़ा उलटा नियम है जिंदगी का।

जो मांगता है, वह भिखारी की तरह मांगता रहता है, उसे कभी नहीं मिलता। और जो नहीं मांगता, वह सम्राट की तरह खड़ा हो जाता है और सब उसे मिल जाता है।
जीसस ने कहा है, जो बचाएगा, वह खो देगा; और जो खो देगा, वह पा लेगा।
अजीब-सी बात कही है! जो बचाएगा, वह खो देगा। हम सब बचा रहे हैं। आखिर में खाली, शून्य हाथ में रह आएगा। और जो खो देगा, वह पा लेगा। उससे फिर कुछ छीना नहीं जा सकता है।
कृष्ण की बात को भी ठीक से समझ लें। वे कहते हैं, दो तरह के लोग हैं। एक कामना से जीने वाले, सकामी। कुछ भी करेंगे, पहले पक्का कर लेंगे, फल क्या मिलेगा! प्रेम तक करने जाएंगे, तो पहले पक्का कर लेंगे, फल क्या मिलेगा! प्रार्थना करने जाएंगे, तो पहले पक्का कर लेंगे कि फल क्या मिलेगा! फल पहले, फिर कुछ कदम उठाएंगे। इन्हें फल कभी नहीं मिलेगा। मेहनत ये बहुत करेंगे। दौड़ेंगे बहुत, पहुंचेंगे कहीं भी नहीं। इनकी हालत करीब-करीब वैसी होगी... ।
मुझे याद आता है कि मेरे गांव के पास वर्ष में कोई दो-तीन बार मेला भरता था। और बचपन से ही एक बात मेरी समझ में कभी भी नहीं आई कि उस मेले में लकड़ी के घोड़ों की चकरी लगती थी। और जितने भी लोग जाते, उस पर बैठते; पैसे खर्च करते; उस चक्कर में गोल चक्कर खाते। बच्चे चक्कर खात थे, तो ठीक। एक दिन मैंने देखा कि मेरे स्कूल के शिक्षक भी उस पर बैठकर चक्कर खा रहे हैं! मैं बहुत हैरान हुआ। मैंने जाकर उनसे पूछा--काफी चक्कर वे ले चुके, उनकी जेब के सब पैसे खाली हो गए उस चक्कर में--मैंने उनसे पूछा कि आप पहुंचे कहां? चले तो बहुत। उन्होंने कहा, पहुंचे! लकड़ी के घोड़े पर बैठकर चकरी में घूम रहे हैं। पहुंच कहीं भी नहीं रहे, सिर्फ चकरा रहे हैं।
अनेक को उतरकर चक्कर खाते देखा। किसी को वामिट होते देखी। समझ में मेरे कभी न आया कि यह हो क्या रहा है! लेकिन अब धीरे-धीरे समझ में आता है कि वह मेले की चकरी तो बहुत छोटी है, उस पर तो कभी कोई बैठता है। संसार की चकरी पर सब बैठे रहते हैं। कहीं पहुंचते नहीं। हालांकि हर पल लगता है कि अब पहुंचे, अब पहुंचे! घोड़ा बढ़ता ही चला जाता है। लगता है, अब पहुंचे, अब पहुंचे। कहीं पहुंचते नहीं। चक्कर खाकर नीचे गिर पड़ते हैं। और लकड़ी के घोड़े की चकरी पर से तो उतरकर अपने घर वापस लौट आते हैं; लेकिन जिंदगी की चकरी से जब चक्कर खाकर गिरते हैं, तो कब्र में वापस पहुंचते हैं; घर-वर नहीं पहुंचते।
जिंदगीभर कामना दौड़ाती है--लकड़ी के घोड़े ही हैं; कहीं पहुंचाते नहीं-- दौड़ाती है। शायद आपको ख्याल न हो, यह संस्कृत का शब्द संसार बहुत अदभुत है। इसका मतलब होता है, चक्कर, दि व्हील। वह जो भारत के राष्ट्रीय ध्वज पर व्हील बना हुआ है, वह नेहरू को पता नहीं था, नहीं तो वे कभी न बनाते। उनको पता नहीं था कि वह बुद्ध का प्रतीक है। और अशोक ने अपने स्तंभ पर खुदवाया था इसलिए कि यह संसार चकरी की तरह है। इस पर बैठकर घूमते रहोगे सदा, पहुंचोगे कहीं नहीं। उनको पता नहीं था, नहीं तो वे कभी न बनवाते, क्योंकि दिल्ली में तो सिर्फ चकरी वाले ही लोग इकट्ठे होते हैं। जिनको अपने गांव छोटे पड़ते हैं, उनको जरा बड़े घोड़े चाहिए। दिल्ली में काफी सरकस चलता है बड़े घोड़ों वाला! उस पर बैठकर वे चक्कर खाते रहते हैं। पांच साल के बाद फिर जनता से कहते हैं कि हमें पहुंचाओ; हमें फिर चक्कर खाना है!
यह पूरा का पूरा संसार सकाम चक्कर है, ए व्हील आफ डिजायरिंग। बस, इच्छा होती है, यह मिल जाएगा, यह मिल जाएगा। चक्कर लगा लेते हैं, मिलता कभी कुछ नहीं है। मरते हुए आदमी से पूछो कि क्या मिला?
मैंने उस शिक्षक से पूछा था, कहां पहुंचे? वे चौंककर खड़े हो गए। उन्होंने मुझसे उलटा ही कहा। उन्होंने कहा कि अभी तुम न समझ सकोगे, तुम्हारी उम्र कम है।
उन्होंने मुझसे कहा, अभी तुम न समझ सकोगे, तुम्हारी उम्र कम है। मैं अभी तक नहीं समझा। अभी भी गांव जाता हूं, तो उनके पास जाता हूं कि अब जरा मेरी उम्र तो काफी हो गई, अब समझा दें। उस चकरी पर आप बैठे थे, कहां पहुंचे? अब मुझसे इस बार मैं गया, तो वे कहने लगे, छोड़ो भी उस बकवास को। तीस साल हो गए! मैंने कहा, उस वक्त आपने कहा था कि उम्र कम है। अब तीस साल... । कब? कहीं

ऐसा न हो कि दुबारा मैं आऊं और आप न बचें, क्योंकि आपकी उम्र अब अस्सी साल होती है। मुझे कब बताइएगा कि आप पहुंचे कहां थे उस चकरी पर बैठकर!
वे मुझे देखते हैं कि डर जाते हैं! वे समझते हैं कि मैं आया, वह चकरी का सवाल उठेगा। एक दफा मैंने उनको बैठा देख लिया! अभी तक इतनी हिम्मत नहीं जुटा पाए कि वे मुझसे कह दें कि कहीं नहीं पहुंचा। इतना कमजोर है आदमी! एक दफा मुझसे कह दें, झंझट मिट जाए। मैं तो नहीं छोडूंगा। मैं तो जब भी जाता हूं, पहले उनके घर पहुंचता हूं कि अब बता दें। एक साल और बीत गया। अभी तक मेरी समझ में नहीं आया कि आप कहां पहुंचे थे।
वह आदमी शक्तिशाली है, जो कमजोरी को स्वीकार कर लेता है, क्योंकि तब कमजोरी के पार हुआ जा सकता है। सकाम दौड़ता है बहुत, पहुंचता कहीं भी नहीं है, सिवाय दुख के। निष्काम कहीं भी नहीं पहुंचना चाहता है, और जहां खड़ा होता है, वही से पहुंच जाता है।
तो यह मत सोचना आप कि निष्काम व्यक्ति को फल नहीं मिलता। निष्काम को
ही फल मिलता है। लेकिन निष्काम फल चाहता नहीं। वह कर्म को पूरा कर लेता है और चुप रह जाता है। परमात्मा पर छोड़ देता है।
इतने भरोसे से जो समर्पण कर सकता है परमात्मा पर, वह अगर निष्फल चला जाए, तो इस पृथ्वी पर धर्म की फिर कोई जगह नहीं है। जो इतने भरोसे से परमात्मा पर छोड़ देता है कि करूंगा मैं और सो जाऊंगा, फल तेरे ऊपर रहा। अगर वह भी निष्फल चला जाए, तो फिर इस पृथ्वी पर धर्म की कोई भी जगह नहीं है। लेकिन वह कभी निष्फल नहीं गया। इसलिए धर्म का कितना ही ह्नास होता चला जाए, धर्म मर नहीं सकता। और धर्म का कितना ही विरोध होता रहे, कोई न कोई उसे फिर जगा लेता है, फिर पुनरुज्जीवित कर देता है।
जिसको भी जिंदगी में इस राज का पता चल जाता है कि बिना मांगे मिलता है
और मांगने से नहीं मिलता, वही व्यक्ति धार्मिक हो जाता है। और जब तक आपको इस सीक्रेट का पता नहीं है, आप चाहे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, चाहे जैन, चाहे ईसाई, चाहे आप कोई भी हों; मंदिर जाते हों, मस्जिद जाते हों--कुछ भी न होगा।
जिस दिन आपको यह पता चल जाएगा कि जो नहीं मांगता, उसे मिलता है। जो प्रभु पर छोड़ देता है, वह पा लेता है। और जो अपने ही हाथ में सब कुंजी रखता है, वह सब गंवा देता है। जब तक आपको इसका पता नहीं है। तब तक आपकी जिंदगी में धर्म का अवतरण नहीं हो सकता है।
इस सूत्र में कृष्ण ने धर्म की बुनियादी "की", कुंजी की बात कही है।

प्रश्नः भगवान श्री, आपने पिछली चर्चा में कहा है कि प्रार्थना बहिर्मुखी लोगों की साधना है और ध्यान अंतर्मुखी लोगों की साधना है। तब तो आज के इस बहिर्मुखी युग को प्रार्थना की साधना में ले जाना चाहिए। लेकिन आप तो ध्यान का आंदोलन चलाते हैं! आपकी नई ध्यान पद्धति अंतर्मुखी व बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लिए किस ढंग से संबंधित है? इन दोनों बातों पर प्रकाश डालें।

निश्चित ही, ध्यान अंतर्मुखी व्यक्ति की यात्रा रही है और प्रार्थना बहिर्मुखी व्यक्ति की यात्रा रही है। लेकिन ध्यान के हजारों मार्ग संभव हो सकते हैं और प्रार्थना के भी हजारों रूप संभव हो सकते हैं। और ऐसा भी नहीं है कि ध्यान के जितने रूप आज तक रहे हैं, उनसे और ज्यादा रूप नहीं हो सकते। और ऐसा भी नहीं है कि जितनी प्रार्थनाओं की पद्धतियां अब तक खोजी गई हैं, उससे और ज्यादा पद्धतियां नहीं खोजी जा सकती हैं।
मैं जिस ध्यान की पद्धति की बात करता हूं, वह बहुत गहरे अर्थों में दोनों का जोड़ है। मैं जिसे ध्यान कहता हूं, वह दोनों का जोड़ है। उसमें तीन हिस्से बहिर्मुखी व्यक्ति के लिए हैं और चौथा हिस्सा अंतर्मुखी व्यक्ति के लिए है। जो तीन हिस्से उस ध्यान के कर लेगा बहिर्मुखी व्यक्ति भी, वह भी वहीं पहुंच जाएगा, जहां अंतर्मुखी व्यक्ति पहुंचता है। और अंतर्मुखी व्यक्ति को पहले तीन हिस्सों को करने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी, वह पहले ही हिस्से से चौथे में छलांग लगा जाएगा।

ध्यान की ऐसी प्रक्रिया संभव है, जिसमें बहिर्मुखी और अंतर्मुखी दोनों के लिए द्वार खोजा जा सके। और प्रार्थना भी ऐसी खोजी जा सकती है, जिसमें अंतर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों के लिए द्वार खोजा जा सके।
उदाहरण के लिए, आपने यहां कीर्तन देखा है। इस कीर्तन में अंतर्मुखी
भी सम्मिलित हो सकता है, बहिर्मुखी भी सम्मिलित हो सकता है। लेकिन थोड़ी ही देर में फर्क पड़ने शुरू हो जाएंगे। बहिर्मुखी नृत्य में गहरा बढ़ता चला जाएगा। उसकी आवाज प्रकट होने लगेगी, उसका गीत झरने लगेगा, उसका नृत्य बढ़ने लगेगा। अंतर्मुखी अगर गीत से शुरू भी करेगा, थोड़ी देर में गीत खो जाएगा। नृत्य से शुरू भी करेगा, थोड़ी देर में नृत्य खो जाएगा। अंततः वह गिर पड़ेगा, चुप हो जाएगा, मौन में डूब जाएगा।
बहिर्मुखी नृत्य की चरम स्थिति में जो अनुभव करेगा, वही अंतर्मुखी गिरकर, बिल्कुल मुर्दे की भांति पड़कर अनुभव करेगा। दोनों अपनी-अपनी यात्रा पर निकल जाएंगे।
और मेरी अपनी समझ ऐसी है कि भविष्य के लिए ऐसी विधियां खोजी जानीं चाहिए, जो विधियां दोनों के लिए उपयोगी हो सकें; और जिस भांति का व्यक्ति भी उसमें प्रवेश करे, वह अपने लिए द्वार खोज ले।
यह कीर्तन है। इसमें अंतर्मुखी थोड़ी ही देर में गाना छोड़ देगा, नाचना छोड़ देगा, डूब जाएगा, खो जाएगा कहीं। बहिर्मुखी नाच में गहरा चला जाएगा, और इतना गहरा चला जाएगा, आखिर में नाच ही बचेगा, नाचने वाला खो जाएगा। तब फिर वह भी वहीं पहुंच जाएगा, जहां वह नाच खो गया और एक आदमी शून्य हो गया। फिर नाच ही रह गया और नृत्य करने वाला खो गया, वह भी भीतर शून्य हो गया। दोनों की परम स्थिति एक हो जाएगी। लेकिन दोनों एक ही विधि से प्रवेश कर पा सकते हैं।
ठीक ऐसा ही मेरा ध्यान भी है। उसमें तीन चरण एक्सट्रोवर्ट हैं। पहले चरण में गहरी श्वास है, वह बहिर्मुखी के लिए बड़ी उपयोगी है। दूसरे चरण में नृत्य है, कूदना है, चिल्लाना है, वह भी बहिर्मुखी के लिए बड़ा उपयोगी है। तीसरे चरण में, मैं कौन हूं, इसकी इंक्वायरी, जिज्ञासा है। जोर से पूछना है, मैं कौन हूं। वह भी बहिर्मुखी के लिए बहुत उपयोगी है। और चौथे में बिल्कुल मौन हो जाना है।
पूछेंगे आप कि चार चरणों में एक रखा सिर्फ अंतर्मुखी के लिए, तीन रखे बहिर्मुखी के लिए? क्योंकि मैं कहता हूं कि आज का युग बहिर्मुखी है। सौ आदमी करने आएंगे, तो मुश्किल है कि पच्चीस भी अंतर्मुखी हों, पचहत्तर तो बहिर्मुखी--निन्यानबे की संभावना है बहिर्मुखी होने की और एक की अंतर्मुखी होने की। उसके लिए भी जगह बना रखी है।
इसलिए अंतर्मुखी व्यक्ति जब मेरे पास आता है, तो वह कहता है, सांस लेते बनती ही नहीं; नाचते बनता ही नहीं; पूछूं किससे? कौन पूछे? कौन पूछे, मैं कौन हूं! वह कहता है, हमें तो सीधा चौथे में जाना अच्छा लगता है। मैं उसको कहता हूं, चौथे में चले जाओ।
लेकिन बहिर्मुखी व्यक्ति से कहें कि चुपचाप बैठ जाओ; वह कहेगा, मुश्किल मालूम पड़ता है। कैसे चुपचाप बैठे जाएं? कुछ तो चलता ही रहता है! तो मैं उससे कहता हूं, पहले खूब चला लो। चिल्लाओ जोर से। रोओ, कूदो, नाचो, गाओ। खूब चला लो। इतना चला लो कि तुम्हारा चलने का जो मन है, उसको पूरी- पूरी तृप्ति मिल जाए। उसी तृप्ति के मार्ग से पहुंचो वहां, जहां चलना ठहर जाता है।
मेरी पद्धति में बहिर्मुखी अंतर्मुखी दोनों के लिए समान प्रवेश है।
ये जो अंतर्मुखता और बहिर्मुखता के मार्ग हैं, ये कोई विपरीत मार्ग नहीं हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के लिए एक ही जगह पहुंचा देने वाले मार्ग हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, इस गीता ज्ञान यज्ञ से नाचने-गाने का क्या संबंध है, इसे और स्पष्ट कीजिए। और इस संकीर्तन में नाचना अस्तव्यस्त, डिसआर्डरली और मनमाना क्यों है, इसे भी साफ करें।

स्वभावतः, ऐसा ख्याल और मित्रों को भी उठा। उन्होंने भी मुझे पूछा है
कि गीता ज्ञान यज्ञ से कीर्तन का, धुन का, नृत्य का क्या संबंध? और फिर नृत्य भी हो, तो व्यवस्थित हो, तालबद्ध हो! डिसआर्डरली, अव्यवस्थित, अराजक, केआटिक, इसका क्या मतलब है?
इसका मतलब है।
एक तो मैं आपको यह जाहिर कर दूं कि जो गीता मैं समझा रहा हूं, आप समझने
से ही समझ लेंगे, ऐसा मेरा भरोसा नहीं। समझने से केवल बुद्धि तक बात पहुंचती है, हृदय तक नहीं पहुंचती। और गीता जिसे समझनी हो, वह अगर सिर्फ बुद्धि से समझने चलेगा, तो पंडित तो हो जाएगा, ज्ञानी नहीं हो पाएगा। इंटलेक्ट बता सकती है, क्या अर्थ है। विश्लेषण कर सकती है। तोड़-तोड़कर तर्क व्यवस्था दे सकती है, लेकिन हृदय को छूती नहीं। तर्क से हृदय के फूल खिलते नहीं। और न ही तर्क और बुद्धि से हृदय की वीणा की झंकार पैदा होती है। जानता हूं भलीभांति कि आज की दुनिया में कोई उपाय नहीं है कि आपसे बुद्धि के द्वारा कहा जाए। बुद्धि से कहना पड़ेगा, इसलिए घंटे सवा घंटे आपके साथ बुद्धि के साथ मेहनत करता हूं आपकी। और आखिर में बिल्कुल निर्बुद्धि एक काम करवाता हूं। बिल्कुल बुद्धिहीन! सिर्फ यही आपको खबर देने के लिए कि बुद्धि से जो नहीं हो सकेगा, वह बुद्धि को छोड़कर हो पाता है। और यह भी खबर देने के लिए कि घंटेभर मैंने आपकी बुद्धि को समझाने की कोशिश की, जिनकी समझ में आ गया होगा, उनको इस नृत्य में भी समझ में आना चाहिए। और अगर समझ में इसमें न आए, तो उनके पास केवल बौद्धिक शब्द पहुंचे और कुछ भी नहीं पहुंचा है।
अगर मेरी बातें समझ में आई हैं, तो आपका हृदय खुलेगा, नाचना चाहेगा, प्रफुल्लित होगा, प्रमुदित होगा। आप यही सोचते हुए नहीं जाएंगे कि जो बोला, वह तर्कयुक्त मालूम होता है। आप ऐसा अनुभव करते जाएंगे कि जो बोला, वह हृदय को स्पर्शित करता मालूम पड़ता है।
हृदय को स्पर्शित करना और बात है। इसलिए चाहता हूं कि अंत हृदय की किसी घटना से हो। इसलिए यहां चाहा कि दस मिनट, पांच मिनट भूल जाएं विचार को, शब्द को; घंटेभर मैं बोलता हूं, छोड़ें उसे। शब्द असमर्थ हैं। शब्द की असमर्थता आपको बताना चाहता हूं। और यह भी बताना चाहता हूं कि शायद जो मैं न कह पाया होऊं, जो कृष्ण भी न कह पाए हों, वह इन नाचते हुए संन्यासियों के नृत्य से आपको उसकी झलक मिल जाए।
और ध्यान रहे, अर्जुन नहीं समझ पाया कृष्ण से जितना, उतना कृष्ण से गोपियां समझ गईं। लेकिन गोपियों को कृष्ण ने कोई गीता नहीं कही थी। उनके साथ नाच लिए थे। गोपियों से कोई गीता नहीं कही, बांसुरी बजाकर नाच लिए थे किसी वंशी वट में, यमुना के तट पर। और गोपियां जितना समझीं, उतना अर्जुन नहीं समझ पाया। अर्जुन को गीता कही है। बड़ा बौद्धिक कम्युनिकेशन है, बड़ा बुद्धिगत संवाद है।
आपसे मैं भी बुद्धि की बात कहता हूं, लेकिन कृष्ण का और भी गहरा पहलू है, वह भी आपसे छूट न जाए। गीता पढ़ने वाले लोगों से अक्सर छूट जाता है। कृष्ण सिर्फ गीता कहने वाले कृष्ण ही नहीं हैं, कृष्ण नाचने वाले कृष्ण भी हैं। और वह उनका असली, और ज्यादा गहरा, और ज्यादा महत्वपूर्ण रूप है। गीता न भी कही होती, तो कोई और भी कह सकता था, यह मैं आपसे कहता हूं। गीता बुद्ध भी कह सकते हैं, महावीर भी कह सकते हैं, क्राइस्ट भी कह सकते हैं। अगर कृष्ण ने गीता न कही होती, तो कोई और कह सकता था। लेकिन अगर कृष्ण न नाचे होते, तो न बुद्ध नाच सकते, न महावीर नाच सकते, न जीसस नाच सकते। वह अधूरा रह गया होता। वह बात और किसी से होनी मुश्किल थी।
इसलिए कृष्ण के व्यक्तित्व का जो गहरा रूप है, वह तो उनका नाचता हुआ, बांसुरी बजाता हुआ रूप है। गीता सुनकर कहीं ऐसा ख्याल न हो कि गीता सिर्फ एक दर्शन शास्त्र का विवेचन है, एक मेटाफिजिक्स है। गीता सुनकर ऐसा भी लगे कि वह एक जीवन-संगीत भी है। ऐसा भी लगे कि वह नाचने की एक कला भी है।
इसलिए मैंने जानकर, कंसीडर्डली, पीछे पांच-सात मिनट-- पांच-सात मिनट आपके अधैर्य को देखकर; नहीं तो मैं तो चाहता कि घंटेभर चर्चा हो, तो घंटेभर नृत्य हो। लेकिन आपकी हिम्मत बहुत कमजोर है, इसलिए पांच मिनट! पांच मिनट

में ही कई की दम टूट जाती है, वे भागने की तैयारी में हो जाते हैं। उन्हें पता नहीं कि क्या हो रहा है। उन्हें पता नहीं कि क्या बंट रहा है। उन्हें पता नहीं कि क्या घटना घट रही है। उसे पांच मिनट प्रेम से देख लें; उसे पी जाएं। और मैं आपसे कहता हूं कि जो मेरे समझाने से नहीं हो सका होगा, जो कृष्ण के कहने से नहीं हो सका होगा, वह भी उस नृत्य से हो सकता है। अव्यवस्थित इसलिए कि व्यवस्था का संबंध बुद्धि से है। हृदय का व्यवस्था से कोई संबंध नहीं है। जिस दिन नृत्य व्यवस्थित हो जाता है, बौद्धिक हो जाता है, इंटेलेक्चुअल हो जाता है। एक-एक पद है, एक-एक चाप है। सब इंतजाम है। वह गणित हो जाता है। शास्त्रीय संगीत बिल्कुल मैथमेटिकल है। वह गणित है। कहना चाहिए, वह गणित ही है।
यह कोई संगीत नहीं है, यह कोई गणित नहीं है। यह तो हृदय का उन्मेष है। हृदय के उन्मेष में हिसाब नहीं होता। गणित में दो और दो चार होते हैं, प्रेम में जरूरी नहीं है। प्रेम में दो और दो पांच भी हो सकते हैं। प्रेम के पास हिसाब नहीं है। ये तो प्रेम में आए हुए संन्यासी हैं, वे नाच रहे हैं।
मुझे कहा किसी ने कि इनको थोड़ी ट्रेनिंग दे देनी चाहिए कि ये थोड़ा ढंग
से नाचें। तो ट्रेनिंग से नाचने वाले तो सारी दुनिया में बहुत हैं; कोई कमी है! सो तो आप जाकर थिएटर में देख आते हैं; सब ट्रेनिंग से नाच चल रहा है। लेकिन ट्रेनिंग से जब कोई नाचता है, तो शरीर ही नाचता है; हृदय नहीं नाचता। ट्रेनिंग से कहीं नाच हुए हैं? हां, नाच हो जाएगा, लेकिन वह वेश्या का होगा, अभिनेता का होगा, एक्टर का होगा, एक्ट्रेस का होगा। संन्यासी का नहीं होगा।
संन्यासी के नृत्य में कुछ भेद है। वह नृत्य नहीं है, वह हृदय का उन्मेष है। कुछ चीज भीतर भर गई है, वह बाहर बह रही है। शरीर नहीं सम्हलता, इसलिए नाच रहा है।
यह नृत्य कोई लय-तालबद्ध व्यवस्था नहीं है, इसलिए डिसआर्डरली है।
इसमें कोई व्यवस्था नहीं है। व्यवस्था होनी भी नहीं चाहिए, तभी उसकी मौज है, तभी उसकी नैसर्गिकता है, तभी उसकी स्पांटेनिटी है, और तभी आप उसमें भीतर प्रवेश कर पाएंगे। आज मैंने यह कहा, तो जरा आज फिर गौर से देखना आप। आप शायद सोचते होंगे कि ठीक है... ।
एक मित्र आए, वे बोले, हम तो कीर्तन बीस साल से करते-करते थक गए। कुछ होता नहीं। होगा भी नहीं। क्योंकि कीर्तन कोई किया थोड़े ही जाता है। होना चाहिए। वह आनंद की अभिव्यक्ति बननी चाहिए। वे कहते हैं, हमें कीर्तन बीस साल हो गए करते-करते, कुछ हुआ नहीं। तो वे कुछ फल की आकांक्षा से कर रहे होंगे; कीर्तन सकाम हो गया। वे सोच रहे होंगे, कुछ हो जाए।
ये संन्यासी जो यहां बैठे हैं, कुछ होने के लिए नहीं कर रहे हैं। इनका आनंद है। गीता घंटेभर सुनी। अगर इतने आनंद से भी हृदय न भर जाए, कि नाच लें पांच मिनट और फिर विदा हो जाएं, तो बेकार गई बात।
इसलिए जानकर यह अव्यवस्थित है। यह अव्यवस्थित ही रहेगा। फिर भी आपके
डर से, आपकी मौजूदगी से नए संन्यासी कोई आते हैं, तो वे तो हिम्मत भी नहीं जुटा पाते हैं। वे धीमे-धीमे करते रहते हैं। लेकिन मैं चाहता हूं कि दो- चार वर्ष में पूरे मुल्क में इस हवा को फैलाऊंगा। पूरे मुल्क में क्यों, सारी दुनिया के कोने-कोने तक फैलाने जैसी है। और वह जो फेस्टिव डायमेंशन है मनुष्य के उत्साह का, उमंग का; उत्सव का जो आयाम है चित्त का, वह खुलना चाहिए।
धर्म बहुत गंभीर हो गया है। और जितना गंभीर होगा धर्म, उतना रुग्ण और बीमार होगा। गंभीर शकलों को मंदिरों से विदा कर दो। मंदिर नृत्य के और जीवन के उत्सव के स्थल हों, तो हम धर्म को वापस ला पाएंगे।
गंभीर चेहरे, बीमार, घबड़ाए हुए, जिंदगी से परेशान, पीड़ित-- नहीं, मंदिर
को बेरौनक कर गए हैं। मंदिर तो जीवन के नृत्य का क्षण है। वहां तो जिंदगी की सारी गंभीरता बाजार में छोड़कर चले जाना चाहिए। वहां तो नाचते हुए ही जाना चाहिए। वहां तो नाचना चाहिए घड़ीभर सब भूलकर, लोग-लिहाज, लाज-लज्जा, सब भूलकर।

कल एक महिला ने मुझे खबर दी कि कोई बूढ़ी महिला पीछे कह रही थी कि यह क्या पाप हो रहा है! स्त्री और पुरुष साथ नाच रहे हैं! कृष्ण को न समझ पाएगी ऐसी बुद्धि। अगर नृत्य और कीर्तन में भी स्त्री-पुरुष का ख्याल बना रहे, तो अच्छा है कि नृत्य-कीर्तन मत करो। इतना भी न भूलता हो! दूसरे का शरीर न भूलता हो, तो अपना शरीर कैसे भूलेगा? अगर इसका भी ख्याल बना रहे कि पास में स्त्री खड़ी है, इसलिए बच-बचकर नाचो, तो मत नाचना। क्योंकि फिर अपने शरीर का ख्याल भूलने वाला नहीं है।
कोई तो घड़ी हो, जहां आप शरीर न रह जाएं और सिर्फ वही रह जाएं, जो भीतर हैं। वहां न कोई स्त्री है, न कोई पुरुष है। किसी घड़ी में तो सब भूल जाना चाहिए। लेकिन हमारे मंदिर में भी स्त्री-पुरुषों के फासले बने हुए हैं। स्त्रियां अलग बैठी हैं, पुरुष अलग बैठे हैं!
सुनी है न आपने घटना मीरा की कि जब वह गई वृंदावन, तो मंदिर के पुजारी
ने भीतर न आने दिया। उसने कहा कि मैं स्त्री को देखता ही नहीं। तो मीरा ने खबर भिजवाई कि गोस्वामी को कहो कि मैं तो सोचती थी, एक ही पुरुष है, कृष्ण! तुम दूसरे पुरुष कहां से आ गए?
क्षमा मांगी आकर कि माफ कर दो। भूल हो गई।
ये नासमझियां धर्म के नाम पर बहुत हैं। ये तोड़ने जैसी हैं। उन्मुक्त! किसी घड़ी में तो जीवन के सारे थोथे नियमों को एक तरफ रखकर डूब जाएं। और फिर देखने वाली दृष्टि कैसी बेहूदी है! जिस स्त्री को, जिस पुरुष को यहां कीर्तन नहीं दिखाई पड़ा, कृष्ण का नाम नहीं सुनाई पड़ा, हरिनाम नहीं सुनाई पड़ा, उसे दिखाई पड़ा कि एक औरत एक पुरुष के पास नाच रही है! उस स्त्री की बुद्धि कितनी है! उस स्त्री की समझ कैसी है! और जिसने मुझे खबर दी उसने कहा कि वह वृद्धा थी। अगर वृद्ध होकर भी अभी यौन के इतने अंतर भूले नहीं, तो फिर कब? कब्र के बाद? अर्थी उठ जाएगी तब? कब होगा? ये भेद कब गिरेंगे? ये कहीं तो गिर जाने चाहिए।
इसलिए अव्यवस्थित है, कोई व्यवस्था नहीं है। हरिनाम की कोई व्यवस्था नहीं होती, सिर्फ आनंद होता है। अराजक है, केआटिक है। जानकर है, क्योंकि जितना अराजक होगा, उतने ही भीतर के बंधन गिरेंगे। और भीतर जो छिपी आत्मा है, वह प्रकट हो सकेगी।
और किसी पाने की आकांक्षा से नहीं है। सिर्फ प्रभु को धन्यवाद देने
की आकांक्षा है। घंटेभर सुनी गीता; हृदय के कहीं फूल खिले; कहीं कोई वीणा का तार छुआ और बजा; कहीं कोई भीतर बुझा हुआ दीया जला, तो बाद में पांच मिनट परमात्मा को धन्यवाद देकर विदा हो जाना चाहिए। इसलिए कि यह भी समझ हमारी कहां, तेरी ही है! उसको ही समर्पित करके चले जाना चाहिए। यह भी हम कहां समझ पाते! तूने समझाना चाहा, तो हम समझ गए। तूने दिखाना चाहा, तो दिखाई पड़ गया। तूने इशारा किया, तो इशारा मिल गया। तुझे धन्यवाद दे देते हैं और चले जाते हैं।
थैंक्स गिविंग है। यह सिर्फ आभार है। और आज तो मैं आपसे कहूंगा, अपनी जगह बैठकर ही डोलें और ताली बजाएं और प्रभु का नाम लें। और एक भी आदमी जाए न।
एक सूत्र और ले लें।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।। 13।।
और हे अर्जुन, वश में है अंतःकरण जिसके, ऐसा सांख्ययोग का आचरण करने वाला पुरुष निःसंदेह न करता हुआ और न करवाता हुआ, नौ द्वारों वाले शरीररूप घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर, अर्थात इंद्रियां इंद्रियों के अर्थों में बर्तती हैं, ऐसा मानता हुआ आनंदपूर्वक, सच्चिदानंदघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है।

इसमें एक ही नई बात कही है, वह समझ लें।

कहा है, अंतःकरण वश में हुआ जिसका! इस संबंध में हमने बात की है। न करता है, न कराता हुआ, सच्चिदानंद परमात्मा में सदा स्थित रहता है। यह आखिरी बात इस सूत्र में नई है।
ऐसा व्यक्ति, ऐसे ज्ञान को उपलब्ध, इंद्रियों से अपने को भिन्न जानता
है जो, वासनाएं जिसके अंतःकरण को अशुद्ध और कुरूप और दुर्गंधित नहीं करतीं; कर्म करता हुआ भी जानता नहीं, मानता नहीं कि मैं कर्म करता हूं। प्रभु ही करता है। कराता हुआ भी नहीं मानता कि मैं कराता हूं। प्रभु ही कराता है। ऐसा पुरुष प्रतिपल, हर घड़ी, सोते-जागते, उठते-बैठते सच्चिदानंद परमात्मा में ही स्थिर रहता है। एक क्षण को भी वह हटता नहीं वहां से। हटे तो हम भी नहीं हैं, लेकिन हमें इसका पता नहीं है, उसे पता होता है। हटे तो हम भी नहीं हैं। सच्चिदानंद परमात्मा हमारा स्वरूप है।
लेकिन हमारी हालत वैसी है, जैसा मैंने सुना है, एक मछली ने एक दिन जाकर सागर की रानी मछली से पूछा कि यह सागर कहां है? बहुत सुनती हूं चर्चा! मछलियां बड़ी बात करती हैं! पुरखों से सुनी है यह बात कि सागर है कोई। पर कहां है? सागर कहां है?
स्वभावतः, मछली सागर में ही पैदा होती है, सागर में ही जीती है और सागर में ही समाप्त हो जाती है। जो इतना निकट है और सदा निकट है, वह दिखाई नहीं पड़ता। जो बहुत ऑबियस है, जो बिल्कुल सदा ही साथ है, वह दिखाई नहीं पड़ता। दिखाई पड़ने के लिए बीच-बीच में खो जाना जरूरी है।
मछली को सागर से निकालो, तब उसे पता चलता है कि सागर कहां है। डाल दो
तट पर मछली को निकालकर, तब तड़फन आती है। तब पता चलता है, सागर कहां है।
अन्यथा सागर में रही मछली को कभी पता नहीं चलता कि सागर कहां है। पता चलेगा भी कैसे? दूरी चाहिए पता चलने को। पर्सपेक्टिव चाहिए, फासला चाहिए।
थोड़ा फासला हो तो पता चलता है, नहीं तो पता नहीं चलता।
तो सागर की मछली को पता न हो, आश्चर्य नहीं है। हमको भी पता नहीं है कि
हम परमात्मा में ही जीते, पैदा होते, जन्मते, बड़े होते, बिखरते, विसर्जित होते हैं। और सागर की मछली तो कोशिश करने से कभी किनारे पर भी आ सकती है। हम परमात्मा के किनारे पर कभी नहीं आ सकते, क्योंकि कोई किनारा है ही नहीं। इसीलिए तो हमें पता नहीं चलता कि परमात्मा कहां है।
लोग पूछते हैं, परमात्मा कहां है? अगर परमात्मा कोई चीज होती, तो बताई
जा सकती थी, यह रही। एक पत्थर भी बताया जा सकता है, यह रहा; और परमात्मा नहीं बताया जा सकता कि कहां है! क्योंकि परमात्मा कहां है, यह पूछना ही गलत है। परमात्मा का मतलब ही यह होता है कि जो सब जगह है, जो सब कहीं है, एवरीव्हेयर। हर कहीं है जो, उसका नाम परमात्मा है।
इसका यह मतलब भी होता है कि जैसे हम दूसरी चीजों को बता सकते हैं कि यह रही, ऐसे हम परमात्मा को नहीं बता सकते। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि परमात्मा का मतलब है, वही, जो कहीं भी नहीं है, नोव्हेयर। कहीं नहीं बता सकते कि यह रहा। कहीं भी अंगुली निर्देश नहीं कर सकती कि यह रहा। सब चीजों को बता सकते हैं, यह रही, परमात्मा को नहीं बता सकते। अगर परमात्मा को बताना हो, तो अंगुली के इशारे से नहीं बता सकते; मुट्ठी बंद करके बताना पड़ेगा कि यह रहा। अंगुली से इशारा करेंगे, तो गलती हो जाएगी। क्योंकि फिर अंगुली के अतिरिक्त जो इशारे छूट गए, वहां कौन होगा? वहां भी वही है। भीतर भी वही है, बाहर भी वही है। सब जगह वही है।
परमात्मा का अर्थ है, अस्तित्व, दि एक्झिस्टेंस। हम भी उसी में जीते हैं, लेकिन हमें पता नहीं है। लेकिन जिस व्यक्ति ने अंतःकरण को शुद्ध कर लिया, उसे इसका पता हो जाता है। ठीक ऐसे ही पता हो जाता है, जैसे कि दर्पण पर धूल जमी हो और चेहरा न बनता हो। और किसी ने दर्पण को साफ कर लिया और चेहरा बन जाए। और दर्पण में दिखाई पड़ जाए कि अरे, मैं तो यह रहा! लेकिन जब धूल जमी थी, तब भी दर्पण पूरा दर्पण था। धूल हट गई, तब भी दर्पण वही दर्पण है। लेकिन जब धूल पड़ी थी, तो चेहरा बन नहीं पाता था, प्रतिफलित नहीं होता था; अब प्रतिफलित होता है।
शुद्ध अंतःकरण मिरर लाइक, दर्पण के जैसा हो जाता है। इसलिए कृष्ण ने कहा, जिसका अंतःकरण शुद्ध है! जिसके अंतःकरण से सारी फलाकांक्षा की धूल हट

गई, वासनाओं का सब जाल हट गया, कूड़ा-करकट सब फेंक दिया उठाकर, कर्ता का बोझ हटा दिया, सब परमात्मा पर छोड़ दिया। इतना शुद्ध और हलका हुआ अंतःकरण, शांत और मौन, निर्भार हुआ अंतःकरण, जानता है प्रतिपल कि मैं सच्चिदानंद परमात्मा में हूं। होता ही उसी में है सदा। लेकिन अब जानता है। अब ध्यानपूर्वक जानता है। अभी सोया हुआ था, अब जागकर जानता है।
जैसे आप सोए हों। सूरज की रोशनी बरसती है चारों तरफ, आप सोए हैं। आपकी बंद पलकों पर सूरज की रोशनी टपकती है, लेकिन आपको कोई भी पता नहीं, आप सोए हैं, सूरज चारों तरफ बरस रहा है। आपके खून में सूरज की गर्मी जा रही है, आपके भीतर तक। आपका हृदय सूरज की गर्मी में धड़क रहा है। सब तरफ सूरज है, बाहर और भीतर, लेकिन आपको कोई पता नहीं है; आप सोए हैं।
फिर एक आदमी उठ आया और उसने जाना और अब वह पाता है कि हर घड़ी सूरज में है। सोया हुआ भी सूरज में है, जागा हुआ भी सूरज में है। लेकिन सोए हुए को पता नहीं है, कांशसनेस नहीं है।
अंतःकरण जिसका शुद्ध होता है, वह जानता है प्रतिपल, मैं परमात्मा में हूं। और जिसको यह पता चल जाए कि प्रतिपल मैं परमात्मा में हूं, स्वभावतः सच्चिदानंद की तिहरी घटना उसके जीवन में घट जाती है।
ये सत, चित, आनंद, तीन शब्द हैं। यह भारत की मनीषा ने जो श्रेष्ठतम नवनीत निकाला है सारे जीवन के अनुभव से, उनका इन तीन शब्दों में जोड़ है। सत! सत का अर्थ है, एक्झिस्टेंस; जिसका अस्तित्व है। चित! चित का अर्थ है, कांशसनेस, जिसमें चेतना है। आनंद! आनंद का अर्थ है, ब्लिस; जो सदा ही आनंद में है। ये तीन शब्द भारत की समस्त साधना की निष्पत्तियां हैं। अस्तित्व है किसका? पत्थर का? पानी का, जमीन का? आदमी का? दिखाई पड़ता है, है नहीं। क्योंकि आज है और कल नहीं हो जाएगा। भारत उसको अस्तित्व कहता है, जो सदा है। जो बदल जाता है, उसके अस्तित्व को अस्तित्व नहीं कहता। उसके अस्तित्व का कोई मतलब नहीं है। अस्तित्व उसका है, जो अपरिवर्तनीय, नित्य है। वही है अस्तित्ववान। बाकी तो सब खेल है छाया का।
बच्चे थे आप, फिर जवान हो गए, फिर बूढ़े हो गए। न तो बचपन का कोई अस्तित्व है; बचपन भी एक फेज है; एक्झिस्टेंस नहीं, चेंज! बचपन एक परिवर्तन है। इसे जरा समझें।
हम कहते हैं एक आदमी से, यह बच्चा है। कहना नहीं चाहिए। वैज्ञानिक नहीं है कहना। साइंटिफिक नहीं है। क्योंकि बच्चा है, ऐसा कहने से लगता है, कोई चीज स्टैटिक, ठहरी हुई है। कहना चाहिए, बच्चा हो रहा है। जवान हो रहा है। है की स्थिति में तो कोई जवान नहीं होता, नहीं तो बूढ़ा हो ही नहीं सकेगा फिर। बूढ़ा भी बूढ़ा नहीं होता। बूढ़ा भी होता रहता है। नदी बहती है, तो हम कहते हैं, नदी बह रही है। कहते हैं, नदी है। कहना नहीं चाहिए है, है। कहना चाहिए, नदी हो रही है।
इस जगत में इ.ज, है शब्द ठीक नहीं है। गलत है। सब चीजें हो रही हैं। हम कहते हैं, वृक्ष है। जब हम कहते हैं, है, तब वृक्ष कुछ और हो गया। एक नई पत्ती निकल गई होगी। एक पुरानी पत्ती टपक गई होगी। एक फूल खिल गया होगा। एक कली आ गई होगी। जब तक हमने कहा, है, तब तक वृक्ष बदल गया।
बुद्ध के पास एक आदमी मिलने आया और उसने कहा कि अब मैं जाता हूं। बड़ी कृपा की आपने। फिर आऊंगा कभी। बुद्ध ने कहा, तुम दुबारा अब न आ सकोगे। और तुमसे मैं कहता हूं कि तुम जो आए थे, वही तुम जा भी नहीं रहे हो। घंटेभर में गंगा का बहुत पानी बह चुका है।
यहां कुछ भी ठहरा हुआ नहीं है। इसलिए परमात्मा को हम कहते हैं, एक्झिस्टेंस; और जगत को कहते हैं, चेंज। संसार है परिवर्तन और परमात्मा है अस्तित्व। सत का अर्थ है, वह जो सदा है।
जिस व्यक्ति का अंतःकरण शुद्ध हुआ, वह जानता है, मैं सदा हूं। न मैं कभी पैदा हुआ और न कभी मरूंगा। न मैं बच्चा हूं, न मैं बूढ़ा हूं, न मैं जवान हूं। मैं वह हूं, जो सदा है, जो कभी परिवर्तित नहीं होता है।
दूसरा शब्द है, चित। चित का अर्थ है, चैतन्य। जो व्यक्ति जितना शुद्ध होकर भीतर झांकता है, उतना ही पाता है कि वहां चेतना ही चेतना है; वहां कोई

मूर्च्छा नहीं। और जब कोई अपने भीतर देख लेता है कि सब चैतन्य है, उसे बाहर भी चैतन्य दिखाई पड़ने लगता है।
ध्यान रहे, जो हम भीतर हैं, वही हमें बाहर दिखाई पड़ता है। चोर को चोर दिखाई पड़ते हैं बाहर। ईमानदार को ईमानदार दिखाई पड़ते हैं बाहर। बाहर हमें वही दिखाई पड़ता है, जो हम भीतर हैं। चूंकि भीतर हम मूर्च्छित हैं, इसलिए बाहर हमें पदार्थ दिखाई पड़ता है। जब हम भीतर चेतना को अनुभव करते हैं शुद्ध अंतःकरण में, तो बाहर भी चेतना का सागर दिखाई पड़ने लगता है। तब सब चीजें चेतन हैं। तब पत्थर भी जीवंत और चेतन है। तब इस जगत में कुछ भी जड़ नहीं है। तो ऐसा व्यक्ति सदा चेतना में थिर होता है।
और तीसरी बात है, आनंद। जिसे पता चल गया अस्तित्व का, उसका दुख मिट जाता है। दुख परिवर्तन में है। जहां परिवर्तन है, वहीं दुख है। और जहां परिवर्तन नहीं है, वहीं आनंद है। जिस व्यक्ति को पता चल गया कि परिवर्तन के बाहर हूं मैं, उसके जीवन से दुख विदा हो जाता है।

मूर्च्छा में दुख है। जहां बेहोशी है, वहां दुख है। ध्यान रखें, इसलिए दुखी आदमी शराब पीने लगते हैं। और शराबी आदमी दुखी हो जाते हैं। जहां-जहां दुख है, वहां-वहां बेहोशी की तलाश होती है। और जहां-जहां बेहोशी है, वहां- वहां दुख बढ़ता चला जाता है, विशियस सर्किल की तरह। इसलिए दुखी आदमी शराब पीने लगेगा। दुनिया में जितना दुख बढ़ेगा, उतनी शराब बढ़ेगी। जितनी शराब बढ़ेगी, उतना दुख बढ़ेगा। और एक-दूसरे को बढ़ाते चले जाएंगे। जितना ही आदमी होश से भरता है, उतना ही दुख के बाहर हो जाता है।
नित्य का पता चल जाए, चैतन्य का अनुभव हो जाए, आनंद की घटना घट जाती है। और ध्यान रहे, यह आनंद किसी से मिलता नहीं। यह फर्क है। सुख किसी से मिलता है। आनंद किसी से मिलता नहीं है, भीतर से आता है। सुख सदा बाहर से आता है। सुख सदा किसी पर निर्भर होता है। आनंद सदा ही स्वतंत्र होता है। इसलिए सुख के लिए दूसरे का मोहताज होना पड़ता है। आनंद के लिए किसी का मोहताज होने की जरूरत नहीं है।
अगर मुझे सुखी होना है, तो मुझे समाज में किसी के साथ होना पड़ेगा। और अगर मुझे आनंदित होना है, तो मैं अकेला भी हो सकता हूं। अगर इस पृथ्वी पर मैं अकेला रह जाऊं और आप सब कहीं विदा हो जाएं, तो मैं सुखी तो नहीं हो सकता, आनंदित हो सकता हूं।
लेकिन ध्यान रहे, जिनसे हमें सुख मिलता है, उनसे ही दुख मिलता है। जिसे आनंद मिलता है, उसे दुख का उपाय नहीं रह जाता।
एक बात अंतिम। आप सोच न पाएंगे, मनुष्य की भाषा में सब भाषाओं के विपरीत शब्द हैं, आनंद के विपरीत कोई शब्द नहीं है। सुख का ठीक पैरेलल दुख है। खड़ा है सामने। प्रेम के पैरेलल, समानांतर खड़ी है घृणा। दया के समानांतर खड़ी है क्रूरता। सबके समानांतर कोई खड़ा है। आनंद अकेला शब्द है। क्योंकि आनंद स्वनिर्भर है, द्वंद्व के बाहर है, अद्वैत है। सुख-दुख, प्रेम-घृणा, सब द्वंद्व के भीतर हैं, द्वैत हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, अंतःकरण शुद्ध हुआ जिसका, वह सच्चिदानंद परमात्मा में स्थिर, सदा स्थिर होता है।
शेष कल हम बात करेंगे। पर बैठे रहें। पांच मिनट अब उस आनंद की खबर को अपने भीतर समा जाने दें। देखें। ताली बजाएं। गा सकें, गाएं। बैठे-बैठे डोल सकें, डोलें। इस आनंद को लें और फिर पांच मिनट बाद चुपचाप विदा हो जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
सातवां प्रवचन

माया अर्थात सम्मोहन

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। 14।।
और परमेश्वर भी भूतप्राणियों के न कर्तापन को और न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के संयोग को वास्तव में रचता है। किंतु परमात्मा के सकाश से प्रकृति ही बर्तती है, अर्थात गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं।

परमात्मा स्रष्टा तो है, लेकिन कर्ता नहीं है। इस सूत्र में कृष्ण ने बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है, परमात्मा स्रष्टा तो है, लेकिन कर्ता नहीं है। कर्ता इसलिए नहीं कि परमात्मा को यह स्मरण भी नहीं है--स्मरण हो भी नहीं सकता है--कि मैं हूं। मैं का ख्याल ही तू के विरोध में पैदा होता है। तू हो, तो ही मैं पैदा होता है। परमात्मा के लिए तू जैसा अस्तित्व में कुछ भी नहीं है। इसलिए मैं का कोई ख्याल परमात्मा को पैदा नहीं हो सकता है। मैं के लिए जरूरी है कि तू सामने खड़ा हो। तू के खिलाफ, तू के विरोध में,
तू के साथ-सहयोग में मैं निर्मित होता है। परमात्मा के मैं का, अहंकार के निर्माण का कोई भी उपाय नहीं है। इसलिए कर्ता का कोई ख्याल परमात्मा को नहीं हो सकता। लेकिन स्रष्टा वह है। और स्रष्टा से अर्थ है कि जीवन की सारी सृजन-धारा उससे ही बहती है। सारा जीवन उससे ही जन्मता और उसी में लीन होता है। लेकिन इस स्रष्टा की बात को भी थोड़ा-सा समझ लेना जरूरी होगा। स्रष्टा भी बहुत तरह से हो सकता है कोई। एक मूर्तिकार एक मूर्ति का निर्माण करता है। मूर्ति बनती जाती है, मूर्तिकार से अलग होती चली जाती है। जब मूर्ति बन जाती है, तो मूर्तिकार अलग होता है, मूर्ति अलग होती है। मूर्तिकार मर भी जाए, तो जरूरी नहीं कि मूर्ति मरे। मूर्तिकार के बाद भी मूर्ति जिंदा रह सकती है। मूर्तिकार ने जो सृष्टि की, वह सृष्टि अपने से अन्य है, अलग है, बाहर है। मूर्तिकार बनाएगा जरूर, लेकिन मूर्तिकार पृथक है।
एक नृत्यकार नाचता है। एक नर्तक नाचता है। वह भी सृजन करता है नृत्य का। लेकिन नृत्य नर्तक से अलग नहीं होता है। नर्तक चला गया, नृत्य भी चला गया। नर्तक मर जाएगा, तो नृत्य भी मर जाएगा। नर्तक ठहर जाएगा, तो नृत्य भी ठहर जाएगा। नृत्य नर्तक से भिन्न कहीं भी नहीं है, फिर भी भिन्न है। इस अर्थ में तो भिन्न नहीं है नर्तक से नृत्य, जिस अर्थ में मूर्ति मूर्तिकार से भिन्न होती है। लेकिन फिर भी भिन्न है। भिन्न इसलिए है कि नर्तक तो नृत्य के बिना हो सकता है, लेकिन नृत्य नर्तक के बिना नहीं हो सकता। नर्तक नृत्य के बिना हो सकता है, लेकिन नृत्य नर्तक के बिना नहीं हो सकता। मूर्तिकार और मूर्ति में जो भेद है, वैसा भेद तो नृत्यकार और नर्तक में नहीं है, लेकिन पूरा अभेद भी नहीं है। एक भी नहीं हैं दोनों। क्योंकि नृत्यकार हो सकता है, नृत्य न हो, लेकिन नृत्य नहीं हो सकेगा। ठीक ऐसे ही, जैसे सागर हो सकता है, लहर न हो। लेकिन लहर नहीं हो सकती सागर के बिना। सागर के होने में कोई कठिनाई नहीं है बिना लहर के। लेकिन लहर सागर के बिना नहीं हो सकती है। इसलिए सागर और लहर एक भी हैं और एक नहीं भी हैं। परमात्मा का जगत से जो संबंध है, वह नर्तक जैसा है। इसलिए अगर हिंदुओं
ने नटराज की धारणा की, तो बड़ी कीमती है। नाचते हुए परमात्मा की धारणा की है। नृत्य करते शिव को सोचा, तो बहुत गहरा है। शायद पृथ्वी पर नृत्य करते हुए परमात्मा की धारणा हिंदू धर्म के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं है। जहां भी लोगों ने परमात्मा की सृष्टि की बात सोची है, वहां सृष्टि मूर्ति और मूर्तिकार वाली सोची है, नृत्य और नर्तक वाली नहीं।
लोग उदाहरण देते हैं कि जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है। नहीं, परमात्मा इस तरह जगत को नहीं बनाता है। परमात्मा इसी तरह जगत को बनाता है, जैसे नर्तक नृत्य को बनाता है--एक। पूरे समय डूबा हुआ नृत्य में और फिर भी

अलग। क्योंकि चाहे तो नृत्य को छोड़ दे और अलग खड़ा हो जाए। नृत्य बचेगा नहीं उसके बिना। नर्तक उसके बिना बच सकता है। इसलिए नृत्य नर्तक पर निर्भर है, नर्तक नृत्य पर निर्भर नहीं है।
परमात्मा और प्रकृति के बीच नर्तक और नृत्य जैसा संबंध है। प्रकृति निर्भर है परमात्मा पर। परमात्मा प्रकृति पर निर्भर नहीं है। परमात्मा न हो, तो प्रकृति खो जाएगी, शून्य हो जाएगी। लेकिन परमात्मा प्रकृति के बिना भी हो सकता है। भेद भी है और अभेद भी, भिन्नता भी है और अभिन्नता भी, दोनों एक साथ।
प्रकृति के बीच परमात्मा वैसे ही है, जैसे नृत्य के बीच नर्तक है। लेकिन जब नर्तक नाचता है, तो शरीर का उपयोग करता है। शरीर की सीमाएं शुरू हो जाती हैं। पैर थक जाएगा, जरूरी नहीं कि नर्तक थके। पैर टूट भी सकता है, जरूरी नहीं कि नर्तक टूटे। पैर चलने से थकेगा, पैर की सीमा है। हो सकता है, नर्तक अभी न थका हो। नर्तक नृत्य करते शरीर के भीतर कैटेलिटिक एजेंट की तरह है। कैटेलिटिक एजेंट की बात थोड़ी ख्याल में ले लें, तो कृष्ण का सूत्र समझ में आएगा।
विज्ञान में कैटेलिटिक एजेंट का बड़ा मूल्य है, अर्थ है। कैटेलिटिक एजेंट से ऐसे तत्वों का प्रयोजन है, जो स्वयं भाग तो नहीं लेते किसी क्रिया में, लेकिन उनके बिना क्रिया हो भी नहीं सकती। जैसे कि हाइड्रोजन और आक्सीजन को हम मिला दें, तो पानी नहीं बनेगा। बनना चाहिए, क्योंकि हाइड्रोजन और आक्सीजन के अतिरिक्त पानी में और कुछ भी नहीं होता। हाइड्रोजन और आक्सीजन को मौजूद कर देने से पानी नहीं बनेगा। बनना चाहिए। क्योंकि पानी को अगर हम तोड़ें, तो सिवाय हाइड्रोजन और आक्सीजन के कुछ भी नहीं होता।
फिर पानी कैसे बनेगा? अगर हाइड्रोजन और आक्सीजन के बीच में बिजली कौंधा दें, तो पानी बनेगा।
बिजली क्या करती है कौंधकर? वैज्ञानिक कहते हैं, बिजली कुछ भी नहीं करती; सिर्फ उसकी मौजूदगी, प्रेजेंस कुछ करती है। सिर्फ मौजूदगी! बिजली कुछ नहीं करती, सिर्फ उसकी मौजूदगी कुछ करती है। सिर्फ मौजूदगी। ध्यान रहे, बिजली कर्ता नहीं बनती; कुछ करती नहीं। सिर्फ मौजूदगी; बस उसके मौजूद होने में, उसकी मौजूदगी की छाया में हाइड्रोजन और आक्सीजन मिलकर पानी बन जाते हैं।
इसीलिए अगर हम पानी को तोड़ें, तो हाइड्रोजन और आक्सीजन तो हमको मिलेंगे, लेकिन बिजली नहीं मिलेगी। क्योंकि बिजली कृत्य में प्रवेश नहीं करती। लेकिन बड़े मजे की बात यह है कि बिजली अगर मौजूद न हो, तो हाइड्रोजन और आक्सीजन मिलते भी नहीं हैं। इनके मिलन के लिए बिजली की मौजूदगी जरूरी है। अब इस मौजूदगी को हम क्या कहें? इस मौजूदगी ने कुछ किया जरूर, फिर भी कुछ भी नहीं किया; कर्ता नहीं है।
परमात्मा को इस सूत्र में कृष्ण बिल्कुल कैटेलिटिक एजेंट कह रहे हैं।
वे यह कह रहे हैं कि सारी प्रकृति बर्तती है। यद्यपि परमात्मा की मौजूदगी के बिना प्रकृति बर्त नहीं सकेगी। फिर भी परमात्मा की मौजूदगी में प्रकृति ही बर्तती है, परमात्मा नहीं बर्तता।
जैसे मैंने उदाहरण के लिए कल आपको कहा था, उसे थोड़ा गहरे में देख लें। आपको भूख लगी है। मैंने आपसे कहा, भूख आपको नहीं लगती, पेट को लगती है। निश्चित ही भूख आपको नहीं लगती, पेट को लगती है। आपको सिर्फ पता चलता है कि पेट को भूख लगी। लेकिन अगर आप शरीर के बाहर हों, तो फिर पेट को भूख लग सकती है या नहीं? आप मर गए समझिए। शरीर अब भी है, पेट अब भी है। भूख अब भी लगनी चाहिए; क्योंकि पेट को भूख लगती थी, आपको तो लगती नहीं थी। आप अब नहीं हैं, पेट को भूख अब नहीं लगती है। यद्यपि इससे यह मतलब नहीं कि आपको भूख लगती थी। आपकी मौजूदगी पेट को भूख लगने के लिए जरूरी थी। अन्यथा उसको भूख भी नहीं लगती। फिर भी भूख आपको नहीं लगती थी, भूख पेट को ही लगती थी।
सारी प्रकृति बर्तती है अपने-अपने गुणधर्म से, परमात्मा की मौजूदगी में। सिर्फ उसकी प्रेजेंस काफी है। बस वह है, और प्रकृति बर्तती चली जाती है। लेकिन वर्तन का कोई भी कृत्य परमात्मा को कर्ता नहीं बनाता है। कर्ता

और स्रष्टा में मैं यही फर्क कर रहा हूं। उसके बिना सृष्टि चल नहीं सकती, इसलिए उसे मैं स्रष्टा कहता हूं। वह सृष्टि को चलाता नहीं रोज-रोज, इसलिए उसे मैं कर्ता नहीं कहता हूं।
कृष्ण के इस सूत्र में उन्होंने कहा है, जो जानते हैं, वे जानते हैं कि प्रकृति अपने गुणधर्म से काम करती रहती है।
पानी भाप बनता रहता है। परमात्मा पानी को भाप नहीं बनाता। लेकिन परमात्मा की मौजूदगी के बिना पानी भाप नहीं बनेगा। पानी भाप बनकर बादल बन जाएगा। बादल सर्द होंगे, बरसा होगी। पहाड़ों पर पानी गिरेगा। गंगाओं से बहेगा। सागर में पहुंचेगा। फिर बादल बनेंगे। यह चलता रहेगा। बीज वृक्षों से गिरेंगे जमीन में, फिर अंकुर आएंगे। परमात्मा किसी बीज को अंकुर बनाता नहीं, लेकिन परमात्मा के बिना कोई बीज अंकुरित नहीं हो सकता है। उसकी मौजूदगी! लेकिन मौजूदगी का यह जो कैटेलिटिक एजेंट का ख्याल है, इसे एक तरफ से और समझें।
पश्चिम में एक वैज्ञानिक है, जीन पियागेट। उसने मां और बेटे के बीच, मां और बच्चे के बीच, जीवनभर क्या-क्या होता है, इसका ही अध्ययन किया है। वह कुछ अजीब नतीजों पर पहुंचा है, वह मैं आपसे कहना चाहूंगा। वे भी कैटेलिटिक एजेंट जैसे नतीजे हैं। लेकिन कैटेलिटिक एजेंट तो पदार्थ की बात है। मां का संबंध और बेटे का संबंध पदार्थ की बात नहीं, चेतना की घटना है।
जीन पियागेट का कहना है कि मां से बच्चे को दूध मिलता है, यह तो हम जानते हैं। लेकिन कुछ और भी मिलता है, जो हमारी पकड़ में नहीं आता। क्योंकि पियागेट ने ऐसे बहुत-से प्रयोग किए, जिनमें बच्चे को मां से अलग कर लिया। सब दिया, जो मां से मिलता था। दूध दिया। सेवा दी। सब दिया। लेकिन फिर भी मां से जो बच्चा अलग हुआ, उसकी ग्रोथ रुक गई, उसका विकास रुक गया। उसके विकास में कोई बाधा पड़ गई। वह रुग्ण और बीमार रहने लगा।
चालीस साल के निरंतर अध्ययन के बाद पियागेट यह कहता है कि मां की मौजूदगी, प्रेजेंस कुछ करती है। सिर्फ उसकी मौजूदगी। बच्चा खेल रहा है बाहर। मां बैठी है अपने मकान के भीतर। मां भीतर मौजूद है, बच्चा कुछ और है। सिर्फ मौजूदगी, एक मिल्यू, एक हवा मां की मौजूदगी की!
अरब में एक बहुत पुरानी कहावत है कि चूंकि परमात्मा सब जगह नहीं हो सकता था, इसलिए उसने माताओं का निर्माण किया। बहुत बढ़िया कहावत है। चूंकि परमात्मा सब जगह कहां-कहां आता, इसलिए उसने बहुत-सी मां बना दीं, ताकि परमात्मा की मौजूदगी मां से बह सके।
मां से कुछ बहता है, जो इम्मैटीरियल है, पदार्थगत नहीं है। जिसको नापा नहीं जा सकता है। कोई ऊष्मा, कोई प्रीति, कोई स्नेह की धार--शायद किसी दिन हम जान लें।
बहुत-सी चीजें हैं, जो हमारे चारों तरफ हैं, अभी हम नाप नहीं पाए। जमीन में ग्रेविटेशन है, हम जानते हैं। पत्थर को ऊपर फेंकें, नीचे आ जाता है। लेकिन अभी तक ग्रेविटेशन नापा नहीं जा सका कि है क्या! यह जमीन की जो कशिश है, यह क्या है! चांद पर हम पहुंच गए हैं, लेकिन अभी कशिश के मामले में हम कहीं नहीं पहुंचे हैं। अभी हमें पता नहीं कि यह कशिश क्या है, जमीन जो खींचती है।
पियागेट कहता है कि मां और बेटे के बीच भी ठीक ऐसी ही कशिश है, कोई ग्रेविटेशन है। जिससे बेटा वंचित हो जाए, तो हमें पता नहीं चलेगा, लेकिन सूखना शुरू हो जाएगा, मुर्झाना शुरू हो जाएगा।
कोई आश्चर्य नहीं है कि अमेरिका में जिस दिन से परिवार शिथिल हुआ और मां और बेटे के संबंध क्षीण हुए, उसी दिन से अमेरिका विक्षिप्त होता जा रहा है। पचास सालों में अमेरिका रोज पागलपन के करीब गया है। और अब मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि उस पागलपन का सबसे बड़ा कारण यह है कि मां और बेटे के बीच संबंध की जो धारा थी, वह क्षीण हो गई।
अमेरिका की स्त्री बच्चे को दूध पिलाने को राजी नहीं है। क्योंकि वैज्ञानिक कहते हैं, इतना ही दूध तो बोतल से भी पिलाया जा सकता है। और कोई हैरानी नहीं है कि मां के स्तन से भी अच्छा स्तन बनाया जा सकता है। इसमें

कोई अड़चन नहीं है। लेकिन फिर भी उसके भीतर से जो अनजानी धारा बहती थी, वह जो कैटेलिटिक एजेंट था मदरहुड का, मातृत्व का, वह नहीं पैदा किया जा सकता। दूध के साथ वह भी बहता था। अभी हमारे पास नापने का उसे कोई उपाय नहीं है। लेकिन हम आज नहीं कल... रोज-रोज जितनी हमारी समझ बढ़ती है, यह बात साफ होती चली जाती है कि मानवीय संबंधों में भी कुछ बहता है। जब भी ऐसा कोई बहाव होता है, तभी हमें प्रेम का अनुभव होता है। और जब परमात्मा और हमारे बीच ऐसा कोई बहाव होता है, तो हमें प्रार्थना का अनुभव होता है। ये दोनों अनुभव किसी अदृश्य मौजूदगी के अनुभव हैं।
लेकिन कृष्ण कहते हैं, परमात्मा कुछ करता नहीं।
ध्यान रहे, करना उसे पड़ता है, जो कमजोर हो। करना कमजोरी का लक्षण है।
जो शक्तिशाली है, उसकी मौजूदगी ही करती है।
एक शिक्षक क्लास में आता है और आकर डंडा बजाकर विद्यार्थियों को कहता
है कि देखो, मैं आ गया। मैं तुम्हारा शिक्षक हूं। चुप हो जाओ! यह शिक्षक कमजोर है। सच में जब कोई शिक्षक कमरे में आता है, तो सन्नाटा छा जाता है, उसकी मौजूदगी से। कहना पड़े, तो शिक्षक है ही नहीं।
इसलिए पुराने सूत्र यह नहीं कहते कि गुरु को आदर करो। पुराने सूत्र कहते हैं, जिसको आदर करना ही पड़ता है, उसका नाम गुरु है।
जिस गुरु को आदर करने के लिए कहना पड़े, वह गुरु नहीं है। जो गुरु कहे, मुझे आदर करो, वह दो कौड़ी के योग्य है। वह कोई गुरु-वुरु नहीं है। गुरु है ही वह कि आप न भी चाहें कि आदर करो, तो भी आदर करना ही पड़े। उसकी मौजूदगी, तत्काल भीतर से कुछ बहना शुरू हो जाए। नहीं; वह चाहता भी नहीं। नहीं; वह कहता भी नहीं। उसे पता भी नहीं है कि कोई उसे आदर करे। लेकिन उसकी मौजूदगी, और आदर बहना शुरू हो जाता है।
परमात्मा परम शक्ति का नाम है। अगर उसको भी कुछ करके करना पड़े, तो कमजोर है। कृष्ण कहते हैं, वह कुछ करता नहीं है। वह है, इतना ही काफी है। उसका होना पर्याप्त है। पर्याप्त से थोड़ा ज्यादा ही है। और प्रकृति काम करती चली जाती है। उसकी मौजूदगी में सारा काम चलता चला जाता है।
लेकिन प्रकृति बर्तती है अपने गुणों से, अपने नियमों से। इसलिए जो ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है, जो इस मौलिक तत्व को और आधार को समझ लेता है, वह फिर मैं करता हूं, इस भ्रांति से छूट जाता है।
इतना बड़ा विराट अस्तित्व चल रहा है बिना कर्ता के, तो मेरी छोटी-सी गृहस्थी बिना कर्ता के नहीं चल पाएगी? इतने चांद-तारे यात्राएं कर रहे हैं बिना कर्ता के! रोज सुबह सूरज उग आता है। हर वर्ष वसंत आ जाता है। अरबों-खरबों वर्षों से पृथ्वियां घूमती हैं, निर्मित होती हैं, मिटती हैं। अनंत तारों का जाल चलता रहता है। बिना किसी कर्ता के इतना सब चल रहा है। लेकिन मैं कहता हूं, मेरी दुकान बिना कर्ता के कैसे चलेगी!
जो व्यक्ति इस मूल आधार को समझ लेता है कि इतना विराट अस्तित्व चलता चला जा रहा है, तो मेरे क्षुद्र कामों में मैं नाहक ही कर्ता को पकड़कर बैठा हुआ हूं। इतना विराट चल सकता है कर्ता से मुक्त होकर, तो मैं भी चल सकता हूं। जिस व्यक्ति को यह स्मरण आ गया, वह संन्यासी है। जिस व्यक्ति को यह स्मरण आ गया कि इतना विराट चलता है बिना कर्ता के, तो अब मैं भी बिना कर्ता के चलता हूं। उठूंगा सुबह, दुकान पर जाकर बैठ जाऊंगा। काम कर लूंगा। भूख लगेगी, खाना खा लूंगा। नींद आएगी, सो जाऊंगा। लेकिन अब मैं कर्ता नहीं रहूंगा। प्रकृति करेगी, मैं देखता रहूंगा। बाधा भी नहीं डालूंगा। क्योंकि जो बाधा डालेगा, वह भी कर्ता हो जाएगा।
आपको नींद आ रही है और आपने कहा, हम न सोएंगे, तो भी आप कर्ता हो गए। सुबह नींद आ रही है और आप जबर्दस्ती बोले कि हम तो ब्रह्ममुहूर्त में उठकर रहेंगे, तो भी कर्ता हो गए।
जीवन को सहज, जैसा जीवन है, उसको कर्ता को छोड़कर प्रकृति पर छोड़ देने वाला व्यक्ति संन्यासी है। कृष्ण उसी निष्काम कर्मयोगी की बात कर रहे हैं।
लेकिन हमारे मन में बड़ी-बड़ी भ्रांत धारणाएं हैं। आज दोपहर एक बहुत मजेदार बात हुई। एक महिला मुझे मिलने आई। आते ही उसने एक चांटा मेरे मुंह

पर मार दिया। मैंने उससे पूछा, और क्या कहना है? तो उसने कहा, दूसरा गाल भी मेरे सामने करिए। मैंने दूसरा गाल भी उसके सामने कर दिया। उसने दूसरा चांटा भी मार दिया। मैंने कहा, और क्या कहना है? उसने कहा कि नहीं, और कुछ नहीं कहना। मैं तो आपकी परीक्षा लेने आई थी। मैंने कहा, मेरे शरीर को चांटा मारकर मेरी परीक्षा कैसे होगी? उससे नहीं कहा, क्योंकि जिसकी शरीर पर बुद्धि अटकी हो, उससे कुछ भी कहना कठिन है।
मेरे शरीर को चोट पहुंचाकर मेरी परीक्षा कैसे होगी? लेकिन हमारा भरोसा शरीर पर है। तुम मुझे छुरा भी मारोगे, तो भी शरीर अपना काम जो करता है, कर लेगा। चांटा मारोगे, तो मेरे गाल पर हाथ का निशान बन जाएगा। शरीर अपना काम बर्त लेगा। अगर मेरे भीतर ख्याल हो कि मुझे मारा गया, तो उपद्रव भीतर तक प्रवेश कर जाएगा। अन्यथा मैं देखूंगा कि मेरे शरीर को मारा गया। शरीर को मारा गया; शरीर को जो करना है, वह अपना कर लेगा।
और हैरानी की बात है कि शरीर चुपचाप अपने नियम में बर्तकर अपनी जगह वापस लौट जाता है। प्रकृति बड़ी शांति से अपना काम कर लेती है। उसके हाथ का निशान बन गया था, थोड़ी देर बाद मैंने देखा, वह खो गया; शरीर उसे पी गया। लेकिन अगर मैं कर्ता बन जाऊं, मुझे मारा गया या मैं मारूं या उत्तर दूं या कुछ करूं, तो फिर उपद्रव शुरू हुआ। लेकिन हमारी पकड़ शरीर की भाषा से, प्रकृति की भाषा से ऊपर नहीं उठती।
अगर मुझे मजाक करना होता, तो एक चांटा मैं भी उसे मार सकता था। मजाक करना होता! लेकिन गरीब नासमझ औरत, उसके साथ मजाक करनी ठीक भी नहीं। लेकिन हम भाषा कौन-सी समझते हैं!
जब वह चली गई, तो मुझे ख्याल आया। एक फकीर हुआ, नसरुद्दीन। उसके पास एक गधा था, जिस पर वह यात्रा करता रहता था। एक दिन पड़ोस का एक आदमी उसका गधा मांगने आया और उसने नसरुद्दीन से कहा कि अपना गधा मुझे दे दें; बहुत जरूरी काम है। नसरुद्दीन ने कहा कि गधा तो कोई और उधार मांग ले गया है। लेकिन तभी--गधा ही तो ठहरा--पीछे से अस्तबल से गधे ने आवाज दी। वह आदमी क्रोध से भर गया। उसने कहा कि धोखा देते हैं मुझे? गधा अंदर बंधा हुआ मालूम पड़ता है। नसरुद्दीन ने कहा, क्या मतलब तुम्हारा? मेरी बात नहीं मानते; गधे की बात मानते हो? मैं कहता हूं, मेरा तुम्हें भरोसा नहीं आता। गधा आवाज देता है, उसका तुम्हें भरोसा आता है! किस तरह की भाषा समझते हो? आदमी हो कि गधे? मैं जो कह रहा हूं, वह समझ में नहीं आएगा। मेरे शरीर को एक चांटा मारकर कोई परीक्षा लेने आता है। लेकिन शरीर सवारी से ज्यादा नहीं है, गधे से ज्यादा नहीं है। पर कुछ लोग उसकी ही भाषा समझते हैं।
प्रकृति की भाषा से ऊपर हम नहीं उठ पाते, इसलिए परमात्मा की हमें कोई झलक भी नहीं मिल पाती है। परमात्मा की झलक लेनी हो, तो प्रकृति की भाषा से थोड़ा पार जाना पड़ेगा। और यह चारों तरफ जो भी हमें दिखाई पड़ रहा है, सब प्रकृति का खेल है। जो भी हमारी आंख में दिखाई पड़ता है, जो भी हमारे कान में सुनाई पड़ता है, जिसे भी हम हाथ से छूते हैं, वह सब प्रकृति का खेल है। प्रकृति अपने गुणधर्म से बरत रही है। अगर इतने पर ही कोई रुक गया, तो वह कभी परमात्मा की झलक को उपलब्ध न होगा।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, उसकी झलक को अगर उपलब्ध होना हो, तो यह प्रकृति
का काम है, ऐसा समझकर गहरे में इसे प्रकृति को ही करने दो। तुम मत करो। तुम कर्ता मत रह जाओ, तुम सिर्फ द्रष्टा हो जाओ; साक्षी हो जाओ कि प्रकृति ऐसा कर रही है। तुम सिर्फ देखते रहो एक दर्शक की भांति। और धीरे-धीरे-धीरे वह द्वार खुल जाएगा, जहां से, जिसने कभी कुछ नहीं किया, यद्यपि जिसके बिना कभी कुछ नहीं हुआ, उस परमात्मा की प्रतिमा झलकनी शुरू हो जाएगी।

प्रश्नः भगवान श्री, आपने पिछली एक चर्चा में कहा है कि परमात्मा अर्थात अस्तित्व, एक्झिस्टेंस, समग्रता, टोटेलिटी। लेकिन इस श्लोक में भूतप्राणी और परमात्मा, या प्रकृति और परमात्मा ऐसे दो अलग-अलग विभाग कैसे कहे गए हैं, इसके क्या कारण हैं?

वही, जैसा मैंने कहा, नृत्य और नृत्यकार। अगर हम नृत्यकार की तरफ से देखें, तो दोनों एक हैं। लेकिन अगर नृत्य की तरफ से देखें, तो दोनों एक नहीं हैं। जैसे लहर और सागर। सागर की तरफ से देखें, तो दोनों एक हैं। लहर की तरफ से देखें, तो दोनों एक नहीं हैं।
तो यदि हम परमात्मा की तरफ से देखें, तब तो प्रकृति है ही नहीं; वही है। लेकिन अगर प्रकृति की तरफ से देखें, तो प्रकृति है।
ये जो भेद हैं, सब भेद मनुष्य की बुद्धि से निर्मित हैं--सब भेद। और अगर कृष्ण जैसे व्यक्ति को भी समझाना हो किसी को--कृष्ण भलीभांति जानते हैं अभेद को, नहीं कोई भेद है, एक ही है। लेकिन समझाना हो किसी को, तो तत्काल दो करने पड़ेंगे।
यह बहुत समझने जैसी बात है। जैसे कि कांच के एक प्रिज्म में से हम सूरज की किरण को निकालें, तो सात टुकड़ों में बंट जाती है। किरण तो एक होती है, लेकिन तत्काल प्रिज्म में से निकलते ही के साथ सात हो जाती है।
कभी पानी में एक लकड़ी के डंडे को डालकर देखें। डंडा सीधा हो, पानी में जाते ही तिरछा दिखाई पड़ने लगता है। बाहर निकालें, फिर सीधा हो गया। फिर पानी में डालें, फिर तिरछा हो गया! क्या, बात क्या है? डंडा तिरछा हो जाता है? हो नहीं जाता। लेकिन पानी के माध्यम में किरणों का प्रवाह, किरणों की धारा और दिशा थोड़ी-सी झुक जाती है पानी की मौजूदगी से, इसलिए डंडा तिरछा दिखाई देने लगता है। और आप दस दफे निकालकर देख लें कि डंडा सीधा है, ग्यारहवीं बार फिर डालें, तो भी तिरछा ही दिखाई पड़ेगा। आप यह मत सोचना कि हम दस बार देख लिए कि सीधा है, इसलिए ग्यारहवीं बार धोखा नहीं होगा, अब की दफे सीधा दिखाई पड़ेगा। तिरछा ही दिखाई पड़ेगा।
बुद्धि का एक माध्यम है। समझाया तो जाता है बुद्धि से और समझा भी जाता
है बुद्धि से। सत्य है अद्वैत, लेकिन समझ सदा द्वैत की होती है। ट्रुथ इ.ज नान-डुअल; अंडरस्टैंडिंग इ.ज आलवेज डुअल। सत्य तो है एक, लेकिन समझ सदा होती है द्वैत की। समझाना हो, तो दो करने ही पड़ेंगे। असल में जब भी कोई किसी को समझाता है, तभी दो हो गए। समझाने वाला और समझने वाला जहां आ गए, वहां दो आ गए। कोई समझा रहा है, कोई समझ रहा है--दो हो गए।
एक फकीर का मुझे स्मरण आता है। एक झेन फकीर बांकेई के पास एक आदमी गया
और उसने कहा कि मुझे कुछ सत्य के संबंध में कहो। बांकेई बैठा रहा; कुछ भी न बोला। उस आदमी ने समझा कि शायद बहरा मालूम पड़ता है। जोर से कहा कि मुझे सत्य के संबंध में कुछ कहिए! लेकिन बांकेई वैसे ही बैठा रहा। लगा कि वज्र बहरा मालूम होता है। हिलाया जोर से बांकेई को उस आदमी ने। बांकेई हिल गया। उसने कहा कि मैं पूछ रहा हूं सत्य के संबंध में। बांकेई ने कहा, मुझे सुनाई पड़ता है। उस आदमी ने कहा, जवाब क्यों नहीं देते? तो बांकेई ने कहा, अगर मैं जवाब दूं, तो द्वैत हो जाएगा। और अगर मैं चुप रहूं, तो तुम समझोगे नहीं। तुमने मुझे बड़ी मुश्किल में डाल दिया है।
कृष्ण को अगर अद्वैत की ओर इशारा करना हो, तो मौन रह जाना पड़े। लेकिन अर्जुन की समझ के बाहर होगा मौन। और भाषा जब भी विचार शुरू करती है, तभी टूट शुरू हो जाती है। तोड़ना ही पड़ेगा। अनिवार्य रूप से बुद्धि खंडन करती है, खंड करती है, एनालिसिस करती है, टुकड़े करती है।
इसीलिए तो विज्ञान की जो पद्धति है, वह एनालिसिस है। तोड़ो, खंड-खंड करते जाओ, और तोड़ते चले जाओ। हर चीज को, जिसको भी समझना हो, तोड़ना पड़ेगा। अभी पचास साल पहले डाक्टर होता था, तो वह पूरे आदमी का डाक्टर होता था। वह आपकी बीमारी का इलाज कम करता था, बीमार का इलाज ज्यादा करता था। आपसे परिचित होता था भलीभांति। मरीज को पूरी तरह पहचानता था। आज हालत बिल्कुल बदल गई है। अगर बाएं कान में दर्द है, तो एक डाक्टर के पास जाइए; दाएं कान में दर्द है, तो दूसरे डाक्टर के पास जाइए। उसको आपसे मतलब नहीं है। बस, उस कान के टुकड़े से मतलब है। बाकी मरीज बेकार है; हो या न हो। वह अपने कान की जांच कर लेगा।
इसलिए आज मरीज की कोई चिकित्सा नहीं होती, सिर्फ बीमारी की चिकित्सा होती है। और इनमें बड़ा फर्क है। टु ट्रीट ए डिसीज एंड टु ट्रीट ए पेशेंट, बहुत फर्क बातें हैं। क्योंकि जब मरीज की चिकित्सा करनी हो, तो करुणा की

जरूरत पड़ती है। और जब सिर्फ बीमारी की चिकित्सा करनी हो, तो यांत्रिकता पर्याप्त है। स्पेशलिस्ट जो है, वह कान की जांच करके और लिख देगा कि क्या गड़बड़ है।
विज्ञान जैसे विकसित होगा, चीजें खंड-खंड होती चली जाएंगी। विज्ञान
की प्रक्रिया बुद्धि की प्रक्रिया है। धर्म जैसे विकसित होगा, चीजें जुड़ती चली जाएंगी, खंड इकट्ठे होते जाएंगे। विज्ञान का मैथड है एनालिसिस, धर्म का मैथड है सिंथीसिस, जोड़ते चले जाओ। इसलिए धर्म जब परम स्थिति को उपलब्ध होता है, तो एक ही रह जाता है। और विज्ञान जब परम स्थिति को उपलब्ध होता है, तो परमाणु हाथ में रह जाते हैं, अनंत परमाणु। और जब धर्म विकसित होता है, तो अनंत अद्वैत, एक ही हाथ में रह जाता है।
कृष्ण की कठिनाई है, और वह सब कृष्णों की कठिनाई है, चाहे वे कहीं पैदा हुए हों--जेरूसलम में, कि मक्का में, कि चीन में, कि तिब्बत में--कहीं भी पैदा हुआ हो कोई जानता हुआ आदमी, उसकी कठिनाई यही है कि बुद्धि से कहते ही दो करने पड़ते हैं।
इसलिए कृष्ण दो कर रहे हैं, अर्जुन की तरफ से--इस बात को स्मरण रखना-- लहर की तरफ से दो कर रहे हैं। कह रहे हैं कि प्रकृति है एक अर्जुन! यह सारा काम प्रकृति कर रही है। इतना तू समझ और द्रष्टा हो जा। अगर अर्जुन द्रष्टा हो जाए, तो एक दिन वह पाएगा कि न कोई प्रकृति है, न कोई परमात्मा है, एक ही है। जैसे कि हम एक आदमी से कहें कि ये जो लहरें तुझे दिखाई पड़ रही हैं, ये सागर नहीं हैं।
आपको ख्याल नहीं होगा; आप सागर के किनारे बहुत बार गए होंगे, लेकिन लहरों को देखकर लौट आए और समझा कि सागर को देखकर आ रहे हैं। सागर को आपने कभी नहीं देखा होगा; सिर्फ लहरों को देखा है। सागर की छाती पर लहरें ही होती हैं, सागर नहीं होता। लेकिन कहते यही हैं कि हम सागर को देखकर चले आ रहे हैं। सागर का दर्शन कर आए। दर्शन किया है सिर्फ लहरों का। सागर बड़ी गहरी चीज है; लहरें बड़ी उथली चीज हैं। कहां लहरों का उथलापन और कहां सागर की गहराई! पर लहरों को हम सागर समझ लेते हैं।
आप अगर मेरे पास आएं और कहें कि मैं सागर का दर्शन करके आ रहा हूं, तो मैं कहूंगा, ध्यान रखो, सागर और लहरें दो चीज हैं। तुम लहरों का दर्शन करके आ रहे हो, उसको सागर मत समझ लेना। सागर बहुत बड़ा है। बहुत गहरे, भीतर छिपा है। और अगर सागर को देखना हो, तो तब देखना, जब लहरें बिल्कुल शांत हों। तब तुम झांक पाओगे सागर में।
आप मुझसे कह सकते हैं कि बड़ी गलत बात आप कह रहे हैं। सागर और लहरें तो
एक ही हैं! लेकिन यह उसका अनुभव है, जिसने सागर को जाना। जिसने लहरों को जाना, उसका यह अनुभव नहीं है।
तो कृष्ण की कठिनाई है। वे तो सागर को जानते हुए खड़े हैं। लेकिन अर्जुन तो लहरों पर जी रहा है। उससे वे कहते हैं कि जिसे तू जान रहा है, वह प्रकृति है। इस लहरों की उथल-पुथल को, इस लहरों की अशांति को तू सागर मत समझ लेना। यह सागर का हृदय नहीं है। सागर के हृदय को तो पता ही नहीं है कि कहीं लहरें भी उठ रही हैं। सागर के गहरे में तो पता भी नहीं है। वहां कभी कोई लहर उठी ही नहीं है। इसलिए दो हिस्सों में तोड़ लेना पड़ता है।
ज्ञान में सब द्वैत गलत है। अज्ञान में सब अद्वैत समझ के बाहर है। अज्ञान में अद्वैत समझ के अतीत है, पार है। ज्ञान में द्वैत विदा हो जाता है, बचता नहीं।
फिर क्या किया जाए? जब ज्ञानी अज्ञानी से बोले, तो क्या करे? मजबूरी में अज्ञानी की भाषा का ही उपयोग करना पड़ता है, इस आशा में कि उसी भाषा का उपयोग करके क्रमशः इशारा करते हुए, किसी घड़ी धक्का दिया जा सकेगा।
एक बच्चे को हम सिखाने बैठते हैं। उससे हम कहते हैं कि ग गणेश का। अब सेकुलर गवर्नमेंट आ गई, तो अब हम कहते हैं, ग गधे का! धर्मनिरपेक्ष राज्य हो गया, अब गणेश को तो उपयोग कर नहीं सकते! गधा सेकुलर है, धर्मनिरपेक्ष! गणेश तो धार्मिक बात हो जाएगी। इसलिए बदलना पड़ा किताबों में। पर गधे से या गणेश से ग का क्या लेना-देना? फिर बच्चा बड़ा हो जाएगा, तो हर बार जब भी पढ़ेगा कुछ, तो क्या पढ़ेगा कि ग गणेश का, ग गधे का? भूल जाएंगे। गधे भी भूल

जाएंगे, गणेश भी भूल जाएंगे। ग बचेगा। मुक्त हो जाएगा, जिससे जोड़कर बताया था। लेकिन बताते वक्त बहुत जरूरी था।
अगर हम बच्चे को बिना किसी प्रतीक के बताना चाहें, तो बता न सकेंगे।
और अगर बड़ा होकर भी बच्चा प्रतीक को पकड़े रहे, तो गलती हो गई; वह पागल हो गया। दोनों करने पड़ेंगे। प्रतीक से यात्रा शुरू करनी पड़ेगी, और एक घड़ी आएगी, जब प्रतीक छीन लेना पड़ेगा।
तो कृष्ण द्वैत की बात करेंगे, करते रहेंगे, करते रहेंगे। और जब लगेगा
कि अर्जुन उस जगह आया, जहां द्वैत छीना जा सकता है, तो अद्वैत की बात भी करेंगे। उस इशारे की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन इस घड़ी तक, अभी तक अर्जुन पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। इसलिए कृष्ण प्रकृति और परमात्मा, दो की बात कर रहे हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः।। 15।।
और सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभकर्म
को भी ग्रहण करता है, किंतु माया के द्वारा ज्ञान ढंका हुआ है। इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

और न ही वह परम शक्ति किसी के पाप या किसी के पुण्य या अशुभ या शुभ कर्मों को ग्रहण करती है। उस परम शक्ति को शुभ-अशुभ का भी कोई परिणाम, कोई प्रभाव नहीं होता है। लेकिन हम, वे जो अज्ञान से दबे हैं, वे जो स्वप्न में खोए हैं, वे उस स्वप्न और अज्ञान और माया में डूबे हुए, पाप और पुण्य के जाल में घूमते रहते हैं। इसमें दो-तीन बातें समझ लेने जैसी हैं।
पहली बात तो यह कि पाप और पुण्य केवल उसी के जीवन की धारणाएं हैं, जिसे ख्याल है कि मैं कर्ता हूं। इसे ठीक से ख्याल में ले लें। जो मानता है, मैं कर्ता हूं, करने वाला हूं, फिर उसे यह भी मानना पड़ेगा कि मैंने बुरा किया, अच्छा किया। अगर परमात्मा कर्ता नहीं है, तो अच्छे-बुरे का सवाल नहीं उठता है। जो आदमी मानता है कि मैंने किया, फिर वह दूसरी चीज से न बच सकेगा कि जो उसने किया, वह ठीक था, गलत था, सही था, शुभ था, अशुभ था!
कर्म को मान लिया कि मैंने किया, तो फिर नैतिकता से बचना असंभव है। फिर नीति आएगी। क्योंकि कोई भी कर्म सिर्फ कर्म नहीं है। वह अच्छा है या बुरा है। और कर्ता के साथ जुड़ते ही आप अच्छे और बुरे के साथ भी जुड़ जाते हैं। अच्छे और बुरे से हमारा संबंध कर्ता के बिना नहीं होता। जिस क्षण हमने सोचा कि मैंने किया, उसी क्षण हमारा कर्म विभाजन हो गया, अच्छे या बुरे का निर्णय हमारे साथ जुड़ गया। तो परमात्मा तक अच्छा और बुरा नहीं पहुंच पाता, क्योंकि कर्ता की कोई धारणा वहां नहीं है।
ऐसा समझें कि पानी हमने बहाया। जहां गड्ढा होगा, वहां पानी भर जाता है। गड्ढा न हो, तो पानी उस तरफ नहीं जाता। कर्ता का गड्ढा भीतर हो, तो ही अच्छे और बुरे कर्म उसमें भर पाते हैं। वह न हो, तो नहीं भर पाते हैं। कर्ता एक गड्ढे का काम करता है। परमात्मा के पास कोई गड्ढा नहीं है, जिसमें कोई कर्म भर जाए। कर्ता नहीं है। परमात्मा की तो बात दूर, हममें से भी कोई अगर कर्ता न रह जाए, तो न कुछ अच्छा है, न कुछ बुरा है। बात ही समाप्त हो गई। अच्छे और बुरे का ख्याल तभी तक है, जब तक हमें भी ख्याल है कि मैं कर्ता हूं।
मुझे निरंतर प्रीतिकर रही है एक घटना। कलकत्ते के एक मुहल्ले में एक नाटक चलता था। पुरानी बात है। एक बड़े बुद्धिमान आदमी विद्यासागर देखने गए हैं। सामने ही बैठे हैं। प्रतिष्ठित, नगर के जाने-माने पंडित हैं। सामने बैठे हैं। फिर नाटक कुछ ऐसा है, कथा कुछ ऐसी है कि उसमें एक पात्र है, जो एक स्त्री को निरंतर सता रहा है, परेशान कर रहा है। बढ़ती जाती है कहानी। उस स्त्री की परेशानी और उस आदमी के हमले और आक्रमण भी बढ़ते चले जाते हैं। और फिर एक दिन एक अंधेरी गली में उसने उस स्त्री को पकड़ ही लिया। बस, फिर बरदाश्त के बाहर हो गया विद्यासागर के। छलांग लगाकर मंच पर चढ़ गए, निकाला जूता और पीटने लगे उस आदमी को!

लेकिन उस आदमी ने विद्यासागर से भी ज्यादा बुद्धिमानी का परिचय दिया। उसने सिर झुकाकर उनका जूता सिर पर ले लिया। जूता हाथ में लेकर जनता से कहा कि इतना बड़ा पुरस्कार मुझे कभी नहीं मिला। मैं सोच नहीं सकता था कि विद्यासागर जैसा बुद्धिमान आदमी मेरे अभिनय को वास्तविक समझ लेगा! विद्यासागर को तो पसीना छूट गया। ख्याल आया कि नाटक देख रहे थे! नाटक था; कर्ता बन गए। दर्शक न रह पाए। भूल गए। समझा कि स्त्री की इज्जत जा रही है, तो बचाने कूद पड़े। बहुत उस आदमी से कहा, जूता वापस कर दो। माफ कर दो। उसने कहा, यह मेरा पुरस्कार है। इसे तो मैं घर में सम्हालकर रखूंगा। क्योंकि मैंने सोचा भी नहीं था कि इतना कुशल हो सकेगा मेरा अभिनय कि आप धोखे में आ जाएं।
क्या, हुआ क्या? विद्यासागर को बचाने का ख्याल पकड़ गया। कर्ता आ गया कहीं से, सात्विक अहंकार। बुरा नहीं था, पायस ईगोइज्म। बड़ा शुद्ध अहंकार रहा होगा। लेकिन अहंकार कितना ही शुद्ध हो, जहर कितना ही शुद्ध हो, जहर ही है। शुद्ध जहर और खतरनाक है। आजकल तो मिलता नहीं शुद्ध जहर।
मैंने सुना है, एक आदमी ने जहर खा लिया और सो गया। सुबह पाया कि सब ठीक है। वापस गया। दुकानदार को उसने कहा कि कैसा जहर दिया? उसने कहा, भई हम क्या करें, अडल्ट्रेशन! जहर शुद्ध अब कहां मिलता है!
लेकिन अहंकार तो शुद्ध मिलता है। जिनको हम अच्छे लोग कहते हैं, उनके पास शुद्ध अहंकार होता है। जिनको हम बुरे लोग कहते हैं, उनके पास अशुद्ध अहंकार होता है। जिनको हम अच्छे लोग कहते हैं, हम चाहे कहें या न कहें, जो अपने को अच्छे लोग समझते हैं, उनके पास बड़ा सूक्ष्म और पैना अहंकार होता है। सूक्ष्म, सुई की तरह। पता भी नहीं चलता कि कहां पड़ा है, लेकिन चुभता रहता है।
विद्यासागर कूद पड़े। भीतर लगा होगा, बचाऊं। स्त्री की इज्जत चली जा रही है! लेकिन उस अभिनेता ने ठीक ही कहा। क्योंकि ये जूते अभिनय में नहीं पड़े थे; ये जूते तो वास्तविक पड़े थे एक अर्थ में। स्त्री को सताना तो अभिनय था, एक्टिंग था। लेकिन विद्यासागर के जूते जो अभिनेता को पड़े थे, ये तो वास्तविक थे। लेकिन उस अभिनेता ने इनको भी अभिनय में लिया। और उसने कहा कि बड़ी कृपा है कि पुरस्कार दिया। विद्यासागर अभिनय को वास्तविक समझ लिए, उसने वास्तविक को भी अभिनय माना। इसलिए फिर जूते का लगना बुरा और भला न रहा। और विद्यासागर के बाबत निर्णय लेने की कोई जरूरत न रही कि उन्होंने बुरा किया कि अच्छा किया।
जहां कर्ता है, वहां शुभ और अशुभ पैदा होते हैं। जहां कर्ता नहीं, वहां शुभ और अशुभ पैदा नहीं होते हैं। कृष्ण कहते हैं कि परमात्मा तक हमारे शुभ और अशुभ कुछ भी नहीं पहुंचते। हम ही परेशान हैं, अपनी ही माया में।
यह माया क्या है जिसमें हम परेशान हैं? इस माया शब्द को थोड़ा वैज्ञानिक रूप से समझना जरूरी है।
अंग्रेजी में एक शब्द है, हिप्नोसिस। मैं माया का अर्थ हिप्नोसिस करता हूं, सम्मोहन। माया का अर्थ इलूजन नहीं करता, माया का अर्थ भ्रम नहीं है। माया का अर्थ है, सम्मोहन। माया का अर्थ है, हिप्नोटाइज्ड हो जाना। कभी आपने अगर किसी हिप्नोटिस्ट को देखा है, मैक्स कोली या किसी को देखा है; नहीं तो घर में छोटा-मोटा प्रयोग खुद भी कर सकते हैं, तो आपकी समझ में आएगा कि माया क्या है।
अगर एक व्यक्ति सुझाव देकर, सजेशन देकर बेहोश कर दिया जाए, और कोई भी सहयोग करे तो बेहोश हो जाता है। घर जाकर प्रयोग करके देखें। अगर पत्नी आपकी मानती हो--जिसकी संभावना बहुत कम है--तो उसे लिटा दें और सुझाव दें कि तू बेहोश हो रही है। और सहयोग कर। और अगर न मानती हो, तो खुद लेट जाएं और उससे कहें कि तू मुझको सुझाव दे--जिसकी संभावना ज्यादा है--और मानें। पांच-सात मिनट में आप बेहोश हो जाएंगे। या जिसको आप बेहोश करना चाहते हैं, वह बेहोश हो जाएगा। इंड्यूस्ड स्लीप पैदा हो जाएगी। पैदा की हुई नींद में चले जाएंगे। उस नींद में चेतन मन खो जाता है, अचेतन मन रह जाता है।

मन के दो हिस्से हैं। चेतन बहुत छोटा-सा हिस्सा है, दसवां भाग। अचेतन, अनकांशस नौ हिस्से का नाम है; और एक हिस्सा चेतन है। जैसे बर्फ के टुकड़े को पानी में डाल दें, तो जितना ऊपर रहता है, उतना चेतन; और जितना नीचे डूब जाता है, उतना अचेतन। नौ हिस्से भीतर अंधेरे में पड़े हैं। एक हिस्सा भर थोड़ा-सा होश में भरा हुआ है। सुझाव से वह एक हिस्सा भी नीचे डूब जाता है। बरफ का टुकड़ा पूरा पानी में डूब जाता है।
अचेतन मन की एक खूबी है कि वह तर्क नहीं करता, विचार नहीं करता, सोच नहीं करता। जो भी कहा जाए, उसे मानता है। बस, मान लेता है। बड़ा श्रद्धालु है! जो बेहोश हो गया, उससे अब आप कुछ भी कहिए। उससे आप कहिए कि अब तुम आदमी नहीं हो, घोड़े हो गए। घोड़े की आवाज करो! तो वह हिनहिनाने लगेगा। उसका मन मान लेता है कि मैं घोड़ा हो गया। अब उसको ख्याल भी नहीं रहा कि वह आदमी है। वह घोड़े की तरह हिनहिनाने लगेगा। उसके मुंह में प्याज डाल दो और कहना कि यह बहुत सुगंधित मिठाई का टुकड़ा डाल रहे हैं। वह प्याज की दुर्गंध उसे नहीं आएगी, उसे सुगंधित मिठाई मालूम पड़ेगी। वह बड़े रस से लेगा और कहेगा, बहुत मीठी है, बड़ी सुगंधित है।
अचेतन मन में हमारे, मूर्च्छित मन में हमारे, कुछ भी हो जाने की संभावना है। जो भी हम होना चाहें, वह हम हो जा सकते हैं। यह तो आपने कोशिश करके सम्मोहन पैदा किया, लेकिन जन्म के साथ हम अनंत जन्मों के सजेशन साथ लेकर आते हैं। उनका एक गहरा सम्मोहन हमारे पीछे अचेतन में दबा रहता है। अनंत जन्मों में हम जो संस्कार इकट्ठे करते हैं, वे हमारे अनकांशस माइंड में, अचेतन मन में इकट्ठे हैं। वे इकट्ठे संस्कार भीतर से धक्का देते रहते हैं। हमसे कहते रहते हैं, यह करो, यह करो। यह हो जाओ, यह हो जाओ, यह बन जाओ। वे हमारे भीतर से हमें पूरे समय धक्का दे रहे हैं।
जब आप क्रोध से भरते हैं, तो आपने कई बार तय किया है कि अब दुबारा क्रोध नहीं करूंगा। लेकिन फिर जब क्रोध का मौका आता है, तो सब भूल जाते हैं कि वह तय किया हुआ क्या हुआ! फिर क्रोध आ जाता है। फिर तय करते हैं, अब क्रोध नहीं करूंगा। शर्म भी नहीं खाते कि अब तय नहीं करना चाहिए। कितनी बार तय कर चुके! अब कम से कम तय करना ही छोड़ो। फिर तय करते हैं कि अब क्रोध नहीं करेंगे। फिर कल सुबह!
आदमी की स्मृति बड़ी कमजोर है। वह भूल जाता है, कितनी दफे तय कर चुका।
अब तो मुझे खोजना चाहिए कि तय कर लेता हूं, फिर भी करता हूं, इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि आपके अचेतन से क्रोध आता है और निर्णय तो चेतन में होता है। तो चेतन का निर्णय काम नहीं करता। ऊपर-ऊपर निर्णय होता है, भीतर तो जन्मों का क्रोध भरा है। जब वह फूटता है, सब निर्णय वगैरह दो कौड़ी के अलग हट जाते हैं, वह फूटकर बाहर आ जाता है। वह सम्मोहित क्रोध है; वह माया है।
कितनी बार तय किया है कि ब्रह्मचर्य से रहेंगे! लेकिन वह सब बह जाता,
वह कहीं बचता नहीं। जन्मों-जन्मों की यात्रा में कामवासना गहरी होती चली गई है, वह बड़ी भीतर बैठ गई है, वह सम्मोहक है।
मैं एक युवक पर प्रयोग कर रहा था। उसे मैंने बेहोश किया। और मैंने उसे बेहोशी में पोस्ट-हिप्नोटिक सजेशन के लिए कहा कि जब तू होश में आ जाएगा, तब यह जो तकिया रखा हुआ है तेरे पास, तू इसे बिना छाती से लगाए, बिना चूमे नहीं रहेगा, इसका तू चुंबन लेकर रहेगा। यह बड़ा प्यारा तकिया है। इससे ज्यादा सुंदर न तो कोई स्त्री है पृथ्वी पर, न कोई पुरुष है। यह मैंने उसे बेहोशी में कहा। मान लिया उसने। उसने तकिए पर हाथ फिराकर देखा। मैंने कहा, देखता है कितनी सुकोमल त्वचा है इसकी! इस तकिए की चमड़ी कितनी सुकोमल है! उसने कहा, हां, बहुत सुकोमल है। कितनी गुदगुदी है! उसने कहा, बहुत गुदगुदी है। मैंने कहा, होश में आने के बीस मिनट बाद तू रुक न सकेगा। इस तकिए को छाती से लगाकर रहेगा और चुंबन भी लेगा।
फिर उसे होश में ला दिया गया। दस-पांच मित्र बैठकर इसको देखते थे। फिर
वह होश में आ गया, सब बातचीत करने लगा। सब तरह से सब दस मित्रों ने जांच कर ली कि वह बराबर होश में आ गया है। बाथरूम गया; लौटकर आया। उससे एक गणित करवाया; उसने जोड़ करके बताया। किताब पढ़वाई। किताब पढ़कर उसने बताई। उसने

कहा, यह सब क्या करवा रहे हैं! वह बिल्कुल होश में है। लेकिन बस, अठारह मिनट के बाद, जैसे बीस मिनट करीब घड़ी आने लगी, उसकी बेचैनी बढ़ने लगी और माथे पर पसीना आने लगा। वही पसीना, जो कोई पुरुष किसी स्त्री के सामने प्रेम निवेदन करते वक्त अनुभव करता है। अब वह तकिए से जुड़ गया है अचेतन में।
अब हम सारे लोग, और वह तकिया मेरे पीछे रखा है, वे सज्जन मेरे बगल में बैठे हैं। लेकिन अब उनका किसी में रस नहीं है। वे चोरी-चोरी से उस तकिए को बार-बार देखने लगे हैं! वैसे ही जैसे कि कोई किसी के प्रेम की माया में पड़ता है, तो सारी दुनिया बैठी रहे, कोई नहीं दिखाई पड़ता! सम्मोहन है। बिल्कुल अचेतन की बेहोशी है।
मैंने तकिया और दूर हटा दिया। जब मैंने तकिया छुआ, तो उसको वैसी ही चोट लगी, जैसे कोई किसी की प्रेयसी को छू दे। उसके चेहरे पर सारा भाव झलक गया। फिर मैं उठा, और जैसे ही बीस मिनट करीब आने को थे, मैं तकिए को उठाकर जाकर अलमारी में बंद करने लगा। वह भागा हुआ मेरे पास आया और बिल्कुल होश के बाहर उसने तकिया छीना, चूमा और छाती से लगाया।
सारे लोग हंसने लगे। उन्होंने कहा, तुम यह क्या कर रहे हो? वह रोने लगा। उसने कहा, मेरी भी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं क्या कर रहा हूं। लेकिन अब मुझे बड़ी राहत, बड़ी रिलीफ मिली। कुछ ऐसी बेचैनी हो रही थी कि इसको बिना किए रुक ही नहीं सकता; इस तकिए को छाती से लगाना ही पड़े। मैं बिल्कुल पागल हूं!
उसे कुछ पता नहीं कि बेहोशी में उसे क्या कहा गया है।
क्या स्त्री और पुरुष के बीच जो आकर्षण है, वह ऐसा ही नहीं है! लेकिन किसी ने आपको सम्मोहित नहीं किया। आप ही सम्मोहित हैं अनंत जन्मों की यात्रा से। प्रकृति का ही सम्मोहन है। इसको माया--पुराना शब्द है इसके लिए माया, नया शब्द है हिप्नोसिस।
माया से आवृत, अपने ही चक्कर में डूबा हुआ आदमी भटकता रहता है स्वप्न में। एक ड्रीमलैंड बनाया हुआ है अपना-अपना। खोए हैं अपने-अपने सपनों में। कोई पैसे से सम्मोहित है। तो देखें, जब पैसा वह देखता है, तो कैसे उसके प्राण! छोटे-मोटे लोगों की बात छोड़ दें। जो पैसे के बड़े त्यागी मालूम पड़ते हैं, उनको भी अगर बहुत गौर से देखें, तो पाएंगे कि वे हिप्नोटाइज्ड हैं पैसे से।
अभी खान अब्दुल गफ्फार उर्फ सरहदी गांधी भारत होकर गए। वे तो गांधीजी
के प्रतिनिधि आदमी हैं। लेकिन अभी उनकी कमेटी के आदमी ने खबर दी है, टी.एन.सिंह ने, कि वह रात जो दिन में उनको थैली मिलती थी, जब थैली मिलती थी, तब तो वे ऐसा दिखाते थे कि कोई बात नहीं; लेकिन रात दरवाजा बंद करके दो बजे रात तक रुपया गिनते थे! उस आदमी ने लिखा है कि मैं तो जब उनको पहली दफे दिल्ली के एयर पोर्ट पर स्वागत करने गया था--रिसेप्शन कमेटी का आदमी है--तो जब मैंने उन्हें पोटली हाथ में दबाए हुए उतरते देखा, तो मेरे हृदय में बड़ा भाव उठा था कि कितना सीधा-सादा आदमी है। लेकिन जब रात मैंने दो-दो तीन-तीन बजे तक उन्हें दरवाजा बंद करके रुपए गिनते देखा, तब मुझे बड़ी हैरानी हुई कि क्या बात है!
जब वे गए, तब भी पोटली उनके हाथ में थी। वही पोटली, जिसे लेकर वे आए थे। दिल्ली के एयर पोर्ट पर तब भी वही पोटली थी विदा करने वालों को। लेकिन टी.एन.सिंह ने कहा कि लेकिन तब मुझे धोखा नहीं हो सका, क्योंकि बाईस सूटकेस एयर पोर्ट पर थे, जो पीछे आ रहे थे। और अस्सी लाख का वायदा किया था उनको उनके मित्रों ने, कि भारत से भेंट करेंगे। लेकिन चालीस लाख ही हो पाया, इसलिए बड़े नाराज गए कि सिर्फ चालीस लाख!
आदमी की पकड़ बड़ी हैरानी की है! त्याग भी करता हुआ दिखाई पड़ता हुआ आदमी जरूर नहीं कि हिप्नोसिस के बाहर हो। त्याग भी एंटी हिप्नोटिक हो सकता है, वह भी सम्मोहन का ही विपरीत वर्ग हो सकता है। अक्सर ऐसा होता है। पैसे को पकड़ने वाले, पैसे को छोड़ने वाले--सम्मोहित होते हैं। शरीर को पकड़ने वाले, शरीर को छोड़ने वाले--सम्मोहित होते हैं।
सम्मोहन के बाहर जो जाग जाता है, एक अवेकनिंग, होश से भर जाता है कि यह
सब प्रकृति का खेल है और इस खेल में मैं इतना लीन होकर डूब जाऊं, तो पागल

हूं। और एक-एक इंच पर जागने लगता है। तो जब वह किसी स्त्री से या किसी पुरुष से आकर्षित होकर उसके हाथ को छूता है, तब जानता है कि यह शरीर और शरीर का कोई आंतरिक आकर्षण मालूम होता है। मैं दूर खड़े होकर देखता रहूं। कभी इसको प्रयोग करके देखें। कभी अपनी प्रेयसी के हाथ में हाथ रखकर आंख बंद करके साक्षी रह जाएं कि हाथ में हाथ मैं नहीं रखे हूं; हाथ ही हाथ पर पड़ा है। और तब थोड़ी देर में सिवाय पसीने के हाथ में कुछ भी नहीं रह जाएगा। लेकिन अगर सम्मोहन रहा, तो पसीने में भी सुगंध आती है! कवियों से पूछें न।
हमारी पृथ्वी पर कवियों से ज्यादा हिप्नोटाइज्ड आदमी खोजना मुश्किल है। वे पसीने में भी गुलाब के इत्र को खोज लेते हैं! आंखों में कमल खोज लेते हैं! पैरों में कमल खोज लेते हैं। पागलपन की भी कुछ हद होती है। सम्मोहित! क्या-क्या खोज लेते हैं! जो कहीं नहीं है, वह सब उन्हें दिखाई पड़ने लगता है उनकी हिप्नोसिस में, उनके भीतर के सम्मोहन में। ऐसा भी नहीं है कि उनको दिखाई नहीं पड़ता। उनको दिखाई पड़ने लगता है। प्रोजेक्शन शुरू हो जाता है।
किसी के प्रेम में अगर आप गिरे हों, तो पता होगा कि कैसा प्रोजेक्शन शुरू होता है। दिनभर उसी का नाम गूंजने लगता है। किसी के भी पैर की आहट सुनाई पड़े, पता लगता है, वही आ रहा है। कोई दरवाजा खटखटा दे, लगता है कि उसी की खबर आ गई। हवा दरवाजा खटखटा जाए, तो लगता है कि पोस्टमैन आ गया, चिट्ठी आ गई।
फिर जब डिसइलूजनमेंट होता है, प्रेम जा चुका होता है, सम्मोहन टूट जाता है, तब? तब उस आदमी की शकल देखने जैसी भी नहीं लगती। तब वह रास्ते पर मिल जाए, तो ऐसा लगता है, कैसे बचकर निकल जाएं! क्या हो जाता है? वही आदमी है! उसी के पदचाप संगीत से मधुर मालूम होते थे। उसी के पदचाप आज सुनने में अत्यंत कर्णकटु हो गए! उसी के शब्द ओंठों से निकलते थे, तो लगता था, अमृत में भीगकर आते हैं। आज उसके ओंठों से सिवाय जहर के कुछ और मिलता हुआ मालूम नहीं पड़ता है। उसी की आंखें कल गिरती थीं, तो लगता था कि आशीर्वाद बरस रहे हैं। आज उसकी आंखों में सिवाय तिरस्कार और घृणा के कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। हो क्या गया? वही आंख है, वही आदमी है। भीतर की हिप्नोसिस उखड़ गई। भीतर का सम्मोहन उखड़ गया, टूट गया, विजड़ित हो गया।
कृष्ण कहते हैं, प्रकृति की माया, प्रकृति की हिप्नोसिस में डूबा हुआ आदमी अपने ही अच्छे और बुरे के सोच-विचार में भटकता रहता है।
समझें, एक रात आपने सपना देखा कि चोरी की है। और एक रात आपने सपना देखा
कि साधु हो गए हैं। सुबह जब उठते हैं, तो क्या चोरी का जो सपना था, वह बुरा; और साधु का जो सपना था, वह अच्छा! सुबह जागकर दोनों सपने हो जाते हैं। न कुछ अच्छा रह जाता है, न बुरा रह जाता है। दोनों सपने हो जाते हैं।
संत उसे ही कहते हैं, जो अच्छे और बुरे दोनों के सपने के बाहर आ गया।
और जो कहता है कि वह भी सपना है, यह भी सपना है। बुरा भी, अच्छा भी, दोनों सम्मोहन हैं।
इस सम्मोहन से कोई जाग जाए, तो ही--तो ही केवल--जीवन में वह परम घटना घटती है, जिसकी ओर कृष्ण इशारा कर रहे हैं।

प्रश्नः भगवान श्री, माया और परमात्मा में क्या भिन्नता है? माया से ज्ञान कैसे व क्यों ढंकता है?
माया और परमात्मा में क्या भिन्नता है?

जो माया में डूबे हैं, उन्हें तो बड़ी भिन्नता है। जैसे जो रात सपने में डूबा है, उसे तो सपने में और जागने में बड़ी भिन्नता है। लेकिन जो जाग गया, उसे सपने में और जागने में भिन्नता नहीं होती, क्योंकि जागकर सपना बचता ही नहीं। भिन्नता किससे? इसको ठीक से समझ लें।
एक रस्सी पड़ी है और मुझे सांप दिखाई पड़ रहा है। तो जब तक मुझे सांप दिखाई पड़ रहा है, तब तक तो रस्सी और सांप में बड़ी भिन्नता है। क्योंकि रस्सी को देखकर मैं भागूंगा नहीं, सांप को देखकर भागूंगा। रस्सी को देखकर डरूंगा

नहीं, सांप को देखकर डरूंगा। रस्सी को देखकर मारने की तैयारी नहीं करूंगा, सांप को देखकर मारने की तैयारी करूंगा। सांप पैर पर पड़ जाए, तो मर भी जा सकता हूं। रस्सी पैर पर पड़ जाए, तो मरने का कोई सवाल ही नहीं है।
जिस आदमी को अंधेरे में रस्सी सांप जैसी दिखाई पड़ रही है, उससे अगर आप कहो कि रस्सी और सांप सब एक हैं; बेफिक्री से जा। तो वह कहेगा, माफ करो। रस्सी और सांप एक नहीं हैं! रस्सी भी सांप दिखाई पड़ रही हो, तो भी उसके लिए तो सांप ही है।
सांपों का जो लोग अध्ययन करते हैं, वे कहते हैं कि सत्तानबे परसेंट सांप में जहर ही नहीं होता। सिर्फ सौ में तीन सांपों में जहर होता है। लेकिन जिन सांपों में जहर नहीं होता, उनके काटे हुए लोग भी मर जाते हैं। अब जहर होता ही नहीं, तो बड़ा चमत्कार है। जब जहर नहीं है, तो यह आदमी काटने से मर क्यों गया?
आदमी सांप के जहर से कम मरता है। सांप ने काटा, इस सम्मोहन से मरता है। इसीलिए तो जहर उतारने वाले जहर उतार देते हैं। जहर वगैरह कोई नहीं उतारता। अगर सांप बिना जहर का रहा, तो मंत्र वगैरह काम कर जाते हैं। और सत्तानबे परसेंट सांप बिना जहर के हैं। इसलिए बड़ी आसानी से उतर जाता है। कठिनाई नहीं पड़ती। इतना भरोसा भर दिलाना है कि उतार दिया। चढ़ा तो था ही नहीं! उतर जाता है! लेकिन जरूरी नहीं है कि न उतारा, तो नहीं मरता आदमी। आदमी मर सकता था। इसलिए काम तो पूरा हुआ, आदमी को बचाया तो है ही।
इसलिए मैं मंत्र के खिलाफ में नहीं हूं। जब तक नकली सांप से मरने वाले लोग हैं, तब तक नकली मंत्र से जिलाने वाले लोगों की जरूरत रहेगी। जरूरत है। रस्सी पर भी पैर पड़ जाए और अगर आपको ख्याल है कि सांप है, तो मौत हो सकती है। आपके लिए फर्क है।
मैंने सुना है, एक गांव में एक फकीर रहता है गांव के बाहर। और एक काली छाया अंदर जा रही है। उस फकीर ने पूछा, तू कौन है? उसने कहा, मैं मौत हूं। तू इस गांव में किसलिए जा रही है? उसने कहा कि गांव में प्लेग आ रही है और मुझे दस हजार आदमी मारने हैं!
महीनेभर में कोई पचास हजार आदमी मर गए। फकीर ने कहा, हद हो गई! आदमी झूठ बोलते हैं, बोलते हैं; लेकिन मौत भी झूठ बोलने लगी! अब तो परमात्मा का भी भरोसा करना ठीक नहीं है। पता नहीं, वह भी झूठ बोलने लगा हो!
जागता रहा कि कब लौटे, तो पकडूं। एक रात मौत वापस लौटती थी। कहा, ठहर।
हद हो गई! इतना झूठ! मुझसे कहा, दस हजार लोग मारने हैं। पचास हजार तो मर चुके! उस मौत ने कहा, मैंने दस हजार मारे हैं; बाकी अपने आप मर गए। बाकी घबड़ाहट में मर गए। मेरा कोई हाथ नहीं है। बाकी यह समझकर कि प्लेग आई, मर गए। दस हजार मारकर मैं जा रही हूं, बाकी चालीस हजार अपने आप मरे हैं। और आगे भी मरें, तो मेरा कोई जिम्मा नहीं है।
रस्सी और सांप एक नहीं हैं उसे, जिसे रस्सी सांप दिखाई पड़ रही है। जगत जिन्हें दिखाई पड़ रहा है अभी, उनसे यह कहना कि माया और परमात्मा एक हैं, बड़ा कठिन है समझना। कैसे एक हो सकते हैं? एक नहीं हैं।
जगत दिखाई पड़ रहा है, तब तक परमात्मा है ही नहीं। एक का सवाल कहां है! माया ही है। नींद है गहरी; वही है। जिस दिन नींद से कोई जागता है, तो परमात्मा ही बचता है, जगत नहीं बचता।
इसलिए एक बहुत कठिन पहेली है यह। बहुत कठिन पहेली है। पहेली इसलिए कठिन है कि जिन लोगों ने जाना, उन्होंने कहा, परमात्मा ही है, जगत नहीं है। पर हम, जो जानते हैं, जगत है, उनसे पूछते ही गए कि कुछ तो बताओ! जगत है तो ही। शंकर कहते हैं कि जगत माया है। माया मतलब, नहीं है। पर हम पूछते हैं, हम कैसे मान लें कि माया है। पैर में कांटा गड़ता है, तो खून निकलता है!
योरोप में एक विचारक हुआ, इंग्लैंड में, बर्कले। वह भी कहता था शंकर
की तरह कि सब जगत इलूजन है, एपियरेंस है, दिखावा है, कुछ है नहीं। वह डाक्टर जानसन के साथ एक दिन सुबह घूमने निकला। और उसने डाक्टर जानसन से भी कहा कि सब जगत माया है।
जानसन बहुत यथार्थवादी। उसने एक पत्थर उठाकर बर्कले के पैर पर पटक दिया। लहूलुहान हो गया पैर। बर्कले पैर पकड़कर बैठ गए। जानसन खड़ा है बगल

में। वह कहता है कि जब सब माया है, तो पैर किसलिए पकड़कर बैठे हो! पत्थर है ही नहीं।
शंकर से लोग पूछते हैं कि जगत माया है, कैसे मानें? तुम भी तो भिक्षा मांगते हो। भूख लगती है। खाना भी खाते हो। सोते भी हो। कैसे मानें? शंकर का वश चले, तो शंकर कहें, जगत है ही नहीं। लेकिन लोग, जिनसे उन्हें बात करनी है, वे कहते हैं, जगत है। परमात्मा नहीं है तुम्हारा। कहीं दिखाई नहीं पड़ता! जगत तो दिखाई पड़ता है। उलटी बातें कहते हो। जो है, उसको कहते हो, नहीं है। और जो नहीं है, उसको कहते हो, है। तो शंकर क्या कहें? शंकर कहते हैं, परमात्मा तो है। यह जगत नहीं है, लेकिन तुम्हें दिखाई पड़ता है।
माया का अर्थ है, जो नहीं है और दिखाई पड़ता है। जिस दिन तुम जानोगे उसे, जो है, उस दिन जो दिखाई पड़ता था और नहीं था, वह खो जाएगा, तिरोहित हो जाएगा। संबंध कभी जोड़ना नहीं पड़ेगा।
जब तक जगत है, जगत है; परमात्मा नहीं है। संबंध का कोई सवाल नहीं है। जिस दिन परमात्मा होता है, परमात्मा ही होता है; जगत नहीं होता। संबंध का कोई सवाल नहीं है।
इसलिए परमात्मा और माया के बीच कोई भी संबंध नहीं है, रिलेटेड नहीं हैं। संबंध हो नहीं सकता। एक सत्य और एक असत्य के बीच संबंध हो कैसे सकता है? नदी पर अगर हमें एक ब्रिज बनाना हो, एक सेतु, एक पुल बनाना हो; एक किनारा सच हो और दूसरा किनारा झूठ हो, पुल बना सकते हैं आप? कैसे बनाइएगा पुल? सच्चे किनारे पर एक हिस्सा पुल का रख जाएगा, पर दूसरे हिस्से को कहां रखिएगा? और अगर दूसरा हिस्सा झूठ पर भी रखा जा सकता है, तो फिर सच का भी शक हो जाएगा।
माया और ब्रह्म दोनों कभी आमने-सामने खड़े नहीं होते किसी मनुष्य के अनुभव में, लेकिन इस तरह के मनुष्य आमने-सामने खड़े हो जाते हैं, एक का अनुभव ब्रह्म का और एक का अनुभव माया का। वे आमने-सामने बातचीत करते हैं। तब इन दो शब्दों का उपयोग करना पड़ता है। वह जो ब्रह्म को जानता है, उसे मानना तो पड़ता है कि जगत है, क्योंकि सामने वाला कह रहा है कि है। इस चर्चा को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता, अगर वह कह दे कि नहीं ही है। तब भी सामने वाला कहेगा कि जिसको तुम इतने जोर से कहते हो, नहीं है, वह कुछ तो होना चाहिए, नहीं तो इतने जोर की जरूरत क्या है? जब तुम कहते हो, नहीं है, तो तुम किस चीज को कह रहे हो कि नहीं है। किसी चीज को तो नहीं कह रहे हो! मान लो, नहीं है जगत; लेकिन जिससे कह रहे हो, वह तो है! यह कठिनाई है।
संसार और सत्य, माया और ब्रह्म, आमने-सामने एनकाउंटर उनका कभी होता नहीं। उनका कभी कोई मिलन नहीं होता। उनके बीच कोई संबंध नहीं है। माया का मतलब ही है कि जो नहीं है और दिखाई पड़ता है।
सांप दिखाई पड़ रहा है और नहीं है; रस्सी है। अब बड़ी कठिनाई है कि वह कहां से आ रहा है! क्यों दिखाई पड़ रहा है! कृष्ण कहेंगे, वह तुम्हारा प्रोजेक्शन है, तुम्हारी माया है। तुमने ही किसी भय के क्षण में, डर के क्षण में रस्सी को सांप समझ लिया है। वहां कहीं है नहीं।
रस्सी और सांप के बीच क्या संबंध है? कोई संबंध नहीं है। क्योंकि जो उठा लेगा जाकर रस्सी, देखेगा, रस्सी है, उसके लिए सांप खो गया। संबंध कैसे बनाएगा? जिसको रस्सी नहीं दिखाई पड़ती, सांप दिखाई पड़ता है, उसके पास रस्सी नहीं है। संबंध कैसे बनाएगा?
ब्रह्म और माया के बीच कोई भी संबंध नहीं है। माया है ही नहीं सिवाय प्रोजेक्शन के, प्रक्षेपण के। मन की कल्पनाओं की क्षमता है कि हम फैलाव कर लेते हैं। फैलाव बड़ा कर ले सकते हैं। इतना फैल सकता है, जिसका कोई हिसाब नहीं है। उसमें हम जीते हैं।
एक छोटी-सी कहानी और आज की बात मैं पूरी करूं।
हमारा सपना कितनी ही बार टूटे, हम फिर सम्हाल लेते हैं। रोज टूटता है। सुबह टूटता है, दोपहर टूटता है, सांझ टूटता है, हम फिर थेगड़े लगा लेते हैं।
हम बड़े कुशल कारीगर हैं अपने सपने में थेगड़े लगाने में। एक इच्छा हार जाती है, कुछ नहीं पाते। तत्काल दूसरी इच्छा निर्मित कर लेते हैं। कारण खोज लेते हैं, इसलिए हार हो गई! अगली बार ऐसा नहीं होगा। एक आशा खंडित हो जाती

है, दूसरी आशा तत्काल निर्मित कर लेते हैं। जिंदगी रोज, यथार्थ रोज हमारे प्रोजेक्शन को तोड़ता है, लेकिन हम बनाए चले जाते हैं, निर्मित किए चले जाते हैं!
मैंने सुना है, सांझ एक धनपति अपने दरवाजे को बंद करने के ही करीब है
कि उसके चपरासी ने फिर भीतर आकर कहा कि सुनिए, चौबीस, दो दर्जन बीमा एजेंटों को हम आज दिनभर में बाहर निकाल चुके हैं। पच्चीसवां हाजिर है। कहता है, भीतर आने दें। चौबीस लोगों को भगाया जा चुका है। उस धनपति को भी दया आ गई। उसने कहा, अच्छा, उस पच्चीसवें को आ जाने दो। अब दरवाजा बंद ही होने के करीब है।
वह अंदर आया। धनपति ने उसे देखा और कहा कि तुम सौभाग्यशाली हो। क्योंकि चौबीस, दो दर्जन बीमा एजेंट आज मैं दरवाजे के बाहर से ही भगा चुका हूं। तुम्हें पता है! तुम सौभाग्यशाली हो। तुम्हें भीतर आने दिया। उस आदमी ने कहा कि आई नो वेरी वेल सर, बिकाज आई एम देम! मुझे अच्छी तरह पता है, क्योंकि वे चौबीस आदमी मैं ही हूं।
वह आदमी चौबीस दफे आ चुका है दिनभर में। वह एक ही आदमी है। मुझे भलीभांति पता है, वह मैं ही हूं। मालिक तो हैरान हो गया। उसने कहा, चकित करते हो तुम। तुम अभी तक थके नहीं? उस बीमा एजेंट ने कहा कि कौन कब थकता है? कोई थकता नहीं। कितनी ही आशाएं निराशाएं हों, फिर भी लगता है कि शायद
एक मौका और! एक बार और! जाल को हम फैलाए चले जाते हैं। मौत भी सामने आ जाए, तो भी हम मौत के पार प्रोजेक्शन को फैलाए चले जाते हैं। मरता हुआ आदमी सोचता है, गाय को दान कर दें, स्वर्ग में इंतजाम हो जाएगा। प्रोजेक्शन फैला रहे हैं अभी भी। मौत दरवाजे पर खड़ी है, लेकिन उनकी फिल्म का प्रोजेक्टर अभी भी काम कर रहा है। वह बंद नहीं हो रहा है। वे अभी फैलाए चले जा रहे हैं! वे सोच रहे हैं कि चार आने किसी ब्राह्मण को दे दें, तो भगवान को बता सकेंगे कि चार आने एक ब्राह्मण को दिए थे, जरा अच्छी-सी जगह! और अगर आपके मकान में ही हो सके, तो बहुत अच्छा है। यहीं ठहरा लें!
लंदन में, लंदन यूनिवर्सिटी का मेडिकल हास्पिटल है। हर तीन महीने में वहां एक अजीब घटना घटती है। उस हास्पिटल की हर तीन महीने में ट्रस्टीज की बैठक होती है।
अगर कभी आप उस बैठक को देखें, तो बहुत हैरान होंगे। थोड़ी देर में चकित
हो जाएंगे। आप देखेंगे कि प्रेसिडेंट की जगह जो आदमी प्रेसिडेंट की चेयर पर बैठा हुआ है, कुर्सी पर बैठा हुआ है अध्यक्ष की, न तो हिलता, न तो डुलता, न उसकी पुतली हिलती। बहुत हैरान होंगे। थोड़ी देर में आपको शक होगा कि वह आदमी जिंदा है या मरा हुआ! जब आप पास जाएंगे, तो पाएंगे, वह तो मुर्दा है। लाश रखी है सौ साल से!
जरेमी बैंथम नाम के आदमी ने वह हास्पिटल बनाया था। फिर वह अपनी वसीयत में लिख गया कि यह मैं मरने के बाद भी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि मैं अस्पताल बनाऊं और अध्यक्षता कोई और करे। इसलिए मेरी लाश को यहां रखना। और मैं ही अध्यक्षता करूंगा, जब भी ट्रस्टीज की बैठक होगी। प्रेसिडेंट मैं ही रहूंगा।
तो अभी भी उसकी लाश रखी हुई है। सामने प्रेसिडेंट की तख्ती उसके रखी रहती है। हर बार जब ट्रस्टीज की बैठक पूरी होती है और किसी मसले पर वोटिंग होती है, तो उनको लिखना पड़ता है, दि प्रेसिडेंट इ.ज प्रेजेंट, बट नाट वोटिंग। मौजूद हैं सभापति, लेकिन वोट नहीं कर रहे हैं! यह सौ साल से चल रहा है।
आदमी का पागलपन! ऐसा हमारा सारा मन है। इसको हम फैलाए चले जाते हैं।
इस मन से जागे बिना कोई प्रभु की यात्रा पर नहीं निकला है।
आज इतना। लेकिन पांच मिनट बैठे रहेंगे। मुर्दा आदमी बैठे हैं, तो जिंदा आदमी को तो बैठे रहना चाहिए। इट मैटर्स नाट इफ यू डोंट वोट, मगर बैठें! कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन जो वोट कर सकते हों, वे ताली बजाएं और भजन में साथ दें।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
आठवां प्रवचन

तीन-सूत्र--आत्म-ज्ञान के लिए

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।। 16।।
परंतु जिनका वह अंतःकरण का अज्ञान, आत्मज्ञान द्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानंदघन परमात्मा को प्रकाशता है।

जगत एक रहस्य है। रहस्य इसलिए कि इस जगत में अंधकार, जो कि नहीं है, प्रकाश को ढंक लेता है, जो कि है। इस जगत में मृत्यु, जो कि नहीं है, जीवन को धोखा दे देती है, कि है।
जीवन है, और मृत्यु नहीं है। प्रकाश है, और अंधकार नहीं है। फिर भी, अंधकार प्रकाश को ढंके हुए मालूम पड़ता है। फिर भी रोज-रोज जीवन मरता हुआ दिखाई पड़ता है। इसलिए कहता हूं, जीवन एक रहस्य, एक मिस्ट्री है। और उस रहस्य का मूल इसी पहेली में है।
रोज देखते हैं अंधेरे को आप। कभी सोचा भी नहीं होगा कि अंधेरे का कोई अस्तित्व नहीं है। अंधेरा एक्झिस्टेंशियल नहीं है। फिर भी होता है। रास्ता भटक जाते हैं अंधेरे में। गड्ढे में गिर सकते हैं अंधेरे में। चोर लूट ले सकते हैं अंधेरे में। छुरा भोंका जा सकता है अंधेरे में। अंधेरे में सब कुछ हो सकता है--और अंधेरा नहीं है! टकरा सकते हैं, सिर फूट सकता है-- और अंधेरा नहीं है। पर अंधेरे में यह सब हो सकता है।
जब मैं कहता हूं, अंधेरा नहीं है, तो थोड़ा ठीक से समझ लें।
प्रकाश तो है, इसलिए प्रकाश को बुझा सकते हैं, जला सकते हैं। लेकिन अंधेरे को बुझा भी नहीं सकते, जला भी नहीं सकते। चाहें कि दुश्मन के घर पर अंधेरा फेंक दें, तो फेंक भी नहीं सकते। कभी आपने सोचा है कि अंधेरे के साथ कुछ भी करना संभव नहीं है!
और जब रात आप चाहते हैं कि कमरे में अंधेरा भर जाए, तो आप अंधेरे को नहीं बुलाते, केवल प्रकाश को बुझाते हैं। प्रकाश बुझा नहीं कि अंधेरा है। और जब सुबह आप अंधेरे को अलग करना चाहते हैं, या रात अंधेरे को अलग करना चाहते हैं, तो अंधेरे को धक्का नहीं देते, प्रकाश को जलाते हैं। और प्रकाश जला कि अंधेरा नहीं है।
अंधेरा सिर्फ प्रकाश की अनुपस्थिति है, गैर-मौजूदगी है, एब्सेंस है।
अंधेरे का अपना कोई विधायक अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व तो प्रकाश का है।
या प्रकाश का अस्तित्व नहीं है। जहां प्रकाश नहीं है, वहां अंधेरा मालूम पड़ता है। अंधेरा कोई वस्तु नहीं है। अंधेरे में कोई थिंगहुड, कोई वस्तुगत पदार्थ अंधेरे में नहीं है। फिर भी अंधेरा है तो।
ठीक ऐसे ही आत्म-ज्ञान है। और आत्म-अज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन फिर भी आत्म-अज्ञान से हम भरे हुए हैं। और आत्म-अज्ञान में चिंतित हैं, पीड़ित हैं, परेशान हैं, दुखी हैं, नर्क भोग रहे हैं। जब कि आत्म-अज्ञान का वैसा ही कोई अस्तित्व नहीं है, जैसे अंधेरे का कोई अस्तित्व नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञान है, इसलिए आत्म-अज्ञान का कोई अस्तित्व हो नहीं सकता। आत्मा ही ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का आंतरिक स्वभाव है। इसलिए आत्मा बिना ज्ञान के कभी हो नहीं सकती। और अगर आत्मा बिना ज्ञान के होगी, तो पदार्थ में और आत्मा में फर्क क्या होगा? आत्मा का अर्थ ही यह है कि जो ज्ञान है। आत्मा कभी भी ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। ज्ञान और आत्मा पर्यायवाची हैं, सिनानिम। एक ही मतलब है दोनों बात का।
फिर आत्म-अज्ञान का क्या मतलब होगा? ये शब्द तो विरोधी हैं! आत्म-अज्ञान हो ही नहीं सकता। जहां आत्मा है, वहां अज्ञान कैसे होगा? क्योंकि आत्मा ज्ञान है। लेकिन फिर भी आत्म-अज्ञान है। क्या, हुआ क्या है? जो ज्ञान है आत्मा, वह किस चीज से ढंक गई है?

कृष्ण कहते हैं, संसार माया से ढंका; आत्मा आत्म-अज्ञान से ढंकी; ज्ञान अविद्या से ढंका।
क्या इसका अर्थ है? क्या समझें इससे?
इससे सिर्फ एक बात समझ लेने जैसी है। आत्मा तो ज्ञान है, लेकिन ज्ञान यदि चाहे तो सो सकता है; ज्ञान यदि चाहे तो जाग सकता है। सोया हुआ ज्ञान भी ज्ञान है; जागा हुआ ज्ञान भी ज्ञान है। लेकिन सोए हुए ज्ञान के चारों तरफ अज्ञान इकट्ठा हो जाता है। सोया हुआ ज्ञान ऐसे है, जैसे कि आपके खीसे में लाइटर पड़ा हुआ है अनजला; जलने की पूरी क्षमता लिए हुए है। माचिस की काड़ी रखी है अनजली, प्रज्वलित होने को किसी भी क्षण तत्पर। आग छिपी है, सोई है। चारों तरफ अंधेरा है, माचिस रखी है। चारों तरफ अंधेरा है। माचिस से कोई रोशनी निकलती नहीं है। लेकिन माचिस से रोशनी निकल सकती है। और जब निकलती है, तब अंधेरा टूट जाता है। और जब निकलती है, तो इसका यह मतलब नहीं कि आसमान से आ गई। माचिस में थी, तो ही निकली, अन्यथा निकल न सकती। फिर क्या, फर्क क्या है?
आत्म-अज्ञान और आत्म-ज्ञान में फर्क? आत्म-अज्ञान और आत्म-ज्ञान सिर्फ नींद के और जागने का फर्क है। इसलिए हम बुद्ध को कहते हैं, बुद्ध। नाम उनका नहीं है। नाम तो उनका था, सिद्धार्थ गौतम। बुद्ध का मतलब होता है, दि अवेकंड, जो जाग गया। गौतम सिद्धार्थ को हम कहते हैं, बुद्ध। इसलिए कहते हैं कि जो जाग गया। महावीर को हम कहते हैं, जिन। जिन का अर्थ है, जिसने अपने को जीत लिया।
जागना जीतना बन जाता है और सोना हार बन जाती है। जागने में विजय है और निद्रा में पराजय है। बड़ी से बड़ी शक्ति भी सोई हो, तो छोटी से छोटी शक्ति से पराजित हो जाती है। एक पहलवान सोया हो, एक छोटा बच्चा उसकी छाती में छुरा भोंक सकता है। एक हाथी सोया हो, एक छोटी-सी चींटी उसकी नाक में चली जाए, तो मौत हो सकती है।
आत्मा बड़ी विराट शक्ति है, बड़ी प्रज्वलित अग्नि है। लेकिन सोई हो, तो क्रोध जैसी ना-कुछ चीज हावी हो जाती है। काम जैसी ना-कुछ शक्ति हावी हो जाती है। अंधेरा जो बिल्कुल नहीं है, घेर लेता है उसको, जो बहुत है, गहरे में है, सदा है, कभी खोती नहीं है। विराट से विराट शक्ति सोई हो, तो क्षुद्र से क्षुद्र शक्ति से हार जाती है।
हमारी हार हमारी नींद है। हमारा आत्म-अज्ञान हमारी तंद्रा है, स्लीपीनेस। हम सब नींद में चलते हुए लोग हैं। इसलिए आत्मा, जो कि कभी अज्ञानी नहीं है, वह भी अज्ञान से ढंकी हुई है। दीया है बुझा हुआ, सोया हुआ। तेल भी है, बाती भी है, माचिस भी है, आग भी जल सकती है। पर सब अंधकार है।
आदमी में वह सब मौजूद है, जो रोशनी बन जाए। सब मौजूद है। कोई भी कमी नहीं। परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण ही भेजता है। और हम सब अपूर्ण जीते हैं और अपूर्ण ही मरते हैं। बल्कि और हैरानी की बात है, जितने पूर्ण पैदा होते हैं, उससे भी ज्यादा अपूर्ण होकर मरते हैं। बच्चा जो संपदा लेकर आता है, बूढ़ा उसे भी गंवाकर विदा हो जाता है। क्या होता है?
हमारी नींद और गहरी होती चली जाती है। जीवन में हमारी तंद्रा और बढ़ती चली जाती है। बचपन में हम जितने होश में होते हैं, जवानी में उतने होश में नहीं होते। जवानी में बड़ी तंद्रा पकड़ लेती है। वह तंद्रा है काम की, सेक्स की। मूर्च्छा है, वासना है, वह पकड़ लेती है।
बुढ़ापे में हम और भी डूब जाते हैं। बुढ़ापे में कौन सी तंद्रा पकड़ती है? जवानी में कामवासना गहरा अंधकार बनकर व्यक्ति को पकड़ लेती है। फिर वह जो भी करता है, उसी वासना के लिए करता है। धन कमाए, पद कमाए, यश कमाए, वह सब समर्पित है काम के लिए, सेक्स के लिए, वासना के लिए।
जवानी में आदमी काम की तंद्रा में डूबा और सोया रहता है। बुढ़ापे में काम तो विदा हो जाता है, क्योंकि इंद्रियां शिथिल होने लगती हैं। शरीर मरने के करीब आने लगता है। इसलिए बुढ़ापे में जीवन का मोह पकड़ता है; लस्ट फार लाइफ पकड़ती है। जीवेषणा पकड़ती है कि मैं मर न जाऊं; मैं बचा रहूं; मैं किसी भी तरह बचा रहूं।

इसलिए बूढ़ा आदमी, जिस तरह जवान आदमी दूसरे को जन्म देने के लिए लालायित होता है, बूढ़ा आदमी अपने को बचाने के लिए लालायित रहता है। दूसरे को जन्म देने की वासना काम बन जाती है; और अपने को बचाने की वासना लोभ बन जाती है। जवानी की बीमारी, काम; बुढ़ापे की बीमारी, लोभ। और अगर बूढ़ा आदमी किसी जवान को समझाता भी है कि काम से बचो, तो जो कारण बताता है, वे लोभ के होते हैं--कि बर्बाद हो जाएगा; धन खो जाएगा; स्वास्थ्य खो जाएगा। जो भी कारण बूढ़े आदमी देते हैं जवानों को, वह लोभ उनके पीछे बुनियाद होती है। काम है पीड़ा, जवानी का अंधकार; और लोभ है, बुढ़ापे की पीड़ा। बूढ़ा आदमी लोभी से लोभी होता चला जाता है।
मैंने सुना है कि किसी एक महानगरी के एक बड़े राजपथ पर एक भिखारी भीख मांगता रहता था। सुबह जब वह आता, तब वह कुछ अपने बगल में छिपाए रहता। दोपहर तक नहीं निकालता था। एक तख्ती छिपाए रखता था अपने कपड़ों में। दोपहर तक मांगता रहता लोगों से चिल्ला-चिल्लाकर; फिर दोपहर तक थक जाता। तो वह तख्ती निकालकर अपने सामने रखकर पीछे चुप बैठ जाता। तख्ती पर लिखा होता था, आई एम डेफ एंड डंब, मैं गूंगा और बहरा हूं। थक जाता दोपहर तक। फिर चिल्लाने की ताकत न रहती, तो गूंगा और बहरा हो जाता। शराब पीने की उसे आदत थी।
सभी भिखारियों को होती है। सिर्फ सम्राट बच सकते हैं। और अगर सम्राट
भी पीते हों, तो जानना कि भिखारी हैं। और अगर भिखारी भी न पीते हों, तो जानना कि सम्राट हैं। असल में जो आदमी दुखी है, वह अपने को बेहोश करने से नहीं बच सकता। और दुखी कौन होता है इस जगत में? दुखी वही होता है, जिसकी आकांक्षाएं बहुत हैं। आकांक्षाएं तृप्त नहीं होतीं; दुख आता है।
भिखारी की बड़ी आकांक्षाएं हैं। दोपहर तक बहुत मांगता। रोज इरादे करके आता था कि आज करोड़ मांग लूंगा, कि अरब रुपए मांग लूंगा। कि आज तो कोई सम्राट निकलेगा, और सोने-चांदी की बरसा हो जाएगी। लेकिन कुछ न होता, वही तांबे के ठीकरे दो-चार गिरते। परेशान हो जाता दोपहर तक; शराब पीना शुरू कर देता। सांझ होते-होते, सूरज ढलते-ढलते तक, वह इतना बेहोश होने लगता कि आखिरी होश में, आखिरी वक्त वह अपनी तख्ती उलटी करके रख देता।
रिवर्सिबल साइनबोर्ड था वह! उस पर दोनों तरफ लिखा हुआ था। दूसरी तरफ लिखा हुआ था, आई एम पैरालाइज्ड, मुझे लकवा लग गया है। बेहोश होकर गिर जाता। सुबह मांगता रहता; दोपहर गूंगा-बहरा हो जाता; सांझ नशे में डूब जाता। आखिरी काम वह इतना कर देता नशे में गिरने के पहले, तख्ती उलटकर रख देता। करीब-करीब जिंदगी ऐसी ही बीतती है। बचपन बड़ी आशाओं से भरा हुआ है। बड़ी आशाओं से भरा हुआ है, सब मिल जाएगा। बड़े कल्पना के फूल और सपनों के गीत। और फिर जवानी आती है। और तब एक-एक चीज डिसइलूजन होने लगती है, एक-एक चीज का भ्रम टूटने लगता है। बुढ़ापा आने के पहले-पहले आदमी की सारी इंद्रियां गूंगी और बहरी हो जाती हैं। फिर बेहोशी और तंद्रा पकड़नी शुरू कर देती है। मरने के पहले अधिकतम लोग पैरालाइज्ड हो जाते हैं, पैरालाइज्ड सब अर्थों में। बहुत गहरे अर्थों में लकवा लग जाता है।
मरने के बहुत पहले बहुत लोग मर जाते हैं। मरने तक जिंदा रहने वाले बहुत कम लोग हैं जमीन पर। मरने तक जिंदा रहने वाले बहुत कम लोग हैं, मरने के बहुत पहले मर जाते हैं! कुछ लोग तीस साल की उम्र में मर जाते हैं, कुछ लोग चालीस साल की उम्र में। यह बात दूसरी है कि दफनाया जाता है कोई सत्तर साल में, कोई अस्सी साल में। दफनाने में और मरने में अक्सर फासला होता है। और जो आदमी मरने तक जिंदा है--उतना ही ताजा, जैसा बचपन में ताजा था, उतना ही प्रफुल्लित--उसे मौत भी न मार पाएगी। मौत आकर गुजर जाएगी और वह मौत के पार भी जिंदा खड़ा रह जाएगा।
लेकिन नींद रोज बढ़ती है। ठीक सुबह जब हम उठते हैं, तो ताजे होते हैं; दोपहर थक गए होते हैं, तंद्रा उतरनी शुरू हो जाती है; सांझ थक जाते हैं, गिर जाते हैं, सो जाते हैं। हर बार, हर जिंदगी में यही सुबह, यही दोपहर, यही सांझ। अंतहीन यही चलता है। बचपन, जवानी, बुढ़ापा; फिर डूबा सूरज; फिर गिर गए बेहोश होकर मिट्टी में। फिर उठेंगे; फिर गिरेंगे। और इस नींद से जागने का हमें कोई ख्याल नहीं आता।

कृष्ण कहते हैं, जो जाग जाता है, उसकी आत्मा का ज्ञान अभिव्यक्त हो उठता है; आत्म-अज्ञान गिर जाता है। और ऐसा व्यक्ति ही केवल इस अस्तित्व में परमात्मा को देख पा सकता है। ऐसे ही व्यक्ति को केवल परमात्मा का अनुभव हो सकता है।
सोए हुए आदमी को अपना ही अनुभव नहीं होता, परमात्मा का अनुभव तो बहुत दूर की बात है। नींद में दबे हुए आदमी को अपना ही पता नहीं, परमात्मा का पता तो बहुत कठिन है। लेकिन बहुत लोग हैं, जिन्हें अपना पता नहीं और जो परमात्मा को खोजने निकल जाते हैं। उनकी खोज कभी पूरी नहीं होगी। आत्म-ज्ञान परमात्म-ज्ञान का द्वार है। और जिसे स्वयं का पता चल गया, दूर नहीं है परमात्मा अब; अब बिल्कुल निकट है। अब दर्पण तो मिल ही गया; अब परमात्मा की झलक को पकड़ लेना कठिन नहीं है; पकड़ ही जाएगी। परमात्मा तो सब तरफ मौजूद है। एक दफा हृदय का दर्पण साफ, स्वच्छ... ।
अंतःकरण शुद्ध हो जिसका, कृष्ण कहते हैं। शुद्ध और साफ--परमात्मा की झलक पकड़नी शुरू हो जाती है। और फिर ऐसा नहीं है कि उसे देखने कहीं बद्री- केदार या काबा या मक्का या जेरूसलम जाना पड़ता है। जहां हैं आप, वहीं उसकी तस्वीर है। जो भी आप देखते हैं, उसमें वही है। न देखें, आंख बंद कर लें, तो भी वही है। सो जाएं, तो बाहर से शरीर ही सोता है फिर। भीतर तो वह जागकर जानता ही रहता है, देखता ही रहता है। हम जागकर भी सोते हैं, आत्म-ज्ञानी सोया हुआ भी जागता ही रहता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, आत्म-अज्ञान की जो तंद्रा है, जिसने घेर लिया है, उसे हटा देना पड़े, तोड़ देना पड़े।
कैसे तोड़ें उसे? अगर अंधेरे को हटाना हो, तो क्या करें? अंधेरे को काटें तलवार लाकर? नहीं कटेगा। होता तो कट जाता। अंधेरा नहीं कटेगा तलवार से। दीए को जलाएं; दीए की ज्योति को बड़ा करें। अगर आत्म-अज्ञान मिटाना है, तो आत्म-अज्ञान की फिक्र ही न करें। आत्म-ज्ञान को जगाएं और बढ़ाएं। किन चीजों से आत्म-ज्ञान बढ़ता है?
एक, दो-तीन सूत्र आपसे कहना चाहूंगा। एक--संकल्प, विल। जिस व्यक्ति को
भी आत्म-ज्ञान की ज्योति को जगाना है, उसे संकल्प के सूत्र को पकड़ लेना चाहिए। संकल्प तेल है, उसके बिना दीया नहीं जलेगा भीतर का। संकल्प के बिना आत्म-ज्ञान का दीया नहीं जलेगा। और संकल्प हममें बिल्कुल भी नहीं है। है ही नहीं।
एक मित्र परसों आए और उन्होंने कहा, संन्यास तो मैं लेना चाहता हूं, लेकिन ये गेरुए वस्त्र मैं सिर्फ घर में ही पहनूंगा, बाहर नहीं। बाहर क्यों नहीं पहनिएगा! उन्होंने कहा, लोग क्या कहेंगे!
लोग क्या कहेंगे! पब्लिक ओपीनियन हमारी आत्मा बन गई है। लोग क्या कहेंगे! घर में छिपकर कोई संन्यासी हो सकता है? कि घर में दरवाजा बंद करके हम गेरुए कपड़े पहन लें। काफी बहादुरी है! तो फिर ऐसा क्यों नहीं करते कि मरते वक्त पहन लेना और कब्र में चले जाना! तो दुबारा लौटकर कोई कुछ कह नहीं सकेगा।
इतनी संकल्पहीनता! इतनी कमजोरी! इतना मन हीन, इतना दीन कि कोई क्या कहेगा! इतनी परतंत्रता कि लोग क्या कहेंगे इस पर! तो फिर आत्मा को जगाना बहुत कठिन हो जाएगा। बहुत कठिन हो जाएगा। यह तो बड़ी छोटी-सी बात है। कपड़े तो आपकी मौज है अपनी। इतनी भी स्वतंत्रता नहीं मनुष्य को कि कपड़े खुद पहन ले जो उसे पहनने हैं? इसके लिए भी दूसरे से पूछने जाना पड़ेगा? तो फिर आप हैं या नहीं? और बड़े मजे की बात यह है कि जिनसे आप डर रहे हैं, वे आपसे डर रहे हैं। जिनसे आप डर रहे हैं, वे आपसे डर रहे हैं!
मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन सांझ एक कब्र के पास कब्रगाह की दीवाल पर बैठा हुआ था। उसने किताब पढ़ी थी, डान क्विक्जोट के संबंध की किताब पढ़ी थी। किताब में उसने पढ़ा था कि कई बार अकेले में दुश्मन हमला कर देता है। और-और बातें पढ़ी थीं। सांझ ढल रही थी, सूरज उतर रहा था नीचे। देखा उसने कि गांव के बाहर कुछ लोग बैंड-बाजा बजाते हुए, तलवारें लिए चले आ रहे हैं। उसने समझा कि हुआ खतरा; दिखता है, दुश्मन आ रहे हैं! अभी किताब से भरा हुआ था। सोच लिया कि दुश्मन आ रहे हैं। भागकर कब्रगाह के

अंदर चला गया। देखा, कहां छिपूं? एक नई कब्र किसी ने खोदी थी। मुर्दे को लेने गए होंगे। सोचा उसने कि इसी में लेट जाऊं, जब तक ये लोग निकल जाएंगे।
वह उस गड्ढे में लेट गया।
उसे कूदते और भागते उन लोगों ने भी देखा, जो आ रहे थे। वे कोई दुश्मन न थे, न कोई शत्रु थे। वह एक बरात थी, दूसरे गांव जा रही थी। वे भी हैरान हुए कि यह आदमी इतनी तेजी से भागा! क्या हुआ! वे लोग दीवाल पर चढ़कर झांके। नसरुद्दीन पक्का समझ गया कि समझ ठीक थी! आ गए वे लोग। अंदर भी आ रहे हैं! वह आंख बंद करके पड़ रहा।
जब उन लोगों ने देखा कि यह आदमी जाग रहा है, जिंदा है और कब्र में लेटा
है और हमें देखकर आंख भी बंद कर ली, तो बेचारे दीवाल से उतरकर अंदर आए। जब वे अंदर आए, तो उसने कहा, हो गया फैसला! उसने श्वास भी रोक ली।
उन्होंने उसे आकर हिलाया और कहा कि यह क्या कर रहे हैं आप? जिंदा होकर कब्र में क्यों पड़े हैं? क्या है कारण आपके भागने का? आप भागे क्यों? डरे क्यों? इतने घबड़ा क्यों रहे हैं? कंप क्यों रहे हैं? नसरुद्दीन ने कहा, अब यह मत पूछो। मैं तुमसे पूछना चाहता हूं कि तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो? तुम यहां क्यों आए? उन्होंने कहा, यही तो हम तुमसे पूछना चाहते हैं कि तुम यहां क्यों कब्र में छिपे हो? नसरुद्दीन ने कहा, खतम करो बात को। आई एम हियर बिकाज आफ यू, एंड यू आर हियर बिकाज आफ मी। छोड़ो। जाने दो। मैं तुम्हारी वजह से यहां हूं, तुम मेरी वजह से यहां हो। और बेवजह है सारा मामला!
हम दूसरों से डर रहे हैं, दूसरे हमसे डर रहे हैं! सब एक-दूसरे से डरे हैं।
नहीं; ऐसे आत्मा पैदा न होगी। संकल्प का पहला लक्षण यह है कि मुझे जो ठीक लगता है, वह मैं करूंगा। जो मुझे गलत लगता है, वह मैं नहीं करूंगा। चाहे सारी दुनिया कहती हो, करो, तो नहीं करूंगा। और जो मुझे ठीक लगता है, वह मैं करूंगा; चाहे सारी दुनिया कहती हो कि मत करो, तो भी मैं करूंगा।
इस जगत में केवल उन्हीं लोगों की आत्माएं विकसित होती हैं, जो भीड़ के व्यर्थ भय से मुक्त हो जाते हैं।
संकल्प पहला सूत्र है आत्म-ज्ञान को बढ़ाने के लिए, विल पावर।
दूसरा सूत्र है, साहस। हम रोज टालते रहते हैं। रोज टालते रहते हैं, कल करेंगे, परसों करेंगे। सोचते हैं, अभी ठीक समय नहीं आया। असली बात दूसरी होती है। साहस नहीं जुटा पाते हैं, तो अपने को धोखा देते हैं। यह भी समझने की तैयारी नहीं होती कि मैं दुस्साहसी नहीं हूं, साहसी नहीं हूं; कमजोर हूं। यह भी कोई समझ ले, तो मैं कहता हूं, बड़ा साहस है। जो आदमी यह समझ ले कि मैं साहसी नहीं हूं, उसने भी बहुत बड़ा साहस किया। लेकिन हम अपने को साहसी भी समझे जाते हैं और कल पर छोड़े जाते हैं; कल करेंगे, परसों करेंगे। इस आशा में कि नहीं, कर तो हम सकते ही हैं; कल कर लेंगे, परसों कर लेंगे। पोस्टपोनमेंट करते जाते हैं।
साहस का मतलब है, जो ठीक लगे, उसे अभी और आज और यहीं करना शुरू कर देना, क्योंकि कल का कोई भी भरोसा नहीं है। कल आएगा भी, इसका भी कुछ पक्का नहीं है। और साहस का मतलब इतना ही नहीं होता है कि अंधेरे में आप चले जाते हैं, तो बड़े साहसी हैं। साहस का मतलब यह भी नहीं होता है कि किसी से जूझ जाते हैं, लड़ जाते हैं, तो बड़े साहसी हैं। साहस का गहरा आध्यात्मिक अर्थ होता है, अज्ञात में छलांग, अननोन में उतर जाने का साहस।
जो जाना-माना है, उसमें तो हम बड़े मजे से चले जाते हैं। अज्ञात, अननोन में नहीं जा पाते। और ध्यान रहे, परमात्मा अज्ञात है। और ध्यान रहे, आत्मा बिल्कुल अज्ञात है, अननोन है। अनजान मार्ग है। अनजान राह है। अपरिचित सागर है। नक्शा पास में नहीं। अकेले जाना है। साथ कोई जा नहीं सकता। ध्यान रहे, साहस का यह भी मतलब है, दि करेज टु बी अलोन, अकेले होने की हिम्मत। क्योंकि बाहर तो हम सबके साथ हो सकते हैं, भीतर हमें अकेला ही होना पड़ेगा।
अगर इतना साहस नहीं है अकेले होने का, तो आप कभी भी आत्म-ज्ञान को उपलब्ध न हो सकेंगे। क्योंकि आत्म-ज्ञान में कंपनी, साथी-संगी नहीं हो

सकते। अकेले ही होना पड़ेगा। जो आदमी कहता है कि हम तो अकेले न हो सकेंगे, कोई न कोई साथ चाहिए, वह सारी दुनिया की यात्रा कर सकता है, चांद पर भी जा सकता है, कल मंगल पर भी चला जाएगा, लेकिन अपने भीतर नहीं जा सकेगा। क्योंकि वहां अकेले ही जाया जा सकता है, दूसरे के साथ का कोई उपाय नहीं है। साहस का यही अर्थ है।
और तीसरी बात। जो लोग जिंदगी की क्षुद्रतम, अति क्षुद्रतम बातों में ऊर्जा को गंवाते रहते हैं, वे कभी भी आत्म-ज्ञान को उपलब्ध न हो सकेंगे। पहला सूत्र, संकल्प; दूसरा सूत्र, साहस; और तीसरा सूत्र, संयम।
जो लोग जीवन की ऊर्जा को व्यर्थ गंवाते रहते हैं, दिन में इतना गंवा देते हैं कि उनके पास कुछ बचता नहीं कि उस शक्ति पर सवार होकर भीतर जा सकें। जिस दीए में छेद हो, और तेल टपक जाता हो। जिस नाव में छेद हो, और पानी भर जाता हो। जिस बाल्टी में छेद हो, और कुएं में डालकर पानी खींचना चाहते हों। वैसी फिर आपकी हालत है। चौबीस घंटे गंवाते हैं। फिर इतना बचता नहीं! मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, हम ध्यान को बैठते हैं, तो नींद आ जाती है। आ ही जाएगी। ताकत भी तो बचनी चाहिए थोड़ी-बहुत। लास्ट आइटम समझा हुआ है ध्यान को! जब सब कर चुके, सब तरह की बेवकूफियां निपटा चुके--लड़ चुके, झगड़ चुके, क्रोध कर चुके; प्रेम-घृणा, मित्रता-शत्रुता--सब कर चुके, कौड़ी- कौड़ी पर सब गंवा चुके। जब कुछ भी नहीं बचता करने को, रद्दी में दो पैसे का खरीदा हुआ अखबार भी दिन में दस दफे चढ़ चुके। रेडियो का नाब कई दफा खोल चुके, बंद कर चुके। वही बकवास पत्नी से, बेटे से, जो हजार दफा हो चुकी है, कर चुके। जब कुछ भी नहीं बचता है करने को, तब एक आदमी सोचता है कि चलो, अब ध्यान कर लें। तब वह आंख बंद करके बैठ जाता है!
इतनी इंपोटेंस से, इतने शक्ति-दौर्बल्य से कभी ध्यान नहीं होने वाला है। भीतर आप नहीं जाएंगे, नींद में चले जाएंगे। शक्ति चाहिए भीतर की यात्रा के लिए भी। इसलिए आत्म-ज्ञान की तरफ जाने वाले व्यक्ति को समझना चाहिए, एक-एक कण शक्ति का मूल्य चुका रहे हैं आप, और बहुत महंगा मूल्य चुका रहे हैं।
जब एक आदमी किसी पर क्रोध से भरकर आग से भर जाता है, तब उसे पता नहीं कि
वह क्या गंवा रहा है! उसे कुछ भी पता नहीं कि वह क्या खो रहा है! इतनी शक्ति पर, जिसमें उसने सिर्फ चार गालियां फेंकीं, इतनी शक्ति को लेकर तो वह गहरे ध्यान में कूद सकता था।
एक आदमी ताश खेलकर क्या गंवा रहा है, उसे पता नहीं। एक आदमी शतरंज के घोड़ों पर, हाथियों पर लगा हुआ है। वह क्या गंवा रहा है, उसे पता नहीं। एक आदमी सिगरेट पीकर धुआं निकाल रहा है बाहर-भीतर। वह क्या गंवा रहा है, उसे पता नहीं। इतनी शक्ति से तो भीतर की यात्रा हो सकती थी।
और ध्यान रहे, बूंद-बूंद चुककर सागर चुक जाते हैं। और आदमी के पास, इस शरीर के कारण, सीमित शक्ति है। जीवन बहुत जल्दी रिक्त हो जाता है।
तीन सूत्र आपसे कहता हूं। इन तीन सूत्रों का यदि ख्याल रहे--संकल्प, विल; साहस, करेज; संयम, कंजरवेशन--अगर ये तीन सूत्र ख्याल में रह जाएं, ये तीन स अगर ख्याल में रह जाएं, तो आपका आत्म-ज्ञान भभककर जल सकता है। और उस क्षण में आत्म-अज्ञान विलीन हो जाता है। और जो जानता है स्वयं को... ।
ये तीन सूत्र ख्याल में हों, तो आत्म-अज्ञान कट जाता है। जो शेष रह जाता है, वह आत्म-ज्ञान की ज्योति है। उस ज्योति की निर्मलता में, उस ज्योति के दर्पण में ही प्रभु की छवि पकड़ी जाती है, वही कृष्ण इस सूत्र में कहे हैं।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।। 17।।
और हे अर्जुन, तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानंदघन परमात्मा में ही निरंतर एकीभाव से स्थिति है जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्ति को अर्थात परमगति को प्राप्त होते हैं।

जिनकी वृत्ति, जिनकी चेतना परमात्मा से तदरूप हो गई, एक हो गई, तादात्म्य को पा गई है; जिनकी अपनी छोटी-सी ज्योति परमात्मा के परम सूर्य के साथ एक हो गई, एकतान हो गई है; जिनका अपना छोटा-सा वीणा का स्वर उसके परम नाद के साथ संयुक्त हो गया है--ऐसे पुरुष वापस नहीं लौटते हैं; उनका पुनरागमन नहीं होता है। ऐसे पुरुष प्वाइंट आफ नो रिटर्न, उस जगह पहुंच जाते हैं, जहां से वापसी नहीं है, जहां से पीछे नहीं गिरना पड़ता है, जहां से वापस अंधकार में और अज्ञान में नहीं डूब जाना पड़ता है।
इसमें दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी चाहिए।
एक तो, परमात्मा की झलक मिल जाती है बहुत बार, लेकिन तदरूपता नहीं मिलती। परमात्मा की झलक मिल जाती है बहुत बार, लेकिन परमात्मा से एकता नहीं सधती। झलक ऐसी मिल जाती है कि जैसे कोई व्यक्ति जमीन से छलांग लगाए, तो एक क्षण को जमीन के ग्रेविटेशन के बाहर हो जाता है, एक क्षण को जमीन की कशिश के बाहर हो जाता है। लेकिन क्षणभर को! हो भी नहीं पाता कि वापस जमीन उसे अपने पास बुला लेती है। फिर लौट आता है।
जैसे रात अंधेरे में बिजली कौंध जाए। अमावस की रात हो, भादों की रात हो, अंधेरा हो--बिजली कौंध जाए। एक क्षण को झलक में सब दिखाई पड़ जाता है; और दिखाई भी नहीं पड़ा कि घनघोर अंधकार छा जाता है। और ध्यान रहे, बिजली के बाद जब अंधकार छाता है, तो बिजली के पहले वाले अंधकार से ज्यादा घना होता है। आंखें और चौंधिया गई होती हैं।
बहुत बार परमात्मा की एक झलक मिल जाती है, लेकिन झलक से तदरूपता नहीं होती है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, जो तदरूप हो गया! ऐसा नहीं कि परमात्मा को जान लिया, बल्कि ऐसा कि जो परमात्मा हो गया। ऐसा नहीं है कि दूर से एक झलक ले ली, बल्कि ऐसा कि अब कोई फासला न बचा। अब वही हो गए, उसी के साथ एक हो गए। तब पुनरागमन नहीं है। फिर पुनरावर्तन नहीं होता। फिर लौटना नहीं होता। साधक को बहुत बार झलक मिल जाती है! और झलक से सावधान रहने की जरूरत है,
कि जो झलक को तदरूपता समझ लेगा, उसकी जिंदगी और गहन अंधकार में पड़ सकती है। झलक और तदरूपता में क्या फर्क है? झलक में आप मौजूद होते हैं, और परमात्मा का अनुभव होता है। तदरूपता में आप मिट जाते हैं, और परमात्मा का अनुभव होता है। तदरूपता में परमात्मा ही होता है, आप नहीं होते। झलक में आप होते हैं, परमात्मा क्षणभर को दिखाई पड़ता है। यह क्षणभर को दिखाई कभी- कभी अनायास भी पड़ जाता है। अनायास!
एडमंड बर्क ने लिखा है कि गुजर रहा था एक रास्ते से और बस अचानक--न कोई साधना, न कोई उपाय, न कोई प्रयास, बस अचानक--अचानक लगा कि चारों तरफ प्रकाश हो गया है। यह भी अचानक नहीं है। बर्क को लगा, अचानक हो गया है। यह भी पिछले जन्मों की चेष्टाओं का कहीं कोई छिपा हुआ कण है, जो भभक उठा किसी संगत स्थिति को पाकर।
कभी-कभी हिमालय की ऊंचाई पर गए हुए साधक को अचानक... । इसलिए हिमालय का इतना आकर्षण पैदा हो गया। उसका कारण है। हिमालय के शुभ्र, श्वेत शिखर दूर तक फैले हुए हैं। किसी क्षण में सूर्य की चमकती हुई किरणों में स्वर्ण हो जाते हैं। लोग छूट गए दूर। समाज छूट गया दूर। जमीन का गोरखधंधा, दिन-रात की बातचीत, दिन-रात की दुनिया, दैनंदिन व्यवहार छूट गया दूर। शीतल है सब। ठंडा है सब। क्रोधित हो सकें, इतना भी शरीर गर्म नहीं। रक्तचाप नीचे आ गया। चारों तरफ फैले हुए शुभ्र शिखर, सूर्य की चमकती हुई किरणों में स्वर्ण हो गए हैं। उस क्षण में कभी मन उस दशा में आ जाता है, प्राकृतिक कारण से ही, कि एक क्षण को ऐसा लगता है, चारों ओर परमात्मा है।
लेकिन इस झलक को तादात्म्य नहीं कहा जा सकता। और यह झलक और-और उपायों
से भी मिल सकती है। लेकिन झलक सदा ही एक अनुभव की तरह, एक एक्सपीरिएंस की तरह मालूम होगी। लगेगा कि मेरे पास एक अनुभव और बढ़ गया। मैं नहीं मिटूंगा। मैं बना रहूंगा। मेरी पुरानी स्मृति बनी रहेगी। मेरी कंटिन्यूटी बनी रहेगी। मेरी पुरानी स्मृति में मैं एक स्मृति और जोड़ दूंगा कि मैंने परमात्मा की झलक भी पाई।

ऐसे आदमी का अहंकार और मजबूत हो जाएगा। वह कहता फिरेगा कि मैंने परमात्मा को जान लिया। लेकिन परमात्मा पर जोर कम, मैंने जान लिया, इस पर जोर उसका ज्यादा होगा। और अगर मैं पर ज्यादा जोर है, तो अंधेरा और बढ़ गया। इसलिए कृष्ण ने बहुत स्पष्ट कहा, तदरूप हो जाता है जो!
वही केवल वापस नहीं लौटता। तदरूप का अर्थ है, परमात्मा से एक ही हो जाता है। इसलिए जिसने सच में ही परमात्मा के साथ तदरूपता पाई, वह यह नहीं कहेगा कि मैंने परमात्मा जाना। वह कहेगा, मैं तो मिट गया। अब परमात्मा ही है। मैं तो हूं ही नहीं। वह यह नहीं कहेगा, मुझे परमात्मा का अनुभव हुआ। वह कहेगा कि मैं जब तक था, तब तक तो अनुभव हुआ ही नहीं। जब मैं नहीं था, तब अनुभव हुआ। मुझे नहीं हुआ।
ध्यान रहे, मैं का और परमात्मा का वास्तविक मिलन कभी भी नहीं होता। मैं और परमात्मा वस्तुतः कभी आमने-सामने नहीं होते। एक झलक हो सकती है। लेकिन परमात्मा के सामने मैं तदरूप अगर हो जाए, पूर्ण रूप से खड़ा हो जाए, तो तत्काल गिर जाता है और विलीन हो जाता है।
कबीर ने कहा है कि जब तक खोजता था, तब तक वह मिला नहीं। क्योंकि मैं था खोजने वाला। फिर खोजते-खोजते मैं खो गया, तब वह मिला। जब मैं न बचा, तब वह मिला। और जब तक मैं था, तब तक वह मिला नहीं।
तदरूपता का अर्थ है, ईगोलेसनेस। खो जाए मेरा भाव कि मैं हूं। आ जाए यह स्थिति कि परमात्मा ही है। फिर लौटना नहीं है। क्योंकि लौटेंगे किसको लेकर अब? वह तो खो गया, जो लौट सकता था।
इस जगत की सारी यात्रा अहंकार की यात्रा है, आना और जाना। ध्यान रहे, जन्मों की लंबी कथा, आत्मा की नहीं, अहंकार की कथा है। अहंकार ही आता और जाता। आत्मा न तो आती और न जाती। एक बार भी जिसने यह जान लिया, उसका आवागमन गया। उसके लिए लौटने का कोई उपाय न रहा; सब सेतु गिर गए। खंडित हो गए मार्ग। लौटने वाला ही खो गया। इस स्थिति को परम मुक्ति कहा कृष्ण ने।
परम मुक्ति का अर्थ है, मैं की मुक्ति नहीं, मैं से मुक्ति। फिर से दोहराता हूं। परम मुक्ति का अर्थ है, मैं की मुक्ति नहीं, मैं से मुक्ति। हम सबके मन में ऐसा ही होता है कि मुक्त हो जाएंगे, तो मोक्ष में बड़े आनंद से रहेंगे। मुक्त हो जाएंगे, तो कोई दुख न रहेगा; हम तो रहेंगे! मुक्त हो जाएंगे, तो कोई पीड़ा न रहेगी, कोई बंधन न रहेगा; हम तो रहेंगे! लेकिन ध्यान रहे, सबसे बड़ी पीड़ा और सबसे बड़ा बंधन मेरा होना है।
इसलिए जो लोग ऐसा सोचते हैं कि मोक्ष में सुख ही सुख होगा और हम होंगे
और सुख ही सुख होगा, वे गलती में हैं। अगर आप होंगे, तो दुख ही दुख होगा। अगर आपको अपने को बचाना हो, तो नर्क बहुत ही सुगम, सुविधापूर्ण, सुरक्षित जगह है। अगर स्वयं को बचाना हो, तो नर्क बहुत ही सुव्यवस्थित बचाव है। अगर मैं को बचाना है, तो नर्क की यात्रा करनी चाहिए। वहां मैं बहुत प्रगाढ़ हो जाता है। उसी की प्रगाढ़ता से इतनी अग्नि जलती मालूम पड़ती है चारों तरफ--इतनी लपटें, इतना दुख, इतनी पीड़ा।
लेकिन कभी आपने सोचा कि आपके सारे दुख मैं के दुख हैं! कभी आपने कोई ऐसा दुख पाया है, जो मैं के बिना पाया हो? सब दुख मैं के दुख हैं। मैं के साथ आनंद का कोई उपाय नहीं है। मैं के साथ दुख आएगा ही छाया की तरह। इसलिए अगर कोई अपने मैं को बचाकर स्वर्ग भी पहुंच गया, तो भूल हो रही है उससे; वह स्वर्ग आया नहीं होगा, नर्क ही आएगा।
सुना है मैंने कि एक दिन स्वर्ग के द्वार पर एक आदमी ने जाकर दस्तक दी। स्वर्ग के द्वारपाल ने दरवाजा खोला। कहा, आएं; स्वागत है। फिर दरवाजा बंद हो गया। एक और गरीब-सा आदमी, दीन-हीन सा आदमी, पहले से, बहुत पहले से आकर दरवाजे के बाहर खड़ा था। इतना दीन-हीन था कि दरवाजा खटखटाने की हिम्मत भी जुटा नहीं पाया था। यह देखकर कि दरवाजा खटखटाने से खुलता है, और अंदर कोई आदमी ले गया, उसकी भी हिम्मत बढ़ी। वह भी बाहर आया। तभी उसने देखा कि अंदर बैंड-बाजे बज रहे हैं और स्वागत-समारोह हो रहा है। शायद, जो आदमी भीतर गया है, उसका स्वागत-समारोह हो रहा होगा।
उसने भी हिम्मत करके द्वार खटखटाया। फिर द्वारपाल ने दरवाजा खोला।
कहा, भीतर आ जाओ। भीतर गया। सोचा, अब बैंड-बाजे बजेंगे मेरे लिए भी।

स्वागत-समारोह होगा। कुछ न हुआ। उसने द्वारपाल से पूछा, बैंड-बाजे कहां हैं? स्वागत कहां है? मेरे पहले कोई आया, उसका स्वागत हुआ। क्या यहां भी हम गरीबों के साथ ज्यादती और अन्याय चलता है?
द्वारपाल ने कहा, ऐसा नहीं है। तुम्हारे जैसे गरीब तो रोज यहां आते हैं। तुम्हारे जैसे विनम्र, जो दरवाजा नहीं खटखटाते और किनारे पर प्रतीक्षा करते रहते हैं; तुम्हारे जैसे विनम्र तो रोज आते हैं। यह जो आदमी अभी भीतर गया है, एक महापंडित है। यह बड़ा ज्ञानी था। ऐसे ज्ञानी सौ, दो सौ, चार सौ, पांच सौ वर्ष बीत जाते हैं, तब कभी-कभी आते हैं। इसलिए उसका स्वागत किया गया है। यह बड़ी रेयर घटना है। तुम्हारे जैसे विनम्र लोग तो रोज आते हैं। लेकिन ऐसा महापंडित कभी दो-चार सौ साल में एक बार आता है। इसलिए स्वागत किया गया है। यह जरा विशेष घटना थी।
वह बहुत हैरान हुआ। उसने कहा कि पंडित तो हम सोचते हैं कि सदा जाते होंगे। हम दीन-हीन, न समझने वाले नर्क में पड़ते होंगे! उस द्वारपाल ने कहा कि पृथ्वी में बहुत तरह की भूलों में यह एक भूल भी प्रचलित है।
पंडित को इतना ख्याल होता है कि मैं जानता हूं कि स्वर्ग में प्रवेश बड़ा मुश्किल है। अज्ञानी भी एक बार प्रवेश कर सकता है, विनम्र हो तो। क्योंकि जो विनम्र है, वह अज्ञानी न रहा। क्योंकि जो विनम्र है, वह तभी हो सकता है, जब अहंकार को छोड़ने का सामर्थ्य आ गया हो।

ज्ञानी भी प्रवेश नहीं कर सकता, अगर अविनम्र है। क्योंकि जहां अविनम्रता है और अहंकार है, वहां तो ज्ञान का सिर्फ दंभ होगा, भ्रम होगा, ज्ञान हो नहीं सकता है।
मैं से जो मुक्त होने को तैयार है, वही केवल मोक्ष में प्रवेश पाता है। यह जो मैं से मुक्ति है--मैं की मुक्ति नहीं, मैं से मुक्ति--इसमें ही तदरूप हो जाता है आदमी। तदरूप! एक ही।
जिंदगी में कहां आपको तदरूपता दिखाई पड़ती है? कहीं आपने तदरूपता देखी जिंदगी में, जहां कोई चीज वही हो जाती हो, जो है? आग जलाते हैं। थोड़ी ही देर में--थोड़ी ही देर में--लकड़ियां जलती हैं और आग के साथ एक हो जाती हैं। राख पड़ी रह जाती है।
इसलिए अग्नि को बहुत पहले समस्त दुनिया के धर्मों ने एक प्रतीक की तरह चुन लिया। उसमें लकड़ी जलकर आग के साथ एक हो जाती है। इसलिए अग्नि यज्ञ बन गई। पारसियों ने अग्नि को चौबीस घंटे जलाकर पवित्र पूजा का स्थल बना लिया। क्योंकि अग्नि में लकड़ी जलकर तदरूप होती रहती है।
ठीक ऐसे ही जब कोई अहंकार परमात्मा की आग में अपने को छोड़कर जलता जाता है, जलता जाता है, जलने को राजी हो जाता है, तदरूप हो जाता है; तो ही--तो ही-- उस जगह पहुंचता है, जहां से कोई वापसी नहीं है।
और उस जगह पहुंचे बिना जीवन में न कोई आनंद है, न कोई अमृत है, न कोई रस है, न कोई सौंदर्य है, न कोई संगीत है। उसी क्षण से संगीत शुरू होता, उसके पहले शोरगुल है। उसी क्षण से अमृत शुरू होता, उसके पहले मृत्यु ही मृत्यु की कथा है। उसी क्षण से प्रकाश शुरू होता, उसके पहले अंधकार और अंधकार है। उसी क्षण से जीवन उत्सव बनता।
जिस क्षण से मैं खोता हूं, उसी क्षण से जीवन एक फेस्टिविटी है--एक उत्सव, एक नृत्य, एक आनंदमग्नता, एक एक्सटैसी, एक समाधि, एक हर्षोन्माद। उसके पहले तो जीवन सिर्फ कांटों से चुभा हुआ है। उसके पहले तो जीवन सिर्फ बिंधा हुआ है पीड़ाओं से, संताप से, सड़ता हुआ। उसके पहले तो जीवन एक दुर्गंध है, और एक विसंगीत है; एक विक्षिप्तता, एक पागलपन है।
कृष्ण कहते हैं, ऐसा हो सकता है अर्जुन। अंतःकरण हो शुद्ध, आत्मा ने जागकर पाया हो ज्ञान, हो गई हो तदरूप परमात्मा के साथ; खो दी हो ज्योति ने अपने को परम प्रकाश में, तो फिर कोई लौटना नहीं है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। 18।।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद ब्रह्मणि ते स्थिताः।। 19।।
ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण में, तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चांडाल में भी समभाव से देखने वाले ही होते हैं। इसलिए जिनका मन समत्वभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया, क्योंकि सच्चिदानंदघन परमात्मा निर्दोष और सम है। इससे वे सच्चिदानंदघन परमात्मा में ही स्थित हैं।

पाना हो जिसे प्रभु को, उसे प्रभु जैसा हो जाना पड़ेगा। पाने की एक ही शर्त है, जो पाना हो, उस जैसा ही हो जाना पड़ता है। यह शर्त गहरी है। और यह नियम शाश्वत है। और जीवन के समस्त तलों पर लागू है।
अगर किसी व्यक्ति को धन पाना है, तो थोड़े दिन में पाएंगे कि वह आदमी भी धातु का ठीकरा हो गया। अगर किसी व्यक्ति को पद पाना है, तो थोड़े दिन में पाएंगे कि उस आदमी में और कुर्सी की जड़ता में कोई फर्क नहीं रहा। असल में हमें जो भी पाना है, जाने-अनजाने हमें वही बन जाना पड़ता है। बिना बने, हम पा नहीं सकते। हम वही पा सकते हैं, जो हम बनते हैं। जो भी हम चाहते हैं इस जगत में, इस जगत के पार, हम वही बन जाते हैं।
इसलिए आदमी के चेहरे पर, आंखों में, हाथों में, वह सब लिखा रहता है, वह
जो उसकी खोज है, वह जो पाना चाहता है। आदमी को देखकर कहा जा सकता है, वह क्या पाना चाहता है। क्योंकि उसके सारे भावों पर, उसकी चमड़ी पर सब अंकित हो गया होता है।
परमात्मा को जिसे पाना है, उसे परमात्मा जैसा हो जाना पड़ेगा। परमात्मा के क्या मौलिक लक्षण हैं?
एक, कि परमात्मा सम है, विषम नहीं है। समता की स्थिति है परमात्मा, संतुलन की, दि एब्सोल्यूट बैलेंस। सब चीजें सम हैं परमात्मा में। कोई लहर भी नहीं है, जो विषमता लाती हो। सब! जैसे कि तराजू के दोनों पलड़े बिल्कुल एक जगह पर हों, कंपन भी न होता है। जैसे वीणा के तार बिल्कुल सधे हों। न बहुत ढीले हों, न बहुत खिंचे हों। ऐसी समता परमात्मा का स्वरूप है।
जिसे भी परमात्मा को पाना है, उसे समता की तरफ बढ़ना पड़ेगा। कोई चाहे
कि मैं विषम रहकर और परमात्मा को पा लूं, तो नहीं पा सकेगा। विषम रहकर परमात्मा को पाना असंभव है।
इसीलिए जो आदमी क्रोध में, लोभ में, काम में, घृणा में, ईर्ष्या में डूबता है, वह परमात्मा की तरफ नहीं बढ़ पाएगा। क्योंकि ये सब चीजें मन को विषम करती हैं, उत्तेजित करती हैं, आंदोलन करती हैं, सम नहीं करती हैं। इसलिए जो आदमी करुणा में, प्रेम में, क्षमा में, दान में, दया में विकसित होगा, वह धीरे-धीरे परमात्मा की तरफ बढ़ेगा। क्योंकि दान है, दया है, क्षमा है, करुणा है, प्रेम है, ये भीतर समता को पैदा करवाते हैं।
क्या कभी आपने ख्याल किया कि जब आप लोभ से भरते हैं, तो आपके भीतर का संतुलन डगमगा जाता है। पलड़े नीचे-ऊपर होने लगते हैं। लहरें उठ जाती हैं। जिस चीज से आपके भीतर जितनी ज्यादा विषमता पैदा होती हो, जानना, वह उतनी ही अधर्म है। अधर्म की एक कसौटी है, जिससे उत्तेजना और विषमता पैदा होती हो। धर्म की भी एक कसौटी है, जिससे समता और संतुलन निर्मित होता हो। ऐसी घड़ी भीतर आ जाए कि आपका हृदय दो पलड़ों की तरह ठहर जाए, तराजू सम हो जाए। कोई भी पल्ला न नीचे हो, न ऊपर हो। वजन किसी पर न रह जाए। दोनों पल्ले समान आ जाएं। ऐसी तराजू की स्थिति आ जाए सम, उसी क्षण परमात्मा से तदरूपता सधनी शुरू हो जाती है।
लेकिन हमारा मन सदा ही कहीं न कहीं झुका रहता है--किसी पक्ष में, किसी वृत्ति में, किसी लोभ में, किसी वासना में--कहीं न कहीं झुका रहता है। हम किसी के खिलाफ और किसी के पक्ष में झुके रहते हैं। किसी के विपरीत और किसी के अनुकूल झुके रहते हैं। किसी के विकर्षण में और किसी के आकर्षण में झुके रहते हैं। हम सदा ही झुके रहते हैं। और यह झुकाव चौबीस घंटे बदलता रहता है। चौबीस घंटे! हमें भी पक्का नहीं होता कि ऊंट सांझ तक किस करवट बैठेगा। दिन में बहुत करवट बदलते हैं।

यह जो चित्त की दशा है विषम, यह परमात्मा की तरफ ले जाने वाली नहीं बन सकती है।
परमात्मा है सम, समता। अगर वैज्ञानिक शब्दों में कहें, तो समत्व। परमात्मा शब्द को छोड़ा जा सकता है। इतना ही कहना काफी है कि जीवन का जो मूल स्वभाव है, वह समत्व है। वहां सब समान है।
जिस व्यक्ति को परमात्मा की यात्रा करनी है, उसे चौबीस घंटे ध्यान में रखना चाहिए कि वह समत्व खोता है या बढ़ाता है! ऊपर से बहुत अंतर नहीं पड़ता, असली सवाल भीतर जानकारी का है। ऊपर हो सकता है कि एक आदमी सम मालूम पड़े और भीतर विषम हो। इससे विपरीत भी हो सकता है। कृष्ण जैसा आदमी जब चक्र हाथ में ले ले सुदर्शन, तो बाहर से तो लोगों को लगेगा ही कि विषम हो गया, पर भीतर सम है।
असली सवाल भीतर है। इसलिए दूसरे का सवाल नहीं है। प्रत्येक को अपने भीतर देखते रहना चाहिए कि मैं समता को बढ़ाता हूं, गहराता हूं, घनी कर रहा हूं; या तोड़ रहा हूं, मिटा रहा हूं, नष्ट कर रहा हूं।
जैसे कोई आदमी बगीचे की तरफ जा रहा हो। अभी बगीचा बहुत दूर है, लेकिन जैसे-जैसे पास पहुंचता है, हवाएं ठंडी होने लगती हैं। हवाओं को ठंडा जानकर वह सोचता है कि मेरे कदम ठीक रास्ते पर पड़ रहे हैं। और पास पहुंचता है, अभी भी बगीचा दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन फूलों की सुगंध आने लगती है। तो वह सोचता है कि मेरे कदम ठीक रास्ते पर पड़ रहे हैं।
ठीक ऐसे ही, अगर आपके भीतर समता का भाव आने लगे, तो आप समझना कि परमात्मा की तरफ कदम पड़ रहे हैं। और अगर विषमता का भाव आने लगे, तो समझना कि कदम विपरीत पड़ रहे हैं। हवाएं गर्म होने लगें, तो समझना कि बगीचे से उलटे जा रहे हैं। और सुगंध की जगह दुर्गंध से चित्त भरने लगे, तो समझना कि बगीचे के विपरीत जा रहे हैं।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, समत्व को जो उपलब्ध हो जाए, वही उस परमात्मा से
भी एक हो पाता है, तदरूप हो पाता है। और जब कोई उस परमात्मा से एक हो जाता है, तो हाथी में, घोड़े में, गाय में--किसी में भी--कृष्ण ने सारे नाम गिनाए, फिर वह परमात्मा को ही देखता है।
यह दूसरा भी एक महत्वपूर्ण नियम है जीवन का कि हम बाहर वही देखते हैं,
जो हमारे भीतर गहरे में होता है। हम अपने से ज्यादा इस जगत में कभी कुछ नहीं देख पाते। बाहर हम वही देखते हैं, जो गहरे में हमारे भीतर होता है। कोई आदमी आपके पास आता है। फौरन देखते हैं कि पता नहीं, रुपए मांगने
तो नहीं आ गया! अभी उसने कुछ कहा नहीं है।
मैंने सुना है, एक आदमी ने किसी मित्र से रुपए मांगे, सौ रुपए मांगे। चौंककर उस मित्र ने देखा। स्वभावतः, जैसा कि किसी से भी रुपए मांगो, जिस तरह वह देखता है, वैसे उसने देखा। सोचा कि गए! लेकिन सौ रुपए देना उसकी सामर्थ्य के भीतर था। मित्रता खोनी उसने ठीक नहीं समझी। सोचा, सौ रुपए जाएंगे, यही उचित है। सौ रुपए दे दिए।
लेकिन ठीक पंद्रह दिन बाद जो वायदा था, उस दिन, बारह बजे दोपहर का जैसा वचन था, उस आदमी ने लाकर सौ रुपए लौटा दिए। फिर उसने चौंककर देखा। यह बिल्कुल भरोसे के बाहर की बात थी।
लेकिन पंद्रह दिन बाद उसने फिर पांच सौ रुपए मांगे। अब उसकी हृदय की धड़कन बहुत बढ़ गई। लेकिन फिर भी उसकी सीमा के भीतर था, उसने पांच सौ रुपए दे दिए। और आश्चर्यों का आश्चर्य कि वह फिर पंद्रह दिन बाद, ठीक वक्त पर, जो समय तय था, उसने लाकर पांच सौ रुपए लौटा दिए। वह और भी चकित हो गया। पंद्रह दिन बाद फिर उस आदमी ने हजार रुपए मांगे। उस मित्र ने कहा कि बस, अब बहुत हो गया! यू हैव फूल्ड मी ट्वाइस। थ्राइस, इट इ.ज टू मच टु एक्सपेक्ट! दो दफे तुम मुझे मूर्ख बना चुके। लेकिन तीसरी बार, अब यह जरूरत से ज्यादा है। अब मैं हिम्मत नहीं कर सकता। उस आदमी ने कहा, मैंने तुम्हें कहां मूर्ख बनाया! दो दफे तो मैंने तुम्हें रुपए लौटा दिए। उस आदमी ने कहा कि तुमने लौटा दिए होंगे, लेकिन मैंने दो में से एक भी दफे नहीं सोचा था कि तुम लौटाओगे। तुम न लौटाते, तो मैं समझता कि मैं होशियार हूं। बात पक्की हो गई। जो मैंने जाना था, वह हो गया। तुमने लौटाए, उससे तो मैं मूर्ख बना।

मैंने सोचा था, रुपए लौटेंगे नहीं, और तुमने लौटा दिए। एक दफे तुमने मूर्ख बना दिया। फिर भी दूसरी बार मैंने सोचा था कि रुपए लौटेंगे नहीं। फिर भी तुमने मुझे मूर्ख बना दिया। लेकिन अब क्षमा करो। अब बहुत ज्यादा है। तीन बार भरोसा करना बहुत मुश्किल है, उसने कहा कि अब मुझे तुम क्षमा कर दो! वह मित्र तो समझ ही नहीं पाया कि बात क्या है।
अक्सर ऐसा होता है। हम समझ ही नहीं पाते कि बात क्या है। दूसरा आदमी अपने भीतर से बात करता है, हम अपने भीतर से बात करते हैं। इसलिए दुनिया में संवाद बहुत कम होते हैं। सब अपने भीतर से बात करते हैं। और आप जब बात करते हैं, तो उससे बात नहीं करते, जो आपके सामने मौजूद है। आप उस इमेज से बात करते हैं, जो आप सोचते हैं कि आपके सामने मौजूद है।
पति कुछ कहता है, पत्नी कुछ समझती है। पत्नी कुछ कहती है, पति कुछ समझता है। पत्नी बहुत कहती है, यह मेरा मतलब ही नहीं, तब भी पति कुछ और समझता है। पति बहुत कहता है, यह मेरा कभी मतलब नहीं, लेकिन पत्नी फिर भी कुछ और समझती है! बात क्या है? इस दुनिया में संवाद ही नहीं हो पाता।
हम वही समझते हैं, जो हम प्रोजेक्ट करते हैं। जब किसी कमरे में दो आदमी मिलते हैं, तो वहां दो आदमी नहीं मिलते; वहां छः आदमी मिलते हैं। कम से कम छः, ज्यादा हो सकते हैं! एक तो मैं, जैसा मैं हूं; और एक वह, जिससे मैं मिल रहा हूं, जैसा वह है। ये दो आदमी तो मुश्किल से मिलते हैं। इनका तो कोई मिलन होता ही नहीं, जैसे हम हैं। एक वह जैसा मैं दिखलाने की कोशिश करता हूं कि मैं हूं, और एक वह जैसा वह दिखलाने की कोशिश करता है कि वह है। इनका भी मिलन कभी-कभी होता है। एक वह, जैसा मैं समझता हूं कि वह है, और एक वह, जैसा वह समझता है कि मैं हूं, इन दोनों की मुलाकात होती है। तो छः आदमी! जब दो आदमी मिलें, तो समझ लेना, छः आदमी। उनमें दो जो मिलते हैं, बिल्कुल झूठे होते हैं। उनसे जो कम झूठे हैं, वे कभी-कभी मिलते हैं। और जो आथेंटिक हैं, उनका कोई मिलन ही नहीं हो पाता। उसका कारण है।
हम दूसरे में वही देखते हैं, जो हमारे भीतर होता है। जो आदमी परमात्मा
से तदरूप हो जाएगा, वह अपने चारों ओर परमात्मा को देखना शुरू कर देगा। इसके अलावा उपाय नहीं बचेगा। उपाय नहीं है फिर। देखेगा ही। क्योंकि जब भीतर परमात्मा दिखाई पड़ेगा, तो आपकी आंखों के पार भी परमात्मा दिखाई पड़ेगा। जब अपनी हड्डी के पार परमात्मा दिखाई पड़ेगा, तो दूसरे की हड्डी में भी छिपा वही दिखाई पड़ेगा। जब अपनी देह के भीतर उसका मंदिर मालूम पड़ेगा, तो दूसरे की देह के भीतर भी उसका मंदिर मालूम पड़ेगा।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, सब में वह परमात्मा को देखना शुरू कर देता है।
हम तो अपने में ही नहीं देखते, तो दूसरे में देखने की तो बात बहुत मुश्किल है! सारी यात्रा अपने ही घर से शुरू करनी पड़ती है। अभी तो मुझे अपने में ही पता न चलता हो कि परमात्मा है, तो मैं आपमें कैसे देख सकूंगा? अपने भीतर तो पता चलता है, चोर है, बेईमान है। तो मैं दूसरे में भी चोर और बेईमान ही देख सकता हूं। पढूंगा मैं, किताब आपकी होगी, लेकिन पढूंगा वही, जो मैं पढ़ सकता हूं। अर्थ मैं वही निकालूंगा, जो मैं निकाल सकता हूं। इसलिए इस जगत में हर किताब गलत पढ़ी जाती है, हर आदमी गलत पढ़ा जाता है। पढ़ा ही जाएगा, क्योंकि पढ़ने वाला वही पढ़ सकता है।
बुद्ध ने कहा है--एक रात ऐसा हुआ कि बुद्ध की सभा में, जैसे आज आप यहां इकट्ठे हैं, ऐसे ही हजारों लोग इकट्ठे थे--बुद्ध ने कहा कि सुनो भिक्षुओ, मैं जो कहता हूं, तुम वही नहीं समझोगे। तुम वही समझोगे, जो तुम समझ सकते हो। एक भिक्षु ने खड़े होकर कहा कि यह आप क्या कहते हैं! हम तो वही समझेंगे, जो आप कहते हैं। हम वह कैसे समझेंगे, जो आप नहीं कहते हैं? बुद्ध ने कहा, सुनो, कल रात ऐसा हुआ। कल रात भी तुम आए थे। कल रात एक चोर भी आया था; एक वेश्या भी आई थी। और जब रात अंतिम प्रवचन के बाद... ।
जैसा मैं आपसे कहता हूं कि अब कीर्तन में डूब जाएं, ऐसा बुद्ध कहते थे,
अब ध्यान में लग जाएं। लेकिन यह रोज-रोज क्या कहना। तो बुद्ध रोज इतना ही कह देते थे बोलने के बाद कि अब रात का जो आखिरी काम है, उसमें लग जाओ।
तो कल, बुद्ध ने कहा, जब मैंने कहा, अब रात के आखिरी काम में लग जाओ अर्थात ध्यान में चले जाओ, तो भिक्षु तो आंख बंद करके ध्यान में चले गए।

चोर को ख्याल आया कि रात काफी हो गई और काम में लगने का वक्त आ गया। और वेश्या को ख्याल आया कि उठूं। ग्राहक आने शुरू हो गए होंगे।
बुद्ध ने कहा कि आखिरी काम में लग जाओ। जिसे ध्यान करना था, वह ध्यान में चला गया। जिसे चोरी करनी थी, वह चोरी करने चला गया। जिसे शरीर बेचना था, वह शरीर बेचने जा चुकी।
बुद्ध ने कहा, मैंने तो भिक्षुओ, एक ही बात कही थी, लेकिन तीन अर्थ हो गए।
नहीं; हम वही पढ़ लेते, वही समझ लेते, हम वही मान लेते, वही जान लेते, जो हमारे भीतर है। हमारा जगत हमारा प्रोजेक्शन है। एक-एक आदमी अपनी दुनिया को अपने साथ लेकर चलता है। एक-एक आदमी अपनी दुनिया को अपने साथ लेकर चलता है। कोई भी चीज बाहर घटे, हमें अपनी ही बात याद आती है।
मैंने सुना है कि एक गांव में भूकंप आ गया। भूकंप जैसी चीज! एक आदमी रास्ते से गुजर रहा है--बहुत लोग गुजर रहे हैं--एक आदमी रास्ते से गुजर रहा है। भूकंप आया जोर से। मकान कंपने लगे। मकानों से चीजें नीचे गिरने लगीं। दूसरे लोग चिल्लाकर भागे कि हे राम! मर जाएंगे। उस आदमी ने कहा, हे भगवान! मुझे ख्याल आया कि मेरी पत्नी ने मुझे चिट्ठी डालने को दी थी दो दिन पहले, और वह अभी तक मेरे खीसे में रखी है! भूकंप देखकर ख्याल आया! पड़ोस वाले आदमी ने कहा कि तू यह क्या कह रहा है! भूकंप देखकर तुझे यह ख्याल आया कि पत्नी ने चिट्ठी दी थी डालने को, वह अभी तक खीसे में रखी है! उसने कहा कि हां, क्योंकि अगर चिट्ठी नहीं डाली गई है, यह पता चल गया, तो मेरे घर में भूकंप आता है!
वह दूसरा आदमी समझ ही नहीं सका कि भूकंप से और चिट्ठी डालने का क्या संबंध हो सकता है। कोई भी तो संबंध नहीं है, इररेलेवेंट है। लेकिन किसी का हो सकता है। अपने-अपने घर की बात है! अपने-अपने अनुभव की बात है।
भूकंप से ख्याल आया घर का कि चिट्ठी अभी तक डाली नहीं गई। भागा! लोग जान बचाने भागे। वह भी अपनी जान बचाने भागा! वह चिट्ठी लेकर जल्दी से भागा कि वह चिट्ठी डाल दे।
आदमी के भीतर एक जाल है। उसी जाल से वह सारे जगत को बाहर से नापता- जोखता है। इसलिए जब आपको कोई आदमी चोर मालूम पड़े, तो एक बार सोचना फिर से कि उसके चोर मालूम पड़ने में आपके भीतर का चोर तो सहयोगी नहीं हो रहा! और जब कोई आदमी बेईमान मालूम पड़े, तो सोचना भीतर से कि उसके बेईमान दिखाई पड़ने में आपके भीतर का बेईमान तो कारण नहीं बन रहा!
मैं यह नहीं कह रहा हूं कि बाहर लोग बेईमान नहीं हैं और चोर नहीं हैं। होंगे! उससे कोई प्रयोजन नहीं है। लेकिन जब आपको दिखाई पड़ता है, तो जरा भीतर देखना कि आपके भीतर कोई कारण तो इस व्याख्या के लिए आधार नहीं है? और अगर हो, तो दूसरे के चोर होने से इतना नुकसान नहीं है, जितना दूसरे के चोर दिखाई पड़ने से नुकसान है। क्योंकि फिर इस जगत में आपको परमात्मा दिखाई पड़ना मुश्किल है। और दूसरा चोर होकर आपसे कुछ कीमती चीज नहीं छीन सकता, लेकिन आप दूसरे में चोर देखते हैं, इससे आप बहुत बड़ी कीमती चीज से वंचित रह जा सकते हैं। वह दूसरे में परमात्मा दिख सकता था, उससे आप वंचित रह जा सकते हैं।
इसलिए साधक के लिए कहता हूं, आखिरी बात! साधक निरंतर इस चेष्टा में रहेगा, पहला सूत्र मैंने कहा, समता की ओर बढ़ रहा हूं या नहीं। दूसरा सूत्र, साधक निरंतर इस चेष्टा में रहेगा कि दूसरे के भीतर कोई ऐसी शुभ चीज को देख ले, जिससे परमात्मा का स्मरण आ सके। अगर दूसरे के भीतर अशुभ को देखा, तो शैतान का स्मरण आ सकता है, परमात्मा का स्मरण नहीं आ सकता। दूसरे के भीतर मैं कोई चीज देख लूं, जिससे परमात्मा का स्मरण आ सके।
तिब्बत में एक फकीर हुआ, मिलरेपा। वह कहा करता था कि अधार्मिक आदमी मैं उसको कहता हूं, जिससे अगर हम कहें कि हमारे गांव में फलां-फलां आदमी बहुत अच्छी बांसुरी बजाता है, तो वह फौरन कहेगा कि छोड़ो भी; क्या खाक बांसुरी बजाएगा! वह निपट चोर रखा है। और धार्मिक आदमी मैं उसे कहता हूं, मिलरेपा कहता था कि अगर हम उससे कहें कि हमारे गांव में फलां आदमी चोर है,

तो वह कहेगा, मान नहीं सकता; वह इतनी अच्छी बांसुरी बजाता है कि चोरी कैसे करता होगा!
एक ही आदमी के बाबत, जो चोरी करता है और बांसुरी बजाता है, अधार्मिक आदमी चोरी को चुन लेता है, बांसुरी को काट देता है; धार्मिक आदमी बांसुरी को चुन लेता है, चोरी को काट देता है। इससे चोर में कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन देखने वाले व्याख्याकार में बुनियादी फर्क पड़ता है। क्योंकि जिसमें हम चोर देखते हैं, उसमें परमात्मा को देखना कठिन हो जाता है। और जिसमें हम मधुर बांसुरी का संगीत सुनते हैं, उसमें परमात्मा को देखना सरल हो जाता है। और अगर दूसरे में चोर दिखेगा, तो भीतर विषमता आएगी। और दूसरे में अगर बजती हुई बांसुरी सुनाई पड़ेगी, तो भीतर समता आएगी।
ये दो सूत्र भी एक ही सूत्र के हिस्से हैं। अगर भीतर समता लानी हो, तो बाहर शुभ को देखना अनिवार्य है। और अगर भीतर विषमता लानी हो, तो बाहर अशुभ को देखना अनिवार्य है।
बाहर अशुभ को देखना छोड़ते चले जाएं। और ध्यान रखें, इस पृथ्वी पर बुरे
से बुरा आदमी भी ऐसा नहीं है, जिसके भीतर शुभ की कोई किरण न हो। और यह भी ध्यान रखें, इस पृथ्वी पर भले से भला आदमी भी ऐसा नहीं है, जिसके भीतर कोई अशुभ न खोजा जा सके। आप पर निर्भर है। और जब आपको एक अशुभ मिल जाता है किसी में, तो उसमें दूसरे शुभ पर भरोसा करना कठिन हो जाता है। और जब आपको किसी में एक शुभ मिल जाता है, तो दूसरे शुभ के लिए भी द्वार खुल जाता है।
भीतर लानी हो समता, तो बाहर शुभ का दर्शन करना शुरू करें। जितना शुभ
का दर्शन कर सकें बाहर, करें। उतनी समता घनी होगी।
भीतर समता, बाहर शुभ। और आप पाएंगे कि इन दोनों के बीच में प्रभु की किरण धीरे-धीरे उतरने लगी। और वह दिन भी दूर नहीं होगा कि जिस दिन समता और शुभ की पूर्ण स्थिति में प्रभु से तदरूपता हो जाती है।
अब हम पांच मिनट तदरूपता में हो जाएं प्रभु के साथ। इसको कीर्तन ही न समझें, तदरूपता समझें। परमात्मा ही नाचता है, ऐसा ही समझें। बैठे रहें, ताली बजाएं, गीत गाएं। वहीं बैठे-बैठे आनंदमग्न हो जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
नौवां प्रवचन

अकंप चेतना

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।। 20।।
और जो पुरुष प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्वेगवान न हो, ऐसा स्थिर बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है।

प्रिय को जो प्रिय समझकर आकर्षित न होता हो; अप्रिय को अप्रिय समझकर
जो विकर्षित न होता हो; जो न मोहित होता हो, न विराग से भर जाता हो; जो न तो किसी के द्वारा खींचा जा सके और न किसी के द्वारा विपरीत गति में डाला जा सके--ऐसे स्वयं में ठहर गए व्यक्तित्व को, ऐसी स्वयं में ठहर गई बुद्धि को कृष्ण कहते हैं, सच्चिदानंद परमात्मा की स्थिति में सदा ही निवास मिल जाता है।
इसमें दोत्तीन बातें समझ लेने जैसी हैं।
किसे हम कहते हैं प्रिय? कौन-सी बात प्रीतिकर मालूम पड़ती है? कौन-सी बात अप्रीतिकर, अप्रिय मालूम पड़ती है? और किसी बात के प्रीतिकर मालूम पड़ने में और अप्रीतिकर मालूम पड़ने में कारण क्या होता है?
इंद्रियों को जो चीज तृप्ति देती मालूम पड़ती है--देती है या नहीं, यह दूसरी बात--इंद्रियों को जो चीज तृप्ति देती मालूम पड़ती है, वह प्रीतिकर लगती है। इंद्रियों को जो चीज तृप्ति देती नहीं मालूम पड़ती, उसके प्रति तिरस्कार शुरू हो जाता है। और इंद्रियों को जो चीज विधायक रूप से कष्ट देती मालूम पड़ने लगती है, वह अप्रीतिकर हो जाती है। फिर जरूरी नहीं है कि आज इंद्रियों को जो चीज प्रीतिकर मालूम पड़े, कल भी मालूम पड़े। और यह भी जरूरी नहीं है कि आज जो अप्रीतिकर मालूम पड़े, वह कल भी अप्रीतिकर मालूम पड़े। आज जो चीज इंद्रियों को प्रीतिकर मालूम पड़ती है, बहुत संभावना यही है कि कल वह प्रीतिकर मालूम नहीं पड़ेगी।
जब तक कुछ मिलता नहीं, तब तक आकर्षित करता है। जैसे ही मिलता है, व्यर्थ हो जाता है। सारा आकर्षण न मिले हुए का आकर्षण है। दूर के ढोल सुहावने मालूम पड़ते हैं। जैसे-जैसे जाते हैं पास, वैसे-वैसे आकर्षण क्षीण होने लगता है। और मिल ही जाए जो चीज चाही हो, तो क्षणभर को भला धोखा हो जाए, मिलने के क्षण में, लेकिन मिलते ही आकर्षण विदा होने लगता है। बहुत शीघ्र ही आकर्षण की जगह तिरस्कार, और तिरस्कार के बाद विकर्षण जगह बना लेता है। सुना है मैंने, सिगमंड फ्रायड के एक शिष्य के पास एक व्यक्ति मनस चिकित्सा के लिए आया। उस व्यक्ति ने कहा, मैं बहुत परेशान हूं। एक स्वप्न मुझे बार-बार आता है। हर रोज, हर रात। और कभी तो रात में दो-चार बार भी आता है। मैं उस स्वप्न से इतना परेशान हो गया हूं कि कुछ रास्ता खोजने आपके पास आया हूं। मनोवैज्ञानिक ने कहा, क्या है वह स्वप्न? उस व्यक्ति ने कहा कि मैं बहुत हैरानी का सपना देखता हूं। हर रात नींद में, स्वप्न में पहुंच जाता हूं युवतियों के एक छात्रावास में। रोज, नियमित! और फिर धीरे से फुसफुसाकर कहा कि सारी युवतियां छात्रावास की नग्न घूमती मालूम पड़ती हैं! मनोवैज्ञानिक ने कहा, घबड़ाओ मत। क्या तुम चाहते हो, यह स्वप्न बंद हो जाए? उस आदमी ने कहा, आप मुझे गलत समझे। मेरा पूरा स्वप्न तो सुन लें। लेकिन जैसे ही मैं दरवाजे में प्रवेश करने लगता हूं उस छात्रावास के, मेरी नींद खुल जाती है। कुछ ऐसा करें कि मेरी नींद दरवाजे में प्रवेश करते वक्त खुले न!
स्वभावतः, मनोवैज्ञानिक हैरान हुआ होगा। लेकिन वह आदमी ईमानदार रहा होगा। उसने कहा, सपना तोड़ना नहीं चाहता। लेकिन सपना पूरा ही नहीं हो पाता। भीतर प्रवेश करता हूं, दरवाजे पर पैर रखता हूं कि नींद टूट जाती है। छात्रावास खो जाता है; नग्न युवतियां खो जाती हैं। मनोवैज्ञानिक ने कहा

कि हम कुछ कोशिश करें। सपना तोड़ना तो आसान था, लेकिन नींद को बचाना जरा कठिन है, फिर भी कोशिश करें।
उसे सम्मोहित किया। दो-चार दिन सम्मोहित करके, हिप्नोटाइज करके उसे सुझाव दिए।
चौथे दिन वह आदमी बहुत क्रोध में आया। आधी रात दरवाजे खटखटाए। मनोवैज्ञानिक ने कहा कि इतनी रात आने की क्या जरूरत? उसने कहा कि बहुत गलत किया तुमने। आज सपना नहीं टूटा। मैं भीतर भी प्रवेश कर गया। लेकिन मैं वापस चाहता हूं, वही सपना ठीक था, जो दरवाजे पर टूट जाता था।
उस मनोवैज्ञानिक ने कहा, क्यों वापस चाहते हो? उसने कहा कि कम से कम थोड़ा आकर्षण तो था; अब वह भी नहीं है। अभी तक एक आशा तो थी कि कभी यह सपना नहीं टूटेगा। आज नहीं टूटा है। लेकिन मिला तो कुछ भी नहीं! वरन मैंने कुछ खोया है। मेरा अधूरा सपना वापस लौटा दो।
आदमी जीवन में जो-जो सपने देखता है, जब तक देखता रहता है, तब तक प्रीतिकर होते हैं। जब सपने हाथ में आ जाते हैं, तो बड़े अप्रीतिकर हो जाते हैं।
जिस चीज को प्रेम करें, अगर प्रेम जारी रखना हो, तो जरा दूर ही रहना, निकट मत जाना। निकट गए कि प्रेम उजड़ जाएगा, विकर्षण जगह ले लेगा। क्योंकि सारा आकर्षण अनजान, अपरिचित, दूर जो है, आशा में है, होप। जितनी ज्यादा आशा मिश्रित मालूम होती है, उतना आकर्षण मालूम होता है। हाथ में आ गए तथ्य विकर्षित हो जाते हैं। बहुत देर हाथ में रह गए तथ्य, फेंकने जैसे हो जाते हैं। जिसे चाहा था बहुत मांगों से, उससे दूर हटने की आकांक्षा पैदा हो जाती है। अप्रीतिकर हो जाता है वही, जो प्रीतिकर था।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, जिन्हें लोग प्रीतिकर समझते हैं, जिन्हें लोग अप्रीतिकर समझते हैं...।
किन्हें समझते हैं लोग? दूर की आशाओं को लोग प्रीतिकर समझते हैं।
इंद्रियों को प्रलोभन जहां से मिलता है, वहां प्रीतिकर मालूम होता है सब।
जहां-जहां इंद्रियां पहुंच जाती हैं, वहीं अप्रीति बैठ जाती है; वहीं अंधेरा छा जाता है; वहीं हटने का मन हो जाता है। इसीलिए तो जो हम पा लेते हैं, बस वह बेकार हो जाता है। आंखें फिर कहीं और अटक जाती हैं।
लेकिन एक और अर्थ में भी इस बात को समझ लेना जरूरी है। कोई आपके गले में फूल की मालाएं डाल रहा है। प्रीतिकर लगता है। स्वागत, सम्मान, प्रतिष्ठा प्रीतिकर लगती है। कोई जूते की मालाएं डाल दे गले में, अप्रीतिकर लगता है।
कृष्ण कहते हैं, ये व्याख्याओं से जो भीतर आंदोलित हो जाता है, वह प्रभु की सतत आनंद की स्थिति में प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि गले में डाले गए फूल कि गले में डाले गए कांटे, चेतना को इससे अंतर नहीं पड़ना चाहिए। चेतना को अंतर पड़ता है, इसका अर्थ यह हुआ कि बाहर के लोग आपको प्रभावित कर सकते हैं। और जब तक बाहर के लोग आपको प्रभावित कर सकते हैं, तब तक भीतर की धारा में प्रवेश नहीं होता।
बाहर से जो प्रभावित होगा, उसकी चेतना बाहर की तरफ बहती रहेगी। जब बाहर से कोई बिलकुल अप्रभावित, तटस्थ हो जाता है, तभी चेतना अंतर्गमन को उपलब्ध होती है।
जब मिले स्वागत, जब मिले सम्मान, जब प्रेम की वर्षा होती लगे, तब भी भीतर साक्षी रह जाना, देखना कि लोग फूल डाल रहे हैं। जब मिले अपमान, जब बरसें गालियां, तब भी साक्षी रह जाना और जानना कि लोग कांटे फेंक रहे हैं, गालियां फेंक रहे हैं। लेकिन देखना भीतर यह कि स्वयं चलित तो नहीं हो जाते, स्वयं तो नहीं बह जाते फूलों और कांटों के साथ! स्वयं तो खड़े ही रह जाना भीतर।
ऐसे प्रत्येक अवसर को जो तटस्थ साक्षी का क्षण बना लेता है, वह धीरे- धीरे अंतर-समता को उपलब्ध होता है। धीरे-धीरे ही होती है यह बात। एक-एक कदम समता की तरफ उठाना पड़ता है। लेकिन जो कभी भी नहीं उठाएगा, वह कभी पहुंचेगा नहीं।

बहुत छोटे-छोटे मौकों पर--जब कोई गाली दे रहा हो, तब उसकी गाली पर से ध्यान हटाकर भीतर ध्यान देना कि मन चलित तो नहीं होता। और ध्यान देते ही मन ठहर जाएगा। यह बहुत मजे की बात है। जब कोई गाली देता है, तो हमारा ध्यान गाली देने वाले पर चला जाता है। अगर कृष्ण की बात समझनी हो, तो जब कोई गाली दे, तो ध्यान जिसको गाली दी गई है, उस पर ले जाना।
जैसे ही ध्यान भीतर जाएगा, हंसी आएगी। गाली बाहर रह जाएगी; गाली देने वाला बाहर रह जाएगा; आप किनारे पर खड़े हो जाएंगे। गाली से अछूते, कमल के पत्ते की तरह पानी में। चारों तरफ पानी है और आप अस्पर्शित, अनटच्ड रह जाएंगे। उस क्षण इतने आनंद की प्रतीति होगी, जिसका हिसाब नहीं।
जिसने भी गाली के क्षण में या सम्मान के क्षण में भीतर खड़े होने को पा लिया, जस्ट स्टैंडिंग को पा लिया, वह इतने अतिरेक आनंद से भर जाता है, जिसका कोई हिसाब नहीं। क्यों? क्योंकि पहली बार वह स्वतंत्र हुआ। अब कोई उसे बाहर से चलित नहीं कर सकता है। अब वह यंत्र नहीं है, मनुष्य हुआ। हम बटन दबाते हैं, बिजली जल जाती है। हम बटन दबाते हैं, बिजली बुझ जाती है। बिजली परतंत्र है, बटन दबाने से जलती और बुझती है। किसी ने गाली दी; हमारे भीतर दुख छा गया। किसी ने कहा कि आप तो बड़े महान हैं; हमारे भीतर खुशी की लहर दौड़ गई। तो हममें और बिजली में बहुत फर्क न हुआ, बटन दबाई...
अभी अमेरिका में कुछ मनोवैज्ञानिक, इरिक फ्रोम, डा.सर्ज और कुछ दूसरे मनोवैज्ञानिक एक छोटा-सा प्रयोग कर रहे हैं, जो मैं आपको याद दिलाना चाहूंगा। वह प्रयोग यह है कि हमारे मस्तिष्क में कुछ सेंटर्स हैं, कुछ केंद्र हैं, जिनमें अगर बिजली की धारा प्रवाहित की जाए, तो बड़ा प्रीतिकर लगता है। और दूसरे भी कुछ केंद्र हैं हमारे मस्तिष्क में, जिनमें बिजली की धारा प्रवाहित की जाए, तो बड़ा अप्रीतिकर लगता है। सिर्फ बिजली की धारा! तो इलेक्ट्रोड, बिजली का तार डाल देते हैं खोपड़ी के भीतर, और जिस हिस्से से इंद्रियां प्रीतिकर अनुभव करती हैं, उससे जोड़ देते हैं। बाहर बटन दबा देते हैं, वहां बिजली की धारा उस केंद्र को संचालित करने लगती है। आदमी बड़ा मुग्ध हो जाता है--मुग्ध। दुखद हिस्से को पकड़ा देते हैं तार को, आदमी बड़ा दुखी हो जाता है। आदमी ही नहीं जानवर भी!
अभी एक बिल्ली पर वे प्रयोग कर रहे थे। और उस बिल्ली को तार लगा दिया
और उसके सामने बटन भी उसे सिखा दी दबानी। भीतर सुखद जहां अनुभव होती है बिजली की दौड़, उसमें तार लगा दिया और बिल्ली को बटन दबाना भी सिखा दिया। बहुत हैरान हो गए वे। बिल्ली ने चौबीस घंटे खाना-पीना-सोना सब बंद कर दिया। बस, वह बटन ही दबाती रही! उसने चौबीस घंटे में छः हजार बार बटन दबाया। और मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अगर हम उसे अलग न कर देते, तो वह मर जाती, लेकिन बटन दबाना बंद न करती। खाने-पीने की फुर्सत न रही उसे!
जब आपको किसी से प्रीतिकर संबंध मालूम पड़ता है, कोई प्रियजन, तो अगर
आप मनोवैज्ञानिक से अब पूछें, तो वह कहेगा, जब आप अपनी प्रेयसी से मिलते हैं या प्रेमी से मिलते हैं, तो आपके भीतर उसके शरीर से वह बिजली प्रवाहित होने लगती है, जो आपके विशेष केंद्रों को स्पर्श करती है। और कुछ नहीं होता। और आप उस बिल्ली से बहुत अच्छी हालत में नहीं हैं। और अगर बार-बार मन होता है कि प्रेयसी से मिलें, तो जो बिल्ली का तर्क है, वही तर्क आपका है कि बार-बार बटन को दबाएं!
आज नहीं कल, जिस दिन यह पूरे शरीर का फिजियोलाजिकल और केमिकल, यह जो हमारी व्यवस्था है शारीरिक और रासायनिक, इसका पूरा राज पता चल जाएगा, तो आप अपने खीसे में एक बटन रखकर दबाते रहना बैटरी को। उससे आपको सुखद और दुखद अनुभव होते रहेंगे!
इससे साफ होता है कि जिन लोगों ने आध्यात्मिक गहराइयों में जाकर यह कहा कि वही आदमी वास्तविक आनंद को उपलब्ध होगा, जो सुख और दुख दोनों के बीच थिर हो जाता है। वही आदमी शरीर के इस रासायनिक, शारीरिक, वैद्युतिक प्रवाह के सुख-दुख के भ्रम के ऊपर उठ पाता है। तटस्थ हो जाने की जरूरत है। दोनों के बीच एक-सा हो जाने की जरूरत है।
वह बिल्ली पागल हो गई। चौबीस घंटे बाद उसका स्विच तो अलग कर दिया गया, इलेक्ट्रोड अलग कर दिया गया, लेकिन वह पागल हो गई। उस दिन से उसको फिर

दुनिया में कोई रस न रहा। न अब उसे चूहे पकड़ने में रस आता है; न अब उसे खाने में रस आता है; न उसे अब बिल्लियों से प्रेम बसाने में रस आता है। अब तो वह उसी कमरे में बार-बार आ जाती है, जहां उसको बटन दिया गया था और जहां उसने बटन दबाया था। वह पागल हो गई है। अब उसकी स्मृति भारी है। अब उतना तीव्र रस उसको किसी बात में नहीं आता है। विक्षिप्त है।
मैंने सुना है कि एक मनोवैज्ञानिक दो वर्षों से एक आदमी का इलाज कर रहा है। फिर एक दिन हजारों रुपए के खर्च, इलाज और चिकित्सा और मनोविश्लेषण के बाद उसने उस आदमी को कहा कि अब आप बिलकुल ठीक हो गए। धन्यवाद दो परमात्मा को कि आप अब बिलकुल ठीक हो गए हैं। अब आपको कभी भी महान होने का जो पागलपन पहले पकड़ा था, वह अब कभी भी नहीं पकड़ेगा। उस आदमी को पंडित जवाहरलाल नेहरू होने का भ्रम था। उस मनोवैज्ञानिक ने कहा, अब तुम्हें इस तरह के ग्रेंडयोर, इस तरह के महिमाशाली होने के पागलपन की बातें कभी नहीं पकड़ेंगी।
उस बीमार ने कहा, धन्यवाद प्रभु का और धन्यवाद तुम्हारा। तुमने बड़ी मेहनत ली। बड़ी कृपा है तुम्हारी कि मैं ठीक हो गया। क्या तुम्हारा फोन उपयोग कर सकता हूं? चिकित्सक ने पूछा, किसको फोन करना है? उसने कहा, मैं जरा अपनी बेटी इंदिरा गांधी को खबर दूं कि मैं ठीक हो गया हूं। चिकित्सक तो दंग! उसने कहा, दो साल पर पानी फेर दिया तुमने! उस आदमी ने कहा, तुम्हें पता नहीं; कितना सुखद है पंडित जवाहरलाल नेहरू होना! पागल होना बेहतर! पंडित नेहरू होना छोड़ना बेहतर नहीं। मैं पागल रह सकता हूं, इतना सुखद है! जो हमारा सुख है, हम उसके पीछे सभी पागल हो जाते हैं। दुख भी हमें पागल करता है, क्योंकि उससे हम भागते रहते हैं। सुख भी पागल करता है, क्योंकि उसकी हम मांग करते रहते हैं। और जब चेतना इस तरह प्रीतिकर-अप्रीतिकर के बीच डांवाडोल होती रहती है, तो थिर कैसे होगी? ठहरेगी कैसे? खड़ी कैसे होगी? फिर तो उसकी हालत ऐसी होती है, जैसे दीया तूफान और आंधी में झोंके लेता रहता है--कभी बाएं, कभी दाएं। कभी ठहर नहीं पाता।
कृष्ण जिस आदमी की बात कर रहे हैं, वह उस आदमी की बात है, जिसकी चेतना
का दीया, जिसकी चेतना की ज्योति ठहर गई। ऐसे, जैसे बंद कमरे में जहां हवा के कोई झोंके न आते हों। ठहर गई ज्योति, रुक गई।
जिस दिन चेतना सम हो जाती है--न प्रीतिकर खींचता, न अप्रीतिकर हटाता; न दुखद कहता कि हटो, न सुखद कहता है कि आओ--और जब चेतना पर कोई भी बाहर के आंदोलन प्रभाव नहीं डालते हैं और चेतना बिलकुल ठहरकर खड़ी हो जाती है, उस खड़ी हुई चेतना में ही व्यक्ति सच्चिदानंद स्वरूप परमात्मा में थिर होता है।
इसे ऐसा समझ लें, डोलती हुई चेतना, उसी तरह है, जैसे कभी आपके रेडिओ का कांटा ढीला हो गया हो। आप घुमाते हों उसे, वह कोई स्टेशन पर टयून नहीं हो पाता हो; कहीं भी ठहर न पाता हो। हिलता हो, डुलता हो; दो-चार स्टेशन साथ-साथ पकड़ता हो। कुछ भी समझ-बूझ न पड़ता हो कि क्या हो रहा है।
चेतना जब तक डोलती है सुख और दुख के धक्कों में, झोंकों में, तब तक कभी
भी टयूनिंग नहीं हो पाती परमात्मा से। जैसे ही खड़ी हो जाती है थिर, वैसे ही परमात्मा से संबंध जुड़ जाता है।
परमात्मा और व्यक्ति के बीच संबंध किसी भी क्षण हो सकता है, लेकिन व्यक्ति की चेतना के ठहरने की अनिवार्य शर्त है। परमात्मा तो सदा ठहरा हुआ है। हम भी ठहर जाएं, तो मिलन हो जाए। उस मिलन में ही सच्चिदानंद का अनुभव है। और इस मिलन के बाद कोई विरह नहीं है। सुख मिलेंगे, छूटेंगे। दुख मिलेंगे, छूटेंगे। परमात्मा मिला, तो फिर नहीं छूटता है। आनंद मिला, तो फिर नहीं छूटता है।
उसी की तलाश है सारे जीवन, उसी की खोज है। वह मिल जाए, जो मिलकर नहीं छूटता है। वह पा लिया जाए, जिसे पाने के बाद कुछ पाने को शेष नहीं रहता है। उसी की जन्मों-जन्मों की यात्रा है। लेकिन हर बार चूक जाते हैं। वह डोलती हुई चेतना, थिर नहीं हो पाती। और वह थिर क्यों नहीं हो पाती? प्रीतिकर और अप्रीतिकर में हम भटकते रहते हैं।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, जागो! प्रीतिकर, अप्रीतिकर दोनों के बीच खड़े हो जाओ, मौन।
निश्चित ही कांटा चुभेगा, तो अप्रीतिकर लगेगा। कृष्ण को भी चुभेगा,
तो भी लगेगा। फूल हाथ पर आएगा, तो अप्रीतिकर नहीं लगेगा। यह मत सोचना कि कृष्ण को हम कांटा गड़ाएंगे, तो खून नहीं बहेगा। कि कृष्ण को कांटा गड़ाएंगे, तो वे पत्थर हैं, उन्हें पता नहीं चलेगा। पता पूरा चलेगा। शरीर पूरी प्रतिक्रिया करेगा। शरीर में पीड़ा होगी, चुभन होगी। शरीर खबर भेजेगा मस्तिष्क को कि कांटा चुभता है, खून बहता है। लेकिन चेतना डांवाडोल नहीं होगी। चेतना कहेगी, ठीक है। आते हैं; जो किया जा सकता है, वह करेंगे। कांटे को निकालेंगे; मलहम-पट्टी करेंगे। लेकिन चेतना इससे विचलित नहीं होती है। चेतना ठहरी ही रह जाती है!
बुद्ध या महावीर की मूर्ति देखते हैं बैठी हुई! जैसे दीए की ज्योति ठहरी हो। इसलिए बुद्ध और महावीर और सारे जगत के उन सारे लोगों की, जिनकी चेतना ठहर गई, हमने पत्थर में मूर्तियां बनाईं। अकारण नहीं! पत्थर में बनाने का कारण था। पत्थर जितना ठहरा हुआ है, इतनी और कोई चीज ठहरी हुई नहीं है। तूफान आते हैं; जिस वृक्ष के नीचे मूर्ति रखी है बुद्ध की, वृक्ष हिल जाता है, कंप जाता है। जड़ें कंप जाती हैं, पत्ते कंप जाते हैं, लेकिन मूर्ति है कि ठहरी रहती है। वह जो उनके भीतर थिर हो गई थी चेतना, उस थिरता के समानांतर खोजने के लिए हमने पत्थर खोजा। वहां सब ठहरा हुआ है। अप्रीतिकर, प्रीतिकर के बीच ऐसे जो ठहर जाता है, वह पुरुष सच्चिदानंद
के साथ एकलीनता, एकलयता को उपलब्ध होता है।

प्रश्न: भगवान श्री, इस श्लोक में कहा गया है कि प्रिय और अप्रिय अनुभवों में उद्वेगरहित, स्थिर बुद्धि व संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है। इसमें एक शब्द है, संशयरहित। तो प्रीतिकर और अप्रीतिकर अनुभवों में समता रखने वाला पुरुष कैसे संशयरहित होता है, इस पर कुछ कहें।

संशय भी चेतना के कंपन का नाम है। संशय की बात भी कृष्ण ने कही-- संशयरहित की--जानकर। चेतना दो तरह से कंपती है। या तो भाव के द्वार से, इमोशन के द्वार से; या बुद्धि के द्वार से, इंटलेक्ट के द्वार से। चेतना के दो द्वार हैं, भाव या विचार। पहली बात कृष्ण ने कही कि प्रीतिकर और अप्रीतिकर के बीच थिर है जो। यह भाव के द्वार की बात है। भावना में न कंपे कोई। प्रीतिकर हो या अप्रीतिकर, यह हृदय की बात है। हृदय को प्रीतिकर लगता है, तो भी कंपन आ जाता; अप्रीतिकर लगता है, तो भी कंपन आ जाता। हृदय के द्वार से थिर हो जाए।
दूसरी बात भी कही कि संशयरहित हो। संशय, बुद्धि का कंपन है। बुद्धि जब कंपती है, तो प्रीतिकर-अप्रीतिकर से नहीं कंपती। बुद्धि जब कंपती है, तो ठीक या गलत, इससे कंपती है। हृदय कंपता है प्रीतिकर-अप्रीतिकर से। बुद्धि कंपती है, ठीक या गलत। ठीक में भी वह वैसा ही खड़ा रहे, गलत में भी वह वैसा ही खड़ा रहे। बुद्धि भी न कंपे, बुद्धि के द्वार से भी न कंपे।
एक व्यक्ति आपसे कहता है, ईश्वर है? बुद्धि तत्काल कहती है, है। किसी
की बुद्धि कहती है, नहीं है। कंप गई। कंप गई! आस्तिक भी कंप गया, जिसने कहा, है। नास्तिक भी कंप गया, जिसने कहा, नहीं है। आस्तिक प्रीतिकर ढंग से कंपा। नास्तिक अप्रीतिकर ढंग से कंपा। आस्तिक पक्ष में कंपा; नास्तिक विपक्ष में कंपा। लेकिन कंप गया।
कृष्ण उस धार्मिक की बात कर रहे हैं कि कोई कहता है, ईश्वर है, और बुद्धि संशय में नहीं पड़ती। इतना भी संशय नहीं करती कि है या नहीं। अकंपित रह जाती है।
परम आस्तिक का लक्षण तो यही है। परमात्मा के पक्ष में भी न कंपे, विपक्ष में भी न कंपे, वही व्यक्ति परमात्मा को उपलब्ध होता है। जरा कठिन है बात। अति कठिन है। परम आस्तिक, वस्तुतः आस्तिक वही है, जो परमात्मा है,

इतना भी आग्रह नहीं करेगा। क्योंकि यह कंपन है। यह नहीं के विरोध में चले जाना है। यह नास्तिक से उलटा होना है, आस्तिक होना नहीं है। आस्तिक इतनी बड़ी घटना है कि नास्तिक को भी समा लेती है।
बुद्ध के पास एक व्यक्ति आया और उसने कहा कि मैं ईश्वर को नहीं मानता हूं, शांत हो सकता हूं? बुद्ध ने कहा, ईश्वर को मान ही कैसे सकोगे बिना शांत हुए? उस आदमी ने कहा, ईश्वर को नहीं मानता हूं, शांत हो सकता हूं? बुद्ध ने कहा, शांत हुए बिना ईश्वर को मान ही कैसे सकोगे? तो जो तुमसे कहता हो कि ईश्वर को पहले मान लो, वह गलत कहता है। ईश्वर को मानकर कोई दुनिया में शांत नहीं होता। क्योंकि जो शांत नहीं है, वह ईश्वर को मान ही नहीं सकता है। तुम शांत हो जाओ। उसने कहा, ईश्वर को मानने की कोई भी जरूरत नहीं है? बुद्ध ने कहा, कोई भी जरूरत नहीं है। तुम शांत हो जाओ, शांत हो जाने की जरूरत है।
शांति की साधना में लग गया वह व्यक्ति। वर्ष बीता। बुद्ध ने उससे पूछा, शांत हुए? उसने कहा, पूरी तरह शांत हो गया हूं। बुद्ध ने कहा, ईश्वर के संबंध में क्या खयाल है? उसने कहा, अब कोई खयाल न बनाऊंगा। अब मैं जानता हूं कि ईश्वर है, यह भी अशांत लोगों का खयाल था; ईश्वर नहीं है, यह भी अशांत लोगों का खयाल था। अब मैं कोई खयाल न बनाऊंगा। बुद्ध ने कहा, ईश्वर के संबंध में कुछ भी न कहोगे? उसने कहा कि अगर मेरी आंखें कह सकें, तो कहें। अगर मेरे चलते हुए पैर कह सकें, तो कहें। अगर मेरे हाथ कह सकें, तो कहें। अगर मेरा अस्तित्व कह सके, तो कहे। मैं नहीं कहूंगा। और अगर ईश्वर है, तो पूरे प्राण, श्वास-श्वास कहेगी।
आस्तिकता भी एक संशय है, एक कंपन--पक्ष में। नास्तिकता भी एक संशय है,
एक कंपन--विपक्ष में। धार्मिकता अकंप है, निष्कंप--न पक्ष, न विपक्ष। धार्मिकता आस्तिकता और नास्तिकता दोनों का ट्रांसेंडेंस है, दोनों के पार चले जाना है।
और ध्यान रहे, नास्तिक को कोई कितना ही समझाकर आस्तिक बना दे, बीमारी बदल जाती है, नास्तिक नहीं बदलता। आस्तिक को कोई कितना समझाकर नास्तिक बना दे, बीमारी बदल जाती है, आस्तिक नहीं बदलता। बीमारी के बदल जाने से स्वास्थ्य नहीं आता।
पक्ष बीमारी है, निष्पक्षता स्वास्थ्य है। पक्ष बीमारी है, निष्पक्षता स्वास्थ्य है। पक्ष यानी झुके, डोले, गए। कुछ चुन लिया। च्वाइस हो गई। चुनाव कर लिया। तटस्थ न रह सके। निष्पक्ष, यानी नहीं किया चुनाव, तटस्थ रहे।
हृदय के लिए प्रीतिकर और अप्रीतिकर कंपाते हैं। बुद्धि के लिए विश्वास और अविश्वास कंपाते हैं। विश्वास और अविश्वास में भी जो निःसंशय खड़ा है।
ध्यान रहे, आमतौर से लोग व्याख्या करते हैं निःसंशय की विश्वासी के लिए, कि जो विश्वास करता है दृढ़ता से, वह आदमी संशयरहित है। मैं नहीं करता हूं। मैं कहता हूं, जो आदमी कहता है, मैं दृढ़ता से विश्वास करता हूं, उसके भीतर संशय उतनी ही दृढ़ता से मौजूद है। उस संशय को ही दबाने के लिए वह दृढ़ता का पत्थर रख रहा है। जो आदमी कहता है, मैं पक्का विश्वास करता हूं; जानना कि वह डरा हुआ है अपने भीतर के अविश्वास से। उसको ही दबाने के लिए पक्के विश्वास की दीवाल खड़ी कर रहा है। जो आदमी सच में विश्वास करता है, पक्का- कच्चा नहीं करता।
जो आदमी आपसे कहे कि मैं पक्का प्रेम करता हूं, समझना कि प्रेम पक्का नहीं है। क्योंकि पक्के का खयाल ही कच्चे वाले को आता है, नहीं तो पक्के की कोई बात ही नहीं है। जो प्रेम करता है, वह तो शायद कह भी नहीं सकता कि मैं प्रेम करता हूं। इतना कहना भी उसे गलत मालूम पड़ेगा। अगर प्रेम ने खुद नहीं कह दिया है, तो अब शब्दों से और क्या कहा जा सकता है! अगर प्रेम खुद भी नहीं कह पाया, तो अब शब्दों से और क्या कहा जा सकता है!
इस पृथ्वी पर जिन्होंने सच में प्रेम किया है, उन्होंने शायद कहा ही नहीं। क्या कहें? अगर प्रेम ही नहीं कह पा रहा है, तो अब और हम क्या कह सकेंगे?

नहीं लेकिन; जो कहता है छाती ठोककर कि मैं पक्का विश्वास दिलाता हूं, प्रेम मेरा सच्चा और पक्का है; उसके भीतर अगर हम थोड़ा प्रवेश करें, तो कहीं कच्चा और झूठा छिपा हुआ मिल जाएगा। उसी को दबाने के लिए वह इंतजाम कर रहा है। यह सेफ्टी मेजर है।
जब एक आदमी कहता है कि मेरा विश्वास पक्का है, जितना अकड़कर कहे कि मेरा विश्वास पक्का है, उतना ही समझना कि वह खुद से डरा है। ये पक्के विश्वासी दूसरे की बात सुनने तक में डरेंगे। क्योंकि उनके भीतर छिपा हुआ डर है। वह कभी भी प्रकट हो सकता है। इसीलिए तो डाग्मेटिज्म पैदा होता है, मतांधता पैदा होती है। हर आदमी कहता है, मैं बिलकुल पक्का हूं। शक खुद ही है। जिसे शक नहीं है, वह निःसंशय है। जिसने शक को दबाया, उसने केवल संशय को दबाया है; वह निःसंशय नहीं है।
कृष्ण कहते हैं, संशयरहित! जिसके भीतर संशय ही नहीं है।
बड़ी इनोसेंट अवस्था है संशयरहितता की। विश्वास की बहुत निष्कपट अवस्था नहीं है, पक्के इंतजाम की, कैलकुलेटेड है। हिसाब-किताब है वहां। डरे हुए हैं भीतर की नास्तिकता से, इसलिए आस्तिकता को पकड़े हुए हैं। इसी डर से कि कहीं कोई नास्तिक की बात सुनाई न पड़ जाए, तो कान बंद किए हुए हैं! सुना है न आपने, एक आदमी घंटाकर्ण, जो कान में घंटे बांधे रखता था कि कहीं कोई विपरीत बात सुनाई न पड़ जाए! वह घंटे अपने बजाता रहता कान के। न कान सुनेंगे, न सुनाई पड़ेगी। लेकिन बड़ा कमजोर आदमी रहा होगा। अगर विपरीत बात सुनने से इतना भय है, तो यह भय विपरीत बात से नहीं आता, अपने भीतर कहीं से आता है। कहीं छिपा है गहरे में।
संशयरहित कौन होगा? संशयरहित वही होगा, जो ठीक जैसे हृदय में प्रीति
और अप्रीति के बीच तटस्थ होता है, ऐसे ही बुद्धि में विश्वास और अविश्वास के बीच तटस्थ होता है।
और इस दुनिया में हम किसी के विश्वास बदलवा नहीं सकते। बीमारी बदल सकते हैं। और अक्सर तो यह होता है कि बीमारी भी नहीं बदल पाते। कितना ही समझाओ, कोई किसी को इस दुनिया में कनविन्स कर पाता है? नहीं कर पाता। समझाओ किसी को। जितना समझाओगे, वह उतना और मजबूत होता जाता है अपनी ही बात में। क्योंकि वह इतना इंतजाम और करता है कि यह आदमी हमला बोल रहा है। भीतर से उसको डर लगता है कि कहीं दीवाल कमजोर न पड़ जाए; वह और ईंट-पत्थर जोड़कर बड़ी दीवाल खड़ी कर लेता है; इंतजाम कर लेता है। समझाने वाले अक्सर उस आदमी को उसके पक्ष में और मजबूत कर जाते हैं। और कुछ नहीं करते। नास्तिक को समझाएं, तो नास्तिक और मजबूत नास्तिक हो जाता है। आस्तिक को समझाएं, तो आस्तिक और मजबूत आस्तिक हो जाता है। क्यों? क्योंकि उसे लगता है, हमला हो रहा है, इंतजाम करो।
मैंने सुना है कि एक आदमी का दिमाग खराब हुआ और खयाल पैदा हो गया कि वह
मर गया है। जिंदा था, खयाल पैदा हो गया कि मर गया है। घर के लोग परेशान हो गए। समझा-समझाकर हैरान हो गए कि तुम जिंदा हो। लेकिन वह कहे, मैं कैसे मानूं, जब मैं मर ही चुका हूं! कैसे समझाएं इस आदमी को कि यह आदमी जिंदा है! लोग कहते कि हमें देखो, तुम्हारे सामने खड़े हैं। वह कहता कि तुम सब भी मर गए हो। भूत-प्रेत हैं। हम सब भूत-प्रेत हो गए हैं। कोई जिंदा नहीं है, सब मर चुके हैं। लोग कहते, हम तुमसे बोल रहे हैं। वह कहता, मैं सुन रहा हूं। लेकिन सब भूत-प्रेत हैं। कोई जिंदा है नहीं।
बड़े परेशान हो गए, तब उसको चिकित्सक के पास ले गए। चिकित्सक ने कहा, घबड़ाओ मत। हम कुछ इसे कनविन्स करने का उपाय करते हैं। इसे समझाएंगे। उस आदमी से कहा, आईने के सामने खड़े हो जाओ। वह आदमी आईने के सामने खड़ा हो गया। और उससे कहा, तीन घंटे तक मंत्र की तरह एक ही बात कहते रहो, डेड मेन डू नाट ब्लीड। मरे हुए आदमियों के शरीर से खून नहीं निकलता, तीन घंटे तक कहते रहो।
वह आदमी तीन घंटे तक कहता रहा, मरे हुए आदमी के शरीर से खून नहीं निकलता, डेड मेन डोंट ब्लीड। तीन घंटे के बाद चिकित्सक उसके पास गया, हाथ में चाकू मारा उस पागल के, खून बहने लगा। प्रसन्नता से हंसकर कहा कि देखो, इससे क्या सिद्ध होता है? व्हाट इज़ प्रूव्ड बाई दिस? हाथ से खून निकल रहा

है! उस आदमी ने कहा कि दिस प्रूव्स दैट डेड मेन डू ब्लीड--इससे सिद्ध होता है कि मरे आदमी में से खून निकलता है। और क्या सिद्ध होता है!
सारे तर्क बेमानी हैं। सब तर्क विपरीत को, विरोध को और मजबूत कर जाते हैं। सोचते हैं, उस डाक्टर की क्या हालत हुई होगी! तीन घंटे की मेहनत एक वाक्य में उसने समाप्त कर दी!
दुनिया में कोई विवाद से कभी बात तय नहीं होती। क्यों नहीं होती तय? कोई सत्य की खोज में नहीं है, पक्ष की खोज में है। और जब पक्ष को कोई निर्मित करता है, तो वह सदा डरा रहता है, उसके भीतर विपरीत भी मौजूद रहता है। वह आपसे अपना बचाव कम करता है; अपने ही भीतर के एक्सप्लोजन, विस्फोट से बचाव करता है। तो वह इंतजाम मजबूत करता चला जाता है। आप दस तरकीबें लाते हैं, दस दलीलें लाते हैं कि ईश्वर है। वह भी दस दलीलें लाता है कि नहीं है। आप दस दलीलें लाते हैं कि ईश्वर नहीं है, आस्तिक दस दलीलें लाता है कि है। इसीलिए तो पांच-दस हजार साल से दुनिया में विवाद चलता है। किसी का संशय मिटता है विश्वास से, अविश्वास से? हिंदू से, मुसलमान से? ईसाई से? किसी का कोई संशय नहीं मिटता।
कृष्ण का अर्थ बहुत दूसरा है। वे कहते हैं कि अगर संशय मिटाना है, तो तुम पक्ष-विपक्ष में मत पड़ो। तुम मौन, दोनों से दूर खड़े हो जाओ। तुम कहो कि मुझे पता नहीं कि यह ठीक है या वह ठीक है। मैं निष्पक्ष खड़ा हो जाता हूं। निष्पक्ष खड़े होना ठीक है। दो के बीच एक को चुनना ठीक नहीं, तीसरे बिंदु पर निष्पक्ष खड़े हो जाना ठीक है, निःसंशय। तब फिर कोई संशय नहीं होगा।
संशय तभी होता है, जब कोई विश्वास होता है। यह भी बात खयाल में ले लें। जिसने भी विश्वास को पकड़ा, उसको संदेह भी पकड़ेगा। अगर आपने पकड़ा कि ईश्वर है, तो पच्चीस तरह के संदेह उठेंगे, कैसा है? क्यों है? कब से हुआ? अगर आपने कहा, नहीं है, तो पच्चीस तरह के संदेह पकड़ेंगे कि फिर यह जगत कैसे है? यह जीवन क्यों चल रहा है? आदमी क्यों मरता-जीता है? सुखी-दुखी क्यों होता है? पकड़ते चले जाएंगे। लेकिन अगर आप कोई विश्वास, कोई अविश्वास न पकड़ें, तो आपको संशय पकड़ सकता है? संशय की कोई जगह न रही। संशय को टिकने के लिए विश्वास या अविश्वास की खूंटी चाहिए। दोनों न पकड़ें। कृष्ण कहते हैं, संशयरहित हो जाएंगे, निःसंशय हो जाएंगे।
प्रीतिकर-अप्रीतिकर से हृदय के द्वार पर तटस्थ हो जाएं; विश्वास-अविश्वास से बुद्धि के द्वार पर तटस्थ हो जाएं। ये दो तरह की तटस्थताएं भीतर उस ज्योति को सीधा कर देंगी, जो डोलती रहती है। उसके सीधे, निष्कंप होते ही सच्चिदानंद परमात्मा के साथ तालमेल, हार्मनी, संगीत निर्मित हो जाता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। 21।।
और बाहर के विषयों में आसक्तिरहित पुरुष अंतःकरण में जो भगवत्ध्यान जनित आनंद है, उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा रूप योग में एकीभाव से स्थित हुआ अक्षय आनंद को अनुभव करता है।

बाह्य विषयों में अनासक्त हुआ! वही बात एक दूसरे आयाम से पुनः कृष्ण कहते हैं।
कृष्ण जैसे व्यक्तियों की भी कठिनाइयां हैं। जो बात एक बार कही जा सकती है, वह भी हजार बार कहनी पड़ती है। फिर भी जरूरी नहीं है कि सुनने वाले ने सुनी हो। हजार बार कहकर भी डर यही है कि नहीं सुनी जाएगी।
बहुत-बहुत मार्गों से वे वही-वही, फिर-फिर अर्जुन से कहते हैं। शायद
एक आयाम से समझ में न आई हो, दूसरे आयाम से समझ में आ जाए। शायद हृदय के द्वार से खयाल में न आई हो, बुद्धि के द्वार से खयाल में आ जाए। शायद हृदय और बुद्धि दोनों की बात गहरी पड़ गई हो, तो वस्तुओं के मार्ग से समझ में आ जाए।

आब्जेक्टिव वर्ल्ड है हमारे चारों तरफ; वस्तुओं का जगत है। दो वस्तुओं के बीच जो अनासक्त है! वस्तुओं के बीच, जहां इंद्रियां आकर्षित होकर टिकती हैं, आसक्ति के गेह बनाती हैं, घर बनाती हैं, वहां जो अनासक्त-भाव से जीता है, वह भी, वह भी वहीं पहुंच जाता है, सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म में।
किसी भी द्वार से तटस्थ हो जाना सूत्र है। किसी भी व्यवस्था से च्वाइसलेस, चुनावरहित हो जाना मार्ग है। किसी भी ढंग, किसी भी विधि, किसी भी मार्ग से दो के बीच अकंप हो जाना सूत्र है--स्वर्ण सूत्र।
वस्तुएं भी निरंतर बुला रही हैं। मन आसक्त कब होता है? वस्तुओं को देखने से नहीं होता मन आसक्त। रास्ते से गुजरते हैं आप, दुकान पर दिखाई पड़ा है कुछ; शो रूम में, शो केस में कुछ दिखाई पड़ता है। दिखाई पड़ने से मन आसक्त नहीं होता। आंख खबर दे देती है कि देखते हैं, शो रूम में हीरे का हार है! आंख का खबर देना फर्ज है। आंख ठीक है, तो खबर देगी। जितनी ठीक है, उतनी ठीक खबर देगी। आंख खबर दे देती है मस्तिष्क को। मस्तिष्क भीतर मन को खबर दे देता है कि हार है। इतनी खबर से कहीं भी कोई आसक्ति नहीं हुई जा रही है। लेकिन मन ने कहा, है, सुंदर है--शुरू हुई यात्रा। अभी बहुत सूक्ष्म है। कहा, सुंदर है--यात्रा शुरू हुई। क्योंकि सुंदर जैसे ही मन कहता है, मन के किसी कोने में धुआं उठने लगता है पाने का। जैसे ही कहा, सुंदर है, पाने की आकांक्षा ने निर्माण करना शुरू कर दिया। अभी आप कहेंगे कि नहीं अभी तो सिर्फ एक एस्थेटिक जजमेंट हुआ, एक सौंदर्यगत निर्णय किया। इसमें क्या बात है! कहा कि सुंदर है।
नहीं; लेकिन बहुत गहरे में, सूक्ष्म में जैसे ही कहा, सुंदर है--पहले हमें यही पता चलता है कि सुंदर है और फिर पता चलता है कि पाना है। लेकिन अगर स्थिति को ठीक से समझें, तो पहले मन के गहरे में इच्छा आ आती है, पाना है; और तब बुद्धि कहती है, सुंदर है। ऊपर से देखने पर पहले तो हमें यही पता चलता है कि सुंदर है। फिर पीछे से छाया की तरह सरकती हुई कोई वासना आती है और कहती है, पाओ! लेकिन आध्यात्मिक जितने खोजी हैं, वे कहते हैं कि पहले तो मन के गहरे में वासना सरक जाती है और कहती है, पाओ। उस खबर को सुनकर भीतर से मन कहता है, सुंदर है।
इसमें दो तरह समझ लें। मन को दो तरह की खबरें मिलती हैं। मन बीच में खड़ा है। बाहर शरीर है; भीतर आत्मा है। शरीर खबर देता है, हीरे का हार है सुंदर। शरीर खबर देता है, विषय की, वस्तु की। आत्मा के भीतर से खबर आती है, वासना की, वृत्ति की, चाह की--पाना है। दोनों का मिलन होता है मन पर, और आसक्ति निर्मित होती है।
अनासक्ति का अर्थ है, बाहर से तो खबर आए--आनी ही चाहिए, नहीं तो जीना असंभव हो जाएगा। अगर आंखें ठीक से न देखेंगी, कान ठीक से न सुनेंगे, हाथ ठीक से स्पर्श न करेंगे, तो जीना कठिन हो जाएगा। अस्वस्थ होगी वैसी देह। देह स्वस्थ होगी, तो खबर पूरी होगी। लेकिन भीतर से कोई वासना आकर मन के दरवाजे पर मिलेगी नहीं। बाहर से खबर आएगी। समझी जाएगी। सुनी जाएगी। आगे बढ़ जाया जाएगा। भीतर से कोई आया नहीं मिलने को; खबर बेकार चली गई।
और ध्यान रहे, एक क्षण को भी खबर बेकार चली जाए, तो फिर मिलन नहीं होगा। यह भी आप खयाल में ले लें। एक क्षण भी चूक हो जाए, क्रासिंग न हो पाए; बाहर से शरीर खबर लाए, इंद्रियां कहें, सुंदर है हार; और उसी क्षण भीतर अगर आप जागे रहें और देखते रहें कि कोई वासना आकर इस इनफर्मेशन, इस सूचना से मेल नहीं करती, तो बस एक क्षण में विदा हो जाएगी। वह एक क्षण ही चूक जाता है, बेहोश...।
वह क्षण हम कैसे चूकते हैं? उसके चूकने की भी व्यवस्था है। जैसे ही हार दिखाई पड़ा कि हमारी पूरी अटेंशन, पूरा ध्यान हार पर चला जाता है। वह जो भीतर से वासना आती है, वह अंधेरे में चुपचाप चली आती है। उसे कोई पहरेदार नहीं मिलता।
साधक के लिए इस प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। जब हीरे के हार की खबर
दी आंखों ने, तब तत्काल आंख बंद करके ध्यान ले जाएं भीतर, कि भीतर से कौन आ रहा है! बाहर से तो खबर आ गई; अब भीतर से कौन आ रहा है! ध्यान को ले जाएं

भीतर। देखें, कोई वृत्ति सरकती है? कोई मांग, कोई इच्छा पैदा होती है? भीतर पहुंच जाएं।
और बड़े मजे की बात है। बुद्ध ने कहा है कि जैसे किसी घर पर पहरेदार न हो, तो चोर घुस जाते हैं, ऐसे ही जिस आत्मा के द्वार पर ध्यान न हो, तो वृत्तियां घुस जाती हैं। जिस घर के द्वार पर पहरेदार न हो, तो चोर घुस जाते हैं! ध्यान पहरेदार है, अटेंशन।
तो कृष्ण कहते हैं, वस्तुओं में अनासक्त!
वस्तुओं में अनासक्त वही होगा, जो वृत्तियों के प्रति जागरूक है, जो वासना के प्रति होशपूर्वक है, जागा हुआ है। जो देखता है कि ठीक; आंख ने खबर दी कि हार सुंदर है। अब भीतर से क्या आता है, उसे देखता है। और अगर कोई व्यक्ति जागकर वृत्तियों को देखने लगे, तो इंद्रियां खबर देती हैं, लेकिन वृत्तियों को उठने का मौका नहीं मिल पाता। एक क्षण की चूक--चूक हो गई। तब तक सूचना खो गई, और आपका होश आपकी शक्ति को बचा गया। आसक्ति निर्मित नहीं हुई।
वृत्ति और इंद्रिय की सूचना के मिलन से आसक्ति निर्मित होती है। इन दोनों का सेतु बन जाए, तो आसक्ति निर्मित होती है। इनका सेतु न बन पाए, तो अनासक्ति निर्मित हो जाती है।
वस्तुओं में जो अनासक्त है! वस्तुओं के बीच जो होशपूर्वक चल रहा है! चारों तरफ हजार-हजार आकर्षण हैं। इंद्रियों पर लाखों आघात पड़ रहे हैं रोज। कहीं से आवाज कान में आती। कहीं से आंख में रोशनी आती। कहीं से स्पर्श हाथ को मिलता। कहीं से गंध मिलती। कहीं से स्वाद का स्मरण आता। कहीं से कुछ, कहीं से कुछ।
चारों तरफ से अनंत-अनंत आघात पड़ रहे हैं आपके ऊपर। और आपकी वृत्तियां हैं कि तत्काल हर आघात को पकड़ लेती हैं। फिर वासना का और आसक्ति का गहन जाल निर्मित हो जाता है। फिर एक कारागृह बन जाता है भीतर, जिसमें आप बंद होकर जीते हैं। फिर जिंदगी दुख बन जाती है--मांग, मांग; भीख, भीख! यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए! और सब मिल जाए, फिर भी कुछ मिलता हुआ मालूम नहीं पड़ता। क्योंकि जब तक एक चीज मिल पाती है, तब तक वासना ने नए बीज बो लिए होते हैं और तब तक आसक्ति ने नए मार्ग बना लिए होते हैं। इधर मिल नहीं पाता, तब तक आप न मालूम और कितने बीज बो चुके!
फिर यह पूरी जिंदगी वृत्तियों के बीच, जैसे कि पानी की लहरों पर कोई कागज की नाव पड़ी हो, ऐसी हो जाती है। कागज की नाव सागर की लहरों पर! हर लहर धकाती है, हर लहर डुबाती है, धक्के और धक्के। फिर पूरा जीवन वृत्तियों की लहरों पर धक्के खाने में बीतता है। रोज करो पूरी आसक्ति, और नई आसक्ति निर्मित होती चली जाती है। जीवन एक दुख-स्वप्न से ज्यादा नहीं है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि अगर आनंद की यात्रा करनी हो, अगर उस आनंद को पाना हो, जिसे हम प्रभु कहते, परमात्मा कहते, तो वृत्तियों को ठहराना, जगाना, चेतना को होश से भरना, वस्तुओं में आकर्षित मत होना, आसक्त मत बनना। कैसे टूटेगी लेकिन यह आसक्ति? एक तो मैंने आपसे कहा कि जब भी आसक्ति निर्मित हो...।
ध्यान रहे, मन के जगत के लिए एक परम सूत्र आपसे कहता हूं, एक अल्टिमेट फार्मूला, और वह यह है कि मन के जगत में किसी चीज को मिटाना बहुत कठिन है, बनने न देना बहुत सरल है। मिटाना बहुत कठिन है, बनने न देना बहुत सरल है। अभी मनोवैज्ञानिक और फिजियोलाजिस्ट, शरीरशास्त्री भी एक नियम पर पहुंच गए, जो कि योग की तो बहुत पुरानी खोज है, लेकिन अभी शरीरशास्त्रियों को पहली दफा खयाल में आया। वह भी मैं आपसे कहना चाहता हूं। वह यह खयाल में उनको आना शुरू हुआ, खासकर रूस में पावलव को यह खयाल में आया कि शरीर में दो तरह के यंत्र एक साथ काम कर रहे हैं। एक तो यंत्र है वालंटरी, स्वेच्छा से चलता है। एक ऐसी यांत्रिक व्यवस्था है, जो नान-वालंटरी है, स्वेच्छा के बाहर चलती है।
जैसे खून बह रहा है आपके शरीर में; आपकी स्वेच्छा का कोई हिस्सा नहीं है। आपको पता ही नहीं चलता; खून बहता रहता है। तीन सौ साल पहले तक तो यह भी पता नहीं था कि शरीर में खून बहता है। लोग समझते थे, भरा हुआ है; बहता नहीं

है! बहने का कोई पता ही नहीं चलता। आपको पता चलता है कि खून बह रहा है शरीर में? बड़ी गति से बह रहा है! गंगा बहुत धीमी बह रही है। जब तक मैंने आपसे यह बात की, आपके पैर में जो खून था, वह सिर में आ गया। तेजी से बह रहा है। सतत गति है खून की। परिभ्रमण चल रहा है। उसी परिभ्रमण से वह स्वच्छ है, ताजा है।
यह खून आपकी स्वेच्छा के बाहर है। आपकी इच्छा नहीं चल सकती इसमें, वालंटरी नहीं है। लेकिन योग कहता है कि अगर थोड़े प्रयोग किए जाएं, तो यह भी स्वेच्छा के भीतर आ जाता है। और योग ने इस तरह के प्रयोग करके सारे जगत में दिखा दिए हैं। नाड़ी की गति कम-ज्यादा हो जाती है स्वेच्छा से, थोड़े अभ्यास से। आप भी थोड़ा प्रयोग करेंगे, तो सफल हो सकते हैं। बहुत कठिन नहीं है। कभी नाड़ी अपनी नाप लें। पाया कि सौ चल रही है एक मिनट में। तब पांच मिनट बैठकर संकल्प करें कि अब एक सौ पांच चले। पांच मिनट बाद फिर से नापें। और आप पाएंगे कि अब एक सौ पांच नहीं, तो एक सौ तीन तो चलने ही लगी। दो-चार-दस दिन में एक सौ पांच चलने लगेगी। फिर कम भी कर सकते हैं। तब थोड़ी- सी स्वेच्छा के भीतर आ गई। आपने संकल्प का थोड़ा विस्तार किया।
कुछ चीजें हमारी स्वेच्छा से चलती हैं। यह मेरा हाथ है; ऊपर उठाता हूं, नीचे गिराता हूं। मेरी इच्छा से उठता है। न उठाऊं, तो नहीं उठता है। अब एक नई बात खोज में आई है और वह यह कि कोई भी वृत्ति जो स्वेच्छा से उठाई जाती है, एक सीमा के बाद नान-वालंटरी हो जाती है। एक सीमा तक स्वेच्छा के भीतर होती है।
समझें, जैसे एक व्यक्ति को कामवासना भर गई। तो कामवासना एक सीमा तक स्वेच्छा के भीतर होती है। अगर आप इस स्वेच्छा की सीमा के भीतर जाग गए, तो आप कामवासना को शिथिल करके वापस सुला देंगे। लेकिन एक सीमा के बाद वह स्वेच्छा के बाहर चली जाती है। और जो नान-वालंटरी मैकेनिज्म है शरीर का, वह पकड़ लेता है। जब नान-वालंटरी मैकेनिज्म पकड़ लेता है, जब स्वेच्छा के बाहर का यंत्र पकड़ लेता है, तो फिर आपके हाथ के बाहर हो गई बात। अब आप नहीं रोक सकते। अब बात बाहर चली गई।
जब आपको क्रोध उठता है, जब उसकी पहली झलक भीतर आनी शुरू होती है कि उठा, अभी वह स्वेच्छा के भीतर है। लेकिन जब खून में एड्रिनल तत्व छूट गया और खून में जहर पहुंच गया और खून ने क्रोध को पकड़ लिया, फिर आपके हाथ के बाहर हो गया। लेकिन पहले, जब आप में क्रोध उठता है, तो थोड़ी देर तक एड्रिनल ग्रंथियां, जिनमें जहर भरा हुआ है आपके शरीर में, प्रतीक्षा करती हैं कि शायद यह आदमी अभी भी रुक जाए। शायद रुक जाए। आप नहीं रुकते, बढ़ते चले जाते हैं। फिर मजबूरी में जहर की ग्रंथियों को जहर छोड़ देना पड़ता है। जहर के छूटते ही अब आपके हाथ के बाहर हो गया।
ठीक वैसे ही कामवासना में भी वीर्य की ग्रंथियां एक सीमा तक प्रतीक्षा करती हैं कि शायद यह आदमी रुक जाए। एक सीमा के बाद जब देखती हैं कि यह आदमी रुकने वाला नहीं है, तो वीर्य की ग्रंथियां वीर्य को छोड़ देती हैं। फिर स्वेच्छा के बाहर हो गया।
शरीर की सारी व्यवस्था, मन की सारी व्यवस्था एक सीमा के बाद स्वेच्छा
के बाहर हो जाती है। तो अगर आपको अनासक्त होना हो, तो जब स्वेच्छा के भीतर चल रहा है काम, तभी जाग जाना जरूरी है। जब स्वेच्छा के बाहर चला गया, तब जागने से पछतावे के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, प्रायश्चित्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।
इसलिए जितने जल्दी हो सके, जैसे ही आपको लगे कि कोई चीज सुंदर मालूम पड़ी कि फौरन भीतर जाएं और देखें कि वासना और वृत्तियां उठ रही हैं। यही मौका है। जरा-सी चूक, और वृत्तियां आसक्ति को निर्मित कर लेंगी।
निर्मित आसक्ति को विघटित करना बहुत कठिन है, अनिर्मित आसक्ति को बनने देने से रोकना बहुत सरल है। जब तक नहीं बनी है, अगर जाग गए, तो नहीं बनेगी। बन गई, जाग भी गए, तो बहुत कठिनाई हो जाएगी। बहुत कांप्लेक्स, बहुत जटिल हो जाएगी। और यह हमेशा बेहतर है, प्रिवेंशन इज़ बेटर दैन क्योर। अच्छा है, रोक लें पहले, बजाय पीछे चिकित्सा करनी पड़े। अच्छा है, बीमारी पकड़े,

उसके पहले सम्हल जाएं; बजाय इसके कि बीमारी पकड़ जाए और फिर बिस्तर पर लगें और चिकित्सा हो।
आसक्ति के निर्मित होने के पहले ही जाग जाना जरूरी है। कृष्ण तीसरी बात कहते हैं कि अर्जुन, अगर वस्तुओं में तू अनासक्त रह सके, तो भी वहीं पहुंच जाएगा।
एक अदभुत ग्रंथ है भारत में। और मैं समझता हूं, उस ग्रंथ से अदभुत ग्रंथ पृथ्वी पर दूसरा नहीं है। उस ग्रंथ का नाम है, विज्ञान भैरव। छोटी- सी किताब है। इससे छोटी किताब भी दुनिया में खोजनी मुश्किल है। कुल एक सौ बारह सूत्र हैं। हर सूत्र में एक ही बात है। हर सूत्र में एक ही बात! पहले सूत्र में जो बात कह दी है, वही एक सौ बारह बार दोहराई गई है--एक ही बात! और हर दो सूत्र में एक विधि पूरी हो जाती है।
पार्वती पूछ रही है शंकर से, शांत कैसे हो जाऊं? आनंद को कैसे उपलब्ध
हो जाऊं? अमृत कैसे मिलेगा? और दो-दो पंक्तियों में शंकर उत्तर देते हैं।
दो पंक्तियों में वे कहते हैं, बाहर जाती है श्वास, भीतर आती है श्वास।
दोनों के बीच में ठहर जा; अमृत को उपलब्ध हो जाएगी। एक सूत्र पूरा हुआ।
बाहर जाती है श्वास, भीतर आती है श्वास; दोनों के बीच ठहरकर देख ले, अमृत को उपलब्ध हो जाएगी।
पार्वती कहती है, समझ में नहीं आया। कुछ और कहें। और शंकर दो-दो सूत्र में कहते चले जाते हैं। हर बार पार्वती कहती है, नहीं समझ में आया। कुछ और कहें। फिर दो पंक्तियां। और हर पंक्ति का एक ही मतलब है, दो के बीच ठहर जा। हर पंक्ति का एक ही अर्थ है, दो के बीच ठहर जा। बाहर जाती श्वास, अंदर जाती श्वास। जन्म और मृत्यु; यह रहा जन्म, यह रही मौत; दोनों के बीच ठहर जा। पार्वती कहती है, समझ में कुछ आता नहीं। कुछ और कहें।
एक सौ बारह बार! पर एक ही बात, दो विरोधों के बीच में ठहर जा। प्रीतिकर-अप्रीतिकर, ठहर जा--अमृत की उपलब्धि। पक्ष-विपक्ष, ठहर जा--अमृत की उपलब्धि। आसक्ति-विरक्ति, ठहर जा--अमृत की उपलब्धि। दो के बीच, दो विपरीत के बीच जो ठहर जाए, वह गोल्डन मीन, स्वर्ण सेतु को उपलब्ध हो जाता है।
यह तीसरा सूत्र भी वही है। और आप भी अपने-अपने सूत्र खोज सकते हैं, कोई कठिनाई नहीं है। एक ही नियम है कि दो विपरीत के बीच ठहर जाना, तटस्थ हो जाना। सम्मान-अपमान, ठहर जाओ--मुक्ति। दुख-सुख, रुक जाओ--प्रभु में प्रवेश। मित्र-शत्रु, ठहर जाओ--सच्चिदानंद में गति।
कहीं से भी दो विपरीत को खोज लेना और दो के बीच में तटस्थ हो जाना। न
इस तरफ झुकना, न उस तरफ। समस्त योग का सार इतना ही है, दो के बीच में जो ठहर जाता, वह जो दो के बाहर है, उसको उपलब्ध हो जाता है। द्वैत में जो तटस्थ हो जाता, अद्वैत में गति कर जाता है। द्वैत में ठहरी हुई चेतना अद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाती है। द्वैत में भटकती चेतना, अद्वैत से च्युत हो जाती है। बस, इतना ही।
लेकिन मजबूरी है--चाहे शिव की हो, और चाहे कृष्ण की हो, या किसी और की हो--वही बात फिर-फिर कहनी पड़ती है। फिर-फिर कहनी पड़ती है। कहनी पड़ती है इसलिए, इस आशा में कि शायद इस मार्ग से खयाल में न आया हो, किसी और मार्ग से खयाल आ जाए।
एक सूत्र और।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। 22।।
और जो ये इंद्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी निस्संदेह दुख के ही हेतु हैं, और आदि-अंत वाले अर्थात अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

इंद्रियों और वासनाओं के मेल से प्रतीत होने वाले सुख अंततः दुख ही हैं। और शुरू होते हैं और समाप्त होते हैं; शाश्वत नहीं हैं, सनातन नहीं हैं; सदा साथ रहने वाले नहीं हैं। क्षणिक हैं। ऐसा जान लेने वाला पुरुष उनसे मुक्त होने लगता है।
दो बातें हैं। एक, जो हमें सुख जैसा भासता है, वह सुख नहीं है। भासता
है निश्चित। है नहीं; उससे भी ज्यादा निश्चित। एपियरेंस, भासना किसी चीज का, तब तक पक्का पता नहीं चलता, जब तक उसके पास न जाएं। अंधेरी है रात, दूर से देखता हूं, दिखाई पड़ता है कि शायद कोई आदमी खड़ा है। और पास आता हूं, तो लगता है, नहीं, आदमी नहीं है; शायद लकड़ी का कोई डंडा पोता हुआ है! और पास आता हूं, तो लगता है, नहीं, लकड़ी का कोई डंडा नहीं, वृक्ष से कोई कपड़ा लटकता है। जैसे-जैसे पास आता हूं, वैसे-वैसे जो दूर से जाना था, वह बदलता है। अंतिम निर्णय तो वही होगा, जो ठेठ बिलकुल पास आकर होगा। दूर के निर्णय अंतिम नहीं माने जा सकते।
सुख जब तक नहीं मिलता, तब तक तो सुख मालूम पड़ता है। लेकिन मिलते से किसे मालूम पड़ता है! हाथ में आने पर किसे मालूम पड़ता है! हाथ में आने पर अचानक लगता है कि खो गया। निश्चित ही, पास का निर्णय ही अंतिम निर्णय है। आपने भी अपनी जिंदगी में बहुत सुख पाए होंगे, लेकिन पाकर किस सुख को सुख पाया! पा भी नहीं पाते कि दूसरे सुख की तलाश शुरू कर देते हैं। क्यों कर देते हैं? अगर सुख मिल गया, तो अब ठहरकर उसे भोग लो! सुख तो मिलता नहीं; ठहरकर भोगें क्या? फिर दिखाई पड़ता है, कल, भविष्य में; फिर दौड़ते हैं। वहां पहुंचते नहीं कि पाते हैं कि वहां भी खो गया!
सुख जब हाथ में आता है, तब निर्णायक रूप से तय होता है कि सुख नहीं है।
और जब तक दूर रहता है, तब तक निश्चित मालूम पड़ता है कि सुख है। इंद्रधनुष जैसा है। दिखाई पड़ता है; लेकिन इंद्रधनुष के पास मत जाना। वह रेनबो वर्षा में बन जाता है आकाश में। कितना सुंदर! मन होता है कि बांधकर घर के बैठकखाने में लगा लें। जाना मत। वहां जाकर कुछ भी नहीं मिलेगा।
अगर पहुंच गए इंद्रधनुष के पास--पास भी न पहुंच सकेंगे, क्योंकि जैसे- जैसे पास पहुंचेंगे, वह खोने लगेगा--जब पास पहुंचेंगे, तो सिवाय भाप के बादलों के और उनमें से गुजरती सूरज की किरणों के वहां कुछ भी नहीं मिलेगा। कोई रंग नहीं, कोई रूप नहीं, कोई आकार नहीं। लेकिन कितना प्यारा लगता है इंद्रधनुष दूर से! कितना काव्य की तरह आकाश में खिंचा हुआ! कैसा मन करता है कि बांध लो घर में!
ध्यान रहे, जहां-जहां इंद्रधनुष दिखाई पड़ते हैं सुख के, वहां-वहां यही हालत है। जब पास जाएंगे, तो सिर्फ धुआं ही हाथ में लगता है। कुछ भी हाथ में नहीं मिलता!
कृष्ण कहते हैं, सुख प्रतीत होता है, सुख है नहीं। ऐसा जो समझ लेगा ठीक से, स्वभावतः उसकी वासना उठकर, इंद्रियों से मिलकर आसक्ति बनना बंद कर देगी।
दूसरी बात वे कहते हैं, यह भी स्मरण रख अर्जुन, कि यह भी सुख जो कि दिखाई पड़ता है, न होने की हालत में है। अगर कोई इस भ्रम में भी पड़ता हो कि नहीं, है। जैसा कि अज्ञानी को लगता है कि है। वह कहेगा कि कितना ही समझाओ कि नहीं है, लेकिन मैं कैसे मानूं! मैं कैसे मानूं कि उस बड़े महल में पहुंच जाऊंगा, तो सुख नहीं होगा? यद्यपि वह कभी नहीं पूछता उस बड़े महल में रहने वाले से कि अगर बड़े महल में रहने वाले को सुख मिल गया है, तो अब वह किसके लिए दौड़ रहा है? अब उसे सुख ले लेना चाहिए। वह दौड़ रहा है; वह भागा हुआ है। उसे बड़े महल का पता ही नहीं है। बड़ा महल उन्हीं को दिखाई पड़ता है, जो झोपड़ों में हैं। जो बड़े महल में हैं, उनको दिखाई ही नहीं पड़ता। उनके लिए और बड़े महल हैं! वे दिखाई पड़ते हैं, जिनमें वे नहीं हैं। जहां वे नहीं हैं। मन की आदत ऐसी है कि अगर आपका एक दांत टूट जाए, तो जीभ वहीं-वहीं जाती है, जहां दांत टूट गया है। बाकी दांतों को छोड़ देती है, जो हैं; और जो नहीं है, उसके साथ बड़ा लगाव बना लेती है। पता नहीं क्या दिमाग खराब हो जाता है जीभ का! और एक दफे देख लिया कि नहीं है, अब दुबारा क्या देखना? लेकिन जीभ है कि देखे चली जाती है। उन दांतों को कभी नहीं देखती, जो हैं। जो नहीं है,

अभाव, एब्सेंस का जो गङ्ढा बन जाता है, उसी में जीभ जाती है। मन भी जहां- जहां अभाव है, वहीं जाता है।
महल जिसके पास है, उसको महल नहीं दिखाई पड़ता। उसकी जीभ महल पर नहीं जाती। उसके लिए कहीं कोई और चीज है, जो नहीं है। उसकी जीभ वहां चली जाती है।
मैंने सुनी है एक इजिप्शियन कहानी। मैंने सुना है कि एक इजिप्शियन फकीर से परमात्मा प्रसन्न हो गया। बहुत प्रसन्न हो गया, तो उस फकीर को कहा कि तुझे जो चाहिए वह मांग ले। उसने कहा कि आपकी जो मर्जी हो! तो परमात्मा ने, कहते हैं, उसे एक फल दे दिया और कहा कि इसे जो खा लेगा, वह अमर हो जाएगा। लेकिन उस फकीर ने कहा कि दो आदमी खाएं, तो दो हो सकते हैं? परमात्मा ने कहा, नहीं, एक!
उस फकीर का अपने शिष्य से बड़ा प्रेम था। उसने सोचा कि अगर मैं अमर हो गया और शिष्य मर गया, कोई सार नहीं है। उसके बिना तो मेरा कोई सुख ही नहीं है। उसने शिष्य को कहा कि तू यह ले ले। तू अमर हो जा। पर उस शिष्य का एक लड़की से प्रेम था। उसने सोचा, मैं अकेला अमर हो गया, तो बिलकुल बेकार! वह उस लड़की को दे आया। पर उस लड़की का गांव के एक सिपाही से प्रेम था। उसने कहा कि मैं अमर हो गई! वह उस सिपाही को दे आई। लेकिन उस सिपाही का लगाव राजा की स्त्री से लगा हुआ था। वह रात जाकर उसको दे आया। उस स्त्री ने सोचा कि मैं अगर खाकर अमर हो जाऊं, तो मेरे बेटे का क्या होगा? उसका भारी लगाव, उसने बेटे को दे दिया। बेटे का अपने बाप से बहुत प्रेम था। उसने कहा, मैं तो ठीक, लेकिन पिता बुजुर्ग हुए। उनकी मौत करीब है। मैं तो अभी इसके बिना भी बहुत दिन जी लूंगा। उसने पिता को दे दिया। लेकिन पिता फकीर का भक्त था; उसी फकीर का। उसने सोचा कि हमारे रहने न रहने का क्या सवाल! वह फकीर रहे जमीन पर, तो हजारों के काम आएगा। वह जाकर फकीर के चरणों में फल रखा। फकीर ने फल देखा। उसने कहा, यह फल आया कैसे तुम्हारे पास!
सब कहीं और जी रहे हैं। सब कहीं और! कोई वहां नहीं जी रहा है, जहां है। कहीं और! सब दौड़ रहे हैं किसी और के लिए। सब भागे हुए हैं; कोई खड़ा हुआ नहीं है। यह जो भागा हुआ पन है...।
अगर कृष्ण कहते हैं कि अज्ञानी ऐसा भी कहते हों कि नहीं, हमें मिला नहीं, हम कैसे मान लें! हो सकता है, अर्जुन मान ले; सब सुख उसने जाने हैं। आप शायद न मानें; बहुत सुख नहीं जाने हैं। क्या पता हमें, जो सुख हमें मिले नहीं, वे हैं या नहीं?
तो कृष्ण दूसरा सूत्र उनके लिए कहते हैं, जो मान न पाएं। जिन्होंने सुख न देखे हों, उनके लिए वे कहते हैं कि अगर सुख हों भी--हाइपोथेटिकली, बातचीत के लिए मान लें कि सुख है भी--तो भी सुख शुरू होता और समाप्त हो जाता है।
और ध्यान रहे, जो सुख शुरू होता है और समाप्त हो जाता है, वह अगर हो भी,
तो परिणाम में सिवाय दुख के कुछ भी नहीं छोड़ जाएगा। क्योंकि सुख के बाद दुख की छाया हो जाएगी। ऐसे ही जैसे कभी रास्ते से गुजर रहे हों, अंधेरी रात हो, और जोर से कोई कार आपकी आंखों में प्रकाश डालती हुई गुजर जाए। पीछे और घनघोर अंधेरा हो जाता है। पहले कुछ दिखाई भी पड़ता था, अब वह भी दिखाई नहीं पड़ता।
सुख मिले भी, तो समाप्त होता है क्षण में। यह भी कृष्ण उनके लिए कह रहे हैं, जो नहीं जानते। जो जानते हैं, वे तो कहते हैं, एक क्षण को भी नहीं मिलता। लेकिन अज्ञानी के लिए इतना छोड़ते हैं कि शायद क्षणभर को मिले भी, तो शुरू हुआ कि समाप्त हुआ। इधर शुरू नहीं हुआ कि उधर समाप्त होना शुरू हो जाता है। इधर जन्मा नहीं कि उधर मरा। इधर लहर बनी नहीं कि बिखरी। इधर किरण उतरी नहीं कि खोई। आता भी नहीं है हाथ में कि जाने की तैयारी करके आता है। ऐसा सुख मिल भी जाए यदि, तो पीछे सिवाय दुख के घाव के कुछ भी नहीं छोड़ जाता है। ऐसा भी जो जान ले, वह भी विषयों, वृत्तियों के तालमेल को निर्मित नहीं होने देता। अनासक्त, वीतराग, स्वयं में ठहरा हुआ हो जाता है। और चेतना जहां ठहर जाती है अर्जुन, कृष्ण कहते हैं, वहीं परम सत्ता में प्रवेश कर जाती है।

आज इतना ही। बैठे रहेंगे। उठेगा कोई भी नहीं। पांच मिनट कीर्तन को पी जाएं, फिर चुपचाप चले जाएं।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
दसवां प्रवचन

काम से राम तक

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। 23।।
जो मनुष्य शरीर के नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है, अर्थात काम-क्रोध को जिसने सदा के लिए जीत लिया है, वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है।

जीवन में काम और क्रोध के वेग को जिस पुरुष ने जीत लिया, वह इस लोक में योगी है, परलोक में मुक्त है, वही आनंद को भी उपलब्ध है।
काम से अर्थ है, दूसरे से सुख लेने की आकांक्षा। जहां भी दूसरे से सुख लेने की आकांक्षा है, वहीं काम है।
काम बड़ी विराट घटना है। काम सिर्फ यौन नहीं है, सेक्स नहीं है; काम विराट घटना है। यौन भी काम के विराट जाल का छोटा-सा हिस्सा है।
जहां भी दूसरे से सुख पाने की इच्छा है, वहां दूसरे का शोषण करने के भी रास्ते निर्मित होते हैं। जब भी मैं किसी दूसरे से सुख लेना चाहता हूं, तभी शोषण शुरू हो जाता है। और अगर कोई मेरे काम में, मेरे दूसरे से सुख पाने में बाधा बने, तो क्रोध उत्पन्न होता है। इसलिए कृष्ण ने काम और क्रोध को एक साथ ही इस सूत्र में कहा है। संयुक्त वेग हैं।
कामना में बाधा कोई खड़ी करे, काम के पूरे होने में कोई व्यवधान बने, कोई दीवाल बने, कोई आड़े आए, तो क्रोध जन्मता है। काम के वेग को जहां से भी रुकावट मिलती है, वहीं से लौटकर वह क्रोध बन जाता है। काम के वेग को यदि व्यवधान न मिले, रुकावट न मिले और काम का वेग अपनी इच्छा को पूरा कर ले, तो फ्रस्ट्रेशन, विषाद बन जाता है।
काम की तृप्ति पर, काम पूरा हो जाए, तो पीछे सिर्फ विषाद की कालिमा छूट जाती है, अंधेरा छूट जाता है। और काम पूरा न हो पाए, कोई व्यवधान डाल दे, तो काम लपट बन जाता है क्रोध की। क्रोध काम का ही अवरुद्ध रूप है; रुका हुआ रूप है। मैं चाहता था कुछ करना, नहीं कर सका, तो जिसने बाधा दी, उस पर मेरे काम की वासना क्रोध की अग्नि बनकर बरस पड़ती है।
मैंने कहा, काम बड़ी घटना है। अगर हम मनसशास्त्रियों से पूछें, तो वे कहते हैं कि मनुष्य काम के लिए ही जी रहा है। अगर हम फ्रायड से पूछें, तो वह कहेगा, काम ही मनुष्य का सब कुछ है, उसकी आत्मा है। और जहां तक साधारण मनुष्य का संबंध है, फ्रायड बिल्कुल ही ठीक कहता है। धन भी कमाते हैं इसलिए कि काम खरीदा जा सके। यश भी पाते हैं इसलिए कि काम खरीदा जा सके। चौबीस घंटे दौड़ हमारी, गहरे में अगर खोजें, तो किसी से सुख पाने की दौड़ है। सुना है मैंने कि फ्रेंक वू करके एक मनोचिकित्सक के पास एक आदमी आया है। अति क्रोध से पीड़ित है। क्रोध ही बीमारी है उसकी। क्रोध ने ही उसे जला डाला है भीतर। क्रोध ने उसे सुखा दिया है। उसके सारे रस-स्रोत विषाक्त हो गए हैं। आंखों में क्रोध के रेशे हैं। चेहरे पर क्रोध की रेखाएं हैं। नींद खो गई है। हिंसा ही हिंसा मन में घूमती है।
फ्रेंक वू उसे बिठाता है, और उसके मनोविश्लेषण के लिए एक छोटा-सा प्रयोग करता है। हाथ में उठाता है अपना रूमाल ऊंचा, और उस आदमी से कहता है, इसे देखो। और रूमाल को छोड़ देता है। वह रूमाल नीचे गिर जाता है। फ्रेंक वू उस आदमी से कहता है, आंख बंद करो और मुझे बताओ कि रूमाल के गिरने से तुम्हें किस चीज का ख्याल आया? तुम्हारे मन में पहला ख्याल क्या उठता है रूमाल के गिरने से?
वह आदमी आंख बंद करता है और कहता है, आई एम रिमाइंडेड आफ सेक्स--मुझे
तो कामवासना का ख्याल आता है।
फ्रेंक वू थोड़ा हैरान हुआ, क्योंकि रूमाल के गिरने से कामवासना का क्या संबंध? फ्रेंक वू ने पास में पड़ी एक किताब उठाई और कहा, इसे मैं खोलता

हूं; गौर से देखो। किताब खोलकर रखी, कहा, आंख बंद करो और मुझे कहो कि किताब खुलती देखकर तुम्हें क्या ख्याल आता है?
उसने कहा, आई एम अगेन रिमाइंडेड आफ सेक्स--मुझे फिर कामवासना की ही याद आती है!
फ्रेंक वू और हैरान हुआ। उसने टेबल पर पड़ी हुई घंटी बजाई और कहा कि घंटी को ठीक से सुनो! आंख बंद करो। क्या याद आता है? उसने कहा, आई एम रिमाइंडेड आफ सेक्स--वही कामवासना का ख्याल आता है!
फ्रेंक वू ने कहा, बड़ी हैरानी की बात है कि तीन बिल्कुल अलग चीजें तुम्हें एक ही चीज की याद कैसे दिलाती हैं! रूमाल का गिरना, किताब का खुलना, घंटी का बजना--इतनी विभिन्न बातें हैं! तुम्हें इन तीनों में एक ही बात का ख्याल आता है; कारण क्या है?
उस आदमी ने कहा, तुम्हारी चीजों से मुझे कोई संबंध नहीं। मुझे सिवाय सेक्स के और कोई ख्याल आता ही नहीं। तुम्हारी चीजों से कोई संबंध नहीं है। तुम रूमाल गिराओ कि पत्थर गिराओ। तुम घंटी बजाओ कि घंटा बजाओ। तुम किताब खोलो कि बंद करो। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं तो सिवाय काम के कुछ सोचता ही नहीं।
यह आदमी पागल मालूम पड़ेगा। लेकिन दुनिया में सौ में से निन्यानबे आदमी इस भांति के हैं। उन्हें पता हो या न पता हो। और जिन्हें पता है, उनकी तो चिकित्सा हो सकती है; जिन्हें पता नहीं है, वे बड़ी खतरनाक हालत में हैं। हमें लगेगा कि यह तो बात ठीक नहीं है। रूमाल के गिरने से हमें क्यों ख्याल आएगा? लेकिन अगर आप अपने मन का थोड़ा-सा अंतर्विश्लेषण करेंगे सुबह से रात सोने तक, थोड़ा भीतर झांककर देखेंगे, तो आप हैरान होंगे कि कहीं अंतस्तल पर एक पर्त कामवासना की पूरे समय चलती रहती है।
मनोवैज्ञानिक उस राज को पकड़ लिए हैं, इसलिए सारी दुनिया के विज्ञापनदाताओं को उन्होंने कह दिया है कि आदमी को कोई भी चीज बेचनी हो, सेक्स के साथ जोड़ दो; बिकेगी। अन्यथा नहीं बिकेगी। कार बेचनी हो, तो एक नग्न स्त्री को कार के साथ खड़ा करो। कोई संबंध नहीं है। सिगरेट बेचनी हो, तो एक स्त्री को खड़ा करो। कुछ भी बेचना हो, तो नग्न स्त्री को बीच में लाओ। जिसका कोई भी संबंध नहीं है, तो भी खड़ा करो। क्यों? आदमी के मन की अंतर्धारा का पता चल गया है। हर चीज उसी की याद दिलाती है। तो अगर स्त्री को खड़ा कर दो, तो वह चीज उसके मन में गहरे संयुक्त हो जाएगी, गहरी उतर जाएगी। फिर वह चीज नहीं खरीदेगा। खरीदेगा चीज, और समझेगा कि किसी जाने- अनजाने रास्ते स्त्री खरीदी है।
यह काम से भरा हुआ चित्त अगर चौबीस घंटे क्रोध से भरता है, तो आश्चर्य नहीं है। यह काम चौबीस घंटे हजार बाधाएं पाता है, रुकावटें पाता है। यह पूरा नहीं हो पाता। पीड़ा देता है। भीतर उबल जाते हैं प्राण। ऊर्जा काम में बहना चाहती है, रुकावटें पाती है हजार तरह की। इसलिए तो जहां सुविधा बन जाएगी, वहां लोग रुकावटों को तोड़ना शुरू कर देंगे। जैसा अमेरिका में हुआ। जब तक दुनिया गरीब थी, तो आदमी समाज से डरता था। क्योंकि भूखा मरेगा, अगर समाज के खिलाफ गया तो। नौकरी, रोजी-रोटी खो जाएगी। जिंदा रहना मुश्किल हो जाएगा। आज अमेरिका में धन काफी है। कोई भय नहीं रहा समाज का उतना। इसलिए सेक्स के संबंध में समाज के सारे नियम, सारी व्यवस्था टूटी जा रही है।
जितनी दुनिया समृद्ध होगी, उतनी सेक्स के मामले में सब सीमाएं तोड़ती चली जाएगी। इससे कुछ ऐसा नहीं है कि कुछ बड़ी उपलब्धि हो जाएगी। एक तरफ अमेरिका जैसे समृद्ध समाज में सेक्स के सब व्यवधान टूट गए, और दूसरी तरफ विफलता और विषाद घना होता जाता है और आत्महत्याएं बढ़ती चली जाती हैं। समाज के पास दो ही उपाय हैं। या तो वह आपकी काम की वासना को पूरा होने
की खुली छूट दे दे; तो भी आप पागल हो जाएंगे--विषाद में, फ्रस्ट्रेशन में। जैसा अमेरिका में हुआ है। यौन के संबंध में पूरी स्वतंत्रता पैदा हो गई है। और इसका परिणाम यह हुआ कि यौन में रस भी कम हो गया; विरस हो गया; काम की गहराई भी खो गई; काम का मूल्य भी खो गया; और आदमी विषाद में खड़ा है। अब कोई

दूसरा सेंसेशन चाहिए, कोई दूसरा वेग, कोई दूसरी उत्तेजना। वह दिखाई नहीं पड़ती।
इसलिए काम के विकृत रूप सारे पश्चिम में फैलने शुरू हो गए।
होमोसेक्सुअलिटी इतने जोर से बढ़ती है, जैसा कि दुनिया में कभी भी नहीं बढ़ी थी। क्योंकि स्त्री के साथ पुरुष ने देख लिया, स्त्री ने पुरुष के साथ देख लिया। रस नहीं है कुछ बहुत। अब क्या करें! अब नए आविष्कार करने पड़ते हैं। विक्षिप्त आविष्कार पैदा होते हैं; विकृतियां, परवरशंस पैदा होते हैं। अगर समाज बिल्कुल खुला छोड़ दे सेक्स, तो परवर्ट होगा। और अगर समाज बिल्कुल खुला न छोड़े, तो सप्रेशन होगा। और जितना दमन होगा, उतना क्रोध पैदा होगा। या तो काम को खुला छोड़ो, तो विषाद फैल जाता है; जीवन रसहीन हो जाता है। लोग थके-हारे, अर्थहीन हो जाते हैं। एंप्टीनेस पकड़ लेती है। सब रिक्त, कुछ भी नहीं है जिंदगी में। और यदि काम को रोको, तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध हजार-हजार रूपों में प्रकट होता है।
क्या आपको पता है कि आज से सौ साल पहले दुनिया में युवकों के विद्रोह कहीं भी नहीं थे। कोई दुनिया में नए तरह के यूथ पैदा नहीं हो गए हैं; कोई नए तरह के युवक पैदा नहीं हो गए हैं। दुनिया में युवक-विद्रोह कभी भी न था। युवकों ने कभी भी पत्थर मारकर न तो कालेज के कांच तोड़े थे, न स्कूल तोड़े थे, न आगें लगाई थीं, न बस और ट्राम जलाई थीं। न गुरुओं को, शिक्षकों को, माता- पिताओं को इस तरह की चिंता में डाल दिया था। न समाज की सारी व्यवस्था को इस तरह अस्तव्यस्त कभी किया था। क्या बात है? युवक के भीतर कुछ नए हारमोन, कोई नई केमिस्ट्री हो गई? कोई नई बात पैदा हो गई?
युवक बिल्कुल वैसे ही हैं, जैसे सदा थे। सिर्फ एक बात का फर्क पड़ा है, दुनिया से बाल-विवाह विदा हो गया। तेरह-चौदह साल में युवक कामवासना से भर जाता है। लेकिन समाज सब तरफ से रोक पैदा कर देता है। रोक पैदा कर देता है, क्रोध पैदा होता है। काम अवरुद्ध हुआ कि क्रोध पैदा हुआ। क्रोध पैदा हुआ कि विध्वंस होगा।
इसलिए सारी दुनिया में विध्वंस की लहर दौड़ गई है। युवक तोड़ रहे हैं उन चीजों को, उन्हीं चीजों को, जिनको उनके मां-बाप ने निर्मित किया उनके लिए। विश्वविद्यालय जलेंगे, बच नहीं सकते।
इसलिए अमेरिका के एक बहुत समझदार मनोवैज्ञानिक किन्से ने दस साल के अध्ययन के बाद यह कहा कि अगर दुनिया से युवक-विद्रोह खतम करना है, तो हमें बाल-विवाह पर वापस लौट जाना चाहिए।
बाल-विवाह पर कोई अमेरिकी मनोवैज्ञानिक कहेगा, वापस लौट जाना चाहिए! क्या कारण है? अगर काम अवरुद्ध होगा, तो क्रोध बनेगा। और क्रोध फिर हिंसा बनेगा, और जीवन को सब तरफ से तोड़ डालेगा।
लेकिन बाल-विवाह करने से दूसरी परेशानियां हैं। जैसे ही बाल-विवाह होना शुरू होता है, जैसे ही बच्चों का विवाह कर दिया जाए, वैसे ही उनके जीवन में क्रिएटिविटी खो जाती है; वे सृजन नहीं कर पाते। बच्चे ही पैदा करते हैं, फिर और कुछ सृजन नहीं करते। इसलिए बाल-विवाह वाले समाज आविष्कार नहीं कर पाते, वैज्ञानिक खोज नहीं कर पाते, हिमालय पर नहीं चढ़ पाते, चांद-तारों पर नहीं पहुंच पाते।
जहां बाल-विवाह होगा, वहां खोज, सृजन, क्रिएशन, सब बंद हो जाएगा। लेकिन जहां खोज होगी, क्रिएशन होगा, बाल-विवाह रुकेगा, वहां क्रोध और हिंसा की आग फैल जाएगी। फिर क्या किया जाए?
कृष्ण कुछ और ही सुझाव देते हैं। वे कहते हैं, न तो काम को खुला छोड़ देने से कोई हल है, न काम को रोक लेने से कोई हल है। काम और क्रोध दोनों वेग के अतीत, पार हो जाने में, दोनों के ऊपर उठ जाने में है। दोनों वेगों के बीच अलिप्त हो जाने में है; दोनों के साथ अनासक्त हो जाने में है।
जो व्यक्ति इस पृथ्वी पर इन दो वेगों के साथ अलिप्त होकर खड़ा हो जाता है, जिसे काम आंदोलित नहीं करता और जिसे क्रोध अग्नि की लपटों में नहीं डालता, ऐसा व्यक्ति यहां भी और परलोक में भी सुख को उपलब्ध होता है।

लेकिन हम तो दुख ही दुख को उपलब्ध होते हैं। इससे साफ समझ लेना चाहिए
कि हमारी स्थिति बिल्कुल प्रतिकूल होगी। हम ठीक उलटे होंगे कृष्ण के आदमी से। दुख ही दुख! दुख के जोड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।
फ्रायड से मरते वक्त किसी ने पूछा कि तुमने जिंदगीभर इतने लोगों की मनस-चिकित्सा की। क्या तुम सोचते हो कि आदमी को मनस-चिकित्सा के द्वारा सुख तक पहुंचाया जा सकता है? ब्लिस उपलब्ध हो सकती है? फ्रायड ने जो बात कही, बहुत हैरानी की है। फ्रायड ने कहा कि नहीं; जैसा आदमी है, इस आदमी को सुख तक कभी नहीं पहुंचाया जा सकता। ज्यादा से ज्यादा सामान्य दुख तक आदमी पहुंचे, इतना इंतजाम किया जा सकता है--जनरल अनहैपिनेस! फ्रायड ने कहा, सुख तक तो किसी को नहीं पहुंचाया जा सकता। लोग बहुत दुख तक न जाएं, न्यूरोटिक अनहैपिनेस तक न जाएं; पागल न हो जाएं दुख में; साधारण बने रहें--इतने दुख तक पहुंचाया जा सकता है! जनरल अनहैपिनेस! बस, ज्यादा से ज्यादा जो हम कर सकते हैं, वह फ्रायड ने कहा, इतना कि हम इतने दुख तक आपको रोक सकते हैं, जितना सबको है।
अगर फ्रायड जैसा इस युग का मनीषी कहे कि अंतिम लक्ष्य इससे ज्यादा दिखाई नहीं पड़ता, तो हमें मनोविज्ञान के पूरे आधारों पर पुनर्विचार करना पड़ेगा। न्यूरोटिक अनहैपिनेस से हम उतार सकते हैं जनरल अनहैपिनेस तक! बस, इससे ज्यादा नहीं! इतना दुखी न होने देंगे कि आप पागलखाने चले जाओ। इतना दुखी न होने देंगे कि आत्महत्या कर लो। इतना दुखी न होने देंगे कि आप पागल हो जाओ। बस इतना दुखी होने देंगे कि दुकान चलाते रहो, घर बच्चों को बड़ा करते रहो। इतना दुखी होने देंगे, जनरल अनहैपिनेस, जितने सभी लोग दुखी हैं। बस, इससे आगे नहीं। इससे आगे कुछ नहीं किया जा सकता।
अगर फ्रायड ऐसा कहता है, तो थोड़ा सोचने जैसा है। क्योंकि भारत के सारे मनसविद--चाहे कृष्ण, चाहे पतंजलि, चाहे कणाद, चाहे बुद्ध, चाहे महावीर, चाहे शंकर, चाहे नागार्जुन--वे सभी कहते हैं कि मनुष्य परम आनंद को उपलब्ध हो सकता है। और ऐसा वे प्रामाणिक रूप से कहते हैं, क्योंकि वे खुद उस परम आनंद में खड़े हुए हैं।
जरूर बुनियादों में कोई फर्क है, आधारभूत कोई तात्विक भेद है।
पश्चिम मानता है कि काम से आदमी मुक्त हो ही नहीं सकता। तो फिर दुख से
भी मुक्त नहीं हो सकता। इतना पर्याप्त लक्ष्य है कि जनरल अनहैपिनेस रहे। ज्यादा न हो जाए; सामान्य रहे, नार्मल! पूरब मानता है कि मनुष्य काम की वासना से मुक्त हो सकता है। कैसे हो सकता है?
जब तक हमें ख्याल में है कुछ गलत विधि, तब तक हम कितनी ही कोशिश करें, कोई परिणाम नहीं होगा। और कई बार ऐसा होता है कि गलत विधि पर हम वर्षों मेहनत करते रहें, श्रम बहुत करें, परिणाम कुछ न हो। ठीक चाबी हाथ में हो, तो क्षणभर में ताला खुल जाए।
सुना है मैंने, एक आदमी बहुत परेशान है। वह चिकित्सक के पास गया। वह कहता है, मेरी परेशानी यही है कि जब रात मैं बिस्तर के ऊपर सोता हूं, तो मुझे ऐसा लगता है कि बिस्तर के नीचे कोई है। फिर मैं नीचे चला जाता हूं सोने के लिए, देखता हूं, कोई नहीं है। लेकिन तब मुझे लगता है, ऊपर कोई है। फिर मैं ऊपर आता हूं, तब ऊपर किसी को नहीं पाता। पाता हूं कि अब नीचे कोई है। ऐसा रातभर मैं बिस्तर के ऊपर-नीचे होता रहता हूं। नींद मेरी नष्ट हो गई है। मैं पागल हुआ जा रहा हूं। मुझे छुटकारा दिलाओ। जानता हूं भलीभांति, नीचे जाकर पाता हूं, कोई नहीं है। लेकिन तब तक मुझे लगता है, ऊपर कोई है। अब मैं नीचे हूं, ऊपर का भरोसा कैसे करूं कि नहीं है? जाऊं, तभी पता चले। लेकिन जब तक ऊपर जाता हूं, तब तक लगता है, नीचे कोई है!
मनोवैज्ञानिक ने कहा, यह बहुत कठिन मामला है। दो वर्ष लग जाएंगे। फिर
भी पक्का नहीं कहा जा सकता कि आप इस नासमझी के बाहर हो सकेंगे। कोशिश मैं करूंगा। सौ रुपए सप्ताह का खर्च होगा। हर सप्ताह दो बैठक मुझे तुम्हें देनी पड़ेंगी। और दो साल मेहनत चलेगी। उस आदमी ने कहा, इतनी मेरी आर्थिक हैसियत नहीं है। इतना लंबा इलाज मैं न करवा पाऊंगा। फिर भी मैं कोशिश करता हूं। पत्नी से जाकर बात कर लूं। कोई रास्ता बन जाए, तो मैं इलाज करवा लूं। मैं कल आपको खबर करूंगा।

लेकिन उस आदमी ने सात दिन तक कोई खबर न की। मनोवैज्ञानिक रास्ता देखता रहा। सातवें दिन उसने फोन किया कि क्या हुआ? आप आए नहीं! उसने कहा कि मैं बिल्कुल ठीक हूं। हद हो गई! मेरी पत्नी ने इलाज कर दिया! मनोवैज्ञानिक ने कहा, कैसा इलाज किया होगा? क्या तुम ठीक हो गए? उस आदमी ने कहा, बिल्कुल ठीक। तुम्हारी पत्नी ने क्या किया? मनोवैज्ञानिक हैरान हुआ; क्योंकि बीमारी खतरनाक थी और लंबी दिखाई पड़ती थी। उस आदमी ने कहा, मेरी पत्नी ने केवल बिस्तर के चारों पैर काट डाले; पलंग के चारों पैर काट दिए और कुछ नहीं किया। अब नीचे किसी के होने का उपाय ही नहीं रहा। अब मैं मजे से सो रहा हूं! और मैं आपसे कहता हूं कि वह मनोवैज्ञानिक दो साल नहीं, दो सौ साल में
भी उस आदमी को ठीक न कर पाता। कई बार जरा सा गलत रुख, और यात्रा कितनी ही हो, मंजिल फिर नहीं मिलती।
पश्चिम के मनोवैज्ञानिक कहते हैं, काम से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। बस, यहां से पश्चिम की सारी जड़ सड़नी शुरू हो गई। यहीं पश्चिम बीमार पड़ गया। काम से मुक्त नहीं हुआ जा सकता, यह बात पचास साल में उन्होंने इतनी गहरी बिठा दी हर आदमी के मन में कि अब सच में ही मुक्त नहीं हुआ जाता। सेल्फ फुलफिलिंग प्रोफेसी हो गई वह। कह दिया कि नहीं हुआ जा सकता। आदमी तो चाहता ही था कि न हुआ जा सके, तो उत्तरदायित्व भी खो जाए, अपराध भी खो जाए। और अगर मैं कुछ गलत करूं, तो मैं कह सकूं, यह तो मनुष्य का स्वभाव है, कोई उपाय नहीं है, क्या कर सकता हूं!
लेकिन पूरब कहता है, काम से मुक्त हुआ जा सकता है। और आज नहीं कल पश्चिम को पूरब से इस सूत्र को पुनः सीखना ही पड़ेगा। अन्यथा पश्चिम मरेगा, अपनी ही नासमझी में दबकर मर जाएगा।
पूरब कहता है, हुआ जा सकता है। कृष्ण कहते हैं, हो जाया जा सकता है, हो सकते हो अर्जुन। कैसे?
जब तक भी मुझे अपने भीतर के आनंद का कोई पता नहीं है, तब तक स्वभावतः मैं दूसरे से सुख पाने पर निर्भर रहूंगा। जब तक मुझे भीतर कोई रस आता ही नहीं; जब तक आंख बंद करता हूं, भीतर कोई शांति, कोई आनंद की झलक नहीं मिलती-- तब तक मैं किसी और के पास जाऊंगा कि कोई मुझे सुख दे दे।
और मजे की बात तो यह है कि जिसके पास मैं जाऊंगा, वह भी मेरे पास इसीलिए आया है कि मैं उसे सुख दे दूं! और दो भिखारी एक-दूसरे के सामने भिक्षापात्र रखकर बैठ जाएं, तो कुछ हल होने वाला है? कोई हल होने वाला नहीं है। हम सब ऐसे ही भिखारी हैं।
मैं किसी से सोचता हूं कि इससे मिलेगा सुख; उसके पीछे दौड़ता हूं। वह
भी मेरे पीछे इसलिए दौड़ रहा है कि मुझसे मिलेगा सुख! हम दोनों लेने की तलाश में हैं, और दोनों के पास देने को नहीं है। देने को होता, अगर मेरे पास किसी को सुख देने को होता, तो सबसे पहले तो मैं ले लेता। अगर मेरे घर में कुआं होता और मैं प्यास अपनी बुझा सकता, तो मैं दूसरे की प्यास भी बुझाने के लिए कुएं पर बुला लेता। लेकिन मेरे घर में कुआं नहीं, मैं प्यासा मरा जा रहा हूं; और एक दूसरे आदमी के पीछे चल रहा हूं, इस आशा में कि उससे मेरी प्यास बुझ जाएगी! वह खुद भी मेरे घर इसीलिए आया हुआ है कि उसकी प्यास मुझसे बुझ जाएगी। न उसके घर कुआं है, न मेरे घर कुआं है! हम दोनों एक-दूसरे को धोखा दे रहे हैं।
मैं उसे ऐसा दिखाने की कोशिश कर रहा हूं कि मैं तुझे सुख दूंगा, क्योंकि इस तरह का आश्वासन अगर मैं न दिलाऊं, तो उससे मुझे सुख मिलने का रास्ता नहीं बनेगा। वह मुझे धोखा दे रहा है कि मैं तुम्हें सुख दूंगा। वह भी इसीलिए धोखा दे रहा है, क्योंकि अगर वह ऐसा आश्वासन न दे, तो मुझसे सुख न पा सकेगा। और हम दोनों एक-दूसरे को धोखा दे रहे हैं।
इस जगत में हम सब एक-दूसरे को धोखा दे रहे हैं इस बात का कि सुख लिया- दिया जा सकेगा। वह संभव नहीं है। जिसके पास भीतर सुख नहीं है, वह किसी को दे नहीं सकता। जो हमारे पास है, वही हम दे सकते हैं। और जो हमारे पास है, वह देने के पहले हमें मिल गया होता है।

इस जगत में वह आदमी सुख दे सकता है, जिसके पास है। लेकिन हमारे पास तो कोई सुख नहीं है। काम से केवल वही व्यक्ति मुक्त होगा, जिसे आनंद के अंतर-स्रोत उपलब्ध हो जाएं, अन्यथा मुक्त नहीं होगा।
तो जब कृष्ण कहते हैं, काम और क्रोध से मुक्त हो जाता है जो, तो उसका अर्थ ही यह है। उसका अर्थ ही यह है कि जब भी मन में काम उठे--तो काम एक ऊर्जा है, एनर्जी है, बड़ी शक्ति है। इसीलिए तो प्रकृति काम-ऊर्जा को संतति के लिए, जन्म के लिए उपयोग में लाती है। बड़ी शक्ति है, विराट शक्ति है काम। जब काम उठे, आपके भीतर जब वासना उठे, किसी से सुख लेने की इच्छा उठे, तब आंख बंद करके दूसरे को भूल जाना और आपके ही भीतर वह ऊर्जा कहां उठ रही है, उस बिंदु पर ध्यान करना।
स्वभावतः, साधारणतः सेक्स सेंटर से ऊर्जा उठती है और बाहर फैल जाना चाहती है। यदि कोई व्यक्ति, जिस क्षण सेक्स की कामना मन को घेर ले, आंख बंद करके अपने सारे ध्यान को सेक्स के सेंटर पर ले जाए, तो दो क्षण में पाएगा कि काम की वासना तिरोहित हो गई। दो क्षण में! इससे ज्यादा वक्त नहीं लगेगा। और जैसे ही काम की वासना तिरोहित होगी, जो ऊर्जा उठ गई, उसका क्या होगा?
ऊर्जा सदा उपयोग में आती है। उठ जाए तो, कुछ न कुछ उपयोग होता है। जो शक्ति जाग गई, उसका क्या होगा? अब बाहर जाने का कोई मार्ग न रहा, तो शक्ति भीतर जाना शुरू हो जाती है। उस शक्ति के बहाव का नाम कुंडलिनी है। उस शक्ति के भीतर बहने का नाम कुंडलिनी है। सेक्स के, यौन के केंद्र से शक्ति उठती है और रीढ़ के मार्ग से ऊपर की तरफ बहनी शुरू हो जाती है। जैसे कोई सर्प उठता हो।
यौन के केंद्र पर शक्ति का संग्रह है। या तो वहां से बाहर चली जाएगी,
या वहां से भीतर चली जाएगी। वह द्वार है। अगर बाहर गई, तो या तो विषाद बनेगी, या क्रोध बनेगी। अगर भीतर गई, तो ठीक उलटी घटना बनेगी। अगर अवरुद्ध हो जाए, तो क्षमा बनेगी, जैसे बाहर अवरुद्ध होने से क्रोध बनती है। अगर भीतर अवरुद्ध हो जाए, तो क्षमा बनेगी। और जैसे बाहर पूरे होने से विषाद बनती है, अगर भीतर पूरी हो जाए, तो आनंद बनेगी।
ख्याल रख लें, बाहर ऊर्जा जाए, पूरे लक्ष्य तक पहुंच जाए, तो विषाद फल बनेगा। भीतर उठे, और सहस्रार तक पहुंच जाए ऊपर तक, तो आनंद फलित होगा। अगर बाहर रुकावट बन जाए, तो क्रोध बनेगी; अगर भीतर कहीं रुकावट बन जाए, तो क्षमा बनेगी।
लेकिन हम तो बाहर से ही परिचित हैं। हम बाहर से ही परिचित हैं, हमें भीतर का कोई ख्याल नहीं है।
कृष्ण क्यों इस बात को स्पष्ट नहीं कह रहे हैं, यह भी सोचने जैसा है। कृष्ण को अर्जुन को बताना चाहिए कि तू काम-केंद्र पर, सेक्स सेंटर पर ध्यान को केंद्रित कर। यह अर्जुन से कृष्ण क्यों नहीं कह रहे हैं? मैं इसे क्यों कह रहा हूं आपसे? उसका कारण है।
इस देश की एक व्यवस्था थी ब्रह्मचर्य आश्रम की। सारे बच्चे, जो भी गुरु के पास ब्रह्मचर्य के काल में आश्रम में रहते थे, उन सबको अनिवार्य रूप से सेक्स सेंटर पर ध्यान करना सिखा दिया जाता था। ब्रह्मचर्य की साधना ही थी वह। यह सामान्य ज्ञान की बात थी, इसलिए कृष्ण को इसे विशेष रूप से कहने की कोई जरूरत नहीं है। इतना ही वे कह सकते हैं कि अर्जुन, काम और क्रोध से जो मुक्त हो जाता है, वह इस पृथ्वी पर सुख को और उस लोक में भी आनंद को उपलब्ध होता है।
आपसे मुझे विस्तार से कहने की जरूरत है, क्योंकि वह जो ब्रह्मचर्य के आश्रम का काल था, वह हमारी जिंदगी से बिल्कुल काटकर फेंक दिया गया है। हम गृहस्थ ही शुरू होते हैं, जो कि बहुत ही बेहूदी बात है। बच्चा भी गृहस्थ की तरह शुरू होता है, जो कि बड़ी गलत शुरुआत है। जीवन के सुनिश्चित आधार रखे ही नहीं जाते।
अर्जुन को भलीभांति पता है कि काम की ऊर्जा कैसे अंतर्प्रवाहित होती है, इसलिए उसको उल्लेख नहीं किया है। वह सभी को पता था। उसका उल्लेख करने की कोई जरूरत न थी। वह सामान्य ज्ञान था। वह ऐसा ही सामान्य ज्ञान था, जैसे

मैं आपसे कहूं कि जाओ, कार ले जाओ। तो यह सामान्य ज्ञान है कि पेट्रोल डला लेना। इसको कहने की कोई जरूरत न पड़े। पेट्रोल न हो, तो कार नहीं जाएगी, यह सामान्य ज्ञान की बात है।
ठीक ऐसे ही जीवन की ऊर्जा भीतर कैसे यात्रा करती है, उसके मेडिटेशन की विधि सबको ज्ञात थी। वह हर बच्चे को जन्म के बाद पहली चीज थी। जैसे ही बच्चा होश में भरता, जो पहली चीज हम सिखाते थे, वह ब्रह्मचर्य था। जो पहला पाठ हम देते थे उसके जीवन में, वह ब्रह्मचर्य था। क्योंकि वही सबसे बड़ा पाठ है, जो जीवन की ऊर्जा को काम से हटाकर राम की तरफ ले जाता है।
काम है दूसरे पर निर्भरता, राम है स्वनिर्भरता। काम है बहिर्गमन, राम
है अंतर्गमन। काम और राम के बीच हमारे सारे जीवन का आंदोलन है। जो बाहर ही दौड़ रहा है, उसे काम ही काम सुनाई पड़ता है। जो भीतर दौड़ रहा है, उसे राम ही राम सुनाई पड़ता है।
जैसे मैंने आपसे कही उस आदमी की बात--रूमाल गिराया, तो उसने कहा, आइ एम रिमाइंडेड आफ सेक्स। अगर किसी भक्त को, किसी साधक को रूमाल गिराओ, और पूछो कि किस चीज का स्मरण आया? वह कहेगा, राम का। घंटी बजाओ; पूछो, किस चीज का स्मरण आया? वह कहेगा, राम का। किताब खोलो; पूछो, किस चीज का स्मरण आया? वह कहेगा, राम का।
स्वामी रामतीर्थ हिंदुस्तान जब वापस लौटे, तो सरदार पूर्णसिंह नाम के
एक बहुत विचारशील व्यक्ति उनके पास रात को रुकते थे। एक दिन बड़े हैरान हुए। कमरे में कोई नहीं है। राम सोते हैं। पूर्णसिंह जाग गए हैं। कमरे में राम की ध्वनि आ रही है। और राम तो सोए हुए हैं। कमरे के बाहर जाकर पूर्णसिंह चक्कर लगा आए; कोई नहीं है। कहीं से कोई आवाज नहीं है। जितना कमरे से दूर गए, आवाज कम होती चली गई। कमरे में वापस लौटकर आए। रात के दो बजे हैं। जैसे कमरे के पास आए, आवाज बढ़ने लगी। तब अचानक उन्हें ख्याल आया कि आवाज कहीं रामतीर्थ के पास से आ रही है। वे जितने पास आए, हैरान हो गए। रामतीर्थ सो रहे हैं। नींद लगी है। रामतीर्थ के हाथ पर कान रखकर देखा,
तो आवाज आ रही है, राम, राम। पैर पर कान रखकर देखा, तो आवाज आ रही है, राम, राम। बहुत घबड़ा गए कि यह क्या हो रहा है! शरीर आवाज दे रहा है! रोआं-रोआं आवाज दे रहा है!
संभव है। बिल्कुल संभव है। शरीर बहुत संवेदनशील यंत्र है। जब आप कामवासना से भरे होते हैं, तब भी रोआं-रोआं खबर देता है, काम, काम। कामवासना से भरे हुए आदमी का हाथ छुएं। हाथ खबर देता है, काम। कामवासना से भरे आदमी की आंख में आंख डालें; खबर आती है, काम। कामवासना से भरे आदमी को कहीं से भी टटोलें; खबर आती है, काम।
राम से भी इतना ही भरा जा सकता है। और जब ऊर्जा अंतर्यात्रा बनकर सहस्रार पर पहुंचकर अंतर्गूंज पैदा करती है, अंतर्नाद पैदा करती है, तो उस व्यक्ति ने जिस शब्द का भी उपयोग करके यह यात्रा की हो--कृष्ण का, या राम का, या क्राइस्ट का, या अल्लाह का--वह शब्द उसके रोएं-रोएं से प्रस्फुटित होने लगता है; गूंजने लगता है। और जिनके पास सुनने के कान हैं, वे सुन सकते हैं। बड़े सूक्ष्म कान चाहिए।
अब अभी कहा गया आपको, एलिजाबेथ, जिसने कल रात ग्यारह बजे जाकर संन्यास लिया, वह कल यहां धुन में खड़ी थी। स्वभावतः, जैसा अमेरिकन दिमाग होता है, स्केप्टिकल है। परसों सुबह ही उसने मुझसे बात की कि मैं श्रद्धा बिल्कुल नहीं कर सकती। मुझे तो बड़े संदेह उठते हैं। और भारतीय दिमाग से मेरा कोई तालमेल नहीं बैठता। मुझे तो रेशनल, बुद्धिगत कोई बात समझ में आनी चाहिए। ये संन्यासी नाच रहे हैं, ये सब कर रहे हैं, यह मुझे बहुत अजीब लगता है। स्वभावतः! यह मुझे ठीक नहीं लगता। मैं नाच नहीं सकती हूं। कठोर थी परसों सुबह।
मैंने उससे कहा कि ठीक है। कोई चिंता मत कर। तू खड़े होकर देख। नाच मत।
खड़े होकर सिर्फ देख। और दूसरे के लिए जजमेंट मत ले कि दूसरे क्या कर रहे हैं, क्योंकि दूसरे के भीतर हम प्रवेश नहीं कर सकते हैं। उसके भीतर क्या हो रहा है, हमें कुछ पता नहीं है।

परसों रात वह खड़ी रही, देखती रही। कल रात भी खड़ी होकर देखती रही। फिर अचानक कब उसकी ताली बजने लगी, उसे पता नहीं। फिर वह कब डोलने लगी, उसे पता नहीं। और कब यह नृत्य उसके लिए मिट गया और सिर्फ प्रकाश ही प्रकाश यहां शेष रह गया... ।
रात ग्यारह बजे जब मेरे पास गई, तो उसे रोका गया कि इतनी रात नहीं, अब मैं सोने को हूं। उसने कहा कि इसी वक्त मुझे संन्यास लेना है। क्योंकि कल सुबह का क्या भरोसा? जो मुझे अनुभव हुआ है, मुझे इसी वक्त छलांग लगा देनी चाहिए। जो मैंने देखा है... ।
वह मुझसे आकर बोली कि मुझे कुछ हुआ है, जो अनबिलीवेबल है; मैं अभी भी विश्वास नहीं कर सकती। क्योंकि मेरा दिमाग स्केप्टिकल, अभी भी मौजूद है। वह पीछे खड़ा है और कह रहा है कि ऐसा हो नहीं सकता। मेरा दिमाग कह रहा है, ऐसा हो नहीं सकता। लेकिन हुआ है, यह भी मैं जानती हूं। दोनों बातें एक साथ हैं। घटना घटी है, वह भी मैंने देखा। नहीं हो सकता है, यह भी मेरा दिमाग कहता है। लेकिन अगर किसी और को हुआ होता, तो मैं इनकार कर देती। अब इनकार करने का भी कोई उपाय नहीं है।
आप भी देखते हैं। नहीं देख पाते हैं। इतने लोग इकट्ठे हैं। एक को जो हुआ है, वह सब को हो सकता है; सबकी पोटेंशियलिटी है। लेकिन देखने वाली आंख, सुनने वाले कान तैयार होने चाहिए।
आज मैं कहूंगा कि जरा देखें! शांत, मौन, सिर्फ देखते रहें। जल्दी न करें। कितनी जल्दी है भागने की! पांच मिनट बाद सही। मौन। हो सकता है, जो उसे हुआ, वह आपको हो जाए। हो सकता है, आपको भी यहां नाचते हुए संन्यासियों के शरीर में ध्वनियां सुनाई पड़ने लगें। और उनके नृत्य की झलक के साथ प्रकाश दिखाई पड़ने लगे।
वह सब घटित हो रहा है। चारों तरफ परमात्मा हजार तरह से प्रकट होता है। लेकिन हम! हम अपने भीतर खोए रहते हैं--बहरे, अंधे। हमें कुछ सुनाई नहीं पड़ता। राम भी सुनाई पड़ सकता है, भीतर ऊर्जा जागी हो तो।
कभी आपने ख्याल किया, संभोग के बाद स्त्री-पुरुष दोनों के शरीर से खास तरह की दुर्गंध निकलनी शुरू हो जाती है। लोग कहते हैं कि महावीर चलते, तो उनके शरीर से सुगंध निकलती। बिल्कुल निकल सकती है।
जब शरीर की ऊर्जा बाहर जाती है, तो शरीर को दुर्गंध की स्थिति में छोड़ जाती है। और जब शरीर की ऊर्जा भीतर जाती है, तो शरीर को सुगंध की स्थिति में छोड़ जाती है।
ठीक बाहर जाती ऊर्जा से जो परिणाम होते हैं, उसके ठीक विपरीत भीतर जाती ऊर्जा से परिणाम होते हैं। बाहर है दुख; भीतर है सुख।
कृष्ण कहते हैं, इस पृथ्वी पर भी उस योगी को आनंद है; परलोक में उसकी मुक्ति है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। 24।।
जो पुरुष निश्चय करके अंतरात्मा में ही सुख वाला है और आत्मा में ही आराम वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है, ऐसा वह ब्रह्म के साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होता है।

जो आत्मा में ही विश्राम में जीता है, जो आत्मा में ही आनंद को अनुभव करता है, जो आत्मा में ही ज्ञान को पाता है, जिसके जीवन का सब कुछ उसकी आत्मा है! इसे दो-तीन मार्गों से ख्याल में लेना जरूरी है।
हमारा सब कुछ सदा ही आत्मा के बाहर होता है। सुख, बाहर; ज्ञान, बाहर। कोई देगा, तो हमें मिलेगा। कोई नहीं देगा, तो हम अज्ञानी रह जाएंगे। यूनिवर्सिटी, कालेज ज्ञान देंगे, तो हम ज्ञानी हो जाएंगे। इसीलिए तो सारी दुनिया पढ़े-लिखे अज्ञानियों से भरती चली जाती है!
दूसरे से मिलेगा--चाहे ज्ञान हो, चाहे सुख हो, चाहे शांति हो--दूसरे से मिलेगी। सब कुछ आएगा सदा दूसरे से। अपने भीतर कुछ भी नहीं है। तो हम बिल्कुल खाली हैं? कोई कंटेंट नहीं भीतर! कंटेनर हैं, सिर्फ एक डब्बा हैं

खाली, जिसके भीतर कुछ भी नहीं है! भिक्षापात्र हैं! दूसरे जो डाल देंगे, वही भर जाएगा; वही हमारी संपदा है! तो दूसरे कहां से ले आएंगे? वे भी खाली हैं। वे भी हमारे जैसे ही रिक्त डब्बे हैं। तो फिर हम एक-दूसरे को प्रवंचना देते रहते हैं।
न तो दूसरे से मिलता है सुख, न दूसरे से मिलता है ज्ञान। दूसरे से मिल सकता है सुख का आभास, और अंततः दुख। दूसरे से मिल सकती हैं सूचनाएं, अंततः अज्ञान को छिपाने वाली; और कुछ भी नहीं। इनफर्मेशन मिल सकती है दूसरे से, नालेज नहीं।
कोई विश्वविद्यालय ज्ञान नहीं दे रहा है। सब विश्वविद्यालय सिर्फ नालेज की जगह इनफर्मेशन, सूचनाएं दे रहे हैं। ज्ञान बड़ी आंतरिक घटना है। सूचना बाहर से मिलती है, ज्ञान भीतर से आता है। आभास बाहर खड़े किए जा सकते हैं, वास्तविक सुख का कोई अनुभव बाहर नहीं होता है। कभी नहीं हुआ; कभी हो भी नहीं सकता है।
बाहर से मिलता है तनाव, टेंशन; विश्राम नहीं, विराम नहीं। कृष्ण कहते हैं, आत्मा को ही जिसने आराम जाना! बाहर से सिवाय तनाव के और कुछ भी नहीं मिलता। और अगर तनाव बहुत बढ़ जाएं, तो निद्रा मिल सकती है, और कुछ भी नहीं मिल सकता। रोज तनाव बढ़ते जाते हैं, विश्राम खोता चला जाता है। टेंशंस बढ़ते चले जाते हैं, इकट्ठे होते चले जाते हैं। एक-एक आदमी हिमालय जैसे टेंशंस, तनाव अपने सिर पर लिए चल रहा है।
तनाव बहुत बढ़ जाते हैं, अब क्या करना? इन तनावों के बीच कैसे जीना? तो बाहर से तनाव को भुलाने की तरकीबें मिल सकती हैं; केमिकल ड्रग्स मिल सकते हैं, शराब मिल सकती है, एल एस डी मिल सकती है, मेस्कलीन मिल सकती है, मारिजुआना मिल सकता है। फिर बाहर से केमिकल ड्रग्स मिल सकते हैं कि पी लो इनको और नींद में खो जाओ; डूब जाओ अंधेरे में।
बाहर से मिल सकते हैं तनाव, और विश्राम के नाम पर मिल सकती है निद्रा। टूटेगी निद्रा, तनाव वापस दुगुने वेग से खड़े हो जाएंगे। दुगुने वेग से क्यों? क्योंकि निद्रा की इस रासायनिक मूर्च्छा के बाद आप कमजोर होकर वापस आएंगे। तनाव तो वही रहेंगे, लेकिन आप कमजोर होकर वापस आएंगे। तनाव दुगुनी ताकत के हो जाएंगे, आप और कमजोर हो जाएंगे। फिर एक ही उपाय है कि और पीओ शराब।
एक शराबी कहा करता था कि मैंने कभी एक प्याली से ज्यादा शराब नहीं पी।
जो मित्र उसको जानते थे, उन्होंने कहा, हमसे झूठ बोलते हो? आंखों से हमने देखा है तुम्हें प्यालियों पर प्याली ढालते! उसने कहा, मैंने एक प्याली से ज्यादा कभी नहीं पी। मैं यह बाइबिल पर हाथ रखकर कसम खाकर कह सकता हूं। मित्रों को भरोसा न हुआ! बाइबिल उठा लाया। उसने बाइबिल पर हाथ रखकर कसम खा ली, एक प्याली से ज्यादा मैंने कभी नहीं पी। उन मित्रों ने कहा, हद हो गई! झूठ की भी एक सीमा होती है! तुम बाइबिल को भी झूठ में घसीट रहे हो। आज सांझ को देखेंगे।
सांझ को देखा, जैसा कि वह रोज पीता था, प्याली पर प्याली ढालता गया। मित्रों ने कहा, यह क्या कर रहे हो? उसने कहा, मैं फिर भी कहता हूं कि मैंने एक प्याली से ज्यादा नहीं पी। उन्होंने कहा, तुम्हारा मतलब क्या है? तब इसका मतलब है कि हमारी भाषाएं अलग-अलग हैं! उस आदमी ने कहा, निश्चित। एक प्याली तो मैं पीता हूं, फिर दूसरी प्याली पहली प्याली पीती है। फिर एड इनफिनिटम, फिर तीसरी प्याली चौथी प्याली पीती है। फिर चौथी प्याली पांचवीं प्याली! मैं एक ही प्याली पीता हूं। बाकी प्याली के लिए मेरा कोई जिम्मा नहीं। मैं तो कसम खाकर आता हूं कि एक से ज्यादा न पीऊंगा। लेकिन कसम खाने वाला एक पीकर ही बेहोश हो जाता है। फिर प्याली पर प्याली पीती चली जाती हैं।
आज मूर्च्छा में खोएंगे, कल और बड़ी मूर्च्छा चाहिए, परसों और बड़ी मूर्च्छा चाहिए; प्याली पर प्याली बढ़ती चली जाएगी।
तनाव मिलते हैं बाहर से, विश्राम नहीं। या मिल सकती है तंद्रा, जो कि विश्राम नहीं है, जो कि केवल मूर्च्छा है। विश्राम तो आंतरिक घटना है, विराम, सब ठहर गया जहां। शांत, जैसे झील पर लहर न हो। आकाश, जहां कि बदलियां

न हों। निरभ्र आकाश। सब चुप, मौन। होश पूरा, शांति भी पूरी। ऐसे विराम के क्षण तो भीतर ही हैं।
कृष्ण कहते हैं, सुख जिसने जाना भीतर, विश्राम जिसने जाना भीतर, ज्ञान जिसने जाना भीतर, ऐसा पुरुष ही सांख्य का ज्ञानयोगी है। ऐसा पुरुष ही ज्ञानयोगी है।
तीन चीजों पर जोर देते हैं वे। कारण है। तीन ही तरह की चीजें हैं, जो
हम चाहते हैं। या तो सुख चाहते हैं। कुछ लोग हैं, जो सुख के लिए दौड़ते रहते हैं। कुछ लोग हैं, जो सुख से भी ज्यादा ज्ञान चाहते हैं।
एक वैज्ञानिक है। सब तरह के दुख झेलता है। सब तरह की पीड़ा झेलता है।
बीमारियां अपने ऊपर बुला लेता है कि बीमारियों को मिटाने की तरकीब खोज ले। जहर चख लेता है कि जहर का पता चल जाए कि आदमी मरता है कि नहीं मरता है। सुख से भी ज्यादा ज्ञान की तलाश है।
कुछ लोग हैं, जो सुख की खोज में हैं। कुछ लोग हैं, जो ज्ञान की खोज में हैं। कुछ लोग विश्राम की खोज में हैं। सुख के खोजी, हम जिनको संसारी कहते हैं, ऐसे सारे लोग सुख के खोजी हैं। जिनको हम विचारक, वैज्ञानिक, कलाकार, इस कोटि में रखते हैं--दार्शनिक, चिंतक--ये सारे के सारे लोग ज्ञान के खोजी हैं। जिनको हम कहते हैं, साधु, संत, मिस्टिक्स, ये सब के सब विश्राम के खोजी हैं। बस, ये तीन तरह के खोजी हैं इस जगत में। लेकिन इसीलिए कृष्ण ने तीन गिनाए कि इन तीनों की भूल हो जाए, अगर ये बाहर खोजें।
भीतर खोज शुरू हो जाए--तो कोई सुख को खोजता हुआ भीतर पहुंच जाए तो भी चलेगा, ज्ञान को खोजता हुआ पहुंच जाए तो भी चलेगा, विश्राम को खोजता हुआ पहुंच जाए तो भी चलेगा।
जान लें आपकी खोज क्या है तीन में से। जो भी खोज हो, फिर यह देख लें कि उसको बाहर खोज रहे हैं, तो भ्रांत है खोज। भटकेंगे। कभी पहुंचेंगे नहीं कहीं। यात्रा बहुत होगी, नाव बहुत चलेगी, किनारा कभी नहीं आएगा। पैर बहुत दौड़ेंगे, थक जाएंगे, मंजिल कभी नहीं आएगी; मुकाम कभी नहीं आएगा। मुकाम तो केवल उनको मिलता है, जो स्वयं को एक खाली डब्बे की तरह नहीं मानते हैं। और स्वयं को खाली डब्बे की तरह, एंप्टी मानने से बड़ा अपमान और हीनता कुछ भी नहीं है।
धर्म मनुष्य की बड़ी गरिमा की घोषणा करता है। धर्म कहता है, तुम जो भी चाहते हो, वह तुम्हारे भीतर है। और इस कारण से भी कहता है कि अगर तुम्हारे भीतर न होता, तो तुम चाह भी न सकते थे। इस बात को भी ठीक से समझ लेना चाहिए। अगर मनुष्य के भीतर विश्राम की क्षमता और संभावना न हो, तो मनुष्य विश्राम की मांग भी नहीं कर सकता था। हम वही मांगते हैं, जो हमारे भीतर पोटेंशियल छिपा है और एक्चुअल होना चाहता है। जो हमारे भीतर बीज की तरह बंद है और वृक्ष की तरह खुलना चाहता है। हमारी सब मांगें हमारे बीज की मांगें हैं, जो वृक्ष होना चाहती हैं। हमारी सब मांगें हमारी संभावनाओं की मांगें हैं, जो वास्तविक होने के लिए आतुर हैं।
जैसे एक बीज को गड़ा दिया जमीन में। वह आतुर है। पत्थर को हटा देगा। जमीन को तोड़ेगा। बाहर फूटकर निकलेगा। अंकुर बनेगा। आकाश की तरफ उठेगा। सूरज में खिलेगा फूल की तरह। वह परेशान है भीतर। और जब तक बीज न टूट जाए और अंकुर न बन जाए, तब तक परेशानी नहीं मिटेगी।
जैसे एक अंडा है और एक मुर्गी का चूजा उसमें बंद है। तो चूजा परेशान है। तोड़ेगा अंडे को आज नहीं कल, बाहर निकलेगा खुले आकाश में। एक बच्चा एक मां के पेट में बंद है। तैयार हो रहा है कि कब बाहर निकल पड़े। मां के पेट में गति है, मूवमेंट है। पूरे वक्त मां को पता है कि कोई जीवन भीतर विकसित हो रहा है। उसकी बेचैनी है।
ठीक ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा प्रत्येक व्यक्ति को अंडे की तरह बनाए हुए भीतर बेचैन है। प्रकट होना चाहती है। आनंद को पाना चाहती है। ज्ञान को पाना चाहती है। शांति को पाना चाहती है। विश्राम को पाना चाहती है। स्वतंत्रता को पाना चाहती है। यह भीतर की जो मांग है, यह इस बात की खबर है कि वह जो अंडे में बंद है चूजा, उसके पास पंख हैं। वह खुले आकाश में उड़ सकता है। वह पत्थरों में पड़े रहने को पैदा नहीं हुआ है। अंडा पड़ा है

पत्थरों के बगल में। जब बगल में अंडा पड़ा होता है, तो पत्थर और अंडे में क्या फर्क मालूम पड़ता है! कुछ फर्क नहीं है। लेकिन बहुत फर्क है। अंडे के भीतर कोई छिपा है, जिसमें पंख निकल आएंगे, जो दूर आकाश की यात्रा पर भी उड़ सकता है।
हम सबके भीतर भी कुछ छिपा है, जिसमें पंख लग सकते हैं; जो उड़ सकता है; जिसकी बड़ी संभावनाएं हैं। उन बड़ी संभावनाओं में तीन पर कृष्ण ने आग्रह किया। उन तीन में बाकी सब संभावनाएं समाविष्ट हो जाती हैं।
खोजें सुख को, तो ध्यान रखना, अगर बाहर खोजा, तो कभी मिलेगा नहीं। भीतर छिपा है। खोजा ज्ञान को बाहर, तो इनफर्मेशन इकट्ठी हो जाएगी, पंडित हो जाएंगे, पांडित्य हो जाएगा। जानेंगे सब, और कुछ भी न जानेंगे। लगेगा सब जानते हैं, और हाथ में सिवाय शब्दों की राख के कुछ भी न होगा। लगेगा कि सब पता चल गया, और सिवाय शास्त्रों के नीचे दबे हुए जानवर की भांति स्थिति होगी। बोझ ढोएंगे, और कुछ भी नहीं होगा।
सोचा कि मिलेगा बाहर विश्राम, बहुत बड़े महल में मिलेगा। महल बन जाएगा। विश्राम जितना महल बनने के पहले था, उससे भी कम हो जाएगा। क्योंकि महल बनाने में जितने तनाव अर्जित करने पड़ेंगे, वे कहां जाएंगे! महल में नहीं जाएंगे, आप में चले जाएंगे। सोचा कि बहुत धन-दौलत होगी, तब विश्राम करेंगे। तो बहुत धन-दौलत बनाने में जो तनाव लेने पड़ेंगे, वे तनाव कहां जाएंगे? धन-दौलत बाहर इकट्ठी हो जाएगी; तनाव भीतर इकट्ठे हो जाएंगे। जब तक धन-दौलत हाथ में आएगी, तब तक तनाव इतने हो जाएंगे कि किसी मतलब की न रह जाएगी।
यह बड़े मजे की बात है। जिनके पास खाने को नहीं है, उनके पास पेट होता है, जो पचा सकता है। और जिनके पास खाने को है, उनके पास पेट नहीं होता, जो पचा सकता है। जिनके पास गहरी नींद है, उनके पास सिरहाने तकिया नहीं होता। और जिनके पास सुंदर तकिए आ जाते हैं, उनकी नींद खो जाती है। चमत्कार है! मगर ऐसा ही होता है; बिल्कुल ऐसा ही होता है। क्यों ऐसा होता है?
ऐसा होता इसलिए है कि जिसे हम खोजने निकले, वह मार्ग, वह दिशा, वह आयाम गलत था। जिसे हमने खोजा, गलत माध्यम और गलत साधन से खोजा। कोई आदमी तनाव का अभ्यास करके विश्राम को नहीं पा सकता। यह बिल्कुल बेहूदी बात है, एब्सर्ड है, इल्लाजिकल है, तर्कसंगत भी नहीं है। आपका अभ्यास इतना ज्यादा हो जाएगा कि फिर रुकिएगा कैसे?
एक आदमी कहता है कि हमें विश्राम करना है, तो हम पहले सौ मील की दौड़ दौड़ेंगे। फिर तभी तो विश्राम करेंगे, सौ मील के बाद जो वृक्ष है, उसके नीचे विश्राम करेंगे। लेकिन सौ मील तक दौड़ने वाला आदमी अक्सर तो सौ मील के वृक्ष तक पहुंच नहीं पाता, बीच में ही टूटकर मर जाता है। और अगर कभी पहुंच भी जाए, तो दौड़ने की ऐसी आदत मजबूत हो जाती है कि फिर वह वृक्ष के चक्कर लगाता है। वह कहता है, अब बैठें कैसे? पैरों का अभ्यास भारी हो गया, अब बैठते बनता नहीं! अब वह दौड़ता है। जिस वृक्ष की छाया में सोचा था कि पहुंचकर विश्राम करेंगे। अनेक तो पहुंच नहीं पाते, पहले ही टूट जाते हैं। इतना तनाव झेल नहीं पाते। जो पहुंच जाते हैं, वे भी अभागे सिद्ध होते हैं। पहुंचकर वृक्ष का चक्कर लगाते हैं! अभ्यास मजबूत हो गया। अभ्यास को छोड़ना बड़ा कठिन है। अब अभ्यास को हटाओ; अब इस अभ्यास के विपरीत अभ्यास करो।
जिस व्यक्ति ने भी, जिस तरह का संस्कार अर्जित कर लिया, उसे छोड़ना रोज कठिन होता चला जाता है। रोज-रोज कठिन होता चला जाता है। हम सब अपने-अपने अर्जित संस्कारों में ग्रस्त हो जाते हैं। पहले सोचा कि धन मिलेगा, फिर आनंद से मौज करेंगे। लेकिन धन कमाते वक्त मौज पर रोक लगानी पड़ती है, नहीं तो धन इकट्ठा नहीं हो पाएगा। धन कमाना है अगर और बचाना है मौज के लिए, तो कंजूस होना पड़ेगा, कृपण होना पड़ेगा। एक-एक दमड़ी पकड़नी पड़ेगी जोर से।
फिर चालीस-पचास साल दमड़ी पकड़ते-पकड़ते करोड़ इकट्ठे हो जाएंगे। लेकिन
तब तक दमड़ी पकड़ने वाला आदमी भी काफी मजबूत हो जाएगा। और जब करोड़ पास में आएंगे और आपका मन कहेगा कि ठीक, आ गई मंजिल; अब जरा मजा करें। तब वह दमड़ी पकड़ने वाला मन कहेगा, क्या कह रहे हो! प्राण निकल जाएंगे मेरे। एक-एक दमड़ी तो बचाई मैंने।

ये जिंदगी के कंट्राडिक्शंस हैं। अनिवार्य हैं।
मैंने सुना है कि जर्मनी में एक बहुत बड़ा पंडित था। उसने जिंदगी में सारी दुनिया के शास्त्र इकट्ठे किए। बहुत शास्त्र हैं दुनिया में, उसने सारे धर्मों के शास्त्र इकट्ठे किए। उसके मित्रों ने कहा भी कि तुम पढ़ोगे कब? उसने कहा कि पहले मैं सब इकट्ठा कर लूं। क्योंकि मैं पढ़ने में लग जाऊंगा, फिर इकट्ठा कौन करेगा? पहले मैं सब इकट्ठा कर लूं, निश्चिंत होकर ताला बंद करके फिर पढ़ने में लग जाऊंगा।
वह इकट्ठा करता रहा। उसकी लाइब्रेरी बड़ी होती चली गई, बड़ी होती चली गई। कहते हैं, उसके पास इतनी किताबें इकट्ठी हो गईं कि अगर जमीन पर एक के बाद एक किताब रखी जाए, तो एक चक्कर पूरा का पूरा लग जाए पूरी जमीन का। लेकिन यह जब तक घटना घटी, तब तक वह नब्बे साल का हो चुका था।
सब धर्मग्रंथ, सब तरह की साधना पद्धतियों के ग्रंथ उसने इकट्ठे कर लिए। जिस दिन उसके संग्राहकों ने कहा कि अब और कोई किताब बची नहीं धर्म की, तब वह आखिरी सांसें गिन रहा था। उसने आंख खोली और उसने कहा कि अब तो बहुत देर हो गई। मैं पढूंगा कब? इतना करो कि मुझे स्ट्रेचर पर उठाकर मेरी लाइब्रेरी में एक चक्कर लगवा दो। देख तो लूं कम से कम!
वह आदमी जिंदगीभर हिंदुस्तान, तिब्बत और चीन की यात्राएं करता रहा। कहीं भी कोई धर्मग्रंथ हो, सब इकट्ठा कर लो! शिंटो का हो, तिब्बतन हो, चीनी हो--जहां मिले। कहीं दूर खबर मिलती कि अफ्रीका के फलां जंगल की जाति के पास एक किताब है, जो छपी नहीं; तो वहां जाकर अनुलिपि तैयार करवाकर, उतरवाकर, किसी भी तरह वह लाएगा। नब्बे साल बीत गए। मरा, तब उसके पास सिर्फ किताबें थीं। जिनको उसने देखा था, जिनको उसने पढ़ा नहीं था। अक्सर ऐसा होता है। अक्सर ऐसा ही होता है।
कृष्ण कहते हैं, भीतर तू खोज। अभी मिल जाएगा। कल की जरूरत नहीं है। तीन चीजों को तू भीतर खोज ले, आनंद को... ।
कभी आप सोचते हैं कि दुख बाहर से आता है, शांति भीतर से आती है! जब आप शांत होते हैं कभी एक क्षण को, तो आप बता सकते हैं, यह शांति कहां से आई? आप न बता सकेंगे। लेकिन जब आप अशांत होते हैं, तब तो आप पक्का बता सकते हैं न कि अशांति कहां से आई? फलां आदमी ने गाली दी। फलां आदमी ने धक्का मार दिया। दुकान में नुकसान लग गया। लाटरी मिलना पक्की थी, नहीं मिली। कुछ कारण आप बता सकते हैं।
अशांति कहां से आई? आप बता सकते हैं सोर्स, वहां से आई। लेकिन जब भी आप शांत होंगे--कभी हुए ही न हों, तो बात अलग--जब भी आप शांत होंगे, तब आप नहीं बता सकते कि शांति कहां से आती है। इट कम्स फ्राम नो व्हेयर। कहीं से नहीं आती। जब भी आप दुख में होते हैं, तो दुख कहीं से आता है, फ्राम समव्हेअर। और जब आप आनंदमग्न होते हैं, इट कम्स फ्राम नो व्हेयर; वह कहीं से नहीं आता। जब आप आनंद में होते हैं, तब वह कहीं से नहीं आता; आपके भीतर से उठता है और फैलता है। और जब आप दुख में होते हैं, तब वह बाहर से आता है और बादलों की तरह आपको घेरता है।
इस भेद को थोड़ा देखने की कोशिश करेंगे। जैसे-जैसे यह दिखाई पड़ने लगेगा, वैसे-वैसे लगेगा कि अगर आनंद को खोजना है, तो चलो भीतर, गहरे, वहां पहुंच जाओ, जहां कोई दिशा नहीं है। उत्तर-पश्चिम कोई नहीं है जहां। जहां कोई दूसरा नहीं है। जहां बिल्कुल अकेले हैं। जहां स्वयं ही बचे। और आखिर में ऐसी घड़ी आ जाती है कि स्वयं भी नहीं बचते, सिर्फ बचना ही बच रह जाता है। सिर्फ अस्तित्व। सिर्फ धड़कती छाती, चलती श्वास। सिर्फ होना, बीइंग रह जाता है। चलो वहां। और जो भी उसकी एक झलक पा ले, वह कहेगा, सब कुछ भीतर है, बाहर कुछ भी नहीं है।
लेकिन जब तक झलक न मिले, भरोसा नहीं आता। मैं कितना ही कहूं कि तैरने
का बड़ा आनंद है, उतरो पानी में। लेकिन जो कभी पानी में उतरा नहीं और जिसने कभी तैरना जाना नहीं, वह सुनेगा। जब मैं उससे कहूंगा, उतरो पानी में, अगर मैं कूदूं भी उसके सामने, पानी में तैरूं भी, तो उसे तैरने के आनंद का कुछ पता न चलेगा। उसे इतना ही पता चलेगा कि अगर मैं कूदा, तो डूबा और मरा! उसे सिर्फ भय का ही पता चलेगा, मेरे आनंद का नहीं, अपने भय का।

और वह आदमी मुझसे कह सकता है कि मानते हैं आपकी बात। राजी हैं बिल्कुल। उतरेंगे पानी में। लेकिन उतरने के पहले तैरना सिखा दें! स्वभावतः, उसका तर्क दुरुस्त है। कहता है, पहले तैरना सिखा दें, फिर
हम उतरने को राजी हैं। मेरी भी अपनी मजबूरी होगी। मैं कहूंगा, पहले तुम उतरो, तो तैरना सिखाया जा सकता है। नहीं तो तैरना कैसे मैं सिखाऊंगा? गद्दे-तकियों पर तैरना अभी तक भी नहीं सिखाया जा सका है। कुछ लोग कोशिश करते हैं गद्दे-तकियों पर तैरना सीखने की। हाथ-पैर में चोट लग जाएगी, लूले- लंगड़े हो जाएंगे। गद्दे-तकियों पर तैरना नहीं सीखा जाता! असल में तैरना उस खतरे में ही पैदा होता है, जहां जिंदगी को लगता है कि गई, डूबी, मिटी। उसके मिटने के ख्याल से ही ऊर्जा उठती है और व्यवस्थित होती है।
तो आप अगर कहते हों कि पहले थोड़ा आनंद मिलने लगे, तो हम भीतर जाएंगे,
तो यह कभी नहीं होगा। आप भीतर जाएं, तो आनंद मिलेगा। आप कहेंगे, अभी हम कैसे जाएं?
कभी भी क्षणभर को, जब भी मौका मिले, आंख बंद कर लें। क्षणभर को भीतर होने की बात को ख्याल में लें। जब भी मौका मिले, आंख बंद कर लें; थोड़ी देर को भीतर हो जाएं। भूल जाएं बाहर को। भूलते-भूलते भूल जाएंगे। रोज-रोज अगर एक क्षण को भी दस-बीस दफा आंख बंद कर लें--कार में चलते, बस में बैठे, ट्रेन में सफर करते, कुर्सी पर दफ्तर में बैठे--एक क्षण को आंख बंद कर लें। भूल जाएं बाहर को कि नहीं है! मैं ही हूं अकेला। देखने लगें अपनी श्वास को, अपने हृदय की धड़कन को। भीतर उतर जाएं।
धीरे-धीरे-धीरे आपको पता लगेगा, भीतर परम विश्राम है। महीनों की थकान क्षणभर में मिट सकती है भीतर। पहाड़ जैसे दुख, भीतर के जरा सी सुख की किरण के सामने विसर्जित हो जाते हैं। अज्ञान कितना ही जीवन का हो, भीतर प्रकाश की एक जरा सी ज्योति जलती है और अज्ञान एकदम अंधेरे की तरह खो जाता है। लेकिन कोई उपाय नहीं; जाने बिना कोई उपाय नहीं है, गए बिना कोई उपाय नहीं है, उतरे बिना कोई उपाय नहीं है। उतरें।
वही कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि इस जगत में तेरे लिए सुख की राह बन जाएगी। योगी हो जाएगा तू। योग का अर्थ होता है, अपने से जुड़ जाएगा तू। योग का अर्थ है, कम्यूनियन। योग का अर्थ है, एक हो जाना अपने से। और परलोक में मुक्ति तेरी है। और इसे वे कहते हैं, यह सांख्ययोग है। इसे वे कहते हैं, यही सांख्ययोगी का लक्षण है।
सांख्य के संबंध में एक बात ख्याल में ले लें। फिर हम कीर्तन में उतरेंगे। कृष्ण कहते हैं, यही सांख्ययोग है। सांख्य इस पृथ्वी पर ज्ञान की परम कुंजी है, दि मोस्ट सीक्रेट की। सांख्य का आग्रह क्या है? सांख्य की व्यवस्था क्या है? सांख्य क्या कहता है?
सांख्य शब्द का अर्थ होता है, ज्ञान! सांख्य का कहना है, करना कुछ भी नहीं है। करने योग्य कुछ भी नहीं है। करना नहीं है, होना है। करने से जो भी मिलेगा, वह बाहर मिलेगा। न करने से जो भी मिलेगा, वह भीतर मिलेगा! यह तो हमें समझ में आ सकता है। अगर बाहर की दुनिया में कुछ भी पाना है, तो कुछ करना पड़ेगा; धन पाना है, तो कुछ करना पड़ेगा। बिना किए बाहर कुछ भी मिलने वाला नहीं है। कुछ भी पाना है, तो करना पड़ेगा। लेकिन भीतर अगर कुछ पाना है, तो? तो न करना सीखना पड़ेगा। उलटी यात्रा है।
जैसे रात आपको नींद नहीं आती है और बड़ी मुश्किल में पड़े हैं। पूछते हैं, क्या करें? नींद कैसे आए? क्या करें? गलत सवाल पूछते हैं। किसी से पूछना ही मत। और अगर कोई जवाब दे, तो कान पर हाथ रख लेना; सुनना मत। जब आप पूछते हैं, नींद नहीं आती, क्या करें, तो आप गलत सवाल पूछते हैं। क्योंकि आपने कुछ किया कि नींद फिर बिल्कुल नहीं आएगी। करने से नींद की दुश्मनी है। करने से कहीं नींद आई है! करने से तो लगी हुई नींद हो, तो भी टूट जाएगी। करना मत।
कोई अगर कह दे कि भेड़ों को गिनो; एक से लेकर सौ तक गिनती करो; सौ से एक
तक गिनती करो। बस, गए आप! कभी यह नहीं होगा। इससे नींद नहीं आएगी। और अगर कभी आती हुई मालूम पड़ी, तो वह इससे नहीं आएगी। कर-करके थक जाएंगे; थोड़ी देर

में पाएंगे कि नहीं आती; छा.ेडो। तब आ जाएगी। न करने से आएगी। कुछ न करें। पड़े रह जाएं। नींद उतर आती है।
कुछ न करें; पड़े रह जाएं। होश से भरे रहें। ध्यान उतर आता है, ज्ञान उतर आता है। कुछ न करें। एक घड़ीभर के लिए चौबीस घंटे में एक कोने में बैठ जाएं और कुछ न करें। बाहर भी नहीं करें, भीतर भी नहीं करें। बाहर नहीं करना तो बहुत आसान है। हाथ-पैर छोड़कर बैठ गए, तो बाहर नहीं होगा कुछ। मन भीतर करेगा। उसकी आदत है। उसको कभी हमने बिना काम छोड़ा नहीं; उससे काम लेते ही रहते हैं। कुछ न कुछ करेगा वह भीतर। उसको भी कह दें कि काहे को परेशान हो रहा है। मत कर। एक दिन में मानेगा नहीं; दो दिन में नहीं मानेगा। लेकिन आप भी मत मानें। चलते जाएं।
आज नहीं कल, कल नहीं परसों, धीरे-धीरे मन पाएगा कि कोई उत्सुकता नहीं
है आपकी, शिथिल होने लगेगा। कभी-कभी गैप्स आ जाएंगे, खाली जगह आ जाएगी। कुछ नहीं करेगा मन भी। उसी खाली जगह में से अचानक विश्राम, अचानक विश्राम उतर जाएगा। अचानक जैसे कोई बड़ी गहन शांति ने सब तरफ से आपको घेर लिया। भीतर, बाहर, सब तरफ आकाश जैसा विराट कुछ शांत हो गया, ठहर गया। फिर विराम बढ़ने लगेगा। इस विराम में ही ज्ञान भी उतरेगा, इस विराम में आनंद भी उतरेगा। सांख्य कहता है, कुछ करके नहीं पाना है। जो पाना है, वह हमारे भीतर मौजूद है। सदा मौजूद है। है ही। सिर्फ विस्मृत, सिर्फ फारगेटफुलनेस, भूल गए हैं। बस, इससे ज्यादा नहीं है। खोया नहीं, सिर्फ भूल गए हैं। भीतर जाएं, याद आ जाए, स्मरण आ जाए।
लेकिन हम बाहर उलझे हैं, उलझे ही चले जाते हैं। और एक उलझाव दस नए उलझाव बना जाता है। और हम सोचते रहते हैं कि आज नहीं कल जब सब उलझाव सुलझ जाएंगे, तो हम भीतर चले जाएंगे। इस भ्रांत तर्क में जो पड़ा, वह सदा के लिए खो जाता है।
बाहर के उलझाव कभी कम न होंगे, कभी कम न होंगे। एक उलझाव दस निर्मित करता है। दस, सौ निर्मित कर जाते हैं। सौ, हजार निर्मित कर जाते हैं।
आप यह मत सोचना कि हम एक दिन उलझाव हल कर लेंगे। उलझाव हल करने में जो
आप कर रहे हैं, वह हर करना नए उलझाव बनाता चला जाता है। अगर किसी भी दिन आपको ख्याल आ जाए कि इस अंतर्लोक ज्ञान की खोज में निकलना है, तो उलझावों को रहने देना अपनी जगह; उलझावों के बीच ही कभी-कभी भीतर डूबना शुरू कर देना।
लेकिन जैसा मैंने कहा, आदतें खराब हैं। अगर छुट्टी का भी दिन हो-- अंग्रेजी में नाम अच्छा है, हॉली-डे। दिया तो था इसी ख्याल से कि एक दिन आप कुछ न करेंगे। ईसाइयों का ख्याल यही है कि परमात्मा ने भी छः दिन काम किया और सातवें दिन विश्राम किया। रविवार के दिन उसने कोई काम नहीं किया, इसलिए वह हॉली-डे हो गया, पवित्र दिन हो गया।
लेकिन बड़े मजे की बात है कि छुट्टी के दिन ज्यादा काम होता है, जितना बाकी दिन होता है। और अमेरिका में तो एक मजाक चलती है कि एक दिन की छुट्टी के लिए सात दिन विश्राम करना पड़ता है बाद में। इतनी भाग-दौड़ कर लेते हैं लोग छुट्टी के दिन कि फिर सात दिन विश्राम चाहिए। छुट्टी के दिन इतना काम हो जाता है। सबसे ज्यादा एक्सिडेंट छुट्टी के दिन होते हैं। सारे लोग निकल पड़े हैं समुद्र की तरफ! सारे लोग पहाड़ की तरफ, हिल स्टेशन की तरफ! भारी काम चल रहा है। गले से गले में उलझी हुई कारें लाखों की तादाद में दौड़ी जा रही हैं।
बड़े मजे की बात है। जब सारा बाजार ही बीच पर पहुंच जाएगा, तो बीच पर जाने से क्या होगा! वहां सबके सब पहुंच गए! वही सारी दुनिया वहीं खड़ी हो गई! फिर भागे; फिर घर आ गए। फिर वही काम की दुनिया शुरू हो गई!
पवित्र क्षण का या पवित्र दिन का अर्थ है कि उस दिन कुछ मत करना, कुछ करना ही मत। उस दिन पूरे विश्राम में भीतर चले जाना।
पर नहीं; उस दिन सिनेमा देखना है, थिएटर जाना है! टिकटें खरीद ली गई हैं। सारा उपद्रव पहले से तैयार है। पवित्र दिन को अपवित्र करने की पूरी तैयारी पहले से है। तो फिर अंतर में उतरने का समय कब आएगा? कब? फिर शायद कभी न आए। आज से ही, अभी से ही जो थोड़ा-थोड़ा भीतर की तरफ यात्रा करने लगे... ।

तो सांख्य का कहना है कि ज्ञान है आपके पास; वह आपका स्वभाव है। कोई अर्जन नहीं करना है। वह आप हैं ही। सिर्फ जानना है; जागना है; होश से भरना है कि मैं कौन हूं। विश्राम पाने कहीं जाना नहीं है किसी यात्रा पर। जहां खड़े हैं, वहीं मिल जाएगा। एक बार पीछे लौटकर देखना है कि मैं कहां हूं! ज्ञान किसी के हाथ से भीख नहीं मांगनी है। कोई सिखाएगा नहीं ज्ञान। ज्ञान दबा पड़ा है; ऐसे ही जैसे कि हर जमीन के नीचे पानी दबा है। जरा मिट्टी की पर्तों को अलग करना है, और पानी के फव्वारे छूटने लगेंगे।
हां, यह हो सकता है कि कहीं सौ फीट पर है, कहीं पचास फीट पर है, कहीं दस फीट है, कहीं दो फीट पर है। यह फर्क हो सकता है मिट्टी की पर्तों का। क्योंकि सभी लोगों ने अलग-अलग जन्मों में अलग-अलग मिट्टी की पर्तें निर्मित कर ली हैं। लेकिन एक बात सुनिश्चित है, ऐसा कोई जमीन का टुकड़ा नहीं है, जिसके नीचे पानी न दबा हो। कितना ही गहरा हो, एक बात का आश्वासन दिया जा सकता है कि पानी दबा ही है। चट्टान भी आ जाए बीच में, तो कोई हर्ज नहीं; पानी तो नीचे है ही। बीच की पर्त को अलग कर देंगे और जल-स्रोत उपलब्ध हो जाते हैं।
ऐसा ही ज्ञान दबा है भीतर। पर भीतर की यात्रा, दि इनवर्ड जर्नी, कब करेंगे? कैसे करेंगे? जिसने पोस्टपोन किया, वह कभी नहीं करेगा। जिसने कहा, कल करेंगे, अच्छा है कि वह कह दे कि नहीं करेंगे। वह कम से कम सच्चा तो रहेगा। कल नहीं। घर में आग लगी हो, तो कोई नहीं कहता कि कल बुझाएंगे! जिंदगी में लगी है आग, और आप कहते हैं, कल! जिंदगी पूरी जलती हुई है-- दुख, पीड़ा, चिंता, संताप--सब तरफ धुआं और आग है। और आप कहते हैं, कल! तो इसका मतलब यही है कि आपको पता ही नहीं है कि आप क्या कर रहे हैं। और आप ही हैं कि अपनी इस जलती हुई आग में रोज पेट्रोल डाले चले जा रहे हैं, वासनाएं भभकाए चले जा रहे हैं। खुद रोज उसमें पेट्रोल डालते हैं। और जब आग जोर से जलती है, तो कहते हैं कि बड़ी तकलीफ उठा रहा हूं; बड़ी मुश्किल में पड़ा हुआ हूं। रोज अपेक्षा में जीते हैं, फिर दुख आता है, तो कहते हैं कि बड़ी तकलीफ में पड़ा हूं! किसने कहा था, अपेक्षा करो? एक्सपेक्टेशन किया कि दुख आया। रोज वासना से भर रहे हैं और कह रहे हैं कि बड़ा विषाद आता है मन में; बड़ा हारापन लगता है। किसने कहा था?
लाओत्से ने कहा है कि मुझे कोई कभी हरा नहीं सका, क्योंकि हम सदा से हारे ही हुए हैं। हमने कभी जीतने की इच्छा ही न की। हमें कोई हरा ही न सका, क्योंकि जीतने की हमने कभी इच्छा न की। लाओत्से ने कहा है, हमें कभी कोई घर के बाहर न निकाल सका, क्योंकि हम किसी के भी घर गए, तो बाहर ही बैठे, दरवाजे पर ही बैठे। हमने कहा, इसके पहले कि निकालने का मौका आए, हम बाहर ही बैठ जाते हैं। कोई हमें दुख न दे सका, लाओत्से ने कहा है, क्योंकि हमने सुख की कभी किसी से मांग ही न की। कोई हमारा दुश्मन न था इस जमीन पर, क्योंकि हमने कभी किसी को मित्र बनाने की चेष्टा ही न की।
अब यह जो आदमी है, यह जिस विराम, जिस शांति और जिस आनंद को उपलब्ध होगा,
वह सांख्य की स्थिति है।
शेष कल हम बात करेंगे। उठेगा कोई भी नहीं। बैठे रहें। एक भी जन न उठे।
मौन से देखें इस नृत्य को। देखें इसमें परमात्मा की छवि को, चारों तरफ नाचते हुए। शायद कुछ हो सके।

गीता दर्शन, भाग दो
गीता दर्शन अध्याय 5
ग्यारहवां प्रवचन

काम-क्रोध से मुक्ति

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। 25।।
और नाश हो गए हैं सब पाप जिनके, तथा ज्ञान करके निवृत्त हो गया है संशय जिनका और संपूर्ण भूत प्राणियों के हित में है रति जिनकी, एकाग्र हुआ है भगवान के ध्यान में चित्त जिनका, ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शांत परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

पाप से हो गए हैं जो मुक्त, चित्त की वासनाएं जिनकी शांत हुईं, जो स्वयं में एक शांत झील बन गए हैं, वे शांत ब्रह्म को उपलब्ध होते हैं। अर्जुन तो चाहता था केवल पलायन। नहीं सोचा था उसने कि कृष्ण उसे एक अंतर-क्रांति में ले जाने के लिए उत्सुक हो जाएंगे। उलझ गया बेचारा। सोचा था, सहारा मिलेगा भागने में। नहीं सोचा था कि किसी आत्मक्रांति से गुजरना पड़ेगा। उसकी मर्जी जिज्ञासा शुरू करने की इतनी ही थी, इस युद्ध से कैसे बच जाऊं। कोई नए जीवन को उपलब्ध करने की आकांक्षा नहीं है। लेकिन कृष्ण जैसे व्यक्ति के पास कोई पत्थर खोजता हुआ भी जाए, तो भी उनकी मजबूरी है कि वे पत्थर दे नहीं सकते हैं। वे हीरे ही दे सकते हैं। कोई पत्थर खोजता हुआ जाए, तो भी कृष्ण को कोई उपाय नहीं कि पत्थर दें, हीरे ही दे सकते हैं।
जो अर्जुन को कृष्ण ने दिया है, वह अर्जुन ने पूछा नहीं, चाहा नहीं। कठिनाई में पड़ता होगा सुनकर उनकी बातें। ब्रह्म और शांत हुए चित्त का ब्रह्म से तादात्म्य--लगता होगा अर्जुन को, सिर पर से निकल रही हैं बातें। मुझे एक घटना स्मरण आती है। एक साधु-चित्त व्यक्ति वर्षों से एक कारागृह के कैदियों को परिवर्तित करने के लिए श्रम में रत था। वर्षों से लगा था कि कारागृह के कैदी रूपांतरित हो जाएं, ट्रांसफार्म हो जाएं। कोई सफलता मिलती हुई दिखाई नहीं पड़ती थी। पर साधु वही है कि जहां असफलता भी हो, तो भी शुभ के लिए प्रयत्न करता रहे। उसने प्रयत्न जारी रखा था।
एक दिन चार बार सजा पाया हुआ व्यक्ति, चौथी बार सजा पूरी करके घर वापस लौट रहा है। साठ वर्ष उस अपराधी की उम्र हो गई। उस साधु ने उसे द्वार पर जेलखाने के विदा देते समय पूछा कि अब तुम्हारे क्या इरादे हैं? आगे की क्या योजना है? उस बूढ़े अपराधी ने कहा, अब दूर गांव में मेरी लड़की का एक बड़ा बगीचा है अंगूरों का। अब तो वहीं जाकर अंगूरों के उस बगीचे में ही मेहनत करनी है, विश्राम करना है।
साधु बहुत प्रसन्न हुआ, खुशी से नाचने लगा। उसने कहा कि मुझे कुछ दिन
से लग रहा था, यू आर रिफार्मिंग; कुछ तुम्हारे भीतर बदल रहा है। उस कैदी ने चौंककर रहा, हू सेज एनीथिंग अबाउट रिफार्मिंग? आई एम जस्ट रिटायरिंग! किसने तुमसे कहा कि मैं बदल रहा हूं? मैं सिर्फ रिटायर हो रहा हूं। किसने कहा कि मैं बदल रहा हूं, मैं सिर्फ थक गया हूं और अब विश्राम को जा रहा हूं! अर्जुन रिटायर होना चाहता था; कृष्ण रिफार्म करना चाहते हैं। अर्जुन चाहता था, सिर्फ बच निकले! कृष्ण उसकी पूरी जीवन ऊर्जा को नई दिशा दे देना चाहते हैं।
और दो ही प्रकार के मार्ग हैं जीवन ऊर्जा के लिए। एक तो मार्ग है कि हम अशांति के जालों को निर्मित करते चले जाएं, जैसा कि हम सब करते हैं। अशांति की भी अपनी विधि है। पागलपन की भी अपनी विधि होती है। बीमार होने के भी अपने उपाय होते हैं। चित्त को रुग्ण करना और विक्षिप्त करना भी बड़ा सुनियोजित काम है! पता नहीं चलता हमें, क्योंकि बचपन से जिस समाज में हम बड़े होते हैं, वहां चारों तरफ हमारे जैसे ही लोग हैं। जो भी हम करते हैं, बिना इस बात को सोचे-समझे कि जो भी हम कर रहे हैं, वह हमें भी बदल जाएगा। कोई भी कृत्य करने वाले को अछूता नहीं छोड़ता है। विचार भी करने वाले
को अछूता नहीं छोड़ता है। अगर आप घंटेभर बैठकर किसी की हत्या का विचार कर

रहे हैं, माना कि अपने कोई हत्या नहीं की, घंटेभर बाद विचार के बाहर हो जाएंगे। लेकिन घंटेभर तक हत्या के विचार ने आपको पतित किया, आप नीचे गिरे। आपकी चेतना नीचे उतरी। और आपके लिए हत्या करना अब ज्यादा आसान होगा, जितना घंटेभर के पहले था। आपकी हत्या करने की संभावना विकसित हो गई। अगर आप मन में किसी पर क्रोध कर रहे हैं, नहीं किया क्रोध तो भी, तो भी आपके अशांत होने के बीज आपने बो दिए, जो कभी भी अंकुरित हो सकते हैं।
हमारी कठिनाई यही है कि मनुष्य की चेतना में जो बीज हम आज बोते हैं, कभी-कभी हम भूल ही जाते हैं कि हमने ये बीज बोए थे। जब उनके फल आते हैं, तो इतना फासला मालूम पड़ता है दोनों स्थितियों में कि हम कभी जोड़ नहीं पाते कि फल और बीज का कोई जोड़ है।
जो भी हमारे जीवन में घटित होता है, उसे हमने बोया है। हो सकता है, कितनी ही देर हो गई हो किसान को अनाज डाले, छः महीने बाद आया हो अंकुर, सालभर बाद आया हो अंकुर, लेकिन अंकुर बिना बीज के नहीं आता है।
हम अशांति को उपलब्ध होते चले जाते हैं। जितनी अशांति बढ़ती जाती है, उतना ही ब्रह्म से संबंध क्षीण मालूम पड़ता है; क्योंकि ब्रह्म से केवल वे ही संबंधित हो सकते हैं, जो परम शांत हैं। शांति ब्रह्म और स्वयं के बीच सेतु है। जैसे ही कोई शांत हुआ, वैसे ही ब्रह्म के साथ एक हुआ। जैसे ही अशांत हुआ कि मुंह मुड़ गया।
अशांत चित्त संसार से संबंधित हो सकता है। शांत चित्त संसार से संबंधित नहीं हो पाता। अशांत चित्त परमात्मा से संबंधित नहीं हो पाता। शांत चित्त परमात्मा में विराजमान हो जाता है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं, पाप जिनके क्षीण हुए!
क्या है पाप? जब भी हम किसी दूसरे को दुख पहुंचाना चाहते हैं, विचार में या कृत्य में, तभी पाप घटित हो जाता है। जो व्यक्ति दूसरे को दुख पहुंचाना चाहता है, कृत्य में या भाव में, वह पाप में ग्रसित हो जाता है। जो व्यक्ति इस पृथ्वी पर किसी को भी दुख नहीं पहुंचाना चाहता, कृत्य में या विचार में, वह पाप के बाहर हो जाता है।
बुद्धि हुई जिनकी निःसंशय!
जिनकी बुद्धि निःसंशय हो गई, सम हो गई, समान हो गई; ठहर गए जो; जिनके भीतर कोई संशय की हवाएं अब नहीं बहतीं; कोई तूफान, आंधियां नहीं उठतीं संशय की; निःसंशय होकर सम हो गए हैं।
हममें से बहुत-से लोग समझते हैं कि समता में रहते हैं। जब हमें लगता
है कि हम समता में भी हैं--तब भी--तब भी हम समता में होते नहीं। हमारी समता करीब-करीब वैसी होती है, जैसा एक दिन एक अदालत में लोगों को पता चला। मजिस्ट्रेट सुबह-सुबह आया और उसने अदालत में खड़े होकर कहा कि जैसा कि
आप सब जानते हैं--जूरी, वकील, और अदालत के सारे लोग--कि मैं सदा ही न्याय और समता में प्रतिष्ठित रहता हूं। आज तक मैंने कभी किसी का पक्ष नहीं लिया। कानून एकमात्र मेरी दृष्टि है। लेकिन आज जिस मुकदमे का मुझे फैसला करना है, उस मुकदमे के एक पक्ष ने कल रात मेरे घर एक लिफाफा भेजा, उसमें चार हजार रुपए भेजे। उसके आधी घड़ी बाद दूसरे पक्ष ने भी एक लिफाफा भेजा और उसमें पांच हजार रुपए भेजे। अब मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं। लेकिन जैसा कि मेरी सदा की आदत है, मैं कोई समता का मार्ग निकाल लेता हूं। वह मैंने निकाल लिया है। जिसने पांच हजार भेजे हैं, वह हजार रुपए वापस ले जाए। चार-चार हजार दोनों के बराबर रह गए। अब समता से अदालत का काम आगे चल सकता है! हमारी समताएं ऐसी ही हैं। अगर हम दूसरे दो व्यक्तियों के प्रति समता
भी रख लें, तो भी अपने प्रति और दूसरों के बीच समता नहीं रख पाते। असली समता दूसरे दो व्यक्तियों के बीच निर्मित नहीं होती, अपने और दूसरे के बीच निर्मित होती है!
उस मजिस्ट्रेट ने ठीक कहा। जहां तक दोनों पक्षों का सवाल है, बात समान
हो गई। दोनों के चार-चार हजार रिश्वत में मिल गए। अब बात शुरू हो सकती है, जैसे कि न मिले हों। चार हजार ने चार हजार काट दिए। लेकिन जहां तक मजिस्ट्रेट का संबंध है, उसके पास आठ हजार रुपए हो गए। समता उसने दो अन्यों के बीच में खोज ली, अपने और अन्य के बीच में नहीं।

गहरी समता दो के बीच नहीं होती। गहरी समता सदा अपने और दूसरे के बीच होती है। दूसरे के बीच तटस्थ हो जाना बहुत आसान है। बहुत आसान है। सवाल तो तब उठते हैं, जब अपने और दूसरे के बीच तटस्थ होने की बात उठती है। बर्ट्रेंड रसेल ने पंडित नेहरू की बहुत गहरी आलोचना की है, कीमती आलोचना की है। कहा है कि जब तक दूसरे दो मुल्कों के बीच झगड़े थे, पंडित नेहरू सदा तटस्थता की बात करते रहे। लेकिन जब वे खुद, उनका राष्ट्र किसी मुल्क के साथ झगड़े में पड़ा, तब सारी तटस्थता खो गई। तब उन्होंने वही काम किया, जो उस मजिस्ट्रेट ने किया। आसान है सदा।
दो लोग लड़ रहे हों रास्ते पर, आप किनारे खड़े होकर कह सकते हैं कि हम तटस्थ हैं, न्यूट्रल हैं, हम किसी के पक्ष में नहीं हैं। असली सवाल तो यह है कि जब कोई आपकी छाती पर छुरा लेकर खड़ा हो जाए, तब आप तटस्थ रह पाएं। समता दो के बीच नहीं, अपने और अन्य के बीच समता है। और निःसंशय, शांत,
सम वही होता है, जो अपने प्रति भी तटस्थ हो जाता है; जो अपने प्रति भी साक्षी हो जाता है; जो अपने को भी अन्य की भांति देखने लगता है।
अगर आपने मुझे गाली दी और मैंने गाली सुनी, और इस गाली की घटना में दो
ही व्यक्ति रहे, आप देने वाले और मैं सुनने वाला, तो तटस्थता निर्मित न हो पाएगी। तटस्थता तब निर्मित होगी, जब मैं जानूं कि आपने मुझे गाली दी, तीन व्यक्ति हैं यहां, एक गाली देने वाला, एक गाली सुनने वाला, और एक मैं--दोनों से भिन्न, दोनों के पार--तब तटस्थता निर्मित हो पाएगी।
तटस्थ केवल वे ही हो सकते हैं, जो द्वंद्व के बाहर तीसरे बिंदु पर खड़े
हो जाते हैं; जो द्वंद्वातीत हैं।
ध्यान रहे, द्वंद्व के जो बाहर है, वह शांत है। द्वंद्व के भीतर जो है,
वह अशांत है। दो के बीच जो चुनाव कर रहा है, वह अशांत है। दो के बीच जो च्वाइसलेस अवेयरनेस को--कृष्णमूर्ति कहते हैं जिस शब्द को बार-बार--कि जो चुनावरहित, विकल्परहित चैतन्य को उपलब्ध हो गया है, वैसा व्यक्ति शांत हो जाता है।
ऐसे शांत व्यक्ति का शांत ब्रह्म से संबंध निर्मित होता है। ऐसी शांति ही मंदिर है, तीर्थ है। जो ऐसी शांति में प्रवेश करता है, उसके लिए प्रभु के द्वार खुल जाते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। 26।।
और काम-क्रोध से रहित, जीते हुए चित्त वाले परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किए हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए, सब ओर से शांत परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।

काम और क्रोध के बाहर हुए पुरुष को सब ओर से परमात्मा ही प्राप्त है। काम और क्रोध से मुक्त हुई चेतना को!
काम के संबंध में सदा ऐसे लगता है कि मैं कभी-कभी कामी होता हूं, सदा नहीं। क्रोध के संबंध में भी ऐसा लगता है कि मैं कभी-कभी क्रोधी होता हूं, सदा नहीं। इससे बहुत ही भ्रांत निर्णय हम अपने बाबत लेते हैं। स्वभावतः, यह निर्णय बहुत स्टेटिस्टिकल है। अंकगणित इसका समर्थन करता है।
चौबीस घंटे में आप चौबीस घंटे क्रोध में नहीं होते। चौबीस घंटे में कभी किसी क्षण क्रोध आता है, फिर क्रोध चला जाता है। स्वभावतः, हम सोचते हैं कि जब क्रोध नहीं रहता, तब तो हम अक्रोधी हो जाते हैं। ऐसा ही काम भी कभी आता है चौबीस घंटे में; वासना कभी पकड़ती है। फिर हम दूसरे काम में लीन हो जाते हैं, और खो जाती है। तो मन को ऐसा लगता है कि कभी-कभी वासना होती है, बाकी तो हम निर्वासना में ही होते हैं। दो-चार क्षणों के लिए वासना पकड़ती है, बाकी चौबीस घंटे तो हम वासना के बाहर हैं। क्षण दो क्षण को क्रोध पकड़ता है, वैसे तो हम अक्रोधी हैं। लेकिन इस भ्रांति को समझ लेना। यह बहुत खतरनाक भ्रांति है।

जो आदमी चौबीस घंटे क्रोध की अंडर करेंट, अंतर्धारा में नहीं है, वह क्षणभर को भी क्रोध नहीं कर सकता है। और जो आदमी चौबीस घंटे काम से भीतर घिरा हुआ नहीं है, वह क्षणभर को भी कामवासना में ग्रसित नहीं हो सकता है। हमारी स्थिति ऐसी है, जैसे एक कुआं है। जब हम बाल्टी डालते हैं, पानी बाहर निकल आता है। कुआं सोच सकता है कि पानी मुझ में नहीं है। कभी-कभी चौबीस घंटे में जब कोई बाल्टी डालता है, तो क्षणभर को निकल आता है। लेकिन अगर कुएं में पानी न हो, तो क्षणभर को बाल्टी डालने से निकलेगा नहीं। सूखे कुएं में बाल्टी डालें और प्रयोग करें, तो पता चलेगा। बाल्टी खाली लौट आती है। चौबीस घंटे कुएं से कोई पानी नहीं भरता। जितनी देर भरता है, कुएं को लगता होगा कि पानी है। और जब कोई नहीं भरता, तब कुएं को लगता होगा कि पानी नहीं है।
जब कोई आपको गाली देता है, तो क्रोध निकल आता। जब कोई गाली नहीं देता,
तो क्रोध नहीं निकलता। गाली सिर्फ बाल्टी का काम करती है। क्रोध आप में चौबीस घंटे भरा हुआ है।
जब कोई विषय, वासना का कोई आकर्षक बिंदु आपके आस-पास घूम आता है, तब आप एकदम आकर्षित हो जाते हैं। बाल्टी पड़ गई; वासना बाहर आ गई!
सुंदर स्त्री पास से निकली, सुंदर पुरुष पास से निकला, कि सुंदर कार गुजरी, कुछ भी हुआ, जिसने मन को खींचा। वासना बाहर निकल आई। आप सोचते हैं, कभी-कभी आ जाती है। यह कोई बीमारी नहीं है। एक्सिडेंट है। कभी-कभी हो जाती है। घटना है, कोई स्वभाव नहीं है।
लेकिन सूखे कुएं में जैसे बाल्टी डालने से कुछ भी नहीं निकलता, ऐसे ही जिनके भीतर वासना से मुक्ति हो गई है, कुछ भी डालने से वासना नहीं निकलती है।
तो पहली तो यह भ्रांति छोड़ देना जरूरी है, तो ही इस सूत्र को समझ पाएंगे, काम-क्रोध से मुक्त! नहीं तो सभी लोग समझते हैं कि हम तो मुक्त हैं ही। कभी-कभी स्थितियां मजबूर कर देती हैं, इसलिए क्रोध से भर जाते हैं! जो जानते हैं, वे कहेंगे, एक क्षण को भी क्रोध से भर जाते हों, तो जानना कि सदा क्रोध से भरे हुए हैं। एक क्षण को भी वासना पकड़ती हो, तो जानना कि सदा वासना से भरे हुए हैं। उस एक क्षण को एक क्षण मत मान लेना, नहीं तो एक क्षण के मुकाबले सैकड़ों घंटे वासनारहित मालूम पड़ेंगे और आपको भ्रम पैदा होगा अपने बाबत कि मैं तो वासना से मुक्त ही हूं। और हर आदमी इस जगत में जो सबसे बड़ा धोखा दे सकता है, वह अपनी ही गलत इमेज, अपनी ही गलत प्रतिमा बनाकर दे पाता है।
हम सब अपनी गलत प्रतिमाएं बनाए रखते हैं। और जो प्रतिमा हम बना लेते हैं, उसके लिए जस्टीफिकेशंस खोजते रहते हैं।
अरस्तू ने कहा है कि आदमी बुद्धिमान प्राणी है। रेशनल एनिमल कहा है। लेकिन अब? अब जो जानते हैं, वे कहते हैं, आदमी रेशनल एनिमल है, यह कहना तो मुश्किल है; रेशनलाइजिंग एनिमल है। बुद्धिमान तो नहीं मालूम पड़ता, लेकिन हर चीज को बुद्धिमानी के ढंग से बताने की चेष्टा में रत जरूर रहता है। हर चीज को बुद्धियुक्त ठहरा लेता है।
एक आदमी एक मनोचिकित्सक के पास गया है और उसने जाकर उसको कहा कि मैं बहुत परेशान हूं। मुझे कुछ सहायता करें। क्या आप सोचते हैं, यह कुछ गलत बात है कि कोई आदमी किसी जानवर को प्रेम करने लगे? मनोवैज्ञानिक ने कहा, इसमें कोई गलती नहीं है। सैकड़ों लोग जानवरों को प्रेम करते हैं। मैं खुद ही मेरे कुत्ते को प्रेम करता हूं।
वह आदमी कुर्सी पर आगे झुककर बैठा था। अब आराम से कुर्सी पर बैठ गया। रेशनलाइजेशन मिल गया उसे। जानवर को प्रेम करने में कोई बात नहीं है। जब मनोवैज्ञानिक खुद प्रेम करता है, तो हम तो साधारण आदमी हैं। पर उसने पूछा कि फिर भी एक बात मैं पूछना चाहता हूं, यह प्रेम साधारण नहीं है; बहुत रोमांटिक हो गया है, रूमानी हो गया है। मनोवैज्ञानिक ने कहा, मैं समझा नहीं! तुम्हारा क्या मतलब? उसने कहा, यह प्रेम ऐसा हो गया है कि उस जानवर को दिन में दो-चार-दस दफे देखे बिना मुझे बड़ी बेचैनी रहती है। उस जानवर की तस्वीर मैं अपने हृदय के पास रखता हूं।

तब जरा मनोवैज्ञानिक भी चौंका। उसने कहा कि यह जरा सीमा से बाहर चले जाना है। एबनार्मल है। यह थोड़ा असाधारण हो गया है। फिर भी मैं जानना चाहूंगा कि वह जानवर कौन है?
उस आदमी ने अपनी छाती के पास के खीसे से एक तस्वीर निकाली। ठीक वैसे
ही जैसे अगर मजनू लैला की तस्वीर निकालता, या रोमियो जूलियट की तस्वीर निकालता, या फरिहाद शीरी की तस्वीर निकालता, वैसे ही रोमांच, मंत्रमुग्ध! हैरान हुआ मनोवैज्ञानिक भी कि कौन-सा जानवर है! हाथ में तस्वीर देखी, तो एक घोड़े की तस्वीर है।
उस मनोवैज्ञानिक ने कहा, आप घोड़े के प्रेम में पड़ गए हैं! उस आदमी ने कहा, क्या तुम मुझे पागल समझते हो? यह घोड़ा नहीं है। उस मनोवैज्ञानिक ने कहा, तस्वीर तो घोड़े की है! उस आदमी ने कहा, मैं और घोड़े को प्रेम करूं! यह घोड़ा नहीं है, घोड़ी है। मैं कोई पागल हूं!
अब यह जो आदमी है, उस सीमा पर भी रेशनलाइजेशन खोज रहा है। वह यह खोज रहा है कि घोड़े को जो प्रेम करे, वह पागल। घोड़ी को करे, तो उतना पागल नहीं है। विपरीत लिंगीय, हेट्रो-सेक्सुअल है, इसलिए उतना पागल नहीं है!
अगर मनोवैज्ञानिक के दफ्तर में बैठ जाएं, तो दिनभर ऐसे लोग आते हुए मालूम पड़ेंगे, जो रेशनलाइजेशन की तलाश में आए हुए हैं। इस तलाश में आए हुए हैं कि किसी तरह कोई सिद्ध कर दे कि वे ठीक हैं; ज्यादा गलत नहीं हैं। हम सब... ।
जब आप क्रोध करते हैं, तो ख्याल करना, सच में ही क्रोध करने योग्य कारण होता है या क्रोध आपको करना होता है, इसलिए कारण खोजते हैं? क्रोध करने योग्य कारण शायद ही जिंदगी में मौजूद होते हैं। और क्रोध करने योग्य कारण उन्हें ही मिल सकते हैं, जो अकारण क्रोध नहीं करते हैं। लेकिन हम कारण खोजते हैं।
छोटे-छोटे बच्चे भी जानते हैं कि अगर माता और पिता में कोई झगड़ा हो गया है, तो आज उनकी पिटाई हो जाएगी। कोई भी कारण मिल जाएगा। वे उस दिन जरा मां से सचेत, दूर रहेंगे। ऐसा नहीं है, कल भी यही था। कल भी वे स्कूल से लौटे थे, तो किताब फट गई थी। और कल भी स्कूल से आए थे, तो कपड़े गंदे हो गए थे। और कल भी पड़ोस के गंदे लड़के के साथ खेल खेला था। कल पिटाई नहीं हुई थी; आज हो जाएगी। क्यों? कल सब कारण मौजूद थे, पिटाई नहीं हुई थी। आज भी वही कारण है, कोई फर्क नहीं पड़ गया है, लेकिन पिटाई हो जाएगी। क्योंकि मां तैयार है। कोई भी कारण खोजेगी।
क्रोध के कारण होते कम, खोजे ज्यादा जाते हैं। और हमारे भीतर क्रोध इकट्ठा होता रहता है पीरियाडिकल। अगर आप अपनी डायरी रखें, तो बहुत हैरान हो जाएंगे। आप डायरी रखें कि ठीक कल आपने कब क्रोध किया; परसों कब क्रोध किया। एक छः महीने की डायरी रखें और ग्राफ बनाएं। तब आप बहुत हैरान हो जाएंगे। आप प्रेडिक्ट कर सकते हैं कि कल कितने बजे आप क्रोध करेंगे। करीब-करीब पीरियाडिकल दौड़ता है। आप अपनी कामवासना की डायरी रखें, तो आप बराबर प्रेडिक्ट कर सकते हैं कि किस दिन, किस रात, आपके मन को कामवासना पकड़ लेगी। शक्ति रोज इकट्ठी करते चले जाते हैं आप, फिर मौका पाकर वह फूटती है। अगर मौका न मिले, तो मौका बनाकर फूटती है। और अगर बिल्कुल मौका न मिले, तो फ्रस्ट्रेशन में बदल जाती है। भीतर बड़े विषाद और पीड़ा में बदल जाती है। क्रोध और काम हमारी स्थितियां हैं, घटनाएं नहीं। चौबीस घंटे हम उनके साथ हैं। इसे जो स्वीकार कर ले, उसकी जिंदगी में बदलाहट आ सकती है। जो ऐसा समझे कि कभी-कभी क्रोध होता है, वह अपने से बचाव कर रहा है। वह खुद को समझाने के लिए धोखेधड़ी के उपाय कर रहा है। जो स्वीकार कर ले, वह बच सकता है।
फ्रेडरिक महान ने अपनी डायरी में एक संस्मरण लिखा है। लिखा है उसने
कि मैं अपनी राजधानी के बड़े कारागृह में गया। सम्राट स्वयं आ रहा है, स्वभावतः हर अपराधी ने उसके पैर पकड़े, हाथ जोड़े और कहा कि अपराध हमने बिल्कुल नहीं किया है। यह तो कुछ शरारती लोगों ने हमें फंसा दिया। किसी ने कहा कि हम तो होश में ही न थे, हमसे करवा लिया किन्हीं शड्यंत्रकारियों ने। किन्हीं ने कहा कि यह सिर्फ कानून--हम गरीब थे, हम बचा न सके अपने को;

बड़ा वकील न कर सके, इसलिए हम फंस गए हैं। अमीर आदमी थे हमारे खिलाफ, वे तो बच गए, और हम सजा काट रहे हैं।
पूरे जेल में सैकड़ों अपराधियों के पास फ्रेडरिक गया। हरेक ने कहा कि उससे ज्यादा निर्दोष आदमी खोजना मुश्किल है! अंततः सिर्फ एक आदमी सिर झुकाए बैठा था। फ्रेडरिक ने कहा, तुम्हें कुछ नहीं कहना है? उस आदमी ने कहा कि माफ करें! मैं बहुत अपराधी आदमी हूं। जो भी मैंने किया है, सजा मुझे उससे कम मिली है।
फ्रेडरिक ने अपने जेलर को कहा, इस आदमी को इसी वक्त जेल से मुक्त कर दो; कहीं ऐसा न हो कि बाकी निर्दोष और भले लोग इसके साथ रहकर बिगड़ जाएं! इसे फौरन जेल के बाहर कर दो। कहीं ऐसा न हो कि बाकी इनोसेंट लोग, बाकी पूरा जेलखाना तो निर्दोष लोगों से भरा हुआ है, कहीं इसके साथ रहकर वे बिगड़ न जाएं, इसे इसी वक्त मुक्त कर दो।
वह आदमी बहुत हैरान हुआ। उसने कहा कि आप क्या कह रहे हैं? मैं अपराधी हूं। फ्रेडरिक महान ने कहा कि कोई आदमी अपने अपराध को स्वीकार कर ले, इससे बड़ी निर्दोषता, इससे बड़ी इनोसेंस और कोई भी नहीं है। तुम बाहर जाओ। परमात्मा के जगत में भी केवल वे ही लोग संसार के बाहर जा पाते हैं, जो अपनी वास्तविक स्थिति को स्वीकार करने में समर्थ हैं। अपने को जो धोखा देगा, देता रहे। परमात्मा को धोखा नहीं दिया जा सकता है।
काम और क्रोध हमारे पास चौबीस घंटे मौजूद हैं। उनकी अंतर्धारा बह रही है। जैसे नील नदी बहती है सैकड़ों मील तक जमीन के नीचे, खो जाती है। पता ही नहीं चलता, कहां गई! नीचे बहती रहती है। लेकिन बहती रहती है। ऐसे ही चौबीस घंटे नदी आपके क्रोध की, काम की, नीचे बहती रहती है। जरा भीतर डुबकी लेंगे, तो फौरन पाएंगे कि मौजूद है। कभी-कभी उभरकर दिखती है, नहीं तो अंडरग्राउंड है। जमीन के अंदर चलती रहती है। जब प्रकट होती है, उसको आप मत समझना कि यही क्रोध है। अगर उतना ही क्रोध होता, तो हर आदमी मुक्त हो सकता था। वह तो सिर्फ क्रोध की एक झलक है। जब प्रकट होती है, तब मत समझना कि इतना ही काम है। उतना ही काम होता, तो बच्चों का खेल था। भीतर बड़ी अंतर्धारा बह रही है। कृष्ण कहते हैं, इन दोनों से जो मुक्त हो जाता है, इनके जो पार हो जाता है, वही केवल शांत ब्रह्म को उपलब्ध होता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्च्रुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ।। 27।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। 28।।
और हे अर्जुन! बाहर के विषय भोगों को न चिंतन करता हुआ बाहर ही त्यागकर और नेत्रों को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके जीती हुई हैं इंद्रियां, मन और बुद्धि जिसकी, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा मुक्त ही है।

इस सूत्र में कृष्ण ने विधि बताई है। कहा पहले सूत्र में, काम-क्रोध
से जो मुक्त है! इस सूत्र में काम-क्रोध से मुक्त होने की वैज्ञानिक विधि की बात कही है। इसे और भी ठीक से समझ लेना जरूरी है।
इतना जानना पर्याप्त नहीं है कि काम-क्रोध से मुक्त हो जाएंगे, तो ब्रह्म में प्रवेश मिल जाएगा। इतना हम सब शायद जानते ही हैं। कैसे मुक्त हो जाएंगे? मेथडॉलाजी क्या है? विधि क्या है? वही महत्वपूर्ण है।
कृष्ण ने कहीं तीन बातें। एक, दोनों आंखों के ऊपर भ्रू-मध्य में, भृकुटी के बीच ध्यान को जो एकाग्र करे। दूसरा, नासिका से जाते हुए श्वास और आते हुए श्वास को जो सम कर ले; इन दोनों का जहां मिलन हो जाए। ध्यान हो भृकुटी मध्य में; श्वास हो जाए सम; जिस क्षण यह घटना घटती है, उसी क्षण व्यक्ति, वह जो क्रोध और काम की अंतर्धारा है, उसके पार निकल जाता है।
इसे थोड़ा समझना होगा।

हम सब जानते हैं कि हमारे शरीर के पास इंद्रियां हैं, जो बाहर के जगत
से संबंध बनाती हैं। इंद्रियां न हों, संबंध छूट जाता है। आंख है। आंख न हो, तो प्रकाशित जगत से संबंध छूट जाता है। आंख के न होने से प्रकाश नहीं खोता, लेकिन प्रकाश दिखाई पड़ना बंद हो जाता है। कान न हो, तो ध्वनि का लोक तिरोहित हो जाता है। नाक न हो, तो गंध का जगत नहीं है। इंद्रियां हमारी बाहर के जगत से हमें जोड़ती हैं।
सात इंद्रियां हैं। साधारणतः पांच इंद्रियों की बात होती है। लेकिन
दो इंद्रियां, साधारणतः उनकी बात नहीं होती, लेकिन अब विज्ञान स्वीकार करता है। जिन दिनों पांच इंद्रियों की बात होती थी, उन दिनों दो इंद्रियों का ठीक-ठीक बोध नहीं था। कुछ, जिन्हें समझ में और गहरी बात आई थी, उन्होंने छः इंद्रियों की बात की थी। लेकिन सात इंद्रियों की बात, पिछले पचास वर्षों में विज्ञान ने एक नई इंद्रिय को खोजा, तब से शुरू हुई। सात ही इंद्रियां हैं।
हमारे कान में दो इंद्रियां हैं, एक नहीं। कान सुनता भी है, और कान में
वह हिस्सा भी है, जो शरीर को संतुलित रखता है, बैलेंस रखता है। वह एक गुप्त इंद्रिय है, जो कान में छिपी हुई है। इसलिए अगर कोई जोर से आपके कान पर चांटा मार दे, तो आप चक्कर खाकर गिर जाएंगे। वह चक्कर खाकर आप इसलिए गिरते हैं कि जो इंद्रिय आपके शरीर के संतुलन को सम्हालती है, वह डगमगा जाती है। अगर आप जोर से चक्कर लगाएं, तो चक्कर खत्म हो जाएगा, फिर भी भीतर ऐसा लगेगा कि चक्कर लग रहे हैं। क्योंकि वह जो कान की इंद्रिय है, इतनी सक्रिय हो जाती है। शराबी जब सड़क पर डांवाडोल चलने लगता है, तो और किसी कारण से नहीं। शराब कान की उस इंद्रिय को प्रभावित कर देती है और उसके पैरों का संतुलन खो जाता है। कान में दो इंद्रियों का निवास है।
छठवीं इंद्रिय का ख्याल तो बहुत पहले भी आ गया था--अंतःकरण, हृदय। साधारणतः हम सबको पता है, ऐसा आदमी आप न खोज पाएंगे, जो कहे कि मुझे प्रेम हो गया है किसी से और सिर पर हाथ रखे। ऐसा आदमी खोजना बहुत मुश्किल है। जब भी कोई प्रेम की बात करेगा, तो हृदय पर हाथ रखेगा। और यह भी आश्चर्य की बात है कि सारी जमीन पर, दुनिया के किसी भी कोने में एक ही जगह हाथ रखा जाएगा। भाषाएं अलग हैं, संस्कृतियां अलग हैं। किसी का एक-दूसरे से परिचय भी नहीं था, तब भी कहीं अनजाना ख्याल होता है कि हृदय के पास कोई जगह है, जहां से भाव का संवेदन है।
ऐसी सात इंद्रियां हैं--पांच, एक भाव-इंद्रिय, और एक कान के भीतर संतुलन की इंद्रिय। ये सात इंद्रियां हमें बाहर के जगत से जोड़ती हैं। इनमें से कोई भी इंद्रिय नष्ट हो जाए, तो बाहर से हमारा उतना संबंध टूट जाता है। नष्ट न भी हो, आवृत हो जाए, तो भी संबंध टूट जाता है। मेरी आंख बिल्कुल ठीक है, लेकिन मैं बंद कर लूं, तो भी संबंध टूट जाता है।
जैसे सात इंद्रियां बाहर के जगत से संबंधित होने के लिए हैं, यह मैंने जानकर आपसे कहा। ठीक वैसे ही सात केंद्र या सात इंद्रियां अंतर्जगत से संबंधित होने के लिए हैं। योग उन्हें चक्र कहता है। वे सात चक्र, ठीक इन सात इंद्रियों की तरह अंतर्जगत के द्वार हैं। कृष्ण ने उनमें से सबसे महत्वपूर्ण चक्र, जो अर्जुन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो सकता था, उसकी बात इस सूत्र में कही है। कहा है कि दोनों आंखों के मध्य में, माथे के बीच में ध्यान को केंद्रित कर।
माथे के बीच में जो चक्र है, योग की दृष्टि से, योग के नामानुसार, उसका नाम है, आज्ञा-चक्र। वह संकल्प का और विल का केंद्र है। जिस व्यक्ति को भी अपने जीवन में संकल्प लाना है, उसे उस चक्र पर ध्यान करने से संकल्प की गति शुरू हो जाती है। संकल्प डायनेमिक हो जाता है, गतिमान हो जाता है। इस चक्र पर ध्यान करने वाले व्यक्ति की संकल्प की शक्ति अपराजेय हो जाती है। कृष्ण ने जानकर अर्जुन से कहा है। यह विशेषकर अर्जुन के लिए कहा गया सूत्र है। क्योंकि क्षत्रिय के लिए ध्यान आज्ञा-चक्र पर ही करने की व्यवस्था है। क्षत्रिय की सारी जीवन-धारणा संकल्प की धारणा है। वही उसका सर्वाधिक विकसित हिस्सा है। उस पर ही वह ध्यान कर सकता है। इस चक्र पर ध्यान करने से क्या होगा? एक बात और ख्याल में ले लें, तो समझ में आ सकेगी।

आपके घर में आग लग गई हो। अभी कोई खबर देने आ जाए कि घर में आग लग गई।
आप भागेंगे। रास्ते पर कोई नमस्कार करेगा, आपकी आंख बराबर देखेगी; फिर भी, फिर भी आप नहीं देख पाएंगे। और कल वह आदमी मिलेगा और कहेगा कि कल क्या हो गया था; बदहवास भागे जाते थे! नमस्कार की, उत्तर भी न दिया! आप कहेंगे, मुझे कुछ होश नहीं। मैं देख नहीं पाया। वह आदमी कहेगा, आंख आपकी बिल्कुल मुझे देख रही थी। मैं बिल्कुल आंख के सामने था। आप कहेंगे, जरूर आप आंख के सामने रहे होंगे। लेकिन मेरा ध्यान आंख पर नहीं था।
शरीर की भी वही इंद्रिय काम करती है, जिस पर ध्यान हो, नहीं तो काम नहीं करती। शरीर की इंद्रियों को भी सक्रिय करना हो, तो ध्यान से ही सक्रिय होती हैं वे, अन्यथा सक्रिय नहीं होतीं। आंख तभी देखती है, जब भीतर ध्यान आंख से जुड़ता है, अटेंशन आंख से जुड़ती है। कान तभी सुनते हैं, जब ध्यान कान से जुड़ता है। शरीर की इंद्रियां भी ध्यान के बिना चेतना तक खबर नहीं पहुंचा पातीं। ठीक ऐसे ही भीतर के जो सात चक्र हैं, वे भी तभी सक्रिय होते हैं, जब ध्यान उनसे जुड़ता है।
संकल्प का चक्र है आज्ञा। अर्जुन से वे कह रहे हैं, तू उस पर ध्यान कर। कर्मयोगी के लिए वही उचित है। कर्म का चक्र है वह, विराट ऊर्जा का, उस पर तू ध्यान कर। लेकिन ध्यान तभी घटित होगा, जब बाहर आती श्वास और भीतर जाती श्वास सम स्थिति में हों।
आपको ख्याल में नहीं होगा कि सम स्थिति कब होती है। आपको पता होता है
कि श्वास भीतर गई, तो आपको पता होता है। श्वास बाहर गई, तो आपको पता होता है। लेकिन एक क्षण ऐसा आता है, जब श्वास भीतर होती है, बाहर नहीं जा रही--एक गैप का क्षण। एक क्षण ऐसा भी होता है, जब श्वास बाहर चली गई और अभी भीतर नहीं आ रही; एक छोटा-सा अंतराल। उस अंतराल में चेतना बिल्कुल ठहरी हुई होती है। उसी अंतराल में अगर ध्यान ठीक से किया गया, तो आज्ञा-चक्र शुरू हो जाता है, सक्रिय हो जाता है।
और जब ऊर्जा आज्ञा-चक्र को सक्रिय कर दे, तो आज्ञा-चक्र की हालत वैसी
हो जाती है, जैसे कभी आपने सूर्यमुखी के फूल देखे हों सुबह; सूरज नहीं निकला, ऐसे लटके रहते हैं जमीन की तरफ--उदास, मुर्झाए हुए, पंखुड़ियां बंद, जमीन की तरफ लटके हुए। फिर सूर्य निकला और सूर्यमुखी का फूल उठना शुरू हुआ, खिलना शुरू हुआ, पंखुड़ियां फैलने लगीं, मुस्कुराहट छा गई, नृत्य फूल पर आ गया। रौनक, ताजगी। फूल जैसे जिंदा हो गया; उठकर खड़ा हो गया।
जिस चक्र पर ध्यान नहीं है, वह चक्र उलटे फूल की तरह मुर्झाया हुआ पड़ा रहता है। जैसे ही ध्यान जाता है, जैसे सूर्य ने फूल पर चमत्कार किया हो, ऐसे ही ध्यान की किरणें चक्र के फूल को ऊपर उठा देती हैं। और एक बार किसी चक्र का फूल ऊपर उठ जाए, तो आपके जीवन में एक नई इंद्रिय सक्रिय हो गई। आपने भीतर की दुनिया से संबंध जोड़ना शुरू कर दिया।
अलग-अलग तरह के व्यक्तियों को अलग-अलग चक्रों से भीतर जाने में आसानी होगी। अब जैसे कि साधारणतः सौ में से नब्बे स्त्रियां इस सूत्र को मानें, तो कठिनाई में पड़ जाएंगी। स्त्रियों के लिए उचित होगा कि वे भ्रू-मध्य पर कभी ध्यान न करें। हृदय पर ध्यान करें, नाभि पर ध्यान करें। स्त्री का व्यक्तित्व नान-एग्रेसिव है; रिसेप्टिव है; ग्राहक है; आक्रामक नहीं है। जिनका व्यक्तित्व बहुत आक्रामक है, वे ही; जैसा कि मैंने कहा, क्षत्रिय के लिए कृष्ण ने कहा, आज्ञा-चक्र पर ध्यान करे। सभी पुरुषों के लिए भी उचित नहीं होगा कि आज्ञा-चक्र पर ध्यान करें। जिसका व्यक्तित्व पाजिटिवली एग्रेसिव है, जिसको पक्का पता है कि आक्रमणशील उसका व्यक्तित्व है, वही आज्ञा-चक्र पर प्रयोग करे, तो उसकी ऊर्जा तत्काल अंतस-लोक से संबंधित हो जाएगी।
जिसको लगता हो, उसका व्यक्तित्व रिसेप्टिव है, ग्राहक है, आक्रामक नहीं है, वह किसी चीज को अपने में समा सकता है, हमला नहीं कर सकता--जैसे कि स्त्रियां। स्त्री का पूरा बायोलाजिकल, पूरा जैविक व्यक्तित्व ग्राहक है। उसे गर्भ ग्रहण करना है। उसे चुपचाप कोई चीज अपने में समाकर और बड़ी करनी है।

इसलिए अगर कोई स्त्री आज्ञा-चक्र पर प्रयोग करे, तो दो में से एक घटना घटेगी। या तो वह सफल नहीं होगी; परेशान होगी। और अगर सफल हो गई, तो उसकी स्त्रैणता कम होने लगेगी। वह नान-रिसेप्टिव हो जाएगी। उसका प्रेम क्षीण होने लगेगा और उसमें पुरुषगत वृत्तियां प्रकट होने लगेंगी। अगर बहुत तीव्रता से उस पर प्रयोग किया जाए, तो यह भी पूरी संभावना है कि उसमें पुरुष के लक्षण आने शुरू हो जाएं।
अगर कोई पुरुष हृदय के चक्र पर बहुत ध्यान करे, तो उसमें स्त्री के लक्षण आने शुरू हो सकते हैं। रामकृष्ण ने छः महीने तक इस तरह का प्रयोग किया और तब बड़ी अदभुत घटना घटी। और वह घटना यह थी कि रामकृष्ण के स्तन बड़े हो गए, स्त्रैण। रामकृष्ण की आवाज स्त्रियों जैसी हो गई। और यह तो ठीक था; एक बहुत अदभुत घटना घटी कि रामकृष्ण को छः महीने के प्रयोग के बाद मासिक-धर्म शुरू हो गया, मैंसेस शुरू हो गया। एक बहुत चमत्कार की बात थी। यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि यह कैसे संभव है! और जब इस प्रयोग को उन्होंने बंद किया, तो कोई दो साल में धीरे-धीरे, धीरे-धीरे लक्षण खोए। अन्यथा वे बढ़ते ही रहे। मुश्किल से खो सके। उनकी चाल स्त्रियों जैसी हो गई!
हमारे व्यक्तित्व का जो निर्माण है, वह हमारे चक्रों से संबंधित है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग चक्रों की व्यवस्था है ध्यान करने के लिए। अर्जुन के लिए--इसलिए मैंने स्पेसिफिकली, आपको यह कह रहा हूं कि यह जो सूत्र है, अर्जुन से कहा गया है। अर्जुन के व्यक्तित्व के लिए उचित है कि वह आज्ञा-चक्र पर ध्यान को थिर कर ले।
और ध्यान उसी समय प्रवेश कर जाएगा, जब श्वास सम होती है, न बाहर, न भीतर; बीच में ठहरी होती है। न तो आप ले रहे होते, न छोड़ रहे होते। जब श्वास दोनों जगह नहीं होती, ठहरी होती है, उस क्षण आप करीब-करीब उस हालत में होते हैं, जैसी हालत में मृत्यु के समय होते हैं या जैसी हालत में जन्म के समय होते हैं।
क्या आपको पता है कि अगर बच्चा न रोए जन्म के बाद, तो चिंता फैल जाती है! चेष्टा की जाती है उसे रुलाने की। क्या कारण है? मां के पेट में बच्चा श्वास नहीं लेता; सम रहता है। मां के पेट में बच्चे को श्वास लेने की जरूरत नहीं पड़ती; सम रहता है। जिस सम की बात कृष्ण कर रहे हैं। नौ महीने सम रहता है; न श्वास बाहर आती है, न भीतर जाती है। श्वास चलती ही नहीं।
इसलिए बच्चा पैदा होते से जो रोता है, चिल्लाता है, वह केवल श्वास का यंत्र काम करने की कोशिश कर रहा है, और कुछ भी नहीं। रो-चिल्लाकर उसके फेफड़े काम शुरू कर रहे हैं तेजी से। अगर वह थोड़ी देर चूक जाए, तो कठिनाई होगी। कठिनाई हो सकती है। इसलिए रोए बच्चा, तो खुशी की बात है। क्योंकि मतलब हुआ कि वह स्वस्थ है, और काम शुरू हो जाएगा।
सम स्थिति में होता है उस समय, जब बच्चा पैदा होता है। ठीक वही स्थिति पुनः हो जाती है, जब श्वास न भीतर जा रही, न बाहर जा रही, बीच का क्षण होता है; तब आपका पुनर्जन्म हो सकता है, रिबॉर्न। आप भीतर की तरफ यात्रा कर सकते हैं। मरते वक्त भी फिर वही सम स्थिति आ जाती है।
तीन बार सम स्थिति आती है--जन्म के समय, मरते समय, समाधि के समय। जितनी बार समाधि आएगी, उतनी बार सम स्थिति आएगी। लेकिन बस, तीन वक्त सम स्थिति होती है, जब कि श्वास न बाहर है, न भीतर।
इस स्थिति में क्यों चेतना भीतर जा सकती है? क्योंकि जैसे ही श्वास बाहर-भीतर नहीं होती, जगत से सारा संबंध थिर हो जाता है, ठहर जाता है। अभी आप रूपांतरण कर सकते हैं। यह गियर बदलने का मौका है। न्यूट्रल में पहुंच गया गियर। आप गाड़ी चलाते हैं, तो आप सीधे एक गियर से दूसरे गियर में नहीं बदल सकते। न्यूट्रल में डाल देते हैं गियर को पहले, फिर दूसरे गियर में बदलते हैं।
अगर श्वास को आप गियर समझें, तो भीतर जाती श्वास जीवन की श्वास है, बाहर जाती श्वास मृत्यु की श्वास है। दोनों के बीच में न्यूट्रल गियर है, जहां सम है; जहां न भीतर, न बाहर; अस्तित्व है जहां, न मृत्यु, न जीवन। उसी क्षण में आपका रूपांतरण होता है।

इसलिए कृष्ण दो बातों पर जोर देते हैं, श्वास हो सम अर्जुन, और ध्यान तेरा भ्रू-मध्य पर, आज्ञा-चक्र पर हो, तो फूल ऊपर उठ जाएगा, चक्र खुल जाएगा। और जैसे ही वह चक्र खुलेगा, वैसे ही तू अचानक पाएगा कि वह सारी शक्ति जो पहले काम बनती थी, क्रोध बनती थी, वह सारी की सारी शक्ति आज्ञा-चक्र पी गया। वह सारी शक्ति संकल्प बन गई।
इसलिए ध्यान रखें, अगर आप बहुत क्रोधी हैं या बहुत कामी हैं, तो एक लिहाज से दुर्भाग्य है, लेकिन एक लिहाज से सौभाग्य भी है। क्योंकि इस जगत में जो बहुत कामी हैं और बहुत क्रोधी हैं, वे ही बड़े संकल्पवान हो सकते हैं। दुर्भाग्य है कि काम और क्रोध आपको परेशान करेंगे। सौभाग्य है कि अगर आप ध्यान कर लें, तो आपके पास जितना संकल्प होगा, उतना उन लोगों के पास नहीं होगा, जिनके पास न काम है, न क्रोध है।
इसलिए इस जगत में जिन लोगों ने बहुत महान शक्ति पाई, वे वे ही लोग हैं,
जो बहुत कामी थे, बहुत सेक्सुअल थे। यह बहुत हैरानी की बात है। इस जगत में जो लोग बहुत महान ऊर्जा को उपलब्ध हुए, वे वे ही लोग हैं, जो ओवर सेक्सुअल थे। साधारण रूप से कामी नहीं थे; बहुत कामी थे। लेकिन जब शक्ति बदली, तो यही बड़ी शक्ति जो काम में प्रकट होती थी, संकल्प बन गई।
अर्जुन अगर रूपांतरित हो जाए, तो जैसा महाक्षत्रिय है वह बाहर के जगत में, ऐसा ही भीतर के जगत में महावीर हो जाएगा। इतनी ही ऊर्जा जो क्रोध और काम में बहती है, संकल्प को मिल जाए, तो संकल्प महान होगा।
इस जगत में वरदानों को अभिशाप बनाने वाले लोग हैं; इस जगत में अभिशापों को वरदान बना लेने वाले लोग भी हैं। अगर काम-क्रोध बहुत हो, तो भी परमात्मा को धन्यवाद देना कि शक्ति पास में है। अब रूपांतरित करना अपने हाथ में है। काम-क्रोध बिल्कुल न हो, तो बहुत कठिनाई है। बहुत कठिनाई है। शक्ति ही पास में नहीं है, रूपांतरित क्या होगा!
इसलिए काम-क्रोध बहुत होने से परेशान न हो जाना, सिर्फ विचारमग्न होना। और काम-क्रोध को रूपांतरित करने की यह बहुत वैज्ञानिक विधि है। कहनी चाहिए जितनी वैज्ञानिक हो सकती है उतनी कृष्ण ने कही है, श्वास सम, ध्यान आज्ञा-चक्र पर। इसका अभ्यास करते रहें। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे जो मैंने कहा है, वह आपके ख्याल में आना शुरू हो जाएगा। धीरे-धीरे एक दिन वह आ जाएगा कि भीतर की सारी ऊर्जा रूपांतरित हो जाएगी।
ऐसा भी नहीं है कि... लोग मुझसे पूछते हैं कि अगर ऐसा हो गया कि सारा क्रोध खो गया, सारा काम खो गया, सारी ऊर्जा संकल्प बन गई, तो इस जगत में जीएंगे कैसे? इस जगत में क्रोध की भी कभी जरूरत पड़ती है।
निश्चित पड़ती है। लेकिन ऐसा व्यक्ति भी क्रोध कर सकता है, पर ऐसा व्यक्ति क्रोधित नहीं होता। ऐसा व्यक्ति क्रोध कर सकता है, लेकिन ऐसा व्यक्ति क्रोधित नहीं होता। ऐसा व्यक्ति क्रोध का भी उपयोग कर सकता है; लेकिन वह उपयोग है। जैसे आप अपने हाथ को ऊपर उठाते हैं, नीचे गिराते हैं। यह बीमारी नहीं है। लेकिन हाथ ऊपर-नीचे होने लगे, और आप कहें कि मैं रोकने में असमर्थ हूं; यह तो होता ही रहता है; यह मेरे वश के बाहर है--तब बीमारी है।
क्रोध उपयोग किया जा सकता है। लेकिन केवल वे ही उपयोग कर सकते हैं, जो क्रोध के बाहर हैं। हमारा तो क्रोध ही उपयोग करता है; हम क्रोध का उपयोग नहीं करते। हमारे ऊपर तो हमारी इंद्रियां ही हावी हो जाती हैं।
क्या काम का उपयोग नहीं हो सकता? इस मुल्क ने तो बहुत वैज्ञानिक प्रयोग किए हैं इस दिशा में भी। बहुत सैकड़ों वर्षों तक, अगर किसी को पुत्र न हो, तो ऋषि-मुनि से भी पुत्र मांगा जा सकता था अपनी पत्नी के लिए। ऋषि- मुनि से भी प्रार्थना की जा सकती थी कि एक पुत्र दान दे दो। बहुत हैरानी की बात है!
जब पश्चिम के लोगों को पहली दफा पता चला, तो उन्होंने कहा, कैसे अजीब लोग रहे होंगे! पहली तो बात कि वे ऋषि-मुनि, वे क्या संभोग के लिए राजी हुए होंगे? और दूसरी बात, यह कैसा अनैतिक कृत्य कि कोई आदमी अपनी पत्नी के लिए पुत्र मांगने जाए! उनकी समझ के बाहर पड़ी बात। मिस मियो ने और जिन लोगों ने भारत के खिलाफ बहुत कुछ लिखा, इस तरह की सारी बातें इकट्ठी कीं। पर उन्हें

कुछ पता नहीं। अब मिस मियो अगर जिंदा होती, तो उसको पता चलता कि अब पश्चिम भी सोच रहा है।
पश्चिम सोच रहा है कि सभी लोग अगर बच्चे पैदा न करें, तो बेहतर है। क्योंकि पश्चिम कह रहा है कि जब हम बीज चुनकर बेहतर फूल, बेहतर फल पैदा कर सकते हैं, तो हम वीर्य चुनकर भी बेहतर व्यक्ति क्यों पैदा नहीं कर सकते हैं! आज नहीं कल पश्चिम में वीर्य भी चुना हुआ होगा। उनके रास्ते टेक्नोलाजिकल होंगे।
लेकिन एक ऋषि के पास जाकर कोई प्रार्थना करे, तो ऋषि का तो काम विसर्जित हो गया है। इसीलिए ऋषि से प्रार्थना की जा सकती थी। जिसकी कोई कामना नहीं रही, जिसकी कोई वासना नहीं रही, उसी से तो पवित्रतम वीर्य की उपलब्धि हो सकती है। जिसकी कोई इच्छा नहीं है, शरीर को भोगने का जिसका कोई ख्याल नहीं है, वह भी अपने शरीर को दान कर सकता है।
ध्यान रहे, वीर्य कोई आध्यात्मिक चीज नहीं है, शारीरिक, फिजियोलाजिकल घटना है। और जब आप मरेंगे, तो आपका सारा वीर्य आपके शरीर के साथ नष्ट हो जाएगा। वह कोई आत्मिक चीज नहीं है कि आपके साथ चली जाएगी। शरीर का दान है। ऋषि-मुनि जानते हैं कि उनका शरीर तो खो जाएगा, लेकिन अगर उनके शरीर से कुछ भी उपयोग हो सकता है, तो उतना उपयोग भी किया जा सकता है। ये बहुत हिम्मतवर लोग रहे होंगे। साधारण हिम्मत से यह काम होने वाला नहीं था।
इस संकल्प की स्थिति के बाद भी काम और क्रोध का उपयोग किया जा सकता है, इंस्ट्रूमेंट की तरह। न किया जाए, तो कोई मजबूरी नहीं है। फिर व्यक्तियों पर निर्भर करता है कि उपयोग करेंगे, नहीं करेंगे। एक बात पक्की है कि काम और क्रोध आपका उपयोग नहीं कर सकते।
इसीलिए इस चक्र को आज्ञा-चक्र नाम दिया गया कि जिस व्यक्ति का इस चक्र
पर कब्जा हो जाता है, उसकी इंद्रियां उसकी आज्ञा मानने लगती हैं। और जिस व्यक्ति का इस चक्र पर अधिकार नहीं है, उसे अपनी इंद्रियों की आज्ञा माननी पड़ती है। इस चक्र के इस पार इंद्रियों की आज्ञा है; उस पार अपनी मालकियत शुरू होती है। इसलिए उस चक्र को दि आर्डर, आज्ञा ही नाम दे दिया गया। इस तरफ रहोगे, तो इंद्रियों की आज्ञा माननी पड़ेगी। उस तरफ रहोगे, तो इंद्रियों को आज्ञा दे सकते हो।
यह बहुत वैज्ञानिक सूत्र है। समझने का कम, करने का ज्यादा। शब्दों से पहचानने का कम, प्रयोग में उतरने का ज्यादा। इसे थोड़ा प्रयोग करेंगे, तो धीरे-धीरे ख्याल में आ सकता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्
सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। 29।।
और हे अर्जुन! मेरा भक्त मेरे को यज्ञ और तपों का भोगने वाला, और संपूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा संपूर्ण भूत प्राणियों का सुहृद अर्थात स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शांति को प्राप्त होता है।

कृष्ण कहते हैं, मुझे जो प्रेम करता है सर्व लोकों के परमात्मा की भांति! मुझे, कृष्ण कहते हैं, मुझे जो प्रेम करता है। जब हम पढ़ेंगे और कृष्ण कहते हैं, सब लोकों के परमात्मा की भांति! परमात्माओं का भी परमात्मा! जब हम पढ़ते हैं, तो हमें थोड़ी कठिनाई होगी कि कृष्ण स्वयं को सब परमात्माओं का परमात्मा कहते हैं! बड़े अहंकार की बात मालूम पड़ती है! बहुत ईगोइस्ट मालूम पड़ती है। क्योंकि हम मैं का एक ही अर्थ जानते हैं।
हमारा मैं सदा ही तू के विपरीत है। हमारे मैं का एक ही अनुभव है--तू के खिलाफ, तू से भिन्न, तू से अलग। हमारे मैं में तू इनक्लूडेड नहीं है, एक्सक्लूडेड है। कृष्ण जैसे व्यक्ति जब कहते हैं, मैं, तो उनके मैं में सब तू इनक्लूडेड हैं, सब तू सम्मिलित हैं। सब तू इकट्ठे उनके मैं में सम्मिलित हैं।
यह आयाम हमारे लिए नहीं है। इसका हमें कोई परिचय नहीं है। इसलिए कृष्ण पर अनेक लोगों को आपत्ति लगती है कि क्या बात कहते हैं! कहते हैं कि

मुझे जो प्रेम करता है सब परमात्माओं के परमात्मा की भांति, वही उपलब्ध होता है मुक्ति को, आनंद को! वही उपलब्ध होता है मोक्ष को, मुझे!
जीसस भी ठीक इसी भाषा में बोलते हैं। जीसस भी कहते हैं, आई एम दि ट्रुथ, आई एम दि वे। और जिसे भी पहुंचना हो प्रभु तक, आओ मेरे द्वारा। बुद्ध भी कहते हैं।
निश्चित ही, हमारे मैं और उनके मैं के उपयोग में कोई अंतर होना चाहिए।
हम जब भी कहते हैं मैं, तब वह तू के विपरीत एक शब्द है। जब कृष्ण और क्राइस्ट जैसे लोग कहते हैं मैं, तब तू से उसका कोई संबंध नहीं, अनरिलेटेड है। उससे तू से कोई लेना-देना ही नहीं है। इसीलिए इतनी सरलता से कह पाते हैं कि तू छोड़ सब मुझ पर। मुझे कर प्रेम परमात्माओं के परमात्मा की तरह। अर्जुन संदेह भी नहीं उठाता। अर्जुन के मन में भी तो सवाल उठा होगा। अपना सखा, अपना साथी, सारथी बना हुआ बैठा है! निश्चित ही, स्थिति तो अर्जुन की ही ऊपर थी। रथ में तो वही विराजमान था। कृष्ण तो सिर्फ सारथी थे, अर्जुन के रथ चलाने वाले थे। जहां तक संसार की हैसियत का संबंध है, उस घड़ी में कृष्ण की हैसियत अर्जुन से बड़ी न थी।
अब यह बहुत मजेदार घटना है। जो अपने को कहता है कि मैं परमात्माओं का परमात्मा, वह एक साधारण से अज्ञानी आदमी का सारथी बन जाता है! अहंकारी होता, तो कभी न बनता। एक साधारण से आदमी के रथ के घोड़ों को निकालकर सांझ नदी पर पानी पिला लाता है; सफाई कर लाता है। अहंकारी होता, तो यह संभव न था। अहंकारी कहीं सारथी बने हैं! अहंकारी रथ पर विराजमान होते हैं। अर्जुन भलीभांति जानता है कि अहंकार का तो कोई सवाल ही नहीं है। क्योंकि जो आदमी सारथी की तरह घोड़ों की लगाम लेकर बैठ गया है, उससे ज्यादा निरहंकारी आदमी और कहां खोजने से मिलेगा!
फिर वह सारथी बना हुआ आदमी कह रहा है कि तू मुझे जान कि मैं परमात्माओं का परमात्मा हूं! अर्जुन पहचानता है। कृष्ण की विनम्रता को पहचानता है। इसलिए कृष्ण के अहंकार जैसे शब्द के उपयोग को भी समझ पाता है। हमें बहुत कठिनाई हो जाएगी। इसलिए कृष्ण पर बहुत लोगों ने आपत्ति की
है कि कृष्ण घोषणा करते हैं, सर्व धर्मान परित्यज्य, सब धर्म छोड़कर तू मेरी शरण में आ जा--मामेकं शरणं व्रज--आ जा मेरी शरण। यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती है।
जिन्हें ठीक नहीं मालूम पड़ती, वे फिर पुनर्विचार करें। कहीं उन्हें इसलिए तो ठीक नहीं मालूम पड़ती कि उनके अहंकार को बेचैनी होती है--कि हम किसी की शरण में चले जाएं? कृष्ण की शरण में मैं चला जाऊं? नहीं; यह नहीं हो सकता। यह कृष्ण अहंकारी मालूम होता है।
ध्यान रखना, हमारे अहंकार को लगी चोट, हमसे कहलवाती है, रेशनलाइज करवाती है कि कृष्ण अहंकारी हैं। मैं मान लूं इस कृष्ण को कि सारे जगत का परमात्मा है, मैं! यह हम स्वीकार न करेंगे। हम कहेंगे, यह बात नहीं मानी जा सकती। कोई आदमी यह कहे कि मैं परमात्मा हूं, यह तो निपट अहंकार हुआ। अपने अहंकार का ख्याल न लेंगे कि अपने अहंकार को चोट लगती है।
इसलिए एक बहुत मजेदार घटना घटी। कृष्णमूर्ति ने लोगों से पिछले चालीस वर्षों में सैकड़ों-हजारों बार कहा, मैं तुम्हारा गुरु नहीं, मैं तुम्हारा परमात्मा नहीं, मैं तुम्हारा शिक्षक नहीं। मैं कोई भी नहीं हूं। जितने अहंकारी लोग थे, उनको यह बात बहुत अपील हुई। उन्होंने कहा, बिल्कुल ठीक! एकदम ठीक।
इधर जानकर मैं बहुत हैरान हुआ कि कृष्णमूर्ति को सुनने वाला वर्ग बहुत गहरे अर्थों में अहंकारियों का वर्ग है। उसे प्रीतिकर लगी। इसलिए नहीं कि वह समझा कि कृष्णमूर्ति क्या कह रहे हैं। वह समझना तो बहुत मुश्किल है। उतना ही मुश्किल, जितना कृष्ण की यह बात समझनी मुश्किल है कि मैं परमात्मा हूं। उतना ही मुश्किल। लेकिन उसे एक बात जरूर समझ में आ गई कि ठीक है; एक आदमी तो ऐसा है, जिसके सामने हमें शिष्य बनने की जरूरत नहीं है। जिसके सामने हमें झुकने की जरूरत नहीं है।
लेकिन बड़े मजे की बात है कि कृष्णमूर्ति इसलिए इनकार करते हैं कि मैं तुम्हारा गुरु नहीं, क्योंकि अगर आज कोई भी आदमी इस जगत में कहे कि मैं

गुरु हूं; कृष्ण जैसी हिम्मत की बात कोई कहे; कृष्ण भी लौट आएं और वापस कहें कि मैं हूं परमात्माओं का परमात्मा, तो हम स्वीकार न करेंगे।
क्योंकि जगत का अहंकार बहुत विकसित हुआ है।
यह जिस दिन उन्होंने कहा था, उस दिन जगत का अहंकार बहुत अविकसित था।
लोग भोले थे, लोग सरल थे। लोगों के पास अहंकार घना नहीं था। अगर कोई आदमी कहता था कि मैं परमात्मा हूं, तो लोग सोचते थे कि सोचें; शायद होगा! आज अगर कोई कहेगा, मैं परमात्मा! तो लोग कहेंगे, बंद करो पागलखाने में। इलाज करवाना चाहिए।
इसलिए कृष्णमूर्ति कहते हैं, मैं कोई परमात्मा नहीं, मैं कोई गुरु नहीं। लेकिन तब दूसरी भूल शुरू होती है। और अच्छा था कि कृष्ण ही भूल करें, क्योंकि उनसे भूल नहीं हो सकती, बजाय इसके कि अर्जुन भूल करें; उनसे तो भूल सुनिश्चित है।
दूसरी भूल शुरू होती है। सुनने वाला कहता है कि यह आदमी बिल्कुल ठीक है। यहां झुकने की कोई जरूरत नहीं है। सुनो भी, समझो भी, शिष्य भी मत बनो, पैर छूने की कोई जरूरत नहीं। कोई सवाल नहीं है। अपनी अकड़ कायम रखी जा सकती है!
गुरु भी अकड़ से भरे हुए हो सकते हैं, तब पागल हो जाते हैं। और जब शिष्य
भी अकड़ से भरे हुए होते हैं, तो और भी ज्यादा महापागल हो जाते हैं। युग का परिवर्तन है।
लेकिन कृष्ण को अर्जुन समझ पाया। उसे अड़चन नहीं हुई है। उसने यह सवाल नहीं उठाया कि तुम सारथी होकर, मेरे सारथी हो और कहते हो, परमात्मा! वह समझ पाया कि कृष्ण क्या कह रहे हैं, किस गहरे अर्थ में कह रहे हैं। वह उनकी विनम्रता को जानता है, इसलिए उनके अहंकार का सवाल नहीं उठता।
लेकिन हमारी हालतें उलटी हैं। एक लड़की ने परसों मुझे आकर कहा कि आपको मैं वर्षों से जानती हूं। सदा मैंने आपको पाया कि आपसे प्रेम बरसता है। लेकिन एक दिन जरा-सा मैंने देखा कि आपमें क्रोध है, तो मेरा सारा प्रेम जो था, वह बेकार हो गया।
जरूरी नहीं है कि मुझ में क्रोध हो। क्योंकि उसे क्या दिखाई पड़ा, यह जरूरी नहीं कि मुझ में हो। पर बड़े मजे की बात है कि वर्षों का मेरा प्रेम बेकार हो गया, क्योंकि उसे ख्याल में आया कि मुझ में जरा क्रोध है। मेरा वर्षों का प्रेम जरा-से क्रोध को गलत न कर पाया। मेरे जरा-से क्रोध ने मेरे वर्षों के प्रेम को गलत किया। यद्यपि जरूरी नहीं है कि मुझे क्रोध रहा हो, उसे दिखाई पड़ा। यह भी जरूरी नहीं कि मुझे वर्षों प्रेम रहा हो, उसे दिखाई पड़ा। बात उसी की है; मेरा कोई सवाल नहीं है। लेकिन वर्षों का प्रेम जरा-से क्रोध के सामने डूब गया। जरा-सा क्रोध वर्षों के प्रेम के सामने नहीं डूब पाया!
अगर आज का होता अर्जुन, तो वह कहता, बस; बंद करो बातचीत। तुम्हारी सब विनम्रता, तुम्हारा सारथी होना, तुम्हारा घोड़ों को पानी पिलाना, सब बेकार हो गया। तुम मुझसे कह रहे हो कि तुम परमात्मा हो! लेकिन वह जानता है कि जिसकी इतनी विनम्रता गहरी है, जल्दी नतीजे का कोई कारण नहीं है। और समझा जा सकता है। और अगर कृष्ण कहते हैं, तो उसमें कुछ अर्थ होगा।
जब कृष्ण जैसा व्यक्ति कहता है, मैं की उदघोषणा करता है, तो आपके मैं
को विसर्जित करने के लिए; आपका मैं समर्पित हो सके, इसलिए। और जब तक कोई समर्पित न हो, तब तक मुक्त नहीं हो पाता है। समर्पण, सरेंडर मुक्ति है।
और यह बड़े मजे की बात है कि इसके पहले सूत्र में कृष्ण कहते हैं कि तू संकल्प को बड़ा कर, आज्ञा-चक्र को जगा। और ठीक उसके बाद के सूत्र में कहते हैं कि मैं परमात्मा हूं, ऐसा जान।
असल में, जो महा संकल्पवान है, वही समर्पण कर पाता है। जिसके पास संकल्प नहीं है, वह समर्पण भी नहीं कर पाएगा। कमजोरों के लिए संकल्प नहीं है। शक्ति समर्पण बनती है।
यह पांचवां अध्याय पूरा हुआ। इस पूरे अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को कर्म करते हुए, समस्त कर्म के जाल में डूबे रहते हुए मुक्त होने की सारी कीमिया, सारी केमिस्ट्री, सारी अल्केमी उपस्थित की है। गीता का एक-एक

अध्याय अपने में पूर्ण है। गीता एक किताब नहीं, अनेक किताबें है। गीता का एक अध्याय अपने में पूर्ण है। जरूरी नहीं है कि इसके आगे गीता पढ़ें। जरूरी तभी है, जब पांचवां अध्याय न पढ़ पाएं, न समझ पाएं।
ध्यान रखें, जरूरी तभी है, जब पांचवां अध्याय बेकार चला जाए, तो फिर छठवां पढ़ें। अर्जुन पर बेकार चला गया, इसलिए छठवां कृष्ण को कहना पड़ा। बेकार इसलिए चला गया कि कृष्ण को दिखाई पड़ा कि अभी कुछ हुआ नहीं। फिर और बात करनी पड़ी। फिर और बात करनी पड़ी। फिर और बात करनी पड़ी।
अगर एक अध्याय भी गीता का ठीक से समझ में आ जाए--समझ का मतलब, जीवन में
आ जाए, अनुभव में आ जाए। खून में, हड्डी में आ जाए; मज्जा में, मांस में आ जाए; छा जाए सारे भीतर प्राणों के पोर-पोर में--तो बाकी किताब फेंकी जा सकती है। फिर बाकी किताब में जो है, वह आपकी समझ में आ गया। न आए, तो फिर आगे बढ़ना पड़ता है।
लेकिन ध्यान रहे, अगर कोई भी व्यक्ति गीता या बाइबिल और कुरान जैसी किताबों को सिर्फ बौद्धिक रूप से समझने की चेष्टा में संलग्न होता है, तो गलती कर रहा है। वह ऐसी ही गलती कर रहा है, जैसे कोई व्यक्ति सड़क के किनारे, सीमेंट की सड़क के पास कांटा और आटा लगाकर बैठ जाए मछली पकड़ने को--सीमेंट की सड़क पर! वहां कोई मछली पकड़ में नहीं आएगी। ऐसी ही गलती है।
बुद्धि से कोई अगर अस्तित्व के जगत में खोजने निकल पड़े, कुछ पकड़ में नहीं आता। बुद्धि का वहां अर्थ नहीं है। इतना ही अर्थ है बुद्धि का कि आपकी जो पकड़ी हुई, जकड़ी हुई अबुद्धि है, उसे तोड़ पाए। आप हल्के हो पाएं। समझ लें, ऐसा समझ लें, आपके हाथ-पैर में जंजीरें पड़ी हैं। आप हट नहीं पाते उस जगह से। मैं एक हथौड़ी लाकर आपकी जंजीरें तोड़ देता हूं। जंजीरें तोड़ सकता हूं हथौड़ी से, स्वतंत्र नहीं कर सकता आपको। फिर भी आप वहीं खड़े रहें, तो मैं क्या करूंगा? जंजीरें गिर जाएं जमीन पर, आप वहीं बैठे रहें, तो मैं क्या करूंगा!
सिर्फ नकारात्मक काम, निगेटिव काम बुद्धि से हो सकता है। आपके मन पर
जो बहुत-सी अबौद्धिक धारणाएं जकड़ी हुई हैं, बुद्धि उनको काटकर तोड़ सकती है। लेकिन उतने से स्वतंत्रता नहीं सिद्ध होती। उससे सिर्फ गुलामी टूटती है। और अगर आप उठकर चल नहीं पड़ते, तो आपके आस-पास फिर जंजीरें इकट्ठी हो जाएंगी।
जो भी बैठा रहेगा, उसके आस-पास जंजीरें इकट्ठी हो जाती हैं। जो चलता रहेगा, वही स्वतंत्र होता है। नदी का पानी बहता रहे, तो स्वच्छ होता है।
रुक जाए, सड़ जाता है। और जो व्यक्ति भी केवल सोचता रहता है, वह रुक जाता है।
जीता है, वह बहता है और चलता है।
तो अंत में इतना ही कहूंगा, बहें। जो सुना, जो समझा, उसे कहीं करें।
हजार मील की बात बेकार है एक कदम चलने के आगे। एक कदम काफी है। एक कदम चलें, तो हजार मील की बात करने की कोई जरूरत नहीं है। और एक-एक कदम चलकर हजारों मील का फासला पार हो जाता है।
अब पांच मिनट, अंतिम दिन हम कीर्तन में बैठेंगे। कोई जाएगा नहीं। एक
भी व्यक्ति नहीं जाएगा। और साथ दें। आप भी गाएं। आप भी अपनी जगह डोलें; ताली बजाएं। एक पांच मिनट आनंद में, और फिर हम विदा हो जाएं।